१०,२

याचल मेरा दीप्त भाल ......

('रश्मिरथी' में श्रीकृष्ण-वचन)

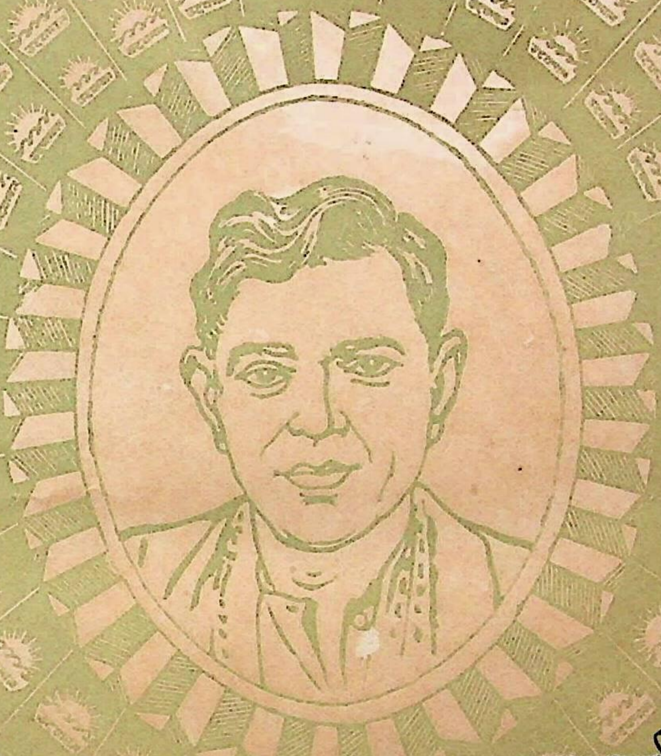

दंडी स्वामी विमलानन्द सरस्वती

२३.९.१९०८ — २४.४.१९७४

3/१७५ बी राजगुरु मठ
शिवाला
वाराणसी
८.४.८२.

संस्कृति के चार अध्याय

रामधारी सिंह दिनकर

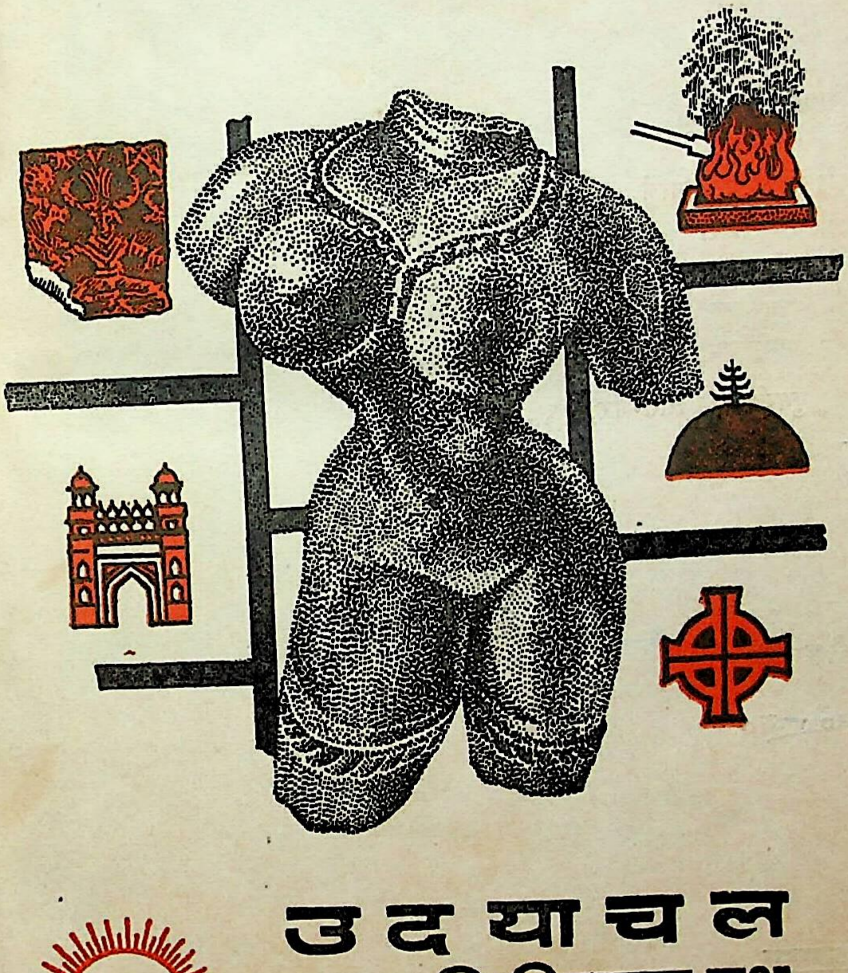

उदयाचल
राष्ट्रकवि दिनकर पथ
राजेन्द्रनगर • पटना-८०००१६

☐
प्रकाशक :
केदार नाथ सिंह,
उदयाचल,
राष्ट्रकवि दिनकर पथ,
राजेन्द्र नगर, पटना-८०००१६

☐
© केदार नाथ सिंह

☐
प्रथम संस्करण, मार्च, १९५६ ई०
पुनर्मुद्रण, दिसम्बर, १९५६ ई०
द्वितीय संस्करण, सितम्बर, १९६२ ई०
पुनर्मुद्रण, दिसम्बर, १९६६ ई०
पुनर्मुद्रण, अगस्त, १९७० ई०
पुनर्मुद्रण, सितम्बर, १९७७ ई०

☐
मूल्य :
पैंतीस रुपये
~~[illegible]~~

UDAYACHAL
PATNA-4.
50/-

☐
मुद्रक
रामनरेश सिंह
बाल्मीकि प्रेस
पटना-४

समर्पण

सामासिक संस्कृति की साकार प्रतिमा
राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी
के पुनीत कर-कमलों में

पूज्यवर !

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़-चीन,
शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन ।

विनीत

दिनकर

नयी दिल्ली
२६ जनवरी, १९५६

धर्मं यो बाधते धर्मः, न स धर्मः, कुधर्म तत्,
अविरोधी तु यो धर्मः, स धर्मः सत्यविक्रमः।

तृतीय संस्करण की भूमिका

पहले संस्करण के वक्तव्य में मैंने यह संकेत किया था कि यह पुस्तक अपूर्ण है, अगले संस्करण में वह पूर्ण कर दी जायगी। लेकिन, दूसरा संस्करण इतनी जल्दी में निकाला गया कि पुस्तक पर मैं कोई काम नहीं कर सका। तीसरा संस्करण भी, प्रायः अचानक ही सिर पर आ धमका। किन्तु, इस बार यह उचित जान पड़ा कि नये संस्करण में विलम्ब जाहे जो हो, लेकिन, इस बार, अपनी सूझ-बूझ और अधुनातन अनुसन्धानों के अनुसार, इस ग्रन्थ का संशोधन कर देना आवश्यक है। मेरा ख्याल है, संशोधन के बाद अब यह पुस्तक पहले की अपेक्षा अधिक स्वच्छ, अधिक रोचक, अधिक सुसम्बद्ध और अधिक पूर्ण हो गयी है, यद्यपि, अपूर्ण यह अब भी है।

पहले संस्करणों में आर्य-द्राविड़ समस्या का वृत्तान्त बहुत ही संक्षिप्त था। इस बार वह अधिक विस्तृत और अधिक पूर्ण मिलेगा। इसी प्रकार, "आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन" नामक प्रकरण भी फिर से लिखा गया है। स्थापना तो इस प्रकरण की अब भी वही है जो पहले थी, किन्तु, अनेक नये प्रमाणों और नयी युक्तियों के आ जाने से यह स्थापना अब अधिक प्रभावशालिनी हो गयी है। बौद्ध धर्म के प्रसंग में "बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव" भी बिलकुल नया अध्याय है। पहले संस्करणों में तंत्र-साधना का वृत्तान्त था ही नहीं। इस बार भी वह संक्षेप में ही दिया गया है। लेकिन, उतने से भी पाठकों को यह समझने में आसानी होगी कि धर्म और काम को समन्वित करने में मध्यकालीन साधकों को कितनी कठिनाई हुई थी और बाद के साहित्य और संस्कृति पर इस प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ा।

इस्लाम-खंड तो पूरा-का-पूरा दुबारा लिखा गया है। इस क्रम में बहुत-सी सामग्रियाँ एक जगह से उठा कर दूसरी जगह डाली गयी हैं और अनेक नयी युक्तियों, नयी शंकाओं, नये अनुमानों और नये प्रसंगों का समावेश यथास्थान किया गया है। बीसवीं सदी में आकर भारत का जो बँटवारा हुआ, उसका बीज मुगल-काल में ही शेख अहमद सरहिन्दी के प्रचार में था, इस उद्भावना को मैंने, विशेष रूप से, रेखांकित किया है। आशा है, भारत की साम्प्रदायिक समस्या के समझने में पाठकों को उससे सहायता मिलेगी।

सब से कम परिवर्त्तन ग्रन्थ के चौथे अध्याय में किया गया है। कम्पनी-सरकार की भाषा-नीति के बारे में जो दो-चार बातें कही गयी हैं, इजाफा केवल वे ही हैं। बाकी सब-का-सब वही है, जो पहले के संस्करणों में था, यद्यपि, उपशीर्षक लगा देने से यह अंश भी अधिक आकर्षक और कम बोझिल हो गया है। हाँ, ग्रन्थ का उपसंहार पहले नहीं लिखा गया था। वह इसी संस्करण में सम्मिलित किया गया है।

ये कुछ खास प्रसंग हैं, जिन पर ध्यान आसानी से जा सकता है। किन्तु, इनके सिवा भी, ग्रन्थ में, जगह-जगह, अनेक नयी बातें जोड़ी गयी हैं, अनेक बातें काट कर

हटा दी गयी हैं और अनेक अंश फिर से लिखे गये हैं। अपने जानते मैंने इस महल को झार-बुहार कर स्वच्छ कर दिया है। आशा है, अब विद्वानों को नाक सिकोड़ने की जरूरत जरा कम पड़ेगी।

हिन्दी-भाषी भारतीय काफी जागरूक हैं, यह बात मैंने "कुरुक्षेत्र" के प्रकाशन के समय भी देखी थी और आजकल "उर्वशी" के प्रकाशन के बाद भी देख रहा हूँ। किन्तु, "संस्कृति के चार अध्याय" का जितना प्रबल समर्थन और जैसा कठिन विरोध हुआ, उससे भी हिन्दी-भाषियों की जागरूकता का बहुत अच्छा प्रमाण मिलता है। लगभग छह वर्षों के भीतर इस ग्रन्थ के लेखक को कोई तीन सौ पत्र प्राप्त हुए, जिनमें से अधिकांश पत्रों में ग्रन्थ-परिमार्जन के सुझाव थे। कुछ पत्र ऐसे भी थे, जिनमें ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी थी अथवा यह कहा गया था कि लेखक अज्ञानी और मूर्ख है।

इस ग्रन्थ से प्रेरित पुस्तकों, प्रचार-पुस्तिकाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों में जो कुछ लिखा गया अथवा मंचों से इस ग्रन्थ के बारे में जो भाषण दिये गये, उनसे यह पता चला कि मेरी स्थापनाओं से सनातनी भी दुःखी हैं और आर्य-समाजी तथा ब्राह्मसमाजी भी। उग्र हिन्दुत्व के समर्थक तो इस ग्रन्थ से काफी नाराज हैं। नाराजगी का एक पत्र मुझे, अभी हाल में, एक मुस्लिम विद्वान ने भी लिखा है। ये सब अप्रिय बातें हैं। नाराज मैं किसी को भी नहीं करना चाहता। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मेरी शिक्षा-दीक्षा और चिन्तन का परिणाम है। मेरा यह विश्वास है कि यद्यपि, मेरी कुछ मान्यताएँ गलत साबित हो सकती हैं, लेकिन, इस ग्रन्थ को उपयोगी माननेवाले लोग दिनोंदिन अधिक होते जायँगे। यह ग्रन्थ भारतीय एकता का सैनिक है। सारे विरोधों के बीच वह अपना काम करता जायेगा।

लेकिन, तमाम कोलाहल के बीच यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी कि जिन लोगों के लिए यह पुस्तक लिखी गयी थी, उन्हें यह खूब पसन्द आयी है; नापसन्द यह उन्हें हुई, जिनके लिए, शायद, यह है ही नहीं। खास दिलचस्पी की बात तो यह है कि सांस्कृतिक एकता की बातें जनसाधारण ही सुनना चाहता है; पण्डित और विशेषज्ञ ऐसी बातों से बिदक जाते हैं।

मैंने पहले भी कहा था और आज फिर दुहराता हूँ कि यह महल साहित्य और दर्शन का है। इतिहास की हैसियत यहाँ किरायेदार की है। किरायेदार का आदर तो मैं करता हूँ, किन्तु, महल पर उसे कब्जा देने की बात मैं नहीं सोच सकता। मैं कोई पेशेवर इतिहासकार नहीं हूँ। इतिहास की ओर मैं शौक से गया हूँ और शौक से ही मैं उसकी सामग्रियों का उपयोग भी करता हूँ।

साहित्य की ताजगी और वेधकता जितनी शौकिया लेखक में होती है, उतनी पेशेवर में नहीं होती। कृति में प्राण उँड़ेलने का दृष्टान्त बराबर शौकिया लेखक ही देते हैं। थरथराहट, पुलक और प्रकम्प, ये गुण शौकिया की रचना में होते हैं। पेशेवर लेखक अपने पेशे के चक्कर में इस प्रकार मग्न रहते हैं कि क्रान्तिकारी विचारों को वे

खुल कर खेलने नहीं देते । मतभेद होने पर भी वे हुक्म, आखिर तक, परम्परा का ही मानते हैं ।

संस्कृति का इतिहास शौकिया शैली में ही लिखा जा सकता है । इतिहासकार, अक्सर, एक या दो शाखाओं के प्रामाणिक विद्वान होते हैं । ऐसे अनेक विद्वानों की कृतियों में पैठकर घटनाओं और विचारों के बीच सम्बन्ध बिठाने का काम वही कर सकता है, जो विशेषज्ञ नहीं है, जो सिक्कों, ठीकरों और ईंटों की गवाही के बिना नहीं बोलने की आदत के कारण मौन नहीं रहता । सांस्कृतिक इतिहास लिखने के, मेरे जानते दो ही मार्ग हैं । या तो उन्हीं बातों तक महदूद रहो, जो बीसों बार कही जा चुकी हैं और, इस प्रकार, खुद भी बोर होओ और दूसरों को भी बोर करो ; अथवा आगामी सत्यों का पूर्वाभास दो, उनकी खुल कर घोषणा करो और समाज में नीमहकीम कहलाओ, मूर्ख और अधपगले की उपाधि प्राप्त करो ।

अनुसन्धानी विद्वान् सत्य को तर्क से पकड़ता है और समझता है सत्य, सचमुच, उसकी गिरफ्त में है । मगर, इतिहास का सत्य क्या है ? घटनाएँ मरने के साथ फोसिल बनने लगती हैं, पत्थर बनने लगती हैं, दन्तकथा और पुराण बनने लगती हैं । बीती घटनाओं पर इतिहास अपनी झिलमिली डाल देता है, जिससे वे साफ-साफ दिखायी न पड़ें, जिससे बुद्धि की उँगली उन्हें छूने से दूर रहे । यह झिलमिली बुद्धि को कुण्ठित और कल्पना को तीव्र बनाती है, उत्सुकता में प्रेरणा भरती और स्वप्नों की गाँठ खोलती है । घटनाओं के स्थूल रूप को कोई भी देख सकता है, लेकिन, उनका अर्थ वही पकड़ता है, जिसकी कल्पना सजीव हो । इसीलिए, इतिहासकार का सत्य नये अनुसन्धानों से खंडित हो जाता है, लेकिन, कल्पना से प्रस्तुत चित्र कभी भी खंडित नहीं होते ।

जिन सीधे-सादे पाठकों के मन पर पूर्वाग्रहों की छाया नहीं है, उन्हें कल्पक की कृति सचाई का उससे ज्यादा हाल बतायेगी, जितना इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थों से जाना जा सकता है । प्रामाणिक ग्रन्थों के तथ्य, शायद ही, कभी गलत पाये जायँ, लेकिन, उनका विवरण हमेशा गलत और निर्जीव होता है ।

आर्यकुमार रोड, पटना-४
२ अगस्त, १९६२ ई०

रामधारी सिंह दिनकर

लेखक का निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

एक समय मैं इतिहास का विद्यार्थी अवश्य था, किन्तु, जब से कविता और निबन्ध में लगा, तब से इतिहास के साथ मेरा सम्पर्क, एक प्रकार से, छूट-सा गया । तब सन् १९५०ई० में मैं छात्रों को साहित्य पढ़ाने के लिए कॉलेज भेजा गया । वहाँ साहित्य की सामासिक पृष्ठभूमि समझने के क्रम में मुझे इतिहास की पुस्तकें फिर से उलटनी पड़ीं और, धीरे-धीरे, मैं फिर से इतिहास की गहराई में उतरने लगा । मेरी पहली जिज्ञासा यह थी कि हमारा आधुनिक साहित्य हमारे प्राचीन साहित्य से किन-किन बातों में भिन्न है और इस भिन्नता का कारण क्या है ? कारण की खोज करता हुआ मैं ढूँढ़-ढूँढ़ कर १९वीं शती के सांस्कृतिक जागरण का हाल पढ़ने लगा । फिर जिज्ञासा कुछ और विस्तृत हो गयी और मन ने जानना चाहा कि भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण इतिहास कैसा रहा है ।

लगभग दो वर्षों के अध्ययन के पश्चात् मेरे सामने यह सत्य उद्भासित हो उठा कि भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है । पहली क्रान्ति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आये अथवा जब भारतवर्ष में उनका आर्येतर जातियों से सम्पर्क हुआ । आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वही आर्यों अथवा हिन्दुओं का बुनियादी समाज हुआ और आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी । इस बुनियादी भारतीय संस्कृति के लगभग आधे उपकरण आर्यों के दिये हुए हैं और उसका दूसरा आधा आर्येतर जातियों का अंशदान है ।

दूसरी क्रान्ति तब हुई, जब महावीर और गौतम बुद्ध ने इस स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिन्ताधारा को खींच कर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गये । इस क्रान्ति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की, किन्तु, अन्त में, इसी क्रान्ति के सरोवर में शैवाल भी उत्पन्न हुए और भारतीय धर्म तथा संस्कृति में जो गँदलापन आया, वह, काफी दूर तक, इन्हीं शैवालों का परिणाम था ।

तीसरी क्रान्ति उस समय हुई, जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत पहुँचा और इस देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ । और चौथी क्रान्ति हमारे अपने समय में हुई, जब भारत में यूरोप का आगमन हुआ तथा उसके सम्पर्क में आकर हिन्दुत्व एवं इस्लाम, दोनों ने नव-जीवन का अनुभव किया ।

इस पुस्तक में इन्हीं चार क्रान्तियों का संक्षिप्त इतिहास है । पुस्तक का उचित नाम कदाचित्, 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' होना चाहिये था, किन्तु, वह नाम

मन में आकर फिर लौट गया और मुझे यही अच्छा लगा कि इस पुस्तक को मैं 'संस्कृति के चार अध्याय' कहूँ।

पुस्तक लिखते-लिखते इस विषय में मेरी आस्था और भी बढ़ गयी कि भारत की संस्कृति, आरम्भ से ही, सामासिक रही है। उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, देश में जहाँ भी जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है एवं भारत की प्रत्येक क्षेत्रीय विशेषता हमारी इसी सामासिक संस्कृति की विशेषता है। तब हिन्दू और मुसलमान हैं, जो देखने में अब भी दो लगते हैं, किन्तु, उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है, जो उनकी भिन्नता को कम करती है। दुर्भाग्य की बात है कि हम इस एकता को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कार्य राजनीति नहीं, शिक्षा और साहित्य के द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये। इस दिशा में साहित्य के भीतर कितने ही छोटे-बड़े प्रयत्न हो चुके हैं। वर्त्तमान पुस्तक भी उसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुन कर तैयार की गयी है, किन्तु, इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है। असल में, यह उनके काम की चीज है, जो खोजपूर्ण ग्रन्थों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना तो चाहते हैं, किन्तु, जिनके पास सैकड़ों ग्रन्थों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसन्धान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। संक्षेप में, इसके मुख्य पाठक जनसाधारण होंगे, ऐसी मेरी कामना है। इसके आकार को देख कर उन्हें घबराना नहीं चाहिये। जिस अथाह विषय का इस पुस्तक में आख्यान है, उसके लिए ऐसी-ऐसी सौ जिल्दें भी, शायद ही काफी हों। संस्कृति का विषय अपार है। एक व्यक्ति के लिए तो यह सम्भव ही नहीं है कि अपने सारे जीवन में भी वह उसके साथ पूरा न्याय कर सके। मैंने जो इस काम में हाथ डाला, वह इस कारण नहीं कि मैं इतिहास की सेवा करना चाहता था, बल्कि, इसलिए कि स्वतंत्रता के बाद से देश में संस्कृति के नारे बड़े जोर से लगाये जा रहे हैं, किन्तु, जनसाधारण के सामने ऐसी सामग्री का, प्रायः, अभाव है, जिससे वह यह समझ सके कि भारत की संस्कृति क्या है, कैसे-कैसे वह बढ़ती आयी है और आगे वह कौन रूप ले सकती है।

इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री अँगरेजी की पुस्तकों से ली गयी है, किन्तु, दुर्भाग्यवश, अँगरेजी में भी कोई पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण इतिहास की झाँकी एक ही जिल्द में उतार दी गयी हो। और अँगरेजी में कोई ऐसी पुस्तक होती भी तो उससे उन पाठकों का तो काम नहीं ही चलता, जिनके लिए मैंने यह ग्रन्थ लिखा है।

इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रन्थ कहता हूँ। फिर भी, पूरी सम्भावना है कि इसकी प्रामाणिकता पर प्रहार होंगे और विद्वानों के पास उठने-बैठनेवाले लोग कहेंगे कि अमुक स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है और लेखक की अमुक उक्ति केवल अर्ध-सत्य है। किन्तु, उसके बाद भी कट-छँटकर जो बच रहेगा, वह काफी प्रामाणिक होगा और हमारे देश का उतने से भी कल्याण होगा। अर्ध-

सत्य और अनुमान चाहे जितने हों, किन्तु, जो प्रतिमा इस पुस्तक में खड़ी की गयी है, वह निर्जीव नहीं है। मेरी आशा है कि पाठक जब इस पुस्तक को हाथ में लेंगे, हमारी सामासिक संस्कृति की प्रतिमा उनसे अन्त तक बात करती चली जायगी।

मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर ही निर्भर करता है। किन्तु, जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से यह कभी भी अनुरोध नहीं किया कि वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु, इस ग्रन्थ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सब से करता हूँ।

मेरे जानते यह ग्रन्थ अभी भी अपूर्ण है। किन्तु, पाँच वर्ष तक परिश्रम करते-करते मैं कुछ थक गया हूँ और अब इसे पाठकों के पास इस आश्वासन के साथ भेज रहा हूँ कि कुछ थोड़ी अपूर्णता अगले संस्करण में दूर कर दूँगा। यों अपूर्णता तो ऐसी पुस्तकों का नित्य धर्म है।

आर्यकुमार रोड, पटना-४
५ जनवरी, १९५६ ई०

रामधारी सिंह दिनकर

प्रस्तावना

मेरे मित्र और साथी दिनकर ने अपनी पुस्तक के लिए जो विषय चुना है, वह बहुत ही मोहक और दिलचस्प है। यह ऐसा विषय है, जिससे, अक्सर, मेरा अपना मन भी ओतप्रोत रहा है और मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर इस विषय की छाप, आप-से-आप, पड़ गयी है। अक्सर मैं अपने आप से सवाल करता हूँ, भारत है क्या ? उसका तत्त्व या सार क्या है ? वे शक्तियाँ कौन-सी हैं, जिनसे भारत का निर्माण हुआ है तथा अतीत और वर्त्तमान विश्व को प्रभावित करनेवाली प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है ? यह विषय अत्यन्त विशाल है, और उसके दायरे में भारत से बाहर के तमाम मानवीय व्यापार आ जाते हैं। और मेरा ख्याल है कि किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इस सम्पूर्ण विषय के साथ अकेला ही न्याय कर सके। फिर भी, इसके कुछ खास पहलुओं को लेकर उन्हें समझने की कोशिश की जा सकती है। कम-से-कम, यह तो सम्भव है ही कि हम अपने भारत को समझने का प्रयास करें, यद्यपि, सारे संसार को अपने सामने न रखने पर भारत-विषयक जो ज्ञान हम प्राप्त करेंगे, वह अधूरा होगा।

संस्कृति है क्या ? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।" एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।" यह "मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि" है। यह "सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।" इस अर्थ में, संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है। फिर, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।

इस नक्शे में भारत का स्थान कहाँ पर है ? कुछ लोगों ने हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति और ईसाई संस्कृति की चर्चा की है। ये नाम मेरी समझ में नहीं आते, यद्यपि यह सच है कि जातियों और राष्ट्रों की संस्कृतियों पर बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का असर पड़ा है। भारत की ओर देखने पर मुझे लगता है, जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है, कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व, मोहंजोदरो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत ही गहरी छाप है, जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर, यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आनेवाले तथा फिर समुद्र की राह से पश्चिम से आनेवाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार, हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने, धीरे-धीरे, बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में

समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचा कर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जब तक इसका यह गुण शेष रहा, यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही। लेकिन, बाद को आकर इसकी गतिशीलता जाती रही, जिससे यह संस्कृति जड़ हो गयी और उसके सारे पहलू कमजोर पड़ गये। भारत के समग्र इतिहास में हम दो परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को काम करते देखते हैं। एक तो वह शक्ति है जो बाहरी उपकरणों को पचाकर समन्वय और सामंजस्य पैदा करने की कोशिश करती है, और दूसरी वह जो विभाजन को प्रोत्साहन देती है; जो एक बात को दूसरी से अलग करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसी समस्या का, एक भिन्न प्रसंग में, हम आज भी मुकाबला कर रहे हैं। आज भी कितनी ही बलिष्ठ शक्तियाँ हैं, जो केवल राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एकता के लिए भी प्रयास कर रही हैं। लेकिन, ऐसी ताकतें भी हैं, जो जीवन में विच्छेद डालती हैं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव को बढ़ावा देती हैं।

अतएव, आज हमारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल सैद्धान्तिक नहीं है, उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया से है और उसके समुचित निदान और समाधान पर ही हमारा भविष्य निर्भर करता है। साधारणतः, ऐसी समस्याओं को सुलझाने में नेतृत्व देने का काम मनीषी करते हैं। किन्तु, वे हमारे काम नहीं आये। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो इस समस्या के स्वरूप को ही नहीं समझते। बाकी लोग हार मान बैठे हैं। वे विफलता-बोध से पीड़ित तथा आत्मा के संकट से ग्रस्त हैं और वे जानते ही नहीं कि जिन्दगी को किस दिशा की ओर मोड़ना ठीक होगा।

बहुत-से मनीषी मार्क्सवाद और उसकी शाखाओं की ओर आकृष्ट हुए और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण उपस्थित करके समस्याओं पर सोचने और उन्हें समझने के काम में हमारी सहायता की। लेकिन, आखिर को, वह भी संकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति के रूप में उसका चाहे जो भी महत्त्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओं का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है। यह मानना तो ठीक है कि आर्थिक उन्नति जीवन और प्रगति का बुनियादी आधार है, लेकिन जिन्दगी वहीं तक खत्म नहीं होती। वह आर्थिक विकास से कहीं ऊँची चीज है। इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों को काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धान्त है और दूसरा परिवर्त्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी-से लगते हैं, परन्तु, ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्त्तन का अंश है। इसी प्रकार परिवर्त्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिये रहता है। असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्त्तनों पर जाता है, जो हिंसक क्रान्तियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्त्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प से होनेवाले परिवर्त्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं। इसी तरह, क्रान्तियाँ भी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्त्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती हैं। इस दृष्टि से

देखने पर, स्वयं परिवर्त्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो परम्परा के आवरण में लगातार चलती रहती है। बाहर से अचल दीखनेवाली परम्परा भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्त्तित हो जाती है।

इतिहास में कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब परिवर्त्तन की प्रक्रिया और उसकी तेजी कुछ अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। लेकिन, साधारणतः, बाहर से उसकी गति दिखायी नहीं देती। परिवर्त्तन का बाहरी रूप, प्रायः, निस्पन्द ही दीखता है। जातियाँ जब अगति की अवस्था में रहती हैं, तब उनकी शक्ति दिनोंदिन छीजती जाती है, उनकी कमजोरियाँ बढ़ती जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी रचनात्मक कलाओं और प्रवृत्तियों का क्षय हो जाता है। तथा, अक्सर, वे राजनैतिक दृष्टि से गुलाम भी हो जाती हैं।

सम्भावना यह है कि भारत में संस्कृति के सबसे प्रबल उपकरण आर्यों और आर्यों से पहले के भारतवासियों, खास कर, द्रविड़ों के मिलन से उत्पन्न हुए। इस मिलन, मिश्रण या समन्वय से एक बहुत बड़ी संस्कृति उत्पन्न हुई, जिसका प्रतिनिधित्व हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत करती है। संस्कृत और प्राचीन पहलवी, ये दोनों भाषाएँ एक ही माँ से मध्य एशिया में जनमी थीं, किन्तु, भारत में आकर संस्कृत ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो गयी। यहाँ संस्कृत के विकास में उत्तर और दक्षिण, दोनों ने योगदान दिया। सच तो यह है कि आगे चलकर संस्कृत के उत्थान में दक्षिणवालों का अंशदान अत्यन्त प्रमुख रहा। संस्कृत हमारी जनता के विचार और धर्म का ही प्रतीक नहीं बनी, वरन, भारत की सांस्कृतिक एकता भी उसी भाषा में साकार हुई। बुद्ध के समय से लेकर अब तक संस्कृत यहाँ की जनता की बोली जानेवाली भाषा कभी नहीं रही है, फिर भी, सारे भारतवर्ष पर वह अपना प्रचुर प्रभाव डालती ही आयी है। कुछ दूसरे प्रभाव भी भारत पहुँचे और उनसे भी विचारों और अभिव्यक्तियों को नयी दिशाएँ प्राप्त हुईं।

काफी लम्बे इतिहास के अन्दर, भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। समुद्र और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण, बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। कई सहस्राब्दियों के भीतर, बाहर से लोगों के बड़े-बड़े झुण्ड भारत में आये, किन्तु, आर्यों के आगमन के बाद से कभी भी ऐसा नहीं हुआ, जब बाहरी लोग बहुत बड़ी संख्या में भारत आये हों। ठीक इसके विपरीत, एशिया और यूरोप के आर-पार मनुष्यों के अपार आगमन और निष्क्रमण होते रहे; एक जाति दूसरी जाति को खदेड़ कर वहाँ खुद बसती रही और, इस प्रकार, जनसंख्या की बुनावट में बहुत बड़ा परिवर्त्तन होता रहा। भारत में, आर्यों के आगमन के बाद, बाहरी लोगों के जो आगमन हुए, उनके दायरे बहुत ही सीमित थे। उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ा, किन्तु उससे यहाँ की बुनियादी जनसंख्या के स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्त्तन नहीं आया। लेकिन, फिर भी, याद रखना चाहिये कि ऐसे कुछ परिवर्त्तन भारत में भी हुए हैं। सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत आनेवाली कुछ अन्य जातियों के लोग

यहाँ आकर राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गये और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियों की सन्तान हैं। बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशों से भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये, जो अपने आप में घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया, जिन्हें बाहर के लोग न तो जानते हैं, न समझ ही पाते हैं। जाति-प्रथा के असंख्य रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण हैं। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छुआछूत क्या चीज है तथा दूसरों के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को लेकर, किसी को क्या उज़्र होना चाहिये। इन सब बातों को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गयी। आज भी भारतवासियों को दूसरे लोगों से खुल कर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते हैं, तब वहाँ भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना चाहते हैं। हममें से बहुत लोग इन सारी बातों को स्वयंसिद्ध मानते हैं और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातों से दूसरे देशवालों को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धान्तों में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कह कर नजर-अन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा रह जायगा।

जिन दिनों जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनों सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध उतना उग्र नहीं दिखायी देता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों की रफ्तार तेज होती गयी, इस विरोध की उग्रता भी अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खड़े हैं। इस युग की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल हैं कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पड़ेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गये तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयों को भी खो बैठेंगे, जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये हैं।

जैसे हम बड़ी-बड़ी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिये। भारत में औद्योगिक क्रान्ति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे

सामाजिक परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं ; अन्यथा समन्वय न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनैतिक परिवर्त्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु, हम यह मान कर बैठे रह जायँ कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई परिवर्त्तन लाने की आवश्यकता नहीं है। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुसार समाज को परिवर्त्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे, उसके नीचे हम टूट जायेंगे।

ईसा के जन्म के बाद पहली सहस्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है, वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद को मिलती हैं। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बड़े जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना सन्देश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यन्त उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहाँ उन्होंने उपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का सन्देश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण, दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। शरीर और मन दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाजे चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हम से भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र के पार से यहाँ आये, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के, धीरे-

यहाँ आकर राजपूतों की शाखाओं में शामिल हो गये और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारतवासियों की सन्तान हैं। बहुत दिनों तक बाहरी दुनिया से अलग रहने के कारण, भारत का स्वभाव भी और देशों ने भिन्न हो गया। हम ऐसी जाति बन गये, जो अपने आप में घिरी रहती है। हमारे भीतर कुछ ऐसे रिवाजों का चलन हो गया, जिन्हें बाहर के लोग न तो जानते हैं, न समझ ही पाते हैं। जाति-प्रथा के असंख्य रूप भारत के इसी विचित्र स्वभाव के उदाहरण हैं। किसी भी दूसरे देश के लोग यह नहीं जानते कि छुआछूत क्या चीज है तथा दूसरों के साथ खाने-पीने या विवाह करने में, जाति को लेकर, किसी को क्या उज्र होना चाहिये। इन सब बातों को लेकर हमारी दृष्टि संकुचित हो गयी। आज भी भारतवासियों को दूसरे लोगों से खुल कर मिलने में कठिनाई महसूस होती है। यही नहीं, जब भारतवासी भारत से बाहर जाते हैं, तब वहाँ भी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना चाहते हैं। हममें से बहुत लोग इन सारी बातों को स्वयंसिद्ध मानते हैं और हम यह समझ ही नहीं पाते कि इन बातों से दूसरे देशवालों को कितना आश्चर्य होता है, उनकी भावना को कैसी ठेस पहुँचती है।

भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धान्तों में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्णता, आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कह कर नजर-अन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बड़े लोग थे और उनके बड़े-बड़े विचार हमें विरासत में मिले हैं। लेकिन, पूर्वजों से मिले हुए ज्ञान एवं हमारे आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नहीं करते, हमारा व्यक्तित्व फटा का फटा रह जायगा।

जिन दिनों जीवन अपेक्षाकृत अधिक गतिहीन था, उन दिनों सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध उतना उग्र नहीं दिखायी देता था। लेकिन, ज्यों-ज्यों राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों की रफ्तार तेज होती गयी, इस विरोध की उग्रता भी अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है। आज तो हम आणविक युग के दरवाजे पर खड़े हैं। इस युग की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल हैं कि हमें अपने इस आन्तरिक विरोध का शमन करना ही पड़ेगा। और इस काम में हम कहीं असफल हो गये तो यह असफलता सारे राष्ट्र की पराजय होगी और हम उन अच्छाइयों को भी खो बैठेंगे, जिन पर हम आज तक अभिमान करते आये हैं।

जैसे हम बड़ी-बड़ी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं, वैसे ही, हमें भारत के इस आध्यात्मिक संकट का भी सामना करना चाहिये। भारत में औद्योगिक क्रान्ति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे

सामाजिक परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं ; अन्यथा समन्वय न तो हमारे वैयक्तिक जीवन में रह सकता है, न राष्ट्रीय जीवन में। ऐसा नहीं हो सकता कि राजनैतिक परिवर्त्तन और औद्योगिक प्रगति तो हो, किन्तु, हम यह मान कर बैठे रह जायँ कि सामाजिक क्षेत्र में हमें कोई परिवर्त्तन लाने की आवश्यकता नहीं है! राजनैतिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुसार समाज को परिवर्त्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा, उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे, उसके नीचे हम टूट जायेंगे।

ईसा के जन्म के बाद पहली सहस्राब्दी और उससे पहले के भारत की जो तस्वीर हमारे सामने आती है, वह उस तस्वीर से भिन्न है, जो बाद को मिलती है। उन दिनों के भारतवासी बड़े मस्त, बड़े जीवन्त, बड़े साहसी और जीवन के प्रति अद्भुत उत्साह से युक्त थे तथा अपना सन्देश वे विदेशों में दूर-दूर तक ले जाते थे। विचारों के क्षेत्र में तो उन्होंने ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर अपने कदम रखे और आकाश को चीर डाला। उन्होंने अत्यन्त गौरवमयी भाषा की रचना की और कला के क्षेत्र में उन्होंने अत्यन्त उच्चकोटि की कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया। उन दिनों का भारतीय जीवन घेरों में बन्द नहीं था, न तत्कालीन समाज में ही जड़ता या गतिहीनता की कोई बात थी। उस समय एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, समग्र भारतवर्ष में सांस्कृतिक उत्साह भी लहरें ले रहा था। इसी समय, दक्षिण भारतवर्ष के लोग दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये और वहाँ उन्होंने उपना उपनिवेश स्थापित किया। दक्षिण से ही बौद्ध मत का सन्देश लेकर बोधि-धर्म चीन पहुँचा। इस साहसिक जीवन की अभिव्यक्ति में उत्तर और दक्षिण, दोनों एक थे और वे परस्पर एक दूसरे का पोषण भी करते थे।

इसके बाद, पिछली शताब्दियों का समय आता है, जब पतन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। भाषा में कृत्रिमता और स्थापत्य में सजावट की भरमार इसी पतनशीलता के प्रमाण हैं। यहाँ आकर हमारे विचार पुराने विचारों की आवृत्ति बन जाते हैं और कारयित्री शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगती है। शरीर और मन दोनों की साहसिकता से हम भय खाने लगते हैं तथा जाति-प्रथा का और भी विकास होता है एवं समाज के दरवाजे चारों ओर से बन्द हो जाते हैं। पहले की तरह बातें तो हम अब भी ऊँची-ऊँची करते हैं, लेकिन, हमारा आचरण हमारे विश्वास से भिन्न हो जाता है।

हमारे आचरण की तुलना में हमारे विचार और उद्‌गार इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। बातें तो हम शान्ति और अहिंसा की करते हैं, मगर, काम हमारे कुछ और होते हैं। सिद्धान्त तो हम सहिष्णुता का बघारते हैं, लेकिन भाव हमारा यह होता है कि सब लोग वैसे ही सोचें, जैसे हम सोचते हैं, और जब भी कोई हम से भिन्न प्रकार से सोचता है, तब हम उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। घोषणा तो हमारी यह है कि स्थितप्रज्ञ बनना अर्थात् कर्मों के प्रति अनासक्त रहना हमारा आदर्श है, लेकिन काम हमारे बहुत नीचे के धरातल पर चलते हैं और बढ़ती हुई अनुशासनहीनता हमें वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में नीचे ले जाती है।

जब पश्चिम के लोग समुद्र के पार से यहाँ आये, तब भारत के दरवाजे एक खास दिशा की ओर खुल गये। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बिना किसी शोर-गुल के, धीरे-

धीरे, इस देश में प्रविष्ट हो गयी । नये भावों और नये विचारों ने हम पर हमल किया और हमारे बुद्धिजीवी अँगरेज-बुद्धिजीवियों की तरह सोचने का अभ्यास कर लगे । यह मानसिक आन्दोलन, बाहर की ओर वातायान खोलने का यह भाव, अप ढंग पर अच्छा रहा, क्योंकि इससे हम आधुनिक जगत् को थोड़ा-बहुत समझने लगे। मगर, इससे एक दोष भी निकला कि हमारे ये बुद्धिजीवी जनता से विच्छिन्न हो गये क्योंकि जनता विचारों की इस नयी लहर से अप्रभावित थी । परम्परा से भारत चिन्तन की जो पद्धति चली आ रही थी, वह टूट गयी । फिर भी, कुछ लोग उस इस ढंग से चिपके रहे, जिसमें न तो प्रगति थी, न रचना की नयी उद्भावना और पूर्ण रूप से नयी परिस्थितियों से असम्बद्ध थी ।

पाश्चात्य विचारों में भारत का जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रह है । नतीजा यह है कि हमारे पास न तो पुराने आदर्श हैं, न नवीन ; और हम बिन यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को या कहाँ जा रहे हैं । नयी पीढ़ी पास न तो कोई मानदण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज, जिससे वह अपने चिन्तन कर्म को नियन्त्रित कर सके ।

यह खतरे की स्थिति है । अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इस भयानक परिणाम निकल सकते हैं । हम आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों संक्रान्ति की अवस्था से गुजर रहे हैं । सम्भव है, यह उसी स्थिति का अनिवा परिणाम हो । लेकिन, आणविक युग में किसी देश को अपना सुधार करने के लि ज्यादा मौके नहीं दिये जायँगे । और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी ह सकता है ।

यह सम्भव है कि संसार में जो बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही हैं, उन्हें हम पू तरह न समझ सकें, लेकिन, इतना तो हमें समझना ही चाहिये कि भारत क्या है औ कैसे इस राष्ट्र ने अपने सामासिक व्यक्तित्व का विकास किया है ; उसके व्यक्तित्व विभिन्न पहलू कौन-से हैं और उसकी सुदृढ़ एकता कहाँ छिपी हुई है । भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचार पर उसी का एकाधिकार है । भारत आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारती जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है । यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं सम पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे । और यदि भारत को ह नहीं समझ सके तो हमारे भाव, विचार और काम, सब-के-सब अधूरे रह जाएँगे औ हम देश की ऐसी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे, जो ठोस और प्रभावपूर्ण हो ।

मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक इन बातों के समझने में, एक हद त सहायक होगी । इसलिए, मैं इसकी सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि इ पढ़कर अनेक लोग लाभान्वित होंगे ।

नयी दिल्ली
३० सितम्बर, १९५५ ई०

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ-संख्या**

तृतीय संस्करण की भूमिका ५ - ७
लेखक का निवेदन ८-१०
प्रस्तावना : **श्री जवाहरलाल नेहरू** ११-१६
विषय-सूची १७-२४

प्रथम अध्याय २५-११६

भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव

प्रकरण १ : : भारतीय जनता की रचना २७-३७

भारतीय जनता की रचना २७; आदमी की नस्ल पहचानने वाले शास्त्र २८; जन-विज्ञान की कसौटी और भारतीय जनता २९; भाषा की कसौटी और भारतीय जनता ३१; नीग्रो-जाति-विषयक अनुमान ३२; औष्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन ३३; द्रविड़ जाति का आगमन ३४ ।

प्रकरण २ : : आर्य-द्रविड़ समस्याएँ ३८-५७

द्रविड़ कौन हैं ? ३८; आर्य और द्रविड़ संज्ञाएँ ४३; आर्यों का मूल-स्थान ४५; देवासुर-संग्राम का भूगोल ५०; ऋग्वेद का रचना-काल ५१; लेखन-कला और लिपि ५२; किरात जाति ५३; पारसी जाति ५४ ।

प्रकरण ३ : : आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन ५८-११६

वैदिक-संस्कृति के कुछ युग्म ५८; आर्य-द्रविड़-सम्बन्ध ६३; आर्य और द्राविड़ भाषाएँ ६६; आर्य और द्राविड़ स्वभाव ६९; वर्ण-व्यवस्था और जाति-भेद ७३; जाति-प्रथा जनमी कैसे ? ७८; अन्तर्जातीय विवाह ८१; ब्राह्मण, शूद्र और नारी का स्थान ८३; समन्वय की प्रक्रिया ८६; भौगोलिक एकता का भाव ८९; समन्वय के कुछ दृष्टान्त ९१; शैव-धर्म ९१; कार्त्तिकेय और गणेश ९४; शिव के आर्य और द्राविड़ नाम ९६; वैष्णव धर्म ९७; 'कृष्ण' नाम की प्राचीनता ९९; 'राधा' नाम पर विचार १००; राम-कथा की प्राचीनता १०२; राम-कथा की व्यापकता १०३; रामावतार १०४; राम को लेकर समन्वय १०५; हिन्दू संस्कृति के रचयिता १०६; आग्नेय जाति की देन १०८; कुछ स्फुट उदाहरण १०९; 'हिन्दू नाम का इतिहास १११; भारत में आनेवाली अन्य जातियाँ ११५; हिन्दू-संस्कृति की पाचन-शक्ति ११५ ।

द्वितीय अध्याय ११७-२६८

प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह

प्रकरण १ : : बुद्ध से पहले का हिन्दुत्व ११९-१३६

वैदिक-वाङ्मय १२०; वेदाङ्ग १२१; उपनिषद् १२२; वेदों और उपनिषदों की विचार-धारा १२३; बहुदेववाद १२३; उपनिषदों की विशेषताएँ १२८; मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-युग १३२; उपनिषदों का प्रभाव १३४; बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण १३५।

प्रकरण २ : : जैन धर्म १३७-१६२

विद्रोह के कारण १३७; नास्तिकता की परम्परा १३९; अहिंसा की परम्परा १४१; पूर्वी भारत में क्रान्ति के बीज १४३; अहिंसा और क्षत्रिय जाति १४४; जैन धर्म की विशेषताएँ १४६; जैन-दर्शन के सिद्धान्त १४९; कैवल्य या मोक्ष १५१; अनेकान्तवाद १५२; स्याद्वाद १५३; धर्माचरण के सिद्धान्त १५४; जैन मत और बौद्ध मत १५७; जैन धर्म का इतिहास १५८; वैदिक धर्म पर प्रभाव १५९।

प्रकरण ३ : : बौद्ध-धर्म १६३-१८८

बौद्ध धर्म और आचार १६४; अव्याकृत विषय १६६; वैदिक धर्म से समानता १६८; क्या बुद्ध नास्तिक थे? १६९; आत्मा और निर्वाण १७१; हिन्दुत्व का बौद्धीकरण १७४; बुद्ध का व्यक्तित्व १७६; कर्म की महत्ता १७८; बौद्ध धर्म की सीमाएँ १७९; पौराणिक समन्वय १८२; हिन्दुत्व का खरल १८६।

प्रकरण ४ : : वैदिक बनाम बौद्ध मत १८९-२०७

महायान की उत्पत्ति १८९; नागार्जुन का शून्यवाद १९५; वैदिक मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव १९६; निवृत्ति का प्रचार १९७; आचार पर प्रभाव १९८; जाति-प्रथा को चुनौती १९८; सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना १९९; श्रीमद्भगवद्गीता २००; मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण २०२।

प्रकरण ५ : : प्राचीन भारत और बाह्य विश्व २०८-२२८

बाहरी दुनिया से सम्पर्क २०९; गणित, ज्योतिष् और विज्ञान २१४; बृहत्तर भारत से सम्बन्ध २१७; बाली-द्वीप २१८; यव-द्वीप २१९; सुमात्रा २२१; बोर्नियो २२२; हिन्द-चीन २२२; चीन के साथ सम्बन्ध २२४; बुद्ध और कनफ्युशियस २२५; बर्मा और स्याम २२७; जापान में बौद्ध मत २२८।

प्रकरण ६ : : बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव २२९-२५३

क्रान्ति की गंगा में शैवाल २२९; शाक्त धर्म का परिचय २३१; योग-शास्त्र २३२; तन्त्र-मार्ग २३४; शाक्त-दर्शन २३५; उलटी धारा की साधना २३६; तन्त्र-साधना

की परम्परा २४०; गुह्य-समाज-तन्त्र की विशेषताएँ २४१; वज्रयान और मन्त्रयान २४१; सहजयान २४३; काम-योग २४५; वैष्णव-सहजिया-सम्प्रदाय २४६; मार का प्रतिशोध २४७; बाद के सन्तों पर सहजयान का प्रभाव २५१।

प्रकरण ७ : : बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक प्रसंग २५४-२६८

चिनगारी जो बुझी नहीं २५४; वेद-विरोधी आन्दोलन २५५; नय और आचार के बीच दरार २५७; बौद्ध मत पर पुराणों के आक्रमण २५८; जैनों और बौद्धों पर शैवों का प्रहार २६०; इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सम्प्रदाय २६२; बौद्ध धर्म का लोप २६५।

तृतीय अध्याय २६९-४८०

हिन्दू संस्कृति और इस्लाम

प्रकरण १ : : हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न की भूमिका २७१-२८७

इस्लाम से हिन्दुओं की अनभिज्ञता २७१; मुसलमानों का भारत-विषयक अज्ञान २७१; रास्ता क्या? २७४; इस्लाम का क्षिप्र प्रसार २७५; इस्लाम का आरम्भिक रूप २७७; इस्लाम से भारत का आरम्भिक सम्पर्क २८१; कुछ ऐतिहासिक विश्लेषण २८२; कुछ मनोरंजक बातें २८५।

प्रकरण २ : : इस्लाम-धर्म २८८-३११

कुरान की शिक्षा २८९; मृत्यु के परे २९१; ईमान और कुफ्र २९३; जिहाद और जिजिया २९५; सुन्नी-शिया-सम्प्रदाय २९६; कुछ अन्य विशेषताएँ २९७; तसव्वुफ या इस्लामी रहस्यवाद २९८; यूनानी और भारतीय प्रभाव ३०३; सूफियों के विश्वास ३०८; मौलिक इस्लाम से भेद ३१०।

प्रकरण ३ : : मुस्लिम आक्रमण और हिन्दू-समाज ३१२-३२४

अचरज की बातें ३१२; हिन्दू हारे क्यों? ३१३; राजनीतिक चेतना का अभाव ३१४; सर्वनाशी अन्धविश्वास ३१६; धर्म की बाधा ३१९; जाति से बड़ी जात ३२०; ब्राह्मण-बौद्ध-विद्वेष ३२३।

प्रकरण ४ : : हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध ३२५-३५४

अत्याचार का दुष्परिणाम ३२५; साम्प्रदायिक राज्य ३२७; सांस्कृतिक प्रतिशोध ३३०; एकता-आन्दोलन का आरम्भ ३३१; अमीर खुसरो की भारत-भक्ति ३३३; सन्तो, राह दोऊ हम दीठा ३३६; तसव्वुफ का भारतीयकरण ३४२; हिन्दू-संस्कृति को समझने का प्रयास ३४४; असाम्प्रदायिक व्यवहार के दृष्टान्त ३४४; समकालीन कवियों का दृष्टिकोण ३४७; हिन्दी के मुसलमान कवि ३५१।

प्रकरण ५ :: इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव ३५५-३७१

सतही असर ३५५; इस्लामी प्रभाव का अतिरंजन ३५५; शंकराचार्य और इस्लाम ३५९; हिन्दुत्व का गढ़ दक्षिण देश ३६१; वर्णाश्रम का विरोध ३६३; गुरु परम्परा ३६४; आलवार सन्त ३६६; वीर शैव और इस्लाम ३६७; भौगोलिक एकता और मुक्त चिन्तन ३६९।

प्रकरण ६ :: भक्ति-आन्दोलन और इस्लाम ३७२-३९०

भक्ति की प्राचीनता ३७२: गीता का महत्त्व ३७५; अतिरंजनवादियों की भ्रान्ति ३७६; आलवार भक्त ३७७; रामानुज की देन ३७९; स्वामी रामानन्द ३८२; शैवाचार्य ३८७; रहस्यवाद ३८८।

प्रकरण ७ :: अमृत और हलाहल का संघर्ष ३९१-४०१

तौहीदे-इलाही ३९१; हलाहल का विस्फोट ३९४; शेख अहमद सरहिन्दी ३९४; अमृत की पराजय ३९५; एकता के दुर्बल प्रहरी ३९६; पराजित पीयूष दारा शिकोह ३९७; क्रान्तिकारी का साथी कोई नहीं ३९८; धर्मान्धता का परिणाम ३९९; अकबर और औरंगजेब ४००।

प्रकरण ८ :: सिक्ख धर्म ४०२-४१०

गुरु नानक ४०२; सिक्ख मत, हिन्दुत्व और इस्लाम ४०३; गुरु और ग्रन्थ ४०४; इस्लाम से टक्कर ४०५; गुरु गोविन्द का अवतार ४०६; सिक्ख मत और हिन्दुत्व ४०९।

प्रकरण ९ :: कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव ४११-४३०

कला की भारतीय परम्परा ४११; मुस्लिम-आगमन के बाद ४१६; मुगलशैली ४१७; राजस्थानी शैली ४२०; पहाड़ी कलम ४२०; हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की विशेषताएँ ४२२; राजपूत और मुगल कलमों के भेद ४२५; रीति-काव्य और राजपूत कलम ४२६; स्थापत्य या वास्तु-कला पर प्रभाव ४२८; विश्वकर्मा और जौहरी का मिलन ४२९।

प्रकरण १० :: साहित्य और भाषा पर प्रभाव ४३१-४५०

अनाध्यात्मिक काव्य ४३१; दर्द की नयी अदाएँ, रूपकों की नयी छटा ४३४; प्रेम-पीड़ा की नयी भंगिमा ४३६; जिन मरने थें जग डरै ४३९; भक्तों का बहुरियावाद ४४२; भाषा पर प्रभाव ४४४; हिन्दी कवियों की भाषा-नीति ४४७; हिन्दी में अरबी और फारसी शब्द ४४८।

प्रकरण ११ :: उर्दू का जन्म ४५१-४६९

खड़ी बोली में साहित्य-रचना ४५१; उर्दू के आरम्भिक कवि ४५४; उर्दू का जन्म दक्षिण में क्यों हुआ ?४५४; मतरूकात या बहिष्कार की नीति ४५७; हिन्दी से उर्दू या उर्दू से हिन्दी ? ४६१; साधु हिन्दी की परम्परा ४६२; हिन्दी और उर्दू का गद्य ४६४; विवाद का समाधान ४६९।

प्रकरण १२ : : सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप ४७०-४८०

तन से भारतीय, मन से ईरानी ४७०; हिन्दुत्व का प्रभाव ४७१; अहिंसा और मुसलमान ४७४; स्त्रियों की स्थिति ४७५; शिक्षा और भाषा की स्थिति ४७६; अन्य आदान-प्रदान ४७७।

चतुर्थ अध्याय ४८१-७२२

भारतीय संस्कृति और यूरोप

प्रकरण १ : : भारत में यूरोप का आगमन ४८३-४९४

पुर्तगाल ४८३; हालैण्ड का आगमन ४८६; पुर्तगाल का सांस्कृतिक प्रभाव ४८६; फ्रांस का आगमन ४८८; अँगरेजों का आगमन ४८९; ईसाइयत के प्रचारक ४९०; वनियाँ राज ४९२।

प्रकरण २ : : शिक्षा में क्रान्ति ४९५-५१७

शिक्षा की भारतीय परम्परा ४९५; अंगरेजी का पाँव फैलाना ४९६; मिशनरियों की आशा ४९९; अंगरेजी के गुण और दोष ५०१; कम्पनी-सरकार की शिक्षा-नीति ५०३; शिक्षा के माध्यम का प्रश्न ५०४; एक ही समय में अनेक प्रयोग ५०५; माध्यम भारतीय भाषाएँ हों ५०५; मराठी में शिक्षा ५०७; हिन्दी में प्रयोग ५०८; भारत-भक्त अंगरेजों की भाषा-नीति ५०८; अंगरेजी और शराब ५०९; सन् १८५४ का डिस्पैच ५०९; भारतीय अतीत का अनुसन्धान ५१०; प्राचीन भारत और नवीन यूरोप ५११; यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन पर भारतीय प्रभाव ५१४; भारतीय प्रभाव के प्रति शंका ५१६।

प्रकरण ३ : : ईसाई धर्म और भारतीय जनता ५१८-५३०

सौभाग्य की बात ५२१; ईसाइयत और हिन्दुत्व का संघर्ष ५२२; हिन्दुत्व में कम्पन ५२४; नव-शिक्षित युवक ५२५; ईसा का एशियाई रूप ५२९।

प्रकरण ४ : : हिन्दू-नवोत्थान ५३१-५३५

अवतार अपने काल का स्वर ५३१; नवोत्थान का स्वरूप ५३१; नवोत्थान की रीढ़ ५३३; निवृत्ति का त्याग ५३४।

प्रकरण ५ : : ब्राह्म-समाज ५३६-५४६

राममोहन राय ५३६; सुधार के कार्य ५३७; ईसाइयत पर विचार ५३७; विश्ववादी और भारतीय ५३८; विज्ञान और वेदान्त का मेल ५३९; ब्राह्म-समाज के जन्म की वेदना ५४०; ब्राह्म-समाज का जन्म ५४१; राममोहन की उदार दृष्टि ५४२; महर्षि देवेन्द्रनाथ ५४२; केशवचन्द्र सेन ५४३; शरमाये हुए शूरमा ५४५।

प्रकरण ६ :: महाराष्ट्र में नवोत्थान ५४७-५५२

परमहंस-समाज और प्रार्थना-समाज ५४७; महादेव गोविन्द रानाडे ५४७; रानाडे, आगरकर और तिलक ५४८; तिलक और गोखले ५५०; परशुराम और राम ५५०; प्रार्थना-समाज का रूप ५५१; १९वीं सदी और मध्यकाल ५५२ ।

प्रकरण ७ :: आर्य-समाज ५५३-५६१

स्वाभिमान का उदय ५५३; आक्रामकता की ओर ५५४; किसी का भी पक्षपात नहीं ५५५; सुधार नहीं, क्रान्ति ५५५; आर्य-समाज की स्थापना ५५६; थियोसोफी और स्वामी दयानन्द ५५७; आर्य-समाज की विशेषता ५५७; आर्यवाद का एक दुष्परिणाम ५५९; हिन्दुत्व की वीर भुजा ५६० ।

प्रकरण ८ :: थियोसोफिकल सोसाइटी या ब्रह्मविद्या-समाज ५६२-५६८

सोसाइटी का जन्म ५६२; एनी बीसेंट ५६३; एनी बीसेंट की भारत-भक्ति ५६४; अखंड हिन्दुत्व का समर्थन ५६५; राजनीति के क्षेत्र में ५६६; धर्म नहीं, धर्म की संजीवनी ५६७ ।

प्रकरण ९ :: धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण ५६९-५८१

आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज की सीमाएँ ५६९; पंडित और सन्त का भेद ५७१; फ़िलासफ़ी नहीं, दर्शन ५७२; पन्थ नहीं, अनुभूति ५७३; धर्म की साकार प्रतिमा ५७४; कंचन से विरक्ति ५७५; कामिनी के प्रति अनासक्ति ५७५; तर्क बनाम अनुभूति ५७७; सन्त-पद्धति से उपदेश ५७८; विनोदप्रियता ५७९; मनीषियों द्वारा अभिनन्दन ५८० ।

प्रकरण १० :: कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द ५८२-५९९

गंगा के भगीरथ ५८२; तन से राजसी, मन से जिज्ञासु ५८२; श्रद्धा और बुद्धि का मिलन ५८४; निवृत्ति की परम्परा ५८४; सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता ५८५; शिकागो-सम्मेलन ५८७; यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा ५८८; भारत को प्रवृत्ति का उपदेश ५८९; मातृ-जाति के प्रति उदारता ५९२; ब्राह्मण-रूपी सर्प ५९२; एकता का मंत्र ५९३; यह अकरणीय है ५९४; पश्चिम से विनिमय ५९५; इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण ५९६; धार्मिक एकता पर विचार ५९७; भारत पर अशेष ऋण ५९८ ।

प्रकरण ११ :: प्रवृत्ति का उत्थान : लोकमान्य तिलक ६००-६०६

प्रवृत्ति-निवृत्ति ६००; जीवन-जय का मार्ग ६०१; गीता पर निवृत्ति के बादल ६०२; कर्त्तव्याकर्त्तव्य ६०४; तिलक और गाँधी ६०६; योग का अर्थ ६०६ ।

प्रकरण १२ :: स्वर्ग का भूमीकरण : महायोगी अरविन्द ६०७-६१६

काल की पृष्ठभूमि ६०७; रामकृष्ण और अरविन्द ६०८; सारे जगत् की एक समस्या ६०९; बुद्धि की अराजकता ६०९; अतिमानस की कल्पना ६१०; बुद्धि

नहीं, सम्बुद्धि ६११; भोग और वैराग्य से परे ६१२; विज्ञान की सीमा ६१२; व्यष्टि-समष्टि ६१३; स्वर्ग का भूमीकरण ६१४; अतिमानव का स्वप्न ६१५; संश्लिष्ट योग ६१६ ।

प्रकरण १३ : : भूमि का स्वर्गीकरण : महात्मा गाँधी का प्रयोग ६१७-६३९

अहिंसा भारत में ही क्यों? ६१७; जैसा चिन्तन, वैसा कर्म ६१९; नय नहीं, आचार ६२०; धर्म सभी क्षेत्रों के लिए ६२०; अहिंसा ६२३; अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ६२६; गाँधी और अरविन्द ६२७; नारी और वैराग्य ६२९; धर्म की अनुभूति ६३४ ।

प्रकरण १४ : : विश्वदर्शन के प्रवर्त्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन ६४०-६६१

मिशनरियों की आलोचनाओं से ठेस ६४२; पूर्व और पश्चिम का मिलन ६४४; दर्शन की उत्पत्ति जीवन से ६४६; विज्ञान पर विचार ६४६; धर्म जीवन से एकाकार हो ६४८; अरविन्द के प्रसंग में ६४९; आत्मा का धर्म ६५१; इनटुइशन या सम्बुद्धि ६५२; निवृत्ति और हिन्दू-धर्म ६५५; व्यष्टि-समष्टि ६५६; रहस्यवाद ६५७; प्रवृत्ति-निवृत्ति ६५९; सभ्यता का शाप ६६० ।

प्रकरण १५ : : मुस्लिम-नवोत्थान ६६२-६८४

इस्लाम का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ६६२; वहाबी आन्दोलन ६६४; भारत में वहाबी आन्दोलन ६६८; इस्लाम और अंगरेजी राज ६७०; अंगरेज और अंगरेजियत से प्रेम ६७१; सर सैयद अहमद खाँ ६७३; सर सैयद के सहयोगी ६७८; मौलाना हाली ६८०; मौलाना शिबली नोमानी ६८१; स्वाभिमान का उदय ६८३ ।

प्रकरण १६ : : सर मुहम्मद इक़बाल ६८५-७०८

नवोत्थान के कवि ६८५; राष्ट्रीयता का स्वर ६८८; मुस्लिम राष्ट्रीयता के भाव ६९०, इक़बाल का जीवन-दर्शन ६९२; खुदी का सिद्धान्त ६९६; महामानव की कल्पना ६९८; विफलता-बोध की पीड़ा ७०१; दलितों के कवि ७०२; यूरोप पर शंका ७०३; भावात्मक समाजवाद ७०४; पान-इस्लामी राष्ट्रीयता ७०५; इस्लामी एकता के कारण ७०६ ।

प्रकरण १७ : : भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान ७०९-७२२

एकता की राह ७१०; अँगरेजों की भेद-नीति ७११; मुस्लिम लीग ७१२; एकता की तरंग ७१३; साम्प्रदायिकता का विस्फोट ७१४; मुस्लिम लीग की बढ़ती ७१६; राष्ट्रवादी मुसलमान ७१८; मुस्लिम कवियों की राष्ट्रीयता ७१८ ।

उपसंहार ७२३

अनुक्रमणिका ७३५

सम्पूर्ण दिनकर वाङ्मय

☐ **काव्य**

उर्वशी
मृत्ति-तिलक
दिनकर की सूक्तियाँ
परशुराम की प्रतीक्षा
रश्मिरथी
कुरुक्षेत्र
हुङ्कार
रसवन्ती
द्वन्द्वगीत
सामधेनी
इतिहास के आँसू
हारे को हरि नाम
आत्मा की आँखें
कोयला और कवित्व
नील-कुसुम
सीपी और शङ्ख
नये सुभाषित
रेणुका
बापू
दिल्ली
नीम के पत्ते
चक्रवाल [चयन]
सञ्चयिता [चयन]
रश्मिलोक [चयन]
दिनकर के गीत
प्रणभङ्ग और अन्य कविताएँ
धूपछाँह [बाल-काव्य]
मिर्च का मज़ा ,,

☐ **गद्य**

संस्कृति के चार अध्याय
हमारी सांस्कृतिक एकता
भारतीय एकता
चेतना की शिखा
राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गाँधीजी
लोकदेव नेहरू
संस्मरण और श्रद्धाञ्जलियाँ
मेरी यात्राएँ
शुद्ध कविता की खोज
अर्धनारीश्वर
मिट्टी की ओर
काव्य की भूमिका
पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण
साहित्यमुखी
रेती के फूल
दिनकर की डायरी
उजली आग
वट-पीपल
वेणुवन
राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता
देश-विदेश
हे राम !
धर्म, नैतिकता और विज्ञान
विवाह की मुसीबतें
आधुनिकता बोध
चित्तौर का साका [बाल साहित्य]
भारत की सांस्कृतिक कहानी ,,
सूरज का ब्याह [बाल-काव्य]

प्रथम अध्याय

भारतीय जनता की रचना
और
हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव

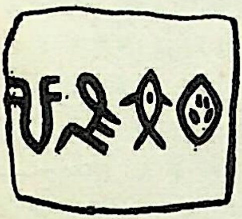

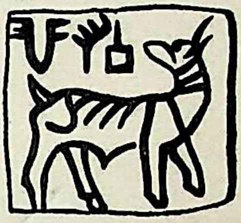

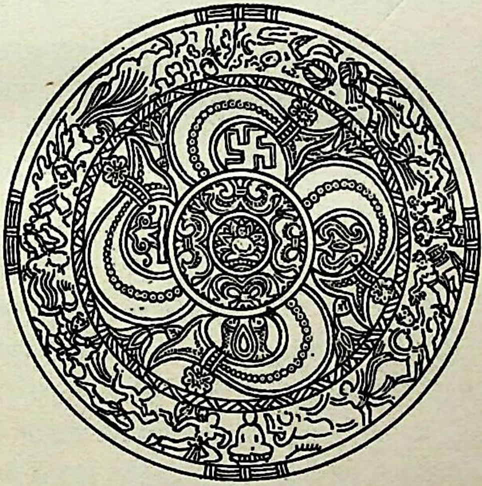

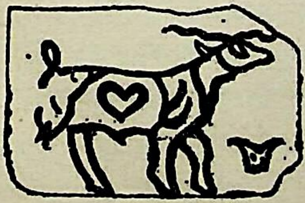

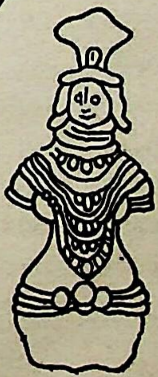

2 (a).

प्रकरण १

भारतीय जनता की रचना

मनुष्य पहले-पहल कहाँ उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न मनोरंजक तो है, लेकिन, इसका ठीक-ठीक उत्तर अब तक नहीं दिया जा सका है। बाइबिल को अपना धर्मग्रन्थ मानने वाले लोगों का ख्याल है कि आदमी पहले-पहल सीरिया में जनमा था। इसी तरह, पश्चिम एशिया, मध्य एशिया, बर्मा, अफ्रीका और उत्तरी ध्रुव के पास के प्रान्त, इन सारे भूभागों के बारे में, समय-समय पर, अटकल लगायी गयी है कि, हो-न-हो, आदमी इन्हीं में से किसी एक देश में सर्व-प्रथम उत्पन्न हुआ होगा। पीकिंग में जो नर-कंकाल मिला है, वह तीस हजार वर्ष पुराना है, अतएव, यह अनुमान भी चलता है कि आदमी पहले-पहल चीन में जनमा होगा। एक अन्दाजा यह भी है कि आदमी चूँकि, प्रधानतः, लोमहीन प्राणी है, इसलिए, उसकी उत्पत्ति किसी गर्म देश में हुई होगी। इस विचार के लोग अफ्रीका, भारतवर्ष अथवा उससे भी दक्षिण-पूर्व के भागों को आदि मनुष्य का जन्म-स्थान मानते हैं। एक अनुमान यह है कि आदमी दक्षिण भारत में जनमा होगा। एक दूसरा अनुमान यह है कि भारत-समुद्र में पहले जो बड़ा स्थल-भाग था, आदमी वहीं जनमा था। अफ्रीका के पक्ष में एक दलील यह दी जाती है कि वहाँ चिपंजी और गोरिल्ला बन्दर, बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके सिवा, अफ्रीका में बहुत-सी हड्डियाँ भी पायी गयी हैं, जिनके बारे में यह अनुमान है कि वे आदि मानवों की हड्डियाँ होंगी।

भारतीय इतिहास-कांग्रेस के ग्वालियर वाले अधिवेशन में (१९५२ ई०) सभापति के पद से भाषण देते हुए डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी ने यह कहा था कि आदि मनुष्य पंजाब और शिवालिक की ऊँची भूमि पर विकसित हुआ होगा, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। मुखर्जी महोदय का मत यह दीखता है कि मनुष्य भारत में ही उत्पन्न हुआ था और इसी देश में उसकी सभ्यता भी विकसित हुई। पंजाब में हिमालय के पास मनुष्य का आदि जन्म, फिर सिन्धु की तराई में कृषि-सभ्यता का विकास, और सिन्धु के पठार में भारत की प्राचीनतम सभ्यता का अवशेष पाया जाना, ये सारी बातें आपस में एक-दूसरे को पुष्ट करनेवाली हैं और, अजब नहीं, कि अध्ययन और खोज करने पर मुखर्जी महोदय का अनुमान सत्य ही प्रमाणित हो।

किन्तु, सबसे युक्तिसंगत अनुमान यह है कि आदमी यदि पहले-पहल भारत में उत्पन्न हुआ हो तो वह उत्तर नहीं, दक्षिण भारत में जनमा होगा। भारत की सबसे पुरानी धरती वह नहीं है जो विन्ध्याचल के उत्तर में पड़ती है, प्रत्युत, वह जो विन्ध्य फैलती हुई दक्षिण को चली गयी है। आज से लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व दक्षिण

भारत में मनुष्य रहा होगा, इस अनुमान को पंडित साधार मानते हैं। सन् १९३५ में बड़ोदा राज्य के वादनगर स्थान में लघु मानव का एक तीस इंच लम्बा कं मिला था, जिसे वैज्ञानिक आदि नीग्रो का कंकाल समझते हैं।

इंग्लैंड के एक वैज्ञानिक, मिस्टर डारविन ने जब से यह सिद्ध कर दिखाया आदमी बन्दर से बढ़कर आदमी हुआ है, तब से, विकासवाद के सिद्धान्त पर मानने की प्रथा चल पड़ी है कि मनुष्य के पूर्वज बन्दर की ही योनि से निकले लेकिन, सभी पंडित अभी यह भी मानने को तैयार नहीं हैं कि आदमी, निश्चित से, बन्दर से ही विकमित हुआ है। फिर भी, जो लोग विकासवाद के सिद्धान्त पूर्ण रूप से मान चुके हैं, उनका ख्याल है, कि एप, गिब्बन, ओरंगउत्तान और चिम्पं बन्दरों की इन्हीं चार जातियों का विकास मनुष्य के रूप में हुआ है। और पंडितों का ऐसा विश्वास है, वे घूम-फिर कर अफ्रीका को ही मनुष्य के जन्म आदि स्थान मानना चाहते हैं। लेकिन, कुछ दूसरे पंडितों का विचार है कि आद जिस जीव से बढ़कर आदमी हुआ है, वह बन्दर तो नहीं था, हाँ, वह बन्दरों समान ही कोई अन्य स्थलचारी जीव था। एक दूसरा अनुमान यह भी है कि आद शुरू से ही, आदमी था और उसकी पैदाइश, एक साथ, अनेक देशों में हुई।

इस अनिश्चय के बीच अधिकांश पंडित यह मानते हैं कि भारत में जो भी मौजूद हैं, उनके पूर्वज इस देश में अन्य देशों से आये और अन्य देशों से आकर उन्होंने, आपस में मिश्रित होकर, इस देश में जन-समूह की रचना की, हम भारतीय जनता कहते हैं। और भारत की मिट्टी पर अनन्त काल सें, कित विभिन्न जातियों, कितने प्रकार के लोगों का समागम होता रहा है, यह किस्सा काफी मजेदार है। अगर ईसाइयों और मुसलमानों को छोड़ दें, तब भी, इस देश एक के बाद एक, कम-से-कम, ग्यारह जातियों के आगमन और समागम का प्रमा मिलता है, जिन्होंने इस देश को ही अपना देश मान लिया और जिनका एक-ए सदस्य यहाँ की संस्कृति और समाज में भली-भाँति पच-खप कर आर्य अथवा हि हो गया। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगो और मुस्लिम-आक्रमण के पूर्व आनेवाले तुर्क इन सभी जातियों के लोग कई झुण्डों इस देश में आये और हिन्दू-समाज में दाखिल होकर सब-के-सब उसके अंग हो गये असल में, हम जिसे हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं, बल्कि इन सभी जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है।

आदमी की नस्ल पहचाननेवाले शास्त्र

हजारों वर्षों से एक ही भूभाग में, एक ही तरह की जलवायु तथा एक सामाजिक ढाँचे और एक ही आर्थिक पद्धति के भीतर जीते रहने के कारण भारत समाज के सभी लोगों के रूप-रंग, वेश-भूषा, रहन-सहन, भाव-विचार और जीव विषयक दृष्टिकोण में जो अद्भुत एकता आ गयी है, उसे देखते हुए एक नस्ल लोगों को दूसरी नस्ल के लोगों से अलग करने का काम अस्वाभाविक और

मुश्किल भी मालूम होता है। लेकिन, तब भी ऐसी कुछ कसौटियाँ मौजूद हैं, जिनके आधार पर बिलगाव किया जा सकता है। दुनिया में जितनी भी जातियाँ बसती हैं, उनकी मूल-नस्लों की पहचान भाषा और शरीर की गठन को देखकर की जाती है और इस विषय का अध्ययन अब अलग-अलग शास्त्रों के रूप में विकसित हो गया है, जिनके प्रयोग से मानव-जाति के बहुत पुराने इतिहास की रचना में बहुत सहायता मिली है। भाषा का अध्ययन करनेवाले शास्त्र को भाषा-विज्ञान (Philology) कहते हैं। साहित्य से सम्बद्ध रहने के कारण इस विषय के जानकार अब काफी लोग हो गये हैं। किन्तु, रूप-रंग और कद-ढाँचे की कसौटी पर भी मनुष्य-जाति का अध्ययन एक दूसरे शास्त्र के द्वारा किया जाता है, जिसे मानुषमिति (Anthropometry) या जनविज्ञान (Anthropology) कहते हैं। भाषा-भेद को देखकर मनुष्य की नस्ल का पता लगाना अपेक्षाकृत कुछ सरल कार्य हो गया; मगर, रंग-रूप और शरीर के ढाँचे को देखकर आदमी के मूल-खानदान का पता लगाना उतना आसान नहीं है, क्योंकि जलवायु के प्रभाव और विवाहादि के द्वारा रक्त के मिश्रण के कारण इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी उलझनें पैदा हो जाती हैं। फिर भी, जनविज्ञान ने जो कसौटियाँ बनायी हैं, उनपर आदमी की नस्ल की पहचान, बहुत दूर तक, सही-सही कर ली जाती है।

जनविज्ञान की पहली कसौटी रंग की है। जनविज्ञानियों का एक साधारण विश्वास है कि गोरे रंग के लोग आर्य वंश के हैं और जिनका रंग पक्का काला है, वे आर्येतर हैं अथवा आर्यों और आर्येतर जातियों के बीच जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसका उनपर काफी प्रभाव है। खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई देखकर भी नस्ल की पहचान की जाती है। इसी तरह, नाक की ऊँचाई, चौड़ाई, उसका खड़ा या चिपटा होना भी आदमी की नस्ल को इंगित करता है; फिर, आदमी का कद या डील, उसके मुँह या जबड़े का आगे बढ़ा या न बढ़ा होना भी उसकी नस्ल की पहचान है।

जनविज्ञान ने संसार की सभी जातियों को, मुख्यतः, तीन नस्लों में बाँट रखा है। पहली नस्ल गोरे लोगों की है, जिन्हें हम काकेशियन कहते हैं; दूसरी नस्ल के वे लोग हैं, जिनका रंग पीला होता है और जो मंगोल-जाति के हैं; तथा तीसरी नस्ल उन लोगों की है, जिनका रंग काला है और जो इथोपियन परिवार के हैं। काकेशस रूस से दक्षिण, प्रायः, एशिया-यूरोप के बीच का भूभाग है और इथोपिया अफ्रीका में है। यह विभाजन मुख्यतः, रंगों के आधार पर किया गया है, क्योंकि रंग की दृष्टि से संसार में तीन प्रकार के लोग हैं—गोरे, काले और पीले। बाकी रंग इन्हीं रंगों में से किसी-न-किसी की, कम या ज्यादा, छाँह लिये हुए हैं और वे, अक्सर, दो रंगों के मिश्रण से अथवा जलवायु के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। भारतीय जनता में इन तीनों रंगों के प्रतिनिधि मौजूद हैं और रंगों की दृष्टि से भी भारतीय मानवता विश्व-मानवता का अद्भुत प्रतीक मानी जा सकती है।

जनविज्ञान की कसौटी और भारतीय जनता

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर भारतवर्ष में चार प्रकार के लोग मिलते हैं। एक तरह के लोग वे हैं, जिनका कद छोटा, रंग काला, नाक चौड़ी और बाल

घुँघराले होते हैं। इस जाति के लोग, अक्सर, जंगलों में बसते हैं। ये ही लोग उन आदिवासियों की संतान हैं, जो आर्यों और द्रविड़ों के आगमन के पूर्व इस देश में आकर बसे थे और जो, शायद, जंगली जीवन के आदी होने के कारण अब तक भी शहरों से दूर जंगलों में ही रहने में सुख मानते हैं।

एक दूसरी तरह के लोग हैं, जिनका कद छोटा, रंग काला, मस्तक लम्बा, सिर के बाल घने और नाक खड़ी और चौड़ी होती है। रंग और कद में ये, प्रायः, आदिवासी लोगों से थोड़ी समानता रखते हैं, किन्तु ये उनसे बिल्कुल भिन्न हैं। विन्ध्याचल के नीचे, सारे दक्षिण भारत में इन्हीं लोगों की प्रधानता है। ये द्रविड़ जाति के लोग हैं, जिनके पूर्वज, कदाचित्, आर्यों से भी पूर्व इस देश में आये थे और उन्होंने पहले-पहल भारत में नगर-सभ्यता की नींव डाली थी।

तीसरी जाति के लोगों का कद लम्बा, वर्ण गेहुँआँ या गोरा, दाढ़ी-मूँछ घनी, मस्तक लम्बा तथा नाक पतली और नुकीली होती है। ये आर्य-जाति के लोग हैं। आरंभिक आर्यों के जिस रंग-रूप का वर्णन पुराने साहित्य में मिलता है, वह अब बहुत-कुछ बदल गया है। कारण, शायद, यह है कि भारत की जलवायु उष्ण है और कहा जाता है कि उष्णता से रंग काला पड़ जाता है। फिर द्रविड़ों और आदिवासियों के साथ उनका जो वैवाहिक मिश्रण हुआ है, उसके चलते भी आर्यों का पहले का रंग अब फीका पड़ गया है।

एक चौथे प्रकार के लोग बर्मा, असम, भूटान और नेपाल में तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तरी बंगाल और कश्मीर के उत्तरी किनारे पर पाये जाते हैं। इनका मस्तक चौड़ा, रंग काला-पीला, आकृति चिपटी तथा नाक चौड़ी और पसरी हुई होती है। इनके चेहरे पर दाढ़ी-मूँछ भी कम उगती है। ये मंगोल-जाति के लोग हैं जो भारत में तिब्बत और चीन से उस समय आये जब आर्य यहाँ पुराने हो चुके थे और जब नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य जातियों की संस्कृतियों के मेल से भारत में आर्य या हिन्दू-सभ्यता की नींव भलीभाँति डाली जा चुकी थी।[१]

इस प्रकार, अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य, द्रविड़, आदिवासी और मंगोल, इन चार जातियों को लेकर भारतीय जनता की रचना हुई थी। हम जिन्हें आदिवासी कहते हैं, उनके बीच नीग्रो और औष्ट्रिक नामक उन दोनों जातियों के लोग शामिल हैं जो जातियाँ द्रविड़ों से पूर्व इस देश में आयी थीं। नीग्रो और औष्ट्रिक जातियों के मिश्रण से बने हुए लोग मुंड या शबर भी कहे जाते हैं। इसी प्रकार, मंगोल जातिवालों का भी प्राचीन नाम किरात है।

---

[१] इण्डो-एशियन कलचर (अप्रैल, १९५४ ई०) में प्रकाशित अपने एक निबन्ध में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह अनुमान लगाया है कि मंगोल-जाति के लोग आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में बस चुके थे, क्योंकि किरात नाम आर्यों के प्रारम्भिक साहित्य में ही मिलने लगता है।

भाषा की कसौटी और भारतीय जनता

भाषा की दृष्टि से देखने पर इस देश में "७६·४ फी सदी आर्य-भाषी, २०·६ फी सदी द्राविड़-भाषी तथा ३ फी सदी शवर-किरात-भाषी हैं।" (जयचन्द्र)। मंगोल जाति के लोगों की भाषा तिब्बती-चीनी परिवार की भाषा है, यद्यपि; उसपर आर्य-भाषाओं का भी बहुत प्रभाव है। द्राविड़ परिवार की भाषाएँ तमिल, मलयालम, कन्नड़ी और तेलुगु हैं। इन भाषाओं के अनेक शब्द और प्रयोग आर्य-भाषाओं में आ गये हैं और संस्कृत के भी बहुत-से शब्द द्राविड़ भाषाओं में मिल गये हैं, लेकिन, तब भी दक्षिण भारत की ये चार भाषाएँ दक्षिण में ही प्रचलित हैं। दक्षिण भारत से बाहर दो एक जगहों पर इनके निशान मिलते हैं, जो इस बात की यादगार हैं कि, कदाचित्, द्रविड़ लोग कभी भारत भर में फैले हुए थे। उदाहरणार्थ, बलूचिस्तान की ब्रहुई भाषा द्राविड़ भाषा है और बिहार के आदिवासियों की ओराँव जाति जो भाषा बोलती है; वह भी द्रविड़ों से मिलती-जुलती है। लेकिन, अब पंडित इस विषय में संदेह करने लगे हैं कि ब्रहुई तथा मुण्ड भाषाएँ, सचमुच ही, द्राविड़ परिवार की भाषाएँ हैं या नहीं। आदिवासियों के बीच और भी कई बोलियाँ प्रचलित हैं, जो वर्गीकरण की दृष्टि से औष्ट्रिक अथवा आग्नेय भाषा-समूह में रखी जाती हैं।

हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, पंजाबी, असमी, गुरखाली और कश्मीरी आदि भाषाएँ आर्य-भाषाएँ हैं जो संस्कृत की परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। भारत से बाहर आर्य-भाषाओं का सम्बन्ध हिन्द-जर्मन-भाषा-समूह से है। कहते हैं, हिन्द-जर्मन-भाषाएँ बोलनेवाले लोग किसी समय एक ही जगह रहते थे और उसी कबीले की भाषा से संसार की समस्त आर्य भाषाएँ निकली हैं। "प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी, केल्ट, त्युतनी, जर्मन और स्लाव आदि भाषाओं के साथ हमारी संस्कृत का बहुत निकट का सम्बन्ध था और वह नाता उनके आजकल के वंशजों के साथ भी चला आता है। लातीनी प्राचीन इटली की भाषा थी और अब इटली, फ्रांस और स्पेन में उसकी वंशज भाषाएँ मौजूद हैं। प्राचीन केल्ट की मुख्य वंशज आजकल की गैलिक अर्थात् आयरलैंड की भाषा है। जर्मन, ओलन्देज (डच), अंग्रेजी, डेन, स्वीडिश आदि भाषाएँ जर्मन या त्युतनी परिवार की हैं। आधुनिक रूस तथा पूर्वी यूरोप की भाषाएँ स्लाव परिवार की हैं। इन सब भाषाओं का परिवार आर्य-वंश कहलाता है।" (जयचन्द्र)। हिन्द-जर्मन-परिवार की भाषाओं में जो समानता है, उसी से यह अनुमान किया गया है कि, प्रायः, समस्त यूरोप के लोग उसी परिवार से निकले हैं, जिस परिवार के भारतीय आर्य थे और भारतीय आर्यों का ऋग्वेद केवल भारतीय आर्यों की ही नहीं, बल्कि, विश्व भर के आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक है। वेद सारी मनुष्य जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ है। १९वीं सदी में जब इस सत्य का प्रचार हुआ, तब विश्व भर के अनेक विद्वान संस्कृत का अध्ययन करने लगे और इसी अध्ययन के परिणामस्वरूपा आर्य-वंश के विस्तृत इतिहास की रचना की जाने लगी। संस्कृत को सभी आर्यों की मूल भाषा सिद्ध करते हुए मैक्समूलर ने लिखा था कि संसार भर की

आर्य भाषाओं में जितने भी शब्द हैं, वे संस्कृत की सिर्फ पाँच सौ धातुओं से निकले हैं।

विभिन्न भाषाओं के आधार पर भारत में जातियों की जो पहचान की गयी है, उनका उल्लेख करते हुए डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय जनता की रचना जिन लोगों को लेकर हुई है, वे, मुख्यतः, तीन भाषाओं में विभक्त किये जा सकते हैं, अर्थात् औष्ट्रिक अथवा आग्नेय, द्राविड़ और हिन्द-यूरोपीय (हिन्द-जर्मन)। नीग्रो से लेकर आर्य तक जो भी लोग इस देश में आये, उनकी भाषाएँ इन भाषाओं के भीतर समायी हुई हैं। असल में, भारतीय जनता की रचना आर्यों के आगमन के बाद ही पूरी हो गयी और जिसे हम आर्य या हिन्दू सभ्यता कहते हैं, उनकी नींव भी तभी बाँध दी गयी। आर्यों ने भारत में जातियों और संस्कृतियों का जो समन्वय किया, उसी से हमारे हिन्दू-समाज और हिन्दू संस्कृति का निर्माण हुआ। बाद को, मंगोल, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण और तुर्क, जो भी आये, उन्हें इस समन्वय में दस्तन्दाजी करने की हिम्मत नहीं हुई और वे, समर्पण के भाव से, इस समन्वय के सामने सिर झुकाते और उसमें विलीन होते चले गये। इस स्थिति को देखते हुए श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने एक सूक्ति कही है "भारतवर्ष की जनता, मुख्यतः, आर्य और द्राविड़ नस्लों की बनी हुई है और उसमें थोड़ी-सी छौंक शबर और किरात (मुण्ड और तिब्बत-बर्मी) की है।" सच तो यह है कि रक्त, भाषा और संस्कृति, सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है।

नीग्रो-जाति-विषयक अनुमान

अटकल और अनुमान से जो बातें अभी तक सामने लायी जा सकी हैं, उनके आधार पर, साधारणतः, यह समझा जाता है कि भारत में पहला आगमन नीग्रो जाति का था। यह जाति भारत में अरब-ईरान के किनारे-किनारे चलकर पश्चिम से अथवा, संभवतः, अफ्रीका से आयी थी। इसकी एक शाखा भारत से निकलकर आस्ट्रेलिया भी गयी, जहाँ उसके वंशज अबतक मौजूद हैं। भारत से आस्ट्रेलिया जाते हुए रास्ते में इण्डोनेशिया, पोलीनेशिया और मलेनेशिया में भी इस जाति की टुकड़ियाँ रह गयीं। मलाया, फिलीपाइन, न्यूगिनी और अंडमन में भी जो नीग्रो हैं, वे भारत से ही गये हुए हैं। लेकिन भारत में नीग्रो लगभग खत्म हो चुके हैं। अनुमान यह है कि या तो वे अपने पीछे आने वाले आग्नेय लोगों के द्वारा मार डाले गये अथवा उनमें मिलकर एक हो गये और उनकी अपनी अलग सत्ता नहीं रह गयी। अब इनके थोड़े-से निशान दक्षिण भारत की आदिम जातियों में अथवा असम की नागा जाति में बचे हुए हैं। नीग्रो लोग सभ्यता के आदि सोपान पर थे। वे अपना भोजन खेतों से उत्पन्न न करके, जंगलों में घूमते हुए फल-फूल तोड़ कर या जीवों को मार कर प्राप्त करते थे। जब आर्य इस देश में आये, उस समय नीग्रो जाति समाप्त हो चुकी थी। नीग्रो जाति का काल विद्वान् आज से सात हजार वर्ष पूर्व मानते हैं, किन्तु, सम्भव है, यह काल आज से दस हजार वर्ष पूर्व रहा हो।

भारत के दक्षिणतम भाग में बसनेवाले काडार और उरली लोग, कदाचित् नीग्रो संस्कृति से सम्बद्ध थे। इस अनुमान का क्षीण आधार यह भी है कि मलाया में सेमाङ् नामक जो जंगली जाति है, वह बाँस की कंघी का प्रयोग करती है। इन कंघियों के डिजाइन ठीक वे ही हैं, जैसे डिजाइन काडार जाति की औरतों की कंघियों के होते हैं।

इतिहासकार इस जाति के लोगों को प्राचीन प्रस्तर-कालीन मनुष्यों में गिनते हैं। उनकी भाषा का नमूना अब सिर्फ अंडमन में ही शेष है। बाकी जगहों पर ये अपने पड़ोसियों की ही भाषाएँ, कुछ बिगड़े रूपों में, बोलते हैं।

नीग्रो जाति के बाद आग्नेय, आग्नेय के बाद द्रविड़ और द्रविड़ के बाद आर्य जाति के आने के बाद, इस देश में सांस्कृतिक समन्वय का काम शुरू होता है। किन्तु, नीग्रो और आर्य, इन दो जातियों के बीच समय की काफी दूरी पड़ती है। इसलिए, आर्यों ने हमें जो सभ्यता दी, उस पर नीग्रो सभ्यता का कहाँ, क्या प्रभाव है, यह आसानी से जाना नहीं जा सकता। फिर भी डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि बादुड़ शब्द (जिसका प्रयोग बंगाल और बिहार में एक प्रकार के चमगादड़ के अर्थ में होता है) नीग्रो भंडार का होगा। एक अन्य विद्वान् का अनुमान है, धनुष चलाने की कला नीग्रो जाति की देन है। नीग्रो जाति असभ्य होती हुई भी बड़ी साहसी रही होगी, अन्यथा, नावों के सहारे वह भारत-समुद्र की सैर करने की हिम्मत नहीं करती।

औष्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन

सामान्यतः, यह समझा जाता है कि हिन्दुस्तान की जनसंख्या का एक प्रमुख भाग औष्ट्रिक जाति की देन है। इनका औष्ट्रिक या आग्नेय नाम इसलिए पड़ा कि ये लोग यूरोप के अग्निकोण में पाये जाते हैं। इस वंश के लोग मदागास्कर और विन्ध्यमेखला से लेकर प्रशान्त महासागर के ईस्टर द्वीप तक फैले हुए हैं। इनका भारत में आगमन नीग्रो जाति के बाद हुआ और इस जाति के लोग भारत से होकर कई बार गुजरे थे। इस क्रम में नीग्रो और मंगोल जातियों के साथ उनका वैवाहिक मिश्रण हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतवर्ष के कोल और मुण्डा जाति के लोग, असम, बर्मा और हिन्दचीन की मौन-खमेर जाति, निकोबर द्वीप के निकोबरी तथा इंडोनेशिया, मलेनेशिया, और पोलीनेशिया के बहुत-से काले लोग इसी औष्ट्रिक वंश की मिश्रित संतान हैं। असल में कश्मीर से लेकर प्रशान्त महासागर के पूर्वी द्वीप-समूह तक जो भी पक्के काले और वनवासी लोग हैं, उन्हें औष्ट्रिक जाति का ही उत्तराधिकारी समझना चाहिये।

आग्नेय जाति कोई स्वतंत्र जाति थी अथवा वह द्रविड़ों की ही किसी शाखा से निकली थी, इस विषय में भी कभी-कभी प्रश्न उठाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, श्री रत्न स्वामी ने अपनी पुस्तक 'इंडिया फ्राम द डान' में यह विचार व्यक्त किया है कि आग्नेय लोग (वनवासी जातियाँ) भी द्रविड़ों की ही संतान हैं।[१] इनके पूर्वज कभी इस देश

---

[१] डॉक्टर नीलकंठ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री आव् साउथ इंडिया' में लिखा है कि महंजोदरो में नर्तकी की जो मूर्त्ति मिली है, वह आग्नेय [शेष पृष्ठ ३४ पर।]

के शासक थे, जिसका प्रमाण यह है कि मारवाड़ के राजा राज्याभिषेक के समय कि भील के अँगूठे से रक्त लेकर उसका तिलक लगाते थे। कुछ ऐसी ही प्रथा जयपुर भी प्रचलित थी और क्योंझर (उड़ीसा) के राजा का राज तिलक भी पेरिया जाति ही लोग सम्पन्न करते थे। दक्षिण में तंजोर जिले के तिरुवल्लुर मंदिर के शैव-उत्स के समय जिस हाथी पर शिवजी की मूर्ति निकलती है, उसपर चवढरिया (चँव डुलानेवाला) के रूप में परिया जाति के लोग चढ़ाये जाते हैं।

अब तो केवल कोल और मुण्डा जाति की ही भाषा ऐसी भारतीय भाषा है, औष्ट्रिक परिवार की समझी जाती है तथा असम और बर्मा की भी केवल मौन-ख्मे भाषा ही औष्ट्रिक है। किन्तु, जब आर्य आये थे, तब औष्ट्रिक भाषा इस देश में कु प्रचलित थी और उस भाषा के अनेक शब्दों ने आर्य-भाषा-भाण्डार में प्रवेश पा लिया विशेषतः, वन और वन-जन्तु (Flora and Fauna) सम्बन्धी आर्य-भाषाओं में ऐ कितने ही शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति औष्ट्रिक धातुओं से बतलायी जाती है।

केवल वनवासी ही नहीं, गाँवों के पास रहनेवाली अनेक निम्न जातियों के लो का जो अत्यन्त विशाल समुदाय है (जैसे डोम, भुइयाँ, मुसहर आदि), वह आग्ने भंडार से आया है। रक्त-मिश्रण के कारण इनके रंग-रूप और ढाँचे विलकुल बद गये हैं और उनमें से, प्रायः, सबने अपने मालिकों की भाषा सीख ली है अथवा कंजर के समान कुछ घुमक्कड़ जातियाँ हैं, जिनकी भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रि रूप है।

कहा जाता है कि जब आर्य आये, आग्नेय लोग सिन्धु की तराई में भी विद्यमान थे आर्यों ने उन्हीं का नाम निषाद रखा तथा उनके काले रंग और चिपटी नाक की हँसी भी उड़ायी। निषाद-वंश के लोगों के अन्य नाम कोल और भील भी मिलते हैं। ईसा से लगभग १५०० वर्ष पूर्व ही उत्तर भारत के बहुत-से आग्नेय लोग आर्य हो गये, यद्यपि, बौद्ध काल में भी चांडालों की वस्ती और उनकी स्वतंत्र भाषा के जीवित होने के प्रमाण मिलते हैं। इन चार हजार वर्षों के मिश्रण और समन्वय के बाद भी, हमारे देश में जो भी वनवासी जातियाँ हैं, सम्भावना यही है कि वे आग्नेय खानदान की हैं और उनकी भाषाओं का भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध आग्नेय भाषा-समूह से है। कहते हैं, जब आर्य भारतवर्ष में आये थे, उस समय द्रविड़ और आग्नेय लोग पड़ोसी के समान रहते थे।

द्रविड़ जाति का आगमन

जैसे पंडितों में इस बात को लेकर मतभेद है कि आर्य, मूलतः, भारतवासी थे अथवा भारत में वे बाहर से आये, वैसे ही, यह बात भी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि द्रविड़ इस देश के मूल-निवासी हैं अथवा इस देश में वे किसी और देश से

[पृष्ठ ३३ का शेष।]

जाति की है। आग्नेय जाति के लोग द्रविड़ जाति की संतान हैं, ऐसा न कहकर उन्होंने इस सम्भावना पर विचार किया है कि द्रविड़ लोग आग्नेय भंडार से विकसित हुए हैं या नहीं। किन्तु, उनका भी विचार है कि द्रविड़ बाहर से ही इस देश में आये हैं।

आये हैं। आर्य और द्रविड़, दोनों प्रकार के लोग, इस देश में अनन्त काल से रहते आये हैं और हमारे प्राचीनतम साहित्य में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये दोनों जातियाँ बाहर से आयीं अथवा इन दोनों के बीच कभी लड़ाइयाँ भी हुई थीं। आर्यों का संघर्ष दास और असुर जाति के लोगों से हुआ था,[1] इसका थोड़ा-बहुत प्रमाण है, किन्तु ये दास और असुर कौन थे, इस विषय में हमारे पास सुनिश्चित प्रमाण नहीं हैं।[2] आर्यों ने अपने शत्रु को अनास भी कहा है, किन्तु, अनास से कौन जाति संकेतित होती है, इसका निर्धारण सरल नहीं है।[3] प्रजाति या रेस (Race) के सिद्धान्त हमारे देश में अँगरेजों के आगमन के बाद प्रचलित हुए, अन्यथा इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि आर्य और द्रविड़ जातियों के लोग एक-दूसरे को विजातीय समझते थे। मैथिल, गौड़, कान्यकुब्ज आदि की तरह, द्रविड़ शब्द भी यहाँ भौगोलिक अर्थ देनेवाला था। अतएव, जाति के अर्थ में आर्य और द्रविड़ शब्दों के चलन को बिलकुल अर्वाचीन मानना चाहिए।

पीछे की ओर दृष्टि डालकर इतिहास की अतल गहराइयों में जाने पर भी हम यही देखते हैं कि आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किये जानेवाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक हैं तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन और बौद्ध, ये आर्य भी थे और द्रविड़ भी। इसी प्रकार, साहित्य-रचना में भी, शैली और भाव में, इन दोनों प्रकार के लोगों में पूरी समानता मिलती है। इसके सिवा, उत्तर और दक्षिण में जो प्राचीन मन्दिर और मूर्त्तियाँ, संगीत और बाजे मिलते हैं, उनमें स्थानीय विशेषताएँ तो हैं, किन्तु, जाति या संस्कार-गत भेद बिलकुल नहीं है। भेद है तो सिर्फ यह कि द्रविड़ों की अपेक्षा आर्यों में गौर वर्णवाले लोग कुछ अधिक हैं तथा जो लोग द्राविड़ भाषाएँ बोलते हैं, वे दक्षिण में रहते हैं। बिहार में ओराँव जाति की भाषा और बलूचिस्तान में ब्रहुई जाति की बोली, उत्तर भारत में ये दो ही बोलियाँ हैं, जिनका द्राविड़ भाषा-समूह से कुछ साम्य बताया जाता है। यदि इस बात पर विचार करें कि आर्यों के साहित्य में

---

[1] आरम्भ में दास शब्द का अर्थ निन्दित नहीं था। धर्मानन्द कोसम्बी ने 'भगवान बुद्ध' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "वेदों में दास तथा दाश्, दोनों धातुओं का प्रयोग 'देना' अर्थ में होता है।" असुर शब्द भी पहले शक्तिशाली के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अवेस्ता में असुर देवता को कहते थे, जिससे पारसियों का अहुर (ईश्वर) शब्द निकला है।

[2] डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है कि आर्यों ने द्रविड़ों को ही दास, आग्नेय जातिवालों को कोल, भील और निषाद तथा मंगोल-जाति के लोगों को किरात कहा है।

[3] सायणाचार्य ने अनास का अर्थ आस्य-रहित अर्थात् वाणी-विहीन किया है। इससे यही आशय लिया जा सकता है कि अनास वे थे, जिनकी बोली आर्यों की समझ में नहीं आती थी।

धर्म का जो रूप वर्णित है, संस्कृति की जो व्याख्या विद्यमान है, उसका वास्तवि प्रमाण कहाँ है, तब तो उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अब द्रविड़ों में ही मिलेंगे और अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार निकल आयेगा कि यदि द्रविड़ भारत के आर्य निवासी हैं, तो हिन्दू-संस्कृति भी, अधिकांश में, आर्यों से पूर्व की वस्तु है। आ संस्कृति की दीक्षा द्रविड़ों को आर्यों से मिली, किन्तु, गुरु तो उसे पूरी पवित्रता जुगा नहीं सका, हाँ, शिष्य उसे भलीभाँति जुगाये हुए हैं, यह अनुमान उतना प्रच नहीं होगा, जितना यह अनुमान कि द्रविड़ों के बीच प्रचलित धर्म को आर्यों ने अप भीतर पचा लिया।

आर्यों और द्रविड़ों का सांस्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता से हुआ कि उसके विल गाव का प्रयत्न कठिन है। मुख्य कठिनाई यह दीखती है कि जब से हमें लिखित प्रमा मिलने लगते हैं, इन दोनों जातियों के पारस्परिक मिश्रण की प्रक्रिया उसके पहले सम्पन्न हो चुकती है। अतएव, आर्य कहाँ से आये और द्रविड़ कौन थे, इस सम्बन्ध जो कुछ भी कहा जाता है, उसे, मुख्यतः, अनुमान ही अनुमान मानना चाहिए। य दक्षिण भारत का आर्यों से पहले का इतिहास कुछ ज्ञात होता, तो कठिनाई इतनी नह रहती। किन्तु, जैसा डॉक्टर नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है, जैसे उत्तर भारत का इति हास आर्यों के आगमन के साथ आरम्भ होता है, वैसे ही, दक्षिण भारत का इतिहा भी आर्यों के दक्षिण-आगमन के वाद से ही मिलने लगता है।

महंजोदरो (सिन्ध), हरप्पा (पंजाब) तथा नाल (बलूचिस्तान) की खुदाइयों में जि सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उनके सम्बन्ध में अभी तक भी यह नहीं कहा जा सकत कि वह सभ्यता आर्यों की थी अथवा द्रविड़ों की या दास और असुरों की। केवल अनुमा है कि यह सभ्यता आर्यपूर्व भारतीय सभ्यता रही होगी। इस अनुमान पर से दूसरा अनुमान यह लगाया जाता है कि तब यह सभ्यता द्रविड़ों की ही रही होगी और उन्हीं बीच दास और असुर जातियाँ रही होंगी, जिनसे आर्यों की मुठभेड़ हुई थी। किन्तु सिन्धु-सभ्यता तथा सुमेर-सभ्यता में समानता पायी गयी है।[1] इसलिए, विद्वानों का तीसरा अनुमान यह है कि, हो-न-हो, द्रविड़ों के पूर्वज इस देश में पश्चिमी एशिया से आये थे, जहाँ सुमेर-सभ्यता के प्रमाण मिलते हैं। इसी अनुमान की पुष्टि में यह कहा जाता है कि जब द्रविड़ बलूचिस्तान के दर्रों से भारत में प्रवेश करने लगे, तब उनकी एक टोली बलूचिस्तान में छूट गयी। ब्रहुई बोली और ब्रहुई जाति द्रविड़ों की इसी टोली की यादगार है। किन्तु, कुछ दूसरे विद्वान् यह भी कहते हैं कि सम्भव है, सुमेर-सभ्यतावाले

---

[1] ईसा से ३ हजार वर्ष पूर्व भूमध्यसागर से लेकर सिन्धु की घाटी तक जो सभ्यता फैली हुई थी, वह बहुत-कुछ समान थी। द्रविड़ों में जो मातृमूलक परम्परा है, वह इमेलाइट लोगों में भी थी। इसी प्रकार, सर्प-पूजा और देवी माता की पूजा भी उन लोगों में प्रचलित थी। सुमेरिया में देवदासी जैसी भी कोई प्रथा थी। सुमेरिया में एक ऐसे देवता की भी पूजा चलती थी, जिनका वाहन बैल था।

के पूर्वज भारत से ही पश्चिम की ओर गये हों और उन्हीं की टोली बलूचिस्तान में छूट गयी हो। अब कुछ अन्य विद्वानों ने यह अनुमान चलाया है कि द्रविड़ों के पूर्वज, असल में भूमध्यसागर के किनारे रहते थे और वहीं से ये लोग भारतवर्ष में आये। यह मत, इधर हाल में इतनी बार दुहराया गया है कि अब एक प्रकार से उसे स्वीकृति-सी प्राप्त हो गयी है। ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ये लोग भूमध्यसागर से भारत की ओर चले। रास्ते में इनकी शाखाएँ इराक और ईरान में भी रह गयीं, जिन्होंने, कदाचित्, सुमेर-सभ्यता की नींव डाली। जो लोग भारत पहुँचे, उन्होंने महंजोदरो आदि के पास सिन्धु-सभ्यता की स्थापना की। यही कारण है कि सुमेर एवं सिन्धु-सभ्यताओं में इतना साम्य दीखता है।

किन्तु, यह सोच कर आश्चर्य होता है कि यदि द्रविड़ पंजाब तक फैले हुए थे, तो आज द्राविड़ भाषाएँ सिमटकर विन्ध्य के दक्षिण में ही क्यों सीमित हैं ? क्या आर्यों और द्रविड़ों के बीच इतनी भयंकर लड़ाइयाँ हुईं कि एक-एक करके सभी द्रविड़ विन्ध्य के दक्षिण में चले गये और उत्तर में अपनी भाषाओं का उन्होंने कहीं कोई निशान ही नहीं छोड़ा ? इस विस्मय से एक अन्य अनुमान निकलता है कि भारत में आर्य पहले आये और द्रविड़ बाद को। जब आर्य-धर्म भलीभाँति स्थापित हो चुका, तब द्रविड़ लोग समुद्र की राह से आये तथा भारत के नैऋत भाग में बस गये। उन्होंने विन्ध्य के उत्तर जाने की कभी चेष्टा ही नहीं की। हाँ, भारत के कटि-प्रदेश पर जो मराठे लोग हैं, उनके यहाँ विवाहादि की रस्मों में थोड़ा द्रविड़ प्रभाव जरूर है। बाकी सारी द्रविड़-संस्कृति दक्षिण में ही सीमित है। इन लोगों के मतानुसार, द्रविड़ों का भारत में आगमन ई०पू० ५०० में हुआ है।[१]

यह अनुमान आसमान से टपका-जैसा लगता है। इसके सत्य माने जाने की कोई आशा नहीं है, क्योंकि यदि द्रविड़ों का आगमन आर्यों से पूर्व नहीं माना जाय तो उत्तर और दक्षिण में प्रचलित ऐतिहासिक परम्पराओं में कोई मेल ही नहीं बैठेगा।

अब सभी इतिहासकार मानने लगे हैं कि द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक आरम्भ इसी जाति ने किया था। जब द्रविड़ इस देश में आये, यहाँ आग्नेय जातिवालों की प्रधानता थी और कुछ नीग्रो जाति के लोग भी वर्त्तमान थे। अतः, अनुमान किया जाता है कि नीग्रो और आग्नेय लोगों की बहुत-सी बातें पहले द्राविड़ सभ्यता में आयीं और पीछे, द्रविड़-आर्य-मिलन होने पर, आर्य-सभ्यता में भी। द्रविड़ों ने इस देश में कृषि का विकास किया, समुद्र-यात्रा की परम्परा आरम्भ की, सिंचाई के लिए नदियों को बाँधने की प्रथा चलायी, बड़े-बड़े मन्दिरों और भवनों का निर्माण किया तथा नगर-सभ्यता की नींव डाली। वे समाज की मातृमूलक व्यवस्था के भी प्रवर्त्तक हुए और शैव तथा शाक्त धर्म तथा भक्तिवाद का भी उन्हीं ने विकास किया।

* * *

---

[१] देखिये इंडो-एशियन कलचर (जनवरी, १९५४ ई०) में प्रकाशित फुरर हैमेन्दोर्फ (Furer Hamendorf) का निबन्ध।

प्रकरण २

आर्य-द्रविड़ समस्याएँ

द्रविड़ कौन हैं ?

उन्नीसवीं सदी में प्रजाति का सिद्धान्त (रेस-थियरी) भारत पर लागू किया जा लगा और यह कहा जाने लगा कि आर्य और द्रविड़, ये अलग-अलग प्रजातियों लोग हैं, तब इतिहास लिखनेवालों के इस प्रयास से राष्ट्रीय भारत को चोट पहुँ थी। भारतवासियों के कान में यह बात पहले ही पहल पड़ी थी, अतएव, वे चौं और खिन्न भी हुए। इस विस्मय की निश्छलतम अभिव्यक्ति हम स्वामी विवेकानन्द पाते हैं। "अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्यों की एक खास प्रजाति थी, जिस नाम द्रविड़ था और जो दक्षिण भारत में रहती थी और वह उत्तर भारत में रह वाली आर्य नामक प्रजाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षि भारत में जो ब्राह्मण हैं, केवल वे ही थोड़े-से आर्य हैं जो उत्तर भारत से दक्षिण गये थे। दक्षिण भारत में बाकी जितने लोग हैं, उनकी जाति और प्रजाति ब्राह्म की जाति और प्रजाति से भिन्न है। श्रीमान् भाषाशास्त्री जी ! आप क्षमा करेंगे, सारी बातें निराधार हैं।"[1]

ये भ्रान्तियाँ जहाँ से उत्पन्न हुईं, स्वामीजी ने ठीक उसी विन्दु पर उँगली रख है। आर्यों और द्रविड़ों को परस्पर भिन्न बताने का एक मात्र कारण यह है कि आ और द्राविड़ भाषाएँ दो अलग परिवारों की भाषाएँ मानी जाती हैं। किन्तु, भाष भिन्न होने मात्र से आदमी किसी अलग जाति का हो जाता है, यह अनुमान असत् है। स्वयं भाषाशास्त्री भी उसे अब संदिग्ध मानने लगे हैं। अँगरेजी और फ्रेञ्च अ अफरीका में भी बोली जाती हैं। लेकिन, अफरीकी लोग उस नृवंश के नहीं हैं, जिस अँगरेज और फ्रांसीसी लोग निकले हैं। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच की एक इतनी सघन है कि कहीं दोनों भागों की भाषाएँ एक ही परिवार की हुई होतीं, त आर्यों और द्रविड़ों के दो होने की बात किसी को सूझती भी नहीं।

प्रस्तर-युग भारत से बाहर ही नहीं, भारत में भी बीता था। प्राचीन प्रस्तर-युग निशान भारत में भी मद्रास, बम्बई, उड़ीसा, पंजाब, गुजरात आदि क्षेत्रों के, कम- कम, दस स्थानों में मिलते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि इस देश में मनुष्य अत्य प्राचीन काल में भी रहते थे। यदि पौराणिक परम्परा को लें तो इस देश की य मान्यता रही है कि आदमी पहले-पहल भारत में ही ज़नमा था और सभ्यता का आरम्

---

१. द फ्युचर आव् इंडिया—स्वामी विवेकानन्द।

भी इसी देश में हुआ। पठानों के समय तक यह विश्वास भारतीयों के भीतर इतना बद्धमूल था कि अमीर खुसरो ने, मुसलमान होते हुए भी, बड़े ही जोर के साथ यह बात लिखी है कि आदम और हौवा जब स्वर्ग से निकाले गये, तब वे आकाश से इसी भारत-भूमि में उतरे थे। लेकिन, आधुनिक इतिहासकारों का चक्र इस तेजी से चला कि अब भारतीय विद्वान् भी यही मानते हैं कि नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य, ये सारे-के-सारे लोग इस देश में बाहर से ही आये और इस देश की धरती, लाखों वर्ष तक, आदमी की आबादी से खाली, यों ही, बंजर पड़ी हुई थी। यूरोपीय तर्क आधुनिक बुद्धि का सम्मोहनास्त्र है। इसका उपयोग वे तो करते ही हैं जिनका उद्देश्य काटना है, पसन्द यह उनको भी आता है जो काटे जाते हैं।

हम हुए, तुम हुए कि 'मीर' हुए,
एक ही जुल्फ के असीर हुए।

यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि आदमी भारत में जनमा ही नहीं था, तब हम इस स्थापना को कबूल कर सकते हैं कि द्रविड़ इस देश में बाहर से आये होंगे। किन्तु, तब भी यह बात किसी भी प्रकार बुद्धि में नहीं आती कि द्रविड़ एक समय सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे और आर्यों ने उन्हें इस प्रकार खदेड़ कर दक्षिण पहुँचा दिया कि उत्तर में उनका कोई भी चिह्न बाकी नहीं रहा। उन दिनों लड़ाइयों में जोश-खरोश या प्रतिरोध की मात्रा बहुत अधिक नहीं रहती होगी। यह वह समय था जब लोग बसने की जगह भर चाहते थे और बैठने की जगह मिल जाने पर धक्कम-धुक्की तो चलती होगीं, किन्तु, शत्रुता भयानक रूप नहीं लेती होगी। और यदि यह मानें कि आर्यों ने प्रतिशोधपूर्वक द्रविड़ों को खदेड़ कर विन्ध्य पार पहुँचा दिया तो आरम्भिक आर्य-साहित्य में दक्षिण देश का उल्लेख क्यों नहीं है? वेद और ब्राह्मण सप्त-सैन्धव का नाम लेकर रह जाते हैं। उसके बाद के साहित्य से ब्रह्मावर्त्त तक का भूगोल समझा जा सकता है। मध्य देश का भूगोल कुछ और बाद को उभरता है। स्वयं पाणिनि (७वीं सदी ई०पू०) को दक्षिण देश का पता था या नहीं, यह सन्देह का विषय है। ऐसी स्थिति में कल्पना यही ठीक लगती है कि यदि द्रविड़ बाहर से आये तो वे समुद्र की राह से आये होंगे और उत्तर भारत में बहुत कम रहे होंगे। अन्यथा वे दक्षिण भारत में आरम्भ से ही रहते आये होंगे और आर्यों के साथ उनका सम्बन्ध आक्रमण के क्रम में नहीं, आर्यों के भारत में बस जाने पर, धीरे-धीरे ही, बढ़ा होगा।

इस सम्बन्ध में दक्षिण भारत के दो विद्वानों के मत, प्रमुख रूप से, उल्लेखनीय हैं। श्री पी० टी० श्रीनिवास आयंगर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री आव् तमिल्स" में यह विचार प्रकट किया है कि प्राचीन काल में उत्तर भारत को दक्षिण भारत का ज्ञान नहीं था, ऐसा मानना बिलकुल निराधार है। आयंगर मानते हैं कि वैदिक ऋचाओं में मोती का उल्लेख मिलता है और ये मोती, अवश्यमेव, दक्षिण भारत से ही जाते होंगे। संस्कृत में मोती का एक नाम मुक्ता भी है। आयंगर महोदय का मत है कि मुक्ता शब्द, कदाचित्, तमिल शब्द 'मुत्तम' का संस्कृत रूप है, जिसका अर्थ मोती होता है।

डॉक्टर भण्डारकर ने भी सुत्तनिपात का हवाला देकर यह प्रमाणित किया कि उत्तर और दक्षिण भारत का सम्पर्क बुद्ध के जीवन-काल में भी था। बावरी ना ब्राह्मण गोदावरी के तट पर रहता था। उसने बुद्ध की अभ्यर्थना के लिए अपने सो शिष्यों को उत्तर की ओर भेजा था। भण्डारकर के मतानुसार दक्षिणापथ से सम्पर्क उन दिनों, दो मार्ग थे। एक तो सिन्धु मुहाने के पास से समुद्र होकर ; दूसरा अवन्ति की माहिष्मती नगरी होकर जो नर्मदा पर अवस्थित थी।

श्री रामचन्द्र दीक्षितर ने इस प्रश्न पर बिल्कुल नये ढंग से विचार किया है सबसे पहली शंका उन्होंने यह उठायी है कि जब यह सिद्ध बात है कि भूगर्भ-शास्त्री युगों में मानव-प्राणी दक्षिण भारत में मौजूद थे, तब यह क्यों नहीं माना जाय द्रविड़ उसी भाण्डार से विकसित हुए हैं ? प्राचीन प्रस्तर-युग से जब मानव-प्राणी नवी प्रस्तर-युग में पहुँचा, तब जीवन-निर्वाह के लिए उसने अलग-अलग रास्ते अपनाये कुछ लोग पशुपालन और कृषि में लगे, कुछ लोग मछली मारकर जीवन यापन क लगे और कुछ लोगों ने जंगलों में और पहाड़ों पर रहकर, पहले की भाँति, शिका जीवन बिताना ही पसन्द किया। तमिलनाडु में आदिम जातियों के लिए 'विल्लव और 'मीनवर', इन दो विशेषणों का प्रयोग चलता है। विल्लवर वे थे, जो तीर-धनु लेकर शिकार करते थे और मीनवर वे थे, जो मछली मारकर खाते थे। विल्लवर उत्तर भारत के भीलों का सम्बन्ध माना जा सकता है। वे सभी लोग जो वनों में औ पर्वतों पर रह कर कुछ खेती और कुछ शिकार से जीवन यापन कर रहे हैं, उनकी संस्कृति इन्हीं विल्लवरों की संस्कृति है।

जिन्होंने मछली मारना और खेती करना पसन्द किया, वे समुद्र-तट पर रह ग अथवा समतल में। केवल शिकारी-सम्प्रदाय भारत के विभिन्न जंगलों में फैल गया समुद्र के समीप होने से इन लोगों ने नौका खेने में दक्षता प्राप्तः की और बाद को दूर दूर तक की समुद्र-यात्रा भी वे करने लगे। आगे चलकर हिन्द-एशिया की ओर जाने वालों में दक्षिण भारत और कलिंग के ही लोग प्रधान थे। प्रागैतिहासिक काल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार का जो सम्बन्ध था, उसमें भारत के प्रतिनि दक्षिण भारत के ही लोग थे। अवश्य ही, नौविद्या अथवा जहाजरानी का अनुभ भारत में सबसे अधिक दक्षिणवालों को ही था, क्योंकि समुद्रतटवासी होने के कार यह विद्या उन्हीं ने विकसित की थी। पश्चिमी विद्वानों ने यह बताने की कोशिश की है कि मेसोपोटामिया और मिस्र में तथा भूमध्यसागर के किनारे जो सभ्यता प्रचलि थी, उसके साथ द्राविड़ सभ्यता की यत्किंचित् समानता देखी जाती है। इस समानत का कारण दीक्षितर यह बताते हैं कि द्रविड़ ही भारत से वहाँ जल और स्थल मार्गों से गये होंगे और, अजब नहीं कि, इसी क्रम में उन्होंने उन लोगों से सम्पर्क स्थापि किया हो, जिनकी सभ्यता के निशान महंजोदरो और हरप्पा में पाये गये हैं।

द्रविड़ कौन हैं, इस प्रश्न का विवेचन करने को जितने भी सिद्धान्त बनाये गये, वे सब के सब गोल-मटोल और अनुमान पर आधारित हैं तथा उनमें से कई ऐसे हैं जो

परस्पर ही एक दूसरे का खंडन करते हैं। इलियट स्मिथ और पेरी का कथन है कि सारी सभ्यता मिस्र से फैली है, अतएव, द्रविड़ मिस्र से ही भारत गये होंगे। कर्नल होल्डीच का ख्याल है कि द्रविड़ मेसोपोटामिया के पास रहते थे और वहीं से वे भारत गये। होल्डीच का यह भी कहना है कि ब्रहुई लोग मंगोल जाति के थे। उन्होंने द्रविड़ों को पराजित किया था और बाद को उन्होंने द्रविड़ों की भाषा अपना ली। एक अन्य सिद्धान्त यह है कि द्रविड़ सामी जाति के थे। एक सिद्धान्त के अनुसार वे तूरानी-भंडार से निकले हैं। यह भी कहा जाता है कि ब्रहुई जाति द्रविड़ों की ही एक शाखा थी जो बाहर से भारत आयी थी। कुछ विद्वान् यहाँ तक गये हैं कि द्रविड़ लोग मंगोल-भंडार के हैं।

इन सब अनुमानों के विरुद्ध जो नया सिद्धान्त आया है कि द्रविड़ दक्षिण भारत के ही मूल निवासी हैं, उसका आधार भी बहुत ठोस नहीं है। किन्तु, यह सिद्धान्त भारतीय परम्परा को उलट-पुलट होने से बचाता है। यह इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में मुख्य बाधाएँ चार हैं:—

१—यदि द्रविड़ दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुए और वहीं उन्होंने अपनी सभ्यता का विकास किया तो भूमध्यसागर के किनारे द्राविड़ सभ्यता का प्रभाव क्यों है?

२—ब्रहुई जाति की भाषा द्राविड़ भाषा से क्यों मेल खाती हैं?

३—छोटानागपुर और मध्य भारत के मुण्डा लोगों की भाषा का द्राविड़ भाषा से मेल क्यों है?

४—सिन्धु-घाटी की सभ्यता किस जाति की सभ्यता थी?

पाश्चात्य पण्डित, सोच-विचार कर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्राचीन यूरोप में जो लोग बसे, उनकी तीन शाखाएँ थीं; आलपाइन, नार्डिक और भूमध्यसागरीय। भारतीय जनता के साथ इन तीन शाखाओं की समता उन्हें पहले भाषा को लेकर दिखायी पड़ी। बाद में उनका मत बन गया कि भारतवासियों के पूर्वज इन्हीं तीनों शाखाओं के प्राचीन लोग थे। एफ०जे० रिचार्ड्स ने लिखा है कि "द्राविड़ भारत और भूमध्यसागरीय क्षेत्र के बीच समानता की इतनी अधिक बातें हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" यही मत इलियट स्मिथ और डॉक्टर स्लेटर[१] का भी है। श्री रामचन्द्र दीक्षितर निश्चयपूर्वक मानते हैं कि इस समानता का कारण यह नहीं है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भूमध्यसागरीय लोग ही भारत आये (और उत्तर भारत के सभी अंगों को छोड़ कर) सीधे दक्षिण चले गये। बल्कि, अधिक सम्भावना इस बात की है कि दक्षिण के लोग ही समुद्र-मार्ग से अथवा स्थल मार्ग से क्रेटान और एजियन तक पहुँचे होंगे। उन्हीं में से कुछ लोग बलूचिस्तान की ओर भी गये होंगे, जिनका प्रभाव महंजोदरो में दिखायी पड़ता है। यह अनुमान केवल दीक्षितर का ही नहीं है, प्रत्युत, वर्षों पूर्व हर्बर्ट रिज़ले ने भी यही बात कही थी। द्राविड़ सभ्यता का, भाषा

---

[१] **Dravidian Elements In Indian Culture—by Gilbert Slater.**

शास्त्र और नृवंश-शास्त्र के अनुसार, अध्ययन करने के बाद सबसे पूर्व रिज़ले ने यह स्थापना रखी थी कि द्रविड़ भारत में बाहर से नहीं आये, प्रत्युत, वे दक्षिण भा के मूल निवासियों की संतान हैं।[1]

ब्रहुई भाषा का गठन और रूप तो अपना है, किन्तु, शब्द उसमें आर्य, ईरानी औ द्राविड़ भाषाओं के पाये जाते हैं। द्राविड़ भाषा के शब्द, वैसे तो कम हैं, किन्तु, जो वे अत्यन्त प्रमुख हैं। मुँह, कान, आँख, दिमाग आदि के अर्थ देनेवाले शब्द ब्रहुई द्राविड़ भंडार के हैं। किन्तु, इससे इतना ही सिद्ध होता है कि द्रविड़ और ब्रहुई जाति कभी आपस में साथ-साथ रही होंगी। वे एक वंश की संतानें नहीं हैं। वांशिक दृ से ब्रहुई लोग ईरानी मालूम होते हैं, अतएव, यह अनुमान गलत है कि वे द्रावि खानदान के हैं।

द्राविड़ और मुण्डारी भाषाओं के बीच साम्य दिखाकर यह कहा जाता रहा है कि मुण्डा और द्रविड़, ये दोनों एक खानदान के हैं। किन्तु, डॉक्टर ग्रियर्सन का निश्चि मत है कि द्राविड़ और मुण्डारी भाषाओं के बीच कोई भी साम्य नहीं है। और यह मत डॉक्टर काल्डवेल का भी है। सम्भव है, बहुत प्राचीन काल में द्राविड़ भाषा की कुछ थोड़ी छौंक मुण्डारी भाषा में भी पड़ी हो, जैसी छौंक स्लाव भाषाओं में अ संस्कृत की दिखायी देती है, किन्तु, इतने से ही दो भाषाएँ एक परिवार की नहीं मानी जा सकतीं। मुण्डारी भाषा का साम्य यदि किसी अन्य भाषा से दिखाया जा सकता है, तो वह भाषा तिब्बत-बर्मी अथवा मौन-खमेर भाषा ही हो सकती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि कोल लोगों के बारे में एक अनुमान यह भी रहा है कि वे भारत में ईशान कोण से आये थे, जब कि द्रविड़ों के बारे में लोग मानते आये हैं कि उन्होंने भारत के भीतर प्रवेश वायव्य कोण से किया था। यही कुछ देखकर स्टेन कोनो ने यह मत रखा है कि द्राविड़ भाषाएँ एक अलग परिवार की भाषाएँ हैं, उनका मुण्डारी अथवा मौन-खमेर भाषाओं से कोई मेल नहीं है।[2] नीग्रो और मुण्ड लोग विन्ध्य से दक्षिण कभी बसे थे या नहीं, यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। अतएव, द्राविड़ और मुण्ड भाषाओं का साम्य और भी संदिग्ध हो जाता है।

सिन्धु-सभ्यता के रचयिता कौन थे, इस विषय में तीन मत प्रचलित हैं। सर जान मार्शल का अनुमान था कि इस सभ्यता के निशान द्राविड़ सभ्यता के निशान मालूम होते हैं। कुछ दूसरे लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि, हो-न-हो, सिन्धु-सभ्यता के निर्माता आर्य थे। एक तीसरा मत यह भी है कि यह सभ्यता न तो आर्यों की थी, न द्रविड़ों की। उसके कर्त्ता कोई और लोग थे, जिनका पता लगाना तब तक कठिन है, जब तक महंजोदरो और हरप्पा में पाये गये अभिलेख पढ़े नहीं जाते हैं। इस दृष्टि

---

[1] 'Peoples of India' by Herbert Risley.

[2] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, १४वाँ संस्करण, जिल्द १५।

से अभी निश्चयपूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह सभ्यता वेदों से पूर्व की है अथवा उनके बाद की।

इस विषय में एक साधारण अनुमान यह है कि बहुत प्राचीन काल में पंजाब से लेकर ईरान की खाड़ी तक कोई एक ही सभ्यता प्रचलित थी, जिसका प्रसार पश्चिम में सुमेर, बैबिलोन और मिस्र तक हुआ था। यदि दीक्षितर महोदय[1] की यह स्थापना स्वीकार कर ली जाय कि द्रविड़ दक्षिण में थे और साहसिक होने के कारण उन्होंने ही सिन्धु घाटी और बैबिलोन जाकर वहाँ रहनेवालों को अपनी सभ्यता से प्रभावित किया था, तो सारी समस्याओं का समाधान मिल जाता है। टूटी कड़ियों को जोड़ने और खाली जगहों को अनुमानों द्वारा पूर्ण करने से जो चित्र सामने आता है, वह यह है कि सिन्धु सभ्यता वेदपूर्व सभ्यता थी और उसके भीतर भारत की वेद-पूर्व संस्कृति के असंख्य उपकरण समाहित थे। आर्यों का संघर्ष इसी सभ्यतावालों से हुआ था और आर्य जब कश्मीर से नीचे उतर कर भारत में फैले, तब उन्होंने इसी वेद-पूर्व सभ्यता को भारतीय सभ्यता का आधार बनाया।

आर्य और द्रविड़ संज्ञाएँ

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अलपाइन, नार्डिक और भूमध्यसागरीय लोग एक खानदान के थे। अतएव, आर्यों और द्रविड़ों को भी, दूर पर, वे एक ही खानदान के मानते हैं। किन्तु, भारत में वे उन्हें एक नहीं मानते। श्री बी० एस० गुहा की छोटी-सी पुस्तिका "रेस अफ़ीनिटीज़ आव् द पीपुल्स आव् इंडिया" की समीक्षा करते हुए सर आर्थर कीथ ने सन् १९३६ ई० में लिखा था कि सीमा-प्रान्त के पठानों और त्रावणकोर की वन्य जातियों को मिलानेवाला सेतु अभी भी मौजूद है। लेकिन, सभी विद्वान् यही कहते जा रहे हैं कि भारत में प्रजाति-गत जो भिन्नताएँ हैं, वे इस कारण कि भारत के सभी लोग भारत के बाहर से आये हैं, यह देखने की किसी ने कोशिश ही नहीं की कि भारत की वे जातियाँ कौन-कौन हैं, जिनका उद्भव और विकास भारत में ही हुआ है।[2]

जब यूरोप को प्रजातिवाद से उत्पन्न कालकूट से पाला पड़ा, तब सन् १९३९ ई० में जूलियन हक्सले[3] ने कहा था कि "प्रजातिवाद का सिद्धान्त झूठा भी है और खतरनाक भी।" आर्य शब्द का प्रयोग अँगरेजी में पहले-पहल सन् १८५३ ई० में मैक्समूलर ने किया था और १९३९ ई० में आकर हिटलर ने प्रमाणित कर दिया कि आर्यों को प्रजाति मानने का सिद्धान्त, सचमुच, खतरनाक है। भारत को भी यह नहीं मानना चाहिए कि आर्य और द्रविड़ नाम दो प्रजातियों के नाम हैं। मैक्समूलर को जब

---

१. देखिये रामचन्द्र दीक्षितर की दो पुस्तकें (1) Origin And Spread Of The Tamils और (2) Pre-historic South India.

२. Man (लंदन, १९३६, भाग २९)।

३. Race In Europe—आक्स्फोर्ड पैम्फलेट नं० ५।

अपनी गलती मालूम हुई, उन्होंने स्वयं घोषणा करके कहा था, "जब मैं एरियन शब्द कहता हूँ, तब मेरा अभिप्राय न रक्त से होता है, न अस्थि, बाल और खप्पर से मेरा तात्पर्य केवल उन लोगों से है, जो आर्य भाषा बोलते हैं।" बस, आर्य शब्द का इतना ही अर्थ भारत के लिए भी ठीक है।

इसी प्रकार, द्रविड़ शब्द भी भारत में प्रजाति-वाचक नहीं, स्थान-वाचक है रहा है। यदि प्रजाति की यूरोपीय परिभाषा की दृष्टि से देखा जाय तो गुजरात और महाराष्ट्र में प्रधानता आर्य-वंश की होनी चाहिए। किन्तु, प्राचीन भारतवासी ऐसा नहीं मानते थे। द्रविड़ स्थान का विशेषण था और "पंचद्रविड़ाः" में पुराणकार द्रविड़, आंध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुजरात—इन पाँचों को गिना करते थे। और भाषाओं को लेकर भी आर्यों और द्रविड़ों के बीच कोई मतभेद नहीं था। द्राविड़ ऋषि यज्ञ के पुरोहित होते थे। उन्होंने शास्त्रों की भी रचनाएँ की हैं। इसी प्रकार, तमिल के संगम-साहित्य की रचना में बहुत-से ब्राह्मण ग्रन्थकारों का भी योगदान था।

द्रविड़ शब्द संस्कृत का शब्द है, जिसका निर्माण तमिड़ के वजन पर किया गया था। मनु ने द्रविड़ शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए किया है, जो द्रविड़ देश में बसते थे। कुमारिल भट्ट ने उसका प्रयोग भाषा की सूचना देने को किया है, यथा आन्ध्र-द्रविड़-भाषा। हमारे पूर्वजों ने द्रविड़ शब्द का अर्थ प्रजाति नहीं रखा था और हमारे लिए भी यही उचित है कि हम यूरोप से आये हुए प्रजातिवाद का जहरीला अर्थ अपने शब्दों में न ठूँसें।

भाषा-भिन्नता से घबरा कर अलग प्रजातियों की कल्पना को सत्य मान लेना अयोग्य है। संस्कृत की जितनी समानता यूरोपीय भाषाओं से है, उससे अधिक समानता भारत की आज की उत्तरी और दक्षिणी भाषाओं में देखी जा सकती है। शब्द के स्थान पर शब्द बैठाकर भी हम भारत की एक भाषा के साहित्य को भारत की दूसरी भाषा में ले जा सकते हैं। किन्तु, यूरोप की जो भाषाएँ संस्कृत की बहनें कही जाती हैं, उनका साहित्य, इसी आसानी से, भारतीय भाषाओं में नहीं लाया जा सकता।[१]

---

[१] It is surmised, not incorrectly, that all the languages of India could be traced to one original family of languages and this family cannot be Indo-Germanic as is assumed, but native to the soil, having its birth in neolithic times, if not earlier. This is certainly true if we make a comparative study of the North Indian and South Indian vernacular dialects, for, in both we see the same fundamental grammatical structure. By substituting one word for another it is easy to translate these languages from one to another.

(V. R. Ramchandra Dikshitar in Pre-historic South India.)

आर्यों का मूल-स्थान

आर्य भारत में बाहर से नहीं आये, यह मानने का मुख्य आधार यह है कि आर्यों का प्राचीनतम साहित्य वेद, जो मानव मात्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है, भारत में ही मिलता है। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि आर्य भारत में अन्य देशों से आये तो वेद में उन स्थानों के नाम क्यों नहीं मिलते अथवा आर्य उन देशों की याद क्यों नहीं करते हैं जहाँ से चलकर वे भारत आये थे ? एक तीसरा कारण और है जो पहले से सम्बद्ध है। पश्चिमी विद्वान् यह कहते हैं कि आर्य पहले मध्य एशिया अथवा रूस के दक्षिण भाग में रहते थे और वहीं से फैलकर वे यूरोप और भारत गये। यदि यही बात ठीक है तो आर्यों ने वेद के समान कोई प्रामाणिक साहित्य अपने मूल-स्थान में क्यों नहीं छोड़ा ? यह भी कि यदि आर्यों का मूल-निवास भारत से बाहर था तो ऐसा क्यों है कि संस्कृत के शब्द भारत की सभी भाषाओं में तो बहुतायत से मिलते हैं, किन्तु, यूरोप की भाषाओं में उनकी संख्या अत्यन्त न्यून है ? एक चौथे प्रमाण के रूप में यह बात भी काफी जोर से कही जाती है कि "भारतीय आर्यों की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परम्परागत आख्यानों में उनके उत्तर-पश्चिम से आने की बात कहीं नहीं है। उलटे, उसमें ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती के काँठे से, भारत के अन्य भागों की तरह, उत्तर-पश्चिम की ओर भी फैले।"[1] यह भी कहा जाता है कि वेदों के अनुसार सोम-लता मुंजवन्त पर्वत पर पायी जाती थी जो पंजाब के उत्तर में अवस्थित है। अतएव, आर्यों का मूल-अभिजन पंजाब ही रहा होगा। संहिताओं में जिस सप्त-सैन्धव देश का उल्लेख मिलता है, वह इसी पंजाब में था।

यह ठीक है कि वैदिक संहिताओं से यही विदित होता है कि आर्य जहाँ रहते थे, उस देश को वे सप्त-सैन्धव[2] कहते थे। बाद को वे अपने देश को ब्रह्मावर्त्त कहने लगे और उसके भी बाद चलकर मध्य देश। ये तीनों नाम यह संकेत देते हैं कि आर्य पहले सिन्धु नदी और उनकी शाखाओं के पास थे, उसके बाद वे दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़े और अपनी भूमि को ब्रह्मावर्त्त कहने लगे और उसके बाद कुछ और आगे बढ़ने पर उनका क्षेत्र मध्य देश कहलाने लगा। आर्यों के प्रसार की दिशा प्रयाग से पंजाब की तरफ नहीं थी, वे पंजाब से ही फैल कर प्रयाग पहुँचे थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि आर्य यदि, आरम्भ से ही, सप्त-सैन्धव में रहते आये थे तो उनके साहित्य से यह क्यों जाहिर होता है कि सप्तसिन्धु के किनारे उन्हें शत्रुओं का मामना करना पड़ा था, दस्युओं और निषादों से लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं और भारत में आगे बढ़ने में उन्हें काफी मशक्कत हुई थी ?

द्रविड़ों और आर्यों के मूल-स्थानों के बारे में जितने भी सिद्धान्त प्रचलित हैं, वे सब अनुमान और अटकल पर आधारित हैं। किन्तु तब भी, आर्यों के मूल-अभिजन

---

[1] इतिहास-प्रवेश।

[2] सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु, इन सात नदियों से सेवित भू-भाग।

की समस्या उतनी उलझी हुई नहीं है, जितनी उलझन द्राविड़ समस्या में दिख पड़ती है। उदाहरणार्थ, आर्य उन देशों की याद क्यों नहीं करते जहाँ से वे भा आये थे, इस प्रश्न का समाधान इस अनुमान से मजे में हो जाता है कि उन भारत और ईरान के बीच सीमा नाम की कोई चीज नहीं थी। अब, प्रायः यह बहुग्राह्य हो गया है कि आर्यों का मूल-अभिजन रूस के दक्षिण में था और वहीं आर्यों की कुछ शाखाएँ पश्चिम की ओर चलकर यूरोप पहुँच गयीं और कुछ शाख ईरान चली आयीं। उस समय न तो देश बने थे, न मानवों की टोलियाँ एक से दूसरे भाग तक दौड़कर जाती थीं। लोग, धीरे-धीरे, फैलते हुए आगे बढ़ते थे जहाँ जीवन-यापन की सुविधाएँ उपलब्ध होतीं, वहाँ वे सदियों तक रुके रहते इस क्रम में दक्षिणी रूस से ईरान तक जाने में उन्हें कई सौ वर्ष लगे होंगे और ई से भारत आने में भी शताब्दियाँ लग गयी होंगी। अतएव, यदि भारत को आर्यों अपने लिए सर्वथा नया देश नहीं समझा तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

इस बीच आर्यों की मूल-भाषा कहाँ उत्पन्न हुई अथवा उसका मूल-रूप क्या यह सब जानने का हमारे पास कोई आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में इतना अनुमा यथेष्ट समझा जाना चाहिए कि जो आर्य मध्य एशिया से यूरोप गये, उनके साथ आर्य भाषा का वही रूप गया, जिसे लेकर ईरान जानेवाले आर्य ईरान पहुँचे बाद को इन दो शाखाओं के आर्य परस्पर कभी मिले नहीं, अतएव, उनकी भा स्थानीय प्रभावों से भींगते-भींगते, अन्त में, बहुत भिन्न हो गयी।

जब आर्य ईरान में थे, उस समय संस्कृत और ईरानी भाषाएँ दो नहीं, एक भाषा थीं। जेन्दावेस्ता के श्लोक संस्कृत श्लोकों में आसानी से परिवर्तित किये सकते हैं। किन्तु यही समानता आज की फारसी और हिन्दी में नहीं पायी जात यद्यपि, हिन्दी और फारसी, दोनों ही भाषाएँ एक ही खानदान की हैं। यह भेद कारण हुआ कि विशेष प्रकार की ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कार ईरान में प्रचलित संस्कृत बदलते-बदलते फारसी हो गयी और भारत में संस्कृत से उत्प नयी भाषाएँ फारसी से बहुत भिन्न हो गयीं। तब भी ध्यान खींचनेवाली सबसे बड़ी बा यह है कि आर्यों की मूल-भाषा, संस्कृत की रक्षा केवल भारतवर्ष में हुई। और देशों संस्कृत के कुछ थोड़े-से शब्द बचे हैं, जो कठिनाई से पहचाने जाते हैं। भारत में वे अप मूल-रूप में विद्यमान हैं।[1] और देशों में आर्यों की मूल भाषा रूपान्तरित हो

---

[1] शब्द-साम्य की खोज बड़ी ही अद्भुत और मनोरंजक प्रक्रिया है। पेटर, फाद पितृ; और ब्रदर, बिरादर, भ्रातृ में जो साम्य है, वह अत्यन्त स्पष्ट है। किन् साम्य कुछ ऐसे शब्दों में भी खोजा जा सकता है, जहाँ उसकी कोई आशा न दीखती। उदाहरणार्थ, भाषाशास्त्रियों के अनुसार अँगरेजी का **tooth** शब्द संस के दन्त से निकला है और **hand** शब्द हन् धातु से। **nose** का उत्पत्ति-स्था नस् है और **cup** का उद्गम कुप्य। इसी प्रकार, **station** शब्द स्था से, कहीं

[शेष अगले पृष्ठ पर]

ायी-नयी भाषाओं में बदल गयी। केवल भारत में संस्कृत ने नयी भाषाओं को जन्म कर भी अपने अस्तित्व को कायम रखा है। उसमें आज भी पत्र निकलते हैं, नया ाहित्य लिखा जाता है और बौद्धिक विषयों पर शास्त्रार्थ चलता है।

आर्यों की शाखाएँ जब यूरोप और ईरान की ओर चलीं, तब आर्यों को लेखन का ज्ञान था या नहीं, यह अज्ञात है। किन्तु, यह माने बिना नहीं चल सकता कि आर्य ईरान से पंजाब ईसा से तीन हजार वर्ष पहले पहुँच चुके थे अथवा उस समय ईरान से पंजाब तक वे सर्वत्र भरे थे। वेदों की रचना का आरम्भ उन्होंने, कदाचित्, बाद को पंजाब आने पर किया, किन्तु, अपनी सभ्यता का विकास वे उससे पहले से करते आ रहे थे। वेद की ऋचाएँ किसी असभ्य या अर्ध-सभ्य जाति की रचना नहीं हैं। उनसे संकेतित सभ्यता अत्यन्त पुष्ट और परिमार्जित दिखायी देती है तथा वेदों की शैली साहित्य की सुविकसित शैली मानी जाती है। सोचने की एक बात यह भी है कि वेदों के सूक्त समाचार-पत्रों के स्तम्भ नहीं हैं, जिनमें शाम की घटनाएँ सुबह को छप जाती हैं, न वे दैनन्दिनी के पृष्ठ हैं, जिनमें ऋषि हर रोज की घटनाएँ लिखा करते थे। वेद साहित्य हैं और साहित्य में, मुख्यतः; ऐसी घटनाएँ ही प्रवेश पाती हैं, जो परम्परा में समा चुकी हों। इस दृष्टि से वेदों को यदि १५०० ई० पू० की रचना मानें, तब भी यही समझना चाहिये कि उनमें उल्लिखित घटनाएँ हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व की घटनाएँ रही होंगी।

जो लोग यह मानते हैं कि आर्य ब्रह्मावर्त्त देश के वासी थे और वहीं से वे ईरान और यूरोप की ओर गये, उनके विरुद्ध दो युक्तियाँ अत्यन्त प्रबल हैं। पहली तो यह कि भारत की भूमि इतनी सुखदायिनी रही है कि जो जाति यहाँ एक बार बस गयी, वह फिर कभी बाहर जाने का नाम नहीं लेती है। यूची, शक, हूण, तुर्क और मोगल, ये भारत आकर फिर भारत से बाहर नहीं गये। वे मध्य एशिया से आये थे, जहाँ की जमीन पथरीली और अनुर्वर थी। फिर वे इस स्वर्ग को छोड़कर बाहर जाते क्यों? ऐसी स्थिति में आर्य अपने देश को छोड़कर बाहर चले गये हों, यह मानने की बात नहीं है। यदि यह कहें कि वे अपनी संस्कृति का प्रचार करने को भारत से बाहर गये,

---

[पृष्ठ ४६ का शेष।]

कहीं, जुड़ा हुआ है और sound स्वन का वंशज है। मन से mind, भण् से phone और ध्वनि से tone का जन्म हुआ हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। संस्कृत का सूनुः शब्द पुत्र, सूर्य और अनुज का अर्थ देता था। यूरोप में अनुज अर्थ तो लुप्त हो गया, लेकिन, son और sun विद्यमान हैं जो, क्रमशः, पुत्र और सूर्य का अर्थ देते हैं। donation शब्द की अँगरेजी में कोई धातु नहीं है। लातीनी में डोयरे धातु मिलती है। इस पर से मेरे एक मित्र, पं० भवानीशंकर त्रिवेदी ने यह अनुमान लगाया है कि डोयरे शब्द संस्कृत की दा धातु से निकला होगा। त्रिवेदी जी यहाँ तक जाते हैं कि अँगरेजी का garage शब्द संस्कृत के गृहास से निकला है, जिसका अर्थ कभी तो गृह-समूह और कभी बड़ा घर होता था।

तो यह युक्ति भी ठोस नहीं दीखती। क्योंकि उस समय सारे भारतवर्ष ने आर्य सं को स्वीकार नहीं किया था और संस्कृति-प्रचारक आर्यों के लिए इस देश में ही बड़ा कर्म-क्षेत्र खुला हुआ था।

ऋग्वेद के अनुसार आर्यों का देश सप्त-सैन्धव था। यही वह भू-भाग है, जहाँ म जोदरो-सभ्यता के प्रमाण पाये गये हैं। आर्य संस्कृति से सम्बद्ध जातियों के अब त जितने भी पुराने निशान मिले हैं, उनमें से कोई भी उतना पुराना नहीं है, जित महंजोदरो और हरप्पा का प्रमाण। यदि किसी प्रकार यह साबित किया जा सके महंजोदरो की सभ्यता आर्यों की सभ्यता थी, तभी यह कहने का एक ठोस आ मिल सकता है कि आर्यों का मूल-अभिजन मध्य एशिया नहीं, भारतवर्ष था। कि जब तक यह नहीं होता, हम इस निष्कर्ष से भाग नहीं सकते कि महंजोदरो की सभ्य आर्य-भिन्न सभ्यता थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि महंजोदरो-सभ्यता शिव की पूजा प्रचलित थी और यह पूजा आर्यों के यहाँ विलम्ब से गृहीत हुई और भी ऋषियों की इच्छा के विरुद्ध।

अठारहवीं सदी तक भारत में किसी को भी इसका अनुमान नहीं था कि आर्य देश के मूल-निवासी नहीं हैं अथवा यह कि आर्य और द्रविड़ दो हैं और दोनों के पू इस देश में बाहर से आये थे। तब सन् १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स ने स्थापना रखी कि यूनानी, लातीनी, गोथिक, केल्टिक, फारसी और संस्कृत, ये स भाषाएँ किसी एक ही भाषा से विकसित हुई हैं। इसपर से तुलनात्मक भाषा-विज्ञा का आरम्भ हुआ और विश्व की विद्वन्मण्डली इस अनुसन्धान से सानन्द चकित रह ग कि उत्तर भारत की सभी भाषाएँ, पश्चिमी एशिया की ज़ेन्द, फ़ारसी, पश्तो, बलूच कुर्द और आरमीनियन भाषाएँ तथा यूरोप की इटालियन, फ्रेञ्च, स्पेनिश, यूना केल्टिक, जर्मन, अँगरेजी, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लातीनी, अलबेनि आदि भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से निकली हैं। इन सभी भाषाओं के बोलनेवा लोगों को पंडितों ने हिन्द-जर्मन, हिन्द-यूरोपीय, हिन्द-ईरानी अथवा केवल आर्य कह आरम्भ किया और वे इस सन्धान में लग गये कि आर्यों का मूल स्थान कौन-सा था चूँकि अन्य भाषाओं की अपेक्षा फ़ारसी और संस्कृत का सामीप्य बहुत अधिक थ इसलिए, अनुमान यह हुआ कि आर्य जब अपना मूल-स्थान छोड़कर अलग जाने ल तब उस शाखा के लोग (जो शाखा ईरान और भारत की ओर चली थी) परस् अधिक दिनों तक साथ रहे थे। आर्यों का हिन्द-ईरानी नाम इसी शाखा की प्रमुख के कारण पड़ा। और यही कारण है कि संस्कृत और फ़ारसी में अधिक निकट सम्बन्ध है।

जब यह विचार-धारा चल निकली, सारे संसार के पुरातत्त्वविदों, नृवंश-शास्त्रि और भाषा-तत्त्वज्ञों के बीच एक कोलाहल-सा मच गया और तरह-तरह के अनुमा से यह सिद्ध किया जाने लगा कि आर्यों का मूल-अभिजन कहाँ था। ऋग्वेद के उषा सूक्त में ऊषा के लिए ऋषियों ने जो भक्ति दिखलायी है, उस पर से यह अनुमा

कला कि अवश्य ही, यह भक्ति उस ऊषा के लिए है, जो उत्तरी ध्रुव के पास उदित कर महीनों तक ठहरी रहती है। भारत में ऊषा का सौन्दर्य क्षणस्थायी होता है, तएव, उसे देखकर ऐसे भक्तिपूर्ण उद्‌गार नहीं प्रकट किये जा सकते थे। इसलिए, नश्चित है कि आर्यों का मूल-स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। ऋग्वेद में एक मन्त्र ाया है, "तरेम तरसा शतं हिमा" अर्थात् हम सौ हिम (सौ वर्ष) जियें। इस पर यह मत चल निकला कि आर्य शीत-प्रधान देश में रहते थे। महाभारत में वर्णन कि सुमेरु पर्वत पर एक दिन और एक रात एक वर्ष का होता है। इससे इस ल्पना को पुष्टि मिली कि आर्य उत्तरी ध्रुव पर ही रहते थे। अपनी "ओरायन" ामक अँगरेजी पुस्तक में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने भी ज्योतिष के आधार पर ही सिद्ध करने का प्रयास किया कि उत्तरी ध्रुव ही आर्यों का मूल-अभिजन था।

मिस्र के अल-अमर्ना (El-Amarna) नामक स्थान की खुदाई से यह पता चला क ईसा से १५०० वर्ष पूर्व वहाँ जो राजे थे, उनके नाम संस्कृत नामों से मिलते-जुलते , यथा आर्त्तमन्य, यशदत्त, सुत्तर्ण इत्यादि। इससे भी अधिक रोचक बात यह हुई क एक सन्धि-पत्र की प्रति मिली, जो हित्ती और मितन्नी राज्यों के बीच की गयी न्धि का सूचक है। इस सन्धि का समय ईसा से १४०० वर्ष पूर्व माना जाता है। स सन्धि-पत्र में इन्द्र, वरुण और नासत्यौ (अश्विनीकुमार), इन तीन वैदिक देवताओं ा उल्लेख है। इससे यह तो प्रमाणित नहीं हुआ कि ई०पू० १४०० तक आर्य भारत नहीं आये थे, किन्तु, यह सिद्ध हो गया कि उस समय मिस्र, मेसोपोटामिया, ीरिया आदि में आर्य-भाषा और आर्य-सभ्यता वर्त्तमान थी, भले ही, वहाँ के लोग ार्य-वंश के नहीं रहे हों। यह इलाका उन लोगों का है, जिन्हें अब हम सामी कहते हैं।

इस प्रकार, ई०पू० १५०० के आसपास आर्य-भाषा रूस से दक्षिण-पूर्व की ओर ामी इलाकों, ईरान और भारतवर्ष तक पहुँच चुकी थी और उत्तर में, कदाचित् वह लिथुएनिया तक फैल चुकी थी। लिथुएनियन भाषा की प्रकृति विचित्र है। उसका ाचीनतम रूप १५०० ई०पू० से पहले का नहीं मिलता। किन्तु, जो रूप मिलता है, ह संस्कृत के अत्यन्त समीप है, बल्कि, वह आर्य-भाषा का वह रूप है जो वैदिक संस्कृत से पहले रहा होगा। कोई कारण हुआ जिससे लिथुएनिया पहुँच जाने पर आर्यों की प्रारम्भिक भाषा अपने प्राचीनतम रूप में, ज्यों-की-त्यों, बनी रह गयी।

आर्य-भाषा के इस भौगोलिक विस्तार का कारण क्या था? कैसे यह भाषा एक ओर तो लिथुएनिया में दिखायी देती है और दूसरी ओर सामी इलाकों में? अवश्य ही आर्यों का मूल-स्थान रूस के दक्षिण अथवा दक्षिणी रूस में था, जहाँ से उनकी भाषा ने एक ओर तो लिथुएनिया में प्रवेश पाया, दूसरी ओर वह मिस्र, ईरान और मेसोपोटामिया तक फैल गयी।

अनुमान होता है कि आर्य-भाषा का जब इतना प्रसार हो चुका, तब आर्य लोग भारत पधारे। संस्कृत भाषा इस देश में आर्यों के साथ ही आयी और जिस उत्कृष्ट

संस्कृति, साहित्य और सभ्यता के कारण आर्य सारे विश्व के इतिहास में प्रख्यात उसकी रचना उन्होंने इसी भारतवर्ष में की। अतएव, मूल-अभिजन उनका चाहे रहा हो, किन्तु, उनका अपना देश भारतवर्ष हुआ। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति ऋ से बतायी जाती है जिसका अर्थ गति होता है। आर्य, कदाचित् गत्वर (घुमक्क लोग थे। एशिया के रेगिस्तानी इलाकों से निकल कर जब वे भारत पहुँचे, यहाँ उर्वरा धरती ने उनके घुमक्कड़ स्वभाव को बदल दिया और वे यहाँ जमकर विचारों को वास्तविकता का जामा पहनाने लगे, जो उनके भीतर हजारों व उमड़ते आ रहे थे। भारत में कश्मीर, पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब, ये उ आरम्भिक वास-भूमि और उनके पौरुष के प्रथम क्रीड़ा-क्षेत्र थे। इस इलाके में र उन्होंने जिस संस्कृति का निर्माण किया वह, कालक्रम में, सारे भारत की संस् बन गयी।

देवासुर-संग्राम का भूगोल

वेदों में भारत-बाह्य स्थानों का उल्लेख नहीं होने के कारण यह निष्कर्ष मालूम होता है कि साहित्य-रचना का काम आर्यों ने भारत में बस जाने के आरम्भ किया। किन्तु, आर्य जनता के बीच उन दिनों जो कहानियाँ प्रचलित होंगी, जो भाव चलते होंगे, वे भी क्या, सब-के-सब वे ही रहे होंगे जो भारत पर उत्पन्न हुए थे? दक्षिण रूस से ईरान और अफगानिस्तान तक आर्यों ने हजारों तक जो संघर्ष झेला था, उस संघर्ष की कहानी वे भूल गये होंगे, किन्तु, उसका न-कुछ अमिट संस्कार उनके भीतर अवश्य शेष रहा होगा और इस संस्कार की ब सी बातें आर्यों के साहित्य में लिखी भी गयी होंगी, जिन्हें भारत-बाह्य घटनाओं छाया बताने का अब कोई मार्ग नहीं है। उदाहरणार्थ, महाप्लावन की जो हमारे पुराणों में मिलती है, वही कथा भारत से बाहर सामी लोगों में भी प्रचलित भारत में इस प्लावन के नायक मनु हैं और सामी देशों में हजरत नूह। कहीं ऐसा नहीं है कि जिन दिनों यह प्लावन आया था, उन दिनों सामी लोगों के पूर्वज प्राचीन आर्य एक ही स्थान पर रह रहे थे?

इसी प्रकार, देवासुर-संग्राम की जो कथा हम अपने पुराणों में पढ़ते हैं, उसके प वास्तविकता क्या है? वे असुर कौन थे, जिनसे देवों का युद्ध हुआ था? लगता यह घटना भी तभी घटी थी, जब आर्य भारत नहीं आये थे, जब वे भारत से बा अभी ईरान अथवा उसकी पूर्वी सीमा के पास थे।

प्राचीन आर्य-साहित्य में उल्लिखित घटनाएँ ऐसी नहीं हैं कि वे, सब की स भारत में ही घटित हुई हों। उस समय भारत और ईरान दो देश नहीं थे। असल पश्चिमोत्तर भारत से लेकर ईरान तक का भू-भाग उस समय एक ही देश के स लगता होगा। हमारा अनुमान है कि हमारे पुराणों में वर्णित कुछ घटनाएँ वे जिनका लीला-क्षेत्र ईरान से लेकर भारत के पश्चिम तक का यही भू-भाग था।

आर्यों की हिन्द-ईरानी शाखा दक्षिण रूस से निकल कर जब ईरान की ओर ब

तब ईरान पहुँचते-पहुँचते, कदाचित् उसकी भी दो शाखाएँ हो गयीं। इनमें से एक शाखा ने भारत आकर वेदों की रचना की और दूसरी शाखा ने ईरान में रहकर जेन्दावेस्ता ग्रन्थ का निर्माण किया। जेन्दावेस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। यह समानता केवल तत्सम शब्दों को ही लेकर नहीं है, प्रत्युत, दोनों भाषाओं के व्याकरण भी बहुत-कुछ समान हैं। एक विचित्र बात यह है कि प्राचीन जेन्द भाषा में असुर का अर्थ देवता और देवता का अर्थ राक्षस होता है। जेन्द की वारिस-भाषा फारसी में भी देव प्रेत अथवा राक्षस को ही कहते हैं। किन्तु, भारत में असुर का अर्थ राक्षस और सुर का अर्थ देव या देवता रहा है। अजब नहीं कि जिस देवासुर-संग्राम की गाथा ने पुराणों में विकास पाया, वह आर्यों की इन्हीं दो शाखाओं के बीच लड़ा गया हो। जेन्दभाषा-भाषियों का प्रधान देवता "अहुर मज्द" था जो 'असुर महत्' का रूपान्तरण मालूम होता है। जेन्दभाषी आर्यों का मतभेद संस्कृत-भाषियों से इस कारण हुआ कि देवताओं के बारे में उनकी कल्पनाएँ भिन्न हो गयी थीं। "जेन्दावेस्ता में मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर, इन्द्र को कहीं उपास्य नहीं माना गया है।....जेन्दावेस्ता में इन्द्र का समावेश उन देवों में किया गया है जो असुर नहीं हैं, जो असुर के विरोधी हैं और इस कारण घृणायोग्य हैं।"[1] इस संग्राम में आर्यों के विरुद्ध केवल आर्य ही थे अथवा और लोग भी, यह कहना कठिन है। यदि महंजोदरो वाली सभ्यता के लोग वहाँ थे, तो अजब नहीं कि आर्यों से संघर्ष उनका भी हुआ हो। जिन लोगों को आर्यों ने दास, दस्यु, निषाद, अनास और शिश्नेदेवा कहा है, उनसे आर्यों की मुठभेड़ केवल भारत आकर हुई, यह बात बहुत समीचीन नहीं दीखती। वेद और पुराण कुछ दैनन्दिनी नहीं हैं कि हम यह समझें कि उनमें वर्णित घटनाएँ ठीक उसी काल की घटनाएँ हैं, जब वैदिक साहित्य लिखा जा रहा था। साहित्य के नियम से घटनाओं को तो प्राचीन ही होना चाहिये। और पौराणिक रूप धारण करने में तो घटनाओं को सहस्राब्दियाँ लग जाती हैं।

देवासुर-संग्राम की जो कल्पना बाद को विकसित हुई, उसमें विष्णु बराबर देवताओं की ओर और शिव सदैव असुरों की ओर थे। इसका कारण क्या था ? शिव की पूजा के चिह्न महंजोदरो में मिलते हैं। उस सभ्यता के निर्माता (यदि द्रविड़ थे तब भी, यदि द्रविड़ नहीं थे तब भी) पंजाब से लेकर मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। इन इलाकों में कई प्रकार के अन्य लोग भी रहे होंगे, जिनका अब इतिहास नहीं मिलता। आर्यों का संघर्ष इन सभी लोगों से हुआ था, जिसकी प्रतिध्वनि वैदिक साहित्य में अत्यन्त परिवर्त्तित रूप में सुनायी देती है।

ऋग्वेद का रचना-काल

ऋग्वेद आर्यों का ही नहीं, समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके काल-निर्णय का प्रश्न भी इतना विलक्षण है कि कोई तो इसे पचहत्तर हजार वर्ष पुराना

---

[1] सत्यकेतु विद्यालंकार-कृत 'भारत का प्राचीन इतिहास'।

मानता है और कोई ईसा से सिर्फ दो सौ वर्ष पूर्व की चीज । सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वा जैकोबी ने ऋग्वेद के बाद रचित कल्पसूत्रों का रचना-काल ईसा से ४७०० वर्ष पू और ऋग्वेद का रचना-काल लगभग ६५०० साल पूर्व माना था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल ईसा से ४५०० वर्ष पूर्व माना था। उनके मत से "सारे मंत्र एक साथ नहीं बने। ऋषियों और उनके वंशधरों ने, समय-समय पर, हजारों वर्षों में मंत्र बनाये। इस तरह, कुछ ऋचाएँ दस हजार वर्षों की हैं, कु साढ़े आठ हजार वर्षों की और कुछ सात-साढ़े-सात हजार वर्षों की। सभी प्राचीनत ऋचाएँ ऋग्वेद की ही हैं।" (हिन्दी ऋग्वेद)। इस सम्बन्ध में, सबसे उत्साहयु दृष्टिकोण डॉ० अविनाशचन्द्र दत्त का है जो ऋग्वेद को पचास से पचहत्तर हजार व पुराना मानते हैं। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी का मत है "ऋग्वेद में ऐसे अनेकानेक मं हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का निर्माणकाल १८ हजार वर्ष से लेकर ५० हजा वर्ष के बीच का है।" मैक्समूलर के मतानुसार, ऋग्वेद ईसा से १२००-१००० व पूर्व बना था। इसके विपरीत, विंटरनिज का मत है कि ऋग्वेद की रचना ईसा से २५०० वर्ष पूर्व हुई थी।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने, प्रायः, विंटरनिज के मत को स्वीकार किया है। वेदों का एक नाम श्रुति भी है, जिससे यह अनुमान होता है कि वेदों की रचना मौखिक ही हुआ करती थी और मौखिक ही लोग उन्हें याद भी रखते थे। जब मंत्रों की संख्या बहुत हो गयी, तब उन्हें संहिताओं में विभाजित करना आवश्यक हो गया। भारत में लेखन का प्रचार ई०पू० ३००० वर्ष में भी था, यह प्रमाणित बात है। मंत्र लिखे जाते थे या केवल कंठस्थ किये जाते थे, इसका अनुमान हम, जो चाहें लगा सकते हैं। किन्तु, कृष्ण द्वैपायन बोलकर लिखाते थे, यह संदिग्ध बात नहीं है।[1] वेद जिन संहिताओं में हमें मिलते हैं, उनका सम्पादन कृष्ण द्वैपायन व्यास ने किया जो महाभारत-काल में जीवित थे। महाभारत का युद्ध ईसा से १४०० साल पूर्व हुआ था, इस मत का भी भारतीय परम्परा से मेल नहीं बैठता। भारतीय परम्परा के अनुसार कलियुग का आगमन राजा परीक्षित के राज्यकाल में हुआ। परीक्षित के पिता अभिमन्यु महाभारत युद्ध में मारे गये थे। अतएव, महाभारत की लड़ाई ईसा से कोई ३००० वर्ष पूर्व हुई होगी। और उससे चार सौ साल पूर्व संहिताएँ लिखी गयीं। उससे भी सात सौ वर्ष पूर्व से वेदों की रचना होती आ रही थी। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि ऋचाएँ ई०पू० २५०० से बनने लगीं और ई०पू० १८०० अर्थात् सात सौ वर्ष तक बनती रहीं। ई०पू० १८०० के आसपास वेद संहिता में लिखे जाने लगे तथा वेद-व्यासकृत संहिताओं का निर्माण ई०पू० १४०० में सम्पूर्ण हो गया।

लेखन-कला और लिपि

सिन्धु-सभ्यता में लिखावट के जो नमूने मिले हैं, उनसे यह प्रत्यक्ष है कि ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत में लेखन-कला का प्रचार था। यह मानने का कोई आधार

---

[1] व्यास के लिपिक गणेश थे।

नहीं हो सकता कि जब आर्य आये, उन्होंने लेखन की इस प्रणाली को छोड़ दिया और भारत से सदियों के लिए लेखन-कला का प्रचार बिलकुल उठ गया। मान्य बात यही हो सकती है कि लेखन का प्रचार सिन्धु-सभ्यता में भी था और वह बाद की सभ्यताओं में भी जारी रहा होगा। तब भी, सिन्धु-सभ्यता की लिखावट (जो अब तक पढ़ी नहीं गयी है) के बाद हम लिखावट का दूसरा प्रमाण भारत में ई०पू० ३री सदी में सम्राट् अशोक के अभिलेखों में पाते हैं। इन अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी लिपि है। इसी ब्राह्मी लिपि से भारत की सभी भाषाओं की लिपियाँ उद्भूत हुई हैं। अपवाद केवल उर्दू भाषा है, जो आज भी फारसी लिपि में लिखी जाती है। मौर्य-युग और उसके बाद की दो-एक सदियों में ब्राह्मी के साथ-साथ एक खरोष्ठी नामक लिपि भी प्रचलित थी, जिसका उपयोग पश्चिमोत्तर भारत के लोग करते थे। यह लिपि फारसी-अरबी लिपियों के ही समान दायीं से बायीं ओर को लिखी जाती थी। किन्तु, यह लिपि भारत में फैलने में असमर्थ रही और उसका प्रयोग ईसा के जन्म के पूर्व ही भारत में अवरुद्ध हो गया।

किरात जाति

संस्कृत-भाषी आर्यों ने एक और जाति के लोगों का उल्लेख किया है, जिनका रंग पीला और आकृति चीनी लोगों के समान थी। इस वर्ग के लोगों को आर्य किरात कहते थे। महाभारत के विख्यात योद्धा राजा भगदत्त पूर्वी भारत के थे और उनकी सेना म्लेच्छों और किरातों से बनी हुई थी। अर्जुन से शिव का जब युद्ध हुआ, तब शिवजी किरात-वेश में थे। चित्रांगदा, कदाचित्, किरात-वंश की ही राजकुमारी थी।

किरातों का मूल-अभिजन पूर्वी चीन में था। वहीं से ये लोग तिब्बत, नेपाल, बर्मा, असम, उत्तरी बंगाल और उत्तरी बिहार में आये। भारत में किरातों का आगमन कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यजुर्वेद और अथर्ववेद में किरातों का उल्लेख है। उस समय के अन्य प्रमाणों से भी यह अनुमान निकलता है कि किरात ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भारत पहुँच गये थे और वे हिमालय की दक्षिणी तराई तथा पूर्वी भारत में आबाद थे। नेपाल के नेवार और किरन्ती लोग, कश्मीर के लद्दाखी, दारजिलिंग के लेपचा, त्रिपुरा और मणिपुर के क्षत्रिय, उत्तर असम के अक्का, मीरी, अबोर और मिश्मी लोग किरात-वंश के हैं। कहा तो यह भी जाता है कि लिच्छवी और शाक्य वंश भी किरात-भंडार से निकले थे। उत्तर बिहार में, विशेषतः, तिरहुत में जो गौर वर्ण के लोग हैं, कहीं-कहीं, उनका भी सम्बन्ध किरात-रक्त से रहा होगा। इसी प्रकार नेपाल के गुरखा लोगों में भी किरात-रक्त का, कुछ-न-कुछ, अंश है।

ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के एक हजार वर्ष बाद तक किरात लोग हिन्दू-वृत्त में दाखिल होते रहे। बंगाल और असम के बोदो लोगों ने तो अपनी भाषा भी छोड़ दी। नेवारों ने भारतीय लिपि में ही अपनी भाषा का विकास किया।

पन्द्रहवीं सदी में आकर किरात जाति हिन्दू-राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हो गयी और उसने, अन्त तक, मुस्लिम विजेताओं के खिलाफ युद्ध को जारी रखा। त्रिपुरा और मणिपुर के क्षत्रियों ने बंगाल के मुस्लिम शासकों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं।

किरात जाति ने हिन्दू-संस्कृति को स्वीकार कर उसकी बड़ी सेवा की। पालयुगीन भारतीय कला का तिब्बत में और तिब्बत से बाहर प्रचार नेपाल के नेवारों ने किया। इसी प्रकार, वैदिक और बौद्ध संस्कृति की बहुत-सी बातों का बर्मा और हिन्द-चीन की ओर प्रचार बंगाल, असम, कुमिल्ला, चटगाँव और आराकान के किरात-वंशी हिन्दुओं के कारण हुआ।

किन्तु, किरातों की सब से बड़ी देन शाक्त-मत के विकास में है। योगिनी-तंत्र का दावा है कि असम का धर्म किरात लोगों की साधना से निकला था। वाममार्गी शाक्त-धर्म का मुख्य पीठ कामाख्या का मन्दिर माना जाता है। इस मन्दिर की स्थापना सन् १५६४ ई० में हुई थी। किरात-समाज में नारियाँ उतनी पराधीन कभी नहीं थीं जितनी आर्यों के समाज में। समझा यह जाता है कि, कदाचित् यह भी एक कारण था, कि वामाचार का व्यापक प्रचार पहले असम में ही हुआ और वहीं से यह साधना बंगाल में प्रचलित हुई। किन्तु, १६वीं सदी में मणिपुर का राज्य-वंश वैष्णव हो गया और, तब से, वैष्णव-धर्म की कृष्णचैतन्याश्रयी शाखा का प्रचार किरात-क्षेत्र में भी खूब हुआ है। नागा और कुकी लोगों के बीच हिन्दू-संस्कृति का जो प्रचार है, उसके भी माध्यम किरात-वंशी हिन्दू ही रहे हैं।

किरात-वंशी हिन्दू अब भी नृत्य, गान और कलाओं में, विशेष रूप से, रस लेते हैं। उनकी संस्कृति आज भी कृत्रिम और तर्क-पीड़ित कम, स्वाभाविक और भाव-प्रवण अधिक है।

पारसी जाति

भारत में एक और जाति के लोग हैं, जो बम्बई और गुजरात में बसे हुए हैं। इनका नाम पारसी है। उनकी संख्या आज तक भी, शायद, लाख-दो-लाख से अधिक नहीं है, किन्तु, शिक्षा, संस्कृति, वैभव और सामाजिक उत्कर्ष में वे और लोगों से बहुत आगे हैं। ये भारत में दसवीं सदी के आरम्भ में आये थे, किन्तु उनका आख्यान यहीं लिखा जाना चाहिए, क्योंकि पारसी-धर्म और आर्य-धर्म किसी समय एक ही मूल-धर्म से निकले थे। आर्यों का एक प्रसिद्ध नाम हिन्दू-ईरानी भी चलता है। आर्य अपनी एक शाखा को ईरान में छोड़ कर आये थे। लगभग तीन हजार वर्ष बाद उसी शाखा के लोग शरण खोजते हुए भारत आ गये। यह बिछुड़ों के पुनर्मिलन का दृष्टान्त था।

आर्यों की जो शाखा ईरान में रह गयी थी, उसके सदस्य भी भारतीय आर्यों के समान प्रकृति के दिव्य तत्त्वों (सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, वायु, जल आदि) की पूजा करते थे। किन्तु, उन्हें यह ज्ञात था कि इन सभी दृश्य तत्त्वों के परे कोई एक सूक्ष्म और सर्वोच्च अदृश्य तत्त्व (ईश्वर) है, जिसे वे अहुर (असुर) कहते थे। अवेस्ता इस जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। ऋग्वेद

में जिन उच्च गुणों का नाम 'ऋत' कहा गया है, उन गुणों के लिए अवेस्ता में 'अशा' शब्द का प्रयोग है। ऋतसम्पन्न व्यक्ति ही भारत में ऋषि कहलाता था। अवेस्ता में अशा गुण से सम्वेत व्यक्ति को रतु कहते थे, जो बहुत कुछ ऋषि शब्द का ही पर्याय था।

इस जाति में भी भारतीय आर्यों के समान चार जातियों या वर्गों का विधान था, जिनके नाम अवेस्ता में १. आथ्रवन (=ब्राह्मण), २. रथैस्तार (=क्षत्रिय), ३. वास्त्योष (=वैश्य) और ४. हुतोक्ष (=शूद्र, दास) हैं। जैसे भारतीय आर्यों में द्विजों का उपनयन-संस्कार प्रचलित है, वैसे ही, पारसियों में भी नवजोत (=नवजात) संस्कार पुराने समय से चला आता है। फर्क यह है कि जहाँ द्विज यज्ञोपवीत धारण करते हैं, वहाँ पारसी लोग कुस्टी (मेखला), पवित्र कुरता और टोपी पहनते हैं।

कालक्रम में, दोनों जातियों (अथवा शाखाओं) की भाषा में भेद पड़ने लगा। अहुर (असुर) पारसियों के यहाँ तो ईश्वरवाचक बना रहा, किन्तु, भारतीय आर्य उसका अर्थ दानव करने लगे। बदले में, पारसियों ने भी देव शब्द का अर्थ अपनी भाषा में दानव कर दिया। पुराने संस्कार धुँधले पड़ गये एवं नयी परिस्थितियों में देवताओं के भी रूप परिवर्तित हो गये। अवेस्ता से मालूम होता है कि पारसी लोग भी इन्द्र, नासत्य, विधातृ आदि देवताओं को जानते थे, किन्तु, उनके यहाँ ये नाम देवों के नहीं, दानवों के हो गये। तब भी, दोनों शाखाओं में माओंधा (मास, चान्द्र मास), मिथ्र (मित्र), यिम (यम) आदि एक ही अर्थ में पूजित होते हैं।

फिर ऐसा हुआ कि ईरानी शाखा के आर्यों में धीरे-धीरे कुरीतियाँ प्रविष्ट हो गयीं एवं धर्म का रूप कलुषित हो गया। तब पृथ्वी ने गौ का रूप धारण कर (आर्यों की पौराणिक कथाओं के ही समान) अत्याचार से परित्राण के निमित्त अहुर मज्द से प्रार्थना की और अहुर मज्द ने, मानवों के उद्धार के लिए, पृथ्वी पर जरथुस्त्र (अर्थ, कनकाभ) को भेजा।

जरथुस्त्र की वाणी ही गाथा कहलाती है, जो शुद्ध संस्कृत नाम है। गाथाएँ पाँच हैं और इन्हीं गाथाओं पर जरथुस्त्री धर्म आधारित है। भाषा और भाव, दोनों ही दृष्टियों से गाथा, और ऋग्वेद के आरम्भिक मंत्र समान हैं एवं दोनों में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। यही नहीं, गाथा के मंत्र ऋग्वेद के मंत्रों की भाषा में आसानी से बदले जा सकते हैं, जैसे प्राकृत के श्लोक लौकिक संस्कृत के श्लोक में बदल दिये जाते हैं। गाथा और ऋग्वेद के पारिभाषिक शब्दों में भी समानता है। ऋग्वेद में जो सोम है, वह गाथा में होम हो गया है। वेद में जो सर्वतत् (सम्पूर्णता) है, वह गाथा में हौर्वतत् हो गया है तथा शक्ति के अर्थ में क्षात्र शब्द का प्रयोग गाथा और वैदिक संस्कृत, दोनों में मिलता है।

जरथुस्त्र ने सारे जीवन और जगत् को पुण्य और पाप के बीच चलनेवाले भीषण द्वन्द्व के रूप में देखा और इसी केन्द्रीय विचार पर उन्होंने अपना सिद्धान्त बनाया।

भारत से बाहर उस समय जो भी आर्य थे, वे सब जरथुस्त्र के धर्म के नीचे आये हुए थे। कहते हैं, ईसाइयत और इस्लाम में भगवान् और शैतान की जो कल्पना उदित हुई, वह जरथुस्त्र-धर्म की देन थी। जरथुस्त्र के अहुर मज्द ही भगवान् और अहिर्मं ही शैतान हैं।

जरथुस्त्र-धर्म में दीक्षित ईरानियों ने ही ईरान में वह उन्नतिशील साम्राज्य स्थापित किया था, जो रोमन साम्राज्य का जवाब था। ई०पू० ३३१ में सिकन्दर ने ईरानी राज्य पर चढ़ाई की थी और सन् ६५१ ई० में अरब के नये मुसलमानों ने। पिछली चढ़ाई के दिनों में ईरानी साम्राज्य विलास में डूबा हुआ था। अतएव, वह अरब के मुसलमानों के प्रहारों के आगे नहीं टिक सका। ईरानी हारे और, प्रायः दो-तीन सौ वर्ष में सब-के-सब मुसलमान हो गये। फिर, ईरानी संस्कृति ने अरबों पर ऐसा धावा किया कि पारसी, ईरानी या फारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा हो गयी और इस्लाम को लोग ईरानी संस्कृति का पर्याय मानने लगे।

इसी मुसलमानी आक्रमण से घबराकर अपने धर्म की रक्षा करनेवाले कुछ पवित्र पारसी लोग सन् ९३६ ई० में ईरान से भागकर भारतवर्ष चले आये और यहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे। पारसी अग्निपूजक होते हैं, जैसा कि आरम्भ में सभी आर्य थे। भगवान् जरथुस्त्र को परमात्मा ने ही अग्नि दी थी, जो तब से लेकर ईरान छोड़ने के समय तक ईरान में जल रही थी। यह अग्नि भी पारसी लोग अपने साथ भारत ले आये और उसे उन्होंने बम्बई के उत्तर उदवाद नामक स्थान में मन्दिर बनाकर स्थापित कर दिया। यह अग्नि आज भी जल रही है।

इतिहास में भी कितना उलट-फेर होता है। इस्लाम के आगमन के बाद बहुत-सी ऐसी बातें और बहुत-से ऐसे नाम भारत पहुँचे, जिन्हें लोग, भ्रम के कारण ही, इस्लाम से सम्बद्ध मानते हैं। वस्तुतः वे उन ईरानियों के नाम हैं जो मुसलमान नहीं, जरथुस्त्रवादी थे। शापूर और न्यायी नौशेरवाँ ईरान के बादशाह थे, किन्तु, वे मुसलमान नहीं थे। शीरीं और फरहाद, ये भी जरथुस्त्र-धर्मावलम्बी प्रेमी हुए हैं। शीरीं ईरान के बादशाह खुसरू परवेज की पत्नी थी और फरहाद उसी देश का मूर्तिकार।

जब पारसी लोग भारत पहुँचे, गुजरात के राजा यादव राणा ने उनका प्रेम से स्वागत किया, और तब से, ये धर्मप्राण लोग सचाई से भारतवासियों के साथ रह रहे हैं।

आने को तो मुसलमान भी भारत में ८वीं सदी में आये और पारसी उससे भी बाद, किन्तु भारत और ईरान का सम्बन्ध इससे कहीं पुराना था। जब आर्य इस देश में नये-नये आये थे, उस समय भारत और ईरान की सीमाएँ मिली हुई थीं एवं धर्म और रीति-रिवाज में भी दोनों देशों के लोग एक थे। धर्म में भिन्नता तब हुई, जब जरथुस्त्र ने अपना नया धर्म चलाया। मौर्यों से पूर्व गान्धार और भारत के कुछ अन्य पश्चिमोत्तर भाग ईरानी साम्राज्य के अंग थे। मौर्यों के समय में ईरानी राज्य के ही कुछ भाग भारत में मिला लिये गये। तक्षशिला में ईरान के विद्यार्थी नहीं आते

रहे होंगे, यह मानने की बात नहीं है। मौर्यों के बाद शकों के शासन-काल में भी ईरान और भारत के कुछ भूभाग एक ही राज्य के अन्तर्गत थे। भविष्य-पुराण में कहा गया है कि श्रीकृष्ण के पुत्र, साम्ब को जब कुष्ठ हो गया, तब उन्होंने चन्द्रभागा नदी के तीर पर एक सूर्य-मन्दिर बनवाया, जिसके लिए उन्हें वहाँ कोई पुरोहित नहीं मिला। निदान, पौरोहित्य के निमित्त उन्होंने शकद्वीप से मग-जाति के ब्राह्मण बुलाये, जो जरशब्द या जरशस्त के अनुयायी थे। सर चार्ल्स इलियट[1] का अनुमान है कि ये ब्राह्मण ईरान के मागी (Magis) रहे होंगे और जरशब्द या जरशस्त नाम जरथुस्त्र का है। □□□

---

[1] हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जिल्द, ३।

प्रकरण ३

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का मिलन

वैदिक संस्कृति के कुछ युग्म

हिन्दू-संस्कृति का आविर्भाव आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मिश्रण से हु तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं, वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों के मिल से उत्पन्न हुई थी, यह अनुमान कई प्रकार की युक्तियों पर आधारित है। भारती संस्कृति के विवेचन में हमारे सामने कुछ ऐसी शंकाएँ खड़ी होती हैं, जिनका समाधा न तो इस स्थापना से हो सकता है कि हिन्दू-संस्कृति सोलह आने आर्यों का निर्मा है, न इस स्थापना से कि वैदिक संस्कृति केवल प्राग्वैदिक संस्कृति का विकास मा है। डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने ऐसी कई शंकाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक[1] किया है।

पाणिनि का समय हम लोग ई०पू० ७वीं सदी मानते हैं। पाश्चात्यों के मता सार उनका काल ई०पू० ५वीं सदी से इधर नहीं माना जा सकता। पाणिनि श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष का उल्लेख "शाश्वतिक विरोध" के उदाहरण के रूप में कि है। अवश्य ही शाश्वत शब्द सौ-दो सौ वर्षों का अर्थ नहीं देता, वह इससे बहुत अधि काल का संकेत करता है। अतएव, यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमण-संस्था भार में आर्यों के आगमन के पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे श्रमणों और ब्राह्मणों के बीच सर्प-नकुल-सम्बन्ध का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य में बहु अधिक हुआ है, किन्तु, पाणिनि के उल्लेख से यह स्पष्ट भासित होता है कि श्रम ब्राह्मण-संघर्ष बौद्ध मत से कहीं प्राचीन है।

पौराणिक हिन्दू-धर्म निगम और आगम, दोनों पर आधारित माना जाता है निगम वैदिक विधान है। आगम प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक प स्परा का वाचक है। पुराण और पौराणिक धर्म उतने नवीन नहीं हैं, जितना नवी उन्हें पश्चिम के विद्वानों ने सिद्ध किया है। "यह कहना सम्भव है कि इतिहास-पुरा का आरम्भ अथर्व-वेद के काल में हुआ। अथर्व-वेद में कहा गया है कि ऋग्वे सामवेद, पुराणों के साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए (११।७।२४) शतपथ-ब्राह्मण के (११।५।७।९) ब्रह्म-यज्ञ में इतिहास तथा पुराणों के पठन का बतलाया गया है और कहा गया है कि अश्वमेध में (१३।४।३।१३) पुराण तथा का पठन किया जाय।"[2]

---

[1] भारतीय संस्कृति का विकास ; वैदिक धारा।

[2] वैदिक संस्कृति का विकास : लक्ष्मण शास्त्री जोशी।

पुराणों का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी है तथा मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं ऋग्विधान में भी। रामायण और महाभारत तो पुराणों के नाम कई बार लेते हैं। इन सारे प्रमाणों से यह अनुमान अत्यधिक सुदृढ़ हो जाता है कि पुराणों की परम्परा वेदों की परम्परा से कम प्राचीन नहीं है।[1] निगम वेदों के सुनिश्चित विधान हैं और आगम परम्परा से आते हुए ज्ञान के समवाय, इस प्रकार का कोई अस्पष्ट भाव प्रचीनों का भी रहा होगा। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब वेदों का पठन-श्रवण केवल पुरुषों और द्विज-वर्ग तक सीमित किया जाने लगा, तब भी, पुराणों पर ऐसी कोई रोक नहीं लगायी गयी। ब्राह्मणों ने पूरी कट्टरता से पहरा केवल वेदों पर दिया। पुराण आर्येतर जनता के भावों और विचारों से, ओतप्रोत थे, अतएव, ब्राह्मणों ने पुराणों को केवल अपना आविष्कार नहीं माना, न उन्हें जनता की पहुँच में जाने से रोक रखने की कोशिश की।

पुराणों में यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग, किरात आदि लोगों का जो उल्लेख है, वह, स्पष्ट ही, आर्येतर जातियों के अस्तित्व की सूचना देता है। पुराणों के अनुसार देवों की अपेक्षा असुरों का प्राचीन होना अधिक सम्भव दीखता है। इससे से भी सूचित होता है कि भारत में आर्यों से भिन्न और भी वहुत से लोग थे, जिनके मौखिक साहित्य का समावेश पुराणों में हुआ है।

जनता में एक अनुश्रुति चलती है कि आगभ भी निगम से ही निकले हैं; निगम में जो वातें प्राचीन मुहावरों में कही गयी है, आगम उन्हीं का आख्यान आधुनिक भाषा में करते हैं। किन्तु, दोनों की भिन्नता भी स्पष्ट है। निगम अपौरुषेय हैं; उन्हें किसी ईश्वर ने नहीं बनाया है, क्योंकि ईश्वर भी, आखिर को, पुरुष ही है। किन्तु, आगम शिव, शक्ति अथवा विष्णु के मुख से उद्गीर्ण माने जाते हैं। आगमों की पूर्ण परिणति भक्ति में हुई। भक्ति और वेदान्त में भेद है। वेदान्त केवल ब्रह्म को मानते हैं। भक्ति तत्त्वत्रय (ईश्वर, जीव और प्रकृति) में विश्वास करती है। वैदिक धर्म चार वर्णों में विश्वास करता है और शूद्र को वह वेद-वेदान्त पढ़ने का अधिकार नहीं देता। वैदिक धर्म के अनुसार संन्यास का भी अधिकार केवल ब्राह्मण को है। किन्तु, भक्ति ऐसे बन्धनों में विश्वास नहीं करती। भक्ति-मार्ग में चाण्डाल को भी यह अधिकार है कि वह चाहे तो शिव, शक्ति या विष्णु की प्रतिमा की पूजा कर सकता है। वैसे, वेदान्त-दर्शन के अनुसार वर्णभेद की सत्ता नहीं ठहरती। फिर भी, पारिभाषिक दृष्टि से वेदान्त भी वेद ही हैं। इसलिए, शूद्रों के लिए वे वर्जित कर दिये गये।

देवता भी पुराणों में, कभ-से-कम, तीन प्रकार के हैं। कुछ देवता वे हैं जिनकी कल्पना वेदों ने की और कुछ वे हैं जो प्राग्वैदिक भारत में पूजे जाते थे और, बाद को, वैदिक धर्म में प्रवेश पा गये। तीसरे प्रकार के देवता वे हैं जो आर्य-द्रविड़-मिश्रण के बहुत बाद, बाहर से आनेवाली नयी जातियों के साथ, आये होंगे और जिनकी

---

[1] वायुपुराण के अनुसार "ब्रह्मा से पहले पुराण (विषय की दृष्टि से) की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् वेदों की।"
—मं० दे० शास्त्री।

प्रधानता इधर हाल के पुराणों में दिखायी देती है। वैदिक देवताओं में प्रधान इ अग्नि, ऊषा, वरुण, अश्विनीकुमार, पूषन्, ब्रह्मा इत्यादि थे, जिनकी पूजा का प्रच अब, प्रायेण, अवरुद्ध हो गया है। प्राग्वैदिक और वैदिक धाराओं को सम्पृक्त करने देवताओं में से मुख्य देवता शिव और उमा हैं। और जो देवता आर्यों के आगमन बहुत पश्चात् आनेवाली जातियों के साथ आये, उनमें गणना, कदाचित्, राधा की जा सकती है।

डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय संस्कृति जो कई परस्पर-विरोधी 'युग्म' हैं, उनका भी कारण यही है कि यह संस्कृति, आ से ही, सामासिक रही है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में एक द्वन्द्व तो कर्म संन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच तथा तीसरा स्वर्ग और न की कल्पनाओं को लेकर। यह विषय, सचमुच, विचारणीय है। अत्यन्त प्रा काल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा क है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम बाधाओं पर विजय प्र करके जीवन में जय लाभ करें एवं मानव-बन्धुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनों लोकों में सुख आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु, दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाश है। हम जो भी करें, किन्तु, हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही हम वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव, हम श्रेष्ठ धर्म यह है कि उन सुखों को पीठ दे दें, जो हमें ललचा कर संसार में बाँधते इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिये और दंडनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिये—जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और संन्यास में से कर्म, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति के सिद्धान्त, प्रमुख रूप से, वैदिक हैं तथा संन्यास और निवृत्ति के सिद्धा अधिकांश में, प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु, आश्चर्य की बात है भारतीय अध्यात्म-शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव संन्यास और निवृत्ति का उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। अथवा आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य परा मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य संन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व देता है, दु से भाग खड़ा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यों का स्वभाव कई देशों में बिलकुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषतः यूरोप में उ पराक्रमशीलता पर अधिक आँच नहीं आयी। किन्तु, कई देशों की स्थानीय संस् और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर भी पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निर्व प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के च ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समी लगती है कि "भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है

वैदिक और आगमिक तत्त्वों के बीच संघर्ष, कदाचित्, वेदों के समय भी चलते होंगे, क्योंकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञ में हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिये। हाँ, जब गीता रची गयी, तब उसका रूप भागवत आगम का रूप हो गया। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान् कृष्ण का चरम महत्त्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित्, महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वहीं से, शायद, यह शंका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नहीं हैं, और जीवन का ध्येय सांसारिक विजय नहीं, प्रत्युत, मोक्ष होना चाहिये। महाभारत की लड़ाई पहले हुई, उपनिषद, कदाचित्, बाद को बने हैं।

संसार को सत्य मानकर जीवन के सुखों में वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारों से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्त्व देने लगता है, तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष-साधना के साथ, भीतर-भीतर, यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय-तर्पण का दंड परलोक में नरकवास होगा। यह विलक्षण बात है कि वेदों में नरक और मोक्ष की कल्पना, प्रायः, नहीं के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान् डॉ० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है "बहुत-से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला।" अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि "नरक शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्ल-यजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिन-संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्व-वेद-संहिता में 'नारक' शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।"

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म-शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्त्व थी। किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य में निवृत्ति-विरोधी विचार इतने प्रबल हैं कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येतर माने बिना काम चल नहीं सकता।

इसी प्रकार, ऋषि और मुनि शब्दों का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मंत्रद्रष्टा है, किन्तु, मंत्रों के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नहीं था। पुराणों में ऋषि और मुनि शब्द, प्रायः, पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी, विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बन्ध था। ऋषि और मुनि, दो भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। "मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है।

होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1] पुराण में ऋषि मुनि के, प्रायः, पर्यायवाची होने का एक कारण तो यही मानना होगा कि पुराणों आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वित रूप है। अतएव, पुराण प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पण्डित को, प्रसंगानुसार, ऋषि या मुनि कहने में अनौचित्य नहीं मानते थे। जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खड़े हुए, बौद्धों और ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं, मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ़ है कि मुनि-परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी। "ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि दोनों की दृष्टियों में हमें भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मांसाहार तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहाँ दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरा षता तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमें से मूल में, वैदिक और दूसरी, मूल में, प्राग्वैदिक प्रतीत होती हैं।"[2] इस अनुमान पुष्टि इस बात से भी होती है कि महंजोदरो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दीखता ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद-पूर्व हैं।

पण्डितों ने एक और युग्म पर विचार करके यह बताने की चेष्टा की है हिन्दू-संस्कृति के कुछ उपकरण वैदिक और कुछ अवैदिक हैं। वह युग्म ग्राम नगर का युग्म है। वैदिक संहिताओं में 'ग्राम' शब्द अनेक बार आया है, किन्तु 'न शब्द का प्रयोग उनमें कहीं भी नहीं मिलता।[3] सम्भव है, वेदों के समय ग्राम नगर का भेद बहुत प्रत्यक्ष नहीं रहा हो और दोनों के लिए आर्य एक ही शब्द प्रयोग करते रहे हों। किन्तु, यह सम्भावना अधिक टिकाऊ नहीं है। वैदिक संहिता और धर्मसूत्रों में वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है और पुराणों में नगरों निर्माता मय-वंशीय लोग माने गये हैं, जो दानव जाति के होते थे। अतए अनुमान यही ठीक ठहरता है कि आर्य नगरों के निर्माता नहीं थे, यह कला उन्हें भारत आकर सीखी। इन्द्र का पुरन्दर (नगर-भंजक) नाम इस अनुमान को और सबल बनाता है। आर्यों का सामना इस देश में उन लोगों से हुआ था, जो लौ निर्मित पुरी (आयसीः पुरः) में निवास करते थे। ऐसे नगरों का ध्वंस करने के का ही इन्द्र ने पुरन्दर उपाधि प्राप्त की थी। आश्चर्य है कि महंजोदरो की खुदाई लोहे के निशान नहीं मिले हैं।

---

[1] डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

[2] वही।

[3] वही।

कहते हैं, आर्यों के समाज में ग्राम-संस्कृति की प्रधानता होने के कारण ही जाति-प्रथा रूढ़ हो गयी। अपने पूर्वजों के धन्धों को छोड़कर कोई नया धन्धा सीखना या ग्रहण कर लेना नगरों में जितना आसान होता है, ग्रामों में वह उतना आसान नहीं होता। नगरों पर परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ता है। ग्राम ऐसे प्रभावों का अवरोध करते हैं। आर्यों की अर्थ-व्यवस्था ग्रामों पर आधारित थी। इसीलिए, उनकी जाति-व्यवस्था उतनी टिकाऊ हो सकी। सिन्धु-संस्कृति के विध्वंस के उपरान्त भारत-वर्ष में नगर-संस्कृति को प्रधानता किसी भी समय नहीं मिली। ग्राम या देहात से सम्बद्ध अर्थ-शास्त्र का निरन्तर बने रहना जाति-भेद की उत्पत्ति में सहायक हुआ है।"[१]

इस प्रसंग में ध्यान इस बात पर भी जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनमें से किसी का भी सम्बन्ध शिल्प या कला-कौशल से नहीं है। शिल्पी और कारीगर आर्यों के यहाँ शूद्र माने जाते थे। शिल्प और कला-कौशल तथा उद्योग नागरिक सभ्यता के लक्षण हैं। आर्य ग्रामों के भक्त थे। इसलिए, कला-कौशल को उन्होंने ईषत् हेय माना। इसीलिए, त्रिवर्ण में से किसी के लिए भी उन्होंने शिल्प या कारीगरी को विहित नहीं बताया। आरम्भ में शिल्पी और कारीगर, कदाचित्, आर्य-रक्त के नहीं थे। इसलिए, परम्परा चल पड़ी कि शिल्प करनेवाले लोग त्रिवर्ण में नहीं गिने जायँगे।

पौराणिक हिन्दुत्व के मुख्य निर्माता और भारत के सबसे बड़े पुराणकार महर्षि व्यास का जन्म एक धीवर-कन्या की कुक्षि से हुआ था। वर्त्तमान प्रसंग में कुछ प्रकाश इस कथा से भी छिटकता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आर्य और आर्येतर, दोनों ही प्रकार के रक्त से सम्बद्ध होने के कारण एवं वैदिक-प्राग्वैदिक, दोनों ही संस्कृतियों के उत्तराधिकारी होने के कारण, व्यास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में विश्वास करते थे? "पुराण शब्द का अर्थ ही प्राग्वैदिक संस्कृतियों की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक ऋषि-मुनियों ने किया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में, व्यास के सदृश ही, दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और, प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।"[२]

आर्य-द्रविड़-सम्बन्ध

ऋग्वेद में कहीं कण भर भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया अथवा इसे जीता था किन्तु, संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से यह बात अवश्य लक्षित होती है कि संस्कृत-भाषी आर्य, आरम्भ में, विन्ध्य के उत्तर तक ही सीमित थे, विन्ध्य के दक्षिण वे लोग बसते थे, जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी। प्राचीन तमिल साहित्य में भी संस्कृत-भाषियों को 'वडवर' (उत्तर-वाला) कहा गया है और प्राचीन तो नहीं, अपेक्षया नवीन संस्कृत-साहित्य में दाक्षिणात्य शब्द द्रविड़ों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

१. लक्ष्मण शास्त्री जोशी : वैदिक संस्कृति का विकास।
२. डॉ॰ मंगलदेव शास्त्री।

आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुँचे थे। वैदिक साहित्य में दी भारत का उल्लेख नहीं है। भास की कल्पना का देश हिम और विन्ध्य पर्वतों के पड़ता था। बौद्ध धर्म तमिलनाडु में कब पहुँचा, इसका भी कोई निश्चित प्रमाण है। केवल सुत्तनिपात की बावरीवाली कथा से यह अनुमान होता है कि बुद्ध सुयश उनके जीवन-काल में ही दक्षिण पहुँच चुका था। कृष्णस्वामी आयंगर का ख्याल है कि तमिलनाडु में बौद्ध धर्म को कभी प्रश्रय मिला ही नहीं था।[1] अशोक राज्य-सीमा मैसूर पहुँच कर समाप्त हो गयी थी। किन्तु, दक्षिण भारत का उत्तरवालों को बहुत प्राचीन काल में भी रहा होगा, यह अनुमान हम रामायण लगा सकते हैं। मेगास्थनीज ने पाण्ड्य-राज्य का उल्लेख किया है और अर्थशास्त्र भी ताम्रपर्णिक मोतियों का उल्लेख है, जो मन्नार की खाड़ी से निकाला जाता बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में दक्षिण के पाँच रिवाजों का उल्लेख किया है, जिनमें एक मामा की बेटी से ब्याह का भी रिवाज है और श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र रचयिता आपस्तम्ब ई०पू० ३०० के आसपास गोदावरी-तट पर रहते थे।[2]

स्पष्ट रूप से उल्लिखित प्रमाण तो ऐसे ही मिलते हैं, किन्तु, हमारा ख्याल है उत्तर-दक्षिण का सम्बन्ध इससे कहीं प्राचीन है और उसके सबसे बड़े प्रमाण दक्षिण प्रचलित जनश्रुतियाँ और परम्पराएँ हैं। परम्पराओं का तिथि-निर्धारण निश्चयपू नहीं किया जा सकता, किन्तु, उनके भीतर जो सत्य गूँजता है, वही जातियों वास्तविक इतिहास होता है।

तमिल-परम्परा बताती है कि अगस्त्य के दक्षिण-गमन के पूर्व तमिल-देश जं से भरा था और आबादी वहाँ बहुत कम थी। रामायण के अनुसार भी रामचन्द्र अगस्त्य से साक्षात्कार दण्डकारण्य में हुआ था और राम-अगस्त्य-सम्वाद से इस अनु को यत्किंचित् बल प्राप्त होता है कि दक्षिण भारत को बसाने का काम अगस्त्य किया था। चेर देश में आर्य-संस्कृति परशुराम के समय पहुँच चुकी थी। केरल यह जनश्रुति भी चलती है कि केरल और कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने काम परशुराम ने किया था।

तमिल-परम्परा की कथा यह है कि शिव और उमा के विवाह के समय दक्षिण सभी ऋषि-मुनि उत्तरस्थ हिमपर्वत पर पहुँच गये, जिससे पृथ्वी का सन्तुलन बि गया। इससे घबरा कर देवताओं ने शिव से प्रार्थना की कि आप किसी ऐसे तेज ऋषि को दक्षिण भेज दें, जिसके आकर्षण से मनुष्य वहाँ लौट सके। इस काम के शिवजी ने जिस व्यक्ति को चुना, वे ऋषि अगस्त्य थे। इससे आगे की कथा ऐसी जिससे प्राचीनों की दूरदर्शिता का पता चलता है और यह विदित होता है कि उत्त दक्षिण के बीच गहनतम भावात्मक एकता बनाये रखने का उन्हें कितना ध्यान था

---

१. Contribution of South India to Indian Culture.

२. A history of South India—नीलकंठ शास्त्री।

कथा यह है कि जब अगस्त्यजी को दक्षिण जाने की आज्ञा हुई, उन्होंने शिवजी कहा कि दक्षिण की भाषा तो मैं जानता नहीं हूँ, फिर वहाँ जाकर मैं करूँगा या ? इसपर शिवजी ने अपनी बायीं ओर अगस्त्य को खड़ा किया और दक्षिण की ोर व्याकरणाचार्य पाणिनि को और वे दोनों हाथों से अपने डमरू पर थाप मारने गे। इससे बायीं थाप से जो शब्द निकले, उनसे तमिल भाषा बनी और दायीं थाप जो शब्द छिटके, उनसे संस्कृत का निर्माण हुआ। इसी शिक्षा का उपयोग करके गस्त्य ने 'अगस्त्यम्' नामक व्याकरण लिखा, जो तमिल का आदि व्याकरण माना ाता है। इस प्रकार, तमिल-परम्परा के अनुसार, तमिल और संस्कृत भाषाएँ कभी क ही उद्गम से निकली थीं, जिसका अब भाषा-तत्त्वज्ञों को पता नहीं है।

अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत के बीच प्रथम सेतु थे, इसका आख्यान उत्तर ारतीय परम्परा में भी है। उत्तर और दक्षिण को विभक्त रखनेवाला पर्वत विन्ध्य र्वत था। अगस्त्य जब दक्षिण को जाने लगे, विन्ध्य ने भूमिष्ठ होकर उन्हें प्रणाम कया। अगस्त्य ने आशीर्वाद देते हुए उसे यह उपदेश दिया कि मैं जब तक दक्षिण न लौटूँ, तुम इसी तरह सिर झुकाए पड़े रहो। लेकिन, अगस्त्यजी दक्षिण जाकर फर वापस नहीं हुए। सो, विन्ध्य अब तक सिर झुकाये, ज्यों-का-त्यों, पड़ा है।

तमिल-परम्परा में उत्तर और दक्षिण की एकता का इससे कहीं अधिक प्रमाण है। समें कहा गया है कि जब अगस्त्य दक्षिण जाने लगे, पहले वे गंगा के पास गये और ा की धारा में से निकाल कर उन्होंने कावेरी को साथ कर लिया। फिर जमदग्नि षि के पुत्र तृणधूमाग्नि को, पुलस्त्य की कुमारी बहन लोपामुद्रा को और द्वारका कर वृष्णिवंश के अठारह राजाओं को भी उन्होंने अपने साथ लगा लिया। अगस्त्य न्ध्य के पार जंगलों को काटते और लोगों को बसाते हुए पश्चिमी घाट की ओर चले। श्चिमी घाट पर पहुँच कर "पोदिइल" नामक स्थान पर उन्होंने अपना आश्रम ाया। कथा में यह भी कहा गया है कि रावण आदि राक्षसों को वे अपने आश्रम पास नहीं आने देते थे।

रावण शैव तो था, किन्तु, उसे द्रविड़ मानने का कोई आधार हमें नहीं मिलता। लंका में रहता था और लंका के साथ तमिलनाडु का तत्कालीन सम्बन्ध अच्छा ीं था। जब लंका ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया, तमिलनाडु से उसका सम्बन्ध र भी खराब हो गया। तमिलनाडु उस समय भी वैदिक मत का गढ़ था और जब दिक धर्म उत्तर में त्रस्त होने लगा, तब उसे सर्वाधिक संरक्षण तमिलनाडु में ही त हुआ।

अगस्त्य और लोपामुद्रा का उल्लेख ऋग्वेद में है, अतएव, वे अत्यन्त प्राचीन पुरुष । वेदों में तमिलनाडु का उल्लेख नहीं है, इसके अनेक कारण हो सकते हैं। किन्तु, बात अत्यन्त अर्थपूर्ण है कि दक्षिण और उत्तर के बीच समागम का कार्य अगस्त्य के य में ही आरम्भ हो गया था। उत्तर और दक्षिण को एक बनाने के उद्देश्य से

अगस्त्य ने इतने प्रभावशाली कार्य किये थे कि आज भी परम्परा उनके नाम को कृ
से सम्बद्ध मानती है। अगस्त्य दक्षिण दिशा के स्वामी माने जाते हैं। अगस्त्य न
तारा भी आकाश के दक्षिणी भाग में अवस्थित है। अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया
वह कथा भी पुराणों में अनेक बार आयी है। सब का निष्कर्ष यही है कि आर्यों
द्रविड़ों के बीच समन्वय की प्रक्रिया वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी थी।

द्रविड़ों का वैदिक संस्कृति में उतना ही बड़ा स्थान था जितना आर्यों का,
विचार का समर्थन उस कथा से भी होता है जो श्रीमद्भागवत में कही गयी है।
महाप्लावन का नायक ईसाई और मुसलमान हजरत नूह (Noah) को मान
भागवत के अनुसार, उस महाप्लावन के नायक द्राविड़ राजा सत्यव्रत थे। भगव
जब मीनावतार ग्रहण किया, तब वे इसी सत्यव्रत के कमंडलु में रहे थे और
ने ही उन्हें, बारी-बारी से, पहले कमंडलु में, फिर सरोवर में, फिर नदी और
छोड़ा था। "वही सत्यव्रत वर्त्तमान महाकल्प में विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्ध
नाम से विख्यात हुए और भगवान् ने उन्हें वैवस्वत मनु बना दिया।"[1]

वर्त्तमान कल्प के मनु द्रविड़-देशोत्पन्न राजा सत्यव्रत हुए, इससे यह बात
से समझी जा सकती है कि प्राचीन आर्यों की दृष्टि में द्रविड़-देश कितना
समझा जाता था। इससे इस बात पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है कि द्रवि
आर्यों से भिन्न मानना कितना भ्रामक और मूर्खतापूर्ण है।

आर्य और द्राविड़ भाषाएँ

तमिल परम्परा के अनुसार संस्कृत और द्राविड़ भाषाएँ एक ही उद्गम से
हैं, यह बात हम ऊपर कह आये हैं। इधर भाषा-तत्त्वज्ञों ने यह भी प्रमाणित
कि आर्यों की मूल भाषा यूरोप और एशिया के प्रत्येक भूखंड की स्थानीय विशिष्
के प्रभाव में आकर परिवर्तित हो गयी, उसकी ध्वनियाँ बदल गयीं, उच्चारण
गये और उसके भाण्डार में आर्येतर शब्दों का समावेश हो गया।

भारत में संस्कृत का उच्चारण तमिल प्रभाव से बदला है, यह बात अब
ही विद्वान् मानने लगे हैं। तमिल में र को ल और ल को र कर देर देने का
है। यह रीति संस्कृत में भी "रलयोरभेदः" के नियम से चलती है। काडवेल (
well) का कहना है कि संस्कृत ने यह पद्धति तमिल से ग्रहण की है।

बहुत प्राचीन काल में भी तमिल और संस्कृत के बीच शब्दों का आदान
काफी अधिक मात्रा में हुआ था, इसके प्रमाण यथेष्ट संख्या में उपलब्ध हैं।
अपनी कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी में ऐसे कितने शब्द गिनाये हैं, जो तमिल-भा
निकल कर संस्कृत में पहुँचे थे।[2] बदले में संस्कृत ने भी तमिल को प्रभावित

---

[1] श्रीमद्भागवत पुराण।

[2] रेवरेंड किटेल (Kittel) की कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी पहले-पहल सन्
ई० में निकली थी। उसमें किटेल ने संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ऐसे चार

[शेष पृष्ठ ६७

कृत के कितने ही शब्द तो तमिल में तत्सम रूप में ही मौजूद हैं । किन्तु, कितने शब्द ऐसे भी हैं, जिनके तत्सम रूप तक पहुँच सकना बीहड़ भाषा-तत्त्वज्ञों का ही म है । डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने बताया है कि तमिल का 'आइरम' शब्द कृत के 'सहस्रम्' का रूपान्तरण है । इसी प्रकार, संस्कृत के स्नेह शब्द को तमिल षा ने केवल 'ने' (घी) बनाकर तथा संस्कृत के कृष्ण को 'किरुत्तिनन' बनाकर अपना या है । तमिल भाषा में उच्चारण के अपने नियम हैं । इन नियमों के कारण बाहर आये हुए शब्दों को शुद्ध तमिल प्रकृति धारण कर लेनी पड़ती है ।

द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं । ब्राह्मी का ज्ञान अशोक समय दक्षिण भारत में भी प्रचलित रहा होगा, अन्यथा, अशोक ने अपने अभिलेख, क्षिण में भी, ब्राह्मी में ही नहीं खुदवाये होते । दक्षिण में प्रचलित जैन परम्परा के नुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी । ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की पियों का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई ।

वेदों की रचना आर्यों ने की, यह सत्य है, किन्तु, वैदिक धर्म केवल आर्यों का र्माण नहीं है । उत्तर की तरह दक्षिण भारत का भी इतिहास आर्यों के आगमन के बाद आरम्भ होता है । अगस्त्य के समय से दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भागों के ग एक ही धर्म को मानते आये हैं और उनकी संस्कृति भी एक ही रही है । वैदिक र्म के ग्रन्थ भी केवल उत्तर में नहीं लिखे गये, उनमें से अनेक की रचना दक्षिण में थी । चिन्तकों, विचारकों और विशिष्ट समाज की भाषा दक्षिण में भी संस्कृत थी तथा दक्षिण की भाषाएँ भी संस्कृत के स्पर्श से ही जाग्रत और विकसित होकर हित्य-भाषा के धरातल पर पहुँच सकी हैं ।

यजुर्वेद-संहिता की दो शाखाएँ हैं जो, क्रमशः, शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद नाम से विख्यात हैं । उत्तर भारत में अधिक प्रचार शुक्ल का और दक्षिण भारत विशेष प्रचलन कृष्ण-यजुर्वेद का है । कृष्ण-यजुर्वेद में कार्त्तिकेय, स्कन्द और गौरी, पौराणिक देवताओं का उल्लेख होने के कारण डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री उसे दिकेतर धारा से प्रभावित मानते हैं । शास्त्रीजी का यह भी अनुमान है कि कृष्ण-

---

ष्ठ ६६ का शेष ।]

गिनाये हैं जो तमिल-भाण्डार के हैं । उनमें से कुछ शब्द ये हैं :—कक्ष (काँख), कुन्तल (सिर के बाल), गंड (गला), पक्ष (बगल), भाल (ललाट), एन (हरिण), चिंचा (इमली), मुकुल (कली), वृहि (चावल), तीर (तट), खल (दुष्ट), मल्ल (पहलवान), मन्दिर (घर), ओदन (भात), अलं (यथेष्ट), तथा कीर, कुक्कुट, कोकिल, गरुड़, गर्दभ, मरकट, मीन, एरंड, पुष्प, वेणु, कनक, कंचन, नील, पिशाची, भील, नीवी, कुठार तथा पण्डित भी । डॉक्टर आर० काडवेल (कॉम्पेरेटिव ग्रामर आव् ड्रेविडियन लैंग्वेजेज़ में) तथा डॉक्टर एच० गुण्डर्ट ने भी (जर्मन ओरियंटल सोसायटी के जर्नल में) यह प्रमाणित किया था कि द्राविड़ धातुओं से बने अनेक शब्द संस्कृत में, तत्सम-रूप में, गृहीत हुए हैं ।

यजुर्वेद शुक्ल की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, प्रत्युत, वे यह भी समझते हैं कि यजुर्वेद की पौराणिक प्रवृत्ति के विरोध में ही 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपाति शुक्ल-यजुर्वेद का आरम्भ किया होगा और, कदाचित्, 'शुद्ध' धारा के कारण ही और 'कृष्ण' नामों का प्रचलन हुआ। इस पर से यह अनुमान सहज ही ल जा सकता है कि कृष्ण-यजुर्वेद की रचना या तो दक्षिण भारत में हुई होगी अ उन ऋषियों के द्वारा, जो द्रविड़ देश के रहे होंगे।

श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों के रचयिता आपस्तम्ब दक्षिण में रहते थे। आप के अनुकरण पर एक नवीन धर्मसूत्र के रचयिता सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी भी, कदा मालाबार के थे। वैखानस-सम्प्रदाय का गृह्य-सूत्र (जिनमें द्राविड़ भाषा के मुह के भी निशान हैं) दक्षिण में ही रचा गया था। वेदों को पुनरुज्जीवित करने महान् पण्डित सायणाचार्य दक्षिण में हुए थे। सद्गुरुशिष्य भी दक्षिण के जिन्होंने आश्वलायन-श्रौत-सूत्र एवं आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र पर टीकाएँ लिखीं। पु में से सर्वाधिक लोकप्रिय भागवत पुराण की रचना दक्षिण में हुई थी। विष्णु-पुरा विशष्टाद्वैतवादी व्याख्या लिखनेवाले विष्णुचित्त स्वामी भी दक्षिण के ही विद्वान रामायण पर विवेक-तिलक लिखनेवाले विद्वान् उदालि भी दाक्षिणात्य थे। असली नाम आत्रेय वरदराज बताया जाता है। कहाँ तक गिनाया जाय, वेदों के हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर जो असंख्य ग्रन्थ लिखे गये, उनके लेखकों में से दाक्षि पण्डितों के नाम भी असंख्य ही माने जा सकते हैं। उत्तर का चिन्तन, आज समान, पहले भी तुरन्त दक्षिण पहुँच जाता था और,इसी प्रकार, दक्षिण में विचारों और चिन्तनाओं से उत्तर के विद्वान् प्रेरित हो उठते थे। केरल (कन्याकुमारी) के शंकराचार्य ने जब शारीरक-भाष्य लिखा, तब उस पर भामती मिथिला में लिखी गयी, जो हिमालय की तराई में है। विचित्र बात यह है कि स्पति मिश्र की भामती टीका ने ही शंकर के शारीरक-भाष्य का सर्वाधिक किया।

दक्षिण में हिन्दू-धर्म के केवल दर्शन और शास्त्र ही नहीं लिखे गये, संस्कृत और काव्य-साहित्य की रचना में भी दाक्षिणात्य कवियों और कलाकारों का अत्यन्त मह योगदान है। गाथा-सप्तशती के विभ्राट रचयिता हाल शातवाहन महीप थे। ज हरण काव्य के कर्त्ता महाकवि कुमार दास (६०० ई०) लंका में रहते थे। एक गर्वोक्ति[1] की रचयित्री विज्जिका दक्षिणदेश-वासिनी थीं। भारवि (७वीं सदी) के थे, जिन्होंने किरातार्जुनीयम् लिखा। भवभूति बरार में जनमे थे और

---

[1] नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता,
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती।
दुर्भाग्यवश, विज्जिका की कविताएँ विलुप्त हो गयीं। किन्तु, जो थोड़ी मिलती हैं, उनके आधार पर राजशेखर की यह सम्मति अतिरंजित नहीं कि यह कवयित्री कालिदास के ठीक बादवाले सोपान की अधिकारिणी रहीं

विद्याभ्यास उन्होंने कुमारिल भट्ट के चरणों में किया था। मुकुन्दमाला नामक ाव्य के कर्त्ता कुलशेखर कवि (७वीं सदी) केरल देश के राजा थे। नलोदय, त्रिपुर-इन, युधिष्ठिर-विजय आदि चार यमक-काव्यों के रचयिता कवि वासुदेव दक्षिण के और राजा कुलशेखर के संरक्षण में केरल में रहते थे। इसी प्रकार, सुप्रसिद्ध नल-म्पू काव्य के रचयिता त्रिविक्रम भट्ट (१०वीं सदी) राष्ट्रकूट-नरेश राजा इन्द्र द्वितीय समकालीन थे और उन्हीं के दरबार में रहते थे। बृहत्कथा अब विलुप्त ग्रन्थ है, न्तु, उसके रचयिता गुणाढ्य दक्षिण के थे। इसके सिवा, अप्पय दीक्षित, भट्टोजि क्षित, मल्लिनाथ, मल्लिनाथसुत और पण्डितराज जगन्नाथ, ये सब-के-सब महातेजस्वी न्तक दक्षिण में ही जनमे थे। इस सूची को भी ज्यादा लम्बा बनाना व्यर्थ है। स्कृत-साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालों का है, उतना ही ऋण दाक्षिणात्यों का ा है। उत्तर-दक्षिण का प्रश्न अभी हाल में उठा है। प्राचीन काल में सारा भारत स्कृत को ही अपनी साहित्य-भाषा मानता था।

प्रत्येक प्राचीन जाति का संस्कार, उसकी आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी षा में बसते हैं। भारत की आत्मा और भारत के सूक्ष्म संस्कारों का निवास संस्कृत है। संस्कृत इस देश में बसनेवाले लोगों की सेवा, और नहीं तो, तीन-चार हजार ों से करती आयी है। भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत के घाट पर पानी पीकर ती आयी हैं और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है। भारत की आधुनिक षाओं में नये शब्द बनाने की शक्ति समाप्त है। अब भारत की जो भी भाषा नया ब्द खोजती है, उसके सामने संस्कृत की ओर जाने के सिवा और कोई राह नहीं । इसी संस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएँ एक हैं, क्योंकि के शब्द एक हैं, उनकी तर्ज, भंगिमा और अदाएँ एक हैं तथा वे एक ही सपने का ख्यान अलग-अलग लिपियों में करती हैं।

उत्तर भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकल कर विकसित हुई हैं। ये भी स्पर भिन्न हैं, किन्तु संस्कृत ने हिन्दी को, एक खास ढंग से, विकसित करके उत्तर रत को एक ऐसी भाषा दे दी, जो थोड़ी-बहुत सभी भाषा-क्षेत्रों में समझ ली जाती । तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भी प्राचीन तमिल से ही निकली हैं। लेकिन, वड़-क्षेत्र में उस परिवार की कोई ऐसी भाषा उत्पन्न नहीं हुई, जो चारों भाषा-क्षेत्रों समझी जा सके। उत्तर की एक विलक्षणता यह भी है कि वहाँ सभी भाषाएँ (संसार अन्य भाषाओं के समान) किसी-न-किसी क्षेत्र के लोगों की मातृभाषाएँ हैं, केवल न्दी ही एक ऐसी भाषा है जो, सही माने में, किसी भी क्षेत्र की मातृभाषा नहीं है। ाचित्, यही कारण है कि सारा देश उसे अपनी भाषा के रूप में अपना रहा है। ो प्रकार, संस्कृत भी भारत के किसी एक क्षेत्र की मातृभाषा नहीं थी।

र्य और द्राविड़ स्वभाव

आर्य और द्राविड़ साहित्य की प्रकृति एक है। उम्र की दृष्टि से संस्कृत बड़ी, रत की अन्य सभी भाषाएँ उससे छोटी, बहुत छोटी हैं। यहाँ तक कि तमिल जो

भारत की अर्वाचीन भाषाओं में सबसे प्राचीन है, संस्कृत उससे भी, कम-से-कम हजार वर्ष अधिक पुरानी भाषा है। अतएव, भारत को जो कुछ भी कहना था, पहले संस्कृत में कहा। बहुत बाद को जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, भी भावानुभूति और चिन्तन की वही प्रक्रिया उद्धृत हो गयी, जो संस्कृत में विक हुई थी। अतएव, हिन्दू-संस्कृति की मूल-भाषा संस्कृत रही। बाकी भाषाओं एक लम्बा-सा इतिहास केवल संस्कृत की उद्धरणी का इतिहास है।

इस दृष्टि से देखने पर आर्य और द्राविड़ स्वभाव को परस्पर भिन्न निराधार लगता है। परन्तु, एकाध विद्वान ने यह कल्पना करने का साहस कि आर्यों और द्रविड़ों के स्वभाव में, किसी-न-किसी समय, थोड़ी भिन्नता अवश्य होगी अन्यथा यह कैसे सम्भव हुआ कि कर्मकाण्ड और आशावाद के प्रेमी निवृत्ति के चक्कर में आ गये और जो लोग प्रकृति के सौन्दर्य पर न्योछावर ही अपना परम धर्म मानते थे, उनकी सन्ततियों ने देह-दंडन और कृच्छ्र साध अपना कर्त्तव्य मान लिया? मिलते-मिलते आर्य और द्रविड़ परस्पर इस प्रकार गये कि उनमें से एक का विश्वास दूसरे का भी विश्वास बन गया और एक की दूसरे की आदतों में समा गयीं। नदियों के समान ही प्राचीन संस्कृतियों का निश्चयपूर्वक नहीं जाना जा सकता। विशेषतः हिन्दू-संस्कृति तो महानद के है। उसके भीतर अनेक नदियों का जल समाहित हुआ है। तभी वह इतना और अथाह दीखता है। फिर भी, इस महानद को विशेष रूप से पुष्ट बना दो महाधाराएँ अवश्य हैं, जिन्हें हम आर्य और द्राविड़ विशेषणों के साथ जानते

औसत मुसलमान कवि और औसत हिन्दू विचारक होता है। इसी न्याय कह सकते हैं कि आरम्भिक आर्य आरम्भिक द्रविड़ों की अपेक्षा भावुक अधिक सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, आदमी की चिन्तनशीलता उसके कवित्व को जाती है। द्रविड़, सभ्यता में, आर्यों से आगे थे यानी आर्यों की अपेक्षा वे प्राचीन थे। अतएव, उनकी कल्पना में चिन्तन की रीढ़ पैदा हो चुकी थी। भारत पहुँचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मौजी जीव रहे थे, अतएव, भीतर यह उत्साह वर्त्तमान था कि प्रकृति के सौन्दर्य पर वे चकित हो सकें। द्रविड़ों का चिन्तन कवित्व से आगे निकल चुका था। सूर्योदय के साथ-साथ, कदा वे सूर्यास्त भी कई बार देख चुके थे, जिसके कारण जीवन की निस्सारता का उन्हें होने लगा था।

सभ्यता यदि संस्कृति का आधिभौतिक पक्ष है तो भारत में इस पक्ष का विकास आर्यों ने किया है। इसी प्रकार, भारतीय साहित्य के भीतर भावुक तरंग, अधिकतर, आर्य-स्वभाव के भावुक होने के कारण बढ़ी। किन्तु, भारतीय की कई कोमल विशिष्टताएँ, जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य-भावना, स्वभाव के प्रभाव से विकसित हुई हैं। यह देश आर्यों के आगमन के पूर्व से ही अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने आकर यहाँ भी जीवन की धू

, प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से सारे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु, जब नका यज्ञवाद भोगवाद का पर्याय बनने लगा और आमिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण ीव-हिंसा को धर्म मानने लगे, इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीव-घात, दोनों से द्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी सनातन संस्कृति के उद्घोष । अति का उत्तर बराबर अति तक पहुँच कर रुकता है। यदि आर्यों का यज्ञवाद ुल्लमखुल्ला, जीव-हिंसा को औचित्य प्रदान नहीं करता अथवा ब्राह्मण यदि धर्म को पनी भोग-लोलुपता का साधन नहीं बनाते अथवा यदि उन्होंने यह भाव कायम रखा ोता कि जन्मना श्रेष्ठ होने के लिए भी ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व पर आरूढ़ रहना ाहिये, तो वैदिक धर्म के प्रति उठनेवाले विद्रोह कटुता तक नहीं पहुँचते, न निवृत्ति-ादी विचार-धारा को उतनी शक्ति प्राप्त होती, जितनी शक्ति उसे जैन और बौद्ध तों से प्राप्त हुई।

वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित नहीं थे, न वे संसार को असार मानकर ससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएँ ऐसी हैं, जिनसे पस्त-से-पस्त ादमियों के भीतर भी उमंग की लहर जाग सकती है। उन्हें ऋत का ज्ञान प्राप्त ो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित ौर ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके मनुष्य जो भी चाहे, प्राप्त कर कता है। किन्तु, बराबर उनकी प्रार्थना लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द ौर समृद्धि के लिए ही की जाती थी। वैदिक प्रार्थनाएँ प्रार्थनाएँ भी हैं, और सबल, वस्थ, प्रफुल्ल जीवन को प्रोत्साहन देनेवले मंत्र भी।

हम सौ वर्षों तक जियें।

हम सौ वर्षों तक अपने ज्ञान को बढ़ाते रहें।
हम सौ वर्षों तक पुष्टि और दृढ़ता को प्राप्त करें।
हम सौ वर्षों तक आनन्दमय जीवन व्यतीत करें।

* *

हम सौ वर्षों तक अदीन होकर रहें।

* *

जो स्वयं उद्योग करता है, इन्द्र उसी की सहायता करते हैं।
जो श्रम नहीं करता, देवता उसके साथ मित्रता नहीं करते।

* *

भगवन् ! जीवन-यात्रा में हमें समुन्नत कीजिये।
हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

* *

मैं इन्द्र हूँ, मेरी पराजय नहीं हो सकती।

* *

मेरे आराध्य देव !
आप तेजःस्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिये।
आप वीर्य-रूप हैं, मुझे वीर्यवान् कीजिये।

आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइये।
आप ओजः-रूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइये।

* *

मेरे पुत्र शत्रु का हनन करनेवाले हों।
हमारे पुत्र सुवीर हों और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

* *

तू न तो भयभीत हो, न उद्विग्नता को प्राप्त हो।

* *

मेरे लिए सभी दिशाएँ झुक जायें।[1]

जो आर्य ऐसी जीवन्त प्रार्थनाओं के अभ्यासी थे, वे ही जैन और बौद्ध मतों उत्थान के समय, भरी जवानी में संन्यास लेने लगे, रक्तपात से घबरा कर युद्ध-वि होने लगे और खेती करने से कहीं कीट-पतंग न मर जायें, इस चिन्ता से कातर हो कोई और रोजगार ढूँढ़ने लगे। किन्तु, बौद्ध और जैन मतों के मत्थे हम यह दा क्यों मढ़ें? संन्यास, मोक्ष और निवृत्ति की भावना तो उपनिषदों में ही प्रकट लगी थी। आर्यों की मौलिक भावनाएँ ऋग्वेद तक ही अक्षुण्ण रहीं। उपनिषद् आर्यों के ग्रन्थ नहीं हैं, वे उन भारतीय आर्यों की रचनाएँ हैं, जो स्थानीय प्राग्वै संस्कृति से भलीभाँति प्रभावित होने लगे थे।

कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कर्म (कर्मकाण्ड) तो सोलह आने आर्यों की दे किन्तु, ज्ञान और भक्ति का विकास प्राग्वैदिक संस्कृति के प्रभाव से हुआ। अ की बात है कि कर्म तो समाप्तप्राय है, सारे देश के धर्म-साधकों में अब ज्ञान भक्ति विशेषतः, भक्ति का ही अधिक प्रचार है।

निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परम्परा में विद्यमान थे। आर्यों आने के बाद यहाँ उत्साह की एक प्रबल तरंग अवश्य उठी, किन्तु, वैदिक आशा और उत्साह की प्रबलता चिरस्थायी नहीं हो सकी। जो लोग उत्साह की ऋ रचते थे, स्वयं वे ही अवसाद का गीत गाने लगे। भारतीय संस्कृति में कोई शक्ति है, जिसने पराजय नहीं जानी है। इसी शक्ति के कारण भारत, सब को स्वी करने के बाद भी, भारत ही बना रहता है और जब हम भारत कहते हैं, तब ह लक्ष्य वह भारत होता है, जिसका मूल प्राग्वैदिक काल की अतल गहराइयों में हुआ है। इस भारत ने केवल उन्हें ही नहीं पचाया, जो आर्यों के बाद आये थे, आर्यों को भी पचाकर उन्हें प्राग्वैदिक भारत का अंग बना दिया। भारतीय सं के प्राग्वैदिक तत्त्व आज भी उसके वैदिक तत्त्वों से अधिक प्रबल और प्रसार-पूर्ण आर्यों का अपना धार्मिक कृत्य होम था, किन्तु होम और यज्ञ अब कितने लोग करते आज घर-घर में हवन नहीं, पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप, दीप, अक्षत और के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं। एक समय यह समझा जाता कि पूजा संस्कृत शब्द है, जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किन्तु, यह मान्यता

---

[1] भारतीय संस्कृति का विकास; वैदिक धारा।

हीं चलती। अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं, पू ौर जै (शइ) के योग से बना है। तमिल में पू का अर्थ पुष्प होता है और जै का अर्थ र्म। अतएव, पू और जै के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहाँ फिर अहिंसा की रम्परा, मूल में, द्राविड़ दिखायी देती है, क्योंकि हवन पशु-कर्म था। पीछे, आर्यों यहाँ भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पड़ा। पूजा के प्रेमी, कभी-भी, हवन भी करते हैं, किन्तु, अहिंसक ढंग से। इसी प्रकार, भारतीय संस्कृति, ूतन अवदानों को ग्रहण करने के बाद भी, अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती ायी है।

र्ण-व्यवस्था और जाति-भेद

आर्य जब भारत में आये, तब जाति-प्रथा भारत में थी या नहीं, इसका निश्चय हीं हो पाया है। स्वयं आर्यों के भीतर यह प्रथा उस समय किस सीमा तक विकसित ो चुकी थी, यह विषय भी काफी सन्दिग्ध है। किन्तु, प्राचीन काल में समाज को, ंधों के आधार पर, चार भागों में विभक्त करने का रिवाज कई देशों में था। ईरानी माज में चार जातियाँ थीं, इसका उल्लेख पारसी-प्रसंग में किया जा चुका है। इसी कार, यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी मनुष्यों की चार जातियों का उल्लेख केया है।

भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और 'जाति' शब्द का बहुत ाद में मिलता है।[१] इसपर से यह अनुमान लगाया गया है कि वर्णों की उत्पत्ति ंग-भेद के कारण हुई होगी। किन्तु, यह बात सत्य नहीं है। ब्राह्मणों का वर्ण श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीत और शूद्र का वर्ण श्याम होता है, यह बात केवल महाभारत में कही गयी है। अन्यत्र "चातुर्वर्ण्य-विचार में वर्ण का रंगवाला अर्थ, क्वचित् ही मिलता है। अतएव, रंग-भेद पर आधारित चातुर्वर्ण्य की कल्पना, यथार्थ में, अत्यन्त दुर्बल और निराधार है।"[२] धर्मशास्त्रों में जाति और वर्ण का प्रयोग समानार्थक है और उसका आधार बीज-क्षेत्र-विचार ही ठहरता है। डॉक्टर अम्बेदकर ने शोधपूर्वक यह मत निरूपित किया है कि वेदों से यह प्रमाणित नहीं होता कि आर्यों का रंग दासों के रंग से भिन्न था। वर्ण का निर्धारण पहले व्यवसाय, स्वभाव, संस्कृति आदि के आधार पर ही था। पीछे जातिवाद के प्रकट होने पर वर्ण का आधार भी बीज-क्षेत्र-विचार हो गया।

ऋग्वेद में भारतीय प्रजा के लिए सर्वत्र 'विश' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ बसनेवाला होता है। वैश्य शब्द ऋग्वेद में नहीं है। अनुमान है कि जातिप्रथा के विकास-काल में इस 'विश' शब्द से वैश्य निकल पड़ा। "मूल वैदिक काल

---

[१] "हमें अभी तक वैदिक संहिताओं में 'जाति' नहीं मिला है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी शतपथ-ब्राह्मण (१।८।३।६) के एक सन्दिग्ध स्थल को छोड़कर वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त जाति शब्द हमको नहीं मिला है।"—मंगलदेव शास्त्री।

[२] लक्ष्मण शास्त्री जोशी।

में आर्य जनता (विशः) में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नहीं हुआ; यह भी ध्यान देने की बात है कि समस्त ऋग्वेद-संहिता में 'शूद्र' और 'राजन्य' केवल एक-एक बार आये हैं।"[1] शूद्र शब्द का यह उल्लेख केवल पुरुष-सूक्त में है। किन्तु, पुरुष-सूक्त ऋग्वेद में बाद को जोड़ा गया प्रतीत होता है। कोल और मैक्समूलर, दोनों ही विद्वान् यह मानते हैं कि पुरुष-सूक्त, शैली और भाषा, दो ही दृष्टियों से ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत नवीन है। डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री का विचार है कि "पुरुष-सूक्त, स्पष्टतया, अन्तिम वैदिक काल की रचना है।" डॉ मंगलदेव का यह भी कथन है कि 'ब्राह्मण' और 'क्षत्रिय' शब्दों का प्रयोग भी 'ब्र और 'क्षत्र' शब्दों की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है और, स्पष्टतया, वह अपेक्षा पिछले काल का है।"

इस प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के उद्गमों के संकेत (ब्रह्मन्, और विश) तो ऋग्वेद में मिलते हैं, किन्तु, पुरुष-सूक्त को पीछे का जोड़ मानने यह बताना असम्भव हो जाता है कि शूद्रों का उद्गम क्या था। शायद, डॉ अम्बेदकर की यह स्थापना गलत नहीं है कि शूद्र उसी भाण्डार के हैं, जिसकी शाखा क्षत्रिय जाति के रूप में विकसित हुई।[2] परम्परा से हम कुछ धन्धों को से सम्बद्ध मानते आये हैं। यदि इस आधार पर विचार किया जाय तो कई प्रा उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद-काल में शूद्र तिर नहीं थे। छान्दोग्य-उपनिषद में कथा आयी है कि रैक्व ने जनश्रुति को वेद प था, किन्तु रैक्व गाड़ीवान, अतः, शूद्र थे। डॉक्टर अम्बेदकर ने कवष ऐलुष को बताया है, यद्यपि, ऐलुष ऋग्वेद के दशम मंडल के कई मंत्रों के रचियता थे। ऐतरेय उपनिषद के अनुसार भी कावषेय लोग दासी-पुत्रों के वंशज थे, किन्तु, वे के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन करते थे। भरद्वाज-और-कत्यायन-श्रौत-सूत्रों संकेत है कि कई धर्मशास्त्र यज्ञ का अधिकार शूद्रों को भी देते थे। अश्विनीकुम को इन्द्र सोमपान का अधिकारी नहीं समझते थे, क्योंकि वे शूद्र थे। किन्तु, मह च्यवन ने इन्द्र से वैर ठानकर अश्विनीकुमारों को सोम अर्पित किया था।[3]

(वेदकालीन राजा सुदास शूद्र थे। वैदिक परम्परा के अनुसार वे राजर्षि विश्वा के संरक्षक थे। सुदास का राज्याभिषेक वशिष्ठ ने किया था और राजा सुदा अश्वमेध यज्ञ किया था, इसका भी उल्लेख है।)

(ऋग्वेद में तीन ही वर्ण हैं, शूद्र को चौथे वर्ण के रूप में वहाँ गिना नहीं गया; शतपथ-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-ब्राह्मण भी तीन ही वर्णों की स्थिति बतलाते हैं।)

---

[१] मंगलदेव शास्त्री।

[२] Who were the Shudras

[३] अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य थे। यह विचारणीय अवश्य है कि वे सोम अधिकारी क्यों नहीं समझे जाते थे। वैद्यक के क्रम में उन्हें कुछ घृणित क करने पड़ते होंगे। अतएव, वे शूद्र मान लिये गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

अवस्था में यह मानने का क्या आधार हो सकता है कि इन तीन वर्णों के सिवा, आर्यों के समाज में बहुत-से ऐसे भी लोग थे, जिन्हें आर्यों ने कोई नाम नहीं दिया था ? इससे अधिक युक्ति-युक्त सम्भावना यही हो सकती है कि शूद्र भी, किसी-न-किसी प्रकार के, द्विज थे और उनका स्थान, घट-बढ़कर, क्षत्रियों के ही समान था। इस सम्भावना को कुछ अतिरिक्त बल इस बात से भी मिलता है कि "कर्म-सादृश्य या स्वभाव-साम्य के आधार पर चातुर्वर्ण्य-परिधि के बाहर के (भारत में अथवा भारत के बाहर विद्यमान) राष्ट्र, गण या समूह मनुस्मृति, महाभारत तथा पुराणों में क्षत्रिय जाति के रूप में निर्दिष्ट हैं।"[1]

आर्य-वृत्त से बाहर रहनेवाले सुसभ्य लोग क्षत्रिय समझे जाते थे, तब फिर आर्य-समाज के भीतर बसनेवाले लोग, जिनकी गणना त्रिवर्ण में नहीं है, तिरस्कृत शूद्र की स्थिति में क्यों रहे होंगे ? शूद्रत्व का विधान ऋग्वेद-काल के बाद जाकर हुआ होगा। मनुस्मृति और महाभारत में वृषल उन्हें कहा गया है जो आर्य-वृत्त से बाहर थे जैसे शक, यवन, पारद, चीन, किरात, दारद, पौंड्र, चौंड्र आदि जातियों के लोग। वृषलों के द्वारा यज्ञ करवा कर उन्हें आर्य-वृत्त में सम्मिलित कर लेने की प्रथा महाभारत-काल में विद्यमान थी।[2] द्विज-वृत्त से बाहर के लोग, कर्मशुद्धि के द्वारा, द्विज-वृत्त में प्रवेश पा सकते थे और अधिकतर वे क्षत्रिय-जाति की दीर्घा में स्थान ग्रहण करते थे। इधर भारत में जब से यह आन्दोलन उठा है कि द्विजेतर जातियों के लोग भी द्विजत्व प्राप्त करें, तब से, प्रायः, जो भी लोग शूद्र जाति से उठकर द्विजत्व का दावा करते हैं, वे और किसी जाति में न जाकर, अपने को क्षत्रिय कहना ही अधिक पसन्द करते हैं।

प्रत्येक जाति को, सदा के लिए, किन्हीं खास धन्धों से बाँध देने का रिवाज वैदिक युग के बाद प्रचलित हुआ, जिसका स्पष्टतम उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है।

वरं स्वधर्मो विगुणो, न पारक्यः स्वनुष्ठितः,
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः।

अपना विगुण धर्म भी (यानी पैतृक परम्परा से प्राप्त कठिन धन्धा भी) दूसरों के धर्म से श्रेष्ठ है। दूसरों का सुविधाजनक धन्धा अपनाकर जीनेवाला मनुष्य जाति से च्युत हो जाता है। "किन्तु, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था में काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असम्भव नहीं था। इतिहास-पुराण में सैकड़ों उदाहरण वर्ण-परिवर्त्तन के दिये हुए मिलते हैं।"[3]

पुरूरवा क्षत्रिय राजा थे। गाधि उन्हीं के वंश में जनमे थे। किन्तु, गाधि की कन्या सत्यवती से परशुराम के पितामह ऋचीक ने विवाह किया। इस प्रकार, एक ही गाधि के पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय और जामाता ऋचीक ब्राह्मण कहे गये हैं।

---

[1] लक्ष्मण शास्त्री जोशी।

[2] महाभारत के शान्तिपर्व में इन्द्र ने मान्धाता को उपदेश दिया है कि "अपने राज्य के इन दस्युओं को वैदिक धर्म की दीक्षा दो और उनसे यज्ञ करवा लो।"

[3] मंगलदेव शास्त्री।

कृष्ण-द्वैपायन व्यास की माता सत्यवती धीवर-जाति की थी, किन्तु, व्यास क्ष और ब्राह्मण, सब के पूजनीय थे। इसी प्रकार, जाबाला का पुत्र सत्यकाम ब्रह्म का अधिकारी ब्राह्मण समझा गया, यद्यपि, जाबाला इतना भी नहीं जानती थी सत्यकाम किस पुरुष के संसर्ग से जनमा था। लक्ष्मण शास्त्री जोशी और डॉ अविनाशचन्द्र दत्त ने अपने ग्रन्थों में इस बात के अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं वेदों के आरम्भिक युग में सभी प्रकार की श्रेणियों से उठकर लोग ब्राह्मणत्व प्राप्त लेते थे। जाति-परिवर्तन का रिवाज पंजाब में, कदाचित्, महाभारत-काल में खूब रहा था, जिसकी निन्दा करते हुए कर्ण शल्य से कहता है कि "वाह्लीक देश में ब्राह्म ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नापित बनते हैं और फिर ये ही लोग ब्राह्मण बन जाते हैं

मनु ने प्रत्येक जाति के लिए निर्दिष्ट धन्धों को अटल बनाने का जो विधान कि वैसी कोई भी बात ऋग्वैदिक समाज में नहीं थी। ऋग्वेद के एक सूक्त (नवम मं ११२) का ऋषि कहता है, "मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता पि करती है।" ऋग्वेद में ही (मंडल १०, सूक्त १०२) ऋषि मौद्गल्य का उल्लेख जिन्होंने गाय चुरानेवाले दस्युओं का पीछा शस्त्र उठाकर किया था। परशुराम ब्राह् होकर भी भयानक योद्धा के रूप में प्रसिद्ध हैं। भृगुओं का उल्लेख ऋग्वेद में बनानेवाले बढ़ई के रूप में हुआ है। देवताओं में से ऋभुगण धातु-शिल्प और लक के काम में उस्ताद थे।

पता नहीं, बाद को शिल्प जाननेवाले लोगों की गणना, प्रायेण, शूद्रों में क्यों दी गयी। कदाचित्, द्विजों ने अपने आभिजात्य को अक्षुण्ण रखने की चिन्ता में शि कारों को अपनी पंक्ति में आने नहीं दिया। क्षत्रिय राजा और योद्धा होते थे त ब्राह्मण पुरोहित और मंत्री तथा राजगुरु। इन दोनों के बीच परस्पर-आश्रयी सम्ब था। वैश्य, दीर्घा में, दोनों से हीन अवश्य थे, किन्तु, कृषि और वाणिज्य पर एका पत्य होने के कारण राजा और ब्राह्मण, दोनों ही वैश्यों का सत्कार करते थे। कि इन तीनों जातियों के लोग शिल्प और कला-कौशल को हीन व्यवसाय एवं शूद्रों योग्य समझते थे। "जो वर्ग सुसंस्कृत थे, जिनकी बुद्धि का भरसक विकास हुआ वे साधारणतया औद्योगिक कलाओं से दूर ही रहे। इस बात का भारतीयों के बौद्धि और आर्थिक विकास की दृष्टि से विपरीत एवं अनिष्टकारी परिणाम हुआ।"[1]

डॉक्टर अविनाशचन्द्र दत्त और महामहोपाध्याय काणे, दोनों का मत है कि जि दस्युओं और दासों को जीतकर आर्यों ने अपने समाज में सम्मिलित कर लिया, वे शूद्र हुए। किन्तु, विजित समुदाय के लोग आर्यों के यहाँ क्षत्रिय वर्ण में भी सम्मि होते थे। अतएव, समझना चाहिये कि शूद्र, अधिकांश में, वे लोग हुए होंगे, जिन सांस्कृतिक धरातल निम्न कोटि का रहा होगा। इसी प्रकार, आर्यों के अपने वृत्त भीतर के जो द्विज वृषलत्व को प्राप्त होते थे, वे भी ऊपर से लुढ़क कर शूद्र-जाति

---

[1] वैदिक संस्कृति का विकास।

मिलते होंगे। विशेषतः, शूद्रों की संख्या उन लोगों के कारण बढ़ी है, जिनका जन्म नुलोम और प्रतिलोम, दोनों ही श्रेणियों के गर्हित विवाहों से होता रहा है।

उच्च वर्ण के पुरुषों का हीन वर्ण की स्त्रियों से विवाह अनुलोम विवाह कहलाता । और हीन वर्ण के पुरुषों का उच्च वर्ण की स्त्रियों से विवाह प्रतिलोम विवाह। तिलोम विवाह तो, आरम्भ से ही, गर्हित समझा जाता था, अनुलोम विवाह की पहले न्दा नहीं थी। किन्तु, आगे चलकर अनुलोम और प्रतिलोम, दोनों ही प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्ततियाँ वर्ण-संकर मानी जाने लगीं और वे, सब-की-सब, शूद्र-जाति में प्रविष्ट हो गयीं। "अनुलोम विवाह का प्रतिरोध बड़ा ही अर्वाचीन है। सम्राट् हर्षवर्धन (७वीं सदी) के काल तक असवर्ण विवाह के अनेक ऐतिहासिक उदाहरण पाये जाते हैं। जाति-भेद का आज के जैसा दृढ़ प्रभाव एक हजार वर्ष पहले नहीं था।"[1]

डॉक्टर अम्बेदकर की मान्यता है कि शूद्र पहले उपनयन और यज्ञ, दोनों के अधिकारी थे। किन्तु, "वेद तथा यज्ञ के बारे में शूद्र का अधिकार तैत्तिरीय-संहिता के समय में ही अस्वीकृत कर दिया गया था।" "शूद्र का धर्म द्विजों की सेवा करना है, यह मान्यता उसी समय प्रचलित हुई।" "ऐतरेय-ब्राह्मण में शूद्र को 'यथाकामप्रेष्य' और 'यथाकामवध्य' माना गया है।"[2] यथाकामप्रेष्य का अर्थ यह है कि द्विज शूद्र को जहाँ भी चाहते, भेज सकते थे, और यथाकामवध्य का अभिप्राय यह कि द्विज शूद्रों का जो भी ताड़न करना चाहते, कर सकते थे।

खैरियत सिर्फ इतनी हुई कि शूद्र कभी भी उस निस्सहायता में नहीं पड़े, जो पश्चिमी जगत् की दास-संस्था का लक्षण थी। धार्मिक दृष्टि में शूद्र द्विजों के अधीन थे, प्रायः, उनके दास भी थे, किन्तु, वे सामी अथवा यूरोपीय इतिहास के गुलाम नहीं थे। "शूद्र अपनी देहों, अपने श्रमों, अर्थोत्पादक आयुधों तथा भूम्यादि सम्पत्ति के स्वामी थे। शूद्रों की आजीविका के कई ऐसे स्वतन्त्र व्यवसाय थे, जो त्रैवर्णिकों के तनिक भी अधीन नहीं थे। शूद्र ही, प्रधान रूप से, पशुपालन, धातु-कर्म, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहार, कुम्हार और चर्मकार के काम तथा रसोई आदि हीन तथा उच्च व्यवसायों को अपनाते थे।"[3] शोषण तो भारत में शूद्रों का भी हुआ और खूब हुआ किन्तु, द्विजों के वे क्रीत दास कभी भी नहीं रहे। "आपस्तम्ब-धर्मसूत्र का कथन है कि यदि अपने लिए, अपनी भार्या अथवा अपने पुत्र के लिए आर्थिक कठिनाई महसूस हो तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु, दासों और मजदूरों का वेतन पहले देना चाहिये।"[4]

स्पष्ट ही, यह दास अरस्तू की कल्पना के दास से भिन्न है। भारत में दासों को भी अधिकार प्राप्त था कि वे अर्थ का संचय करें और चाहें तो द्रव्य देकर दासत्व से छूट कर आर्य बन जायँ। महाभारत तो इस बात की कल्पना में भी विश्वास करता है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि शूद्र दूसरों की सेवा पर ही अवलम्बित रहे। "वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पोपजीवित्व की परम्परागत वृत्ति के अभाव में शूद्र को

---

१. लक्ष्मण शास्त्री जोशी। २. वही। ३. वही। ४. वही।

शुश्रूषा पर निर्भर रहना चाहिये", ऐसा उल्लेख महाभारत में मिलता है। चतुराश्रम की दृष्टि से विचार करें तो महाभारत के शान्तिपर्व में यह भी कहा है कि संन्यास को छोड़कर शूद्र बाकी तीन आश्रमों में, विधिवत्, जीवन यापन सकता है।

जाति-प्रथा जनमी कैसे ?

ऋग्वेद में केवल त्रिवर्णों का उल्लेख है। जब शूद्रों का आविर्भाव हुआ, तो वैदिक समाज चार वर्णों का समाज माना जाने लगा। चातुर्वर्ण्य निन्दित संस्था थी, न आज हम उसकी निन्दा करते यदि वर्णाश्रम के भीतर से अगणित जातियों जन्म नहीं हो गया होता। गीता में भगवान ने बड़े ही सन्तोष से कहा है, "चातु मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः।" वर्णाश्रम का समर्थन स्वामी दयानन्द और महा गाँधी ने भी किया है। किन्तु, विलाप की बात इतनी ही है कि वर्णाश्रम के भी से अनेक जातियाँ निकल पड़ीं, ऊँच-नीच का भेद बेतहाशा बढ़ गया और मनुष्य के शूद्र ही नहीं, अन्त्यज और अस्पृश्य माना जाने लगा। आज हिन्दू-समाज का स बड़ा अभिशाप यह जाति की प्रथा है और बड़े-से-बड़े लोग जाति-प्रथा की, वाणी निन्दा करने पर भी, कर्म में उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। हिन्दू-धर्म अ अनुयायियों को चिन्तन की पूरी छूट देता है, इनकी वाणी पर भी वह कोई अं नहीं लगाता, किन्तु, आचरण की छूट देना उसके स्वभाव में नहीं है। हिन्दुओं के अपनी जाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध करने के लिए आदमी में, प्रायः, उसी साहस आवश्यकता होती है, जिस साहस से लोग विधर्मियों के यहाँ विवाह करते हैं। न में ईसाई और मुसलमान के साथ सहभोज करनेवाला हिन्दू-क्रान्तिकारी भी अपने जाकर वहाँ हिन्दू-हरिजनों के साथ बैठकर खाने का साहस नहीं कर सकता। भारत के कम्युनिस्ट सिक्ख भी दाढ़ी और बाल इसलिए नहीं मुँडाते कि ऐसा क से ग्रामों का वातावरण इनके विरुद्ध हो जायेगा।

जाति की शाखाओं-प्रशाखाओं की वृद्धि अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के का हुई, यह सत्य है ; किन्तु, आरम्भ में जाति-प्रथा की बात आर्यों को सूझी कैसे, समझ में नहीं आता है।

एक अनुमान यह है कि जाति-प्रथा का आश्रय आर्यों ने इसलिए लिया कि ज इस देश में आकर बस गये, तब यहाँ अनेक जातियों के लोग बस रहे थे और को ऐसा मालूम हुआ कि विभिन्न जातियों की रचना के द्वारा वे इन तमाम लोगों एक समाज में समेटकर बाँध सकते हैं। यहाँ द्रविड़ जाति के लोग थे, जो धर्म और सभ्यता-संस्कृति में बहुत ऊँचे थे। तब औष्ट्रिक और, शायद, नीग्रो जाति के लोग थे, जिनका अधिकांश जंगलों में अथवा गाँवों के बाहर या उनके किनारे बसता था और इन लोगों की सभ्यता भी अविकसित थी। और इन सबके ऊपर थे, जो अपने को श्रेष्ठ समझते थे और जिन्हें अपनी संस्कृति और मेधा पर था। फिर, बहुत-से ऐसे लोग भी रहे होंगे, जो इन जातियों के बीच वैवा

श्रण से उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार, उन दिनों भारत में ऐसे लोगों की भरमार थी, जिनमें से कुछ तो पूर्णरूप से सभ्य और कुछ केवल अर्ध-सभ्य, कुछ धनी और कुछ रीब थे ; कुछ ऐसे थे जो ऊँची बातें समझ सकते थे और कुछ ऐसे, जिन्हें ऊँची बातों कोई सरोकार नहीं था। साथ ही, इनमें से प्रत्येक जाति के पास अपनी कथा-हानियाँ, अपने देवी-देवता, अपने रस्म-रिवाज और अपने धर्म थे। इन्हीं नाना कार के लोगों को एक समाज में बाँधने का भारी काम आर्यों के आगे था, जिसे पूरा रने के लिए उन्होंने जाति-प्रथा का आश्रय लिया।

जातियों का जो रूप हम आज देखते हैं, वह आरम्भ में नहीं था। फिर भी, आज हम जो कुछ देखते हैं, उससे भी यह अन्दाजा लगाना कठिन नहीं है कि जातियाँ सिर्फ पेशों या व्यवसायों पर ही नहीं बनी हैं, उनके भीतर सभ्यता और संस्कृति के अनेक स्तर भी छिपे हुए हैं। ऊँची जाति की संस्कृति ऊँची और नीची जाति की संस्कृति नीची होती है, क्योंकि ऊँची जातिवालों के पुरखे कुछ अधिक धनी थे, उन्हें पढ़ने-लिखने और महीन काम करने का मौका कुछ अधिक मिला था। इसलिए, उनके खानदान में ऊँची संस्कृति की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार, एक ही जाति में कुछ गोत्रों के लोग अपने को औरों से अधिक ऊँचा समझते हैं। अछूत जातियों में भी कुछ लोग कम अछूत और कुछ लोग ज्यादा अछूत समझे जाते हैं। असल में, समाज के भीतर संस्कृतियों के जो ऊँचे-नीचे अनेक धरातल हैं, उन धरातलों पर भी जातियों का विभाजन देखा जा सकता है।

आर्यों ने जाति-प्रथा का आश्रय इसलिए लिया कि उन्हें इस देश के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर, अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था। असल में, जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर एक दीर्घा खड़ी कर दी, जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार, आसानी से बैठ सकते थे।

अगर भारत का आर्यीकरण आर्यों का ध्येय रहा हो, तो जाति की प्रथा ने इसमें उनकी भरपूर सहायता की होगी, क्योंकि जातिवाद का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, और पुरोहित की मंजूरी के बिना जाति बदलना कठिन होता होगा। जो लोग आर्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और उनके सामाजिक आचार आदि सीख लेते थे, जाति की दीर्घा में उनकी तरक्की आसानी से हो जाती थी। यह बात इससे भी सिद्ध है कि सुयोग्य द्रविड़, आरम्भ से ही, ब्राह्मण मान लिये गये थे, और आरम्भ से ही, उनमें से अनेक लोग केवल द्रविड़ों के ही नहीं, आर्यों के भी पुरोहित का काम करने लगे थे। जाति-प्रथा के चालू करने में आर्यों का यह उद्देश्य नहीं था कि वे द्रविड़, औष्ट्रिक अथवा नीग्रो समाज की छूत से बचें, बल्कि, यह कि इन तमाम जातियों के लोगों को वे आर्य-सभ्यता में रँगना चाहते थे और जो भी उनकी सभ्यता सीख लेता था, समाज में उसकी उन्नति आसानी से हो जाती थी। यह प्राचीन संस्कार आज भी हिन्दू समाज में अपना काम कर रहा है और हम आये दिन देखते हैं कि जो हीन

जातियाँ ऊपर उठना चाहती हैं, वे अखाद्य खाने और अपेय पीने की आदत अन्य कुरीतियों को छोड़कर जनेऊ धारण कर लेती हैं तथा कोशिश करने लग हैं कि समाज उनकी गिनती द्विजों में कर ले।

आरम्भ में जाति-परिवर्तन पर कड़ी रोक नहीं थी, इनके अनेक प्रमाण मिल श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि "जात-पाँत की ठीक जात-पाँत के स्थापना १०वीं शताब्दी ई० में आकर हुई है और, उसके बाद भी, मिश्रण पूरा बन्द नहीं हो गया। शहाबुद्दीन गौरी के समय तक हम हिन्दू जातों में बाहर के को सम्मिलित होते देखते हैं। सन् ११७८ ई० में गुजरात के नाबालिग राजा मू द्वितीय की माता से हारकर गोरी की मुस्लिम-सेना का बहुत बड़ा अंश कैद हो था। उन कैदियों की दाढ़ी-मूँछ मुँड़वा कर विजेताओं ने सरदारों को तो राज शामिल कर लिया था और साधारण सिपाहियों को कोलियों, खाँटों, बाढ़ियों मेड़ों में।"[1]

आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं कि "पुराने जमाने में इतना बँधेज नहीं कलि के पहले असवर्ण विवाह भी चलता था और शूद्र के हाथ से पक्वान्न भी लोग ग्रहण करते थे। कलियुग में यह निषिद्ध कैसे हुआ? शाम शास्त्री कहते हैं बौद्ध और जैन धर्म का वैराग्य-प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इसके कारण हैं। वर्ण के लोगों ने जीव-हिंसा छोड़ी, शूद्रों ने नहीं छोड़ी, इसलिए इनके हाथ का निषिद्ध हुआ। राजा राजेन्द्रलाल मित्र कहते हैं कि बौद्ध पड़ोसियों के अनुरो हिन्दुओं ने गोमांस खाना छोड़ा।"[2] जिन्होंने गोमांस खाना नहीं छोड़ा, समाज दीर्घा में वे नीचे लुढ़क गये।

जाति की प्रथा ने हिन्दू-समाज की सेवा इसी रूप में की है। इस प्रथा उद्देश्य ही यहाँ आनेवाली हर एक जाति को भारतीय संस्कृति के ढाँचे में कस था। मंगोल, यूनानी, शक, आभीर, युची और हूण तथा मुस्लिम आक्रमण से आनेवाले तुर्क, जाति-प्रथा के जन्म के बाद, जो भी लोग इस देश में आये, भारतीय समाज के अन्दर पचाने में सबसे अधिक योगदान इसी प्रथा ने दिया, क्यों इस देश में यह समस्या ही नहीं थी कि नवागन्तुक-जाति के लोग समाज में कहाँ रखे जायें। जातियों की श्रेणियाँ अनेक थीं और वे दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही अतएव नवागन्तुक लोगों में से हर एक को अपनी वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस् के अनुसार जाति के ढाँचे में उपयुक्त स्थान आसानी से मिल जाता था।

अब तो जाति-प्रथा बिलकुल निन्दित हो गयी है और वह टूटने भी लगी है, प्राचीन काल में उससे भारतीय संस्कृति को एक लाभ अवश्य हुआ। जब कोई अपने से भिन्न किसी अन्य जाति पर विजयी होती है, तब उसके सामने सवाल आता है कि हारी हुई जाति से क्या सलूक किया जाय। अमेरिका और आस्ट्रेलिया जब यह समस्या खड़ी हुई, तब गोरों ने कालों को चुन-चुन कर मार डाला और

---

[1] इतिहास-प्रवेश।

[2] भारतवर्ष में जाति-भेद।

ष्कंटक होकर उन देशों में बस गये । आज भी अफ्रीका में गोरे और काले का जो ाल पेश है, उसे सुलझाने का रास्ता गोरों का वही है, जिसे उन्होंने किसी समय ारिका और आस्ट्रेलिया में अपनाया था । लेकिन, आर्यों का मार्ग अहिंसा और प्रेम मार्ग था। उन्होंने अपने से भिन्न लोगों को मारा नहीं, बल्कि, जाति-प्रथा की शाल दीर्घा के किसी-न-किसी सोपान पर बिठाकर उन्हें अपने समाज में ला लिया ।

न्तर्जातीय विवाह

अन्तर्जातीय विवाह की बात सुनकर आज का औसत हिन्दू नाक-भौं सिकोड़ने गता है, किन्तु, प्राचीन काल में ऐसी बात नहीं थी । जो द्विज थे, उनके भीतर तो न्तर्जातीय विवाह चलता ही था, द्विज और शूद्र के बीच भी विवाह पर रोक नहीं । हाँ, ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्ततियों को समाज में कुछ निम्न पद दिया जाता । किन्तु, धर्मशास्त्र इन सन्तानों को समाज से बाहर नहीं समझते थे ।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न होनेवाली सन्तानों की जातियाँ क्या हों, स विषय में धर्मशास्त्र बराबर चिन्तन करते रहे एवं, समय-समय पर, जो निर्णय ास्त्रकारों ने दिये, उनसे भी जाति की संख्या में बहुत वृद्धि हुई । उदाहरणार्थ, धर्म-ास्त्रों के अनुसार, ब्राह्मण या क्षत्रिय पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न सन्तान नापित हलाती हैं; द्विज पिता और शूद्र माता की सन्तान उग्र कहलाती है; वैश्य-क्षत्रिय से त्पन्न पिता और शूद्र-वैश्य से उत्पन्न माता की सन्तान करन होती है; शूद्र पिता और ह्मण माता से उत्पन्न सन्तान शूनिक, निषाद या व्रात्य कहलाती है । महामहोपाध्याय ी वी०पी० काणे ने अपने "धर्मशास्त्रों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में तथा श्री लेन्द्रनाथ सेनगुप्त ने पश्चिमी बंगाल की १९५१ ई० वाली जनगणना-रिपोर्ट में नुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न होनेवाली जातियों का सुस्पष्ट वर्गीकरण या है । श्री सेनगुप्त ने २०९ जातियों की गणना की है, जो आर्येतर जातियाँ थीं र जिनका आर्य-समाज में प्रवेश प्रतिलोम या अनुलोम विवाहों के द्वारा हुआ है ।

यह अवस्था ई०पू० ५०० या उससे इधर की है । यदि इस काल से और पीछे लें तो महाभारत के समय विवाहों में और भी उदारता बरती जाती थी एवं आर्येतर ारियाँ आर्यों के गृह में पूर्ण आदर का स्थान, आसानी से प्राप्त कर लेती थीं । स्वयं ष्णद्वैपायन व्यास का जन्म सत्यवती या मत्स्यगन्धा की कुक्षि से हुआ था, जो धीवर ाति की कन्या थी । भगवान् कृष्ण की माता देवकी असुर वंश की (कंस की बहन) न्या थीं यद्यपि, कृष्ण के पिता वसुदेव आर्य-क्षत्रिय थे । भीम ने हिडिम्बा नाम की ाक्षसी (आर्येतर) से विवाह किया था । अर्जुन का एक ब्याह उलूपी से हुआ था, जो ाग-जाति की कन्या थी । श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा नागकन्या के गर्भ से उत्पन्न हातपस्वी, स्वाध्यायसम्पन्न और तपोवीर्यसम्भूत थे । जरत्कारु ऋषि का जब कहीं ब्याह हीं हो सका, तब नागराज वासुकि (आर्येतर) ने अपनी बहन का ब्याह उनके साथ र दिया । इसी दम्पति के पुत्र आस्तीक हुए, जिन्होंने जनमेजय से अनुरोध किया था

कि वे नागों का नाश न करें। नाग जाति की कन्याएँ अतीव रूपवती हुआ क और, बहुधा, आर्य उनसे प्रसन्नतापूर्वक ब्याह करते थे। आर्य-समाज में नागों से की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गयी थी कि ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान यास, पिता की जाति में मान ली जाती थी। जरत्कारु के समान मन्दपाल ऋषि अन्यत्र विवाह की सम्भावना न देखकर एक तिर्यक्‌कन्या (आर्येतर) से ब्याह कि जिसकी कुक्षि से चार पुत्र जनमे और चारों ब्रह्मवेत्ता हुए। और तो और, जि के नाम पर हमारा देश भारत कहलाता है, दुष्यन्त का वह यशस्वी पुत्र भरत भी आर्य-कन्या की नहीं, अपितु, अप्सरा मेनका की बेटी शकुन्तला की कोख से था। और भगवान बुद्ध के विषय में यह अनुमान है कि उनके वंश में भी आ मंगोल रक्त का मिश्रण था। इसी प्रकार, प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा उदयन की एक कुरु ब्राह्मण की बेटी थी। स्वयं भगवान रामचन्द्र की दो माताएँ कौशल्या और तो राजवंश की कन्याएँ थीं; किन्तु, सुमित्रा का जन्म ब्राह्मण पिता और कर्णी के संयोग से हुआ था। कर्णी जाति आर्य-वृत्त से बाहर थी। मनुस्मृति में उसकी झल्ल-मल्ल आदि जातियों के साथ व्रात्य क्षत्रियों में की गयी है। रामायण में उल्लेख है, "सुमित्रा वामदेवस्य बभूव कर्णीसुता।"

अनुलोम-क्रम से असवर्ण विवाह महाभारत-युग में खूब प्रचलित था। आर पौराणिक युग तक भी वह निन्दित नहीं हुआ था। निन्दा इसकी पिछले पौर काल में आकर होने लगी। पहले उच्च वर्णवालों को अपनी जाति से नीचे की ज में से कन्या लेने में कोई आपत्ति नहीं थी। जब आपत्ति की बात सामने आयी पहले उन्होंने शूद्र-कुल को छोड़ा और पीछे वैश्य एवं क्षत्रिय कुलों को भी।

नारी रत्न मानी जाती थी और रत्नों का संचय कुठौर से भी करना आ यहाँ सत्कर्म समझा जाता था। वेदों की कई ऋचाएँ नारियों की रचनाएँ हैं; कि यह कैसे हुआ कि नारी और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं रहा? इस स में विचार करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "जब आर्य लोग इ में आये होंगे तब, स्वभावतः ही, उनके साथ स्त्रियों की संख्या कम रही होगी, लिए; आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति नहीं रही होगी। इन आर्येतर जाति की स्त्रियों की संख्या ही अधिक हो उठी होगी और उनकी भी पतिकुल के यज्ञ-यागादि की अपेक्षा पितृकुल की पूजा-पद्धति की ओर ही रही होगी। इसलिए, वे स्वयं भी, शायद, यज्ञादि कृत्यों में विशेष उत्साह नहीं रही होंगी। इसलिए, अन्त में, स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल गया होगा।"[१]

आर्यों को अपने रक्त की पवित्रता को बनाये रखने का ध्यान अवश्य था, रक्त की पवित्रता बची नहीं। अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा आर्य और आर्येतर का काफी सम्मिश्रण हुआ और इसी सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप, आर्यों और द्र

---

[१] संस्कृति-संगम।

वांशिक भेद नि:शेष हो गया। नारियाँ सर्वत्र संस्कृति की पालिका समझी जाती। भारत में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय को भी सम्भव बना दिया।

ह्मण, शूद्र और नारी का स्थान

वैदिक युग में नारियों का बड़ा ही पूजनीय स्थान था। पत्नी के बिना आज भी न्दुओं का कोई धार्मिक संस्कार पूर्ण नहीं होता। किन्तु, वैदिक युग में तो स्त्रियाँ लदेवी मानी जाती थीं। विवाह के अवसर पर वधू को आशीर्वाद देने के लिए ग्वेद गें जो मंत्र है, उसमें वधू से कहा गया है कि सास, ससुर, देवर और ननद की म "साम्राज्ञी" बनो। स्त्रियाँ गृहस्वामिनी तो होती ही थीं, किन्तु, उनका कर्मक्षेत्र वल घरों तक ही सीमित नहीं था। "खास कर क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न, नारियों को द्ध में सारथ्य करने का भी अधिकार प्राप्त था।" वे असाधारण विचारिका और डिता भी होती थीं। वेद की कितनी ही ऋचाएँ नारियों की रची हुई हैं।

विवाह उन दिनों उभय पक्षों के माता-पिताओं की मर्जी से नहीं, वर-कन्या की पनी पसन्द से किये जाते थे। स्वयंवर की पद्धति प्रचलित थी और स्वयंवर-समारोह आयोजन केवल कन्या-पक्षवाले ही नहीं, वर-पक्षवाले भी करते थे। यही नहीं, त्युत, वर और कन्या विवाह से पूर्व भी परस्पर हेलमेल बढ़ा लेते थे। "विवाहपूर्व मी के लिए 'जार' शब्द प्रयुक्त होता था। 'जार' का अनैतिक अर्थ ऋग्वेद में नहीं या जाता; वहाँ उसका अर्थ केवल 'प्रणयी' है।"[1] दहेज का रिवाज वैदिक युग में था, किन्तु, दहेज, अक्सर, वरपक्ष ही को देना पड़ता था। "कतिपय-अविवाहित रियों के जीवन भर पिता के गृह में रहने के भी कुछ उदाहरण ऋग्वेद (२।१७।७) पाये जाते हैं।"[2]

पुत्र के अभाव में पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्री को प्राप्त होता था। त्नी की हैसियत से भी वह पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। "आपस्तम्ब-र्मसूत्र (२।२९।३) में कहा गया है कि पति तथा पत्नी, दोनों समान रूप से धन के वामी हैं।"[3] नारियों के प्रति अन्याय न हो, वे शोक न करें, न वे उदास होने पायें, ह उपदेश मनुस्मृति ने बार-बार दिया है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।

जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही विनाश हो ाता है। जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न नहीं रहतीं, उस कुल की सर्वदा उन्नति ोती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ नारियों की जा नहीं होती, वहाँ के सारे कर्म व्यर्थ हैं।

---

[1] वैदिक संस्कृति का विकास। [2] वही। [3] वही।

कि वे नागों का नाश न करें। नाग जाति की कन्याएँ अतीव रूपवती हुआ करती और, बहुधा, आर्य उनसे प्रसन्नतापूर्वक ब्याह करते थे। आर्य-समाज में नागों से वि की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गयी थी कि ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तान, अ यास, पिता की जाति में मान ली जाती थी। जरत्कारु के समान मन्दपाल ऋषि ने अन्यत्र विवाह की सम्भावना न देखकर एक तिर्यक्कन्या (आर्येतर) से ब्याह किया जिसकी कुक्षि से चार पुत्र जनमे और चारों ब्रह्मवेत्ता हुए। और तो और, जिस के नाम पर हमारा देश भारत कहलाता है, दुष्यन्त का वह यशस्वी पुत्र भरत भी कि आर्य-कन्या की नहीं, अपितु, अप्सरा मेनका की बेटी शकुन्तला की कोख से जन था। और भगवान बुद्ध के विषय में यह अनुमान है कि उनके वंश में भी आर्य मंगोल रक्त का मिश्रण था। इसी प्रकार, प्रसिद्ध क्षत्रिय राजा उदयन की एक रा कुरु ब्राह्मण की बेटी थी। स्वयं भगवान रामचन्द्र की दो माताएँ कौशल्या और कै तो राजवंश की कन्याएँ थीं; किन्तु, सुमित्रा का जन्म ब्राह्मण पिता और कर्णी मा के संयोग से हुआ था। कर्णी जाति आर्य-वृत्त से बाहर थी। मनुस्मृति में उसकी गण झल्ल-मल्ल आदि जातियों के साथ व्रात्य क्षत्रियों में की गयी है। रामायण में स उल्लेख है, "सुमित्रा वामदेवस्य बभूव कर्णीसुता।"

अनुलोम-क्रम से असवर्ण विवाह महाभारत-युग में खूब प्रचलित था। आरम्भ पौराणिक युग तक भी वह निन्दित नहीं हुआ था। निन्दा इसकी पिछले पौरा काल में आकर होने लगी। पहले उच्च वर्णवालों को अपनी जाति से नीचे की जाति में से कन्या लेने में कोई आपत्ति नहीं थी। जब आपत्ति की बात सामने आयी, त पहले उन्होंने शूद्र-कुल को छोड़ा और पीछे वैश्य एवं क्षत्रिय कुलों को भी।

नारी रत्न मानी जाती थी और रत्नों का संचय कुठौर से भी करना आर्यों यहाँ सत्कर्म समझा जाता था। वेदों की कई ऋचाएँ नारियों की रचनाएँ हैं; फिर यह कैसे हुआ कि नारी और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं रहा? इस सम्ब में विचार करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि "जब आर्य लोग इस दे में आये होंगे तब, स्वभावतः ही, उनके साथ स्त्रियों की संख्या कम रही होगी, इस लिए; आर्येतर जाति की कन्या ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति नहीं रही होगी। अन्त इन आर्येतर जाति की स्त्रियों की संख्या ही अधिक हो उठी होगी और उनकी प्रवृ भी पतिकुल के यज्ञ-यागादि की अपेक्षा पितृकुल की पूजा-पद्धति की ओर ही अधि रही होगी। इसलिए, वे स्वयं भी, शायद, यज्ञादि कृत्यों में विशेष उत्साहशी नहीं रही होंगी। इसलिए, अन्त में, स्त्री और शूद्र को एक श्रेणी में डाल दि गया होगा।"[1]

आर्यों को अपने रक्त की पवित्रता को बनाये रखने का ध्यान अवश्य था, कि रक्त की पवित्रता बची नहीं। अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा आर्य और आर्येतर र का काफी सम्मिश्रण हुआ और इसी सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप, आर्यों और द्रवि

---

[1] संस्कृति-संगम।

का वांशिक भेद निःशेष हो गया। नारियाँ सर्वत्र संस्कृति की पालिका समझी जाती हैं। भारत में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय को भी सम्भव बना दिया।

ब्राह्मण, शूद्र और नारी का स्थान

वैदिक युग में नारियों का बड़ा ही पूजनीय स्थान था। पत्नी के बिना आज भी हिन्दुओं का कोई धार्मिक संस्कार पूर्ण नहीं होता। किन्तु, वैदिक युग में तो स्त्रियाँ कुलदेवी मानी जाती थीं। विवाह के अवसर पर वधू को आशीर्वाद देने के लिए ऋग्वेद में जो मंत्र है, उसमें वधू से कहा गया है कि सास, ससुर, देवर और ननद की तुम "साम्राज्ञी" बनो। स्त्रियाँ गृहस्वामिनी तो होती ही थीं, किन्तु, उनका कर्मक्षेत्र केवल घरों तक ही सीमित नहीं था। "खास कर क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न, नारियों को युद्ध में सारथ्य करने का भी अधिकार प्राप्त था।" वे असाधारण विचारिका और पंडिता भी होती थीं। वेद की कितनी ही ऋचाएँ नारियों की रची हुई हैं।

विवाह उन दिनों उभय पक्षों के माता-पिताओं की मर्जी से नहीं, वर-कन्या की अपनी पसन्द से किये जाते थे। स्वयंवर की पद्धति प्रचलित थी और स्वयंवर-समारोह का आयोजन केवल कन्या-पक्षवाले ही नहीं, वर-पक्षवाले भी करते थे। यही नहीं, प्रत्युत, वर और कन्या विवाह से पूर्व भी परस्पर हेलमेल बढ़ा लेते थे। "विवाहपूर्व प्रेमी के लिए 'जार' शब्द प्रयुक्त होता था। 'जार' का अनैतिक अर्थ ऋग्वेद में नहीं पाया जाता; वहाँ उसका अर्थ केवल 'प्रणयी' है।"[1] दहेज का रिवाज वैदिक युग में भी था, किन्तु, दहेज, अक्सर, वरपक्ष ही को देना पड़ता था। "कतिपय-अविवाहित नारियों के जीवन भर पिता के गृह में रहने के भी कुछ उदाहरण ऋग्वेद (२।१७।७) में पाये जाते हैं।"[2]

पुत्र के अभाव में पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुत्री को प्राप्त होता था। पत्नी की हैसियत से भी वह पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। "आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।२९।३) में कहा गया है कि पति तथा पत्नी, दोनों समान रूप से धन के स्वामी हैं।"[3] नारियों के प्रति अन्याय न हो, वे शोक न करें, न वे उदास होने पायें, यह उपदेश मनुस्मृति ने बार-बार दिया है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।

जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न रहती हैं, उस कुल का शीघ्र ही विनाश हो जाता है। जिस कुल में नारियाँ शोक-मग्न नहीं रहतीं, उस कुल की सर्वदा उन्नति होती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ नारियों की पूजा नहीं होती, वहाँ के सारे कर्म व्यर्थ हैं।

---

[1] वैदिक संस्कृति का विकास। [2] वही। [3] वही।

वैदिक युग की इस शुभ परम्परा की अनुगूँज हम पुराणों में भी सुनते हैं ।

नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भववारिधौ ।

संसार-समुद्र में डूबते हुए नर का उद्धार नारी करती है ।

यः सदारः स विश्वास्यः तस्माद् दारा परा गतिः ।

जो सपत्नीक है, वही विश्वसनीय है । अतएव, पत्नी नर की परा गति होती है लगता है, आर्येतर पत्नियों की संख्या आर्यों के यहाँ बहुत अधिक हो गयी, त उन्होंने उनके लिए वेदों का पढ़ना रोक दिया ; तभी, कदाचित्, जनेऊ पहनने अधिकार भी उनका जाता रहा । इसी प्रकार, शूद्रों से भी यज्ञोपवीत धारण क और वेद पढ़ने का अधिकार तभी छिना होगा, जब शूद्र-समाज में अधिकता आर्येत लोगों की हो गयी होगी । सम्भव है, आर्य-समाज के आर्येतर सदस्यों में वेदों के प्र ईषत् विरक्ति भी रही हो अथवा वे अपने प्राग्वैदिक धर्म तथा रीति-रिवाज औ अभ्यास को अधिक महत्त्व देते रहे हों ।

धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों का स्थान इतना अप्रतिम और अमोघ माना गया है उसे देखकर आश्चर्य होता है । शास्त्रकार सब-के-सब ब्राह्मण ही होते थे, अतएव, अप स्थान को अमोघ बनाने की इच्छा उनमें प्रबल रही हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं धर्मशास्त्रों में, बार-बार, समाज को सावधान किया गया है कि वह ब्राह्मण को ए होने का अवसर नहीं दे ।

क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ।

कुपित ब्राह्मण सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश कर देता है ।

मन्युप्रहरणा विप्राः न विप्राः शस्त्रयोधिनः
निहन्युर्मन्युना विप्राः वज्रपाणिरिवासुरान् ।

ब्राह्मण शस्त्र उठाकर युद्ध नहीं करता ; उसका हथियार उसका क्रोध है । क्रो के द्वारा ब्राह्मण वैसा ही विनाश करता है, जैसा विनाश असुरों का इन्द्र करते हैं ।

किन्तु, ब्राह्मणों के शील, स्वभाव और चरित्र की कल्पना जिस ऊँचे धरातल प की गयी है, देखते हुए उनका सर्वोपरि अमोघ स्थान उचित ही था । ब्राह्मण समा के नैतिक प्रहरी थे । वे समाज के विवेक के प्रतिनिधि होते थे, अतएव, उनका धर्म कि, और तो और, स्वयं राजा भी कुमार्ग पर चले तो उसे टोक दें । स्पष्ट ही, य कर्त्तव्य वही पाल सकता है, जिसे किसी भी वस्तु का लोभ नहीं हो । निर्धनता ब्राह्मण का सर्वस्व बताकर शास्त्रों ने उसके धन-लोभ को समाप्त कर दिया । कि जैसे धन के लोभ से मनुष्य भ्रष्ट होता है, वैसे ही, वह कीर्त्ति के लोभ में पड़कर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो सकता है । अतएव, मनुस्मृति ने बार-बार ब्राह्मणों सावधान किया है कि वे कीर्त्ति के लोभ से दूर रहें, प्रत्युत उसे विष-तुल्य त्या मानें ।

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः ।

असम्मान पाने से तपस्या में वृद्धि होती है ; सम्मान पाने से तप का विना होता है ।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषादिव
अमृतस्यैव चाकांक्षेत् अवमानस्य सर्वदा।

सम्मान से ब्राह्मण उसी प्रकार भागे, जैसे मनुष्य जहर से भागता है और अपमान की कामना वह उसी प्रकार करे, जैसे लोग अमृत की कामना करते हैं।

अर्चितः पूजितो विप्रः दुग्ध गौरिव सीदति।

अर्थात् अर्चित-पूजित विप्र दुही हुई गौ के समान सूख जाता है।

ब्राह्मणों का जितना अधिक सत्कार था, उनके लिए उतने ही कठोर जीवन की भी व्यवस्था थी।

वैसे तो वर्णभेद का प्रसार बीज-क्षेत्र-विचार से ही हुआ, फिर भी, यह शंका शास्त्रों और पुराणों में मँडराती रही कि वर्ण का निर्धारण जन्म से होना चाहिये अथवा कर्म से।

जन्मना जायते शूद्रः संस्कराद् द्विज उच्यते।

इस श्लोकार्द्ध से यह ध्वनि ली जा सकती है कि वर्ण-निर्धारण कर्म से होना चाहिये। किन्तु, अत्रिसंहिता में यही बात ठीक विपरीत ढंग से कही गयी है।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कराद् द्विज उच्यते।

अर्थात् ब्राह्मण जन्म से ही ब्राह्मण होता है ; संस्कारों से उसे द्विजत्व की प्राप्ति होती है।

यह शंका महाभारतकार महामुनि व्यास के भी मन में थी, जिसे उन्होंने वनपर्व में वर्णित युद्धिष्ठिर-सर्प-सम्वाद में प्रत्यक्ष किया है। वहाँ सर्प ने युधिष्ठिर से पूछा है कि ब्राह्मण कौन है ? इस पर युधिष्ठिर कहते हैं कि ब्राह्मण वह है, जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव तथा तपस्या और दया, इन सद्गुणों का निवास हो। इसपर सर्प शंका करता है कि ये गुण तो शूद्र में भी हो सकते हैं, तब ब्राह्मण और शूद्र में अन्तर क्या है ?

शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर।

अर्थात् हे युधिष्ठिर, सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरता का अभाव, दया तथा अहिंसा आदि गुण तो शूद्रों में भी हो सकते हैं।

इसपर युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया है, वह किसी भी अभिनव मनुष्य का उत्तर हो सकता है। युधिष्ठिर ने कहा,

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते,
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत।

अर्थात् यदि शूद्र में सत्य आदि उपयुक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं, तो वह शूद्र शूद्र नहीं है, न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है। हे सर्प, जिसमें ये सत्य आदि लक्षण

मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणों का अभाव हो, उसे कहना चाहिये।

इस प्रसंग का अन्तिम निष्कर्ष सर्प घोषित करता है। वह खुले शब्दों में कह है कि यदि आचार से ही ब्राह्मण की परीक्षा की जाय, तब तो जब तक उ अनुसार कर्म न हों, जाति व्यर्थ ही है।

यह व्यास की आत्मा का स्वर है। यह जाति-प्रथा पर एक ऐसे मनीषी का है, जो अपने समय में देवता के समान पूज्य थे। क्या व्यास ने यह सम्मति इस दी कि शूद्रा माता से उत्पन्न होने के कारण शूद्रों के प्रति उनकी सहानुभूति थी अथवा इसलिए कि उस युग की भी मनीषा जाति-प्रथा को शंका से देखती थी स्थिति चाहे जो हो, किन्तु, बाद को बुद्ध ने जाति-प्रथा को जो चुनौती दी, उस बीज वैदिक चिन्तकों में भी मौजूद थे।

समन्वय की प्रक्रिया

भारत की अन्य जातियों ने आर्यों के द्वारा चलायी गयी जाति-प्रथा को स्वीक कर लिया, यह हमारे देश में संस्कृति-समन्वय की ओर पहला कदम था। इससे इत हुआ कि आर्य, द्रविड़, औष्ट्रिक और नीग्रो तथा सभी मंगोल खानदानों के लोग ए समाज के सदस्य हो गये, जिसका नाम आगे चलकर हिन्दू-समाज पड़ा। लेकि समन्वय की बातें यहीं नहीं रुकीं और न यही हुआ कि आर्यों ने अपनी संस्कृति बा लोगों पर लाद दी। आर्य अपनी संस्कृति का प्रचार करने को उत्सुक थे, यह ठीक लेकिन, सभी जातियों का जब एक समाज हो गया, तब सबकी आदतें, सबके रस्म रिवाज और सबके धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे तथा इस प्रभाव से आर्य नहीं बच सके। बल्कि, अचरज तो यह है कि आर्य जिन बातों पर खास तौर से ज देते थे, वे बातें पोथियों और पंडितों तक ही सीमित रह गयीं और विशाल जनता अधिकांश में, उन बातों को अपना लिया जो बातें द्रविड़-समाज में प्रचलित थीं अथ जो रिवाज अन्य आर्येतर जातियों के लोगों में चले आ रहे थे। हिन्दू-धर्म और हि संस्कृति का आज जो रूप है, उसके भीतर प्रधानता उन बातों की नहीं है, जो ऋग में लिखी मिलती हैं, बल्कि हमारे समाज की बहुत-सी रीतियाँ और हमारे धर्म बहुत-से अनुष्ठान ऐसे हैं; जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता। और जिन बातों उल्लेख वेदों में नहीं मिलता, उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्ये सभ्यता की देन हैं अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्येत दोनों संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का तो यहाँ त कहना है कि हिन्दू-संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आये हैं

---

१. "हिन्दुत्व ने कुछ गिने हुए सिद्धान्तों में कट्टरता से विश्वास करने के बदले, अत्य व्यापक उदारता का विकास किया। आदिवासी जनता के पास जो अनेक दे

[शेष पृष्ठ ८७ पर

विद्वानों ने हिन्दू-संस्कृति का अब तक जो अध्ययन किया है, उसमें उनका तरीका यह रहा है कि वे हिन्दू-धर्म के किसी एक रूप को लेकर पीछे की ओर चलने लगते हैं और जाते-जाते वेदों में उसका मूल खोजते हैं। किन्तु वेदों में हमारी संस्कृति के कई रूपों के केवल बीज ही मिलते हैं।[1] इन बीजों का विकास कैसे हुआ, यह कथा अधूरी रह जाय, अगर हम यह विश्वास करके नहीं चलें कि आर्य-संस्कृति के बहुत-से बीजों का विकास द्राविड़ संस्कृति के सम्पर्क में आकर हुआ।

केवल वेदों से हिन्दू-धर्म के विकास की सारी समस्याएँ हल नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, शिव की पूजा हिन्दू-समाज में जिस रूप में प्रचलित है, शिव का वह रूप वेद में नहीं मिलता। वेद के रुद्र-शिव प्रकृति के उग्र रूपों (आँधी, तूफान, बाढ़, बिजली, वज्रपात, महामारी, भूकम्प आदि) की कल्पना पर आधारित हैं। किन्तु, वे भाँग और धतूरा क्यों खाने लगे, गजाजिन और मुण्डमाल क्यों पहनने लगे, श्मशान की धूल अंगों में क्यों लगाने लगे, बैलों की सवारी क्यों करने लगे, साँपों को शरीर में क्यों लिपटाने लगे और उनके नाम पर लिंग की पूजा क्यों चल पड़ी, इन शंकाओं का समाधान हमें वेदों में नहीं मिलता। अतएव, शिव-भावना के विकास की कथा को समझने के लिए हमें आर्यों के समाज से बाहर द्राविड़ और औष्ट्रिक समाजों की ओर देखना ही पड़ता है। इसी प्रकार, उमा की, परमेश्वरी के रूप में, कल्पना उपनिषद् में मिलती है। सिर्फ यही समझ में नहीं आता कि उनके चामुण्डा, काली आदि कराल रूपों की कल्पना कैसे चल पड़ी। साँपों की पूजा, भूत, प्रेत और पिशाच का भय, नाना प्रकार के टोटके और ऐसी ही अन्य अनेक बातें हिन्दू-धर्म में कई हजार साल से चिपकी हुई हैं, जिनका मूल हम वेद में नहीं पाते तथा जिनके बारे में यह अनुमान है कि वे आर्येतर समाज से, प्रधानतः, औष्ट्रिक और नीग्रो संस्कृतियों से, आकर हिन्दू-धर्म में मिल गयी हैं।

आर्यों की जाति भावुक और प्रकृति-पूजक थी। उसके प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषण, सोम, ऊषा और पर्जन्य थे। यह कैसे हुआ कि वेदों के इन देवताओं की पूजा रुक गयी और हिन्दू-समाज के प्रधान देवता विष्णु और शिव बन बैठे तथा उनके नेतृत्व में तैंतीस करोड़ देवता आ जुटे? और जैसे ऋग्वेद के थोड़े-से देवताओं की

[पृष्ठ ८६ का शेष।]

देवता थे तथा बाद को जो देवता दूसरी जातियों के साथ आर्यवृत्त में बाहर से आये, उन सबको हिन्दुत्व ने स्वीकार कर लिया एवं कालक्रम में, उसने यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ये देवी-देवता हिन्दुत्व के ही हैं।"—डॉक्टर राधाकृष्णन् (हिन्दू विउ आव् लाइफ)

[1] "प्राचीन काल में भी दर्शन, धर्म और संस्कृति के मूल उपकरणों की खोज लोग वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की वाणी में करते थे और यह बात गलत भी नहीं थी, क्योंकि बाद को विकसित होनेवाली सारी भारतीय आध्यात्मिकता के बीज वेदों में उपलब्ध हैं।"—महर्षि अरविन्द

जगह पर हिन्दू-धर्म में तैंतीस करोड़ देवताओं को स्थान मिल गया, वैसे ही, हि समाज में ऐसे सैकड़ों व्रत, आचार, अनुष्ठान और रिवाज भी चल पड़े, जि उल्लेख वेदों में नहीं मिलता है। इसी प्रकार, वेदों के बाद, जब पुराणों का जम आया, तब पुराणों में अद्भुत कथाओं और कहानियों का अम्बार खड़ा हो गया। कथाएँ और कहानियाँ केवल आर्यों के मस्तिष्क की उपज नहीं थीं, बल्कि, द्रवि औष्ट्रिक एवं नीग्रो समाज में तथा बाद को आनेवाली मंगोल, यूनानी, शक, आ आदि जातियों के यहाँ दन्तकथाओं के रूप में जो कहानियाँ प्रचलित थीं, वे आर्यों साहित्य में भी घुस पड़ीं और ऋषियों ने, आवश्यकतानुसार, उन्हें जब-तब कुछ रूप भी दे दिया। इसका एक प्रमाण यह भी है कि पुराणों की बहुत ज्यादा कहानि ऐसी हैं जो, किसी-न-किसी रूप में, दक्षिण के प्राचीन साहित्य में भी मिलती हैं जिनका समावेश बौद्ध जातकों में भी पाया जाता है। अगर वनवासी लोगों दन्तकथाओं का संग्रह किया जाय तो उनसे भी इस अनुमान का समर्थन सकता है।

यह समन्वय कैसे सम्भव हुआ, इसका एक कारण तो यह है कि एक समाज सदस्य हो जाने पर लोगों के रीति-रिवाज, आपस में, एक-दूसरे पर प्रभाव डाले नहीं रह सकते। दूसरे, आर्यों का उद्देश्य अन्य जातियों के सम्पर्क से बचना नहीं, ब उनके समाज में आर्य-संस्कृति का प्रचार करना था और वे लोगों की अपनी सांस्कृ विरासत तो बिलकुल तोड़ना नहीं चाहते थे। अगर आर्य इस मिश्रण को रोकना भी च तो, शायद नहीं रोक सकते थे। क्योंकि शादी-विवाह के द्वारा जब आर्येतर स्त्रियाँ आ घर आने लगीं, तब उनके साथ कुछ पैतृक देवता और धार्मिक रिवाज भी आर्यों के में प्रवेश पा गये। इस प्रकार, आर्यों के यहाँ बहुत-से ऐसे रिवाज आ गये, जिन्हें हृदय से पसन्द नहीं करते थे। साथ ही, जब आर्य और द्रविड़ का संघर्ष मिट तब द्राविड़ राजे और पंडित भी आर्यों से एकाकार हो गये और उनके बीच कोई भेद नहीं रह गया। फिर जो आर्य स्त्रियाँ द्रविड़ों के घर गयीं, उनके साथ आर्य-सं भी द्रविड़ों के परिवारों में पहुँचे और, धीरे-धीरे आर्यों और द्रविड़ों के बीच वे प्रमुखता पाने लगीं जो उनकी भिन्नता को घटाने और उनकी एकता को बढ़ाने थीं। कालक्रम में, यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया कि सारे देश में आर्य और एक-से दिखायी देने लगे और उनका रस्म-रिवाज, इतिहास-पुराण, साहित्य संस्कृति, सब-कुछ एक हो गया। आर्य बहुत मात्रा में द्रविड़ और द्रविड़ बहुत मा आर्य हो गये। और इन्हीं दोनों जातियों ने मिलकर उस संस्कृति, जाति या समा निर्माण किया, जिसे हम हिन्दू-समाज कहते हैं। विदेशियों ने हमें जो हिन्दू नाम हमारी एकता उस नाम से भी बढ़ी है, क्योंकि अब हम संसार में आर्य या द्रविड़ बल्कि हिन्दू नामक एक ही नाम से विख्यात हैं। ऋग्वेद, केवल आर्यों का ही ग्रन्थ लेकिन उसके बाद उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों और दर्शनों का जो निर्माण हुआ, पीछे केवल आर्य ही नहीं, द्राविड़ संस्कृति का भी जबर्दस्त प्रभाव काम करता

और इस विशाल हिन्दू-साहित्य पर द्रविड़ों का भी उतना ही अधिकार है, जितना आर्यों का।

विन्ध्य के उत्तर को हम, सामान्यतः, आर्य एवं उसके दक्षिण को द्रविड़ देश कहते हैं। आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों के मिलने के बाद भी, आरम्भ में, हिन्दुत्व का नेतृत्व उत्तर भारत के हाथ रहा। लेकिन, बौद्ध युग के बाद से, विशेषतः, शंकराचार्य के समय से यह नेतृत्व, निश्चित रूप से, दक्षिण चला गया और तब से, हिन्दू-धर्म के प्रधान नेता, दार्शनिक और महात्मा, अधिकतर, दक्षिण में ही उत्पन्न होते रहे हैं।

भौगोलिक एकता का भाव

आरम्भ से ही हमारे तीर्थ देश के किसी एक भाग में नहीं, प्रत्युत, सर्वत्र स्थापित होने लगे। राम-कथा में प्रसिद्ध स्थान (अयोध्या, जनकपुर, पंचवटी, रामेश्वरम् आदि) उत्तर और दक्षिण, दोनों भागों की धार्मिक जनता के द्वारा पवित्र गिने जाने लगे। देश की एकता की अभिवृद्धि कृष्ण-कथा से अधिक राम-कथा को लेकर हुई है। रामेश्वरम्, बालाजी, विष्णुकांची आदि तीर्थ रामाश्रयी वैष्णवों के कारण विख्यात हुए और उत्तर की जनता उनकी ओर बहुत कुछ उसी भाव से देखने लगी, जैसे मुसलमान मक्का अथवा ईसाई जेरूसलेम की ओर देखते हैं। इसी प्रकार, दक्षिण की धार्मिक जनता भी राम और कृष्ण के उत्तरवाले लीलास्थलों पर जाकर अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए, आरम्भ से ही, उत्सुक रहती आयी है।

उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्रविड़ों का देश समझने का भाव यहाँ कभी भी नहीं पनपा, क्योंकि आर्य और द्रविड़ नाम से दो जातियों का विभेद यहाँ हुआ ही नहीं था। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिणवाला भूभाग यहाँ हमेशा से एक देश माना जाता रहा है। पुराणों में भारत की यह भौगोलिक एकता स्पष्ट रूप से वर्णित है :—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः। (वायुपुराण)

धर्म और संस्कृति के अधीन एकता प्राप्त करनेवाले इस देश के धार्मिक व्यक्ति आज भी स्नान के समय भारत की विभिन्न नदियों के नाम एक साथ लेते हैं :—

गंगा च यमुना चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदा सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधं कुरु।

यही नहीं, प्रत्युत, देश की मोक्षदायिका नगरियों की सूची में भी उत्तर और दक्षिण, दोनों भूभागों की नगरियाँ सम्मिलित हैं, जिनका धार्मिक भाव से नामोच्चार उत्तर और दक्षिण, दोनों भागों की जनता करती है :—

अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-कांची-अवन्तिका
पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैताः मोक्षदायिका।

इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। यह ठीक है कि, आवेश में आकर, प्रान्तों के क्षत्रिय राजे बहुधा अपनी स्वतन्त्र सत्ता

स्थापित करने को केन्द्रीय सत्ता से विद्रोह कर उठते थे। किन्तु, उससे अधिक सा यह बात है कि भारत के राजाओं के सामने चक्रवर्ती-पद पाने का उद्देश्य सबसे व था। चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने के लिए यहाँ अश्वमेध के घोड़े छोड़े जाते थे अथ अकारण पड़ोस के राजाओं से युद्ध ठान दिया जाता था। किन्तु, इन लड़ाइयों उद्देश्य केवल धन या प्रभुता की ही वृद्धि नहीं थी। कुछ यह कारण भी था कि सा भारत को एक राज्य के अधीन लाने की प्रेरणा देश के भूगोल की सबसे बड़ी शिक्ष थी। भारत की प्राकृतिक सीमा के बाहर जाकर अन्य देशों पर आक्रमण करने बात यहाँ के राजाओं को कभी सूझी ही नहीं। कदाचित् ऐसे आक्रमणों को यहाँ राजे व्यर्थ की हिंसा समझते थे और ऐसी हिंसा में वे पड़ना नहीं चाहते थे। किन्तु, दे के भीतर, अधिक-से-अधिक भागों को, अपनी अधीनता में लाकर बड़ी-से-बड़ी रा नीतिक एकता की सृष्टि करने का भाव हमारे सभी बड़े राजाओं में मौजूद रहा है।

तीर्थों को लेकर भारतवासी सारे देश में घूमते थे। शास्त्रार्थ अथवा नये विचार का प्रचार करने को सभी भागों के संस्कृत-विद्वान् सारे भारत में भ्रमण करते थे। सा देश के श्रेष्ठ साहित्य की भाषा संस्कृत थी। पीछे, जब आधुनिक देश-भाषाओं समय आया, तब भी विभिन्न भाषाओं में भारत की वही मानस-धारा प्रवाहित हों लगी, जो संस्कृत में बहती थी।

भारत का मन, हमेशा से, राष्ट्रीय कम, अन्तर्राष्ट्रीय अधिक रहा है। प्राची काल में यहाँ राष्ट्रीयता के जो भाव विकसित भी हुए, उनका आधार राजनीति अ अर्थशास्त्र नहीं, प्रत्युत, संस्कृति और धर्म थे। भारतवासी अपने राष्ट्र पर अभिमा तो करते थे, किन्तु, इस कारण नहीं कि वह बली और समृद्ध देश था, प्रत्युत, इसलि कि उसकी संस्कृति महान् थी, वह अध्यात्म की कर्मभूमि थी और देवता वहाँ देह ध कर प्रकट होने के लिए लालायित रहते थे। भारत-देश की इस विशिष्टता पर जितन गर्व उत्तरवासी भारतीयों को था, उतना ही गौरव और अभिमान दक्षिण वाले भी रख थे। उत्तर भारत में विरचित विष्णु पुराण में निम्नलिखित श्लोक आता है :—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराण २।३।२४

देवगण भी गान करते हैं कि भारतभूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्व और अपवर्ग-कल्प इस देश में देवता भी देवत्व को छोड़कर मनुष्य-योनि में जन्म लेन चाहते हैं।

श्रीमद्भागवत की रचना दक्षिण भारत में हुई थी, किन्तु, उस पुराण में भी यह भाव और भी अधिक विलक्षण रूप में दुहराया गया है।

अहो अमीषां किमकारिशोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

(श्रीमद्भागवत ५।१९।२१

देवता भारतीय मनुष्यों के सौभाग्य पर ईर्ष्या करते हुए कहते हैं, अहा! इन लोगों ने, न जाने, कौन-से ऐसे शुभ कर्म किये थे, जिनके फलस्वरूप इन्हें भारतभूमि के प्रांगण में मानव-जन्म सुलभ हुआ है! लगता है, भगवान स्वयं इनपर प्रसन्न हो गये थे। भगवान की सेवा के योग्य ऐसा जन्म पाने की इच्छा तो हमारी भी होती है।

और अत्यन्त प्राचीन काल में भगवान रामचन्द्र जी ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेष्ठतर माना था।

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मणः,
जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

(वाल्मीकि-रामायण)

समन्वय के कुछ दृष्टान्त

जैसा कि ऊपर संकेत किया चुका है, यह सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है कि हिन्दू-संस्कृति की कौन-सी बात द्राविड़ सभ्यता से आयी है और कौन-सी बात आर्य-सभ्यता से। किन्तु, बहुत-से लक्षण ऐसे मिलते हैं, जिनसे हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं। हमारे देवी-देवताओं में से अनेक ऐसे हैं, जिनके विकास में केवल आर्य ही नहीं, द्राविड़ एवं अन्य आर्येतर कल्पनाओं का भी हाथ है और हमारे व्रतों और अनुष्ठानों ,में से भी कइयों का विकास दोनों ही सभ्यताओं के योग से हुआ है। नीचे जो थोड़े-से उदाहरण दिये जा रहे हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

शैव धर्म

विद्वानों में यह मत प्रचलित हो गया है कि शैव धर्म प्राग्वैदिक अथवा द्राविड़ संस्कृति की देन है। ऐसा मानने का मुख्य कारण यह है कि ऋग्वेद में 'वाण की तरह चमकते आनेवाले' जिस रुद्र का उल्लेख है, वे रुद्र मरुतों के स्वामी हैं और उनका ठीक-ठीक मेल हिन्दुओं की आज की शैव भावना से नहीं बैठता। आर्य बड़े ही भावुक और प्रकृति-पूजक लोग थे। उन्होंने प्रकृति के प्रिय और रमणीय रूपों पर से जैसे ऊषा देवी की कल्पना की थी, उसी प्रकार, प्रकृति के भयानक रूपों पर से उन्होंने रुद्र की कल्पना उतारी। यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में रुद्र के साथ शिव और गिरीश का भी उल्लेख मिलता है और उसके बाद, श्वेताश्वतरोपनिषद् में रुद्र की कल्पना बहुत-कुछ ब्रह्म का स्थान ले लेती है। लेकिन, ये शैव भावना की सीढ़ियाँ हैं, जो आर्य ओर आर्येतर संस्कृतियों के मिलन के बाद बढ़ती गयी हैं। विचारने की मुख्य बात यह है कि महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई में योगस्थ शिव की मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में शिव की पूजा प्रचलित थी। फिर यह बात भी है कि शिवपुराण में यह स्पष्ट कथा आती है कि ऋषियों ने शिव पर क्रोध किया और शाप दे डाला, जिससे उनके लिंग के नौ टुकड़े हो गये। शिवपुराण के आधार पर ही हिन्दू शिव का प्रसाद खाना निषिद्ध मानते हैं। एक कथा यह भी है कि दक्ष-प्रजापति के यज्ञ में शिव को स्थान नहीं दिया गया था। इन सारी बातों से विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि आर्यों के यहाँ शिव-भावना की स्वीकृति, जरा विलम्ब से हुई है और, आरम्भ में, समाज के धार्मिक नेता इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि लोग

शिव को आर्य-देवता के रूप में ग्रहण करें। सम्भवतः, जब आर्यों का द्रविड़ों के विवाह-सम्बन्ध होने लगा, तब द्राविड़ स्त्रियों के साथ शिव की भावना आर्यों के में पहुँची और, यद्यपि, आर्य पंडित और पुरोहित इस भावना के प्रसार को उपायों से रोकना चाहते थे, तथापि गृहों में नारियों की प्रधानता होने के कारण, परिवारों में भी यह भावना बढ़ती ही गयी।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक "संस्कृति-संगम" में इस विषय बहुत ही विशद विवेचन किया है। स्कन्द-पुराण, लिंग-पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुरा शिव-पुराण और पद्म-पुराण से उद्धरण और हवाले देकर उन्होंने यह बतलाया है कि शिवजी अश्लील व्यभिचारियों की तरह आचरण करते थे, कैसे उनके आचारों देखकर मुनि-पत्नियाँ काम-मोहित हो जाती थीं और कैसे मुनिगण शिवजी पर कुपि होकर मुष्टि-प्रहार करते थे, उन्हें अपशब्द कहते और शाप देते थे।[1] इन उद्धरणों यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुनि-पत्नियों में शिव की पूजा के लिए अदम्य उत्सा था और मुनिगण, यद्यपि, अपनी पत्नियों को शिव से अलग रखना चाहते थे, कि इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। आचार्य जी लिखते हैं, "मुनि-पत्नि का शिव-पूजा के प्रति जो यह उत्साह दिखायी पड़ता है, उसका कारण पुराणों उनकी कामुकता बतायी गयी है। पर यही क्या वास्तविक व्याख्या है? संभवतः, दिनों मुनि-पत्नियाँ अधिकतर आर्येतर शूद्र-कुलोत्पन्ना थीं : इसीलिए, वे अपने

---

[1] "महादेव नग्न वेश में नवीन तापस का रूप धरकर मुनियों के तपोवन में आये (वामन-पुराण, ४३ अध्याय, ५१-६२ श्लोक)। मुनि-पत्नीगण ने देखकर घेर लिया (वही ६३-६९ श्लोक)। मुनिगण अपने ही आश्रम में मुनि-पत्नियों ऐसी अभव्य कामातुरता देखकर "मारो, मारो" कहकर काष्ठ-पाषाण आ लेकर दौड़ पड़े :—

क्षोभं विलोक्य मुनयः आश्रमे तु स्वयोषिताम्।
हन्यतामिति सम्भाष्य काष्ठपाषाणपाणयः॥

(वामन-पुराण ४३।७

यह कहकर उन्होंने शिव के भीषण ऊर्ध्व लिंग को निपातित किया :—

पातयन्तिस्म देवस्य लिंगमूर्ध्वं विभीषणम्। (वही ७

कूर्म-पुराण, उपरिभाग, अध्याय ३७, में कथा है कि पुरुष-वेषधारी शिव ना वेषधारी विष्णु को लेकर सहस्र-मुनिगण-सेवित देवदारु-वन में विचरण करने ल उन्हें देखकर मुनि-पत्नियाँ कामार्त्त होकर निर्लज्ज आचरण करने लगीं (१३- श्लोक)। मुनिगण मारे क्रोध के शिव की अतिशय निष्ठुर वाक्य से भर्त्सना क और अभिशाप देने लगे।

अतीव परुषं वाक्यं प्रोचुर्देवं कपर्दिनम्।
शेपुश्च शापैर्विविधैः मायया तस्य मोहिताः।" (कूर्म-पुराण ३७।

कुल-देवता की पूजा करने के लिए इतनी व्याकुल थीं। यही व्याख्या अधिक युक्तियुक्त जान पड़ती है।”

शिव-सम्बन्धी कल्पना के विकास में औष्ट्रिक और नीग्रो संस्कृतियों की भी कुछ देन है, यह मत डॉक्टर भण्डारकर का है। उनका कहना है कि रुद्र-शिव का सम्बन्ध, आरम्भ में, जंगली जातियों से भी रहा होगा या यह भी सम्भव है कि जंगली जातियों के बीच प्रचलित देवताओं के भी गुण, बाद को चलकर, रुद्र-शिव की कल्पना में आ मिले। शिव का भाँग-धतूरा खाना और श्मशान में वास करना तथा उनके साथ शव, सर्प, खप्पर एवं हाथी के चमड़े का सम्बन्ध, ये सारी बातें जंगली लोगों के ही संस्कारों से आयी होंगी, जो सर्पपूजक रहे होंगे तथा जिनके देवता भी जंगली गुणों से युक्त रहे होंगे। हाथी के चमड़े (गजाजिन) वाली बात खुद में एक प्रमाण है; क्योंकि हाथी मध्य एशिया में नहीं होते। फिर यह कैसे सम्भव है कि मध्य एशिया से आनेवाले आर्यों ने भारत में आने से पहले ही अपने देवता के लिए गजाजिन के लिबास की कल्पना कर ली? डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी एक और नया प्रमाण देते हैं कि द्रविड़ लोग भारत में रोमसागर (मेडिटेरेनियन) के पास से आये थे तथा, सम्भवतः, शिव एवं शक्ति-विषयक दार्शनिक भाव भी वे वहीं से साथ लाये थे। द्रविड़ों का मूल निवास कहीं एजियन समुद्र के पास पड़ता था, जहाँ सिंह पर चढ़नेवाली देवी-माता और साँढ़ पर चढ़नेवाले देव-पिता की कल्पना पहले से ही प्रचलित थी। यहाँ भी यह बात ध्यान में आती है कि महंजोदरो में जो शिव की मूर्ति और बैल की प्रतिमा मिली है, उसका सम्बन्ध द्रविड़ों की शिव-पूजा से अवश्य रहा होगा।

धर्मानन्द कोसम्बी ने शैव धर्म के विकास पर एक विचित्र दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका ख्याल है कि वेद के रुद्र और बाद के शिव एक ही हैं। हाँ, जब इन्द्र की पूजा प्रचलित थी, तब शिव नहीं पूजे जाते थे। यजुर्वेद के समय आते-आते स्थिति बहुत बदल गयी और एक ही रुद्र ब्राह्मणों को कई रूपों में दिखायी देने लगे। यजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता से उद्धरण देकर उन्होंने बताया है कि कैसे ऋषि रुद्र को “चोरों का, डाकुओं का, व्रात्यों का अधिपति” समझते थे। फिर आश्वलायन-गृह्य-सूत्र के उद्धरण देकर उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि रुद्र की प्रसन्नता के लिए उन दिनों शूलगाव-यज्ञ करने की भी प्रथा थी, जिसमें ऊँचे स्कन्धवाले बैलों की बलि दी जाती थी। उनका कहना है कि वेद-काल से लेकर शकों के समय तक महादेव अत्यन्त क्रूर देवता थे। महादेव से महेश्वर वे पाणिनि के समय बने और तभी से अहिंसक भी। श्वेताश्वतरोपनिषद् के बारे में उनका ख्याल है कि इसकी रचना श्वेताश्वतर नाम के किसी पंडित ने, शक राजाओं की प्रसन्नता के लिए, की थी, क्योंकि ये राजे कट्टर शैव थे।

सबसे विचित्र बात यह है कि लिंग-पूजा का आविर्भाव कोसम्बीजी जैन और बौद्ध श्रमणों की दुर्दान्त काम-भावना से मानते हैं। जब अविवाहित बच्चे श्रमण बनाये जाने लगे और स्त्रियों का स्पर्श तक उनके लिए वर्जित कर दिया गया, तब इन तरुण

संन्यासियों की प्रवृत्ति वाम-मार्ग की ओर हुई । "हस्तस्पर्शादि न कर केवल नग्न को देखने से कोई नियम-भंग नहीं होता था और काम-वासना, अंशतः, तृप्त भी जाती थी । इसी तरह से, यह लिंग-पूजा भी निकली होगी ।"[1]

किन्तु, यह निरी कपोल-कल्पना है । लिंग-पूजक तो आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश में वर्त्तमान थे, जिन्हें आर्यों ने "शिश्नेदेवा" कहा है । अवश्य ही, ये शिश्ने आर्येतर जाति के लोग रहे होंगे । हाँ, विविध आचार-बन्धनों से त्रस्त-श्रमणों को मार्ग की ओर जाने की प्रेरणा लिंग-पूजा से मिली हो, यह हो सकता है ।

शैव धर्म, अपने मूल में, प्राग्वैदिक धर्म है, यह अनुमान इससे भी बल प्राप्त है कि पुराणों में सर्वत्र शंकर असुरों के पक्षपाती बताये गये हैं । शंकर ही असुरों वरदान देकर उन्हें शक्तिशाली बनाते थे और तब असुर देवताओं को सताने लगते शिव के प्रति ऋषियों की अनिच्छा का यह स्मृति-शेष है । भगवान कृष्ण ने वाणासुर से युद्ध किया था, तब शंकर अपने पुत्र को साथ लेकर कृष्ण के विरुद्ध वाणासुर की ओर से लड़े थे । इस युद्ध में जब शंकर पराजित हो गये, तब उन्हों कृष्ण से प्रार्थनापूर्वक यह अनुरोध किया कि वे वाणासुर को प्राण-दान दे दें ।

काशी का राजा पौंड्रक नकली वासुदेव बना था । उसका छद्म फाड़ने को भ वान कृष्ण काशी गये और मारकर द्वारका लौट गये । तब पौंड्रक के पुत्र ने शंकर आराधना की और उनसे यह वरदान प्राप्त किया कि कृष्ण के वध के लिए कृत्या उत्पत्ति हो । कृत्या शंकर की जटा से उत्पन्न हुई और वह कृष्ण का ध्वंस करने द्वारका पहुँची । किन्तु, कृष्ण नें उसे मार डाला ।

वाणासुर के समान रावण को भी शंकर का वर प्राप्त था । प्रायः सारे-के- दैत्य पुराणों में शैव दिखाये गये हैं । इस परम्परा का कुछ-न-कुछ अर्थ होना चा और सबसे युक्तियुक्त अर्थ यही हो सकता है कि शंकर आर्येतर देवता थे और ऋषियों ने उन्हें अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया ।

कार्त्तिकेय और गणेश

शिव की पूजा के साथ द्रविड़ों का अधिक पुराना और निकट का सम्बन्ध है, अनुमान का एक आधार यह भी माना जा सकता है कि जबकि उत्तर भारत में, रूप से, शिव और उमा की ही पूजा प्रचलित है, तब दक्षिण में शिव के पूरे परि की पूजा का बड़ा ही व्यापक प्रचार है और शिव तथा उमा के साथ वहाँ कार्ति और गणेश की पूजा भी बड़े ही उत्साह से की जाती है । उत्तर भारत में कार्त्तिकेय मूर्त्ति विजया-दशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनायी जाती है और गणेश, अक शुभ और लाभ के बीच दुकानों पर विराजा करते हैं, लेकिन, दक्षिण के मन्दिरों में दं भाइयों की बड़ी-बड़ी विशाल मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं, जिनकी बनावट से वी टपकी पड़ती है । दक्षिण में कार्त्तिकेय-विषयक अनेक धार्मिक गाथाएँ भी प्रचलि

---

[1] भारतीय संस्कृति और अहिंसा ।

और उनके नाम भी अनेक हैं। कुमार, कार्त्तिकेय, षडानन, और स्कन्द के अलावा, कार्त्तिकेय का एक नाम सुब्रह्मण्यम् भी दक्षिण में खूब प्रचलित है।

पण्डितों का विचार है कि द्रविड़ों के यहाँ यौवन, युद्ध और वीरता के एक अलग देवता थे, जिनका नाम मुरुकन था। कालक्रम में यही शिवजी के पुत्र कुमार स्कन्द हो गये, जिनका चरित उत्तर के हिन्दू सिर्फ पुराणों में पढ़ते हैं, किन्तु, दक्षिण में जो उत्साह के साथ सत्कृत और पूजित होते आ रहे हैं।

गणेश की कल्पना भी आरम्भ में विघ्नेश के रूप में चली थी और जैसा कि मनुष्य की देह पर हाथी का मस्तक लगाये हुए उनका भयावह रूप है, वैसे ही, लोग उन्हें डरकर ही पूजते थे। कहते हैं, जब बौद्ध धर्म की महायान-शाखा का जन्म हुआ, ये विघ्नेश ज्यों-के-त्यों उसमें आ विराजे और प्रत्येक अनुष्ठान के आरम्भ में उनकी प्रसन्नता के लिए पूजा की जाने लगी। किन्तु धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने उन्हें विघ्नहर बना डाला और विघ्नहर-रूप में ही वे हमारे पौराणिक धर्म के साथ रहे हैं। गणेश के गज-मस्तक होने की बात पर विचार करें तब तो, स्पष्ट ही, गणेश की कल्पना शुद्ध भारतीय मालूम होगी, क्योंकि आर्य जिस देश से यहाँ आये थे, उस देश में हाथी होते ही नहीं हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि गणेश की ॐ-मयी व्याख्या सातवीं सदी में ानेश्वरजी ने की और महाराष्ट्र में शारदा गणेशजी की पत्नी मानी जाती हैं, यद्यपि, क्षिण भारत में गणेशजी को लोग अविवाहित और ब्रह्मचारी ही समझते हैं।

कार्त्तिकेय पर अब तक अनुसन्धान का कोई काम नहीं हुआ है। किन्तु, गणेश के म्बन्ध में डॉ० सम्पूर्णानन्दजी वर्मा ने जो विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि गणेश आर्येतर देवता हैं। यजुर्वेद में जो यह मंत्र आता है कि—**"गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे, प्रियाणान्त्वा प्रियपतिंहवामहे, निधीनान्त्वा निधिपतिं हवामहे बसोमम्र। आहमजानि गर्भधमात्वमं जासि गर्भधम्"** उसे देखकर पंडितों को भ्रम होता था कि, हो-न-हो, गणेश की कल्पना भी, बीज-रूप में, वेद में विद्यमान हो। किन्तु, अब यह बात निश्चित हो गयी है कि "इस मंत्र में अश्वमेध के अश्व को गणपति कहा गया है।" सम्पूर्णानन्द जी लिखते हैं, "वेदों में तो गणेशजी हमको नहीं मिले, परन्तु, पुराणों में उनकी सर्वत्र चर्चा है। तंत्रों में तो ऐसे-ऐसे विग्रह देखने को मिलते हैं, जिनके सामने चकित रह जाना पड़ता है। पुराणों की रचना गुप्त-काल के लगभग मानी जाती है। कुछ तंत्र-ग्रन्थ अथवा तंत्र-ग्रन्थों का कुछ अंश भी लगभग उतना ही पुराना है। जब पुराणों में गणेशजी की पूजा का विधान है तो ऐसा मानना चाहिये कि उनकी रचना के पहले यह पूजा स्थापित हो चुकी थी। अतः, ऐसा मानना अयुक्त नहीं जँचता कि विक्रम की ५वीं या ६ठी शती में भारत गणपति-पूजन परिचित था। बुद्धदेव के समय गणपति देव-सूची में थे या नहीं, यह कहना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि बुद्धदेव ने ब्रह्मा, इन्द्र तथा कुछ और देवों के नाम गिनाये हैं, परन्तु गणेश का नाम नहीं लिया है। तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का भी, प्रायः, वही समय था। उन्होंने भी गणेश का नाम नहीं लिया है। प्रश्न यह है कि

श्रुतिकाल के पीछे और पुराण-निर्माण काल के पहले, गणेशजी कहाँ से आकर श्रेणी में सम्मिलित हुए ?"

इसका उत्तर यह है कि "आर्य लोग गणेश का अस्तित्व नहीं जानते थे । पूर्व की ओर बढ़े (स्मरण रहे कि सम्पूर्णानन्दजी आर्यों का मूल-निवास सप्तसिन्धु मानते हैं) तो उनका अनार्यों से सम्पर्क बढ़ा और बहुत-से अनार्य आर्य-बस्तियों में गये । विजित पर तो विजेता की संस्कृति का रंग चढ़ा ही, परन्तु, विजेता भी नहीं बच सका । उसकी संस्कृति और आचार-विचार पर अनार्य प्रभाव पड़ कर विद्वानों के विरोध करते रहने पर भी निम्न कोटि के लोगों ने कुछ नये देव-देवियों अपनाया । ऐसे देव-देवी असभ्य जंगली लोगों में सर्वत्र पूज्य हैं । इनकी आकृति पक्षियों की-सी होती है या प्रेत-पिशाच जैसे मुँह और दाँत होते हैं । आज भी, से गाँवों में ऐसे ग्रामदेवों की मिट्टी या लकड़ी की मूर्त्तियाँ दीख पड़ती हैं । प्रायः, क्रूरकर्मा होते हैं । भाँति-भाँति की पूजा करके इनको शान्त किया जाता है । अपने पड़ोसियों से आर्यों ने नाग, गधे पर सवार होनेवाली शीतला और कुत्ते पर वाले भैरव के साथ मूषकवाहन, हस्तिमुख विनायक को भी लिया । विनायक कर्त्ता थे, अच्छे कामों में भी बाधा डालते थे । इसलिए, प्रत्येक शुभ कर्म के में उनको मनाना पड़ता था ।" जब आर्यों ने उन्हें ग्रहण किया, उनका रूप लगा और वे विघ्नेश से विघ्नहर बन गये । "जब देव हो गये तब उनकी पूजा पद्धति भी बनी, ढूँढ़-ढाँढ़ कर दो एक वेद-मन्त्र भी उनको दिये गये और उनके पर उपनिषद् की भी रचना की गयी ।" धीरे-धीरे, वे बौद्ध धर्म में भी प्रवेश और उसी के साथ भारत से बाहर भी पहुँचे, जहाँ उनके अत्यन्त विचित्र ध्यान लित हो गये । भारत में तो वे घर-घर पूजित हैं ही ।

गणपति कोई विरूप देवता थे, उन्हें इस देश की जनता पूजती थी । आर्यों ने तो इन देवता का प्रताप देखकर अथवा इनके भक्तों को प्रसन्न करने के लिए स्वीकार कर लिया । आचार्य क्षितिमोहन सेन पिछले भाव को ही प्रधान मानते उनका कहना है कि "अनेक अनार्य देवताओं को आर्य लोग स्वीकार नहीं कर आसपास के चतुर्दिक् प्रचलित प्रभाव को रोक रखना असम्भव है । प्राचीन आर्यगण समझ सके थे कि गणचित्त को प्रसन्न किये बिना (इस देश में) वास करना कठि इसलिए, सब यज्ञों में पहले गणदेवता गणपति की पूजा की व्यवस्था की गयी ।"[1]

शिव के आर्य और द्राविड़ नाम

शिव-सम्बन्धी आर्य और द्राविड़ नामों की तुलना से भी यह अनुमान पुष्ट है कि शिव की कल्पना, अधिकांशतः, आर्येतर कल्पना है और, मुख्यतः, वह संस्कार से आयी है । शिव का तमिल नाम सिवन् है, जिसका अर्थ लाल या होता है । प्राचीन काल में, शिव का एक आर्य नाम भी 'नील-लोहित' मिल जिसके भीतर शिव की गरल पानवाली कथा का संकेत है । रामचन्द्र दीक्षित

---

[1] संस्कृति-संगम ।

नुसार ऋग्वेद में भी रुद्र का अर्थ लाल ही होता है। इसी प्रकार, संस्कृत के शम्भु ब्द की तुलना तमिल के 'सेम्बू' शब्द से की जाती है, जिसका तमिल में अर्थ ताँबा लाल धातु होता है। इसलिए, अनुमान है कि द्रविड़ों के यहाँ जो ताम्रवर्ण के तापी देवता थे, वही आर्यों के मरुतस्वामी रुद्र से मिल गये तथा औष्ट्रिक जातिवालों पास जो जंगली देवता थे, उनके भी गुण, धीरे-धीरे, आकर रुद्र-शिव की भावना साथ जुड़ने लगे। इस तरह, बहुत काल के बीत जाने पर, शिव का रूप अत्यन्त कसित हो गया और उसके एक छोर पर तो आर्यों की रुद्र-सम्बन्धी दार्शनिक भावना तिष्ठित हुई, जिसे आर्य और द्रविड़, दोनों जातियों के शिष्ट वर्ग ने अपनाया और सरे छोर पर शिव के पारिवारिक रूप, उनके अवढर और दयालु होने की बात तथा नके योगेश्वर, भूतेश और फक्कड़ एवं अघोर होने की कथाएँ आ जुड़ीं, जिनसे जन-धारण को सन्तोष मिलने लगा।

ष्णव धर्म

शैव धर्म के भीतर द्राविड़ प्रभाव के जितने प्रमाण मिलते हैं, वैष्णव धर्म के तर उस प्रभाव के उतने अधिक प्रमाण नहीं मिलते। मगर, यहाँ भी कई शंकाएँ हैं, नका समाधान केवल यह मान लेने से नहीं हो सकता कि वैष्णव मत में, सब-का-व, सिर्फ, आर्यों का दिया हुआ है। उदाहरण के लिए, पंडितों को यह शंका होती है गौर वर्ण के आर्यों ने काले रंग के विष्णु की कल्पना क्यों की? यह ठीक है कि ग्वेद में विष्णु शब्द का उल्लेख मिलता है, मगर, वह 'सूर्य' के अर्थ में है।[1] तो जो वता सूर्य के समान उज्ज्वल और चमकीला था, वह काला कैसे बन गया? इससे बड़ी शंका की बात यह है कि गोपाल-कृष्ण का उल्लेख आर्यों के प्राचीन साहित्य में हीं मिलता और राधा का उल्लेख जो वैष्णव धर्म में इतनी पूजित हैं, वैष्णव मत अत्यन्त प्रमुख पुराण, श्रीमद्भागवत में नहीं है। अगर वैष्णव धर्म आर्यों का बिलकुल पना आविष्कार होता तो इस धर्म के सभी पहलुओं के बीज आरम्भ के आर्य-साहित्य वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि) में अवश्य मिलते। मगर, बात वैसी नहीं है। इसलिए, ह मानना अधिक युक्तिसंगत है कि यह धर्म भी भारत की प्राग्वैदिक धार्मिक रम्पराओं के योग से विकसित हुआ है।

वैष्णव धर्म को अवैदिक मानते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि जिस गु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसीने विष्णु के वक्षःस्थल पर भी पदाघात कया। "जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक गु के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ। इन्द्र के बाद होने कारण ही विष्णु का नाम 'उपेन्द्र इन्द्रावरजः' (अमरकोष) पड़ा। इन दोनों ही नामों ा अर्थ है इन्द्र का परवर्त्ती।" इस प्रसंग में, इस बात पर भी ध्यान गये बिना नहीं रह

---

[1] द्वारकापुरी का कृष्ण-मन्दिर, प्राचीन काल में, सूर्य-मन्दिर था, यह बात लेखक ने द्वारका में बसनेवाले पंडितों से सुनी है।

सकता कि भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि उन्होंने इन्द्र-पूज विरोध किया था और इन्द्र के नाम पर अर्पित पकवानों को वे स्वयं ही खा गये

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु में आकर द्रविड़ों के एक आकाश-देव से मिल गये, जिनका रंग, द्रविड़ों के अनु आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तमिल भाषा में आकाश को 'विन् कहते हैं, जिसका विष्णु शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।

डॉ० भण्डारकर के अनुसार प्राचीन काल में वैष्णव धर्म, मुख्यतः, तीन तत्त्व योग से उत्पन्न हुआ था। पहला तत्त्व तो यह विष्णु नाम ही है, जिसका वेद में उल्ले सूर्य के अर्थ में मिलता है। दूसरा तत्त्व नारायण-धर्म का है, जिसका विवरण महाभ के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में है। और तीसरा तत्त्व वासुदेव-मत का यह वासुदेव-मत वसुदेव नामक एक ऐतिहासिक पुरुष (समय ६०० ई०) के इर्द विकसित हुआ था।[1] इन्हीं तीन तत्त्वों ने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न कि लेकिन, उसमें कृष्ण के ग्वाल रूप की कल्पना और राधा के साथ उनके प्रेम की बाद में आयी और ये कथाएँ, शायद, आर्येतर जातियों में प्रचलित थीं।

बहुत प्राचीन काल में नर नामक अपने मित्र के साथ नारायण ऋषि बदरी में रहते थे और नारद उन दोनों की सेवा करते थे। इसी कारण बदरीनाथ को नार क्षेत्र भी कहते हैं। नारद ने यहीं पांचरात्र-मार्ग का प्रवर्त्तन किया, जिसके आ नारायण ऋषि थे। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव धर्म हुआ, जिसमें वासुदेव संकर्षण, लक्ष्मी और नारायण, राम और सीता तथा कृष्ण और राधा की पूजा जाती है। पुराणों में यह भी कथा आयी है कि जब सहस्रकवच नामक दैत्य देव को बहुत त्रास देने लगा, तब उसका वध करने के लिए स्वयं विष्णु ही नारायण नर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। द्वापर में नारायण तो कृष्ण हुए और नर अर्जुन।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान (उत्तर भारत की सन्त-परम्परा में) है कि उ षदों के युग में जो यज्ञ-विरोधी आन्दोलन उठे, उनमें सबसे अधिक प्रचार भक्ति-सा का था। "उपनिषदों में कहा गया मिलता है कि आत्मा की उपलब्धि किसी ब को नहीं होती और न वह उपदेशों से, अध्ययन से अथवा मेधा से ही साध्य है। वह किसी को स्वयं वरण कर लेता है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है और उसी के वह अपने स्वरूप को प्रकट वा प्रदर्शित भी करता है। अतएव, आत्मा द्वारा वरण जाने के पूर्व उसे प्रार्थना या सेवा से प्रसन्न कर लेना परमावश्यक समझा गया। इस प्रकार, एकमात्र हरि में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करनेवाली साधना का 'ऐकान्तिक धर्म' के रूप में उदय हुआ। इसकी पूजन-पद्धति 'सात्वत-विधि' कह लगी, जिसके प्रधान अंग भक्ति, आत्म-समर्पण एवं अहिंसा के भाव थे और जिसे कर प्रचार करनेवालों में वासुदेव कृष्ण-जैसे महान् व्यक्ति की भी गणना की जाती

---

[1] वसुदेव को ई० ६०० के आसपास मानना ठीक नहीं है। जो काल महाभा युद्ध का माना जाता है, वही काल वसुदेव का भी मानना होगा।

स कारण, आगे चलकर इसका नाम भी 'वासुदेव-धर्म' पड़ गया और हरि का स्थान, मशः, वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। अन्त में, विक्रम सम्वत् के पूर्व, तीसरी ताब्दी तक इसकी विधि 'पांचरात्र-पद्धति' में परिणत हो गयी और इसका नाम ागवत-धर्म' के रूप में परिवर्तित हो गया।''

ृष्ण' नाम की प्राचीनता

कृष्ण नाम के साथ गाय, चरवाहे, खेती और किसानी की कथाएँ देखकर तथा यह खकर कि उनके भाई बलराम हल लेकर चलते हैं, पश्चिम के विद्वानों ने यह अनुमान गाया था कि पहले कृष्ण फसल और वनस्पति के देवता रहे होंगे। मगर, भारतीय डित इस अनुमान को नहीं मानते। कृष्ण नाम बहुत प्राचीन है। पाणिनि (७वीं दी ई०पू०) ने एक जगह कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख धार्मिक नेता के रूप में किया ।[१] मेगस्थनीज (ई०पू० ३री सदी) कहता है कि मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण ी पूजा होती थी। महानारायण उपनिषद् (ई०पू० २००) का प्रमाण है कि कृष्ण स समय विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। पतंजलि (ई०पू० १५० के लगभग) भाष्य में भी वासुदेव का उल्लेख आर्य-जाति के देवता के रूप में मिलता है। सनगर-शिलालेख (ई०पू० तृतीय या द्वितीय सदी) से मालूम होता है कि भागचन्द्र हाराज के समय हेलियोदोर ने वासुदेव की पूजा के लिए, गरुड़ध्वज के रूप में, उस म्भ की स्थापना की थी। इस लेख में वासुदेव को देवों का देव कहा गया है।

कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसमें सन्देह करने की कोई गुञ्जाइश नहीं दीखती और अवतार के रूप में पूजित भी बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। उनका सम्बन्ध फसल र गाय से था, यह भी विदित बात है। प्राचीन ग्रन्थों में उनके साथ जो प्रेम की थाएँ नहीं मिलतीं, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हलके जीव हीं, बल्कि देश और धर्म के बहुत बड़े नेता थे। अवश्य ही, गोपाल-लीला, रास और र-हरण की कथाएँ तथा उनका रसिक-रूप बाद के भ्रान्त कवियों और आचारच्युत क्तों की कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन लोगों ने कृष्ण-चरित में जबर्दस्ती ठूँस दिया। ''शकों ह्रास-काल में जिस प्रकार, महादेव का रूपान्तर लिंग में हुआ, उसी प्रकार, गुप्तों के वनति-काल में वासुदेव का रूपान्तर व्यभिचारी गोपाल में हुआ।'' (कोसम्बी)।

प्राचीनतम भारतीय साहित्य और शिल्प में श्रीकृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं का माण नहीं मिलता, इस विषय की विशद विवेचना करते हुए पं० हजारीप्रसादजी वेदी ने अपनी पुस्तक ''मध्यकालीन धर्म-साधना'' में लिखा है कि ''श्री कृष्णावतार दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं। सरे में वे गोपाल हैं, गोपी-जन-वल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान-शालि-वनमालि' हैं। थम रूप का पता बहुत पुराने ग्रन्थों से चल जाता है। पर, दूसरा रूप अपेक्षाकृत

''वासुदेवार्जुनाभ्याम् वुन्'' (४-३-९८)। इस सूत्र का अर्थ यह है कि वासुदेव में जिनकी भक्ति है, उन्हें 'वासुदेवक' और अर्जुन में जिनकी भक्ति है, उन्हें 'अर्जुनक' कहते हैं।

नवीन है। धीरे-धीरे वह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया और पहला रूप गौण। ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपाल-कृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक बताया है—'ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः।' का ने 'गोपवेषस्य विष्णोः' की चर्चा की है। महाभारत के सभापर्व (६८वें अध्या द्रौपदी ने वस्त्राकर्षण के समय भगवान् को जिन अनेक नामों से पुकारा, उनमें द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय' भी है। किन्तु, कुछ लोग इस अंश को मानते हैं। परन्तु, हरिवंश में तो कृष्ण गोपाल की चर्चा में लगभग बीस अध्याय गये हैं। तब भी, श्रीकृष्ण के दुष्ट-दमन-रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। पुराण में भी लगभग ये ही बातें हैं। भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों को जोड़ा है।" आगे द्विवेदीजी कहते हैं, "मूर्त्ति-शिल्प में भी आरम्भ में श्रृङ्गार-लीला उतना प्राधान्य नहीं दीखता। कहा जाता है कि ईस्वी सन् की दूसरी से पहले की कोई भी मूर्त्ति या उत्कीर्ण भित्ति-चित्र श्रीकृष्ण-चरित से सम्बद्ध मिला है। मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है, जो सम्पूर्ण है। चौथी शताब्दी से श्रीकृष्णलीला की प्रमुख कथाएँ बहुत लोकप्रिय हो ग ऐसा जान पड़ता है। मन्सोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, गोवर्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकट-भंग, धेनुक-वध और कालिय-दमन की उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इसका निर्माण-काल ईस्वी-सन् की चौ पाँचवीं शताब्दी होगा। संम्भवतः, चौथी शताब्दी की एक और गोवर्धनधारी मथुरा में प्राप्त हुई है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्त्ति है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्धन-धारण श्रीकृष्ण-चरित्र की सर्वप्रिय लीला दिनों रही होगी। इस प्रकार, शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से यही चलता है कि, आरम्भ में, श्रीकृष्ण की वीर-चर्चा ही प्रधान थी।"

कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख पहले छान्दोग्य उपनिषद् में और तब महाभा मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों में कृष्ण के रसिक रूप की चर्चा है ही नहीं।

'राधा' नाम पर विचार

वैष्णवों के तीन प्रसिद्ध पुराण हरिवंश, विष्णुपुराण और भागवत हैं। इनमें से किसी में भी राधा नाम का उल्लेख नहीं है। भागवत में कथा आयी कृष्ण ने सभी गोपियों को छोड़कर एक गोपी से अलग मुलाकात की। बस, इसे ले उड़े और उसी गोपी को राधा मानने लगे। पंडितों का यह भी विचार कृष्ण-चरित के साथ बाल-लीला की कथा पहले शुरू हुई, राधा तथा अन्य गोपि साथ उनकी प्रेम-लीला की कहानियाँ बहुत बाद में आयी हैं।"[१]

---

[१] "विष्णु-पुराण में गोपियों के प्रेम की चर्चा है, पर भागवत पुराण में वह विस्तृत रूप में है। रास-पंचाध्यायी भागवत का सार कहा जाता है। इस में राधा का नाम नहीं आता। गाथा-सप्तशती में, पंचतंत्र में और ध्वन्या 'राधा' का नाम आया है, पर, कृष्ण की सर्वाधिक प्रिया गोपी के रूप में

[शेष पृष्ठ १०१

राधा का नाम कैसे चला, यह गहरे विवाद का विषय है। नारद-पांच-रात्र-संहिता लिखा है कि एक ही भगवान पुरुष और स्त्री रूप में प्रकट होते हैं। सम्भव है, इस र्शनिक कल्पना से ही बाद के कवियों ने, जैसे शिव के साथ पार्वती और विष्णु के ाथ लक्ष्मी हैं, वैसे ही, कृष्ण के साथ एक जोड़ी मिलाने के लिए राधा की कल्पना कर ी हो। लेकिन, यह राधा नाम आया कहाँ से? और फिर यह क्यों हुआ कि बालक ष्ण के साथ युवती राधा की अनमेल जोड़ी मिला दी गयी? भागवत सम्प्रदाय और ाध्व सम्प्रदाय राधा को नहीं मानते हैं। असम में भी वैष्णवों के बीच राधा की पूजा ा चलन नहीं है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "मध्यकालीन धर्म-साधना" में यह ी लिखा है कि प्रेम-विलास और भक्ति-रत्नाकर के अनुसार "नित्यानन्द प्रभु की ोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गयीं, तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि ीकृष्ण के साथ राधा नाम की मूर्त्ति की कहीं पूजा नहीं होती थी। घर लौटकर न्होंने नयनभास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्त्तियाँ बनवायीं और उन्हें वृन्दावन भजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्त्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गयीं ौर तब से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी।"

दूसरी ओर, जो भी सम्प्रदाय भागवत के बादवाले पुराणों को मानते हैं, वे राधा को ी स्वीकार करते हैं। इसलिए, यह बहुत सम्भव दीखता है कि आर्यों के वैष्णव धर्म में ष्ण की बाल-लीला और राधा से उनके प्रेम की कल्पना किसी आर्येतर जाति से ायी हो। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि बाल-लीला की कल्पना आभीर-जाति किसी बाल-देवता से मिली है और राधा भी, सम्भवतः, दक्षिण के किसी आर्येतर माज की कोई प्रेम की देवी रही होंगी। कालक्रम में ये दोनों कथाएँ वासुदेव धर्म से ा मिलीं और धीरे-धीरे, बदल कर कृष्ण का वह रूप हो गया, जिसे हम आज देखते । इस अनुमान को एक समर्थन तो इस बात से भी मिलना चाहिए कि राधावाद के चारक निम्बार्क महाराज दक्षिण के ही थे और उत्तर भारत में फैलने के पहले कृष्ण-क्ति के सिलसिले में राधा-भक्ति का भी प्रचार दक्षिण में ही हुआ, जिसके प्रचारक ालवार भक्त थे। दक्षिण की भगतिन ओन्दाल, जो मीरा से बहुत पहले हुईं, अपने-ापको राधा मानती थीं। इसके विपरीत, डॉ० फरकोहार यह कहते हैं कि "कोई ाधार नहीं मिलने से अनुमान यही होता है कि राधा की कल्पना भागवत की खास ोपी को लेकर वृन्दावन में उठी और वहीं से वह सर्वत्र फैली है।"

पृष्ठ १०० का शेष]
नाम भागवतोत्तर साहित्य में ही अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में राधा प्रमुख गोपी हैं। रा० ब० योगेशचन्द्र राय का अनुमान है कि ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण १६वीं शताब्दी में पश्चिम बंगाल में लिखा गया और उसके लेखक का गीतगोविन्द से परिचय था। पद्म-पुराण में वृन्दावन की नित्य-लीला की चर्चा है, राधा का नाम आता है, पर यह पुराण बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता और जिस अंश में राधा-कृष्ण के नित्यविहार की चर्चा है, वह तो निस्संदेह परवर्ती है।"

—हजारी प्रसाद द्विवेदी (मध्यकालीन धर्म-साधना।)

राम-कथा की प्राचीनता

राम-कथा का मूल स्रोत क्या है तथा यह कथा कितनी पुरानी है, इस प्रश्न सम्यक् समाधान अभी नहीं हो पाया है। इतना सत्य है कि बुद्ध और महावी समय जनता में राम के प्रति अत्यन्त आदर का भाव था, जिसका प्रमाण यह है जातकों के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्व जन्म में एक बार राम होकर भी जनमे थे जैन-ग्रन्थों में तिरसठ महापुरुषों में राम और लक्ष्मण की भी गिनती की जाती इससे यह अनुमान भी निकलता है कि राम, बुद्ध और महावीर, दोनों के बहुत प ही समाज में आदृत रहे होंगे। विचित्रता की बात यह है कि वेद में राम-कथा के पात्रों का उल्लेख है। इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, कैकेयी, जनक और इनके नाम वेद और वैदिक साहित्य में अनेक बार आये हैं, किन्तु, विद्वानों ने अ यह स्वीकार नहीं किया है कि ये नाम, सचमुच, राम-कथा के पात्रों के ही नाम विशेषतः, वैदिक सीता के सम्बन्ध में यह समझा जाता है कि यह शब्द लांगल- (खेत में हल से बनायी हुई रेखा) का पर्याय है, इसीलिए, उसे इन्द्र-पत्नी और प पत्नी भी कहते थे।[1] सीता खेत की सिरोर (हल-रेखा)[2] का नाम था, इसका स महाभारत से भी होता है, जहाँ द्रोणपर्व जयद्रथ-वध के अन्तर्गत ध्वजवर्णन न अध्याय में (७.१०५) कृषि की अधिष्ठात्री देवी, सब चीजों को उत्पन्न करने सीता का उल्लेख हुआ है। हरिवंश के भी द्वितीय भाग में दुर्गा की एक लम्बी में कहा गया है कि "तू कृषकों के लिए सीता है तथा प्राणियों के लिए धर (कर्षुकानां च सीतेति भूतानां धरणीति च)। इससे पंडितों ने यह अनुमान लगा कि राम-कथा की उत्पत्ति के पूर्व ही, सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वै साहित्य में पूजित हो चुकी थीं। पीछे, जब अयोनिजा सीता की कल्पना की लगी, तब उस पर वैदिक सीता का प्रभाव, स्वाभाविक रूप से, पड़ गया।

राम-कथा का उद्गम खोजते-खोजते पंडितों ने एक अनुमान लगाया है कि वे जो सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी थीं, वे ही, बाद में, अयोनिजा कन्या बन गयीं, जनक ने हल चलाते हुए खेत में पाया। राम के सम्बन्ध में इन पंडितों का यह मत है कि में जो इन्द्र नाम से पूजित था, वही व्यक्तित्व, कालक्रम में, विकसित होकर राम बन इन्द्र की सब से बड़ी वीरता यह थी कि उसने वृत्रासुर को पराजित किया था। राम

---

[1] 'राम-कथा' नामक पुस्तक में फादर कामिल बुल्के ने पारस्कर गृह्यादिसूत्र मंत्र (२-११-४) उद्धृत किया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है —"इन्द्र-पत्नी का मैं आह्वान करता हूँ, जिसके तत्त्व में वैदिक और लौकिक (दोनों प्रका कार्यों की विभूति निहित है। वह (सीता) सब कार्यों में निरन्तर मेरी सह किया करे। स्वाहा।"

[2] "इन्द्र सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका संचालन करे। वह पानी से (सीता)प्रत्येक वर्ष हमें धान्य प्रदान करती रहे।" (ऋग्वेद मंडल ४, सूक्त मंत्र ६)। —'राम-कथा' में उद्धृत।

यही वृत्रासुर रावण बन गया है। ऋग्वेद (मंडल १, सूक्त ६) में जो कथा आयी है कि पणियों ने गायों को छिपा कर गुफा में बन्द कर दिया था और इन्द्र ने उन गायों को ड़ाया, उससे पंडितों ने यह अनुमान लगाया है कि यही कथा विकसित होकर राम-कथा सीता-हरण का प्रकरण बन गयी।

किन्तु, ये सारे अनुमान, अन्ततः, अनुमान ही हैं और उनसे न तो किसी आधार की ष्टि होती है, न किसी समस्या का समाधान ही। राम-कथा के जिन पात्रों के नाम द में मिलते हैं, वे निश्चित रूप से, राम-कथा के पात्र हैं या नहीं इस विषय में सन्देह खते हुए भी यह मानने में कोई बड़ी बाधा नहीं दीखती कि राम-कथा ऐतिहासिक टना पर आधारित है। अयोध्या, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वरम्, अनन्त काल से राम-था से सम्पृक्त माने जाते रहे हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि दाशरथि म, सचमुच, जनमे थे और उनके चरित्र पर ही वाल्मीकि ने अपनी रामायण बनायी? स सम्भावना का खण्डन यह कहने से भी नहीं होता कि वाल्मीकि ने आदि रामायण केवल अयोध्या-काण्ड से युद्ध-काण्ड तक की ही कथा लिखी थी; बाल-काण्ड और त्तर-काण्ड बाद में अन्य कवियों ने मिलाये।

अनेक बार पंडितों ने यह सिद्ध करना चाहा कि रामायण बुद्ध के बाद रची गयी र वह महाभारत से भी बाद की है। किन्तु, इससे समस्याओं का समाधान नहीं होता। ारतीय परम्परा, एक स्वर से, वाल्मीकि को आदि कवि मानती आयी है और यहाँ लोगों का विश्वास है कि रामावतार त्रेता युग में हुआ था। इस मान्यता की पुष्टि स बात से होती है कि महाभारत में रामायण की कथा आती है, किन्तु, रामायण में हाभारत के किसी भी पात्र का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार, बौद्ध ग्रन्थ तो राम-कथा ा उल्लेख करते हैं, किन्तु, रामायण में बुद्ध का उल्लेख नहीं है। रामायण के एक स्करण में जावालि-वृत्तान्त के अन्तर्गत बुद्ध का जो उल्लेख मिलता है (यथा हि चौरः तथा हि बुद्धः) उसे अनेक पंडितों ने क्षेपक माना है। यह भी कहा जाता है कि ीता का हिंसा के विरुद्ध भाषण तथा राम के शान्त और कोमल स्वभाव की कल्पना पीछे "किंचित् बौद्ध प्रभाव" है। किन्तु, यह केवल अनुमान की बात है। अहिंसा की कल्पना बुद्ध से बहुत पहले की चीज है। उसका मूल भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति रहा होगा। बुद्ध ने सिर्फ उस पर जोर दिया है। बुद्ध के पहले के हिन्दुत्व में ऐसी कोई बात नहीं थी जो रामायण के वातावरण के विरुद्ध हो। रामायण प्राग्-बौद्ध काव्य है, इस निष्कर्ष से भागा नहीं जा सकता।

राम-कथा की व्यापकता

रामायण और महाभारत भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। महाकाव्यों की रचना तब सम्भव होती है, जब संस्कृतियों की विशाल धाराएँ किसी संगम पर मिल रही हों। भारत में संस्कृति-समन्वय की जो प्रक्रिया चल रही थी, ये दोनों काव्य इसकी अभिव्यक्ति करते हैं। रामायण में इस प्रक्रिया के पहले सोपान हैं और महाभारत में उसके बाद-वाले। रामायण की रचना तीन कथाओं को लेकर पूर्ण हुई। पहली

कथा तो अयोध्या के राजमहल की है, जो पूर्वी भारत में प्रचलित रही होगी ; रावण की, जो दक्षिण में प्रचलित रही होगी ; और तीसरी किष्किन्धा के वानरों जो वन्य जातियों में प्रचलित रही होगी। आदि कवि ने तीनों को जोड़कर रा की रचना की। किन्तु, उससे भी अधिक सम्भव यह है कि राम, सचमुच ही, ऐतिहा पुरुष थे और, सचमुच ही, उन्होंने किसी वानर-जाति की सहायता से लंका पर पायी थी। हाल से यह अनुमान भी चलने लगा है कि हनूमान नाम एक द्रविड़ "आणमन्दि" से निकला है, जिसका अर्थ "नर-कपि" होता है। यहाँ फिर यह उल्लेखनीय हो जाती है कि ऋग्वेद में भी "वृषाकपि" का नाम आया है। वा और राक्षसों के विषय में भी अब यह अनुमान, प्रायः ग्राह्य हो चला है कि ये प्राचीन विन्ध्य-प्रदेश और दक्षिण भारत की आदिवासी आर्येतर जातियों के सदस्य या तो उनके मुख वानरों के समान थे, जिससे उनका नाम वानर पड़ गया अ उनकी ध्वजाओं पर वानरों और भालुओं के निशान रहे होंगे।

रामायण में जो तीन कथाएँ हैं, उनके नायक, क्रमशः, राम, रावण और हनु हैं, और ये तीन चरित्र तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं, जिनका समन्वय और तिरो वाल्मीकि ने एक ही काव्य में दिखाया है। सम्भव है, यह बात सच हो कि " रावण तथा हनूमान के विषय में पहले स्वतन्त्र आख्यान-काव्य प्रचलित थे और संयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है।"[1] जिस प्रकार, आर्य और आ जातियों के धार्मिक संस्कारों से शैव धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, वैष्णव धर्म रामाश्रयी शाखा में भी आर्येतर जातियों के योगदान हैं।

रामावतार

कृष्णाश्रयी वैष्णव धर्म की विशेषता यह थी कि उसमें कृष्ण विष्णु पहले माने एवं उनके सम्बन्ध की कथाओं का विस्तृत विकास बाद में हुआ। राम-मत के वि में यह बात है कि राम-कथा का विकास और प्रसार पहले हुआ, राम विष्णु का अव बाद में माने गये। भण्डारकर साहब ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी थी कि विष् अवतार के रूप में राम का ग्रहण ग्यारहवीं सदी में आकर हुआ। किन्तु, अब यह खण्डित हो गया है। अब अधिक विद्वान् यह मानते हैं कि ईसा से तीन सौ वर्ष वासुदेवकृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे और उनके अवतार होने की चलने के बाद, बाकी अवतार भी विष्णु के ही अवतार माने जाने लगे ; तथा दिनों राम का अवतार होना भी प्रचलित हो गया। वैसे अवतारवाद की भा ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही उदित हुई थी। शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति ने (ने नहीं) मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में प्रजापति के वराह रूप धरने की कथा है। बाद में, जब विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध गयी, तब मत्स्य, कूर्म और वराह, ये सभी अवतार उन्हीं के माने जाने लगे। वामनावतार के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वामन, आरम्भ से ही, विष्णु

---

[1] राम-कथा ; कामिल बुल्के।

अवतार माने जाते रहे हैं। वामन के त्रिविक्रम रूप का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल द्वितीय अध्याय के बारहवें सूक्त में है।

राम-कथा के विकास पर रेवरेण्ड फादर कामिल बुल्के ने जो विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया है, उसके अनुसार वेद में रामकथा-विषयक पात्रों के सारे उल्लेख स्फुट और स्वतन्त्र हैं। रामकथा-सम्बन्धी आख्यान-काव्यों की वास्तविक रचना वैदिक काल के बाद, इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं के सूतों ने आरम्भ की। इन्हीं आख्यान-काव्यों के आधार पर वाल्मीकि ने आदि-रामायण की रचना की। इस रामायण में अयोध्या-काण्ड से लेकर युद्ध-काण्ड तक की ही कथावस्तु का वर्णन था और उसमें सिर्फ बारह हजार श्लोक थे। किन्तु, इस रामायण का समाज में वहुत प्रचार था। कुशी-लव उसका गान करके और उसके अभिनेता उसका अभिनय दिखाकर अपनी जीविका कमाते थे। काव्योपजीवी कुशी-लव अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखकर रामायण के लोकप्रिय अंश को बढ़ाते भी थे। इस प्रकार, आदि-रामायण का कलेवर बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों राम-कथा का यह मूल-रूप लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यों, जनता को यह जिज्ञासा होने लगी कि राम कैसे जनमे? सीता कैसे जनमीं? रावण कौन था? आदि-आदि। इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए बाल-काण्ड और उत्तर-काण्ड रचे गये। इस प्रकार, राम की कथा रामायण (राम-अयन अर्थात् राम का पर्यटन) न रहकर, पूर्ण रामचरित के रूप में विकसित हुई। इस समय तक रामायण नरकाव्य ही था और राम आदर्श क्षत्रिय के रूप में ही भारतीय जनता के सामने प्रस्तुत किये गये थे। इसका आभास भगवद्गीता के उस स्थल से मिलता है, जहाँ कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि शस्त्र धारण करने वालों में मैं राम हूँ—"रामः शस्त्रभृतामहम्।"

रामचरित, ज्यों-ज्यों, लोकप्रिय होता गया, त्यों-त्यों, उसमें अलौकिकता भी आती गयी। अन्ततः, ईसा के सौ वर्ष पूर्व तक आकर राम, निश्चित रूप से, विष्णु के अवतार हो गये। किन्तु, यह कोई निश्चयात्मक बात नहीं है। क्योंकि राम की, बोधिसत्व के रूप में, कल्पना ई०पू० प्रथम शती के पूर्व ही की जा चुकी थी। इसलिए, सम्भव है, अवतार भी वे पहले से ही माने जाते रहे हों।

किन्तु, बाद के साहित्य में तो राम की महिमा अत्यन्त प्रखर हो उठी तथा पूरे भारतवर्ष की संस्कृति, दिनों-दिन, राममयी होती चली गयी। बौद्ध और जैन साहित्य को छोड़कर और सभी भारतीय साहित्य में राम विष्णु के अवतार के रूप में सामने आते हैं। हाँ, वौद्ध धर्म के साथ राम-कथा का जो रूप भारत से वाहर पहुँचा, उसमें वे विष्णु के अवतार नहीं रहे, न उनके प्रति भक्ति का ही कोई भाव रह गया।

राम को लेकर समन्वय

भारत में संस्कृतियों का जो विराट् समन्वय हुआ है, राम-कथा उसका अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीक है। सवसे पहले तो यह बात है कि इस कथा से भारत की भौगोलिक एकता ध्वनित होती है। एक ही कथासूत्र में अयोध्या, किष्किन्धा और लंका, तीनों के बँध जाने के कारण, सारा देश एक दीखता है। दूसरे, इस कथा पर भारत की सभी

प्रमुख भाषाओं में रामायणों की रचना हुई, जिनमें से प्रत्येक, अपने-अपने क्षेत्र अत्यन्त लोकप्रिय रही है तथा जिनके प्रचार के कारण भारतीय संस्कृति की एक में बहुत वृद्धि हुई है। संस्कृत के धार्मिक साहित्य में राम-कथा का रूप, अपेक्षा कम व्यापक रहा ; फिर भी, रघुवंश, भट्टिकाव्य, महावीर-चरित, उत्तर-रामच प्रतिमा-नाटक, जानकी-हरण, कुन्दमाला, अनर्घराघव, बालरामायण, हनुमन्ना अध्यात्म-रामायण, अद्भुत-रामायण, आनन्द-रामायण आदि अनेक काव्य इस बात प्रमाण हैं कि भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के कवियों पर वाल्मीकि-रामायण का कि गम्भीर प्रभाव पड़ा था। जब आधुनिक देश-भाषाओं का काल आया, तव देश-भाषा में भी रामचरित पर एक-से-एक उत्तम काव्य लिखे गये और आदि कवि के का सरोवर का जल पीकर भारत की सभी भाषाओं ने अपने को पुष्ट किया। कम्बन- तमिल रामायण (१२वीं सदी), तेलुगु द्विपाद रामायण (१२वीं सदी), मलया रामचरितम् (१४वीं सदी), कन्नड़ी तोरावे रामायण (१६वीं सदी), बँगला कृत्तिवा रामायण (१५वीं सदी), हिन्दी रामचरित मानस (१६वीं सदी), उड़िया वलरामद रामायण (१५वीं सदी) और मराठी भावार्थ रामायण (१६वीं सदी),[1] यह तालि अगणित रामकाव्यों को छोड़कर बनायी गयी है, किन्तु, फिर भी इससे यह ब सरलता से सिद्ध हो जाती है कि रामकथा ने इस देश की संस्कृति की कितनी गम्भ सेवा की है और कैसे इस कथा को लेकर सारा देश, लगभग, एक आदर्श की उन्मुख रहा है। इसके साथ अगर तिब्बत, सिंहल, खोतान, हिन्द-चीन, श्याम, ब्र देश, कश्मीर और हिन्देशिया में प्रचलित रामकाव्यों की सारिणी मिला दें तो, सच ही, यह मानना पड़ेगा कि राम-कथा न केवल भारतीय, वरन्, एशियाई संस्कृति भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गयी थी।

राम-कथा की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसके माध्यम से शैव और वैष् मतों का विभेद दूर किया गया। आदि-रामायण पर शैव मत का कोई प्रभाव नहीं हो, यह सम्भव है, किन्तु, आगे चलकर राम-कथा शिव की भक्ति से एकाकार हो गयी। राम का, युद्धारम्भ के पूर्व, रामेश्वरम् में शिव की प्रतिष्ठा करना तथा हनुम का एकादश रुद्र का अवतार माना जाना यह वतलाता है कि वैष्णव एवं शैव मतों दूरी को यहाँ के कवि कम करना चाहते थे और यह उचित भी था, क्योंकि शैव आर्येतर मत था तथा राम-कथा के भी अनेक अंश आर्येतर संस्कृतियों से आये काल-क्रम में राम-कथा का ऐसा विकास और विस्तार हुआ कि शैव और वैष्णव की भिन्नता, बिलकुल, जाती रही। राम एक ऐसे चरित्र हैं जो ब्राह्मण-धर्म में वि के अवतार, बौद्ध-धर्म में बोधिसत्व तथा जैन-धर्म में आठवें वलदेव के रूप में प्रतिष्ठि हुए तथा आगे चलकर जिनकी भक्ति में शिव-भक्ति भी समाहित हो गयी।

हिन्दू संस्कृति के रचयिता

हजरत ईसा ने जैसे ईसाइयत को और हजरत मुहम्मद ने जैसे इस्लाम को ज दिया, हिन्दू-धर्म ठीक उसी प्रकार, किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। यही का

---

१. राम-कथा।

है कि अगर आप किसी हिन्दू से यह पूछें कि तुम्हारा धर्म-ग्रन्थ कौन-सा है, तो वह सहसा कोई एक नाम नहीं बता सकेगा। इसी प्रकार, अगर आप उससे यह प्रश्न कर दें कि तुम्हारा अवतार, मुख्य धार्मिक नेता, नबी या पैगम्बर कौन है, तब भी किसी एक अवतार या महात्मा का नाम उससे लेते नहीं बनेगा। और यही ठीक भी है। क्योंकि हमारा धर्म न तो एक महात्मा से आया है, न किसी एक सम्प्रदाय से।

सच तो यह है कि हिन्दू-धर्म किसी एक विश्वास पर आधारित नहीं है, प्रत्युत, वह अनेक विश्वासों का समुदाय है। जिस प्रकार, भारतीय जनता की रचना उन अनेक जातियों को लेकर हुई जो समय-समय पर इस देश में आती रहीं, उसी प्रकार हिन्दुत्व भी इन विभिन्न जातियों के धार्मिक विश्वासों के योग से बना है। यह भी है कि शिक्षित व्यक्ति हिन्दू-धर्म के दार्शनिक पक्ष में विश्वास करता है, किन्तु जो अशिक्षित हैं, उनमें अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के लिए भी मोह है; फिर भी, अपढ़-से-अपढ़ हिन्दुओं में भी एक प्रकार की दार्शनिकता पायी जाती है, जो इस देश की छह हजार साल पुरानी संस्कृति का परिणाम है।

जब आर्य यहाँ आये, उसके पहले ही सभ्यता का विकास यहाँ हो चुका था और धर्म तथा संस्कृति के अनेक अंग रूप ग्रहण कर चुके थे। आर्यों ने इन सबको लेकर आर्य-धर्म का संगठन किया। इसके बाद जो जातियाँ भारतवर्ष में आयीं, वे यद्यपि, भारतीय संस्कृति के समुद्र में विलीन हो गयीं, फिर भी, हमारी संस्कृति को उनकी भी कुछ-न-कुछ देन है। यह देन कभी तो हमारे धर्म में चिपक गयी, कभी हमारी पोशाकों और कभी हमारे खान-पान अथवा रहन-सहन के दूसरे ढंगों में। हिन्दुओं ने उनको भी अपना पूज्य अवतार मान लिया, जो किसी समय हिन्दू-धर्म के खिलाफ बगावत करने को उठे थे। हमारे दर्शनों में नास्तिक दर्शनों की भी संख्या काफी है, और समाज में उनका भी आदर है। हमारे आदि-कवि ने रावण का भी उल्लेख, अक्सर, 'महात्मा' विशेषण के साथ आदरपूर्वक किया है। ये सारी बातें बतलाती हैं कि इस देश में आरम्भ से ही, धर्म के विषय में बड़ी ही सहिष्णुता और उदारता बरती गयी है। हिन्दू-संस्कृति ने अपने को कूप-मण्डूक नहीं बनाया और इसे जहाँ से भी कोई अच्छी चीज मिलनेवाली थी, उसे इसने आगे बढ़कर स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म में हम विश्व के तमाम धर्मों के असली तत्त्वों का निचोड़ पाते हैं। यही नहीं, बल्कि, भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में जब भी कोई अद्भुत धार्मिक चिन्तन किया गया, हिन्दुत्व ने उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। इसलिए, अब हमारी संस्कृति वही नहीं है, जो वेद-कालीन आर्यों की थी, और शुद्ध-शुद्ध वह भी नहीं, जिसकी रचना आर्यों और द्रविड़ों ने मिलकर की थी। आर्यों और द्रविड़ों के मिलन के बाद भी अनेक जातियाँ इस देश में आयीं और उन सबने हमारी संस्कृति को कुछ-न-कुछ अंशदान दिया है। हमारे अपने देश में बुद्ध और महावीर के नेतृत्व में प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई और उस क्रान्ति की भी पूरी छाप हमारे धर्म और संस्कृति पर मौजूद है।

अनेक जातियों के देवी-देवताओं के आ मिलने के कारण बहुदेववाद हिन्दुत्व का

अनिवार्य अंग बन गया। अतएव, सब हिन्दू किसी एक देवता को नहीं पूजते हैं। देवी-देवताओं के आने से उनके माहात्म्य की भी अनेक कथाएँ पुराणों में आ जिससे पुराण भी किसी एक दिशा में इंगित नहीं करते। जिन विभिन्न नृवंशों की तियों को लेकर हिन्दू-जाति की रचना हुई, उनके विभिन्न उपासना-मार्ग भी हिन्दु अपने अंग बन गये, अतएव, हम नहीं कह सकते कि हिन्दुत्व की अपनी उपासना- कौन-सी है। इस स्थिति को देखकर ही लोकमान्य तिलक ने धर्म की यह नवीन भाषा बनायी थी, जो व्यंग्यवत् दीखने पर भी, व्यंग्य नहीं, सत्य है ;

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता ।
उपास्यानामनियमं एतद्धर्मस्य लक्षणम् ।

वेदों को प्रमाण मानना, साधनों की अनेकता में विश्वास रखना तथा उपासन किसी एक देवता का नियम नहीं रखना, यह धर्म का लक्षण है।

आग्नेय जाति की देन

जिस हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति के हमलोग भक्त हैं, उसकी नींव पड़े ह वर्ष हो गये। अब यह पता लगाना बहुत कठिन है कि इस संस्कृति के उत्थान में जाति ने क्या योगदान दिया था ; फिर भी, अनुमान के बल पर, इस योगदान की खास बातों का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए च को देखकर तिथि गिनने का रिवाज आग्नेय सभ्यता की देन है एवं पूर्णिमा के 'राका' और अमावस्या के लिए 'कुहू' शब्द भी आग्नेय भंडार से आये हैं। कहते चावल की खेती भी यहाँ उसी जाति के लोगों ने की थी और पुनर्जन्म की कल्पना फसल को देखकर उन्होंने ही आरम्भ की थी, जो आगे चलकर आर्य चिन्तकों के विकसित की गयी। पत्थर के खंड को देवता मानने की प्रथा भी यहाँ उसी जाति चलायी थी। और तो और, सुनीति बाबू का अनुमान है कि 'गंगा' शब्द भी आ शब्द-भाण्डार से आया है। आग्नेय परिवार की जो अनेक भाषाएँ भारत से दक्खिनी चीन तक फैली हुई हैं, उनमें से कोई तो नदी को गंग कहती है, कोई और दक्खिनी चीन की आग्नेय भाषाओं में नदी के लिए 'कियांग, कंग या घंघ' चलता है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि अनेक ग्रामों की जनता में आज गंगा शब्द नदी शब्द का पर्याय माना जाता है। मध्य भारत और मालवा से बि तक ऐसे बहुत-से गाँव हैं, जहाँ के लोग किसी भी नदी में नहाने को गंगा नहाना कहते असल में, इस अनुमान के लिए बहुत बड़ा आधार है कि हमारी निम्न कोटि की जनता विशाल समुदाय आग्नेय भाण्डार से आया है और उसके भीतर जो अन्धविश्वास, प्रियता, भीरुता और अन्य विचित्र-विचित्र आदतें हैं, वे सब-की-सब आग्नेय सभ्यता यादगार हैं। पक्षी-पालन और हस्ति-पालन का समारम्भ भी भारत में इसी जाति लोगों ने किया था।

कथा-किम्वदन्तियों का जो विशाल भाण्डार हिन्दू-पुराणों में जमा है, उसका भी बड़ा अंश आग्नेय सभ्यता से आया हुआ है। किसी-किसी पंडित का यह भी अनु

है कि राम-कथा की रचना करने में आग्नेय जाति के बीच प्रचलित कथाओं से सहायता ली गयी है तथा पम्पापुर के वानरों और लंका के राक्षसों के सम्बन्ध में जो विचित्र कल्पनाएँ रामायण में मिलती हैं, उनका आधार आग्नेय लोगों की ही लोक-कथाएँ रही होंगी। किम्वदन्तियाँ और लोक-कथाएँ पहले देहाती लोगों के बीच फैलती हैं और बाद में चलकर साहित्य में भी उनका प्रवेश हो जाता है। आर्य, द्राविड़ और कोल तथा किरात वंश के लोग जब आपस में मिले होंगे, तब परस्पर उनकी लोक-कथाएँ भी एक-दूसरे के घर में प्रवेश पाने लगी होंगी। पंडितों का कहना है कि बौद्ध-जातकों में जो कथाएँ हैं, वे भी लोक-कथा के स्तर से उठकर साहित्य में पहुँची हैं और फिर वहाँ से उन्होंने पुराणों में प्रवेश किया है। यही कारण है कि पुराणों और जातकों की कितनी ही कथाएँ एक समान लगती हैं अथवा उनमें थोड़ा ही फेर-फार है। यह भी हुआ कि वीरों और देवी-देवताओं की बहुत-सी ऐसी कथाएँ जो द्राविड़ और आग्नेय समाजों में प्रचलित थीं, आर्यों के आगमन के बाद भी जीवित रहीं। बाद में चलकर जब समन्वय की प्रक्रिया गहरी हो गयी, तब ये कथाएँ आर्य-भाषा में पहुँच गयीं और उनका उपयोग आर्य-वीरों और आर्य-देवी-देवताओं का गौरव बढ़ाने के लिए किया जाने लगा।

देवर और देवरानी तथा जेठ और जेठानी की प्रथा भी, शायद, आग्नेय, लोगों से आयी है। सिन्दूर का प्रयोग और अनुष्ठानों में नारियल और पान रखने के रिवाज भी, सम्भवतः, आग्नेय रिवाजों की यादगार हैं। आग्नेय जाति के लोग देवता के सामने बलिदान किये गये पशु का रक्त मस्तक में लगाना शुभ मानते थे। वही रिवाज सिन्दूर लगाने में बदल गया।

सिन्दूर के विषय में आचार्य क्षितिमोहन सेन का भी यह मत है कि यह उपकरण आर्यों ने आर्येतर जातियों से लिया। ''विवाहादि के अवसर पर सिन्दूर एक अपरिहार्य पदार्थ है। इसके बिना विवाह पूर्ण नहीं होता। किन्तु, सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य के 'पुरोहित-दर्पण' के कई स्थान उलट कर देखने से ही पता चल जायगा कि यह सिन्दूर का आचार भी आर्यों ने किसी आर्येतर जाति से ग्रहण किया था। सिन्दूर का न तो कोई वैदिक नाम है और न सिन्दूर-दान का कोई मन्त्र। सिन्दूर, मूलतः, नाग लोगों की वस्तु है। उसका नाम भी नाग-गर्भ और नागसम्भव है। शंख और कम्बु आदि नाम भी वेद-वाह्य हैं।''

हितोपदेश, पंचतंत्र और जातकों में जो पशु-पक्षी-विषयक कहानियाँ हैं, उनमें से अनेक आग्नेय जाति के भाण्डार से आयी हुई हैं। अवतारों में से मत्स्य, कच्छ और वराह अवतारों की कल्पनाएँ भी यदि आग्नेय कल्पना से आयी हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आग्नेय जाति के लोग अण्डे से सृष्टि के आरम्भ की बात सोचते थे। हिन्दुओं के ब्रह्माण्ड शब्द में अण्डा विद्यमान है।

कुछ स्फुट उदाहरण

आर्येतर जातियों से आर्यों ने इतनी अधिक बातें ली हैं कि उनकी ठीक से गिनती नहीं की जा सकती और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि आर्य यदि भारत में बाहर से

आये तो वे थोड़ी ही संख्या में आये होंगे। बाद को यह देश जिन आर्यों से भर
वे तो विदेशी नहीं, स्वदेशी लोग ही रहे होंगे, जिनका आर्यीकरण हुआ होगा। कि
आर्यीकरण की प्रक्रिया मनुष्य की आदतों और रस्म-रिवाजों अथवा धार्मिक विश्व
को कहाँ तक मिटा पाती ? निदान, जो लोग आर्य-वृत्त में आये, वे अपने सभी विश्व
को साथ लेते आये। यही कारण है कि हिन्दू-संस्कृति में हम आर्य और आर्येतर,
ही प्रकार के उपकरणों का ऐसा सम्मिश्रण देखते हैं, जो बिलकुल स्वाभाविक लग
और जिसमें बिलगाव करने का कोई रास्ता नहीं मिलता। चीजें कैसे-कैसे वहाँ,
जानना आसान नहीं है। किन्तु, विद्वानों को इसका थोड़ा बहुत आभास अवश्य
जाता है कि कौन-सी वस्तु आर्य-भाण्डार की और कौन आर्येतर-भाण्डार की है।

क्षिति बाबू के मतानुसार "देवी-पूजा और तंत्र-मंत्र भी वैदिक मत के पास
से आकर खड़े हुए हैं। असल में, वैदिक मतवादी आचार्यगण उसे शास्त्र और सदा
के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्य-भूमि में, क्रमशः, दूर जाकर इन वस्तुओं
साथ आर्य लोगों का परिचय हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों
ग्रहण करने के सिवा, उनके पास कोई चारा नहीं था।"

शास्त्रानुसार, ग्राम-देवता की पूजा निषिद्ध है। ग्राम-देवता और देवियों के पु
को मनु ने नाना स्थानों पर पतित कहा है। किन्तु, गाँवों में अब ब्राह्मण भी भूत
और ग्राम-देवता की पूजा करते हैं। अवश्य ही यह प्रेत-पूजा आग्नेय सभ्यता की
होगी। आरम्भ में, इन देवताओं के पुरोहित भी शूद्र ही रहे होंगे, किन्तु, आमदनी
रास्ता देखकर ब्राह्मणों ने उन्हें अपदस्थ कर दिया होगा।

यही नहीं, अब तो बहुत-से हिन्दू वृक्षों को भी पूजते हैं और नदियों को भी। तुल
वट, अश्वत्थ (पीपल) और बेल, ये वृक्ष पवित्र माने जाते हैं। नदियों में अस्थि
नहीं बहायी जायँ तो आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। कहीं-कहीं पीपल के पेड़ से
बाँधने का भी रिवाज है। ये बातें वेद में तो नहीं थीं। फिर हिन्दुओं ने इन्हें लि
कहाँ से ? उत्तर स्पष्ट है कि ये रिवाज आर्येतर लोगों में रहे होंगे। "जिन देवता
से सम्बद्ध माने जाकर तुलसी, वट, अश्वत्थ, बिल्वादि वृक्ष पवित्र माने गये हैं, उन देवता
का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध 'देवता' के रूप में ही मिलता है। धीरे-धीरे वृक्षों की
भी, निश्चय ही, आर्यों ने आर्य-पूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी। बहुत सम्भव है,
की पूजा भी उन्होंने वहीं से ग्रहण की हो।"[१]

होली या वसन्तोत्सव-जैसे बहुत-से उत्सव भी आर्येतर जातियों की देन हैं।
उत्सवों का मदिरा, नशा, अपशब्द और अश्लीलता से सम्बद्ध होना बतलाता है
उनका आरम्भ अर्धसभ्य समाज में हुआ होगा। "इनका प्रचलन भी नीची श्रेणियों
ही अधिक है, इसीलिए, बहुत-से लोग इन्हें शूद्रोत्सव भी कहते हैं। होलिका-दाह
लिए जो आग जलायी जाती है, वह अनेक स्थानों पर अन्त्यज के घर से मँग
जाती है।"[२]

---

[१] संस्कृति-संगम।

[२] वह

हिन्दू-समाज में आज जिन देवताओं, तीर्थों और उत्सवों का प्रचार है, उनमें से धिकांश आर्येतर मूल के हैं। ध्यान देने की बात यह है कि आर्यों का चिन्तन हमेशा ड़े लोगों में रहा है। बाकी अपार जनता आर्येतर उपकरणों का आनन्द उत्साह से ती रही है। होली या वसन्तोत्सव इसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण है।

न्दू नाम का इतिहास

नीग्रो, आग्नेय, द्रविड़, आर्य और किरात, ये नाम जिस नये अर्थ में अब समझे ाते हैं, उस अर्थ में वे पहले नहीं समझे जाते थे। नीग्रो और आग्नेय तो बिलकुल ये शब्द हैं, जिनका प्रचलन पिछली शताब्दी में यूरोप में आरम्भ हुआ। प्रजाति अथवा रेस' के अर्थ में द्रविड़ और आर्य शब्दों का प्रचलन भी सर्वथा नवीन है। किरात शब्द ा भी प्रयोग संस्कृत-भाषी भारतवासी प्रजाति के अर्थ में नहीं करते थे। किन्तु आधु-क प्रसंग में यह विचिकित्सा बिलकुल निस्सार है, क्योंकि भारत के लोग अब नीग्रो, ाग्नेय आदि नामों से नहीं जाने जाते। यहाँ के जो लोग ईसाई या मुसलमान हो गये, ईसाई और मुसलमान कहलाते हैं, बाकी सभी लोग जो हिन्दू-धर्म में विश्वास करते , अब सर्वत्र हिन्दू ही कहे जाते हैं। असल में, भारतवर्ष हिन्दुओं का ही देश है और स देश की संस्कृति अपनी व्यापक विशिष्टताओं के साथ हिन्दू-संस्कृति ही समझी ाती है। भारतीय संस्कृति की जो विशिष्टताएँ उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से भक्त करती हैं, वे केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं, बल्कि, उनका पूरा प्रभाव भारत-सी मुसलमानों और ईसाइयों पर भी है।

इस हिन्दू-संस्कृति का आरम्भ कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हुधा लोग हिन्दू-संस्कृति को वैदिक संस्कृति का पर्याय मान लेते हैं जो बहुत अंशों में क है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं वैदिक संस्कृति भी सोलह आने र्यों की देन है। उसकी बहुत-सी बातें आर्य-भाण्डार से निकली हैं और बहुत-सी ऐसी जो आर्यों के आगमन के पूर्व ही इस देश में मौजूद थीं। आर्य, द्रविड़ और अन्य तियों के लोग जब एक समाज के अंग बन गये, तब उनकी आदतें और विश्वास भी रस्पर एकाकार हो गये। विभिन्न प्रकार के लोगों के समघट्ट हो जाने से जो जनता ार हुई, वही हिन्दू-जाति की बुनियादी जनता हुई और विभिन्न जातियों की आदतों श्वासों, दन्तकथाओं, विचारों, भावनाओं और रीति-रीवाजों के मिल जाने से जो स्कृति उत्पन्न हुई, वही वैदिक या हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार हुई। तब से जो लोग इस देश में आये (जैसे यूनानी, पार्थियन, मंगोल, युची, शक, आभीर, हूण और स्लिम आक्रमण से पूर्व आनेवाले तुर्क) वे, सब-के-सब, इसी हिन्दू-संस्कृति के महासमुद्र विलीन होते गये और कालक्रम में वे हिन्दू हो गये।

उन्नीसवीं सदी में जब भारत में नवजागरण की लहर फैली, तब बहुत-से लोग न्दू नाम छोड़कर अपने को आर्य कहने लगे थे। हिन्दू नाम उन्हें इसलिए नापसन्द , क्योंकि उनके मतानुसार यह नाम मुसलमानों का दिया हुआ है और फारसी में सका अर्थ अच्छा नहीं है। वह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत आज भी कायम है। किन्तु, बात,

सचमुच में, ऐसी नहीं है। देश के अर्थ में हिन्दू शब्द का चलन इस्लाम के जन्म से हजार-डेढ़-हजार वर्ष पहले ही शुरू हो गया था। ईरानी लोग 'स' का उच्चारण करते थे, अतएव, 'सिन्धु' को उन्होंने 'हिन्दु' कहा। इसी विकृति से आगे च हिन्दू और हिन्दुस्तान, दोनों शब्द निकले। यूनानियों के मुख से 'ह' के बदले निकलता था, अतएव, हिन्दू को उन्होंने इन्दो (Indo) कहना शुरू किया। इसी विकृति से 'इंडिया' नाम निकला है। इटली के कवि वर्जिल ने इंडिया के बदले 'इंद' लिखा है और मिलटन ने भी भारत का नाम 'इंड' ही लिखा है।

प्राचीन संस्कृत और पालि-ग्रन्थों में हिन्दू नाम कहीं भी नहीं मिलता। कि भारत से बाहर के लोग भारत अथवा भारतवासियों को हिन्दू या 'इंडो' कहा करते इसके प्रमाण हैं। भारत से बाहर हिन्दू शब्द का प्राचीनतम उल्लेख अवेस्ता में मि है। डेरियस (५२२-४८६ ई०पू०) के शिलालेख में भी हिन्दू शब्द का उल्लेख है

किन्तु, भारतवर्ष को हिन्दुस्तान और भारतवासियों को हिन्दू कहना इतिहास भूगोल, दोनों ही दृष्टियों से युक्ति-संगत है। कारण यह कि सभी भारतवासी भाण्डार के नहीं हैं। भारतवासियों में अनेक प्रजातियों के लोग हैं। जब तक इन अनेक जातियों से अपने को अलग रखे हुए थे, तब तक उनका अपने को मानना ठीक था। किन्तु विवाह-सम्बन्धों द्वारा जब सभी जातियों के लोग प मिश्रित हो गये, तब आर्य से वे हिन्दू हो गये। इसी प्रकार, आर्यावर्त्त का भौगो अर्थ सारा भारतवर्ष नहीं था। वह दक्षिण में, अधिक-से-अधिक, विन्ध्य पर्वत तक चता था। किन्तु, भारत विन्ध्याचल पर समाप्त नहीं होता। वह कन्याकुमारी फैला हुआ है। इसीलिए, आर्यस्थान, आर्यावर्त्त आदि नाम गलत हैं। इस देश का नाम भारतवर्ष, हिन्दुस्तान या इंडिया ही हो सकता है। इसी प्रकार, हिन्दू नाम व्यापक और आर्य नाम संकीर्ण है। और अब यह दावा कौन कर सकता है कि शुद्ध आर्य, शुद्ध द्रविड़, शुद्ध कोल अथवा शुद्ध किरात है? ये नाम अब इतिहा प्रांगण में पड़ी क्षीण-धूमिल रेखाओं की छाया मात्र हैं। असल में, भारत के नि हिन्दू हैं और उनका देश आर्यस्थान नहीं, हिन्दुस्तान है।

ईरानियों के द्वारा दिया हुआ हिन्दू नाम संस्कृत-भाषियों के द्वारा सम्पूर्ण भारत जनता के समुच्चय-नाम के रूप में स्वीकृत हो गया था, इसके भी प्रमाण मिलते उत्तर में जब बौद्ध मत की प्रबलता हुई, तभी से हिन्दू-धर्म अपनी पवित्रता की र लिए दक्षिण को अपना गढ़ मानने लगा। पीछे जब विदेशियों के आक्रमण आ हुए, तब बहुत-से धर्म-प्राण हिन्दू दक्षिण की ओर खिसकने लगे थे। इस स्थिति उल्लेख कालिका-पुराण (८वीं से १०वीं सदी तक) में मिलता है।

बलिना कलिनाच्छन्ने, धर्मे कवलिते कलौ,
यवनैरवनी क्रान्ता, हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्।

जब बलवान् कलि-काल ने सब को प्रच्छन्न कर दिया और धर्म उसका ग्रास

था तथा पृथ्वी यवनों से आक्रान्त हो गयी, तब हिन्दू खिसककर विन्ध्य की ओर ले गये।

इसी भाव की आवृत्ति शार्ङ्गधर-पद्धत्ति के भी एक श्लोक में मिलती है—

यवनैरवनी क्रान्ता, हिन्दवो विन्ध्यमाविशन्,
बलिना वेदमार्गोऽयं कलिना कवलीकृतः।

मुसलमानों के आने के बाद जब लोगों को यह पता चला कि मुस्लिम-कोष में न्दू शब्द का अर्थ दूषित है, तब भी, पंडितों ने हिन्दू शब्द का वहिष्कार नहीं या, बल्कि, उसके भीतर उन्होंने अपनी पसन्द का नया अर्थ बिठा दिया। रामकोष लिखा है :—

हिन्दुः दुष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः।

हिन्दू न तो दुष्ट होता है, न विदूषक, न अनार्य। वह सद्धर्मपालक, वैदिक धर्म को ननेवाला विद्वान् होता है।

अद्भुत-कोष में हिन्दू नाम की जो परिभाषा दी गयी है, वह वीरता-व्यंजक है। भवतः, हिन्दू जाति के भीतर शौर्य जाग्रत करने को यह परिभाषा गढ़ी गयी होगी।

हिंदुर्हिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विधर्षणे।

हिन्दु और हिन्दू, ये दोनों शब्द दुष्टों को विधर्षित करनेवाले अर्थ में प्रसिद्ध हैं।

इधर वृद्धस्मृति नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया गया है, ससे यह विदित होता है कि हिन्दू नाम उसका है जो हिंसा से दुःख मानता है।

हिंसया दूयते यश्च सदाचारणतत्परः
वेदगो प्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक्।

जो सदाचारी, वैदिक मार्ग पर चलनेवाला, प्रतिमापूजक और हिंसा से दुःख मानने ला है, वह हिन्दू है।

शब्दकल्पद्रुम-कोष के अनुसार, "हीनं दूषयति इति हिन्दूः," जो हीनता को कार न करे, वह हिन्दू है।

परिजातहरण नामक किसी प्राचीन नाटक से एक और श्लोक उद्धृत किया गया जिससे ज्ञात होता है कि हिन्दू वह है जो शस्त्र और शास्त्र, दोनों में निष्णात है।

हिनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्
हेतिभिः शत्रुवर्गंच स हिन्दुः अभिधीयते।

जो अपनी तपस्या से दैहिक पापों तथा चित्त को दूषित करनेवाले दोषों का नाश रता है तथा जो शस्त्रों से अपने शत्रु-समुदाय का भी संहार करता है, वह हिन्दू है। ष्ट ही, यह परशुरामवाद की अवतारणा है। परशुराम की प्रतिज्ञा थी,

मुखे तु सकलं शास्त्रं पृष्ठे च सशरं धनुः
इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्रं, शापादपि शरादपि।

लगता है, यह परिभाषा तब बनी होगी जब विदेशी आक्रमणों से अपने धर्म और

धन, दोनों की रक्षा के लिए हिन्दू समाज कटिबद्ध हो उठा था। जनक और पर दोनों हिन्दू इतिहास के प्रबलतम पुरुष थे और हिन्दुओं की श्रद्धा दोनों पर रही मुस्लिम-आगमन के बाद कबीर और नानक ने, व्याजान्तर से, जनक-मार्ग को श्रेष्ठ और परशुराम के नये अवतार गुरु गोविन्द सिंह हुए। भोग और वैराग्य के द्वन्द्व छिड़ने पर भारत जनक-धर्म का आश्रय खोजता है। इसी प्रकार, जब हिंस धर्म-साधना के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है, तब भारतवासी परशुराम की याद क

भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त्त नहीं, हिन्दुस्तान होना चाहिये, यह अनुभू नवीन नहीं है। बृहस्पति-आगम में एक श्लोक आया है,

हिमालयं समारभ्य यावद् इन्दुसरोवरम्
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते।

इन्दु सरोवर से अभिप्राय यहाँ कुमारी अन्तरीप से है। यह भी ध्यान दे बात है कि संस्कृतभाषी भारतवासी विद्वान् हिन्दुस्तान के बदले 'हिन्दुस्थान' पसन्द करते थे।

हिन्दू शब्द के भीतर जो अर्थ पहले कुछ धीमा था, वह आधुनिक युग में भली-भाँति सुस्पष्ट हो गया।

हिन्दू-महासभा का आदर्श-वाक्य (श्लोक) वीर सावरकर द्वारा रचा गया सावरकरजी के अनुसार वे सभी लोग हिन्दू हैं जो सिन्धु नदी से लेकर आसमुद्र भूभाग में बसते हैं एवं जो भारत को अपनी पितृभूमि तथा तीर्थ मानते हैं।

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।

विनोबाजी के अनुसार हिन्दू का मुख्य लक्षण उसकी अहिंसा-प्रियता है।

हिंसया दूयते चित्तं तेन हिन्दुरितीरितः।

हिंसा से घृणा करनेवाला व्यक्ति हिन्दू है, ऐसा मत केवल विनोबाजी का ही है, पहले भी लोग हिन्दू का प्रधान लक्षण उसकी अहिंसा-प्रियता को ही मानते माधव दिग्विजय में उल्लेख है,

ॐकारमूलमंत्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः
गोभक्तो भारतगुरुः हिन्दुर्हिंसनदूषकः।

ॐकार जिसका मूल-मंत्र है, पुनर्जन्म में जिसकी सुदृढ़ आस्था है, भार जिसका प्रवर्त्तन किया है, तथा हिंसा की जो निन्दा करता है वह हिन्दू है।

बहुत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं मिलने के कारण अनुमान से भागना कठिन है कि भारतवासियों का यह नाम ईरानियों के उच्चा दोष से उत्पन्न हुआ। किन्तु, भारतीय संस्कृति के जो मुख्य लक्षण हैं, वे, नियम से भी, हिन्दू शब्द में भर दिये गये। अतएव, यह नाम आर्य शब्द से व्यंजक हो उठा और उसके वृत्त में वे सभी लोग आ गये जो भारत में बसते और धर्म को स्वीकार करते हैं; भले ही, वे आर्य अथवा द्राविड़ भाण्डार से नहीं आये

भारतवासी अपना हिन्दू नाम उस समय भी जानते थे, जब मुसलमान इस नहीं आये थे। हुएन साङ् के समय में यह शब्द भारत में प्रचलित था, किन्तु, साङ् ने यह लिखा है कि हिन्दू शब्द, असल में, चीनी शब्द 'इन्तु' का रूपान्तर जिसका अर्थ चन्द्रमा होता है। सितारों के बीच चाँद की जैसी प्रतिष्ठा होती है,

उसी प्रकार प्रतिष्ठित होने के कारण भारत को चीन के लोग 'इन्तु' या 'हिन्दु' कहने गे। भारत पर प्रबल रूप से मुस्लिम-आक्रमण महमूद गज़नवी ने किया। अलबैरूनी सी विजेता की सेना के साथ भारत आया था। उस समय यहाँ के लोग हिन्दू कहाते थे। अलबैरूनी ने हिन्दुओं की प्रशंसा लिखी है। इससे यह बात स्पष्ट हो जानी ाहिये कि भारतवासियों का हिन्दू नाम मुसलमानों ने नहीं रखा, न यह नाम कुत्सित र्थ की व्यंजना करनेवाला था।

ारत में आनेवाली अन्य जातियाँ

भारत में बाहर से आनेवालों में सबसे आखिरी गिरोह आर्यों का ही रहा हो, यह ात नहीं है। ईसा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत पर सिकन्दर की चढ़ाई हुई। ौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद, पश्चिम से यूनानियों का बड़ा दल इस देश में आया। ईसा से, प्रायः, एक सौ वर्ष पूर्व युची और शक जातियों के लोग हिन्दुस्तान आये। ौथी शताब्दी में यहाँ हूणों का बहुत बड़ा दल आया। शायद, ईसा से एक-दो सौ र्ष पूर्व आभीर जाति भी इस देश में आकर बसी थी। मगर, जब मुसलमान इस देश ें आये, तब यहाँ केवल हिन्दू जाति का ही निवास था। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और ार्य, मंगोल, यूनानी, युची, शक और आभीर तथा हूण और तुर्क, इनका कहीं कोई लग अस्तित्व नहीं बचा था और ये, सब-के-सब, हिन्दू समाज के चारों वर्णों में बँटकर ली-भाँति पच-खप चुके थे। कई प्रकार की औषधियों को कड़ाह में डालकर जब ाढ़ा बनाते हैं, तब उस काढ़े का स्वाद हर एक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भन्न हो जाता है। असल में, उस काढ़े का स्वाद सभी औषधियों के स्वादों के मिश्रण ा परिणाम होता है। भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर बसनेवाली अनेक ातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता लगाना बहुत मुश्किल कि उसके भीतर किस जाति की संस्कृति का कितना अंश है। चूँकि काढ़ा औंटने ा काम आर्यों ने किया, इसलिए, भारतीय संस्कृति पर आर्यों के नाम का बौद्धिक बुल साफ पढ़ा जा सकता है। लेकिन, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि षधियाँ आर्यों ने अनेक जातियों से लीं और सबका उन्होंने उचित मात्रा में परिाक किया।

हिन्दू संस्कृति की पाचनशक्ति

हिन्दू-संस्कृति की पाचनशक्ति बड़ी ही प्रचंड मानी गयी है। इसका कारण, शायद ह है कि जब आर्य इस संस्कृति का निर्माण करने लगे, तब उनके सामने अनेक जातियों को क संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का सवाल था, जो उनके आगमन के पहले से ही स देश में बस रही थीं। अतएव, उन्होंने, आरम्भ से ही, हिन्दू-संस्कृति का ऐसा लचीला प पसन्द किया, जो प्रत्येक नयी संस्कृति से लिपटकर उसे अपनी बना सके। नीग्रो लेकर हूणों तक, इस देश में आनेवाली सभी जातियाँ इसी लचीलेपन के कारण हिन्दू-माज में खप गयीं। कालक्रम में, हिन्दू-धर्म के भीतर से ही उसके विरुद्ध एक प्रचंड ांस्कृतिक विद्रोह उठा, जिसे हम बौद्ध धर्म के नाम से जानते हैं। किन्तु, धीरे-धीरे वह द्रोह भी लौटकर उसी धर्म में समा गया, जिससे उसका जन्म हुआ था। हिन्दू-स्कृति ने अनेक संस्कृतियों को पीकर अपनी ताकत बढ़ायी है—यहाँ तक कि इस्लाम ी अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रखने का मनसूबा लेकर चला था, वह भी भारत में ाकर कुछ परिवर्तित हो गया। यद्यपि, भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी त्ता को स्वतन्त्र रखने में बहुत दूर तक कामयाब हुए, लेकिन, संस्कृति की दृष्टि से भी अब भारतीय हैं।

हिन्दू या भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को लोग बड़े विस्मय से देखते
सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर डाडवेल ने लिखा है कि "भारतीय संस्कृति मह
के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आ-आकर विलीन होती रही हैं।" मुसलमानी
मण से पूर्व जो तुर्क लोग इस देश में आये थे, उनका क्या हाल हुआ, इसका
बतलाते हुए एक अन्य इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है कि "इन विदेशी लोगों ने
अपने पहले आनेवाले शकों और युचियों के समान ही, हिन्दू-धर्म की पाचन-श
सामने घुटने टेक दिये और बड़ी ही शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये।"
और द्रविड़ों के मिलन से भारतीय संस्कृति ने जो रूप धारण किया, यह उसी की
थी कि इस समन्वय के बाद जो भी जातियाँ इस देश में आयीं, वे भारतीय सं
के समुद्र में एक के बाद एक, विलीन होती चली गयीं। जैसा कि श्री जवाह
नेहरू ने लिखा है—"ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बैक्ट्रियन लोग, सी
और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आनेवाले तुर्क और ईसा की आरम्भिक सदि
आनेवाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब-के-सब, एक-के-बाद एक, भारत में आये
उनके आने से समाज ने एक हलके कम्पन का भी अनुभव किया, मगर, अन्त में आ
वे सब-के-सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई
अस्तित्व नहीं बचा।" एक अन्य विचारक मिस्टर सी. ई. एम. जोड ने लिखा है
"मानव-जाति को भारत-वासियों ने जो सबसे बड़ी चीज, वरदान के रूप में, दी है
यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के वि
के बीच समन्वय करने को तैयार रहे हैं। और सभी प्रकार की विविधताओं
बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजवाब रही है।" मि
जोड ने भारत की इस अपूर्व क्षमता की जो प्रशंसा की है, वह इसलिए कि सं
के सामने आज जो सबसे बड़ा सवाल पेश है, वह यह है कि दुनिया की अ
जातियों, अनेक वादों और विचारों तथा अनेक संस्कृतियों के बीच समन्वय स्था
करके हम विश्व-संस्कृति का निर्माण कैसे कर सकते हैं। स्पष्ट ही, संसार को
मार्ग को अपनाना पड़ेगा, जिस मार्ग पर चलकर भारतवर्ष अपने यहाँ की वि
संस्कृतियों के बीच एकता या मेल बिठाता रहा है। इसीलिए, मिस्टर जोड ने भ
की इस योग्यता को विश्व-मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान कहा है।

अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से भारतीय संस्कृति में जो एक प्रका
विश्वजनीनता उत्पन्न हुई, वह संसार के लिए, सचमुच, वरदान है और पिछले द
वर्षों से सारा संसार उसका प्रशंसक रहा है। १९वीं सदी में अपनी अपूर्व भारत-
से सारे यूरोप को चौंका देनेवाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है कि "अगर मैं
आपसे यह पूछूँ कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओं एवं विचारों
पलनेवाले हम यूरोपीय लोगों के आन्तरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण
अधिक विश्वजनीन, संक्षेप में, अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जा
साहित्य में मिलेगा, तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उँगली हिन्दुस्तान की
उठ जायगी।" इसी प्रकार, बीसवीं सदी के अद्‌भुत चिन्तक और विश्व-मानव
अपूर्व उपासक स्वर्गीय रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है कि "अगर इस धरती पर कोई
ऐसी जगह है, जहाँ सभ्यता के आरम्भिक दिनों मे ही मनुष्यों के सारे सपने
और पनाह पाते रहे हैं, तो वह जगह हिन्दुस्तान है।"

यह विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के साँचे में ढालने का
अद्‌भुत प्रयास और अनेक वादों, विचारों और धर्मों के बीच एकता लाने का
निराला ढंग सभी युगों में भारतीय समाज की विशेषता रहा है।

द्वितीय अध्याय

प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह

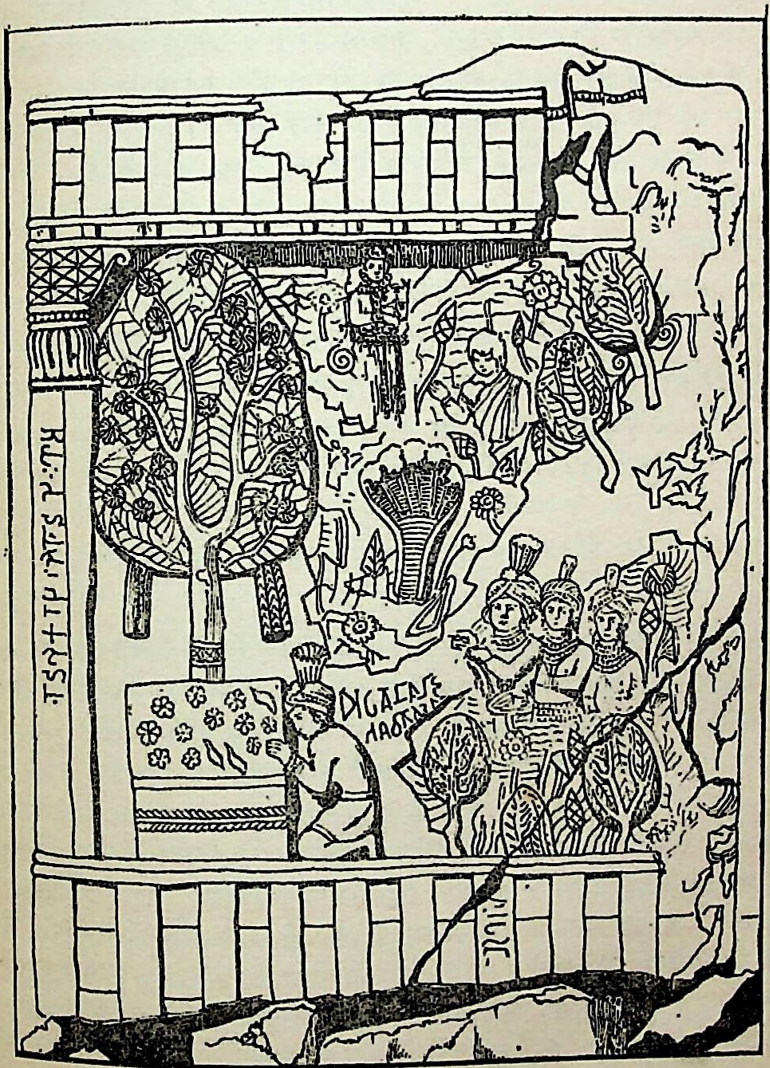

प्रकरण १

बुद्ध से पहले का हिन्दुत्व

हिन्दुत्व का स्वभाव है कि वह जितना ही परिवर्त्तित होता है, उतना ही अपने मूल रूप के अधिक समीप पहुँच जाता है। पार्श्वनाथ और वर्धमान महावीर ने हिन्दुत्व जो सुधार किये वे, प्रायः, धीरे-धीरे, एवं एक प्रकार की निःशब्दता के साथ आये। न्तु, बहुत-कुछ वैसा ही सुधार महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों ने यथेष्ट कोलाहल के थ किया और उनके सुधारों के परिणामस्वरूप हिन्दू-धर्म का रूप परिवर्त्तित भी हुआ। न्तु, वह इतना परिवर्त्तित नहीं हुआ कि उसका आज का रूप बुद्ध से पहलेवाले रूप से लकुल भिन्न हो जाय। वैदिक आर्य यज्ञ के प्रेमी थे, किन्तु, आज भी यज्ञ जहाँ-तहाँ ते रहते हैं। वैदिक आर्य ऊषा, इन्द्र, सूर्य और अग्नि आदि को देवता मानते थे, किन्तु, ाज भी ऐसे नैष्ठिक हिन्दू विद्यमान हैं, जिनके हृदय में इन देवताओं के लिए श्रद्धा र भक्ति है। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि स्वर्ग में भी आत्मा इसी जीवन के मान सुख और आनन्द भोगती है, और आज भी ऐसे हिन्दुओं की कमी नहीं, जो वर्ग में सुख पाने के लिए धरती पर दान देते हैं।

आज से तीन हज़ार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी, मूलतः, ह वैसा ही है। मिस्र, बेबिलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ उठी थीं। किन्तु, ल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी रा नहीं। वह बराबर वर्त्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। ारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और, कदाचित्, आगे भी ीवित रहेगा।

किन्तु, एक बात है जिसमें काफी अन्तर पड़ा है और वह बात यह है कि नास्तिकों वं भौतिकवादियों को छोड़कर आज ऐसे हिन्दू कम हैं, जो परलोक का भय नहीं मानते ों। यह वैदिक काल की भावना से भिन्न भावना है। वैदिक ऋषि नास्तिक या ौतिकवादी तो नहीं थे, किन्तु, मृत्यु से डरने की बात उन्हें नहीं सूझी थी, न उनमें ही भाव जगा था कि स्वर्ग के साथ-साथ कहीं कोई नरक भी हो सकता है, जहाँ आत्मा को यातनाएँ झेलनी पड़ सकती हैं। वस्तुतः, आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था। इन सिद्धान्तों के बीज कोई खोजे तो वेदों में खोज सकता है। किन्तु, इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ-सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, इस सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं में मिलता है, किन्तु, आत्मा का आवागमन क्यों होता है, इसकी खोज वेदों में नहीं मिलती। वेदों का वातावरण आनन्द और उल्लास का वातावरण है। उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है। इससे यह

नहीं समझना चाहिये कि वैदिक जनता इसी संसार पर भूली हुई थी और उसे जी परान्त आनेवाले जीवन का ध्यान ही नहीं था। ध्यान था और ऋषियों ने कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है। किन्तु, इसे हम विचार ही कहेंगे, भय या नहीं। अपनी समस्त सीमाओं के साथ सांसारिक जीवन वैदिक ऋषियों का प्रेय प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी, जब के सामने गृहस्थ-जीवन निस्सार हो गया एवं जब लोग जीवन से आनन्द लेने के उससे पीठ फेरकर संन्यास लेने लगे। हाँ, यह भी हुआ कि वैदिक ऋषि जहाँ यह कर शान्त हो जाते थे कि "यह सृष्टि किसने वनायी ?" और "कौन देवता है जि हम उपासना करें ?" वहाँ उपनिषदों के ऋषियों ने सृष्टि बनानेवाले के सम्बन्ध में सिद्धान्तों का निश्चयन कर दिया और उस "सत्" का भी पता पा लिया जो पूजा उपासना का, वस्तुतः, अधिकारी है। वैदिक धर्म का पुराना आख्यान वेद और आख्यान उपनिषद् हैं।

वैदिक वाङ्मय

काव्य-मीमांसा के लेखक राजशेखर ने माना है कि वेद तीन ही हैं, ऋक्, और साम। अथर्व चौथा वेद है, किन्तु, उसमें अधिक अंश इन्हीं तीन वेदों के हैं। के सिवा, उसमें मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन आदि विद्याओं का ही है। सामवेद में ऋग्वेद के ही गेय मंत्रों का प्राधान्य है। यजुष् गद्य में है। यज्ञों में और गीत गाये जाते थे तथा यजुषों का पाठ होता था।

वेदों का पूरा सम्बन्ध यज्ञों से था। यज्ञ की विधियाँ लिखी जाने लगीं। इस एक नया वाङ्मय उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ब्राह्मण पड़ा। ब्राह्मण प्रत्येक मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ, यह नाम ही निर्देश करता है कि इन ग्रन्थों की रचना पुरोहित, यज्ञ आदि के कारण हुई होगी। आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ यज्ञों की विधियाँ समझाने तथा उनके अनुष्ठानों का निर्धारण करने को ब्राह्मण- बने। यज्ञ में प्रत्येक वेद के मंत्र पढ़े जाते थे, इसलिए, वेदी के पास प्रत्येक वेद के षज्ञ बैठा करते थे।[1] अतएव, यज्ञ के विषय में प्रत्येक वेद की कहाँ क्या उपयो है, इसे समझाने के लिए प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण वन गये। मुख्यतः, कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं और स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक काल में कर्म अर्थ यज्ञ समझा जाता था।

ब्राह्मण अत्यन्त नीरस ग्रन्थ हैं। उनके भीतर विधि और अर्थवाद, ये दो प्रका विषय हैं। विधियाँ यज्ञों के नियम हैं और अर्थवाद उनकी व्याख्या का प्रयास। वाद के अन्दर ही इतिहास, पुराण और आख्यायिकाओं के प्रसंग आते हैं, जिनमें पु

---

[1] मंत्र का नाम पहले ब्रह्म था। पीछे, ब्रह्म उसे कहने लगे जो वेदी के बिठाया जाता था। और भी पीछे चलकर ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का हो गया।

ाहित्य का मूल है। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक महत्त्व यह भी है कि वे वेद ौर वेदोत्तर साहित्य के बीच की कड़ियाँ सूचित करते हैं। ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ-ियम जब असीम जाल बन गये, तब उन्हें संक्षिप्त और व्यावहारिक बनाने के प्रयास से ौत-सूत्रों का विकास हुआ। ब्राह्मण-युग में ही यास्क ने निरुक्त लिखा, जिसका ्देश्य वेद के अर्थ को सुनियोजित करना था। और जब ब्राह्मण-ग्रन्थों ने यज्ञ को बहुत धिक प्रधानता दे डाली, तब ब्राह्मणों के विरुद्ध एक नये चिन्तन का आरम्भ हुआ, जिसका ारम्भिक रूप आरण्यकों में दिखायी देता है। जो चिन्तक पुरोहितवाद और यज्ञ को थेष्ट श्रद्धा से नहीं देखते थे, उनमें जीवन के प्रति एक प्रकार का वैराग्य उदित होने लगा, घर-बार छोड़कर अरण्यों में रहने लगे और उनका चिन्तन इस प्रश्न को लेकर चलने गा कि यज्ञों का वास्तविक अर्थ क्या है, उनके भीतर कौन-सा रहस्य है तथा वे धर्म के कस रूप के प्रतीक हैं? आश्रमों के विकसित हो जाने पर आरण्यक उनके प्रिय ग्रन्थ न गये जो वानप्रस्थी थे। सभी प्राचीन उपनिषद्, (बृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, ऐत्तरेय ौषीतकि और तैत्तिरीय) या तो आरण्यकों के अंग अथवा उनके परिशिष्ट ग्रन्थ थे।

दांग

यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ-भेद विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनों में, विविधताएँ भर जाती थीं। न अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन और गायन में होनेवाली विविधताओं में व्यवस्था ाने केलिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदांग कहे जाते हैं। ये वेदों के अंग इस ाए माने गये कि इनका सम्बन्ध वेदों के उच्चारण, उनके गान तथा अर्थबोध से है।

. **शिक्षा**—यह आजकल का फोनेटिक्स या उच्चारण-शास्त्र था। सामवेद की ाक्षा का नाम नारद-शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य-शिक्षा। सी प्रकार, पाणिनीय-शिक्षा भी है।

. **छन्द**—छन्द-शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बना था। अब सका एक ही ग्रन्थ 'पिंगल' मिलता है, जिसमें वैदिक और लौकिक, दोनों प्रकार के न्दों का वर्णन है।

. **निरुक्त**—वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था। घण्टु नामक एक ग्रन्थ में कठिन वैदिक शब्दों की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि (समय ई०पू० ७००) भाष्य बनाया, जो निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ही, पहले-पहल, यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।

. **व्याकरण**—पाणिनि की अष्टाध्यायी ईसा से ७०० वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भरद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु, उनके थ अब नहीं मिलते। पाणिनि से पूर्व के वैदिक व्याकरण को प्रातिशाख्य कहते थे। ौनक-प्रातिशाख्य और कात्यायन-प्रातिशाख्य अब भी मिलते हैं।

शिक्षा, छन्द, निरुक्त और व्याकरण, असल में, ये ही चार वेदांग हैं, जिनका स वेद के भाषा-विषयक विज्ञान से है। किन्तु, दो और विद्याओं को मिलाकर वेदांग कहे जाते हैं।

५. ज्योतिष—यह आर्यों का एकमात्र भौतिक शास्त्र था। जयचन्द्रजी का क है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

६. कल्पसूत्र—जिस प्रकार, वेदों के कर्मकाण्ड-पक्ष के नियमन के लिए ब्रा ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्याख्या के लिए कल्पसूत्र कल्पसूत्रों में, व्याजान्तर से, आर्यों का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्पसूत्र प्रकार के हैं। एक तो श्रौतसूत्र, जिनमें आर्यों के यज्ञों का वर्णन है तथा जिनसे भार यज्ञ-पद्धति का मूल-स्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा स्मार्त्तसूत्र, जिसके दो भेद (१) गृह्य-सूत्र में षोडश संस्कारों का वर्णन है। (२) धर्मसूत्र में राजा तथा प्रजा धर्म, धार्मिक नियमों और वर्णाश्रम-विधान का वर्णन है।[1]

उपनिषद्

वैदिक साहित्य में, वेदांगों के बाद, उपनिषदों का स्थान आता है। मुक्तिक निषद् के अनुसार, सभी उपनिषदों की संख्या १०८ है, किन्तु, पंडित इनमें से सब को महत्त्व नहीं देते। ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषद् महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, जिनक रचना बुद्धदेव के आविर्भाव के पहले हो चुकी थी। उपनिषदों की रचना बहुत तक होती रही, यह असन्दिग्ध बात है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अल् निषद (अल्ला का उपनिषद्) की रचना अकबर के समय में हुई। इन १०८ उपनि में प्रमुख कौन-कौन माने जायँ, इस विषय में सामान्य मत यह है कि शंकराचा जिन उपनिषदों की टीका लिखी है, वे सबसे प्रमुख हैं। शंकराचार्य ने उपनिषदों की टीका-लिखी, उनके नाम हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृ रण्यक और (११) नृसिंहपूर्वतापनी। इनके सिवा, शंकराचार्य ने पाँच-छह उपनिषदों से भी उद्धरण दिये हैं। श्री रामानुजाचार्य ने सभी उपनिषदों की टी नहीं लिखी, किन्तु, उन्होंने भी, प्रायः, इन्हीं उपनिषदों का हवाला दिया है।

उपनिषद् वेदों के बाद बने या उनके साथ ही, इस बात पर भी विवाद है। अ

---

[1] इन्हीं सूत्रों से, बाद में, स्मृतियाँ निकलीं। काल-क्रम में, वेद विस्मृति और वि की धूलों के नीचे दब गये थे। १४ वीं सदी में वेदों का उद्धार सायण ने कि सायण विजयनगर राज्य में रहते थे। इन्हीं के भाष्य के प्रकाश में हम वे आज देख और समझ सकते हैं। मैक्समूलर और राममोहन राय ने भी वे सेवा इसी भाष्य के आधार पर की। सूत्र-शैली का जन्म वेदांगों के ज प्रायः, साथ ही हुआ। अनुमान है कि धर्मसूत्रों की रचना ई०पू० ५०० से तक होती रही। किन्तु, ये ग्रन्थ बहुत दिनों में बने, अतएव, उनमें इस अव पहले की भी बातें मिलती हैं।

ह है कि उपनिषदों की भी रचना पहले मौखिक ही की गयी थी और लिखे वे पीछे ये हैं[1]। इसलिए, कहीं-कहीं वे वैदिक संहिताओं में भी सम्मिलित मिलते हैं। शावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है; छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद के क ब्राह्मण के अन्तर्गत मिलता है। और बृहदारण्यक शतपथब्राह्मण का एक भाग है। पनिषद् शब्द का अर्थ कोई-कोई पंडित "पास बैठना" लगाते हैं (उप=निकट; षद्=बैठना) जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि शिष्य गुरु के पास बैठकर वेद ा तत्त्व समझा करते थे। इस शिक्षण के सिलसिले में जो ज्ञान निकला, वही पनिषदों में संचित है।

दों और उपनिषदों की विचार-धारा

अपने देश में एक परम्परा है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास की खोज रते हैं, तब उसके मूल, उत्स, जड़ या बीज की खोज वेदों में जरूर करते हैं। भारत नाटक का विकास कैसे हुआ, इसकी खोज करते-करते हम वेदों के सम्वाद-सूक्तों में टकों के बीज देखते हैं। वैष्णव धर्म का उत्स हम वेद में प्रयुक्त विष्णु (सूर्य के अर्थ) शब्द में देखते हैं तथा शैव धर्म की जड़ हमें वेदों की रुद्र-भावना में मिलती है। ौर यह ठीक भी है, क्योंकि वेदों में बीज-रूप में जो चिन्तन है, उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य में हुआ है।

इस प्रकार देखने पर, हम उपनिषदों को वेदों के विकास की कड़ी कहेंगे। यूरोपीय द्वानों ने वेदों पर तो थोड़ी भी श्रद्धा नहीं दिखलायी, किन्तु, उपनिषदों पर वे एक मय (उन्नीसवीं शती में) आनन्द से टूट पड़े थे। किन्तु, उपनिषद् कोई आकस्मिक स्तु नहीं हैं। असल में, वेदों में जो बातें थीं, उन्हीं पर विचार करते-करते ऋषियों उपनिषदों की रचना की।

वेदों में हम जिस धर्म का बखान पाते हैं, वह प्रकृति के तत्त्वों को सजीव मानने-ले भावुक मनुष्य का धर्म है। इन्द्र, वरुण, अग्नि और सविता, ये सभी वैदिक देवता से हैं, जिनका रूप और चमत्कार हम, थोड़ा-बहुत, चर्मचक्षु से भी देख सकते हैं। द-कालीन मनुष्य का विश्वास था कि प्रकृति की प्रत्येक शक्ति एक देवता के अधीन म करती है और उस देवता की पूजा करने से मनुष्य का कल्याण होता है। अतएव, धिकांश में, वैदिक आर्य देवताओं की स्तुति करते हैं कि उनके (आर्यों के) बैल मोटे , घोड़े बलवान हों, फसल की उन्नति हो और शत्रुओं पर उन्हें विजय मिले। यही हीं, बल्कि, स्वर्ग की कामना भी वे इसी भाव से करते हैं कि स्वर्ग में भी उन्हें उसी कार का उत्तम सुख मिले, जिस प्रकार के सुखों का भोग इस पृथ्वी पर उपलब्ध है।

हुदेववाद

प्रकृति के प्रत्येक रूप में एक देवता की कल्पना करते रहने के कारण वैदिक आर्य

केनेथ सॉण्डर्स का विचार 'ए पैजेंट आव् एशिया' नामक ग्रन्थ में) है कि उपनिषदों की रचना ई०पू० ९०० से ई०पू० ७०० तक हुई है। लेखन-कला का प्रचलन उससे बहुत पूर्व ही हो चुका था।

बहुदेववादी हो गये थे, यह बात वैदिक साहित्य से प्रमाणित होती है। ऋग्वेद
देवताओं का अस्तित्व मानता है। शतपथ-ब्राह्मण में भी ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आ
तथा आकाश और पृथ्वी, इन ३३ देवताओं का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्म
भी ११ प्रयाजदेव, ११ उपयाजदेव और ११ अनुयाजदेव, ये ३३ देवता हैं। ऋ
दो मंत्रों में ३३३९ देवताओं के होने का उल्लेख मिलता है। किन्तु, सायणा
लिखा है कि देवता तो ३३ ही हैं, केवल उनकी महिमा दिखाने के लिए ३
देवताओं का उल्लेख कर दिया गया है।

किन्तु, इन विभिन्न देवों को पूजते रहने पर भी, आर्य यह मानते थे कि ये
देवता, मूलतः, एक ही हैं। निरुक्तकार का कहना है कि "तत्तत्कर्मानुसार वि
नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक ही हैं।" यास्क ने उदाहरण दिया है "नरा
मिव" अर्थात् व्यक्ति-रूप से भिन्न होते हुए भी, जैसे, असंख्य मनुष्य राष्ट्र-रूप में
हैं, वैसे ही, विविध रूपों में प्रकट होने पर भी देवों में एक ही परमात्मा व्याप
इन्हीं परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण-ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता
प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गये हैं।

वैदिक संहिताओं में सबसे अधिक (कोई साढ़े तीन हजार) मंत्र इन्द्र के स
में हैं। इन्द्र का सबसे बड़ा पराक्रम यह था कि उन्होंने वृत्रासुर का वध किया
आर्यों का प्रचण्ड शत्रु था। इन्द्र ने वज्र द्वारा शम्बरासुर के ९९ नगरों को
किया, शरत् नामक असुर की सात पुरियों को विध्वस्त किया, इसीलिए, उनका
पुरन्दर पड़ा।

अग्निदेव के सम्बन्ध में वैदिक संहिताओं में कोई ढाई हजार मंत्र हैं।

इन्द्र और अग्नि के बाद, वेद में सर्वाधिक मंत्र सोम के सम्बन्ध में मिलते हैं
पेय द्रव्य था, जिसमें आर्यों को देवत्व के दर्शन हुए थे। मंत्रों में आया है, "
तुम्हें पीकर हम अमर होंगे, अनन्तर प्रकाशमान स्वर्ग में जायेंगे और देवों को जा
"सोम मदकर, स्वादुत्तम, रसात्मक, अरुण वर्ण और सुखकारी हैं;" "सोम
पीसे जाकर और ३२ सेर वाले कलश से युक्त होकर अभिस्रवण स्थान में बैठते
"सोम पर्वत से उत्पन्न और मद के लिए अभिपुत हैं;" "सोम के शोधक मेषचर्म
गोचर्म हैं।"

अश्विनीकुमारों के सम्बन्ध में भी वेद में बहुत-से मंत्र हैं। अश्विनीकुमार
और दोनों वैद्य थे, इस कारण, उनकी पूजा होती थी। मंत्रों में आया है, "वृ
नामक स्तोता को तुमने यौवन से युक्त किया था। तुम लोगों ने लँगड़ी विश्व
लोहे के चरण देकर उसे गति-समर्थ बना दिया था।" विश्वपला खेल-ऋषि की
थी, जो युद्ध में भी जाती थी।

यास्क का मत है कि वायु आर्यों के अत्यन्त प्राचीन देवता हैं। "मरुतों के
से द्यावा-पृथ्वी चक्र की तरह घूमने लगी थी।"

अश्विनीकुमारों की तरह, ऋभुगण भी शिल्पी और वैद्य थे और इनकी पू

ार्य श्रद्धा से करते थे। इसी प्रकार, मित्र, वरुण, ऊषा और पूषा, इनकी स्तुति में भी नेक मंत्र हैं। यास्क ने निरुक्त में पूषा का अर्थ सूर्य किया है। मंत्र में आया है प्रकाशमान् पूषन्, कृष्ण को दान देने के लिए प्रेरित करो और उसके हृदय को ोमल करो।"

यमराज और पितरों के सम्बन्ध में भी वेद में अनेक मन्त्र हैं। कहा गया है, "यम ही पास सारा मानव-समुदाय जाता है।" "जिस पथ से हमारे पूर्वज गये हैं, उसी थ से सारे जीव जायेंगे।" "जहाँ हमारे पितामहादि गये हैं, उसी प्राचीन मार्ग से हे त पितः, जाओ।" "श्मशान-घाट के पिशाचादिको, यहाँ से हटो, दूर जाओ।" साधु-स्वभाव पितर देवों के साथ हवि भक्षण करते थे और इन्द्र के साथ रथ पर चढ़ते ।" "जो पितर जलाये गये हैं और जो नहीं जलाये गये हैं, वे सव स्वर्ग में स्वधा के ाथ आनन्द करते हैं।"

वेदों में परमात्मा की कल्पना बहुत सुस्पष्ट तो नहीं मिलती, किन्तु, उसकी सत्ता स्पष्ट है और इस कल्पना की नींव "नासदीय सूक्त"-जैसे सूक्तों में पड़ी थी। "सर्वप्रथम वल परमात्मा थे। वे सबके अद्वितीय अधीश्वर थे। उन्होंने पृथ्वी और आकाशको थास्थान स्थापित किया।" "परमात्मा से सभी देव उत्पन्न हुए।"

उपनिषदों में जो सूक्ष्म चिन्तन मिलता है, उसका मूल **नासदीय सूक्त** में था। इस क्त को लोकमान्य तिलक ने मनुष्य-जाति की सबसे बड़ी स्वाधीन चिन्ता कहा है, जो क है। ऐसा लगता है कि जिन प्रश्नों को लेकर उपनिषद् जूझे और जिन्हें लेकर न्तक आज भी जूझ रहे हैं, उन सभी प्रश्नों के वीज इस सूक्त में निहित थे। इस क्त में आया है, "सृष्टि के प्रथम, अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ था। सभी कुछ ज्ञात और सब जलमय (वा अविभक्त) था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी ाच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ।" "प्रकृत तत्त्व को ौन जानता है? कौन उसका वर्णन करे? यह सृष्टि किस उत्पादन-कारण से हुई? स निमित्त-कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? क्या देवता लोग इन सृष्टियों के नन्तर उत्पन्न हुए हैं? कहाँ से सृष्टि हुई, यह कौन जानता है? ये नाना सृष्टियाँ हाँ से हुईं? किसने सृष्टियाँ कीं और किसने नहीं कीं, यह सब वे ही जानें जो इनके वामी परम धाम में रहते हैं। **हो सकता है कि वे भी यह सब नहीं जानते हों।"**

उतने प्राचीन काल में ऐसा प्रचण्ड चिन्तन! सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है। पनिषदों के समय भारत में जो बौद्धिक व्यग्रता आरम्भ हुई, उसके कारण नासदीय क्त में मौजूद थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अवतारों की कल्पना तो वेद में नहीं मिलती, हाँ, विष्णु के वामनावतार की था का अंकुर ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में पाया जाता है।....परलोक वा देवयान और तृयान का विवरण जिन सूक्तों में है, उन्हीं में आत्मा और पुनर्जन्म का भी कथन । अन्यत्र भी है। १२३२।३ में कहा गया है, "व्यक्ति का एक अंश जन्म-रहित और श्वत है।" एक अन्य मंत्र में जीवात्मा को कर्मफल-भोक्ता बताया गया है।

ये सारे विचार वैदिक युग में अंकुरित हो चुके थे, किन्तु, धर्म के नाम पर विशाल वृक्ष यज्ञों का ही था और यज्ञ ही आर्यों का प्रधान कर्म था। "विश्व उत्पत्ति का स्थान यज्ञ है।" "सभी कर्मों में श्रेष्ठ कर्म यज्ञ है।" "यज्ञ के कर्म स्वर्ग की प्राप्ति होती है।" "वृष्टिकामो यजेत" (वर्षा चाहनेवाला यज्ञ करे) वाक्य वेद में बहुत होंगे। यज्ञ आर्यों का मुख्य धर्म था और यज्ञ में पशु-हिंसा का जाती थी। इसलिए, आर्य-धर्म के विरुद्ध उठनेवाली क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य यज्ञ हु

ऋग्वेद में जिस समाज का चित्र है, वह समाज अत्यन्त सुखी और सम्पन्न था। कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि उस समाज से लोग तनिक भी असन्तुष्ट थे संसार दुःख का आगार है अथवा जीवन नश्वर और क्लेशपूर्ण है, इस भावना पर ने कहीं भी जोर नहीं दिया है। यह सच है कि मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाले जीव बड़ाई वैदिक ऋषि भी उत्साह से करते हैं, किन्तु, उनका यह भाव नहीं है कि का वर्त्तमान जीवन दुःखी है, इसलिए, भागकर उसे स्वर्ग में समा जाना चाहिये। वे इस जीवन को सुन्दर तथा सुखपूर्ण मानते थे और विश्वास करते थे कि देवता अनुकूल रहें तो मनुष्य पुण्य के रास्ते पर चलकर अपनी जिन्दगी बहुत ही आनन्द साथ बिता सकता है। मनुष्य में जो पाप हैं और जिनके कारण वह दुःख में पड़ उनका वर्णन भी ऋग्वेद में नहीं के समान है। असल में, वैदिक साहित्य (संहिता- उद्दाम आशावाद से ओत-प्रोत है और निराशा की उसमें कहीं गन्ध भी नहीं मि उनका सबसे प्रधान स्वर यह है कि यह जिन्दगी आनन्द से जीने के योग्य है और दे को प्रसन्न रखकर हम मरकर भी ऐसा लोक प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ आनन्द-ही- होगा। वेद में इस लोक का वर्णन है, इस जीवन के बाद मिलनेवाले स्वर्ग का है, किन्तु, वैदिक ऋषि नरक के बारे में अधिक नहीं जानते हैं। वे कोई ऐसी बात कहते, जिससे मनुष्य को भय हो, उसका उत्साह दबे अथवा जीवन में उसका कम हो जाय।

लेकिन, यह नहीं समझना चाहिये कि वैदिक काल के भारतीय भोगवाद में वि अन्धे हो रहे थे और इन्द्र, वरुण तथा अग्नि के जो दृश्य रूप हैं, उनसे ऊपर सूक्ष्म परम सत्ता को वे नहीं देख पाये थे। वे जानते थे कि सृष्टि का स्वामी को ही (शक्ति) है और उसी का प्रकाश सूर्य, अग्नि, वरुण और इन्द्र में झलकता है। वे जब जिस देवता की स्तुति करते थे, तब उसी को सृष्टि का स्वामी मान लेते उसकी प्रशंसा इस प्रकार करने लगते थे, मानों, वही देवता सर्वशक्तिमान हो। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मरने के बाद वे केवल उसी की कामना क जिस लोक में उन्हें सांसारिक सुखों के समान सुख और दैहिक भोगों के समान

---

१. इस प्रसंग के सारे उद्धरण पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी के "हिन्दी ऋग्वेद" उसकी भूमिका से लिये गये हैं।

मल सकें। शतपथ-ब्राह्मण में यजुर्वेद का एक मंत्र आता है, जिसमें ऋषि प्रार्थना रते हैं कि "हे अग्नि ! तुम व्रतपति हो ; मैं व्रत करूँगा ; ऐसी शक्ति दो कि यह व्रत सद्ध हो ; क्योंकि मैं अनृत (असत्य) को छोड़कर सत्य को प्राप्त करना चाहता हूँ।" ष्ट ही, यह इशारा स्वर्ग नहीं, स्वर्ग से किसी ऊँची स्थिति की ओर है।

ऐसा लगता है कि ऐसी ही सूक्ष्म स्थिति की कल्पना से मोक्ष की कल्पना उद्भूत ई होगी और जब मोक्ष की धुँधली कल्पना ऋषियों के सामने आयी, तभी उन्होंने ान-मार्ग पर सोचना आरम्भ किया। ज्ञान और कर्म, वेदों में ये दोनों ही मार्ग हैं। र्मकाण्ड की प्रधानता संहिता और ब्राह्मण में है, जो यज्ञ को मनुष्य का प्रधान कर्म ानते थे, और जिनका विश्वास था कि यज्ञ करने से ही देवता प्रसन्न होते हैं, जिनकी पा से मनुष्य को इस जीवन में विजय और मरने के बाद स्वर्ग मिलता है। किन्तु, दों में ज्ञान-मार्ग की जो स्फुट बातें जहाँ-तहाँ विकीर्ण थीं, उन्हीं को लेकर उपनिषदों ा विकास हुआ। फिर भी, वेदों के प्रभुत्व के समय ज्ञान और कर्म के बीच झगड़ा हीं बढ़ा, क्योंकि उपनिषद् भी वेद के प्रमाण पर चलते हैं। और यह भी कहते हैं कि ज्ञ से सुख और स्वर्ग जरूर मिलते हैं, किन्तु, दोनों नाशवान् हैं। अतएव, मनुष्य को च्चे सुख के लिए कुछ और करना चाहिये। उपनिषदों ने सच्चे सुख की जो कल्पना ी, वह मोक्ष का सुख था, वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस ख के सामने स्वर्ग-सुख को उपनिषदों ने हीन बताया और इसी प्रकार, लोग स्वर्ग के मने लौकिक जीवन को भी हीन मानने लगे। अतएव, भारतीय दर्शन में निराशावाद एक हल्की परम्परा का आरम्भ उपनिषदों में ही होता है और यही परम्परा उपनिषदों के पूर्ण विकास के युग में आकर पुष्ट और जैन तथा बौद्ध दर्शनों में जाकर प्रचंड उठी। संहिताओं और ब्राह्मणों में हम वैराग्य और संन्यास की बात नहीं पाते, द्यपि, वानप्रस्थ-धर्म का आख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध है। लेकिन, उपनिषदों में राग्य और संन्यास, दोनों, हमारे सामने बार-बार आते हैं।

वैदिक भारतीय यज्ञों के बड़े प्रेमी थे। उनका सारा जीवन ही यज्ञमय था। वे र्यों के लिए यज्ञ करते थे, महामारी से बचने के लिए यज्ञ करते थे, शत्रुओं पर विजय ने के लिए यज्ञ करते थे, पशुओं की तन्दुरुस्ती के लिए यज्ञ करते थे और परलोक में ख पाने के लिए यज्ञ करते थे। जीवन में यज्ञ की इसी व्यापकता के कारण, उस मय के भारतीय समाज में पुरोहितों और ब्राह्मणों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया और ज्ञों की विधियों को निर्धारित करने के लिए जो ग्रन्थ बने, उनका नाम ही ब्राह्मण ड़ गया। जैसा कि इस वर्णन से समझा जा सकता है, वैदिक भारतीयों के यज्ञ का देश्य सांसारिक सुखों की वृद्धि था और ऐसे ही सुख वे स्वर्ग में भी पाना चाहते थे। सके साथ ही, यज्ञों में पशु-हिंसा भी बहुत होती थी। इन सारी बातों के कारण यज्ञ हुत ही स्थूल समझे जाने लगे, कर्मकाण्ड ऋषियों को काफी नहीं जँचने लगा और वे चने लगे कि धर्म का यह स्थूल रूप घटना चाहिये और मनुष्य को इससे ऊपर उठकर किसी सूक्ष्म धर्म की खोज करनी चाहिए।

समाज में जो बातें व्यापक रूप से प्रचलित रहती हैं, उनमें अगर दोष हों दोष पहले दो-चार या दस-बीस आदमियों को ही दिखायी देते हैं और पहले ये ही उनके खिलाफ सोचने और बोलने भी लगते हैं। यह आलोचना धीरे-धीरे ब और जब वह खूब बढ़ जाती है, तब सारा समाज उस पर ध्यान देने लगता है। धर्म या समाज में क्रान्ति है। मगर, स्मरण रहे कि इस आलोचना के बीज के हृदय में पहले से ही वर्त्तमान रहते हैं।

वेदों ने यज्ञ का प्रतिपादन किया था और लोगों को यह शिक्षा दी थी कि हर तरह से सुखी, सम्पन्न और विजयी रहना चाहते हो तो देवताओं की प्रस लिए यज्ञ करो। यही नहीं, बल्कि अगर मरने के बाद भी सुख भोगने की इच्छा स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ करो। यह एक प्रकार का भोगवादी उपदेश था, समाज ने बड़े ही उत्साह से ग्रहण किया था। लेकिन, वेदों के ऋषि यहीं त रुके थे; ऊँची-ऊँची बातें सोचते हुए उन्होंने, जब-तब यह संकेत भी किया था कि से ऊपर भी कोई स्थिति हो सकती है। इसके सिवा, निरी सांसारिकता से ऊप कर उन्होंने यह भी विचार किया था कि यह सृष्टि कहाँ से निकली है तथा मालिक कौन है। जब ऋषियों में से कुछ लोगों को यज्ञ अयथेष्ट मालूम होने ल उनका ध्यान वेद के उन अंशों पर गया, जिनमें स्वर्ग से ऊपर की स्थिति की इशारा किया गया था, जिनमें यह प्रश्न उठाया गया था कि सृष्टि की रचना कै और इसका अध्यक्ष कौन है। इसी चिन्ता से उपनिषदों का जन्म हुआ। अस उपनिषद् वेद के उन स्थलों की व्याख्या हैं जिनमें यज्ञों से अलग हटकर ऋ जीवन के गहन तत्त्वों पर विचार किया है।

उपनिषदों की विशेषताएँ

उपनिषद वेद का अनादर नहीं करते, मगर, वे मानते हैं कि वेदों ने यज्ञ के रास्ते बताए, उनसे मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्व विषय में भी उपनिषद् यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी कर सक जब तक उसका पुण्य शेष हो। पुण्य समाप्त होते ही, उसे फिर जन्म लेना प और फिर उसकी मृत्यु होती है, जो दुःख है।

उपनिषदों के अनुसार, मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष या मुक्ति प्राप्त कर और मुक्ति है जन्म और मृत्यु के बन्धनों से छुटकारा। मनुष्य को ऐसा प्रयत्न चाहिये कि उसे फिर से जन्म लेना न पड़े, क्योंकि जन्म लेने से ही जीव को क्लेश भोगने पड़ते हैं।

सृष्टि के विषय में उपनिषदों का यह मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन वायु, इन पाँच तत्त्वों से बनी हुई है। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महत्तत्त्व है, जि पाँचों तत्त्व विद्यमान् रहते हैं। काल पाकर यह महत्तत्त्व (जिसे हम प्रकृति का तत्त्व भी कह सकते हैं) फैलने लगता है। महत्तत्त्व के इसी फैलाव को हम सृ

त्म, रचना और विकास कहते हैं। फिर एक समय आता है जब यह फैलाव सिमटने गता है और सिमट कर वह महत्तत्त्व में केन्द्रित हो जाता है। सिमटने की प्रक्रिया ो सृष्टि का विनष्ट होना या प्रलय कहते हैं। इस बात को समझाने के लिए उपनिषदों में मकड़े की जाली की उपमा दी गयी है। मकड़े के भीतर से जाली निकल र चारों ओर छा जाती है। यही सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमट कर कड़े के भीतर चली जाती है, यही सृष्टि का विनष्ट होना है। अब यह प्रश्न उठता कि यह मकड़ा प्रकृति है या ब्रह्म ? यानी सृष्टि की रचना ब्रह्म करता है या वह ाप-से-आप होती है ? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दो प्रकार से दिया है। एक ो यह कि यह मकड़ा ब्रह्म ही है और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा यह क मकड़ा, असल में, प्रकृति के मूल तत्त्व अथवा महत्तत्त्व की उपमा है। ब्रह्म सृष्टि की चना नहीं करता। सृष्टि इस महत्तत्त्व से निकलती है और उसी में वापस भी चली ाती है।

इन्हीं दो प्रकार के उत्तरों से आगे चलकर भारत में द्वैतवाद और अद्वैतवाद के सद्धान्त निकले। जिन्होंने यह माना कि महत्तत्त्व तो जड़ है, उससे चेतन सृष्टि कैसे कल सकती है, इसलिए, सृष्टि की रचना ब्रह्म ने की, वे द्वैतवादी हुए। इसके परीत, जिनके सामने यह प्रश्न आया कि सृष्टि में अच्छे लोग भी हैं और बुरे लोग ी, पाप भी है और पुण्य भी, सुख भी है और दुःख भी, फिर यह कैसे माना जाय कि प, दुःख और दुराचार भी ब्रह्म से ही निकले हैं और ब्रह्म में भी दुःख और पाप का वास है,[1] उन्होंने अद्वैतवादी मार्ग पकड़ा और यह कहा कि ब्रह्म निराकार, निर्विकार र चेतन है। उसमें किसी प्रकार की भी इच्छा नहीं होती (क्योंकि इच्छा का होना विकार है), इसलिए, न तो सृष्टि रचने की उसे इच्छा हुई, न उसने सृष्टि की चना की। सृष्टि प्रकृति के मूल तत्त्वों से (महत्तत्त्व) से निकली है और वह उसी में मा जाती है। जब यह प्रश्न अद्वैतवादियों के सामने आया कि सृष्टि में हम चेतना यों देखते हैं, तब उन्होंने यह कहा कि चेतन-स्वरूप केवल ब्रह्म है, किन्तु, उस चेतना व्याप्त रहने के कारण हमें जड़ प्रकृति भी चेतन दिखायी देती है।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक युग में इसी अद्वैतवाद का जोर था। द्वैतवाद उत्थान तब हुआ जब भक्ति की लहर उठी और लोग यह मानने लगे कि भगवान मारी प्रार्थना सुनकर हमारे पापों को क्षमा कर देते हैं तथा हमें मुक्ति भी देते हैं।

उपनिषद् या वेदान्त, यद्यपि, द्वैतवाद के पक्ष की भी दलीलें उपस्थित करते हैं, किन, परम्परा से हम उन्हें अद्वैतवादी मानते आये हैं, क्योंकि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि दि दृश्य देवताओं से हटाकर मनुष्यों का ध्यान निराकार ब्रह्म की ओर उपनिषद् ही गये और उपनिषदों ने ही इस बात को, जोर से, घोषित किया कि मनुष्य का

---

[1] इस शंका का समाधान परमहंस रामकृष्ण यह कहकर करते थे कि विष सर्प के मुख में रहने पर भी सर्प को असर नहीं करता। इसी प्रकार दुःख, और पाप भी ब्रह्म में ही हैं, किन्तु, ब्रह्म पर उनका प्रभाव नहीं है।

सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं, बल्कि, जीवन और मृत्यु के बन्धन से छूटकर मोक्ष अथवा ब्रह्म में लीन हो जाना है। वेदों में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ था; उप में आकर वह गौण हो गया और मुख्यता आत्मविद्या तथा तप को दी जाने लगी।

उपनिषदों का विचार है कि जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है (आदमी, जा पर्वत, नदी, वृक्ष, पत्थर—यहाँ तक कि एक-एक अणु के बाहर ही नहीं, बल्कि, उसके भी आकाश है), उसी प्रकार, ब्रह्म भी सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। आत्मा परमात्मा को उपनिषद् एक मानते हैं। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है, तब आ का एक खंड उस घड़े में भी व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है (यानी जब आदमी का शरीर छूट है) तब उसमें बँधा हुआ आकाश फिर बड़े आकाश में मिल जाता है। जिस घड़े आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है, उस आकाश-खंड (आत्मा) को फिर किसी दूस में समाना पड़ेगा (यानी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा)। मगर, जिसका आकाश निर्मल (अर्थात् जिस मनुष्य की आत्मा निर्मल है), उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश घड़े में वापस नहीं आता (अर्थात् निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन में पड़ती)।

उपनिषद् कहते हैं कि कर्मफलवाद का सिद्धान्त सही है। मनुष्य जैसा कर्म कर उसे वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिए, मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को सुधारे। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस ज भी जब वह अच्छे कर्म करेगा, तब उसका तीसरा अगला जन्म और भी अच्छा होगा। प्रकार, जन्म-जन्मान्तर तक साधना करते-करते उसकी मुक्ति हो जायगी अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायगा।

ये सारी बातें उपनिषदों के निचोड़ के रूप में उपस्थित की जा रही हैं। अस उपनिषदों में सारी बातें सुलझा कर एक स्थान पर नहीं रखी गयी हैं। उपनिषदों की सी बातें परस्पर-विरोधी हैं। उपनिषद् कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और यह कहते हैं कि उसी ने सृष्टि की रचना की; वे कभी तो आत्मा और परमात्मा में मानते हैं और कभी यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् और आत्मा सीमित परमात्मा आनन्दस्वरूप और आत्मा दुःख से पीड़ित है। आत्मा और परमात्मा ए आत्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी हैं और

---

१. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येपु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ (मुण्डकोपनि

भावार्थ—अठारह प्रकार के जो यज्ञ कहे गये हैं, वे, वस्तुतः, छोटी-छोटी क नावों के समान हैं (जिनसे समुद्र के पार जाना असम्भव है)। इन यज्ञों को व्यक्ति श्रेय मानकर उनका अभिनन्दन करता है, वह मूढ़ है और वह फिर वृद्धत्व और मरण को प्राप्त होता है।

र भी, ये तीन तरह के मत हैं और तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता । आगे चलकर इन्हीं तीन प्रकार की बातों से तीन मतवाद चले, जिनमें से अद्वैतवाद प्रबल समर्थक शंकराचार्य, द्वैतवाद के मध्वाचार्य और विशिष्टाद्वैतवाद के रामा- ाचार्य हुए ।[1]

मगर, यह ध्यान रखना चाहिये कि दर्शन के इन विभिन्न वादों में से कोई भी ऐसा हीं है, जो किसी एक ऋषि या दार्शनिक का आविष्कार हो । उपनिषदों में ऋषियों ने नी जो अनेक अनुभूतियाँ लिखी थीं, उन्हीं अनुभूतियों का विकास हिन्दू-दर्शन के क वादों में हुआ है । हिन्दुओं के यहाँ फिलासॉफी का नाम और कुछ नहीं होकर र्शन' है, यह स्वयं अर्थपूर्ण बात है । हम दर्शन उस विद्या को कहते हैं, जो सोचकर ीं, देखकर लिखी गयी थी । और हमारे सभी दर्शनों का मूल, सारा उपनिष- हित्य ही ऋषियों के देखकर ही लिखने का परिणाम है । ज्ञान के अनेक साधनों में एक जबर्दस्त साधन सहज ज्ञान अथवा सम्बुद्धि (या इनटुइशन) भी है । सम्बुद्धि में ाणों की जरूरत नहीं होती, तर्क और दलील देने की आवश्यकता नहीं होती । बुद्धि से प्राप्त होनेवाला ज्ञान मनुष्य के मन की आँखों के आगे बिजली-सा कौंध ता है । सम्बुद्धि से हम जो भी अनुभूति प्राप्त करते हैं, उसकी सचाई को हमारी ी इन्द्रियाँ ग्रहण कर लेती हैं, मानो, वह सचमुच ही, आँखों-देखी बात हो । ऊँची वता सम्बुद्धि से लिखी जाती है, ऊँची कला का निर्माण सम्बुद्धि से किया जाता है र दर्शन में भी उच्चतम सत्य बराबर सम्बुद्धि से ही उपलब्ध होते हैं । बुद्धि और ग से जो सत्य बहुत दिनों के बाद प्राप्त होता है, सहज ज्ञान से वही सत्य तुरन्त ड़ में आ जाता है । प्राचीन भारत और नवीन यूरोप में यह भेद है कि यूरोप की ति वैज्ञानिक रही और उसने प्रयोग तथा बौद्धिक छान-बीन के बिना किसी भी त को स्वीकार नहीं किया । किन्तु, भारत के मनीषियों का मार्ग, प्रधानतः, सहज न का मार्ग था । इसीलिए, सभ्यता के बाहरी उपकरण बढ़ाने के बदले, भारत बराबर इस बात पर जोर दिया जाता रहा है कि अपनी आत्मा को शुद्ध करो, नी दृष्टि को बाहर से फेरकर अन्तर्मुख बनाओ तथा एकान्त और समाधि का न करो, क्योंकि सहज ज्ञान के ये ही मार्ग हैं ।

"वेदान्त-सूत्रों में मायावाद का विकास नहीं देख पड़ता । पहले-पहल शंकराचार्य के गुरु (गोविन्दाचार्य) के गुरु गौड़पाद की कारिकाओं में माया का कुछ वर्णन मिलता है जिसे शंकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा स्थान दे दिया । एक तरह से, वही अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक आचार्य थे । उन्होंने प्रस्थानत्रयी (वेदान्त-सूत्र, उपनिषदों और गीता) का अद्वैत-प्रतिपादक भाष्य लिख कर दार्शनिक मंडली में इस सिद्धान्त का बहुत प्रचार किया । शंकराचार्य-प्रतिपादित वेदान्त ही आजकल का वेदान्त है ।"

—गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति ।)

उपनिषदों में जो विरोधी बातें मिलती हैं, उनका भी कारण यही है कि सहज ज्ञान के बल पर जब जो कुछ देखते, तब उसी को लिख देते थे। उपनि हम हिन्दू-धर्म का पद्धति-बद्ध दर्शन नहीं मान सकते। वे हिन्दू-धर्म की अनुभूति कोष हैं, जिनमें ऋषियों की अनुभूतियाँ ठीक उसी रूप में दर्ज मिलती हैं, जिस वे उन्हें प्राप्त हुई थीं। वस्तुतः, उपनिषदों को आधा दर्शन और आधा काव्य चाहिये।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर हम यह भी कह सकते हैं कि उपनिषत्का उद्देश्य दर्शन की रचना नहीं, बल्कि, अनेक उपायों से उस समाज का ध्यान सूक्ष्म तत्त्वों की ओर ले जाना था, जिस समाज के लोग धर्म के बाहरी आचा उलझे हुए थे, पशु-हिंसा और यज्ञवाद को अपना परम धर्म मान रहे थे और से लेकर स्वर्ग तक सर्वत्र, भोगों के लिए बेचैन थे। इस समाज के सामने, उ के द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया जा रहा था, वह यह था कि जीवन का सुख भोग में नहीं, त्याग में है। सारी सृष्टि के ब्रह्ममय होने से किसी भी मनु यह अधिकार नहीं है कि वह किसी अन्य मनुष्य को दुःख दे या किसी भी जी हिंसा करे। मनुष्य की असली समस्या जन्म-मरण की समस्या है और इस का समाधान मोक्ष है।

मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-युग

आर्य-दर्शन का आरम्भ ऋग्वेद की आरम्भिक ऋचाओं में हुआ, जिनमें प्रकृति के रूपों में देवत्व की झाँकी देखते हैं। यह अनुसन्धान, प्रायः, धार्मिक अनुसन्धान है, जो प्रकृति के रमणीय और भयानक, दोनों रूपों से प्रभावित हो और सोचता है कि, अवश्य ही, ये किसी प्रच्छन्न शक्ति के खेल हैं। इसी शक्ति को वह इन्द्र, वरुण, मरुत, अग्नि या और कोई नाम दे देता है। अनु जितना ही बढ़ता गया, प्रकृति के नये-नये रूपों को देखकर वैदिक कवि जि चकित होते गये, उसी परिमाण में, नये-नये देवताओं की कल्पना भी उभरती किन्तु, ये कवि कहीं रुके नहीं। वे बराबर विभिन्न रूपों के बीच एकता खोज अन्विति का पता लगाते गये। अन्त में, वे इस बात पर आये कि एक ही शक्ति प्रकृति के नाना रूपों में दिखलायी देती है और जो प्रकृति के पीछे भी अवस्थि मंत्र-काल में, कदाचित्, ऋषि यहीं तक पहुँचे थे। इस प्रच्छन्न शक्ति का प नाम, निश्चित रूप से, उपनिषत्काल में आकर प्रचलित हुआ।

मंत्र-काल की दूसरी उपलब्धि ऋत का सिद्धान्त थी। जिस प्रकार, ऋषि यह अनुभव हुआ कि प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप किसी एक ही शक्ति की ली उसी प्रकार, वे इस अनुभूति पर भी पहुँचे कि प्रकृति नियम-विहीन नहीं है, सभी रूपों के भीतर कोई श्रृङ्खला अनुस्यूत है, कोई नियम चल रहा है, ऋतुएँ बदलती हैं और दिन-रात होते रहते हैं।

आगे चलकर भारत में जो दार्शनिक चिन्तन विकसित हुआ, उसका मूलाधार ऋत का सिद्धान्त था। जब तक मनुष्य को यह विश्वास न हो जाय कि सृष्टि शृङ्खल नहीं, नियमों से आबद्ध है, तव तक न तो विज्ञान उत्पन्न होता है, न दर्शन र रहस्यवाद। "विश्व को व्यापनेवाले ऋत तत्त्व को वैज्ञानिक ऋषियों ने नीति कल्पना पर उत्पन्न किया। ऋत तथा अनृत के द्वन्द्व से नीति और अनीति के द्वन्द्व वोध होता था।"[1] इसीसे आगे चलकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन निकला तथा र्जन्म और कर्मफलवाद के सिद्धान्त पुष्ट हुए।

मंत्र-काल में कुछ और सिद्धान्तों ने प्रचार पाया। विद्वानों का मत है कि पितृ-ण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण की कल्पना इसी युग की उपज है। चार वर्ण और र आश्रम की प्रथा भी मंत्र-युग में ही जनमी। अतएव, वर्णाश्रम-धर्म की कल्पना तनी ही प्राचीन मानी जाती है, जितना प्राचीन ऋग्वेद है।

मंत्र-युग के वाद, ब्राह्मणों का युग आता है। पुनर्जन्म और कर्मफलवाद का प्रत्यक्ष वरण ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी नहीं मिलता, यद्यपि, ब्राह्मणों से यह ज्ञात होता है कि कालीन समाज यह मानता था कि मरने के बाद जीव परलोक में वास करता है र लोक में उसने जैसे कर्म किये हैं, परलोक में उसे वैसे ही फल मिलते हैं। ब्राह्मण- में वैदिक देवताओं में से, प्रायः, प्रत्येक की पूजा प्रचलित थी, यद्यपि, प्रजापति बसे श्रेष्ठ एवं जगत् के रचयिता माने जाने लगे थे। विष्णु मंत्र-युग में सूर्य के र्याय थे। किन्तु, ब्राह्मणों में आकर वे यज्ञदेव हो गये। इस प्रकार, उनकी प्रतिष्ठा ढ़ती जा रही थी। ब्राह्मण-काल में ही शिव आविर्भूत होते हैं एवं वेद के रुद्र के थ वे तुरन्त एकाकार हो उठते हैं। वहुत-से आर्येतर प्रभाव ब्राह्मण-युग तक आर्य-र्म में प्रविष्ट हो जाते हैं एवं यहाँ से आगे जो विकास होता है, उसमें आर्य और र्येतर चिह्न अलग-अलग नहीं दिखायी देते।

ब्राह्मण-काल में पुरोहितों की शक्ति खूब बढ़ी। यदि लेखकों को दृष्टिगत रख र विचार किया जाय तो यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि वेदों के कर्त्ता कवि थे, ह्मणों के पुरोहित और उपनिषदों के रहस्यवादी सन्त। पुरोहितवादी प्रभावों के स्तार के कारण, ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का काल था। इस अवनति वाद हिन्दुत्व का जो अपरिमेय उत्थान हुआ, उसका आख्यान हमें उपनिषदों में लता है। तभी से उपनिषद् हिन्दुत्व के आधार-भूत ग्रन्थ रहे हैं और उन्हें समझे ना हिन्दुत्व को समझना असम्भव माना जाता रहा है।

उपनिषदों के काल में आकर यज्ञ का स्थान ज्ञान ले लेता है और प्रजापति का थान ब्रह्म। इसी युग में आकर कर्म का अर्थ विस्तृत हो जाता है। अब कर्म का भिप्राय केवल यज्ञ से नहीं रहकर उन सारे कृत्यों से हो जाता है, जिनके कारण नुष्य को पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद इसी युग में पूर्ण-प से स्थापित हो गये और तब से वे केवल हिन्दुत्व के ही नहीं, वौद्धमत और जैन-

---

[1] वैदिक संस्कृति का विकास—लक्ष्मण शास्त्री जोशी।

मत के भी आधार रहे हैं। उपनिषदों ने मोक्ष को संसार का समाधान बतलाय यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है। यह सिद्धान्त भी बौद्धों और जैनों ने त्यों ग्रहण कर लिया। ज्ञान की, इस युग में, इतनी महिमा बढ़ी कि वर्णाश्र यज्ञवाद, दोनों बहुत पीछे छूट गये। जाबाला-पुत्र सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का कारी मानकर उपनिषद् के ऋषि ने, मानो, यह खुली घोषणा की है कि ब्राह्म ह्मण का भेद व्यर्थ है। मनुष्य जन्म से नहीं, शील से महान् होता है—यहाँ त जारज-संतान भी यदि सत्यवादी है तो उसे ब्राह्मण के सभी अधिकार मिलने चा ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पानेवाला सत्यकाम जारज था, राजा जानश्रुति शूद्र थे और आत्मविद्या सिखानेवाले ऋषि रैक्व गाड़ीवान थे।

उपनिषदों में मूर्त्ति-पूजा का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु, महामहोपाध्याय ने धर्मशास्त्रों का जो इतिहास लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच पूर्व समाज में ऐसे पुरोहित थे, जो मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे। विचार है कि प्रतिमा-पूजन के प्रचलन के साथ ही श्रौत-सूत्रों का महत्त्व घटने क्योंकि उनका विषय यज्ञ था और इसी काल से गृह्य-सूत्र प्रधानता पाने लगा डी० एस० शर्मा का विचार है[1] कि जब यज्ञ-धर्म निर्जीव हो गया और उपासना ओर लोगों का ध्यान जाने लगा, तभी मूर्त्ति-पूजा का प्रचलन हुआ होगा। है कि भक्ति और प्रतिमा-पूजन की कोई प्रथा आर्यों के पूर्व से ही इस देश में वि थी। आरम्भ में आर्य इस प्रथा की ओर उन्मुख नहीं हुए। किन्तु, जब उनका भाव उपासना की ओर जाने लगा, तभी प्रतिमा-पूजन की प्रथा चल पड़ी। यदि यह बात ठीक हो, तो मानना होगा कि भक्ति का आरम्भ ई०पू० ५ लगभग हो चुका था, क्योंकि प्रतिमा-पूजन के साथ भक्ति का थोड़ा-बहुत पुट, स तया, आ जाता है।

उपनिषदों का प्रभाव

आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेदों में जो हल्की कल्पनाएँ थीं, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवा मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है, वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और, जड़ तथा चेतन, सबके एक ही सत्ता निवास करती है, इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली हो और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने में जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गयी, इसलिए, समाज में एक प्रकार का निरा फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे, जो वेद-कालीन वासियों की विशेषता थी। उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को किया। अतएव, पहले जहाँ लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए डटकर करने में आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर, असमय ही,

---

[1] द रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म।

और संन्यास लेने लगे।[1] वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था ; जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर, उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिये और आदमी अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? जन्म के पहले क्या था ? मरने के बाद क्या होगा ? क्या जिन्दगी मरने के साथ ही खत्म हो जायगी ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है ? इन सवालों की हल्की-पतली झाँकी वेदों में भी प्रच्छन्न थी, लेकिन, वेद-कालीन मनुष्य इन प्रश्नों के चंगुल में नहीं फँसा था। उपनिषदों ने आदमी को, कुरेद-कुरेद कर, उसे ऐसे सवालों के हवाले कर दिया, जिनका आखिरी जवाब उसे आज तक नहीं मिला।

बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण

बौद्ध साहित्य से भी यह विदित होता है कि बुद्ध के समय और उनके ठीक पूर्व, इस देश में वैरागियों और संन्यासियों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी। उन दिनों समाज में, प्रायः दो प्रकार के लोग थे। एक तो वे, जो यज्ञ मात्र को ही इष्ट मानकर वैदिक धर्म का पालन करते थे, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा और सम्मान देते थे तथा विभिन्न देवताओं को पूजकर सन्तुष्ट रहते थे। किन्तु, जो लोग इस धर्म से सन्तुष्ट नहीं होते, वे संन्यासी हो जाते थे और हठयोग की क्रिया से देह-दंडन करने में सुख मानते थे। साधुओं में उन दिनों भी योग का व्यापक प्रचार था तथा यह माना जाता था कि हठयोग के द्वारा मनुष्य आत्मा की उपलब्धि कर सकता है। स्वयं गौतम जब घर से निकले, तब पहली बात उन्हें यही सूझी कि योग करके आत्मज्ञान प्राप्त करें। योग-विषयक विश्वास उन दिनों इतना प्रबल था कि गौतम निरन्तर छह वर्ष तक योग करते ही रहे। किन्तु, जब छह वर्षों में भी उन्हें इष्टोपलब्धि नहीं हुई, तभी उन्होंने योग का त्याग किया। बुद्ध के समय, भारतवर्ष में श्रमणों की कोई ६३ संस्थाएँ वर्त्तमान थीं, जिनमें से छह तो बहुत ही प्रमुख संस्थाएँ थीं। अवश्य ही, ये संस्थाएँ बहुत पहले से आ रही होंगी। "दीर्घ निकाय" के सामँफल-सुत्त के अनुसार इन छह संघों में एक का आचार्य पूरण कश्यप था जो यह मानता था कि मनुष्य जो कुछ भी करे, वह पाप का भागी नहीं होता है। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मार कर ढेर लगा दे, तो भी उसे पाप न लगेगा। गंगा नदी के

---

[1] स्वामी विवेकानन्द वेदान्त के प्रबल समर्थक थे। किन्तु, एक बार अमेरिका में एक सभा में उन्होंने भी विनोद करते हुए कहा कि "संन्यास के विरुद्ध एक बात मुझे भी सूझती है कि यह सभी सुयोग्य व्यक्तियों को समाज से अलग कर लेता है।"

उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो कुछ पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम, सत्य-भाषण, इन सब में पुण्य की नहीं होती।" पूरण कश्यप के इस वाद को **अक्रियावाद** कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मंक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि प्राणी के या अपवित्र होने में न कुछ हेतु है, न कारण। बिना हेतु और कारण के ही पवित्र और अपवित्र होते हैं। बल, वीर्य-पराक्रम और पुरुषार्थ, ये कुछ भी नहीं सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं। नियति, संगति और स्वभाव से वे चालित हैं। अस्सी लाख महाकल्पों के फेरे में पड़े बिना किसी भी दुःख का नाश नहीं हो मंक्खलि गोसाल के इस मत को **देववाद** कहते थे।

तीसरे संघ का प्रमुख अजित केस-कंबल था। वह कहता था कि चार मिल कर मनुष्य बना है। मरने पर ये चारों (क्षिति, जल, पावक, वायु) तत्त्व अपने स्थान में समा जाते हैं। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता। पंडित मूर्ख, दोनों का, मरने के बाद उच्छेद हो जाता है। केस-कंबल के इस मत **उच्छेदवाद या जड़वाद** कहते थे।

चौथे संघ का आचार्य पकुध कात्यायन था, जिसका मत बहुत कुछ गीता में पादित मत से मिलता है। वह कहता था, "जो तेज शस्त्रों से दूसरे का सिर काटता वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र उन तत्त्वों के अवकाश (रिक्त स्थान) में है, जिन तत्त्वों से जीव निर्मित है।" इस मत को **अकृततावाद** कहते थे।

पाँचवें संघ का आचार्य जैन साधु निगंठ नाथपुत्त था जो ऊपर लिखे चारों का प्रतिपादन करता था।

छठे संघ का आचार्य संजय बेलठ्ठि पुत्त था। वह कहता था, "परलोक है नहीं, यह मैं नहीं समझता', परलोक है, यह भी नहीं', परलोक नहीं है, यह भी अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह मैं नहीं मानता', नहीं मिलता है, यह नहीं मानता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं रहता, यह मैं नहीं वह रहता है, यह भी नहीं, नहीं रहता है, यह भी नहीं।" इस वाद को **अनिश्चित वाद** कहते थे।

इन छह मतों में एकता नहीं थी, किन्तु, एक बात में ये सब-के-सब एक थे। सभी संघों के साधु घर छोड़कर वैरागी हुए थे, समाज में प्रचलित हिंसापूर्ण यज्ञों विरत होकर संसार छोड़ आये थे। अतएव, वे सब-के-सब चाहते थे कि हिंसापूर्ण बन्द हों और मनुष्य किसी अधिक गम्भीर धर्म का आचारण करना सीखे। □□

प्रकरण २

जैन धर्म

विद्रोह, बगावत या क्रान्ति कोई ऐसी चीज नहीं होती, जिसका विस्फोट अचानक ता हो। घाव फूटने से पहले बहुत काल तक पकता रहता है। विचार भी, चुनौती कर खड़े होने के पहले, वर्षों तक अर्ध-जाग्रत अवस्था में फैलते रहते हैं। वैदिक धर्म र्ण नहीं है, इसका प्रमाण उपनिषदों में ही मिलने लगा था और, यद्यपि, वेदों की माणिकता में उपनिषदों ने सन्देह नहीं किया, किन्तु, वैदिक धर्म के काम्य, स्वर्ग को यथेष्ट बताकर वेदों की एक प्रकार की आलोचना उपनिषदों ने ही शुरू कर दी थी। द सबसे अधिक महत्व यज्ञ को देते थे। यज्ञों की प्रधानता के कारण समाज में ह्मणों का स्थान बहुत प्रमुख हो गया था। इन सारी बातों की समाज में आलोचना लने लगी और लोगों को यह सन्देह होने लगा कि मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच ब्राह्मण का आना, सचमुच ही, ठीक नहीं है। आलोचना की इसी प्रवृत्ति ने बढ़ते-ढ़ते, अखिर ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व तक आकर वैदिक धर्म के खिलाफ खुले द्रोह को जन्म दिया, जिसका सुसंगठित रूप जैन और बौद्ध धर्मों में प्रकट हुआ।

द्रोह के कारण

जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में वैदिक धर्म के खिलाफ विद्रोह उठा, इसका थोड़ा-हुत आभास पिछले प्रकरण में मिलेगा, जहाँ यह बतलाया गया है कि वैदिक धर्म के थूल रूप की आलोचना क्यों शुरू हुई और क्यों उपनिषदों ने यज्ञ और स्वर्ग को गौण हराया। ऐसा लगता है कि जिन दिनों उपनिषदों की रचना हो रही थी, उन दिनों रत के चिन्तकों का दिमाग बहुत जोर से खौल रहा था। सृष्टि का अन्तिम सत्य या है, इस बात का पता लगाने में वे अत्यन्त ही संलग्न थे। केवल भारतवासी ही हीं, संसार के कुछ अन्य देशों में भी कई बड़े-बड़े चिन्तक इसी काल में पैदा हुए। दाहरण के लिए, यही वह समय था जब चीन में लाव-जे और कन्फ्यूशियस का जन्म आ तथा यूनान में पिथेगोरस और ईरान में पारसी-धर्म के पैगम्बर जरथुस्त्र[1] भी सी काल में जनमे। फिलिस्तीन के भी दो पैगम्बरों, यिरेमिया और इजकिल का यही मय माना जाता है।

उपनिषदों एवं बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के अध्ययन से यह अनुमान आसानी से होने गता है कि ई०पू० छठी शताब्दी के आसपास का काल भारत में बौद्धिक बेचैनी, का और मानसिक कोलाहल का काल था। जीवन यहीं तक है या इससे आगे भी ? रने के बाद क्या होता है ? सृष्टि कैसे बनी ? यह आप-से-आप चलती है अथवा सका कोई नियामक भी है ? ये और ऐसे सैकड़ों अन्य प्रश्न भारतवर्ष के मनीषियों

---

[1] जरथुस्त्र के सम्बन्ध में एक मत यह भी है कि वे ई०पू० १००० के आसपास हुए हैं।

के मस्तिष्क को मथ रहे थे और, अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार, लोग इन प्र समाधान भी उपस्थित कर रहे थे। इनमें से कोई तो वेद को प्रमाण मानकर था और कोई उन्हें छोड़कर। किसी को ईश्वर की जरूरत महसूस होती थी औ उसे अनावश्यक समझता था। भारत में आगे चलकर दर्शन की जो छह निकलीं, उनकी भी जड़ें इसी काल के बौद्धिक आन्दोलनों में थीं।

वैदिक संस्कृति का परिचय देते हुए जो यह कहा गया है कि उस संस्कृति जागतिक भोगों की प्रधानता थी, उससे यह नहीं समझना चाहिये कि जैनों और से पूर्व इस देश में वैरागी नहीं होते थे। धर्म का नेतृत्व करनेवाले ब्राह्मण गृह किन्तु, उनके साथ-साथ वैदिक युग में भी श्रमणों की संख्या काफी थी और अनुमा है कि श्रमण-संस्कृति आर्यों के आगमन के पूर्व से ही इस देश में विद्यमान थी। अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ मात्र को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझ सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु, श्रमणों के भीतर आस्तिक और नास्तिक, दोनों प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के श्रमण ब्राह्मण-संस्कृति के भी अन्दर होते थे, नाम वैखानस था। अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की भी परम्परा में आर्यों के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परम्परा का वर्धन श्रम करता आ रहा था। पीछे यह परम्परा वैखानसों ने भी अपना ली। किन्तु, जब यज्ञ-याग की प्रधानता रही, श्रमणों का प्रभाव सीमित रहा। उनका प्रभाव तब लगा, जब समाज में मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की संन्यासी को श्रेष्ठ समझने लगे।

उपनिषदों ने समाज में आत्मविद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चलायी प्रेरित होकर लोग अधिक संख्या में वैरागी होने लगे। इसका कारण यह था कि लोग यह समझते थे कि उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है तथा वे जीवन-मुक्त हैं या जीवन-मुक्ति की राह पर हैं, वे संसार को छोड़कर इसलिए संन्यासी या हो जाते थे कि कहीं गृहस्थाश्रम में रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो उनकी देखादेखी और लोगों ने भी कपड़े रँगवा लिये अथवा वैरागी होकर वे विचरने लगे। ये संन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे। पेड़ों के नीचे कुटियों में उनका सोना होता था और वनों में तप। ये दरबारों, यज्ञों तथा स्थानों पर जाकर जनता को उपदेश भी देते थे। इन ऋषियों की विशेषता यह कि यज्ञों में उनका विश्वास नहीं था, कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते थे और ऐहिक को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे। उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था। यूनान में जैसे दार्शनिकों की उनकी पोशाक (Philosopher's robe) थी, वैसे ही, इस काल के भारतीय प्रचारकों और विचारकों का लक्षण वैराग्य था। यह परम्परा हमारे समय के समीप तक आयी है, क्योंकि अभी हाल तक गाँवों में यह धारणा प्रचलित थी भी गीता और उपनिषद् पढ़ेगा, वह वैरागी हो जायगा।

वैखानस और श्रमण अधिकतर आस्तिक होते थे, फिर भी, उनके भीतर

चिन्तन का काफी जोर था। उनके अलावे लोकायतों की परम्परा में कुछ ऐसे भी व्यक्ति और सम्प्रदाय थे, जो कहते थे कि सब-कुछ मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है, आगे कोई स्वर्ग या नरक नहीं है, जिसकी मनुष्य को चिन्ता होनी चाहिये।

नास्तिकता की परम्परा

नास्तिको वेद-निन्दकः। भारतीय परम्परा में नास्तिक उस व्यक्ति को कहा गया है, जो वेद की निन्दा करता है। ईश्वर की सत्ता न माननेवालों को नास्तिक कहने की प्रथा बहुत बाद को चली। पाणिनि के काल तक भी नास्तिक उसे कहते थे, जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता था। पाणिनि का एक सूत्र हैं, "अस्ति-नास्ति दिष्टं मतिः।" अर्थात् परलोक की सत्ता को माननेवाला व्यक्ति आस्तिक और न माननेवाला व्यक्ति नास्तिक कहलाता है।[1] इस दृष्टि से देखें तो बौद्ध और जैन में कोई भी धर्म नास्तिक नहीं है, क्योंकि दोनों मत परलोक की सत्ता को मानते हैं तथा दोनों का विश्वास है कि विश्व वहीं तक समाप्त नहीं है, जहाँ तक वह दिखलायी पड़ता है। "बुद्ध ने अपने सम्वादों में नास्तिकवाद को मिथ्या दृष्टि कहकर गर्हित किया है।"[2] जहाँ तक ईश्वरसिद्धि का प्रश्न है, बुद्ध ने उसे अव्याकृत-कोटि में डाल रखा था और जैनाचार्यों का विश्वास था कि जड़ और चेतन, दोनों अनादि और दोनों स्वयंसिद्ध हैं। अतएव, सृष्टिकर्त्ता के रूप में किसी परम शक्ति की कल्पना करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं हुई।

अगर सृष्टिकर्त्ता की बात को लें तो सांख्य और पूर्वमीमांसा-दर्शन भी सृष्टि की रचना के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। अद्वैतवाद के अन्दर जिस ब्रह्म की कल्पना की गयी है, वह तटस्थ शक्ति है। ब्रह्म न तो जन्म लेता है, न मरता है; वह न तो किसी को जन्म देता है, न किसी को मारता है। यह सृष्टि प्रकृति के मूल तत्त्वों से विकसित होती है और फिर काल पाकर स्वयं उसमें वापस हो जाती है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत तथा यहूदी धर्मवालों ने ईश्वर की कल्पना जिस रूप में की, उससे भारतीय कल्पना भिन्न है। भारतीय कल्पना का ईश्वर ब्रह्म है, जो निर्विकार है, जिसमें इच्छाएँ नहीं होती, जो सृष्टि नहीं बनाता, जो संसार के सभी कामों से तटस्थ रहता है। किन्तु, इस्लाम और ईसाइयत की कल्पना का ईश्वर इच्छावान् और कर्मठ है। वह सृष्टि की रचना करता है तथा मनुष्यों को उनके पाप और पुण्य के लिए दण्ड और पुरस्कार भी देता है। असल में, इस्लाम और ईसाइयत ने ईश्वर के साथ जिन प्रबल गुणों का सम्बन्ध जोड़ा, वे कुछ-कुछ हमारे यहाँ के उस ईश्वर में हैं, जो द्वैतवादियों का ईश्वर है। अतएव, द्वैतवादी दृष्टिकोण से विचार करने पर बुद्ध और महावीर के धर्म हिन्दुत्व से भले ही कुछ दूर पड़ें, किन्तु, अद्वैतवादी हिन्दुत्व से उनका

---

[1] देखिये महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य—लिखित 'जैन दर्शन' नामक ग्रन्थ की भूमिका में डॉ० मंगलदेव शास्त्री का मत।

[2] आचार्य नरेन्द्रदेव—लिखित 'बौद्ध दर्शन'।

अधिक भेद नहीं है, बल्कि, वे उसी की दो शाखाओं के समान हैं। केवल ईश्वर नहीं मानने से हम किसी व्यक्ति या धर्म को दूषित नहीं कहते। हम बराबर यह आये हैं कि आदमी में धर्म के आचरण हैं या नहीं। यही कारण है कि जहाँ एक हिन्दुओं ने गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया, वहाँ दूसरी ओर, जैन धर्म के मूल प्रवर्तक, श्री ऋषभदेव की भी गिनती चौबीस अवतारों में की।

अगर वेद की निन्दा की बात को लें तो वह भी महावीर और बुद्ध के आवि के पहले ही शुरू हो गयी थी। जो ऋषि कर्मकाण्ड को नाकाफी या गलत मान उपनिषदों में एक नये धर्म की खोज कर रहे थे, वेद की आलोचना, असल में, के उद्‌गारों में आरम्भ हुई। वेदों का कर्मकाण्ड, धीरे-धीरे, भोगवादी सभ्यता का हो गया था और उपनिषदों के ऋषि जब समाज को भोगवाद से ऊपर उठाने कोशिश करने लगे, तब वेदों की थोड़ी-बहुत आलोचना करना उनके लिए अनि हो गया। मुण्डकोपनिषद के आरम्भ में ही परा और अपरा विद्याओं के बीच विभा किया गया है और साफ-साफ यह घोषणा की गयी है कि अपरा विद्या वह है, जि मनुष्य लोक और परलोक में भोग प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करता है; ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व वेद। इनके विपरीत, परा विद्या उस आत्मविद्या कहते हैं, जिससे मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष लाभ करता यही परा-विद्या, ब्रह्म-विद्या या आत्म-विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य है, जिसे उपनि ने वेद से श्रेष्ठ बताया है। कठोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या के बीच विभा करते हुए ऋषि ने वेद की गिनती अविद्याओं में की है; क्योंकि वेद जो यज्ञ सिख हैं, उससे आत्म-विद्या के प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती। स्वयं गीता में वान ने अर्जुन से कहा है कि "वेद तो तीनों गुणों में रत हैं; हे अर्जुन! तू तीनों गु से ऊपर उठ।"

बृहस्पति और चार्वाक; वेद के भयंकर निन्दकों में इन दो पण्डितों के नाम हैं जो, शायद, लोकायत-सम्प्रदाय के नेता थे। इन लोगों ने वेदों की भयानक नि की है और कहा है कि "वेद तो ठगों, प्रपंचियों और मांस-भक्षियों की रचना हैं; के रचयिता ऐसे लोग थे जो यज्ञों में मारकर घोड़ों का मांस (पक्वं वाजिनम्) जाते थे।" मगर, इन उच्छृङ्खलों का कोई प्रभाव नहीं हुआ; क्योंकि समाज इन आदर नहीं करता था। अज्ञात रूप से वेदों के ईषत् विरुद्ध सोचना उपनिषत्कारों आरम्भ किया था और जनता के मन पर से वेदों के प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने सच्ची कोशिश महावीर और बुद्ध ने की। इसलिए, वेदों के असली द्रोही भी ये दो महात्मा समझे जाते हैं।

महावीर और बुद्ध में दो और विशेषताएँ थीं। एक तो यह कि वे ब्राह्मणों ऊँचा पद देने को तैयार नहीं थे। दूसरी यह कि वे मनुष्य मात्र को समान सम थे। जहाँ तक पिछली बात का सम्बन्ध है, वह ब्रह्मवाद के ही सिद्धान्त का नती है; क्योंकि जब एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, तब फिर मनुष्य-मनुष्य में भेद करने

बात नहीं चल सकती । जहाँ तक ब्राह्मणों के उन्नत पद पर शंका करने का सवाल है, वह बात भी उपनिषदों में शुरू हो गयी थी । छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थल पर पुरोहितों की पंक्ति की कल्पना श्वानों की पंक्ति के रूप में की गयी है, जिसमें प्रत्येक पीछे वाला श्वान आगे वाले श्वान की दुम को अपने मुँह में दबाये चलता है और सब इस मंत्र का पाठ करते हैं कि "ओम्, खाने दो ; ओम् पीने दो।"[१] धर्म को साधन बनाकर पुरोहितों का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि कर रहा था और जनता पर रोब भी जमाता था । इस कुरीति पर भी उपनिषत्कारों की दृष्टि पड़ी थी । अपने 'बौद्ध दर्शन' नामक ग्रन्थ में आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है कि ब्राह्मण आस्तिक थे । उनमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के लिए पक्षपात था । वे निस्पृह और सरल हृदय के होते थे तथा उन्हें विद्या का व्यसन था । इसीलिए, वे समाज में आदरणीय समझे जाते थे । ब्राह्मण-काल में पुरोहित मानुषी देवता हो गये थे । किन्तु, जब वे संकीर्ण हृदय और स्वार्थी होने लगे एवं अपने को सबसे ऊँचा समझने लगे, तब समाज में उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गयी ।

अहिंसा की परम्परा

जैन और बौद्ध मतों की उत्पत्ति के प्रकरण में यह कहना आवश्यक हो जाता है कि इन दोनों मतों का जन्म इसलिए हुआ कि इनके पूर्व के वैदिक धर्म में हिंसापूर्ण यज्ञों का प्राबल्य था । किन्तु, इतिहासकारों ने यह बात इतनी बार और इतने जोर से कही है कि सर्व-साधारण में एक प्रवाद-सा फैल गया है कि बुद्ध से पहले अहिंसा इस देश में थी ही नहीं। यह नितान्त गलत धारणा है । वेदों में निश्छल भोगवाद की प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु वेद केवल हिंसा ही नहीं सिखाते हैं । भारत में अहिंसा की परम्परा प्राग्वैदिक परम्परा थी और उसके बीज वेदों में भी थे । यह ठीक है कि पुरोहित-वर्ग यज्ञों का प्रबल समर्थक था और पशुओं की हत्या को वह रोकना नहीं चाहता था, किन्तु, समाज में तब भी ऐसे लोग मौजूद थे, जो इस क्रूर कर्म से घृणा करते थे और चाहते थे कि कोई ऐसा धर्म समाज में प्रवर्त्तित किया जाय जो अहिंसा के अनुकूल हो । ऐरो ही लोगों में हम उनकी गणना करेंगे, जिन्होंने उपनिषदों में यज्ञवाद की निन्दा की अथवा जिन्होंने

---

[१] ते ह यथैवेह वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणः संरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिं चक्रुः ॥४॥

उन कुत्तों ने, जिस प्रकार कर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करनेवाले उद्गाता लोग एक-दूसरे से मिलकर चलते हैं, उसी प्रकार, मुँह से एक-दूसरे की पूँछ पकड़ कर सर्पण-परिभ्रमण किया । उन्होंने उस प्रकार परिभ्रमण कर फिर वहाँ बैठ कर हिंकार किया ।

कुत्तों द्वारा किये हुए हिंकार (का अनुवाद) :—ॐ हम खाते हैं, ॐ हम पीते हैं, ॐ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें । हे अन्नपते ! यहाँ अन्न लाओ ! अन्न लाओ ॐ ॥५॥ (छान्दोग्योपनिषद अध्या० १, खंड १२)

संसार छोड़कर वैराग्य ले लिया या जो वनों में रहने लगे। जैन तीर्थङ्करों और का जन्म भी नहीं होता अगर भारतीय परम्परा से अहिंसा, बिलकुल, अनुपस्थित होती। ब्राह्मण-ग्रन्थों में केवल "सर्वमेधे सर्वम् हन्यात्" (सर्वमेध-यज्ञ में सब कुछ जा सकता है) ही नहीं, "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" (किसी भी जीव को मत का भी आदेश था।

हिंसापरक वैदिक यज्ञ और बुद्धदेव की अहिंसा, ये दो छोर हैं, किन्तु, इनके में एक और कड़ी है जिसे समझे बिना भारतीय चिन्तकों की हिंसा से अहिंसा तक यात्रा ठीक से समझी नहीं जा सकती। यह कड़ी है भगवान कृष्ण के सिद्धान्त बुद्ध की तरह भगवान कृष्ण ने यज्ञ का आमूल विरोध नहीं किया, किन्तु, यज्ञ के में उन्होंने बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी। उस क्रान्ति का रूप यह है कि वैदिक हिंसा-पूरित यज्ञ को धर्म का कृत्य समझते थे, किन्तु, श्रीकृष्ण ने कहा, सबसे उत्तम वह है जिसमें किसी भी जीव की हत्या नहीं होती, प्रत्युत, जिस यज्ञ के द्वारा अपना जीवन परोपकार में लगा देता है। यह पुरुष-यजन-विद्या (दूसरों के जीने की विद्या) श्रीकृष्ण ने अपने गुरु घोर-आंगिरस से सीखी थी और उसकी उन्होंने अर्जुन को भी दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा धन नहीं, वरन्, तपश्चर्या, ऋजु भाव, अहिंसा और सत्य थी। यह ध्यान देने की बात है कि जैन-ग्रन्थों में, श्रीकृष्ण जैन माने गये हैं और उनके गुरु का नाम नेमिनाथ बताया गया है।[1] आंगिरस और नेमिनाथ एक ही व्यक्ति थे या नहीं, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान किया जा सकता, किन्तु, यह मानना ही पड़ेगा कि छान्दोग्य-उपनिषद् (जिसमें आंगिरस के उक्त उपदेश हैं) की रचना के समय भारतवासी अहिंसा-धर्म की उच्चता भलीभाँति समझते थे। यज्ञ का जो अर्थ श्रीकृष्ण ने किया, वैसा ही अर्थ भगवान भी करते थे। कोसल-संयुत्त (वग्ग १, सुत्त ९) के अनुसार बुद्धदेव का मत था "जिस यज्ञ में प्राणियों की हिंसा नहीं होती, भेंड़, बकरे, गाय, बैल आदि प्राणी नहीं जाते और जो सर्वदा लोगों को अच्छा लगता है, उसमें सन्त-महर्षि जाया हैं। इसलिए, सुज्ञ पुरुष को ऐसा यज्ञ करना चाहिये।" अपने इसी अर्थ के कारण आज भी अमित पुण्य के प्रतीक समझे जाते हैं। यहाँ तक कि भूदान का प्रचार आज यज्ञ के रूप में हो रहा है।

प्राग्वैदिक परम्परा के प्रभाव से अहिंसा-धर्म और अहिंसक-यज्ञ की कल्पना में बुद्ध से पहले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्त्तक घोर-आंगिरस और देव थे। बाद को, जैन तीर्थङ्करों ने उसका और भी विकास किया। मज्झिमनि के महासिंहनाद सुत्त में चार प्रकार के तपों का वर्णन मिलता है। तप के ये प्रकार थे—तपस्विता, रुक्षता, जुगुप्सा और प्रविवित्तता। तपस्विता का अर्थ था

---

[1] न्यायाचार्य महेन्द्र कुमार ने लिखा है कि "बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे।"

ड़ना, अंजुली में ही भिक्षा माँग कर खाना, बाल उखाड़ के निकालना, काँटों को य्या पर नींद लेना तथा उसी तरह की अनेक अन्य क्रियाओं से देह-दण्डन करना। क्षता का अर्थ था कई वर्षों की धूल को शरीर पर जमाये रखना। पुराणों में ऋषियों देह पर वल्मीक बन जाने की कथा आती है। वह रुक्षता ही थी। पानी की बूँद क पर भी दया करने को जुगुप्सा कहते थे। अर्थात् जुगुप्सा का अर्थ था हिंसा का रूपेण तिरस्कार। और वनों में अकेले रहने को प्रविविक्तता कहते थे।

इससे मालूम होता है कि अहिंसा को परम धर्म लोग उस समय भी मानते थे। न्तु, उसका प्रचलन गृहस्थों में कम, तपस्वियों में अधिक था। ऐसे तपस्वी बुद्ध के पूर्व धिक संख्या में विद्यमान थे तथा जनकादि गृहस्थ भी घर में रहते हुए अहिंसा का लन करते थे। उत्तर-रामचरित में भी वशिष्ठ को मांसाहारी और जनक को निरा-षभोजी चित्रित किया गया है। श्रीकृष्ण के समय से आगे बढ़ें, तब भी, बुद्धदेव से ोई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल संदेश सुनाते ते हैं। पार्श्वनाथ के उपदेश को **चातुर्याम-सम्वर-सम्वाद** कहते थे। ये चातुर्याम-सम्वाद थे **१) हिंसा का त्याग, (२) असत्य का त्याग, (३) स्तेय का त्याग (४) परिग्रह का त्याग।** ान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व, अहिंसा केवल तपस्वियों के आचरण सम्मिलित थी, किन्तु, पार्श्व मुनि ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ धकर सर्वसाधारण की व्यवहार-कोटि में डाल दिया। घोर-आंगिरस, श्रीकृष्ण और नक के पास कोई संघ नहीं था, जो पुरुष-यजन-विद्या का प्रचार करता, किन्तु; र्श्वनाथ ने संघ की भी स्थापना की और संघों के द्वारा जनता में अहिंसा का प्रचार रना उन्होंने आरम्भ किया।

ूर्वी भारत में क्रान्ति के बीज

महावीर और बुद्ध, और कहीं उत्पन्न न होकर, पूर्वी भारत में (महावीर वैशाली और गौतम कपिलवस्तु में) जनमे, यह भी कोई आकस्मिक बात नहीं थी। कहते , आर्यों का जो सर्वप्रथम दल भारत में आया था, वह बढ़ते-बढ़ते बिहार की ओर चला या और उसके रीति-रिवाज बाद को आनेवाले आर्यों से भिन्न हो गये। आर्यों की पिछली ाखाओं के लोग अपने इन पहले आये हुए बन्धुओं को अच्छी आँखों नहीं देख सके और रावर व्रात्य कहकर उनकी निन्दा करते रहे। मगध देश की निन्दा भी आर्य-साहित्य लिए साधारण बात थी और इसमें भी यही कारण था कि मगध में उदाराशय र्यों का प्रभुत्व था, जो कट्टर आर्यों के यज्ञवाद एवं उनके पुरोहितवाद के विषय में धिक उत्साह नहीं रखते थे। कुरू-पांचाल के आर्य काशी, कोशल, मगध और विदेह आर्यों से घृणा करते थे, यह बात ब्राह्मण-ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाती है। शतपथ-ब्राह्मण कहा गया है कि कुरु-पांचाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध नहीं ना चाहिये, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म (यज्ञ) को छोड़ दिया है तथा वे क नये धर्म का प्रचार कर रहे हैं, जिनमें यज्ञ और पशु-हिंसा, दोनों की मनाही है।

यह भी कि पूर्वी देशों में समाज पतित हो गया है, क्योंकि उसमें ब्राह्मणों का क्षत्रियों ने ले लिया है और तीनों वर्णों के लोग क्षत्रियों की ही अधीनता में शतपथ-ब्राह्मण में इस बात की भी शिकायत की गयी है कि पूर्वी देशों के लोग शब्दों का सही-सही उच्चारण नहीं कर सकते और र को ल कहते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि उपनिषदों के परम उत्कर्ष के समय विच नेतृत्व पश्चिमी नहीं, पूर्वी भारत के हाथ था और उपनिषदों के एक महान् याज्ञवल्क्य कहीं बिहार में ही रहते थे, जिनके पास शंका-समाधान के लिए कुरु देश के भी विद्वान् आने लगे थे जो पहले पूर्वी लोगों की निन्दा करते थे। याज्ञ के संरक्षक विदेहराज जनक थे। हिंसापूर्ण यज्ञ और वैराग्ययुक्त आत्मविद्या के बी संघर्ष पश्चिमी भारत में शुरू हुआ था, उसका फैसला जनक और याज्ञवल्क्य ने भारत में कर दिया और ये लोग आत्मविद्या में इतने दक्ष समझे जाने लगे कि भारत में इनका नाम हो गया।

विद्वानों का यह भी मत है कि बौद्ध, जैन, शैव एवं वैष्णव-धर्म, प्रायः, सा साथ उत्पन्न हुए थे और चारों के भीतर वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रि कुछ-न-कुछ भाव था। कट्टर आर्यों का गढ़ उन दिनों मध्य-देश था। यह अर्थपू है कि इन चारों धर्मों में से किसी भी धर्म का आरम्भ मध्य देश में नहीं हुआ। वै धर्म पश्चिमी भारत में उठा और बौद्ध मत तथा जैन मत पूर्वी भारत में उत्पन्न शैव धर्म का भी विकास पहले दक्षिण भारत में हुआ था; बाद को वह पश्चिमी में फैला और वहाँ से सारे देश में। लगता है, मगध उस समय कट्टरता से विशे से मुक्त था। वहाँ विभिन्न संस्कृतियों के बीच वैर नहीं, मित्रता के भाव थे। ऐसी स्थिति न रही होती तो वहाँ शक्तिशाली साम्राज्य का वर्धन और विकास होता।[1] कूपमण्डूकता केवल चिन्तन में ही बाधा नहीं डालती, वह राज्यशक्ति क्षीण करती है।

अहिंसा और क्षत्रिय जाति

अवतारों में वामन और परशुराम, ये दो ही हैं जिनका जन्म ब्राह्मण-कुल में था। बाकी सभी अवतार क्षत्रियों के वंश में हुए हैं। यह आकस्मिक घटना हो है, किन्तु, इससे यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर पलने के ब्राह्मण इतने हिंसाप्रिय हो गये थे कि समाज उनसे घृणा करने लगा था और ब्रा का पद उसने क्षत्रियों को दे दिया था। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मण-धर्म (यज्ञ) ही ब्राह्मणों के गढ़ कुरु-पांचाल के खिलाफ भी जगी और वैदिक सभ्यता के बाद वह आ गया जब इज्जत कुरु-पांचाल की नहीं बल्कि मगध और विदेह की होने

---

[1] मगध में और उससे पूरब की ओर नाना संस्कृतियों के मिल जाने से क बिलकुल नहीं रह गयी थीं। इसी उदारता के कारण शक्तिशाली साम्राज्य उदय मगध में ही हुआ। (द हिस्टरी एण्ड कलचर आव् इंडियन पीपुल, जिल्द

कपिलवस्तु में जन्म लेने के ठीक-पूर्व, जब तथागत स्वर्ग में देव-योनियों में विराज रहे , तब की कथा है कि देवताओं ने उनसे कहा कि अब आपका अवतार होना चाहिये, तएव, आप सोच लीजिये कि किस देश और किस कुल में जन्म ग्रहण कीजियेगा। थागत ने सोच-समझ कर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य तो मगध देश और त्रिय-वंश ही हो सकता है। इसी प्रकार, महावीर वर्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के र्भ में आये थे। लेकिन, इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राह्मण-वंश कैसे हो सकता है? अतएव, उसने ब्राह्मणी का गर्भ चुरा कर उसे एक क्षत्राणी के ट में डाल दिया। इन कहानियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा-धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नहीं हो सकता, इसीलिए, द्ध और महावीर के क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी गने लगी।[1]

वैदिक काल में हिंसा और अहिंसा का संघर्ष चल रहा था। ब्राह्मणों ने हिंसा ा पक्ष लिया; क्योंकि यज्ञ से उनकी रोजी चलती थी और हिंसा के बिना यज्ञ सम्पन्न हीं किया जा सकता था। किन्तु, निरीह पशुओं की प्राण-रक्षा का भार क्षत्रियों पर ा पड़ा और हिंसा-अहिंसा के संघर्ष में अहिंसावाद के नेता भी वे ही हुए।

कोई-कोई विद्वान् इसमें क्षत्रिय-ब्राह्मण-विद्वेष भी देखते हैं। डॉ० भागवतशरण पाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिक काल के बाद जब उपनिषदों का समय आया, तब क क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने ो उद्यत हो गये थे, जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक काल से किये आ रहे थे। "ब्राह्मणों यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ाह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा ी, अन्ततः, द्वितीय शती ई०पू० में ब्राह्मणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। समें एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि ओर ष्यमित्र-शुङ्ग की परम्परा रही और दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, श्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु, कौशेय, जनक विदेह, महावीर, बुद्ध और हद्रथ की।"

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी लिखा है कि "बौद्ध जातकों से प्रकट होता है कि त्रिय ही चारों वर्णों में श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणों का स्थान उनके नीचे है।" तथा "बृह-ारण्यक-उपनिषद् में पहले क्षत्रिय-सृष्टि की ही बात पायी जाती है।"[2]

स्वयं भगवान बुद्ध क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझते थे, यह बात दीर्घनिकाय १।३ अम्बट्ठसुत्त) से प्रमाणित होती है, जहाँ बुद्ध अम्बष्ठ माणवक से कहते हैं, "इस

---

[1] केवल वर्धमान और गौतम ही नहीं, जैन गुरु नाथपुत्र और बोधिसत्त्व के गुरु आलार कालाम और उद्रक रागपुत्र भी क्षत्रिय थे।

[2] 'भारतवर्ष में जाति-भेद'।

प्रकार, अम्बष्ठ ! स्त्री की ओर से भी, पुरुष की ओर से भी, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है हीन है। तथा जब वह (क्षत्रिय) क्षत्रियों में परम नीचता को प्राप्त है, क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन है।"[1]

उपनिषदों में अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु, जनक आं प्रधानता देखकर डॉक्टर डायसेन ने यह अनुमान लगाया था कि आत्मविद्या क्षत्रि ही वस्तु रही होगी। ऐल पुरूरवा वैदिक युग के राजा थे। महाभारत में वे वा यह प्रश्न करते हैं कि क्षत्रिय और ब्राह्मण में श्रेष्ठ कौन है और जनता अनुगमन करे? महाभारत में एक स्थान पर यह भी कहा गया है कि राजा पु ब्राह्मणों से बहुत विद्वेष करने लगे थे। उसी अपराध के कारण अश्विनीकुमा उन्हें नष्ट कर दिया। सम्भव है, क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष का सूत्रपात वैदिक काल हुआ हो और उपनिषदों के युग तक आकर क्षत्रिय अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित समर्थ हो गये हों।

जैन धर्म की विशेषताएँ

बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि, यह ही पुराना है, जितना वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह अन्तिम मनु नाभिराम थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए, जिन्होंने अहिंसा और वाद आदि का प्रवर्त्तन किया। जैन पण्डितों का विश्वास है कि ऋषभदेव ने लि आविष्कार किया तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन जातियों की रचना की। ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। जब देव वैराग्य लेकर संसार से अलग हो गये, तब उनके पुत्र भरत ने ही, "तीन व व्रत और चरित्र धारण करनेवाले सुशील व्यक्तियों को ब्राह्मण वर्ण बनाया। अनुश्रुति में नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई माने जाते हैं; किन्तु, वे मात्र तीर्थङ्कर थे, जिसका अर्थ यह होता है कि श्रीकृष्ण से पूर्व जैनों के इक्कीस तीर्थङ्कर चुके थे। यदि यह बात सत्य हो तो जैन धर्म की परम्परा भगवान श्रीकृष्ण से हजा तो सैकड़ों वर्ष पूर्व पहुँच जाती है। अब तो कोई-कोई विद्वान यह भी कहने लगे महंजोदरो में पाये गये निशानों में से कुछ निशान जैन धर्म के भी हैं।[2]

जैन धर्म की दो बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं। इसलिए, यह अनुमान सम्मत लगता है कि अहिंसा और तप की परम्परा प्राग्वैदिक थी और उसी का जैन धर्म में हुआ। यह बात जैन धर्म के इतिहास से भी प्रमाणित होती है। वर्धमान ई०पू० छठी शताब्दी में हुए और उन्होंने जैन-मार्ग का जोरदार किया। इससे उस मार्ग के प्रधान नेता वे ही समझे जाने लगे। किन्तु, जैन चौबीस तीर्थङ्कर हुए और महावीर वर्धमान महज चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। उन तेईस तीर्थङ्कर और हुए थे। तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे, जो ऐतिहासिक पुरुष जिनका समय महावीर और बुद्ध, दोनों से कोई २५० वर्ष पहले पड़ता है। वैरा

---

[1] दीर्घनिकाय—श्री राहुल सांकृत्यायन।

[2] देखिये खण्डहरों का वैभव (श्री मुनिकान्त सागर-कृत)।

श्चर्या के जिस मार्ग पर उपनिषद् जोर देते थे, वह जैनों का भी मार्ग था (यद्यपि नाम उन दिनों नहीं निकला था) और इस पन्थ के श्रमण, उपनिषदों के युग में , बहुत अधिक संख्या में फैल रहे थे। बुद्ध ने घर छोड़ने के बाद जो कठिन तपस्याएँ थीं और शरीर को सुखाने के लिए उन्होंने जिस कृच्छ्र मार्ग का अवलम्ब लिया , अजब नहीं कि वह जैन मार्ग रहा हो।

जैन धर्म का अहिंसावाद वेदों से निकला है, ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋषभ- और अरिष्टनेमि, जैन-मार्ग के इन दो प्रवर्त्तकों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। धर्म के पहले तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव हैं। उनकी कथा विष्णु-पुराण और भागवत- राण में भी आती है, जहाँ उन्हें महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप-मार्ग का र्त्तक कहा गया है। इन दोनों पुराणों का यह भी कहना है कि दशावतार के पूर्व ने वाले अवतारों में से एक अवतार ऋषभदेव भी हैं। इससे पता चलता है कि वेदों गार्हस्थ्य-प्रधान युग में वैराग्य, अहिंसा और तपस्या के द्वारा धर्म पालन करनेवाले अनेक ऋषि थे, उनमें श्री ऋषभदेव का अन्यतम स्थान था और उनकी परम्परा में लोग अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे, उन्होंने जैन धर्म का पथ स्त किया।

किन्तु, वेद और पुराण चाहे जो भी कहें, किन्तु, ऋषभदेव की कृच्छ्र साधना का ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से नहीं बैठता। वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव -पूर्व परम्परा के प्रतिनिधि हैं। जब आर्य इस देश में फैले, उससे पहले ही यहाँ ाग्य, कृच्छ्र साधना, योगाचार और तपश्चर्या की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। इस ा का एक विकास जैन धर्म में हुआ और दूसरा शैव धर्म में। ऋषभदेव भी गिराज के रूप में अभिहित हुए हैं। उनके योगयुक्त व्यक्तित्व से शंकर के योगी- का काफी सामीप्य है। महंजोदरो में योग-प्रथा सूचक जो निशान मिले हैं, उनका बन्ध जैन और शैव, दोनों ही परम्पराओं से जोड़ा जा सकता है।

जिस प्रकार, जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवर्त्तकों को भी हिन्दू विष्णु का ही अवतार नते हैं, उसी प्रकार, इनके दर्शनों को भी वे अपना ही दर्शन समझते हैं। फर्क यह है हिन्दुओं के यहाँ दर्शन आस्तिक और नास्तिक विभागों में बँटे हुए हैं। सांख्य और ग, न्याय और वैशेषिक तथा मीमांसा (पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा), ये छह र्शन आस्तिक हैं, क्योंकि वेदों का वे विरोध नहीं करते। इसके विपरीत, जैन, बौद्ध र चार्वाक, ये तीन दर्शन नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदों का विरोध करते हैं। यहाँ यह रण रखना चाहिये कि जड़ता और निरे भोगवाद का प्रचारक यहाँ केवल चार्वाक- र्शन ही हुआ, जिसके विचार इस देश में कभी भी स्वीकृत नहीं हो सके, क्योंकि यह जीवन में त्याग को प्रतिष्ठा देनेवाला रहा है और शुद्ध भोगवाद की प्रवृत्ति को ने कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ तथा हावीर वर्धमान, इन सब के प्रति हिन्दुओं का आदरमय भाव रहा है, क्योंकि इन पियों ने वेद और वैदिक धर्म की चाहे जो भी निन्दा की हो, लेकिन, स्वयं इन्होंने स धर्म का प्रवर्त्तन किया, वह भोग नहीं, त्याग का धर्म था और भारत की गमयी आध्यात्मिक परम्परा को उससे शक्ति प्राप्त हुई है।

महावीर ने वेदों की अवहेलना क्यों की, यह ऊपर के सन्दर्भों से स्पष्ट हो सच्ची बात यह थी कि अहिंसा-धर्म और ब्राह्मणों के यज्ञवाद में कुछ तात्विक था और ब्राह्मण-सत्ता तथा यज्ञवाद की प्रभुता के मुकाबले, अहिंसा का खुल करने के लिए यह जरूरी था कि वेदों का विरोध किया जाय। बाकी बातों मे धर्म और वैदिक धर्म में कोई बहुत बड़ा भेद नहीं है। जैन सृष्टि को अना हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि की रचना किसी परमात्मा ने नहीं की, प्रकृति के नियमों से संचालित होकर चल रही है। मगर, यही सिद्धान्त सांख्य- भी है, क्योंकि सृष्टि की रचना किसी ईश्वर ने की है, इस सिद्धान्त की हँसी उड़ाता है। योग-दर्शन (जिसका दूसरा नाम सेश्वर-सांख्य भी है, यानी वह सां कपिल मुनि के निरीश्वर-सांख्य से भिन्न है और ईश्वर में विश्वास करता है) नहीं मानता कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है। योग में जो ईश्वर सृष्टि का रचयिता नहीं, बल्कि योगियों का मानसिक आदर्श है। अर्थात् कल्पना योग-दर्शन ने इसलिए की है कि मनुष्य योग के द्वारा अपने को इतना कि वह ईश्वर-कोटि में पहुँच जाय। योगियों का ईश्वर मनुष्य के उच्चतम का प्रतीक है, जिसे पाने की कोशिश करने से मनुष्यता ऊपर उठती है। न्या वैशेषिक दर्शनों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनमें एक ऐसा ईश्वर अवश्य है, जो रचना और संहार करता है। परन्तु, इन दर्शनों के अनुसार भी, सृष्टि जड़ (प्रकृ चेतन (जीव) के योग से बनी है तथा जिन अणुओं से इसका निर्माण हुआ है, हैं, उन्हें किसी ने भी नहीं बनाया। इन दर्शनों के अनुसार, सृष्टि के संहार का है कि सृष्टि विनष्ट होकर फिर उन अणुओं का रूप ले लेती है, जिनसे उनका होता है। पूर्व-मीमांसा में भी सृष्टिकर्त्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है सृष्टि की रचना किसी ईश्वर या ब्रह्म ने की, इस सम्बन्ध में पूर्व-मीमांसा का मत है, जो निरीश्वर सांख्य का। सृष्टि का विकास कर्म के अधीन है, इससे बात पूर्व-मीमांसा नहीं कहती। और उत्तर-मीमांसा या वेदान्त तो, स्पष्ट ही, रचना में नहीं, उसके विकास में विश्वास करते हैं। सारी सृष्टि में ब्रह्म के का प्रसार है, सारा विश्व ब्रह्ममय है, ऐसा कहने से हम यह तो मान लेंगे कि सृष्टि बन गया है; किन्तु, यह नहीं मान सकते कि ब्रह्म ने स्वयं अलग बैठ विश्व बनाया है, जैसे कुम्हार घड़े का निर्माण करता है।

सृष्टि विकसित नहीं हुई, उसकी रचना की गयी है, इस मत का जैन-द उतना ही विरोधी है, जितना कपिल का सांख्य।[1] और ईश्वर के सम्बन्ध में जै का जो मत है, वह बहुत-कुछ योग-दर्शन के ही समान है। ईश्वर ने दुनिया नहीं वह एक आदर्श है, जिसे हम साधना से प्राप्त कर सकते हैं, यह बात योग-द वेदान्त से प्रभावित दीखती है। वेदान्त के अनुसार, प्रत्येक जीव ब्रह्म-कोटि

---

[1] बौद्ध धर्म को सांख्य-तत्त्वज्ञान से निकला माना जाता है। बुद्ध-चरित आलार कालाम तथा उद्रक रामपुत्र को सांख्यों का प्रवर्त्तक कहा गया है।

ता है। जैन-दर्शन के अनुसार भी, प्रत्येक आत्मा साधना और तपश्चर्या के द्वारा क बन जाती है और उसे फिर जन्म लेना नहीं पड़ता। जिसे वेदान्त मुमुक्षु या वन-मुक्त कहता है, उसे जैन-दर्शन सिद्ध-जीव या अर्हत् बतलाता है। नाम में चाहे फर्क हो किन्तु, मार्ग और लक्ष्य दोनों के एक हैं।

हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में गुणरत्न ने एक बात कही है कि त्मा, संसार (जन्म और मरण तथा फिर से जन्म लेकर मरने की सरणी), मोक्ष र मोक्ष के मार्ग में जो विश्वास करता है, वही आस्तिक है। अगर इस दृष्टि से ा जाय तो नास्तिक सिर्फ चार्वाक-दर्शन ठहरता है तथा बौद्ध-दर्शन का केवल वह प्रदाय, जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता। हिन्दुओं के अन्य सभी दर्शन (जिनमें -दर्शन और बौद्ध-दर्शन भी सम्मिलित हैं) आत्मा को मानते हैं, आत्मा के आवागमन मानते हैं, मोक्ष यानी आवागमन से छुटकारे के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं और, पूरे के साथ, यह भी मानते हैं कि इस मोक्ष को प्राप्त करने के उपाय भी हैं। फिर यह समझ में नहीं आती कि जैन-दर्शन को हम नास्तिक क्यों कहें? जैन-दर्शन उतना ही स्तिक या नास्तिक है, जितना हिन्दुओं का कोई भी अन्य दर्शन, जिसका आधार तवाद पर है।

-दर्शन के सिद्धान्त

जैन-दर्शन के प्रमुख प्रमेय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं। उत्पाद का अभिप्राय है कि सृष्टि में जो कुछ है वह पहले से ही उत्पन्न है तथा जो नहीं है, उससे किसी तत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। व्यय का तात्पर्य इस बात से है कि प्रत्येक र्थ अपने पूर्व पर्याय (रूप) को छोड़कर क्षण-क्षण, नवीन पर्यायों को धारण कर है। और ध्रौव्य यह विश्वास है कि पदार्थों के रूपान्तर की यह प्रक्रिया सनातन उसका कभी भी अवरोध या नाश नहीं होता। "जगत् का प्रत्येक सत्, प्रतिक्षण र्वात्तत होकर भी, कभी नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इस र त्रिलक्षण है। कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियम का अपवाद नहीं " (जैन-दर्शन)

जैन धर्म यह मानता है कि सृष्टि अनादि है और वह जिन छह तत्त्वों से बनी है, तत्त्व भी अनादि हैं। ये छह तत्त्व हैं—(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म) आकाश और (६) काल। इन छह तत्त्वों में से केवल पुद्गल ही ऐसा है, जिसका रूप देख सकते हैं अथवा जिसका अनुभव हमें स्पर्श, घ्राण अथवा श्रवण से होता पुद्गल को मूर्त्त द्रव्य भी कहते हैं। बाकी सभी द्रव्य ऐसे हैं जो अमूर्त्त हैं, जिनका कार नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन छहों द्रव्यों में केवल जीव ही ऐसा है, समें चेतना है, बाकी पाँचों द्रव्य निर्जीव अथवा अचेतन हैं। तीसरी बात यह है कि ार में जीव निर्जीव (पुद्गल) के बिना नहीं ठहर सकता। निर्जीव (पुद्गल) के वास से छुटकारा उसे तब मिलता है, जब वह संसार के बन्धनों से छूट जाता है।

असल में, जैन-दर्शन के जीव के, प्रायः, वे ही गुण हैं जो आत्मा के लिए वेदान् गये हैं।

जो मूर्त्त द्रव्य अर्थात् पुद्गल है, वह परमाणुओं के योग से बना है और सृष्टि ही परमाणुओं का समन्वित रूप है। जीव और पुद्गल ही मुख्य द्रव्य हैं; उन्हीं के मिलन से सृष्टि में जीवन देखने में आता है। आकाश वह स्थान है, सृष्टि ठहरी हुई है। जीव और पुद्गल में गति कहाँ से आती है, इसका रहस्य के लिए धर्म की कल्पना की गयी है। धर्म वह अवस्था है, जिससे जीव और को गति मिलती है। चलने की शक्ति तो सक्रिय द्रव्य में स्वयं है, लेकिन, जै चलने की शक्ति रखते हुए भी पानी के बिना नहीं चल सकती, वैसे ही, सक्रि भी धर्म के बिना नहीं चल सकते। धर्म उनकी गति को सम्भव बनाता है; प्रकार, चलनेवाली चीज जब ठहरना चाहती है, तब भी उसे कोई-न-कोई चाहिये। पक्षी उड़ता अपनी शक्ति से है और वह ठहरता भी अपनी ही श किन्तु, जमीन या वृक्षादि का आधार लिये बिना वह ठहर नहीं सकता। सक्रि के ठहरने को सम्भव बनानेवाला गुण ही अधर्म है। धर्म और अधर्म वे गु विश्व को, क्रमशः, गतिशील रखते हैं और उसे अव्यवस्था में गिरफ्तार होने हैं। काल की कल्पना इसलिए की गयी कि जैन धर्म संसार को माया नहीं जैसे शांकर मत में वह माना जाता है। संसार सत्य है और इसमें परिवर्त रहते हैं। इसी परिवर्त्तन का आधार काल है, क्योंकि काल के अस्तित्व को मा संसार में किसी तरह के परिवर्त्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। काल म जवानी, बुढ़ापे और मृत्यु, सबका कारण है।

जैन-दर्शन के छह द्रव्यों में से सिर्फ धर्म और अधर्म ही ऐसे हैं, जिनका धर्म-ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। बाकी जीव, पुद्गल, काल और ऐसे हैं जो, किसी-न-किसी रूप में, अन्यत्र भी आये हैं। ये बहुत-कुछ पंच-त समान हैं जिनसे, वैदिकों के अनुसार, सृष्टि की रचना हुई है।

वैदिक जैसे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता में विश्वास हैं, उसी प्रकार, जैन-दर्शन के अनुसार भी, हमारे स्थूल शरीर के भीतर ए कर्म-शरीर है। स्थूल-शरीर के छूट जाने पर भी यह कर्म-शरीर जीव के साथ है और वही उसे फिर अन्य शरीर धारण करवाता है। आत्मा की मनो चेष्टाओं—वासना, इच्छा, तृष्णा आदि—से इस कर्म-शरीर की सुपुष्टि हो इसलिए, कर्म-शरीर तभी छूटता है, जब जीव वासनाओं से ऊपर उठ जाता है उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं रह जाती। जैन-दर्शन के अनुसार भी व्यवस्था यही है।

जैन-दर्शन 'आस्रव' के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जिसका अर्थ यह है के संस्कार, क्षण-क्षण, स्रवित या प्रवाहित हो रहे हैं, जिनका प्रभाव जीव प क्षण, पड़ता जा रहा है। इस प्रभाव से बचने का उपाय यह है कि मनुष्य चित

निरोध करे, मन को काबू में लाये, योग की समाधि का अवलम्बन ले और तपश्चर्या लीन रहे।

वल्य या मोक्ष

कैवल्य-साधना के, जैनों के यहाँ, सात सोपान माने गये हैं। ये सात सोपान ही व, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्व हैं। जीव आत्मा । अजीव वह ठोस द्रव्य (अर्थात् शरीर) है, जिसमें आत्मा निवास करती है। जीव र अजीव का मिलन ही संसार है। अतएव, मोक्ष-साधना का मार्ग यह है कि जीव अजीव से भिन्न कर दिया जाय अर्थात् मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त करे कि वह आत्मा और शरीर से बिलकुल भिन्न है। किन्तु, जीव अजीव से बँधा कैसे है? इसका उत्तर स्रव है। कर्मों से जो संस्कार क्षरित होते हैं, उन्हीं के कारण जीव अजीव से बँध ता है। अतएव, इस बन्धन को नष्ट करने का उपाय यह है कि साधक कर्म से क्षरित नेवाले संस्कारों से अलिप्त रहने का उद्योग करे। यह प्रक्रिया संवर कहलाती है। न्तु, इतना ही यथेष्ट नहीं है। आत्मा को तो पूर्वार्जित संस्कार भी घेरे हुए हैं। न पूर्वार्जित संस्कारों से छूटने की साधना का नाम निर्जरा है। जीवन-नौका में छेद , जिनसे पानी उसमें भरता जा रहा है। छेदों को बन्द करना ही संवर की साधना और नाव में पहले से जो पानी भरा हुआ है, उसे उलीचने को निर्जरा कहते हैं। वर और निर्जरा के द्वारा जिसने अपने को संस्कारों अथवा आस्रवों से मुक्त कर या, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

जैन-दर्शन में मोक्ष की साधना केवल संन्यासी कर सकते हैं। इनकी पाँच कोटियाँ , जिनका समन्वित नाम पंच-परमेष्ठी है। ये पंच-परमेष्ठी हैं अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, पाध्याय और साधु। साधुओं के उपदेष्टा उपाध्याय और आचार्य कहलाते हैं। सिद्ध वह है जिसने शरीर छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लिया है और अर्हत् तीर्थङ्करों को हते हैं। अर्हत् तो चौबीस ही हुए हैं, किन्तु, सिद्ध कोई भी जीव हो सकता है। जिसकी वासना छूट गयी, जो सुख-दुःख से ऊपर उठ गया, जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत , वह सिद्ध है। सिद्ध की कोटि परमात्मा की कोटि है। भेद यह है कि सामान्य दिक दर्शन में परमात्मा एक माना गया है, किन्तु, जैन धर्म के अनुसार, जो भी व्यक्ति सिद्ध हो गया, वह स्वयं परमात्मा है।

वैदिक दर्शन में मोक्ष वह अवस्था है, जब आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। बौद्ध-दर्शन में इस अवस्था की संज्ञा निर्वाण है, जब आत्मा की सत्ता का लोप हो जाता है, किन्तु लुप्त होकर आत्मा कहाँ चली जाती है, यह रहस्य बौद्ध-दर्शन हमें नहीं बताता। जैन-दर्शन में इस स्थिति को कैवल्य कहते हैं। जैनों का विश्वास है कि अदृश्य जगत् में कहीं कैवल्य-लोक है; जहाँ सिद्धों की आत्माएँ, शुद्ध-बुद्ध रूप में, विराजा करती हैं। जो आत्मा सिद्ध अथवा मुक्त हो गयी, वह चार गुणों में मुक्त होती है। ये गुण हैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। रूप, रस, गन्ध और

वर्ण, ये पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल के बन्धन से छूटते ही जीव अनन्त-चतुष्टय हो जाता है।

अनेकान्तवाद

भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमें से अहिंसावाद को महत्त्व किसी ने भी नहीं दिया, जितना जैन धर्म ने दिया है। बौद्ध धर्म में, फि अहिंसा की एक सीमा है कि स्वयं किसी जीव का वध न करो, किन्तु, जैनों की बिलकुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य कि तरह से हिंसा में योग देना, जैन धर्म में सबकी मनाही है। और विशेषता यह है जैन-दर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत, वह बौद्धिक को भी अनिवार्य बताता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद

अहिंसा का आदर्श, आरम्भ से ही, भारत के समक्ष रहा था, किन्तु, उसकी सिद्धि, इसी अनेकान्तवाद में हुई। इस सिद्धान्त को देखते हुए ऐसा लगता है कि को, बहुत आगे चलकर, जहाँ पहुँचना है, भारत वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। में आज जो अशान्ति है, रह-रहकर विश्व में युद्ध के जो खतरे दिखायी देने ल उनका कारण क्या है? मुख्य कारण यह है कि एक वाद के माननेवाले लोग वादों के माननेवालों को आँख मूँदकर गलत समझते हैं। साम्यवादी समझते प्रजातंत्री देश बिलकुल गलत राह पर हैं और प्रजातंत्र के समर्थकों की दृष्टि में गलती साम्यवादियों की है। इसी प्रकार, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो कोला उसका मूल कारण यह है कि लोग विरोधी मतों के प्रति अत्यन्त असहनशील हो और, तब भी, सत्य यह है कि कोई भी मत सोलह आने सत्य या सोलह आने नहीं है। चीजें एक विन्दु से जैसी दिखायी देती हैं, दूसरे विन्दु से ठीक वैसी ही दि नहीं देतीं। अतएव, आँख मूँद कर किसी मत को सर्वथा खंडित करने का कार्य का कार्य है। अनेक मतों में किसी एक को पकड़ कर बैठ जाना और यह मान कि और सारे मत झूठे हैं, इसे विद्या का अहंकार कहना चाहिये। सत्य क्या है जानने का कोई एक मार्ग नहीं है। और सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की बड़ी पहचान भी यही है कि उसका दुराग्रह छूट जाता है। जो सच्चे अर्थों में स वे अपने ऊपर भी शंका करते हैं और, एक सिद्धान्त को मानते हुए भी, वे यह बनाये रहते हैं कि, सम्भव है, अन्य सिद्धान्तों में भी सत्य का कोई अंश हो, दिखायी नहीं पड़ा है। समन्वय, सह-अस्तित्व और असहिष्णुता, ये एक ही त अनेक नाम हैं। इसी तत्त्व को जैन-दर्शन शारीरिक धरातल पर **अहिंसा** और म धरातल पर **अनेकान्त** कहता है। जीवों को कष्ट नहीं देना, यह शारीरिक अहिं पहचान है। किन्तु, जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे जब आँख मूँद कर विरो पर प्रहार करते हैं, तब उनका भी यह कार्य हिंसा का ही कार्य होता है। साधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने अहिंसा का उपदेश किन्तु, चिन्तकों और विचारकों को हिंसा-कर्म से विरत करने के लिए उसने अ

का सिद्धान्त निकाला। और यह उचित भी है, क्योंकि निचले स्तर पर तो मतों, वादों और विचारों को लेकर, जोर से, बहस की जा सकती है, किन्तु, विचारक जब अत्युच्च धरातल पर पहुँचते हैं, तब वे किसी भी बात को पूरे जोर से नहीं कह सकते, न बहस करते समय उनकी आँखों में मशाल ही जलती है। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसी कोई राह नहीं है, जिसपर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सके। इसीलिए, हम जो जानते हैं, वह ठीक है। किन्तु, उतना ही ठीक वह व्यक्ति भी हो सकता है, जो हमारे विरुद्ध खड़ा है। अतएव, सच्चा अहिंसक विचारक किसी भी बात को बहुत जोर से नहीं कहता। अपने मतों को इस जोर से रखना, मानो, केवल वे ही ठीक हों, यह अहंकार का प्रदर्शन है, यह हिंसा और अधर्म है।

अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि "प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उसपर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहीं लहरा रहा है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।

स्याद्वाद

अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है, जो हमें यह चेतावनी देता है कि बहस के समय अपनी आँखों को लाल मत बनाओ, न कभी इस भाव को मन में स्थान बनाने दो कि तुम जो कुछ कहते हो, एक मात्र वही सत्य है। किन्तु, मन के इस अहिंसायुक्त भाव को हम भाषा में किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान जैन-दर्शन ने स्याद्वाद से किया। अनेकान्त चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम है और स्याद्वाद उसी चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली को कहते हैं। अर्थात् अनेकान्तवाद का सम्बन्ध मनुष्य के विचार से है, किन्तु, स्याद्वाद उस विचार के योग्य अहिंसायुक्त भाषा की खोज करता है। स्याद्वाद के अनुसार, सच्चा अहिंसक यह नहीं कहेगा कि "यह बात सत्य है," उसके मुख से बराबर यही निकलेगा कि "स्यात् यह ठीक हो।"

किन्तु, स्यात् का हिन्दी-पर्याय शब्द शायद होता है, जिससे ध्वनि निकलती है कि स्याद्वाद निश्चित ज्ञान का माध्यम नहीं हो सकता, उसमें बराबर शंका लिपटी रहती है। मुख्यतः, इसी दोष को लेकर शंकराचार्य, शान्तरक्षित, रामानुज, राधाकृष्णन, राहुल सांकृत्यायन, सम्पूर्णानन्द आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की प्रतिकूल आलोचना की है। श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अपने जैन-दर्शन नामक ग्रन्थ में स्याद्वाद की इन आलोचनाओं का उत्तर दिया है, जिसे हम समीचीन समझते हैं। महेन्द्रकुमारजी स्यात्

का अर्थ शायद नहीं मानते । उनका कहना है कि "प्राकृत और पालि में 'स्या
'सिया' रूप होता है । यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ प्रयुक्त होता रह
कोई ऐसा शब्द नहीं है जो वस्तु के पूर्ण रूप का स्पर्श कर सके । हर शब्द एक नि
दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है । इस
ज़ब शब्द में, स्वभावतः, विवक्षानुसार अमुक धर्म के प्रतिपादन करने की शक्ति है
यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिए एक 'प्र
अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे । 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता
वह श्रोता को विवक्षित धर्म का, प्रधानता से, ज्ञान करा के भी अविवक्षित ध
अस्तित्व का द्योतन कराता है। 'स्यात्' शब्द जिस धर्म के साथ लगता है, उसकी स्
कमजोर नहीं करके, वस्तु में रहनेवाले तत्प्रतिपक्षी धर्म की सूचना देता है।"

धर्माचरण के सिद्धान्त

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अहिंसा जैनों का परम ध
और इस पर वे जितना अधिक जोर डालते हैं, उतना और किसी बात पर नहीं।
हैं, जब जैन धर्म के उत्कर्ष का समय था, तब जैन मुनि खेती का विरोध करते थे, क्
खेत जोतने से मिट्टी में पड़े जीव मारे जाते हैं। वे पानी को केवल छान कर ही
औंट कर पीते थे, जिससे जीव उनके मुख में न चले जायँ ; वे मधु नहीं खाते थे,
मधु लाने के क्रम में मक्खियों का नाश होता है ; वे दीपक को बराबर कपड़े से
रखते थे, जिससे पतंग उस पर आकर न जल जायँ । और आगे की राह को वे कु
चलते थे, जिससे चींटियों और कीट-पतंगों पर उनके पाँव न पड़ें ।

जैन धर्म की दूसरी विशेषता अपरिमित कष्ट सहने की प्रवृत्ति है। बौद्ध
जैन धर्म में एक भेद यह भी है कि जहाँ बौद्ध अतिभोग और अतित्याग को छोड़कर
मार्ग पर चलने के समर्थक हैं, वहाँ जैन महात्मा इन्द्रिय-सुखों के घोर शत्रु हैं।
आस्रव के प्रभाव से बचने के लिए, वे संसार के प्रत्येक सुख से अलग भागने को
समझते हैं। भोग के बारे में दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं। एक वह जो यह कहता है
ईश्वर, स्वर्ग, नरक, पाप और पुण्य, ये सब-के-सब झूठे हैं ; आदमी जब मर जाता है
फिर उसकी कोई बात शेष नहीं रह जाती ; इसलिए, अच्छा यही है कि हम जब तक
में जियें, तब तक सुख से जियें और सभी प्रकार के भोगों से अपने को तृप्त कर लें;
पाप और पुण्य के मानसिक भय से डरना व्यर्थ है। असली भय पुलिस का है और
पुलिस से बचकर तुम इच्छित भोग पा सकते हो तो उसे जरूर भोगो। यह सम्
जड़तावादियों का है। अपने यहाँ ऐसा ही सम्प्रदाय चार्वाक-पन्थियों का भी था
विपरीत, दूसरे छोर पर वह सम्प्रदाय है जो यह कहता है कि ईश्वर है और दुनिया
की बनायी हुई है। हम जो जन्म लेकर आये हैं, सो हमारा जन्म पूर्वजन्म के पा
कारण हुआ है। हम अगर पाप नहीं करते तो हमारा जन्म नहीं होता। पाप
से ही पुनर्जन्म होता है। और अधिक पाप करने मे जीव को, अधिक-से-अ

योनियों में भटकना पड़ता है। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष से दूर रहने के कारण मनुष्य जन्म लेता है एवं उससे और अधिक दूर होने के कारण वह विवाह करके सांसारिकता में गिरफ्तार होता है। पुनर्जन्म से छूटने का उपाय यह है कि हम भोग को छोड़ें, क्योंकि भोगासक्ति ही पाप है। यह सम्प्रदाय, जिसे हम यती-सम्प्रदाय (Ascetic) कह सकते हैं, हर खूबसूरत चीज को गुनाह की जगह और प्रत्येक सुख को दु:ख का कारण मानता है।

भारत में इस यती-वृत्ति का चरम-विकास जैन साधुओं के बीच हुआ। ये जैन साधु शरीर को आत्मा का दुश्मन मानते थे और वे, चुन-चुन कर, उस मार्ग पर चलते थे, जिससे शरीर को अपरिमित कष्ट हो। आज भी वे सवारी पर नहीं चढ़ते, दूर-दूर तक पैदल ही चले जाते हैं। वे दाढ़ी-मूँछ भी नाई से नहीं बनवाते, बल्कि, राख लगाकर खुद ही उन्हें नोच डालते हैं। जब जैन धर्म अपने पूरे उत्कर्ष पर था, तब कहते हैं, जो साधक बारह साल तक धर्म की साधना कर लेता था, उसे यह अधिकार मिल जाता था कि वह चाहे तो उपवास करके अपने प्राण छोड़ दे। अनशन और उपवास से आत्म-हत्या करने की जैन धर्म में बड़ी महिमा है। जैन लोगों का विश्वास है कि मौर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त, अपने अन्तिम दिनों में, जैन हो गये थे और जब मगध में अकाल पड़ा, तब वे बहुत-से धर्मबन्धुओं को साथ लेकर दक्षिण भारत की ओर चले गये, जहाँ उन्होंने उपवास करके अपना शरीर छोड़ दिया। जैन धर्म के अनेक महात्मा इसी विधि से मरे हैं।

साधन की यह कठोरता इतनी आदरणीय कैसे मान ली गयी, इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह था कि दीर्घकालीन प्रचार के कारण लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह जीवन दु:खों से पूर्ण है और इन दु:खों से छुटकारे का उपाय मोक्ष प्राप्त करना है। आदमी का असली उद्देश्य मोक्ष हो गया और मोक्ष तथा आत्मा के बीच प्रत्यक्ष दीखनेवाली दीवार मनुष्य की देह हो गयी। अतएव, मनोवैज्ञानिक रूप से, आदमी ने अपना सारा गुस्सा शरीर पर उतारना शुरू किया। कृच्छ्र साधना के शिकार केवल जैन ही नहीं हुए, बल्कि, अन्य लोगों में भी उसका काफी प्रचार था। गौतम जब घर से निकल कर संन्यासी हो गये, तब उन्हें भी पहले मोक्ष-लाभ का मार्ग तपस्या में ही दिखायी पड़ा था। हिन्दू-पुराणों में दुर्धर्ष तपस्याओं की हजारों कथाएँ भरी पड़ी हैं। धर्म-लाभ के लिए उन दिनों लोग वर्षों तक एक पाँव पर खड़े रहते थे, पेड़ों से लटक कर उलटे टँग जाते थे, चन्द्रायण-व्रत करते थे या महज नीम की पत्तियाँ खाकर समय गुजार देते थे। उदासी सम्प्रदाय के साधुओं में से अब भी कितने ही साधु जाड़े और बरसात में घरों से बाहर पड़े रहते हैं तथा जेठ की धूप में पंचधुनी तापते हैं। स्वामी दयानन्द बहुत दिनों तक, जाड़े और बरसात, दोनों ऋतुओं में, घर से बाहर रहते थे और शरीर पर कपड़े नहीं डालते थे। बहुत दिनों से इस देश में एक विश्वास रहा है कि आत्मा को जगाने का सच्चा मार्ग शरीर को कष्ट में डालना है और जो लोग शरीर

को कष्ट में अधिक डालते थे, उनका समाज में आदर भी अधिक होता था। भारत में यह परम्परा बिलकुल समाप्त नहीं हुई है, बल्कि, अभी भी शेष है। सच तो है कि प्रत्येक साधु-महात्मा के साथ कष्ट-सहिष्णुता का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध हम आज भी मानते हैं।

जैन धर्म का त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र), असल में वैदिकों के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का ही परिवर्त्तित रूप है। भेद यह है कि वैदिक धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति में से कोई भी मार्ग मुक्ति के लिए यथेष्ट माना जाता है, किन्तु, जैन धर्म मोक्ष-लाभ के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र, तीनों को आवश्यक मानता है।

त्रिरत्न में पहला स्थान सम्यक् दर्शन का आता है, जिसके पालन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढ़ताओं और आठ प्रकार के अहंकारों को बिलकुल छोड़ दे। तीन प्रकार की मूढ़ताएँ हैं— लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और पाषण्ड-मूढ़ता। नदियों में स्नान करने से शुचिता ही नहीं, पुण्य भी बढ़ता है, यह और ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ लोक-मूढ़ता के उदाहरण हैं, जो त्याज्य हैं। देवी-देवताओं की शक्तियों में विश्वास करना देव-मूढ़ता है तथा साधु-फकीरों के चमत्कार में विश्वास करना पाषण्ड-मूढ़ता है। जैन धर्म में ये सभी अन्धविश्वास त्याज्य हैं। जब तक ये अन्धविश्वास नहीं छूटते, मनुष्य धर्म के सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता।

भला यह कैसे सम्भव था कि जिस धर्म ने अहिंसा पर इतना जोर डाला, वह विनम्रता के गुण को अनिवार्य नहीं समझे? इसलिए, जैन धर्म में आठ प्रकार के अहंकार भी त्याज्य बताये गये हैं। ये हैं—(१) अपनी बुद्धि का अहंकार, (२) अपनी धर्मिकता का अहंकार, (३) अपने वंश का अहंकार, (४) अपनी जाति का अहंकार, (५) अपने शरीर या मनोबल का अहंकार, (६) अपनी चमत्कार दिखानेवाली शक्तियों का अहंकार, (७) अपने योग और तपस्या का अहंकार तथा (८) अपने रूप और सौन्दर्य का अहंकार। इतनी तैयारी हो लेने पर ही, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का फल साधक को मिल सकता है।

बौद्ध धर्म की तरह, जैन धर्म भी कर्मवादी है और उसका उद्देश्य मनुष्यों के चरित्र को परिष्कृत एवं उन्नत बनाना है। प्रत्येक जैन गृहस्थ को पंचव्रत का प्रण लेना पड़ता है, जिनके नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। खेती-बारी में जो जीव-हिंसा अनिच्छित ढंग से हो जाती है, वह गृहस्थों को क्षम्य है। इसी प्रकार, ब्रह्मचर्य के मामले में भी परस्त्री-गमन ही वर्जित है और अपरिग्रह के द्वारा गृहस्थ को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति अपने पास न रखेगा, उसे दान में दे देगा। शायद, इसी व्रत का पालन करने के लिए आज भी जैन गृहस्थ अपनी आय का एक भाग दान के लिए उत्सर्ग कर देते हैं।

गृहस्थों के लिए जो व्रत परिमित रखे गये हैं, श्रमणों और संन्यासियों पर वे ही व्रत अत्यन्त कठोरता से लागू किये जाते हैं, क्योंकि उन्हें छूट की आवश्यकता नहीं

है तथा उन्हें प्राणपन से इन व्रतों के पूर्ण पालन का प्रयास करना ही चाहिये।

जैन मत और बौद्ध मत

जैन मत और बौद्ध मत में समानता यह है कि दोनों मत पशु-हिंसा के विरोधी हैं। यद्यपि, आगे चलकर बौद्ध मरे हुए पशु का मांस खाना बुरा नहीं मानने लगे, किन्तु, जैन हिंसक या अहिंसक, सभी प्रकार के आमिष को अग्राह्य मानते हैं। दोनों मत वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करते हैं। दोनों का विश्वास है कि सृष्टि की रचना करनेवाला कोई देवता नहीं है। दोनों मतों के पंडितों ने प्रचलित देश-भाषाओं में उपदेश देना आवश्यक माना—बौद्धों का मूल-साहित्य प्राकृत में है और जैनों का अधिक साहित्य अपभ्रंश में। आगे चलकर, दोनों धर्मों के ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये। किन्तु, इन धर्मों के बीच भेद यह है कि बौद्ध सृष्टि मात्र को परिवर्त्तनशील एवं नश्वर मानते हैं तथा वे यह स्वीकार नहीं करते कि सृष्टि के मूल में कोई तत्त्व है, जो अक्षय और अनादि है। किन्तु, जैन जीव और अजीव को अक्षय तथा अनादि मानते हैं। श्री महेन्द्रकुमार ने लिखा है कि, यद्यपि, अनेक विषयों में जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन समानतंत्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने से दोनों में विरोध था और, इसीलिए, इनका प्रबल खण्डन जैन न्याय-ग्रन्थों में पाया जाता है। धर्म और दर्शन की मौलिक जिज्ञासाओं के विषय में महावीर और बुद्ध के क्या मत हो सकते थे, यह इस प्रकार अनुमित किया जा सकता है। यदि कोई बुद्ध से पूछता कि "क्या लोक शाश्वत है?" तो बुद्ध यह उत्तर देते कि इसका जानना अनुपयोगी है और ऐसे अव्याकृत प्रश्न पूछे ही नहीं जाने चाहियें। किन्तु, यही प्रश्न यदि महावीर से पूछा जाता तो वे यह कहते कि "हाँ, लोक द्रव्य-दृष्टि से शाश्वत है। इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नहीं होता, न किसी असत् से नये सत् का उत्पादन ही सम्भव है।" और यदि यह पूछा जाता कि 'क्या लोक अशाश्वत है?' तब भी बुद्ध उसे अव्याकृत कहकर टाल देते। किन्तु, महावीर कहते कि "हाँ लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनों की दृष्टि से अशाश्वत है। कोई भी पदार्थ एक रूप में दो क्षण ठहरनेवाला नहीं है।" और यदि यह प्रश्न किया जाता कि "क्या लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी?" तो बुद्ध फिर मौन रह जाते और महावीर फिर कहते कि "हाँ, लोक, दोनों दृष्टियों से विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।"

जैन साधना अत्यन्त कृच्छ्र और कठिन साधना है। बुद्ध ने तप और भोग के बीच मध्यमार्ग को विहित बताया। बौद्धों का निर्वाण सम्पूर्ण विनाश का संशय उत्पन्न करता है। जैन पण्डित निर्वाण को जीव के विकास की स्थिति मानते हैं तथा यह कहते हैं कि जीवन-मुक्त पुरुष ईश्वर-कोटि को प्राप्त करता है। जैनों में भिक्षु और गृहस्थ के बीच की दूरी कम रही। बौद्धों का सारा जोर भिक्षु-संघ पर पड़ा और उनके गृहस्थ सेवक उपेक्षित हो गये। धर्माचरण और अनुष्ठानादि में जैन धर्म वैदिक धर्म के समीप रहा। किन्तु, बौद्ध मत उससे काफी दूर चला गया। राज्य-सहायता तो जैन धर्म को

भी मिली थी ; किन्तु, जैन मत भारत से बाहर नहीं गया। किन्तु, बौद्ध मत ने के सांस्कृतिक अभियान में अपने को विश्व-विजय का माध्यम बना लिया। बौद्ध मुख्यतः, संन्यासियों का धर्म था। किन्तु, जैन मत गृहस्थों को साथ लिये तथा ये गृहस्थ श्राद्ध, विवाह, पूजा और अनुष्ठान में ब्राह्मण पुरोहितों से काम रहे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि जैन मत हिन्दुत्व का अंश बना रहा। बौद्ध मत हिन्दू वृत्त से बाहर चला गया।

जैन धर्म का इतिहास

सामान्य अनुमान यह है कि जैन पन्थ का मूल उन प्राचीन परम्पराओं में रहा जो आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में प्रचलित थीं। किन्तु, यदि आर्यों के आ के बाद से भी देखें तो ऋषभदेव और अरिष्टनेमि को लेकर जैन-धर्म की परम्परा तक पहुँचती है। महाभारत-युद्ध के समय, इस सम्प्रदाय के एक नेता नेमिनाथ जिन्हें जैन अपना एक तीर्थङ्कर मानते हैं। ई०पू० आठवीं सदी में तेईसवें तीर् पार्श्वनाथ हुए, जिनका जन्म काशी में हुआ था। काशी के पास ही ग्यारहवें तीर् श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ था, जिनके नाम पर सारनाथ का नाम चला आता जैन धर्म के अन्दर श्रमण-सम्प्रदाय का पहला संगठन पार्श्वनाथ ने किया था। ये वैदिक प्रथा के विरुद्ध थे और, महावीर तथा बुद्ध के काल में, ये श्रमण कुछ और कुछ जैन हो गये तथा दोनों ने अलग-अलग अपनी संख्याएँ बढ़ा लीं।

जैन-पन्थ के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर वर्धमान हुए, जिनका जन्म ई०पू० में हुआ था। वे ७२ वर्ष की अवस्था में स्वर्गीय हुए। महावीर स्वामी ने मर पूर्व इस सम्प्रदाय की नींव भलीभाँति पुष्ट कर दी, अहिंसा को उन्होंने पक्के तौर स्थापित कर दिया और जब वे मरे, तब उनका सम्प्रदाय, पूर्णरूप से, संगठि सक्रिय था। सांसारिकता पर विजयी होने के कारण वे जिन (जयी) कहलाये उन्हीं के समय से इस सम्प्रदाय का नाम जैन हो गया।

जब सिकन्दर भारत आया था, तब जैन साधु सिन्धु के तट पर भी बसे हुए चन्द्रगुप्त मौर्य जैन हुए थे या नहीं, इस विषय में अभी सन्देह है, किन्तु, अशो अभिलेखों से यह पता चलता है कि उसके समय में मगध में जैन धर्म का प्रचार लगभग इसी समय, मठों में बसनेवाले जैन मुनियों में यह मतभेद शुरू हुआ कि तीर्थ की मूर्त्तियाँ कपड़े पहना कर रखी जायँ या नग्न ही तथा मुनियों को वस्त्र नना चाहिये या नहीं। यह मतभेद इतना बढ़ा कि ईसा की पहली सदी में आकर मतावलम्बी मुनि दो दलों में बँट गये। एक दल हुआ श्वेताम्बर, जिसके साधु वस्त्र पहनते थे ; और दूसरा हुआ दिगम्बर, जिसके साधु नंगे ही घूमते थे।

मौर्य-काल में ; भद्रबाहु के नेतृत्व में, जैन श्रमणों का एक दल दक्षिण गया मैसूर में रहकर अपने धर्म का प्रचार करने लगा। ईसा की पहली शताब्दी में के राजा खारावेल ने जैन धर्म स्वीकार किया। ईसा की आरम्भिक सदियों में

मथुरा और दक्षिण में मैसूर (श्रमण वेलगोला) जैन धर्म के बहुत बड़े केन्द्र थे। चवीं से बारहवीं शताब्दी तक दक्षिण के गंग, कदम्बु, चालुक्य और राष्ट्रकूट राज- शों ने जैन धर्म की बहुत सेवा की और उसका काफी प्रचार किया। इन राजाओं के हाँ अनेक जैन कवियों को भी प्रश्रय मिला था, जिनकी रचनाएँ आज तक उपलब्ध । ग्यारहवीं सदी के आसपास, चालुक्य-वंश के राजा सिद्धराज और उनके पुत्र मारपाल ने जैन धर्म को राज-धर्म वना दिया तथा गुजरात में उसका व्यापक प्रचार या। अपभ्रंश के लेखक और जैन विद्वान हेमचन्द्र कुमारपाल के ही दरबार में हते थे। एक समय इस धर्म का राजपूताने में भी अच्छा प्रचार था। चूँकि जैन र्मावलम्बी बहुत ही शान्तिप्रिय होते थे, इसलिए, मुसलमानों के शासन-काल में उन र अधिक जुल्म नहीं हुए, बल्कि, अकबर ने उनकी थोड़ी-बहुत सहायता ही की थी। गर, धीरे-धीरे, जैन मठ टूट गये और पिछले मुगलों के समय में ही, उनका प्रभाव ाता रहा। अब इस देश में केवल बारह-चौदह लाख जैन रह गये हैं जो, मुख्यतः, णिज-व्यापार करते हैं। तब भी, इस देश में दान-धर्म के अनेक निशान (धर्मशाला, द्यालय, मठ, मन्दिर आदि) इस सम्प्रदायवालों के बनवाये हुए हैं।

दिक धर्म पर प्रभाव

जैन धर्म अत्यन्त उन्नत और मनुष्य के लिए कल्याणकारी धर्म था। अचरज की ात है कि उसके अनुगामियों की संख्या अब इतनी थोड़ी रह गयी है। लेकिन, एक सरी दृष्टि से देखने पर आश्चर्य नहीं होता। यह धर्म कोई बाहर से आया हुआ या धर्म नहीं था। वह वैदिक धर्म से ही निकला था और, रूप उसका जो भी रहा , मगर, लक्ष्य उसका वैदिक धर्म का सुधार था। आरम्भ से ही जैन धर्म की शब्दा- ली वैदिक धर्म की शब्दावली रही थी और, यद्यपि, सदियों तक जैन लोग अलग म्प्रदाय बनाकर रहे थे, मगर, अलग रहकर भी वे वैदिक धर्म की ही सेवा कर रहे । ब्राह्मणों के विशेषाधिकार की अवहेलना, यज्ञ का विरोध और अहिंसा की स्थापना न्हीं बातों को लेकर जैन वैदिक धर्म से अलग हुए थे। मगर, जब वैदिक धर्म ने ये ातें मान लीं, तब जैन-सम्प्रदाय के अलग रहने का कोई कारण नहीं रह गया और, ीरे-धीरे इस सम्प्रदाय के लोग हिन्दू-धर्म में वापस आ गये। यों भी, वैदिकों और नों के बीच शादी-सम्बन्ध तो होते ही आये थे। फिर वे अलग रहते कैसे ?

आज जो भी दस-बारह लाख जैन भारत में हैं, वे आचार-विचार, रहन-सहन और ीति-रिवाज में वैष्णव हिन्दुओं के बीच पूरी तरह से खपे हुए हैं। उनका धर्म पूर्ण- पेण हिन्दू-धर्म में समाहित हो गया है। हिन्दू-धर्म की जो वैष्णव शाखा है, उसने गवान महावीर के अनेक उपदेशों को अपने भीतर भलीभाँति पचा लिया है तथा ष्णव और जैन में भेद करना आसान काम नहीं है। आधुनिक काल में महात्मा ाँधी हिन्दुत्व के वैष्णव-भाव के सबसे बड़े प्रतिनिधि हुए, लेकिन, उनमें प्रतिनिधि- न के भी सभी लक्षण मौजूद थे। अनशन और उपवास पर प्रेम, अहिंसा पर प्रगाढ़ क्ति, कदम-कदम पर भोग की सामग्रियों से बचने का भाव और उनका समझौता-

वादी दृष्टिकोण (स्याद्वाद), ये सब-के सब जैन धर्म की ही शिक्षाएँ हैं। हिन्दू जैन धर्म आपस में घुल-मिल कर अब इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का हिन्दू यह जानता भी नहीं कि "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्र जैन धर्म के उपदेश थे, वैदिक धर्म के नहीं। मगर, वह इस भेद को जाने औ भी क्यों? जैन धर्म तो वैदिक धर्म का ही एक रूप था, जो परम्परा से कुछ अलग होकर धर्म का एक नया प्रयोग कर रहा था। प्रयोग पूरा हो गया, हि उसके नतीजों को कबूल कर लिया और अब वह हिन्दुत्व भी है और जैन-मत

जैन धर्म का (और बौद्ध धर्म का भी) हिन्दू-धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा, उत्तर अगर हम एक शब्द में देना चाहें तो वह शब्द 'अहिंसा' है और यह शारीरिक ही नहीं, बौद्धिक भी रही है। शैव और वैष्णव धर्मों का उत्थान जैन बौद्ध धर्मों के बाद हुआ। शायद, यही कारण है कि इन दोनों मतों (विशेषतः मत) में अहिंसा का ऊँचा स्थान है। दुर्गा के सामने कूष्माण्ड की बलि चढ़ाने जैन और बौद्ध मतों के अहिंसावाद से ही निकली होगी। यद्यपि, वेद में भी ए पर कहा गया है कि यज्ञ का सार पहले मनुष्य में था, फिर वह अश्व में चला फिर गौ में, फिर भेंड़ में और तब अजा में। जब अजा की वलि दी जाने ल यह सार पृथ्वी में समा गया, जिससे यव और तण्डुल उत्पन्न होते हैं। यव और का पुरोडाश (रोटी या पीठी) भी यज्ञ की पवित्र बलि है। इसपर से पंडितों अनुमान लगाया है कि हिंसा की भयंकरता का अनुभव वैदिक ऋषियों को लगा था। इसीलिए, उन्होंने कल्पना के इस घुमाव के द्वारा जनता के सामने रखी कि पशुओं के बदले यव और तण्डुल की भी बलि दी जा सकती है। वनों कहीं-कहीं, ग्रामों में वसनेवाली जनता आज भी धर्म-कर्म में, पूर्ण रूप से, नहीं हो पायी है। कई जातियों के लोग अब भी पशु-बलि से देवताओं को करने में विश्वास करते हैं। किन्तु, जैसे-जैसे उनमें शिक्षा का प्रसार बढ़ता है, बलि की क्रूर प्रथा को छोड़ते जाते हैं।

आज जैन-मतावलम्बियों में अधिक संख्या उन्हीं की है, जो व्यापारी हैं। जैन धर्म के अहिंसावाद का ही परिणाम है। जैन साधु इस चिन्ता से बहुत पीड़ित रहते थे कि कहीं उनके हाथों किसी जीव का नाश नहीं हो जाय। मगर में तो खेत जोतने से जीव-हिंसा होती ही है। इसी हिंसा से घबरा कर जैन कृषि को छोड़कर व्यापार पर जीने की प्रथा चल पड़ी।

बौद्धिक अहिंसा पर जोर जैन मत ने स्याद्वाद के द्वारा दिया। मगर, यह कहा जा सकता कि स्याद्वाद के बीज वैदिक धर्म में नहीं थे। उपनिषदों में कहीं साकार, कहीं निराकार और कहीं दोनों माना गया है। ऋषियों की वा हम सर्वत्र एक तरह की चौकसी और सतर्कता देखते हैं और जब वे किसी खंडन करते हैं, तब भी, उनके तर्क अहिंसा से भींगे होते हैं, उनमें वह निर्ममता होती, जो आज के हठी विचारों का लक्षण है।

दक्षिण में जैन धर्म का जो प्रचार हुआ, उससे भारत की एकता में और भी वृद्धि ई। जैन मुनियों और साहित्य के साथ संस्कृत के बहुत-से शब्द दक्षिण पहुँचे और वे लयालम, तेलुगु और कन्नड़ भाषाओं में मिल गये। जैनों ने दक्षिण में बहुत-सी पाठ-ालाएँ भी खोली थीं। आज भी कन्नड़-इलाके में बच्चों को अक्षरारम्भ कराते समय ॐनमः सिद्धम्," यह पहला वाक्य पढ़ाया जाता है, जो जैनों के नमस्कार का वाक्य । वैष्णव धर्म की तैयारी दक्षिण में हुई थी और दक्षिण से ही वह उत्तरवालों को मला, जिसके प्रमाण रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य हैं जो सब-के-सब, क्षिण में ही जनमे थे। रामानन्द, यद्यपि, प्रयाग के कान्यकुब्ज-परिवार में जनमे थे, किन्तु मानुज की परम्परा के समर्थ वाहक होने के कारण हम उन्हें भी दक्षिण की आध्यात्मिक तान मान सकते हैं। खोज करने पर, शायद, यह बात भी मालूम हो सकती है कि ष्णव धर्म के विकास में जैन-मत का भी योगदान था। गुजरात की जनता पर जैन-क्षा (अहिंसा और सादगी) का आज भी अच्छा प्रभाव है तथा यह भी कोई आक-मक बात नहीं है कि अहिंसा, उपवास और सरलता के उतने प्रबल समर्थक गाँधीजी जरात में ही जनमे।

कहते हैं, विन्ध्य से उत्तर उन जैन मुनियों की प्रधानता थी जो श्वेताम्बर थे तथा न्ध्य से दक्षिण, तमिल और कन्नड़ देशों में उनकी प्रधानता हुई जो दिगम्बर थे। ष्ट है कि दिगम्बर मुनियों का आदर वे ही करते होंगे, जिनमें धर्म के प्रति विशेष राग रहा होगा। इस तरह से विचार करने पर यह अनुमान आसानी से निकल ता है कि प्राचीन काल में जैन-मत का प्रधान गढ़ दक्षिण भारत ही रहा होगा। सवी सन् के आरम्भ में, तमिल-साहित्य का जो व्यापक विकास हुआ, उसके पीछे जैन नियों का भी हाथ था, ऐसा इतिहासकारों का विचार है। तमिल ग्रन्थ, 'कुरल' के च-छह भाग जैनों के रचे हुए हैं, यह बात कई विद्वान स्वीकार करते हैं। इसी कार, कन्नड़ का भी आरम्भिक साहित्य जैनों का रचा हुआ है।

इस देश की भाषागत उन्नति में जैन मुनि सहायक रहे हैं। ब्राह्मण अपने धर्मग्रन्थ स्कृत में और बौद्ध पालि में लिखते थे, किन्तु, जैन मुनियों ने प्राकृत के अनेक रूपों उपयोग किया और प्रत्येक काल एवं प्रत्येक क्षेत्र में जब जो भाषा चालू थी, जैनों उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया। इस प्रकार, प्राकृत के अनेक रूपों की उन्होंने वा की। महावीर ने अर्ध-मागधी को इसलिए चुना था कि मागधी और शौरसेनी, नों भाषाओं के लोग उनका उपदेश समझ सकें। बाद को, ये उपदेश लिख भी लिये ये और उन्हीं के लेखन में हम अर्ध-मागधी भाषा का नमूना आज भी पाते हैं। हिन्दी, जराती, मराठी आदि भाषाओं के जन्म लेने के पूर्व, इन प्रान्तों में जो भाषा प्रचलित ी, उसमें जैनों का विशाल साहित्य है, जिसे अपभ्रंश-साहित्य कहते हैं। भारत की षाओं में एक ओर तो प्राचीन भाषाएँ, संस्कृत और प्राकृत हैं तथा दूसरी ओर, ज की देश-भाषाएँ। अपभ्रंश भाषा इन दोनों भाषा-समूहों के बीच की कड़ी है। सलिए, भारत के भाषा-विषयक अध्ययन की दृष्टि से अपभ्रंश का बड़ा महत्त्व है। ।

जैन विद्वानों ने संस्कृत की भी काफी सेवा की। संस्कृत में भी जैनों के लिखे ग्रन्थ हैं, जिनमें से कुछ तो काव्य और वर्णन हैं तथा कुछ दर्शन के सम्ब व्याकरण, छन्दशास्त्र, कोष और गणित पर भी संस्कृत में जैनाचार्यों ग्रन्थ मिलते हैं।

मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण भी जैन सम्प्रदाय ने खूब किया। जैसे बौ महात्माओं के स्तूप बनवाते थे, वैसे ही, बहुत-से स्तूप जैनों के भी हैं। मथुरा जानेवाले जैन स्तूप सबसे पुराने हैं। बुन्देलखण्ड में ग्यारहवीं और बारहवीं सदि जैन मूर्त्तियाँ ढेर-की-ढेर मिलती हैं। मैसूर के श्रमण बेलगोला और करकल स्थानों में गोमतेश्वर या बाहुबली की विशाल प्रतिमाएँ हैं। ग्वालियर के पास में जैन मूर्त्तिकारी के जो नमूने हैं, वे पन्द्रहवीं सदी के हैं। जैनों ने पर्वत कन्दरा-मन्दिर भी बनवाये थे, जिनके ई०पू० द्वितीय शती के नमूने उड़ीसा की गुम्फ-कन्दरा में मिलते हैं। बिहार में पार्श्वनाथ, पावापुरी और राजगिर में काठियावाड़ में गिरनार और पालितान में भी जैनों के मन्दिर और तीर्थस्थान

प्रकरण ३

बौद्ध धर्म

पिछले प्रकरण के विवरण से यह आभास मिल जाना चाहिये कि बुद्धदेव का जन्म र उनके द्वारा चलाये गये धर्म का उत्थान कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। असल बौद्ध धर्म उस विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम था, जो कर्मकाण्ड, हिंसायुक्त के आडम्बर और पुरोहितवाद के विरुद्ध पहले से ही बहती आ रही थी और सकी आवाज हम उपनिषदों और गीता में सुनते हैं। वेद और उपनिषद् पढ़ने अधिकार शूद्रों को नहीं दिया गया था।[1] न उन्हें यही अधिकार था कि द्विजों की ह वे भी यज्ञ करके लोक और परलोक में सुख भोगने की योग्यता प्राप्त करें। उस य का समाज, सचमुच ही, बौद्धिक संकट का सामना कर रहा था। जन-साधारण की ठिनाई यह थी कि यज्ञ को छोड़कर उसके आगे धर्म का कोई और मार्ग नहीं था। न्तु, समाज के, प्रायः, सभी चिन्तक यज्ञ के खिलाफ होते जा रहे थे और साधारण हस्थ को भी यह भान हो चला था कि यज्ञों के आलोचक झूठ नहीं कहते हैं। दूसरी र, उपनिषदों की चोटी से जो ज्ञान आ रहा था, उस तक साधारण मनुष्य की पहुँच हीं थी। देश में विभिन्न मत-मतान्तरों के जो झकोरे चल रहे थे, वे भी उसे बेचैन किये थे। ऐसी हालत में जनता कोई ऐसा धर्म चाह रही थी, जो सुगम और सुबोध , जिसमें पशु-बलि की क्रूरता भी नहीं हो और व्यर्थ का आडम्बर भी नहीं, जो नुष्य को अतिभोग से भी दूर रखे और तपस्या तथा यती-वृत्ति की कठोरता से भी ; मनुष्य के ध्यान को धर्म की ओर तो अवश्य ले जाय, किन्तु बीसों प्रकार ऊहापोह में उसे उलझा नहीं डाले। असल में, जनता कोई व्यावहारिक धर्म चाह ही थी और बुद्धदेव ने वही धर्म उसे दिया भी। वे वैदिक धर्म से दूर नहीं गये, उन्हों वैदिक धर्म के मूल पर प्रहार नहीं किया, बल्कि, उनकी चोटों के निशाने वैदिक धर्म कुरीतियाँ और कमजोरियाँ थीं। इसीलिए, यह मानना अधिक युक्तियुक्त है कि बौद्ध र्म कोई नया धर्म नहीं, बल्कि, हिन्दुत्व का ही संशोधित रूप है। असल में, अपनी रीतियों से लड़ने के लिए हिन्दुत्व ने ही बौद्ध धर्म का रूप लिया था जैसा कि वह त्येक संकट-काल में लेता रहा है, और जिन आचार्यों ने बुद्धदेव की गिनती हिन्दू-धर्म

. "शूद्र चलता-फिरता श्मशान है। उसके इतने समीप अध्ययन न करे कि उसे सुनायी दे। यदि वह जान-बूझ कर श्रुति सुने तो लाह या सीसा गला कर उसके कान में डालना चाहिए।" (कात्या० श्रौ० तथा आप० श्रौ०)

के दशावतार में की, उनका भी यही भाव रहा होगा कि बुद्ध पराये नहीं, और 'धर्म-संस्थापनार्थं' विष्णु जैसे राम और कृष्ण बनकर आये थे, वैसे ही, को रोकने के लिए, इस बार, वे बुद्ध बनकर आये हैं।[1] जहाँतक हमारा अनु तथागत का भी अपने बारे में यही ख्याल था। वे प्रचलित धर्म के भंजक नहीं, थे। वे स्वयं बौद्ध नहीं, हिन्दू जनमे थे।

बौद्ध धर्म और आचार

बुद्धदेव ने अपने नये धर्म की घोषणा संस्कृत को छोड़कर जनता की बोली और दार्शनिक जंजाल से दूर रहते हुए उन्होंने, संक्षेप में, लोगों को यह बतला मनुष्य दुःखी है, दुःख अकारण नहीं है, इस दुःख का निरोध सम्भव है और इस का मार्ग भी है। ये ही बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य हैं, जिनकी व्याख्या निम्न रूप से की जाती है :—

१. **दुःख आर्य सत्य है।** जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दु मरण भी दुःख है, अप्रिय लोगों से मिलना भी दुःख है, प्रिय लोगों से बिछुड़ दुःख है और इच्छा करने पर किसी चीज का नहीं मिलना भी दुःख है।

२. **दुःख-समुदाय आर्य सत्य है।** अर्थात् मनुष्य को जो भी दुःख होते हैं, वे न-किसी कारण को लेकर। यह कारण सदैव तृष्णा का कोई-न-कोई रूप होता जन्म लेने की तृष्णा, खुश होने की तृष्णा, सुख भोगने की तृष्णा। जब-जब तृष् पूर्त्ति में बाधा पड़ती है, तब-तब मनुष्य दुःखी होता है। असल में, तृष्णा (किसी की इच्छा) और दुःख में कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

३. **दुःख-निरोध आर्य सत्य है।** अर्थात् दुःख के दूर करने का उपाय उनके को दूर करना है। तृष्णा का सर्वथा त्याग, वासना में लीन नहीं होने की योग्यता जिन-जिन कारणों से मनुष्यों को दुःख होते हैं, उन-उन कारणों से मुक्त हो जा भाव, यह दुःख-निरोध है।

४. **दुःख-निरोध-गामिनो-प्रतिपद आर्य सत्य है।** इसका अर्थ यह है कि दु छूटने का मार्ग भी है। इस उपदेश के अन्दर उन आठ प्रकार के आचरणों की है, जिनका पालन करके मनुष्य दुःखों के कारणों का नाश कर सकता आष्टांगिक मार्ग इस प्रकार हैं:—

१. **सम्यक् दृष्टि।** यह दृष्टि रखना कि जीवन में दुःख हैं, दुःख अकारण न दुःख दूर किये जा सकते हैं तथा दुःखों के दूर करने के उपाय भी हैं। अर्थात् ने जो चार आर्य सत्य कहे हैं, उनमें अटल विश्वास रखना। (बुद्ध की सम्यक् महावीर का सम्यक् दर्शन और वेदान्त का श्रद्धा-भाव यानी गुरु या धर्मग्रन्थ जो करें, उनकी सत्यता में विश्वास, ये आपस में मिलती-जुलती बातें हैं।)

---

[1] निन्दसि वेदविधेरहह श्रुतिजातम्, सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्,
केशव धृत बुद्ध-शरीर, जय जगदीश हरे! (गीतगोविन्द।)

सम्यक् संकल्प । निष्कर्मता-सम्बन्धी संकल्प यानी जो कर्म करने योग्य नहीं हैं, हें नहीं करने का संकल्प ; अद्रोह-सम्बन्धी संकल्प, अहिंसा-सम्बन्धी संकल्प इत्यादि ।

सम्यक् वचन । झूठ बोलने से बचना, चुगली करने से बचना, कड़ी बात कहने बचना और बकवास में भाग लेने से बचना ।

सम्यक् कर्मान्त । प्राणि-हिंसा नहीं करना, जो दिया नहीं गया है उसे नहीं लेना, चार से बचना और भोग के अतिचार से दूर रहना ।

सम्यक् आजीव । गलत रोजगार से अगर रोजी चलती हो तो उसे छोड़कर ऐसे गार में लगना, जिससे धर्म नहीं बिगड़ता हो ।

सम्यक् व्यायाम । दुर्व्यसन और कुटेव को छोड़ने की कोशिश करना, मन में के भाव जगते हों तो उन्हें दबाने का प्रयत्न करना, मन में जो अच्छे भाव पैदा उन्हें बढ़ाने की चेष्टा करना ; संक्षेप में, मानसिक दोषों को पराजित करके व्यक्तित्व को निर्मल और पूर्ण बनाने के लिए प्रयास करते रहना ।

सम्यक् स्मृति । शरीर में बुढ़ापे, रोग और पाप के बीज हैं, इसका ध्यान ा और, क्षण-क्षण, भीतर से जागरूक रहकर वासना का दलन और ज्ञान का स करना ।

सम्यक् समाधि । चार प्रकार के ध्यान जिनमें वितर्क और विचार से मन के यों को सुलझाया जाता है, शान्ति और एकाग्रता से अपने-आपको जानने की कोशिश जाती है और सुख तथा दुःख, दोनों से अलिप्त रहने की भावना का विकास किया ा है ।

संक्षेप में, बुद्ध ने अपने अनुयायियों से यह कहा कि मेरे उपदेशों पर विश्वास , बुद्धि से उन्हें समझने की कोशिश करो और हर एक उपदेश को अपने जीवन में रने का प्रयत्न करो ; पवित्र-से-पवित्र जीवन बिताओ और नियमित रूप से ध्यान समाधि करो ।

यह धर्म का बड़ा ही व्यावहारिक रूप था, अतएव, वह उन सभी लोगों को सुगम, र और सुबोध जान पड़ा, जो कर्मकांड से ऊबे हुए थे, जो यज्ञों में होनेवाली पशु- ा से घृणा करते थे, उपनिषदों का ज्ञान जिनके पल्ले नहीं पड़ता था तथा जो इस को पसन्द नहीं करते थे कि धर्म-कर्म करने तथा वेद-उपनिषद् पढ़ने और सुनने अधिकार केवल द्विजों को ही है । **समाज में जो वर्ण ब्राह्मण से जितना ही दूर था, बौद्ध धर्म की ओर उतने ही वेग से खिंचा** । चूँकि बुद्धदेव जन्म से क्षत्रिय थे, इस- , ब्राह्मण पहले उनकी ओर जाने में झिझके । आरम्भ में, वैश्यों और शूद्रों में तथा- को अधिक अनुयायी मिले । शूद्रों को तो यह धर्म बहुत ही भला लगा, क्योंकि बुद्ध- जाति-प्रथा के खिलाफ थे । यह धर्म पहले मगध में अधिक फैला, जिसका एक कारण ह था कि बुद्ध ने राजगिर में तपस्या और गया में ज्ञान प्राप्त किया था । लेकिन, भी बड़ा कारण यह हुआ कि मगध में आर्य-धर्म में कभी भी वह कट्टरता नहीं

आयी थी, जो पश्चिमी भारत में थी तथा जिस स्थिति का थोड़ा-सा विवर अध्याय में दिया जा चुका है। पूर्वी भारत के लोग, आरम्भ से ही, धर्म-कर्म में कुछ ज्यादा उदार थे और नये विचारों का स्वागत वे अधिक स्वतन्त्रता सकते थे। इसलिए, वेद और ब्राह्मण धर्म के खिलाफ उठे हुए इस नये आन्दो उन्होंने बढ़कर साथ दिया और मगध में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा हो गयी। यह देने की बात है कि बौद्ध धर्म को पहले-पहल राज्य का आश्रय भी म मिला। बुद्ध के समय में राजगिर के राजा बिम्बिसार और बुद्ध के मरने के दो सौ वर्ष बाद, मगध-सम्राट् अशोक उनके धर्म में दीक्षित हुए। सच पूछिये धर्म का भारत से बाहर प्रचार करने का बहुत बड़ा श्रेय अशोक को ही है।

अव्याकृत विषय

बौद्ध धर्म, मुख्यतः, आचार-धर्म है। बुद्ध जानते थे कि मनुष्य का अच्छा होना, सुख या दुःख पाना, उसके कर्म और चरित्र पर निर्भर करता है। आ ध्यान इस बात पर रहना चाहिये कि वह करता क्या है, इस बात पर नहीं जानता क्या है। करने और जानने में, अर्थात् कर्म और ज्ञान में, बुद्धदेव ने ही मुख्य माना। इसलिए, उन्होंने मनुष्य का ध्यान कभी भी उन विषयों की नहीं दिया, जो बुद्धि से समझे नहीं जा सकते और जिनके बारे में केवल अनुम अटकलबाजी से ही काम लेना पड़ता है।

संसार के बड़े-बड़े दार्शनिकों और पंडितों में इस बात को लेकर भारी कि बौद्ध धर्म का दर्शन क्या है। "यह सृष्टि कहाँ से निकल पड़ी है? मनुष्य आया है और मरकर कहाँ जायेगा? आदमी मरने के बाद जीवित रहता है बुद्ध ने जिसे निर्वाण कहा है, वह क्या चीज है? निर्वाण के मानी मृत्यु और हैं या और कुछ?" ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिन पर विद्वानों में घोर विवाद और अधिकांश विद्वान् इस विचार पर आकर अड़ जाते हैं कि, हो-न-हो नास्तिक थे और वे आत्मा-परमात्मा, किसी को भी नहीं मानते थे। कुछ हैं, जिनका कहना है कि इस जीवन के बाद क्या है, इसे बुद्ध नहीं जानते तीसरे प्रकार के लोग वे हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव सब कुछ जानते गोतीत विषयों पर उन्होंने इसलिए चुप्पी साध ली कि इनके कथन या जान वे जरूरी नहीं समझते थे।

मज्झिमनिकाय के चूल-मालुंक्य-सुत्तन्त में लिखा है कि मालुंक्यपुत्त ना भक्त ने तथागत से पूछा कि "जगत् नित्य है या अनित्य? जीव और शरीर दो? मरने के बाद बुद्ध रहते हैं या नहीं?" प्रश्न के साथ उस भक्त ने यह "भगवान अगर इन प्रश्नों के उत्तर नहीं देंगे तो मैं ब्रह्मचर्य-वास नहीं करूँ संघ में रहकर धर्म की साधना नहीं करूँगा)।"

बुद्धदेव ने कहा—"मालुंक्यपुत्त! मैंने कब तुमसे कहा था कि मैं तुम्हें के उत्तर दूँगा? तुम्हारा यह प्रश्न तो उस व्यक्ति के प्रश्नों के समान बेकार कलेजे में जहर-बुझा बाण घुस गया हो, जिसके हित-मित्र बाण निकाल

योग्य वैद्य को ले आये हों, मगर, जो यह कह रहा हो कि मैं बाण तब तक नहीं निकल-लाऊँगा जब तक मुझे यह मालूम न हो जाय कि बाण चलानेवाला व्यक्ति गोरा है या काला, लम्बा है या नाटा, उसके नाम और गोत्र क्या हैं, उसके धनुष की डोरी मूँज की है या ताँत की तथा उसके बाणों के पर बाज के हैं या गिद्ध के। मालुंक्यपुत्त ! चाहे लोक नित्य है, यह दृष्टि रहे, चाहे लोक अनित्य है, यह दृष्टि रहे, दोनों ही हालतों में जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक, रोना-काँदना, दुःख-दौर्मनस्य और परेशानियाँ हैं ही, जिनके इसी जन्म में विघात (शमन के उपाय) को मैं बतलाता हूँ।"

जिन प्रश्नों का समाधान बुद्धि से नहीं हो सकता और जिनके उत्तर पाने और नहीं पाने से आदमी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वैसे सभी प्रश्नों को तथागत ने अव्याकृत-कोटि में डाल दिया था और उसके पूछने की मनाही कर दी थी। दीर्घनिकाय के पोठ्ठपादसुत्त में वे कहते हैं—"पोट्ठपाद ! लोक नित्य है, यही सच है और दूसरा मत निरर्थक है, इसे मैंने अव्याकृत (कथन का अविषय) कहा है।" इसी प्रकार, 'लोक अनित्य है, लोक अन्तवान् है, जीव और शरीर एक हैं, जीव और शरीर अलग-अलग हैं, तथागत मरने के बाद होते हैं, तथागत मरने के बाद होते भी हैं और नहीं भी होते हैं," इन सारे प्रश्नों को बुद्धदेव ने अव्याकृत कहकर उनका पूछा जाना बन्द कर दिया था।[1]

पोठ्ठपाद के यह पूछने पर कि "किस लिए भन्ते ! भगवान ने इसे अव्याकृत कहा है ?" तथागत ने बतलाया कि "इसलिए कि ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्म-युक्त, न आदि ब्रह्मचर्य के उपयुक्त, न निर्वेद (वैराग्य) के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए।" अर्थात्, इन प्रश्नों के विवेचन में पड़ने से मनुष्य को कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है।

हमारा अनुमान यह है कि अगर किसी ने बुद्धदेव से यह पूछा होता कि "ईश्वर है या नहीं," तो वे कहते कि अगर ईश्वर है, तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा ; अगर ईश्वर नहीं है, तब भी मनुष्य के अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा। तब ईश्वर की बात कहाँ से आती है ? बात तो सोचने लायक यह है कि अच्छे और बुरे कर्म क्या हैं ?

जिन प्रश्नों को संसार के सभी धर्म मौलिक और महान् समझते आये हैं, तथागत ने उन्हें इस योग्य भी नहीं समझा कि उनके उत्तर दिये जायँ अथवा उनको लेकर थोड़ी देर भी माथापच्ची की जाय। उन्होंने ईश्वर का नाम नहीं लिया, न किसी देवता की भक्ति करने का उपदेश दिया, क्योंकि अदृश्य देवता को अपना भाग्य-विधाता मान लेने से भी आदमी में शिथिलता आ सकती है। वह इस उम्मीद में अकर्म कर सकता है कि इससे जो पाप होगा, वह देवता से माफ करवा लूँगा। उन्होंने प्रार्थना की भी प्रथा नहीं चलायी, क्योंकि जब कोई देवता ही मानने योग्य नहीं रहा, तब फिर प्रार्थना

---

[1] चीन के धार्मिक नेता कनफ्यूशियस ने भी अपने शिष्यों को अदृश्य वास्तविकता के सम्बन्ध में प्रश्न या विचार करने से रोक दिया था।

किसकी की जाय ? और प्रार्थना में भी कमज़ोरी की एक खिड़की तो है ही। जो प्रार्थना करता है, वह अगर अकर्मण्य और असावधान हुआ, तो देवता से वह ऐसे भी माँग सकता है; जो देवता के वरदान से नहीं, मनुष्य के उद्यम से पैदा होती

वैदिक धर्म से समानता

बुद्धदेव ने वैदिक धर्म के जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को, ज्यों-का-त्यों, स्वी कर लिया। उनका भी निश्चित मत है कि जीवन दुःख है और मनुष्य को कर्म भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य का जन्म इसलिए होता उसके भीतर वासनाएँ शेष हैं। इन वासनाओं के कारण मनुष्य नाना कर्मों में होता है और अपने कर्मों के अनुसार ही मरकर उत्तम या अधम योनि में जन्म ले और फिर उन जन्मों में वह जैसा काम करता है, जैसा संस्कार अर्जित करता है संस्कार उसे नया जन्म ग्रहण करने को विवश करते हैं। इस प्रकार, जन्म-मर प्रवाह लगातार चलता रहता है। इस जंजाल से निकलने का मार्ग भी बुद्ध ने रखा, जो वैदिक धर्म में प्रचलित था, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष, जिसे बुद्धदेव निर्वाण हैं। फर्क यह है कि वैदिक जहाँ आत्मा को निर्मल, मुक्त, ब्रह्मस्वरूप एवं सभी स्थाओं में एकरस रहनेवाला और कूटस्थ मानते हैं, वहाँ बुद्धदेव का विचार यह आत्मा कूटस्थ नहीं होती, वह भी शरीर के साथ बदलती रहती है, वह भी जवान, मलिन और निर्मल होती रहती है। कारण, शायद, यह है कि आत्मा को पहले से ही निर्मल और कूटस्थ माना जाय, तो फिर मनुष्य को जरूरत ही क्या जाती है कि वह ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या से निर्मलता प्राप्त करे ? निर्मल तो पहले से ही है। इसीलिए, बुद्धदेव ने माना कि आत्मा में वे सभी विकार हो सकते जो शरीर में होते हैं। मनुष्य निर्मल है नहीं, निर्मल उसे बनना है।

वैदिकों के समान ही बुद्ध भी परलोक और देवयोनि को मानते हैं, लेकिन, भी एक बात को लेकर फर्क है। वे और उनके शिष्य, जब-तब, यह तो कहते हैं देवयोनि मानव-योनि से पवित्र है, किन्तु, देवताओं को वे पूर्ण नहीं मानते, बल्कि, यह विचार है कि अपने उद्धार के लिए देवताओं को भी मनुष्यों के समान सतत और उद्योग करना चाहिये। बुद्ध के शिष्य बुद्ध को देवताओं का भी त्राता मानते देवता मनुष्यों के ही समान सीमित और अपूर्ण हैं, यह भाव बुद्ध के हृदय में, आरम्भ ही, समाया हुआ था। जब वे संन्यास के लिए घर छोड़ रहे थे, तब अपने नामक घोड़े से उन्होंने कहा था, "तात ! तू एक रात आज मुझे तार दे, क्योंकि देवताओं-समेत मनुष्यों को तारनेवाला हूँ।"

बुद्ध के देवता-विषयक इस भाव का, बाद के, हिन्दुत्व पर काफी प्रभाव तुलसी-कृत रामायण में देवता या तो बाजे बजाते हैं या फूलों की वृष्टि करते हैं ऐसे भाव, अप्रत्यक्ष रूप से, बुद्ध के साहस की देन हैं।

बुद्धदेव ने ज्ञान और भक्ति, इन दोनों को छोड़कर केवल कर्म को पकड़ा जीवन भर वे उसीका उपदेश देते रहे। कर्म है भी बहुत बड़ी चीज। ज्ञान-मार्ग

कठिन मार्ग है, मन के ऊहापोह से भरा मार्ग । उसपर भी, अगर ज्ञानी के कर्म ही नहीं रहे जैसे उसके विश्वास हैं, तो हम कहने लगते हैं कि यह ज्ञानी पतित हो ा, क्योंकि वह जो कहता है, सो करता नहीं है । यहाँ भी हमें कर्म का ही अभाव रने लगता है । इसी प्रकार, जब भक्ति-मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य किसी प्रकार के भ में आकर डगमगाने लगता है, तब भी हम कह उठते हैं कि देखो, यह ईश्वर का क बनता है, लेकिन कर्म इसके अधम कोटि के हैं । इसलिए, मानना पड़ेगा कि बुद्ध कर्म को बहुत सोच-समझ कर अपना धर्म-मार्ग बनाया था । गाँधीजी और बुद्धदेव जो समानता है, वह सिर्फ इस कारण नहीं कि दोनों ही सुधारक अहिंसा और मैत्री पुजारी थे, बल्कि, मुख्यतः, इसलिए कि दोनों का विश्वास ज्ञान की अपेक्षा कर्म में धक था ।

जब से संसार में वैज्ञानिकता का प्रवेश हुआ और आज वाली नयी सभ्यता फैलने ी, तब से बौद्ध मत पढ़े-लिखे लोगों के बीच काफी लोकप्रिय हो उठा है । इसका कुछ रण तो यह है कि पिछले युगों में धर्म के साथ मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों और ों में जो लोभ और दुराचार देखे गये, उनसे लोग धर्म के प्रति उदासीन हो गये और वे धर्म में केवल आचार देखना चाहते हैं । लेकिन, उससे भी प्रबल कारण यह है आज का मनुष्य, कभी तो सोच-समझ कर और कभी बिना सोचे-समझे ही दिन- न धर्म की आलोचना करने में सुख पाता है और बुद्धि से वह जो कुछ नहीं समझ ता, उसे मानने को वह तैयार नहीं है । विज्ञान ने मनुष्य में जो जिज्ञासा जगा दी है, से प्रेरित होकर वह हर चीज पर शंका की उँगली उठा रहा है । इस प्रकार, आज बार फिर वे प्रश्न जोरों से उठाये जा रहे हैं, जिन्हें बुद्धदेव ने अव्याकृत कहकर द कर दिया था । बुद्धिवाद जिस युग को धर्म के विषय में इस तरह शंकालु बनाये हो, उस युग में बुद्ध का विवेकपूर्ण धर्म लोकप्रियता प्राप्त करे, इसमें आश्चर्य की त नहीं है ।

ा बुद्ध नास्तिक थे ?

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, बुद्ध नास्तिक इसलिए माने गये कि होंने वेद की निन्दा की और वेद-निन्दक होते हुए भी हिन्दुओं ने उन्हें दशावतार में लिए गिन लिया कि उनका चरित्र सच्चे आस्तिक का चरित्र था तथा वे इस बात में ष्कपटता से विश्वास करते थे कि जीव का आवागमन होता है और इस आवागमन छुटकारा पाकर जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है । किन्तु, दो बातें हैं, जिन्हें लेकर चम के विद्वानों ने यह दिखलाना चाहा है कि बुद्धदेव नास्तिक थे । पहली बात तो है कि वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे और दूसरी यह कि उनके निर्वाण अर्थ व्यक्ति का अन्तिम विनाश है । एशिया और भारत में भी कुछ ऐसे बौद्ध सन्त र विद्वान् हैं, जिनका विश्वास है कि बुद्धदेव ने जिस धर्म का प्रवर्त्तन किया, वह धर्म स्तिक है, क्योंकि उसमें आत्मा नहीं, अनात्मा का सिद्धान्त माना जाता है ।

असल में, आत्मा और निर्वाण भी 'अव्याकृत' के ही विषय माने जाने क्योंकि, इनके सम्बन्ध में शंका-रहित-ज्ञान बुद्धिवाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता यह सम्भव होता तो पुनर्जन्म के विषय में हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध धर्म से दुनिया धर्मों का मतभेद नहीं होता। उपनिषदों ने आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, चेतन और नि है तथा उनका कहना है कि चूँकि कर्म के प्रभावों की धूल उसे चारों ओर से है, इसलिए हमें आत्मा का सम्यक् परिचय नहीं प्राप्त होता। आत्मा के ऊ धूल को हटाने का मार्ग साधन है और साधक जब कर्म के प्रभावों से ऊपर है तथा संसार के किसी भी कार्य या रूप में उसकी आसक्ति नहीं रह जाती, त आत्मज्ञान प्राप्त करता है। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का एकमात्र आत्मज्ञान है।

जहाँ तक मोक्ष के सिद्धान्त का सवाल है, बुद्धदेव का उपनिषदों से कोई नहीं दीखता। और मोक्ष के लिए जैसी साधना उपनिषदों ने निर्धारित की है कुछ वैसी ही साधना बुद्ध-मार्ग में भी है। किन्तु, आत्मा को लेकर बुद्ध और षत्कारों में जो भेद है, उसे हम इस प्रकार से रख सकते हैं कि जहाँ उपनिषद् य हैं कि मोक्ष आत्मज्ञान से होता है, वहाँ बुद्धदेव का विचार यह है कि आत्मा जीव के मोक्ष नहीं, बन्धन का कारण है, और वह इस प्रकार कि जब तक मानते चलेंगे कि आत्मा का अस्तित्व है, तब तक हम 'मैं और मेरा' के बन्धन नहीं सकते। अगर आत्मा है तो वह शरीर से भिन्न करके देखी नहीं जा सक उसे शरीर से एकाकार मानने पर हम शरीर के मोह में पड़े ही रहेंगे। कदाचित्, से प्रेरित होकर उन्होंने अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद का सिद्धान्त निकाला, जि सार आत्मा शरीर के ही समान नश्वर है। असल में, हमारे मन में स्मृति संस्कारों का जो भी प्रभाव है, उसे ही बुद्धदेव आत्मा का पर्याय मानते हैं। अं में हमने जो संस्कार अर्जित किये हैं, उन्हीं की गन्ध हमारी आत्मा है। पुण्यात्मा की आत्मा पवित्र और पापी की आत्मा मलिन होती है। बौद्ध अनुसार, मनुष्य के शरीर में या उसके भीतर कोई भी शाश्वत तत्त्व नहीं है शरीर कुछ आधिभौतिक अणुओं और कुछ आध्यात्मिक या मानसिक अणुओं चेतना, मानसिक कार्य, सनसनाहट आदि) के योग से बना हुआ है जो, स नाशवान् हैं। इसपर यह शंका की जाती है कि तब इस प्रकार के नश्वर वह कौन पदार्थ है, जिसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है, जिसे एक जीवन में किये के फल को दूसरे जीवन मे भोगना पड़ता है। आत्मा नश्वर है, इस उपदेश गत के समय में भी एक शिष्य को शंका हुई थी और उसने पूछा था कि अ नश्वर है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है? इस प्रश्न का उत्तर तथागत ने कर दिया कि जब हम ताली बजाते हैं, तब दूर की कन्दरा में प्रतिध्वनि हो तो क्या हम यह कहें कि हमारे करतल कन्दरा में भी विद्यमान् हैं? इ आत्मा तो नष्ट हो जाती है, किन्तु, उसके संस्कार, प्रतिध्वनि के समान, ग्रहण करते हैं।

त्मा और निर्वाण

जो हिन्दू पुनर्जन्म के संस्कार में पला है, उसे तथागत की इस व्याख्या से तनिक ी आश्चर्य नहीं होता और वह यह समझ लेता है कि तथागत ने, अपनी सुविधा के नुसार, एक खास तरह की भाषा का प्रयोग किया है। अन्यथा, आत्मा हिन्दुओं के हाँ भी निराकार ही मानी जाती है और उसका एक शरीर से दूसरे शरीर तक गमन रना, असल में, हमारे संस्कारों की ही यात्रा से समान है। किन्तु, पश्चिम के अनेक वद्वान (पूसिन, हक्सले, फरकोहर, विल डुराण्ट आदि) बुद्धदेव की इस व्याख्या को हण नहीं कर पाते और सीधे कह देते हैं कि बुद्ध ने आत्मा की सत्ता में विश्वास हीं किया है, अथवा यह कि अनात्मा का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी है, क्योंकि अगर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है तो फिर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करने की कोई खास जरूरत नहीं रह जाती। डॉक्टर फरकोहर ने लिखा है कि बुद्धदेव पुनर्जन्म को तो मानते थे, किन्तु, आत्मा के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था।

इसी प्रकार, बुद्ध की निर्वाण-विषयक कल्पना को लेकर भी पश्चिम के पंडितों में ड़ा विवाद है। उन्नीसवीं सदी के बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् यह मान बैठे थे कि बुद्धदेव विनाशवादी हैं तथा जिसे उन्होंने निर्वाण कहा है, वह मानव-सत्ता की समाप्ति के सिवा और कुछ नहीं है। निर्वाण को लेकर पश्चिम के विद्वान् इतना क्यों घबराये, इसका कारण यह है कि सभी धर्मों में यह कहा गया है कि आदमी के मरने के बाद उसकी रूह कब्र में पड़ी रहती है और जब न्याय का दिन आता है, तब सभी रूहों को कब्रों से उठकर भगवान के दरबार में हाजिर होना पड़ता है और भगवान सबको उनके पाप-पुण्य के लेखा के अनुसार, स्वर्ग या नरक भेजते हैं। यह भी कि भगवान गुनाहों को माफ भी करते हैं, बशर्ते कि रूहों ने मानव-जीवन-काल में भगवान की काफी भक्ति की हो। गुनाहों की माफी की बात में लोग आशावाद की दलील देखते हैं, क्योंकि बुरे-से-बुरे मनुष्य पर भी परमात्मा की कृपा हो सकती है। लेकिन, अगर यह मान लिया जाय कि निर्वाण का अर्थ मनुष्य के जीवन का, सब प्रकार से, विनाश है तो इससे, सचमुच ही, मनुष्य के अन्तिभ भाग्य के विषय में निराशा बढ़ती है, यानी उसे मानना पड़ता है कि एक दिन उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

भारत में, सामान्यत:, यही माना जाता है कि बौद्ध दर्शन का निर्वाण उपनिषदों में वर्णित मोक्ष से भिन्न चीज नहीं है। उपनिषदों में वर्णित मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें आत्मा परमात्मा से एकाकार हो जाती है, ठीक वैसे ही, जैसे घट का व्योम घट के टूट जाने पर महाव्योम में समा जाता है। बुद्धदेव निर्वाण का अभिप्राय समझाने के लिए अग्नि और दीपक की उपमा दिया करते थे। उनसे बार-बार यह पूछा जाता था कि निर्वाण के बाद तथागत किस रूप में रहते हैं? प्रथम तो इस प्रश्न को बुद्धदेव अव्याकृत कहकर टाल देते थे, मगर, एक-दो बार उन्होंने कहा था कि "ईंधन के बिलकुल नि:शेष हो जाने पर जैसे यह नहीं जाना जा सकता कि जो आग सामने प्रज्वलित थी, वह कहाँ चली गयी, उसी प्रकार, कर्म-संस्कारों के समाप्त हो जाने पर यह नहीं जाना जा

सकता कि जीव किस अवस्था में कहाँ चला जाता है।"[1] जहाँ तक नश्वरता का
है, बुद्धदेव ने बार-बार कहा है कि सन्त और महात्मा तथा स्वयं तथागत भी
परमाणुओं से बने हैं और जब वे मरते हैं, तब उनका कोई अंश शेष नहीं रह

निर्वाण के विषय में वैदिकों, बौद्धों और जैनों के यहाँ जो कल्पनाएँ की ग
उनकी तुलना से ऐसा लगता है कि जैनों की कल्पना बौद्ध कल्पना
अधिक सुखप्रद है। जैनों का मोक्ष जीव का, पूर्ण रूप से, निर्मल होकर परमात्म
स्थिति को पहुँच जाना है। वहाँ से फिर उसे लौटना नहीं पड़ता, यद्यपि, परमात्
स्थिति में पहुँचने से यह अनुमान निकलता है कि जीव किसी ऊँचे और सुखपूर्ण
तल पर कायम रहता है। किन्तु, निःशेष ईंधन की उपमा देकर बौद्ध दर्शन इस
पर जोर डालता है कि निर्वाण का अर्थ जीव के अस्तित्व की सर्वविध समाप्ति
उपनिषदों के जीव-ब्रह्म-मिलन में विरह के बाद संयोग का रूपक तो दीखता है,
वह जैन की अपेक्षा बौद्ध निर्वाण के अधिक समीप है। यह भी सत्य है कि जैन
की, उपनिषद् मोक्ष की और बौद्ध निर्वाण की, एक समान, प्रशंसा करते हैं।
दर्शन भी मानता है कि निर्वाण की अवस्था अनिर्वचनीय सुख की अवस्था है,
सुख का अनुभव कौन करता है, अथवा कोई अनुभव करता भी है या नहीं यह
कहा जा सकता। मिलिन्द-प्रश्न में एक प्रसंग में कहा गया है कि परिनिर्वाण के बा
इस अवस्था में नहीं रहते कि वे शिष्यों और भक्तों की पुकार सुन सकें अथवा
द्वारा अर्पित पत्र-पुष्प को स्वीकार कर सकें। इसलिए, मरे हुए महात्माओं की
की परिपाटी मौलिक बौद्ध मत के विरुद्ध है।

असल में, हिन्दू-धर्म को समझे बिना बौद्ध मत के निर्वाण की कल्पना भी सम
नहीं आ सकती। जब बुद्ध का आविर्भाव हुआ, उसके पूर्व ही, इस देश में यह धा
बद्धमूल हो चुकी थी कि मोक्ष-प्राप्ति मनुष्य का उच्चतम ध्येय है और यह मोक्ष
ऐसे शाश्वत व्यक्ति की उपलब्धि है, जिसमें फिर और जन्म लेने तथा मरने की सम्भा
नाएँ शेष नहीं रह जातीं। महावीर और बुद्ध, दोनों ही, उपनिषदों के इस अनुसन्धा
के प्रभाव में थे और दोनों ने, अपनी-अपनी भाषा में, वही बात कही है, जो
निषदों में कही जा रही थी।

कदाचित्, सच्ची बात यह है कि बुद्धदेव का निर्वाण विनाश की स्थिति
होकर आत्मा के उसी विमल उल्लास की अवस्था है, जिस पर वेदान्त की इतनी

---

[1] इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अश्वघोष ने बुद्धचरित में दीपक का
दृष्टान्त दिया है, वह इस प्रकार है :—

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षं।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
एवं कृती निर्वृत्तिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।

(अश्वघोष ; बुद्धचरित

। हक्सले, फरकोहर और पूसिन यह जरूर मानते हैं कि निर्वाण विनाश (Annihi- tion) की स्थिति है, किन्तु, भारतीय विद्वानों का उनसे मतभेद है। डॉक्टर आनन्द- मार स्वामी का मत है कि "निर्वाण मृत्यु भी है और जीवन की पूर्णता भी। किन्तु, ह कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे हम स्थान-विशेष या काल-विशेष में देख सकें। बुद्ध- व ने निर्वाण के लिए जो साधन बताये हैं, वे निर्वाण तक जाने के सोपान नहीं हैं, ल्कि, उनसे सिर्फ वे बाधाएँ दूर होती हैं, जिनके कारण हमें निर्वाण का अनुभव नहीं पाता। यह बात वैसी ही है, जैसे अँधेरे में चिराग के आ जाने से देखने की बाधा र हो जाती है।" डॉक्टर राधाकृष्णन् का कहना है कि "निर्वाण विनाश का पर्याय " इसका समर्थन हमें बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। बौद्ध ग्रन्थ हमें जिस निर्वाण की वस्था का वर्णन सुनाते हैं, वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नहीं है, बल्कि, यह वह वस्था है जो नैतिक आचरणों की पूर्णता से प्राप्त होती है, जो पवित्र धार्मिक जीवन साधना का परिणाम है। निर्वाण वासनाओं से छुटकारे का नाम है। निर्वाण वह ज्ज्वल शान्ति है, जिसका कभी भंग नहीं होता।"

डॉक्टर आनन्दकुमार स्वामी का यह भी कहना है कि "सारे बौद्ध साहित्य में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि आत्मा नहीं है अथवा जो शरीर रोगी, वृद्ध या मृत जाता है, उससे अलग मनुष्य में कोई शक्ति नहीं होती। बौद्ध धर्म के अनात्म ब्द से यह निष्कर्ष निकालना कि आत्मा नहीं है, ठीक वैसा ही है, जैसा यह कहना चूँकि ईश्वर के विषय में कोई भी सच्ची बात नहीं कही जा सकती, इसलिए, वर है ही नहीं।"

राहुलजी ने इस विषय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बुद्ध के समय में आत्मा स्वरूप के विषय में दो मत प्रचलित थे। एक तो यह कि आत्मा शरीर में वसने- ली, पर, उससे भिन्न एक शक्ति है जिसके रहने से शरीर जीवित रहता है और सके चले जाने से वह शव हो जाता है। दूसरा मत यह था कि आत्मा शरीर से न्न कोई कूटस्थ वस्तु नहीं है। शरीर में ही रसों के योग से आत्मा नामक शक्ति दा होती है जो शरीर को जीवित रखती है। रसों में कमी-बेशी होने से इस शक्ति लोप हो जाता है जिससे शरीर जीवित नहीं रह पाता। बुद्धदेव ने, अन्यत्र की ति, यहाँ भी बीच की राह पकड़ी और यह कहा कि आत्मा न तो सनातन और कूटस्थ न वह शरीर के रसों पर ही बिलकुल अवलम्बित रहती है और न वह शरीर से लकुल भिन्न ही है। वह, असल में, स्कन्धों [भूत (Matter) और मन (Mind)] योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य वाह्य भूतों की भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और लीन होती रहती है। हमारे सामने, जो नदी वहती है, उसका जल हमें बराबर एक- दिखलायी पड़ता है, किन्तु सत्य यह है कि जल बराबर आगे निकलता जा रहा है र उसकी जगह पर नया जल आता जाता है। नदी के प्रवाह के समान ही, हमारे तर आत्मा या चित्त का भी प्रवाह है, जिसके जारी रहने से शरीर सजीव कहा जाता है। किन, शरीर के विनाश के साथ ही, चित्त-प्रवाह का विनाश नहीं होता। वह संस्कारों

का बोझ लिये हुए एक नये शरीर में प्रवेश करता है । एक शरीर से निकल शरीर में प्रवेश करने के बीचवाले अवकाश में यह चित्त-प्रवाह कहाँ रहता है उसका नया जन्म कैसे होता है, इस विषय में बुद्धदेव मौन थे । बुद्ध के इसी लाभ उठाकर उनके दो सौ वर्ष बाद के पंडितों ने आत्मा और निर्वाण की व्या ऐसी-ऐसी बातें कह दीं, जिनका वेदान्त से विरोध हो गया ।

बुद्ध मध्यम मार्ग के व्याख्याता थे । आत्मा के सम्बन्ध में भी हम उनके इ कोण की झलक पाते हैं । उनके समय में अजित केस कम्बल का सम्प्रदाय उ सम्प्रदाय था, जो भौतिकवादियों की तरह यह विश्वास करता था कि आत्मा का है ही नहीं । यह एक छोर था । दूसरे छोर पर वे वैदिक ब्राह्मण थे, जो आ शाश्वत मानते थे। बुद्धदेव ने इन दोनों को अतिवादी समझा । अतएव, न तो भौतिकवादियों के उच्छेदवाद को स्वीकार किया, न उपनिषद्वादियों के वाद को । असल में, आत्मा के विषय में उनका मत शाश्वतोच्छेदवाद का पर्या

हिन्दुत्व का बौद्धीकरण

बौद्ध मत पर लिखते हुए पूसिन (Dela valle Poussin) ने एक विलक्ष कही है, जिससे हिन्दुत्व और बौद्ध मत का सम्बन्ध बहुत खुलकर सामने आ उन्होंने कहा है कि भारत के लिए बौद्ध मत कोई नवीन धर्म नहीं, प्रत्युत, हिन् ही बौद्धीकरण मात्र था । और यह है भी ठीक, क्योंकि बौद्ध भावनाएँ, बौद्ध और बौद्ध विचार, सचमुच ही, हिन्दू-भावनाओं, हिन्दू-संस्थाओं और हिन्दू-वि बौद्धीकृत रूप मालूम होते हैं । आवागमन और पुनर्जन्म तथा कर्मफलवाद सिद्धान्त जो हिन्दुत्व में थे, नयी शब्दावली में बौद्ध धर्म में भी मिलते हैं। हिन्दुओं के यहाँ ईश्वर की जो कल्पना त्राता या रक्षक के रूप में चल रही थी भी बौद्ध मत की महायान-शाखा में अपने लिए स्थान बना लिया । महायान- भक्ति का जो पुट है, उससे भी यह अनुमान निकलता है कि हिन्दुत्व का विका जिन दिशाओं में हो रहा था, उन-उन दिशाओं में बौद्ध धर्म के भी कदम प और वह समकालीन हिन्दुत्व के प्रत्येक रूप का एक बौद्ध रूप प्रस्तुत करता था । बौद्ध मत का बुद्धिवाद (यज्ञ, अनुष्ठान, अन्धविश्वास आदि का विरोध) नास्तिकता, उसकी ऊँची नैतिकता, उसका निराशावाद, उसकी जात-पाँत भावना, उसकी विनम्रता और मानवीयता, इन अनेक गुणों में से कोई भी नहीं है, जो सर्वथा बौद्ध मत का आविष्कार कहा जा सके । इस सबका कु रूप हिन्दुत्व में पहले भी विकसित हो चुका था । बुद्धदेव ने आकर इन गु खास तौर से, जोर डाला तथा हिन्दुत्व के उस काल में प्रमुखता से प्रचलित विरुद्ध इन मूल्यों का मान बढ़ा दिया । अतएव, वे हिन्दुत्व की परम्परा के उसके संहारक नहीं ।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि जो लोग मुण्डी बन जाते थे, बौद्ध उजागर रूप उन्हीं में दिखायी पड़ता था । पहले तो गृहस्थ बौद्ध बने ही नहीं

ता का यह विश्वास था कि बौद्ध धर्म, प्रधानतः, उनके लिए है जो घर-बार छोड़-संन्यास ले सकते हैं। किन्तु, पीछे जब गृहस्थ भी दीक्षा लेने लगे तब भी बाकी ों में वे हिन्दू ही रहे; क्योंकि विवाह और श्राद्ध, उपनयन और चूड़ाकरण-संस्कार, सब के बारे में बौद्ध मत ने गृहस्थों के लिए कोई नयी व्यवस्था नहीं दी थी।

आगे चलकर बौद्ध धर्म से ब्राह्मणों का जो द्वेष आरम्भ हुआ, वह इस कारण कि बौद्ध मत कोई नवीन दर्शन लेकर आया था जो हिन्दुओं के दर्शन के विरुद्ध ता था, बल्कि, इस कारण कि वह जाति-प्रथा को तोड़कर मनुष्य मात्र को समान ना चाहता था और समाज में जातिगत समता के फैलने से ब्राह्मणों का श्रेष्ठ पद रे में पड़ता था। ब्राह्मणों ने बौद्धों को वेद-निन्दक कहकर भी चिढ़ाया है, मगर, बात आसानी से समझी जा सकती है कि वेद-निन्दक होना बौद्धों का कोई बड़ा र नहीं था। उनका वास्तविक अपराध यह था कि उन्होंने यज्ञों का विरोध किया, ससे ब्राह्मणों की रोजी चलती थी तथा उन्होंने लोगों को यह भी बतलाया कि जन्म सभी मनुष्य समान हैं और श्रेष्ठता सबको कर्म से मिलती है। अतएव, ब्राह्मण-वंश भी जनमा हुआ अपकर्मी मनुष्य निन्दा का पात्र है तथा चाण्डाल-वंश में जनमा हुआ ष्य, अगर सत्कर्म करता है, तो उसकी भी पूजा होनी चाहिये।

इस भेद के सिवा, ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों में कोई और बड़ा भेद नहीं मिलता। वेदान्त अथवा अन्य हिन्दू-दर्शनों ने संसार (जन्म-मरण की सरणी) का कारण वद्या को माना है, वैसे ही, बुद्धदेव भी अविद्या को संसार का कारण मानते हैं। वेदान्त का कहना है कि काम (किसी भी प्रकार की इच्छा या वासना) सभी खों का मूल है, वैसे ही, बुद्धदेव भी सभी दुःखों का मूल काम या तृष्णा को मानते काम की प्रचण्डता का उल्लेख वेद और उपनिषद्, दोनों में मिलता है, तथा दोनों उसकी तुलना अग्नि से की गयी है, क्योंकि अग्नि का यह स्वभाव है कि उसमें तना ही ईंधन डाला जाय, वह उतनी ही अधिक प्रज्वलित होती है। कठोपनिषद् कहना है कि जिस मनुष्य के हृदय का काम शमित हो जाता है, वह इसी जीवन ब्रह्म बन जाता है। बुद्धदेव ने जब यह कहा कि सभी वेदनाओं का मूल काम है, वे, वस्तुतः, वेद, उपनिषद् और गीता के इसी मत को दुहरा रहे थे। निर्वाण को झाने के लिए बुद्धदेव ने 'ईंधन का शेष होना', 'आग का बुझ जाना' आदि रूपकों जो प्रयोग किया है, उसके पीछे भी उपनिषदों की काम-व्याख्या में दिये गये अग्नि-ले उदाहरण का प्रत्यक्ष प्रभाव है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बुद्धदेव के वन में सबसे बड़ी घटना उन पर मार की चढ़ाई थी और मार को जीतकर उन्होंने त्व प्राप्त किया था। मार को जीतने के भीतर, वास्तव में, काम पर ही विजय की बात समझायी गयी है। और जैसे काम को जीतनेवाला व्यक्ति हिन्दुत्व में वन-मुक्त कहलाता था, वैसे ही, मार को जीतकर गौतम ने बुद्धत्व का दावा किया।

वेदों के कर्म-मार्ग पर उपनिषदों के ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा बुद्ध के आविर्भाव के

पहले ही हो चुकी थी। वेदों का कर्म-मार्ग सांसारिक भोगों को बढ़ावा देता चूँकि औसत आदमी भोग चाहता है, इसलिए, वैदिक धर्म का समाज में का रहा। किन्तु, ज्ञान-मार्ग के उपदेशों को सुनकर, धीरे-धीरे, लोग भोग को तु लगे और सच्चे आनन्द की खोज में अपने भीतर डुबकी लगाने लगे। यही ध्यान की प्रवृत्ति का आरम्भ था। इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए योग-क्रियाओं का लोग बुद्ध से पूर्व ही लेने लगे थे और यह धारणा भी भलीभाँति बँध चु आध्यात्मिक विकास के लिए, किसी हद तक, ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक में, ब्रह्मचर्य अतितप और अतिभोग के बीचवाली साधना का पर्याय था, अत के इस अंग का बौद्ध मत में भी बहुत ऊँचा स्थान हुआ। यह भी ध्यान दे है कि बुद्ध ने, यद्यपि, यह नहीं कहा कि ईश्वर है या नहीं, फिर भी, उन्हों और समाधि को साधकों के लिए आवश्यक बताया। बल्कि, समाधि बिना किसी भी साधक की प्रगति नहीं हो सकती थी। यहाँ यह प्रश्न कि जब ईश्वर है ही नहीं, तब हम ध्यान किसका करें ? इसका उत्तर, यह कहकर दिया जा सकता है कि बुद्धदेव मन में किसी की मूर्त्ति को ले करना नहीं सिखाते थे, बल्कि, उनका भाव यह था कि ध्यान इसलिए आ कि उससे मनुष्य अपनी इन्द्रियों का निग्रह सीखता है, अपने मन पर नियन्त्रण शक्ति पाता है और अपने भीतर डूबकर अपने पूर्व जन्मों की स्मृति तक पहुं है। ध्यान और समाधि को बौद्ध धर्म ने बहुत अधिक महत्त्व दिया तथा के विकास में भी कितने ही प्रयोग जैन तथा बौद्ध साधुओं ने ही किये।

बुद्ध का व्यक्तित्व

इस देश में वेद और ब्राह्मण की अवज्ञा करके तथा ईश्वर है या नहीं, इस वि से अपने को अलग रखकर भी, बुद्धदेव हिन्दुओं के दशावतार में गिने गये, केवल सी बात भी यह दिखाने को यथेष्ट है कि उनका व्यक्तित्व अनुपम रहा हो साधुता के जीते-जागते प्रतीक रहे होंगे और सच पूछिये तो वेद और ब्राह्मण करना उनका कोई प्रमुख लक्ष्य नहीं था। यह चीज तो बाद को प्रमुख हुई, और बौद्ध आपस में द्वेषी हो गये। स्वयं बुद्धदेव निन्दा के लिए किसी की नि रहे हों, यह मानने की बात नहीं है। वे दया और मैत्री के आगार उपदेशों के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनसे मालूम होता है कि तथागत संकल्प विचारों में अडिग तथा वाणी और आचरण में अत्यन्त कोमल और विनम्र थे यह दावा तो किया कि उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई है, मगर यह नहीं कहा किसी अदृश्य शक्ति ने प्रेरित किया है। वाद-विवाद में भी वे अत्यन्त धीर, और उदार थे।

वे बुराई के बदले भलाई और घृणा के बदले प्रेम करने का उपदेश कलंक, कुत्सा, निन्दा और विरोध का सामना उन्हें भी करना पड़ा था, विरोधों के मुकाबले भी, वे सदैव अहिंसक और धीर बने रहे। "अगर को

ानता के कारण मेरी निन्दा करता है तो भी मैं उसे अपने प्रेम की छाया अवश्य दूँगा र वह जितनी ही बुराई करेगा, मैं उतनी ही उसकी भलाई करता जाऊँगा।" एक र किसी मूर्ख ने तथागत को गाली दी। तथागत ने पूछा, "तात ! अगर कोई कुछ-दान और लेनेवाला उसे लेने से इनकार कर दे तो वह दान किसका होगा ?" गाली देने-ले ने कहा, "क्यों ? उसका, जो दान दे रहा है।" भगवान बोले, "तो तात ! अभी तुम ने मुझे गाली दी है, उसे मैं ग्रहण करना अस्वीकार करता हूँ। इसलिए उसे अपने ही पास रख लो।" संसार के अन्य अनेक महायमाओं के विपरीत, तथागत स्वभाव में विनोदप्रियता भी थी।

गौतम में दुराग्रह का बिलकुल अभाव था और वे अपने व्यक्तित्व के जोर से अपना चलाना नहीं चाहते थे। अपने शिष्यों से उन्होंने बार-बार यह कहा था कि मेरी तों को सिर्फ इसलिए मत मानो कि वे मेरे मुख से निकली हैं, बल्कि, इसलिए कि हैं तुम्हारी अपनी बुद्धि उचित समझती है। उपनिषत्काल में भारतवासियों का धीन चिन्तन जहाँ तक पहुँचा था, उसे उन्होंने वहीं से उठाया और बढ़ाकर वे उसे फी दूर ले गये। स्वाधीन चिन्तन और बुद्धिवाद के वे अद्‌भुत प्रेमी थे। उन्होंने एक युग में बुद्धिवाद की मशाल जलायी, जब भारत से बाहर तो क्या, भारत में भी कार्य जनरुचि के विरुद्ध था। नेता और ग्रन्थ, इन दोनों से भिन्न, उन्होंने एक तन्त्र राह पकड़ी और सत्य की खोज उन्होंने उस रास्ते से शुरू की जो विवेक और द्ध की राह है। अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व तथागत ने आनन्द से कहा था, "हे नन्द ! तुम में से किसी का यह विचार हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत गया, अब हमारा कोई शास्ता नहीं है। पर, ऐसा विचार उचित नहीं है। हे नन्द ! तुम अपने लिए स्वयं दीपक होओ ; धर्म की शरण में जाओ, किसी दूसरे का श्रय न खोजो।"

वे व्यावहारिक गुरु थे तथा ऐसे अनुमानों के फेरे में वे कभी नहीं पड़े जो बुद्धिगम्य हीं अथवा जीवन के लिए जिनका कोई उपयोग नहीं हो। जो शब्द में नहीं आ ता, उसकी चर्चा छोड़ दो ; जो बुद्धि से पकड़ा नहीं जा सकता, उसका पीछा ना व्यर्थ है, यह उनके दृष्टिकोण का निचोड़ है। धर्म का ऐसा व्यावहारिक नेता ष्य को सौभाग्य से ही मिलता है।

विख्यात बात है कि बुद्धदेव मध्य-मार्गी थे। मृगदाव में उन्होंने जो प्रथम उपदेश या, उसमें अपने शिष्यों से उन्होंने कहा कि दोनों छोरों को छोड़कर बीच से चलो। षय-वासना में लिप्त होना निन्द्य है, किन्तु, उससे भी अधिक निन्द्य है कृच्छ्र साधना द्वारा शरीर को सुखा डालना। भोग में योग निभाने की जो परम्परा जनक ने लायी थी तथा निष्काम कर्म के रूप में गीता ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, ध्य-मार्ग बहुत-कुछ उसी धर्म का आख्यान था।

जब से संसार में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा, बौद्ध धर्म भारत से बाहर और भारत

में भी, काफी लोकप्रिय हो उठा है। किन्तु, इस लोकप्रियता का कारण यह आज का मनुष्य धर्म की राह पर आने को बेचैन है और तथागत के धर्म आत्मा की शान्ति का मार्ग दिखायी पड़ता है, बल्कि, यह कि वह धर्म संस्कारों से ऊपर उठना चाहता है और अन्धविश्वास के खिलाफ उसका आज के मनुष्य की श्रद्धा सन्त और महात्मा बुद्धदेव पर नहीं, बल्कि, वि बुद्धिवादी बुद्धदेव पर है। नवीन मनुष्य को शंकाएँ झकझोर रही हैं, वे शंका बुद्ध के सामने भी आयी थीं, इसीलिए, आज का मनुष्य धर्म के अन्य नेताओं भगवान बुद्ध की ओर कुछ अधिक उत्साह से देखता है। डॉक्टर राधाकृष्ण जगह लिखा है कि "शंका, सन्देह और नास्तिकता से भरे हुए कितने ही साहित्य का नाम आदर से लिया गया है। जो मानवतावादी हैं, वे बुद्धदेव का आदर कर करते हैं कि वे मानवतावाद के प्राचीनतम प्रवर्त्तकों में से हैं। जो लोग हैं कि जीवन के अन्तिम सत्य को (इस बात को कि सृष्टि कहाँ से निकली है के बाद मनुष्य का क्या होता है) मनुष्य नहीं जान सकता, वे भी बुद्धदेव की हैं और जिनका यह विश्वास है कि अन्तिम सत्य नाम की कोई चीज ही नहीं उन्हीं का नाम लेते हैं। बौद्धिक शंकाओं से भरा हुआ पंडित, समाजवादी आदर्शों नौजवान, नैतिक ऊहापोह में उलझा हुआ प्राणी और बुद्धिवाद की रोशनी का दावा करनेवाला पैगम्बर, वे सब-के-सब, समय-समय पर, बुद्धदेव का ना और, जगह-जगह, अपनी बात को ऊपर करने के लिए उनके वचनों का उदाह हैं।" असल में, नास्तिकता की ओर जिसका भी थोड़ा झुकाव है या जो समाज में समता लाने की दिशा में प्रयास कर रहा है, उसे बुद्धदेव अपने से जान पड़ते हैं।

सन् १९३८ ई० में मिस हार्नर नाम की एक लेखिका ने अपनी पुस्तक ' डिसिप्लिन' में यह प्रमाणित किया था कि बौद्ध धर्म के मौलिक रूप का अध्य अपने बचपन में है। तब से लेकर आज तक भी, प्रगति में कोई खास तेजी है। मगर, तब भी जितनी बातें संसार के सामने आ चुकी हैं, उन्हें देखते अवश्य कहा जा सकता है कि संसार के सभी धार्मिक नेताओं में से केवल बु ऐसे हैं, जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में भी बुद्धिवाद पर मनुष्य की आस् का प्रयास किया ; मन को भरमानेवाली दार्शनिक कल्पनाओं को व्यर्थ ठहरा ईश्वर-हीन धर्म की स्थापना करके मनुष्य को यह सन्देश दिया कि जो बातें नहीं आतीं, उन्हें मानने से इनकार करके भी हम धार्मिक बने रह सकते हैं।

कर्म की महत्ता

बौद्ध धर्म एक ओर जहाँ निवृत्तिमार्गी है और यह शिक्षा देता है कि जीवन सुख नहीं, दुःख के कारण हैं, वहाँ दूसरी ओर, वह कर्म-मार्ग में भी से विश्वास करता है और उसके उपदेशों का निचोड़ यह है कि मनुष्य की मु के कथन से नहीं, बल्कि, आचार और कर्त्तव्य के पालन से होती है। बुद्धदेव

कहना चाहते थे कि अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने का सारा अधिकार हारे ही पास है और तुम्हें यह समझ कर काम करना चाहिये कि तुम्हारा सहायक ई और नहीं हो सकता । आरम्भिक बौद्ध धर्म में ऐसे किसी भी ईश्वर या देवता का ान नहीं था जो मनुष्यों की सहायता कर सकता हो । बुद्ध अपने अनुयायियों को ताओं की अधीनता से बचाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि देवताओं का ोसा करने से मनुष्य के आचार-पक्ष में ढिलाई आ सकती है । देवताओं के अस्तित्व विश्वास तो उनका भी था, किन्तु, वे मानते थे कि देवता भी मनुष्य के ही समान ी और विषण्ण हैं तथा उन्हें भी धर्म-पालन की आवश्यकता है ।

वैदिक युग का कर्मकाण्ड उपनिषदों के काल में आकर निन्दित हो गया, किन्तु, निषदों ने ज्ञान का जो बड़ा अम्बार खड़ा किया, सामान्य मनुष्य की बुद्धि उससे भी राने लगी । अतएव, बुद्धदेव ने औपनिषदिक ज्ञान के भीतर कर्म की रीढ़ डाल दी । ा लगता है कि उपनिषदों के ज्ञान का उन्होंने उतना ही अंश लिया, जितने अंश ग्रहण करने से कर्मनिष्ठा पर आँच नहीं आती थी । आत्मा को नित्य, चेतन और स्वरूप मानने से मनुष्य में मिथ्या अहंकार भी प्रवेश कर सकता है और वह कर्ममुख भी हो सकता है । अतएव, बुद्ध ने आत्मा को एकरस और सनातन मानने से कार कर दिया । उनका जोर धर्म के दर्शन-पक्ष पर नहीं, व्यवहार-पक्ष पर पड़ा । ुष्य निष्पाप नहीं है, उसे निष्पाप बनना है । मनुष्य ब्रह्म की कोटि में नहीं है, उस टि में उसे पहुँचना है । मनुष्य जिस विमल रूप में प्रकट होना चाहता है, वह रूप तभी मिल सकता है, जब उसके विचार विमल हों, वाणी विमल हो और कर्त्तव्य मल हों । आत्मा सनातन और अपरिवर्त्तनशील नहीं है, यह बात बुद्धदेव ने किसी क में आकर नहीं कही थी, बल्कि, ऐसा कहे बिना उनका काम ही नहीं चल सकता । उन्होंने यह देख लिया था कि धर्म के दर्शन-पक्ष के ऊहापोहों में पड़ने से मनुष्य बहुत-सी शक्ति, यों ही, विनष्ट हो जाती है । असल में, धर्म से हमें जो वरदान लते हैं, वे उसके आचार-पक्ष की ही देन हैं ।

द्ध धर्म की सीमाएँ

लेकिन, जो चीज बौद्ध धर्म की असली ताकत थी, उसी से उसकी बीमारी भी ा हुई । अपने जानते बुद्धदेव ने बुद्धिमानी की कि उन विषयों को अव्याकृत कहकर कहा ही छोड़ दिया, जिनका निदान और समाधान बुद्धि की शक्ति के बाहर की त है । मगर, आदमी है कि दर्शनों के बिना जी नहीं सकता । जो विषय हमारी द्धि की थाह में नहीं आते, उनको भी थाहते रहने में हमें एक तरह का सुख मिलता । अतएव, बुद्धदेव के देहान्त के बाद, उनके सम्प्रदाय में जो बड़े-बड़े पंडित और न्तक आये, उन्होंने उस धरातल पर कदम रखना शुरू कर दिया, जिस पर चलने से ागत ने सबको रोक रखा था । नतीजा यह हुआ कि बुद्ध के मरने पर अनेक प्रकार दर्शन और चिन्तन उनके अथवा उनके धर्म के नाम पर बाँध दिये गये । अगर

बुद्धदेव ने अव्याकृत विषयों पर अपनी कोई निश्चित राय दे दी होती तो, कर, बौद्ध धर्म में इतने अधिक परस्पर-विरोधी दर्शन नहीं उत्पन्न होते।

दूसरी बात यह कि भक्ति और प्रार्थना के अवलम्बन के बिना मनुष्य हो जाता है। बुद्धदेव ने मनुष्य की आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन को के लिए उसे किसी की भी भक्ति नहीं सिखलायी थी, यहाँ तक कि मरते दम अपने शिष्यों से वे यही कहते रहे कि "तुम्हें अपने विवेक के प्रकाश में चलना वचनों का भी प्रमाण तुम्हें तभी तक मानना चाहिये, जब तक तुम्हें उनसे मिलता हो।" एक बार उन्होंने यह भी कहा कि "जो आदमी मुझे सर्वज्ञ वह मेरे बारे में यथार्थ बोलनेवाला नहीं है।" किन्तु, इतना होते हुए भी, के बाद, जब बौद्ध धर्म की महायान-शाखा का जन्म हुआ, बौद्ध जनता ईश्वर पर अपने गुरु की ही पूजा करने लगी, उन्हीं की भक्ति और उन्हीं की प्रार्थना मुख्य धर्म बन गया। एक शब्द में, बुद्धदेव ने ईश्वर को जनता से दूर रखा था, लेकिन, कालक्रम में, वे स्वयं ईश्वर हो गये।

बौद्ध धर्म से समाज की एक कु-सेवा यह भी हुई कि लोग घर-वार संन्यासी होने लगे और सारा देश मठों एवं विहारों से भर गया। संन्यास उपनिषत्काल में ही चल पड़ी थी। किन्तु, प्राचीन धर्म में यह विशेषता थी कि के पहले लोग छात्र-जीवन और गार्हस्थ्य-जीवन का स्वाद पूरा चख लेते थे वानप्रस्थ-अवस्था में प्रवेश करके संन्यास की तैयारी करते थे। सीधे संन्यास पाटी वैदिक धर्म में नहीं थी। उसमें "आश्रमात् आश्रमम् गच्छेत्" का ही रिवाज था।[1] इस तरह, संन्यासी अधिकतर वे ही लोग होते थे, जो समाज का कर चुके थे और जिन्हें अब हाथ-पाँव हिलाये बिना भोजन और वस्त्र पाने का था। ये बूढ़े लोग अगर घर में रहते, तब भी खेती-बारी या वाणिज्य का से नहीं कर सकते थे। अतएव, अगर वे संन्यासी हो जाते तो इससे समाज खास नुकसान नहीं होता था। लेकिन, बुद्धदेव ने यह प्रथा चला दी कि बालक, नौजवान, जो जब चाहे, तभी संन्यास ले सकता है। नतीजा यह हुआ कि वाले अच्छे-अच्छे लोग जो खेतों में काम कर सकते थे अथवा किसी दूसरी डटकर समाज की ठोस सेवा कर सकते थे, गेरुआ पहन कर, भिक्षु बनकर देश में मठों की परिपाटी, कदाचित् पार्श्वनाथ ने चलायी थी, बौद्ध मत ने उसमें वृद्धि कर दी।

एक बात और है जो बौद्ध धर्म से निकली हुई मालूम होती है। बौद्ध हमारे देश में स्त्रियों का भिक्षुणी होना, उनका मर्द साधुओं के साथ मठों

---

१. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उन व्यक्तियों को दंडनीय बताया गया है, जो के भविष्य का प्रबन्ध किये बिना संन्यास ले लेते हैं अथवा जो स्त्रियों को बनाते हैं। नारद ने भी कुछ खास परिस्थितियों में संन्यासी होनेवालों को बताया है।

ना अथवा एक जगह से दूसरी जगह मारी-मारी फिरना प्रचलित नहीं था। बुद्धदेव आरम्भ में, इसके लिए तैयार नहीं थे कि स्त्रियाँ संघ में दाखिल की जायँ। न्तु, उनके परम प्रिय शिष्य आनन्द स्त्रियों का बहुत सम्मान करनेवाले थे। उन्होंने ग्रहपूर्वक बुद्धदेव से इस बात की मंजूरी ले ली कि स्त्रियाँ भी भिक्षुणी हो सकती फिर क्या था? विहारों और संघों में झुण्ड-की-झुण्ड स्त्रियाँ माथा मुँड़ा कर खिल होने लगीं। आनन्द को हम दोष नहीं दे सकते। वैदिक धर्म तो यह कभी नहीं ता कि मोक्ष सिर्फ उसके लिए है, जो संन्यासी हो जायगा। हिन्दुओं के यहाँ जनक-महात्मा हुए हैं, जो गृहस्थ होकर भी ज्ञानी थे और ऐसे ज्ञानी थे कि मुनि और षिगण भी वन से चलकर उनके पास नगर में आकर अपनी शंकाएँ मिटाते थे। रे यहाँ गृहस्थ-धर्म निन्दित नहीं, प्रशंसित रहा है। लेकिन, बुद्धदेव ने कहा कि र्वाण का अधिकारी वही होगा, जो गार्हस्थ्य-धर्म का त्याग करके भिक्षु हो जायगा।

केवल बौद्ध ही नहीं, जैन धर्म का भी यही विश्वास था कि मोक्ष संन्यास के बाद मिल सकता है। यही कारण है कि श्वेताम्बर-पन्थ में तो नारियाँ भिक्षुणी हो ती थीं, किन्तु, दिगम्बर-पन्थवालों ने साफ घोषणा कर दी थी कि मुक्ति नारियों के ए नहीं है। नारियों को चाहिये कि वे सीमित धर्म का पालन करें, जिससे अगले न्मों में वे पुरुष का जन्म ग्रहण कर सकें, क्योंकि, मोक्ष-लाभ के समीप आने पर, हें पुरुष होकर जन्म लेना ही पड़ेगा। असली बात यह थी कि दिगम्बर-पन्थ में क्षुणी को नंगी रहना पड़ता, इस बात को दिगम्बर साधु भी अनुचित समझते थे। न्तु, मुक्ति संन्यास से ही मिलती है, यह उपदेश बड़ा ही प्रबल था। भला, इस देश के बाद, कौन ऐसी स्त्री थी जो भिक्षुणी बन जाने को आकुल नहीं हो उठती? यों, स्वभाव से ही, अधिक भावुक और धार्मिक होती हैं। उनका उलाहना सुनते-ते आनन्द का दयालु हृदय घबरा उठा और उन्होंने शास्ता से उचित अनुज्ञा ले । किन्तु, बुद्ध के जीवन में ही इस नीति के दुष्परिणाम दिखायी पड़े और भगवान एक दिन आनन्द से कहा, "आनन्द! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच हजार वर्ष टिकनेवाला था, लेकिन अब वह सिर्फ पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि हमने स्त्रियों संघ में सम्मिलित होने की अनुज्ञा दे दी है।" बाद को चलकर, इस देश में जो ट साधुओं की संख्या बढ़ी और सिद्धों ने जो स्त्रियों के सहवास की महिमा गानी शुरू वे सारे-के-सारे दुष्कांड इसी भिक्षुणी-प्रथा से उत्पन्न हुए। केवल बौद्ध मठों में ही हीं, हिन्दू-मन्दिरों में भी जो देवदासी की प्रथा चल पड़ी, वह बौद्धों की इस भिक्षुणी-था की ही देन थी।[1]

---

[1] "बौद्ध श्रमणों ने, संघ की रक्षा करने के लिए, तन्त्रों के रूप में वाममार्गी कार्यों को एक प्रकार का धार्मिक स्वरूप दे दिया। छठी या सातवीं शताब्दी में बौद्ध श्रमणों ने जो तन्त्र-ग्रन्थ लिखे हैं, वे लिंग-पूजा के समान ही बीभत्स हैं। उनमें नग्न स्त्री की पूजा, मद्यमांसादि का यथेच्छ सेवन आदि बीभत्सताएँ भरपूर हैं। इन्हीं वाममार्गी श्रमणों से लिंग-पूजा की उत्पत्ति हुई।" —धर्मानन्द कोसम्बी

पौराणिक समन्वय

पुराणों की कथाएँ कहाँ से आयीं, इस सम्बन्ध में सब से प्रबल अनुमान देश की अनेक प्रकार की 'जनताओं' में शूर-वीर पितरों अथवा भूत-प्रेतों के में जो लोक-कथाएँ फैली हुई थीं, वे ही बढ़कर ऊपर आ गयीं और साहित्य लेकर पुराणों में प्रविष्ट हो गयीं। विचित्रता यह हुई कि पुराणों की जिन क लेकर पहले हिन्दू देवी-देवताओं अथवा शूर-वीरों का चरित समझाया जाता के द्वारा अब जैन एवं बौद्ध सिद्धान्त अथवा चरित समझाये जाने लगे। इस बहुत-से हिन्दू देवी-देवताओं का जैनों के द्वारा जैनीकरण और बौद्धों के द्वारा करण हो गया।

महाभारत में युधिष्ठिर का जलवासी यक्ष से जो प्रश्नोत्तर है, उसके अनुक आलवक यक्ष से बुद्धदेव के संवाद की कहानी चल पड़ी।[1] इन्द्र के माहात्म्य वैदिक साहित्य ओत-प्रोत था और जनता इस देवता को आदर से देखती थी। बौद्धों को इन्द्र को अपनाने का लोभ हुआ और अहिंसक बनाकर इन्द्र को अपना भी लिया। इन्द्र के पुनर्जन्म की कथा कुलावक में आती है, जिसमें क है कि शक्र एक बार असुरों से पराजित होकर भागा, तब उसके रथ के वेग के वृक्ष टूटकर गिरने लगे और उनके साथ पक्षियों के शावक भी। पक्षि-शाव करुण चीख सुनकर शक्र ने सारथी से पूछा—''यह अत्यन्त करुण शब्द किस सारथी ने उत्तर दिया—''देव! अपने रथ के वेग से सेमल के पेड़ टूटकर समु रहे हैं। उनमें कें गरुड़-पक्षियों के बच्चों की यह चीख है।'' शक्र ने क सारथी! इस सेमल के जंगल से रथ मत ले चलो। असुर प्राण ले लें तो चिन्ता नहीं, पर, इन पक्षियों के घोंसले नष्ट न होने दो।'' स्पष्ट ही, इन्द्र चरित्र उस चरित्र से भिन्न है, जिसमें वह पितृ-घाती, पुरन्दर और आ बताया गया है।

वैदिक धर्म के ब्रह्मा को भी बौद्धों ने अपना लिया, किन्तु, यहाँ भी ब्रह्मा भक्त बनाकर दिखलाये गये। दीर्घनिकाय के केवट्टसुत्त में कथा है कि एक यह जानने की इच्छा हुई कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, ये चार महाभूत मरने पर कहाँ विलीन होते हैं? यह प्रश्न वह अनेक व्यक्तियों से करता है, उत्तर उसे कोई भी नहीं दे पाता। अन्त में, वह महाब्रह्मा के पास जाता है और ब्रह्मा उससे कहते हैं कि ''सारे देवताओं को यह मिथ्या भ्रम है कि ब्रह्मा जानता है, किन्तु, मैं सब कुछ नहीं जानता हूँ। भगवान बुद्ध को छोड़कर तु पास आये, यह तुम्हारा अपराध है। अब तुम भगवान के पास जाओ और प्रश्न पूछो तथा वे जो उत्तर दें उसे ठीक समझो।''

बुद्धचर्य्या[2] में लिखा है कि गौतम को जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब में यह दुविधा उठी कि जिस सत्य की उपलब्धि मुझे हुई है, उसका प्रकाशन

---

[1] सुत्तनिपात, आलवक-सुत्त।

[2] श्री राहुल सांकृ

नहीं । बुद्ध के मन की इस द्विधा को जानकर ब्रह्मा (यहाँ वह सहापति ब्रह्मा है) द्विग्न हो उठा और सोचने लगा, "लोक-नाश हो जायगा रे ! लोक-विनाश हो जायगा ! जब तथागत, अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुककर अल्प सुकता (उदासीनता) की ओर झुक जाय ।" इतना ही नहीं, ब्रह्मा ने बुद्ध के सामने कट होकर उनसे प्रार्थना की, "हे सुमेध ! हे सर्वत्र नेत्रवाले ! धर्म-रूपी महल पर ढ़ सब जनता को देखो । हे शोकरहित ! शोकनिमग्न, जन्म-जरा से पीड़ित जनता की ओर देखो ।" और भगवान ने ब्रह्मा की प्रार्थना जब स्वीकार कर ली, तब ब्रह्मा उनकी दक्षिणा करके चला गया ।

मज्झिमनिकाय के ब्रह्मानिमन्तनिक सुत्तन्त (१।५।९) में जो कथा है, उसमें भी द्धदेव ब्रह्मा से अपने को श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं, "पापी ! तू मार है । पापी ! ो ब्रह्मा है, जो ब्रह्म-परिषद् है और जो ब्रह्म-पार्षद हैं, सभी तेरे हाथ में हैं, सभी तेरे श में हैं । पापी ! तुझे ऐसा होता है, यह (मैं) भी मेरे हाथ में आवे, यह भी मेरे श में हो । किन्तु, पापी ! मैं तेरे हाथ में नहीं आया, मैं तेरे वश में नहीं आ हूँ ।"[1]

धर्मानन्द कोसम्बी ने जातक-कथाओं के आधार पर यह बतलाया है कि वासुदेव-ष्ण जाति-प्रथा को नहीं मानते थे । सिवि राजा की माता जाम्ववती चाण्डाली थी, किन्तु, तो भी कृष्ण ने उसे "रत्नराशि पर बिठला कर अपनी पटरानी बना लिया ।"[2] ह कृष्ण-चरित के बौद्धीकरण का प्रयास है ।

वैदिक हिन्दुओं के पुराणों को बौद्धों और जैनों ने अपनाया और उनके माध्यम से अपने अहिंसावाद का प्रतिपादन करने लगे । इस क्रम में हम देखते हैं कि वमलसूरिकृत पउम-चरिय (पद्म-चरित, तीसरी-चौथी शती ई०) में बालि वैरागी नकर सुग्रीव को अपना राज्य दे देता है और स्वयं जैन-दीक्षा लेकर तपस्या करने ला जाता है । अनामकं जातकं (इसका भारतीय पाठ अप्राप्य है । तीसरी शताब्दी में काङ्ग-सङ्ग-हुई के द्वारा जो चीनी अनुवाद हुआ था वह उपलब्ध है ।) में राम पिता की आज्ञा से वन नहीं जाते, प्रत्युत, अपने मामा के द्वारा आक्रमण की तैयारियों की वार्ता सुनकर स्वयं राज्य छोड़ कर वन में चले जाते हैं, जिससे रक्तपात न हो । इस जातक के अनुसार, राम ने बालि का भी वध नहीं किया । प्रत्युत, राम के शर-सन्धान करते ही बालि, बिना बाण खाये हुए ही, भाग खड़ा हुआ ।

राम-चरित का हिन्दू-हृदयों पर जो प्रभाव था, उसका भी शोषण बौद्ध और जैन पंडितों ने अपने धर्म की महत्ता स्थापित करने को किया । दशरथ-जातक (पाँचवीं शताब्दी ई० की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है), अनामकं जातकं तथा चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत त्सा-पौ-त्सग-किङ्ग (भारतीय मूल अप्राप्य ; चीनी अनुवाद का समय ४७२ ई०) में आये हुए दशरथ-कथानम् एवं खोतानी-रामायण और स्याम के

---

[1] मज्झिमनिकाय—श्री राहुल सांकृत्यायन । [2] भारतीय संस्कृति और अहिंसा ।

राम-जातक के अनुसार, बुद्ध अपने पूर्व जन्म में राम थे, ऐसा कहा गया सम्भव है, जब बौद्ध पंडित बुद्ध को राम (या विष्णु के) अवतार के रूप में दिखा तब हिन्दुओं ने बढ़कर उन्हें दशावतार में गिन लिया हो।

एक विचित्रता यह भी है कि रावण पर जैन और बौद्ध पुराणों की श्रद्धा है। गुणभद्र के उत्तर-पुराण में राम-कथा का जो वर्णन मिलता है, उसमें कहा है कि लंका-विजय करने के बाद लक्ष्मण एक असाध्य रोग से मरे और मरने के उन्हें नरक प्राप्त हुआ, क्योंकि उन्होंने रावण का वध किया था। इस कथा में के जेता राम नहीं, लक्ष्मण दिखलाये गये हैं। इस कथा की एक विचित्रता यह कि इसके अनुसार, सीता मन्दोदरी के पेट से जनमी थीं। किन्तु, ज्योतिषियों के कहने पर कि यह बालिका आपका नाश करेगी, रावण ने उसे सोने की मंजूषा में करके दूर देश मिथिला में कहीं गड़वा दिया था।

जैन-पुराणों में महापुरुषों की संख्या तिरसठ बतायी गयी है। इनमें से २ तीर्थङ्कर हैं, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। राम आठवें बलदेव, आठवें वासुदेव और रावण आठवें प्रतिवासुदेव हैं। नव वासुदेवों में एक वासुदेव भी गिने जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में रावण तथा बुद्ध का, धर्म के में, संवाद उद्धृत है। इससे भी रावण के प्रति बौद्ध मुनियों का आदर अभिव्यक्त है। रावण जैनों के अनुसार जैन और बौद्धों के अनुसार बौद्ध माना गया है।

रामकथा के विषय में जैन और बौद्ध पुराणों में कितनी ही अद्‌भुत बातें समावेश मिलता है। उदाहरण के लिए, दशरथ-जातक में सीता राम की बहन गयी हैं और यह भी उल्लेख आया है कि लंका से लौटने पर राम ने सीता से किया। पउमचरिय में दशरथ के तीन नहीं, चार रानियाँ थीं, ऐसा उल्लेख है, जिनके नाम १. कौशल्या अथवा अपराजिता, २. सुमित्रा, ३. कैकेयी ४. सुप्रभा थे।[1] इसमें राम का एक नाम पद्म भी मिलता है। पउमचरिय में यह भी है कि हनूमान जब सीता की खोज करते हुए लंका गये, तब उन्होंने वहाँ वज्रमुख कन्या लंकासुन्दरी से विवाह किया। गुणभद्र की राम-कथा (उत्तर-पुराण) में राम माता का नाम सुबाला मिलता है। दशरथ-जातक और उत्तर-पुराण में यह लिखा है कि दशरथ वाराणसी के राजा थे, किन्तु, उत्तर-पुराण में इतना और है कि उन्होंने साकेतपुरी में अपनी राजधानी बसायी थी। इन विचित्रताओं को देख यह नहीं समझना चाहिये कि ये कथाएँ वाल्मीकि-रामायण से पूर्व की हैं और वाल्मीकि इनका परिष्कार करके अपनी राम-कथा निकाली। वाल्मीकि-रामायण इन सब प्राचीन है। फिर भी, रामायण से इनकी जो भिन्नता दीखती है, उसका कारण कि बौद्ध और जैन मुनि अपने सम्प्रदाय का पुराण रचने के समय, केवल रामायण पर अवलम्बित नहीं रहते थे, प्रत्युत, वे उस विशाल कथा-साहित्य से भी सामग्री

---

[1] रामकथा—रेवरेंड फादर कामिल बुल्के।

रते थे जो जनता में, मौखिक रूप से, फैला हुआ था। विशेषत:, जब जनश्रुतियों से थवा उन्हें मोड़-माड़कर अहिंसा का प्रतिपादन करने में सुविधा दीखती, तब उस विधा का लोभ ये लोग संवरण नहीं कर सकते थे। केवल अहिंसा ही नहीं, बौद्ध जैन शैलियों और परम्पराओं की दृष्टि से भी जो बातें अनुकूल दीखती होंगी, हें ये मुनि अवश्य अपनाते होंगे। दशरथ-जातक की अप्रामाणिकता तो इससे भी णित होती है कि "दशरथ-जातक का जो रूप जातकट्ठवराणना में प्रस्तुत वह शताब्दियों तक अस्थिर रहने के बाद पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में लिपिबद्ध किया ा। अत:, इसमें परिवर्त्तन की सम्भावना रही है, विशेष करके दूर सिंहलद्वीप जहाँ रामायण की कथा उस समय कम प्रचलित थी।"[1] इसके अज्ञात लेखक का कहना है कि "मैंने अनुराधापुर की परम्परा के आधार पर यह रचना की है।"

यह समझना भूल है कि बौद्ध और जैन पंडितों ने वैदिक धर्म का तिरस्कार करने लिए राम-कथा अथवा दूसरी कथाओं में फेर-फार कर दिया, क्योंकि ऐसे फेर-फार दिक धर्मावलम्बी कवियों ने भी किये हैं। उदाहरण के लिए, रघुवंश में कालिदास ने कहीं भी नहीं लिखा है कि सीता विष्णु की शक्ति की अवतार हैं। दशावतार-रितम् में क्षेमेन्द्र ने रावण को तपस्वी के रूप में रखा है तथा यह बताया है कि वण सीता को पुत्री-रूप में प्राप्त करना चाहता था।

दशरथ-जातक में सीता राम की बहन बतायी गयी हैं और फिर राम और सीता विवाह का भी उल्लेख किया गया है। ऐसा सम्बन्ध कुछ बौद्ध पंडितों की दृष्टि में त नहीं था। बुद्धघोष-कृत सुत्त-निपात-टीका में शाक्यों की उत्पत्ति बताते हुए कहा ा है कि वाराणसी की महारानी के चार पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं। इन नव सन्तानों को ीने वनवास दिया। उन्हीं सन्तानों ने "कपिलवत्थु" नामक नगर बसाया और चूँकि जसन्तान के योग्य वन में कोई नहीं था, इसलिए चारों राजकुमार अपनी बहनों व्याह करने को बाध्य हुए। ज्येष्ठा कन्या 'पिया' अविवाहित रहकर सबों की माता ी जाने लगी। यही शाक्यों की उत्पत्ति की कथा है।"[2] खोतान में प्रचलित एक म-कथा में कहा गया है कि वन में राम और लक्ष्मण, दोनों ने सीता से वाह किया।

वैदिक, बौद्ध एवं जैन पुराणों में जो कथाएँ मिलती हैं, उनमें से कितनी ही तो ही कथा के विभिन्न विकास हैं। सभी जातियों की संस्कृतियों का समन्वय ज्यों-ों बढ़ता गया, त्यों-त्यों विभिन्न कथाएँ भी, एक दूसरी से मिलकर, नया रूप लेने गीं और जो कथाएँ पहले एक रूप में थीं, उनमें भी वैविध्य आ गया। विशेषत:, मकथा पर तो केवल भारत ही नहीं, सिंहल, स्याम, तिब्बत, हिन्देशिया, बाली, जावा, ाला आदि द्वीपों में बसनेवाली जनता की रुचि का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दिवासी कथा के अनुसार, गिलहरी की पीठ पर जो रेखाएँ हैं, वे रामचन्द्र के द्वारा

रामकथा।

[2] वही।

खींची गयी थीं, क्योंकि गिलहरी ने उन्हें मार्ग बताया था। तेलुगु रामायण रामायण) के अनुसार, लक्ष्मण जब राम के साथ वन जाने लगे, तब उन्होंने से दो वरदान प्राप्त किये—एक तो पत्नी उर्मिला के लिए चौदह वर्ष की दूसरा अपने लिए वनवास के अन्त तक जागरण। सिंहली रामकथा में "वालि का स्थान लेता है, वह लंका का दहन करके सीता को राम के पास ले जाता कश्मीरी रामायण के अनुसार, सीता का जन्म मन्दोदरी के गर्भ से हुआ था। के कृत्तिवासी रामायण के बहुत-से स्थलों पर शाक्त-सम्प्रदाय की छाप पायी खोतानी रामायण (पूर्वी तुर्किस्तान में प्रचलित) में राम जब युद्ध में मूर्च्छित होते उनकी चिकित्सा के लिए सुषेण नहीं, प्रत्युत, बौद्ध वैद्य जीवक बुलाये जाते "आहत रावण का वध नहीं किया जाता है।"[1] स्यामदेश में प्रचलित "राम रामायण में हनूमान की बहुत-सी प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया गया है। प्रभा काया, नागकन्या, सुवर्णमच्छा और अप्सरा वानरी के अतिरिक्त, वे मन्दोदरी भी क्रीड़ा करते हैं।" स्याम में ही प्रचलित राम-जातक में "राम तथा रावण भाई माने गये हैं।"[2]

पुराणों की महाकथाओं में ये जो विविधताएँ मिलती हैं, उनकी ऐतिहासिक जो हो, किन्तु, यह सत्य है कि वे अनेक जातियों और जनपदों की रुचियों के बढ़ी हैं, और यह भी हुआ है कि जिस लेखक को अपने सम्प्रदाय के समर्थन में अनुकूल दीखी, उसने उसी कथा को प्रमुखता दे डाली अथवा कुछ फेर-फार क अपने मत के अनुकूल बना लिया।

हिन्दुत्व का खरल

भारत की यह विशेषता रही है कि वह अनेक जातियों को घोंटकर एक जा देता है, अनेक धर्मों को मिलाकर एक धर्म तैयार कर देता है और अनेक संस्कृ मिश्रण से एक नयी संस्कृति पैदा कर देता है। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़ और कम-के-कम ये चार जातियाँ थीं, जिनके परस्पर मिलन और मिश्रण से एक पैदा हुई जिसे हम हिन्दू जाति कहते हैं। हिन्दू कहलानेवाली संस्कृति किस प्र चारों जातियों की संस्कृतियों के मिलन से पैदा हुई, यह कथा आरम्भ में ही चुकी है। यह समन्वित संस्कृति जब उपनिषदों के धरातल पर पहुँची, तब धर्म और विचार की अनेक धाराएँ फूट पड़ीं, जिनमें कुछ आस्तिक थीं, कुछ कुछ वेद को माननेवाली, कुछ नहीं माननेवाली। यह एक तरह की बौद्धि कता थी, एक तरह का चिन्तन का कोलाहल था, जिसे बाँधकर एक ओर ले आसान नहीं था। इसलिए, एक ही काल में, आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की होने लगी और सारा देश चिन्तकों के तरह-तरह के विचारों से जगमगा उठा। हिन्दू-धर्म अथवा भारतीय संस्कृति फिर, अपना काम कर रही थी और इन वादों के बीच सामंजस्य कैसे पैदा किया जाय, एकता कैसे लायी जाय, इसके उसका स्वाभाविक प्रयास जारी था।

---

[1] रामकथा।

[2]

असल में, जिन दिनों पुराणों की रचना हुई, उन दिनों समन्वय की प्रक्रिया खूब ाढ़ी हो गयी थी और देश में फैली हुई हजारों दन्त-कथाएँ साहित्य के स्तर पर पहुँच र हिन्दू-संस्कृति को सजाने लगी थीं। बौद्ध और जैन भागकर जाते कहाँ? जिस नता के बीच वैदिक धर्म का जन्म हुआ था, ये दोनों धर्म भी उसी जनता के बीच दा हुए थे। अतएव, उसकी रुचियों का प्रभाव बौद्ध और जैन धर्मों पर भी पड़ने गा और ये धर्म धीरे-धीरे, बदल कर हिन्दुत्व के करीब आने लगे। करीब तो वे थे ी, जिन दो-एक बातों को लेकर वे हिन्दू-धर्म से जरा अलग दीखते थे, वे बातें भी व गौण होने लगीं और दोनों धर्म सिमटकर हिन्दुत्व के आलिंगन में बँधने लगे।

इतिहास में, अक्सर, यह लिखा होता है कि अमुक काल ब्राह्मण-धर्म का और अमुक ाल बौद्ध-धर्म का था। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि किसी भी काल में ब्राह्मण-र्म बिलकुल गायब या एकदम दबा हुआ था। भारत का अपना धर्म सनातन धर्म हा है, और बाकी धार्मिक आन्दोलन, समय-समय पर, इस बड़े धर्म में सुधार लाने ी कोशिश करते रहे हैं। यहाँ समुद्र एक रहा है, चाहे लहरें तरह-तरह की उठती रही ीं। बौद्धों के समय में, हिंसात्मक यज्ञ भले ही बन्द हो गये हों, किन्तु अहिंसात्मक ग्निहोत्र के रूप में वे बराबर प्रचलित थे। अशोक ने अपने शिलालेखों में अनेक थानों पर यह कहा है कि श्रमणों के साथ-साथ, ब्राह्मणों का भी सम्मान करना चाहिये ौर उन्हें दान देना चाहिये। ब्रह्मदेश और स्याम में जहाँ ब्राह्मण बिलकुल नहीं थे, हाँ भी बौद्ध राजाओं ने ब्राह्मण बुलवाये और उन्हें वार्षिक वृत्ति देकर अपने पास ख लिया। इसके विपरीत, गुप्त राजे स्वयं वैष्णव थे, तो भी उन्होंने अपने राज्यकाल बौद्धों के बहुत-से विहार बनवाये और संघारामों को जागीरें दीं। पाली-साहित्य में श्रमण-ब्राह्मण" ऐसा समास मिलता है। पर, अशोक के शिलालेखों में ब्राह्मण को थम स्थान दिया गया है। "ब्राह्मणसमणानां साधु दानं।" (कोसम्बी)

वेद और उपनिषद् एक आवाज में नहीं बोलते थे। किन्तु, उनके भीतर से सारी ाति की चिन्ता-धाराएँ प्रकट हुई थीं और ये धाराएँ, कभी-कभी, परस्पर विरोधी भी ीं। इन धाराओं में से जिसको जो रुची, उसने उसीका विकास कर डाला। इस कार, बौद्ध, जैन तथा अन्य दर्शनों का जन्म हुआ। मगर, एक ही उद्गम से उत्पन्न ोने के कारण, इन सभी धर्मों की वैदिक धर्म के साथ बराबर समानता रही और इन भी धर्मों पर इस देश की जनता की उस रुचि का प्रभाव भी पड़ता रहा, जो वैदिक स्कार से ओत-प्रोत थी।

बुद्ध और महावीर, दोनों ने कोशिश की थी कि किसी तरह जनता अन्धविश्वास े बचे, अदृश्य की भक्ति और प्रार्थना नहीं करे, मूर्त्तियों को नहीं पूजे और किसी रोक्ष सत्ता को अपना शासक मानकर कर्म में शिथिलता नहीं दिखलाये। लेकिन, यह ात अधिक काल तक नहीं चल सकी। तत्त्व से तो हिन्दू-धर्म निराकारवादी है, किन्तु, हिन्दू जनता बराबर साकारोपासना की ओर झुकती रही है। अनेक निराकार दर्शनों को जन्म देकर भी हम सदैव यह मानते रहे हैं कि हमारी आँखों के परे जो शक्ति है,

उसे हम देख तो नहीं पाते हैं, मगर, उसका शासन सारी सृष्टि पर चल रहा है हिन्दू-धर्म की ही विशेषता नहीं, प्रत्युत, मनुष्य-मात्र का एक साधारण स्वभा आदमी हर निराकार कल्पना को साकार बना देता है, क्योंकि निराकार को सन्तुष्ट रहनेवाले लोग बहुत कम और साकार की खोज एवं पूजा करनेवाले लो ज्यादा होते हैं। हिन्दू-धर्म की इस प्रवृत्ति से बचने के लिए जैन और बौद्ध धर्म सतर्क थे। किन्तु, आखिरकार, वे इससे बच नहीं सके और साकार-उपासना का भीतर भी प्रवेश हो गया। जैन धर्म में साकारोपासना के लिए पहले से ही एक खुली हुई थी, क्योंकि जैन दर्शन यह मानता था कि जीवन-मुक्त पुरुष ईश्वर-को होते हैं। सभी तीर्थङ्कर इसी कोटि के थे। अतएव, तीर्थङ्करों की पूजा उसी प्रका हो गयी, जैसे ब्राह्मण अपने देवी-देवताओं को पूजते थे। पौराणिक युग में ही तीर्थङ्करों के लिए मन्दिर बनवाये जाने लगे और उनमें उनकी मूर्त्तियाँ भी पधरायी लगीं। ईसा की पहली सदी में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों में जो फूट हुई, उस एक प्रबल कारण मूर्त्तियों की पोशाक के विषय में ही मतभेद था। और, बौद्ध धर्म आष्टांगिक मार्ग पर चलने का जनता में अब उत्साह नहीं रहा तथा उसे इस बा निराशा होने लगी कि बुद्ध के मार्ग में भी निर्वाण या मुक्ति की आशा केवल सं ही कर सकते हैं, साधारण गृहस्थ नहीं। अतः, ठीक पहली सदी (कनिष्क-राज्य में ही बौद्ध धर्म की भी महायान-शाखा बढ़कर बड़ी हो गयी और उसने, धीरे बुद्ध के बताये हुए मूल उपदेशों पर चलनेवाली हीनयान-शाखा को, सचमुच वना डाला।

□□

प्रकरण ४

वैदिक बनाम बौद्ध मत

हायान की उत्पत्ति

भगवान बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि मेरा चलाया हुआ धर्म केवल पाँच सौ वर्ष लेगा। वह भविष्यवाणी, अक्षरशः तो पूरी नहीं हुई, किन्तु, तत्त्वतः, पूरी हो यी ; क्योंकि भगवान के पाँच सौ वर्ष बाद जब बौद्ध धर्म के भीतर से महायान-सम्प्र-य का विकास हुआ, तब यह सम्प्रदाय बौद्ध कम, हिन्दू अधिक हो गया। बुद्ध ईश्वर विषय में मौन रहे थे, महायान-सम्प्रदाय ने खुद बुद्ध को ही ईश्वर बना दिया। बुद्ध देवी-देवताओं की पूजा की मनाही की थी, महायान-सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म के भीतर वी-देवताओं की पूरी सेना खड़ी कर दी। बुद्ध के उपदेश तत्कालीन लोक-भाषा में ये गये थे, महायान के चिन्तकों ने अपना सारा साहित्य संस्कृत में लिखना आरम्भ कया। बुद्ध का कहना था कि मोक्ष के अधिकारी केवल संन्यासी हो सकते हैं, महायान मोक्ष की आशा उनके सामने भी रख दी जो संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे।

संन्यास का मार्ग कभी भी समग्र मानवता का मार्ग नहीं हो सकता। बौद्ध संन्या-यों का भी लोग आदर तो करते थे, मगर, सारी जनता संन्यास नहीं ले सकती थी, ल्कि, जनता के भीतर एक आलोचना चलती थी कि यह भी कैसा धर्म है, जिसमें हस्थों के लिए मुक्ति की व्यवस्था ही नहीं है। इसलिए, मुक्ति की आशा जब गृहस्थों लिए भी विहित बतायी जाने लगी, तब बौद्ध मत का महायान नाम सार्थक हो या—महायान यानी बड़ी नौका, जिस पर सभी लोग बैठकर भव-सागर के पार जा कते हैं ; और हीनयान यानी छोटी नौका, जिस पर वे ही चढ़ सकते हैं, जिन्होंने न्यास ग्रहण कर लिया है।

प्रत्येक निराकारी मत साकारवाद की ओर बढ़ता है। प्रत्येक प्रकार के वैराग्य अधिकता उसे भोगवाद की ओर ले जाती है। इसी प्रक्रिया से बौद्ध मत ने महा-न को जन्म दिया। जब तक बुद्ध जीवित रहे, बौद्ध मत का रूप वही रहा, जो उनके लिक उपदेशों से बना था। बुद्ध के देहान्त के बाद बौद्ध धर्म के भीतर से नयी-नयी खाएँ फूटने लगीं। कहते हैं, भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद ही बौद्ध धर्म निकायों में विभक्त हो गया था। स्थविरवाद के पक्षपाती वे भिक्षु हुए जो बुद्ध के लिक उपदेशों में विश्वास करते थे। जिनका स्थविरवादियों से मतभेद हुआ, उन्होंने पना संघ अलग बना लिया और उसे वे महासंघ कहने लगे। ज्यों-ज्यों समय बीतता या, निकायों की संख्या में भी वृद्धि होती गयी और बौद्धों के विश्वास और मान्यता विविधताएँ उत्पन्न होने लगीं। सम्राट् अशोक के समय बौद्ध धर्म की जब तीसरी

संगति हुई, उस समय बौद्ध मत के भीतर कुल अठारह निकाय थे। उन दिनों वादी तो बुद्ध को मनुष्य ही मानते थे, लेकिन, कई अन्य निकाय उन्हें लोकोत्तर लगे थे। वे यह विश्वास करने लगे थे कि बुद्ध अलौकिक, दिव्य शक्तियों से युक्त देवता हैं, जिनका न तो कभी जन्म होता है, न मरण। कुछ निकाय ऐसे भी भिक्षुओं पर लादी गयी कृच्छ्र साधनाओं से ऊबे हुए थे। जब तत्त्व के धरा उन्होंने बुद्ध को लोकोत्तर देवता मान लिया, तब आचार के धरातल पर वे भि साधनाओं को भी सुगम बनाने की बात सोचने लगे, जिसका उद्देश्य यह बता कि नर-नारी-समागम भी, किसी-किसी अवस्था में, भिक्षुओं के लिए क्षम्य मा सकता है। बुद्ध मनुष्य रहते तो उनके आचार सभी भिक्षुओं के लिए अनुकरणीय जब बुद्ध लोकोत्तर बना दिये गये, तब भिक्षुओं ने उनके आचरण को अनुकरणी झना छोड़ दिया, क्योंकि लौकिक मनुष्य लोकोत्तर चरित्र का अनुकरण अशक्य मान

बौद्ध धर्म के भीतर, आरम्भ से ही तीन मार्ग थे। अर्हत्-यान अथवा श्राव पर वे साधक चलते थे, जिनका लक्ष्य अपना मोक्ष होता था। जो साधक कु लोगों की मुक्ति के लिए अधिक कष्ट सहने को तैयार थे, उनका मार्ग प्रत्येक-बु कहलाता था। सबसे कठिन मार्ग बुद्ध-यान था, जिस पर वे ही साधक कदम थे जो असंख्य जीवों का मार्ग-दर्शक बनने के लिए, अपनी मुक्ति की फिक्र बहुत परिश्रम और बहुत समय बाद, उस मार्ग से स्वयं प्राप्य निर्वाण को अपना मानते थे। आरम्भ की सदियों में सभी बौद्ध सम्प्रदाय तीनों यानों को मानते थे समझते थे कि "किसी यान को चुनना मुमुक्षु की अपनी रुचि पर निर्भर है। कालक्रम में, अर्हत्-यान और प्रत्येक-बुद्ध-यान, स्वार्थी होने के कारण हीनयान लगे और बुद्ध-यान, निःस्वार्थ साधकों का यान होने के कारण महायान नाम से जाने लगा। चौथी शताब्दी तक बौद्धों के वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और मिक, चार दार्शनिक सम्प्रदाय बन चुके थे। इनमें से पहले दोनों को माननेवाले यानों को मानते थे, इसलिए, उन्हें महायानियों ने हीनयान का अनुयायी कहा बाकी दो केवल बुद्ध-यान को ही मानते थे, इसलिए, उन्होंने अपने को महाया अनुयायी कहा।[1]

मनुष्य के स्वभाव में अन्धविश्वास, कहीं-न-कहीं बद्धमूल है। वह देवता पूजा में जितना रस लेता है, उतना रस मनुष्य की पूजा में नहीं लेता। बुद्ध म रूप में पूजे जाते तो बौद्ध धर्म सत्य के अधिक समीप रहता, लेकिन तब अनुया कम मिलते। अतएव, उसने बुद्ध को अलौकिकता प्रदान कर जनता को अप खींचने की कोशिश की। और, जब महायानियों ने यह कहा कि गृहस्थ भी मु अधिकारी हो सकता है, तब भिक्षुओं के मन की वे दीवारें टूटने लगीं जो गार्हस् वैराग्य के बीच खड़ी की गयी थीं। वैपुल्यवादी निकाय ने अपने सूत्रों में, छि भिक्षुओं के लिए नारी-समागम को क्षम्य बताया था। इस प्रवृत्ति को महायान प्रोत्साहन ही दिया। परिणाम-स्वरूप, आगे चलकर महायानियों के, पहले तो

---

[1] बुद्धचर्य्या—राहुल सांकृत्यायन।

माज बनने लगे तथा कुछ और आगे चलकर उनके भीतर से वज्रयान फूट पड़ा, जो हायान का सबसे बड़ा कलंक बन गया ।

तब भी, महायान का हम ऐतिहासिक महत्त्व मानते हैं और वह इस कारण कि से अहिंसा का चरम विकास हम जैन मत के अनेकान्त में देखते हैं, वैसे ही, करुणा र मैत्री का चरम उत्कर्ष महायानी चिन्तन में प्रकट हुआ । महायान, एक साथ, बौद्ध-त का गौरव-शिखर भी है और उसका गर्त्त भी । शिखर इसलिए कि विचारों की शा में महायान ने आकाश का स्पर्श किया । किन्तु, आचार के क्षेत्र में वज्रयान ने ो दृष्टान्त उपस्थित किया, वह गर्त्त का ही पर्याय था । वेदों के बाद से भारत का क्तित्व बराबर विभक्त रहा था । वही विभक्तता महायान में भी प्रकट हुई ।

बुद्ध ने मनुष्य मात्र के लिए करुणा और मैत्री का सन्देश दिया था। साथ ही उन्होंने ह भी कहा था कि मनुष्य-जीवन का चरम ध्येय वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति है । जब हायानी चिन्तक करुणा की निस्सीमता पर विचार करने लगे, उन्हें इस बात पर विस्मय आ कि भगवान ने वैयक्तिक मोक्ष को परम ध्येय कैसे मान लिया ? जिस मनुष्य में च्ची करुणा का निवास है, वह अपने असंख्य मानव-बन्धुओं को जन्म, जरा और मरण ो ज्वालाओं में जलता छोड़कर अपनी वैयक्तिक मुक्ति से सन्तोष कैसे कर सकता है ? सलिए, महायानियों का सिद्धान्त यह बना कि जो साधक अपनी वैयक्तिक मुक्ति प्राप्त र निर्वाण का अधिकारी हो गया है, उसे भी निर्वाण को स्वीकार नहीं करना चाहिये । से बार-बार जन्म ग्रहण करके पृथ्वी पर आना चाहिये, जिससे वह असंख्य जन-समुदाय ो संसार के अग्निकुण्ड से निकाल कर उसे निर्वाण का अधिकारी बना सके । जो सन्त ौर महात्मा ऐसे विश्व-कल्याण के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते हैं, उन्हें महायान बोधिसत्त्व कहा । सारिपुत्र और मौद्गलायन अर्हत् समझे जाते थे, महायान ने उन्हें ी बोधिसत्त्व की कोटि में डाल दिया और यह कहा कि वे अभी भी अवतार लेकर ानवों का कल्याण कर रहे हैं ।

बुद्ध वह होता है, जिसने मोक्ष और निर्वाण प्राप्त कर लिया है । बोधिसत्त्व वे भी लोग हैं जो बुद्ध बनने के प्रयास में हैं । पुराने बौद्ध मत का सारा जोर बुद्धत्व पर ा । महायान ने अपना पूरा बल बोधिसत्त्व की महत्ता पर डाला । जन्म और मरण, दुःख अवश्य हैं, किन्तु, इन दुःखों से भागनेवाला व्यक्ति संसार की सेवा के अयोग्य हो ाता है । व्यक्ति की मुक्ति से समष्टि की मुक्ति नहीं होती । अतएव, समष्टि को खी छोड़कर वैयक्तिक मोक्ष प्राप्त करना एक प्रकार का स्वार्थ है । जब तक एक भी यक्ति मोक्ष से दूर है, तब तक साधक के लिए यही उत्तम है कि वह बुद्धत्व को छोड़-र बोधिसत्त्व की कोटि में बना रहे ।[1]

---

[1] तुलसीदास और सूरदास के समय में वैष्णव भी यह मानते थे कि मोक्ष-प्राप्ति की अपेक्षा यह कहीं श्रेयस्कर है कि हम अपने आराध्य की सेवा करते रहें । यह अनुभूति, कदाचित् महायान से ही वैष्णव धर्म में पहुँची थी ।

इस विचार के आने पर महायानी बौद्ध साधकों का ध्येय बदल गया। साधक जहाँ यह प्रतिज्ञा करते थे कि मैं आवागमन के बन्ध से छूटकर निर्वाण प्राप वहाँ अब वे यह प्रण लेने लगे कि सारे-जगत् के सब प्राणियों के सभी दुःखों करने के लिए मैं बुद्ध बनूँगा। बुद्ध ने मनुष्यों और देवताओं के उद्धार की बा थी। महायानी साधक जीव-मात्र के उद्धार को अपना ध्येय मानने लगे।

महायान के इन उदात्त ध्येयों का निरूपण आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थों में प्रखर रूप में मिलता है। शान्तिदेव का समय ६५० ई० के आसपास माना वे गुजरात के एक राज-परिवार में जनमे थे और, कहते हैं, अपने अभिषेक के एक दिन पूर्व उन्होंने संन्यास ले लिया था। अपने अन्तिम दिनों में वे ना आचार्य थे। कहते हैं, उन्हीं का एक दूसरा नाम भूसुक भी था। बोधिच शिक्षा-समुच्चय और रत्न-समुच्चय, उनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से बोधि तार अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ है। मानवतावाद का नारा नये युग की विशेषता है, यह नारा शान्तिदेव ने जिस ऊँचाई से लगाया था, उस ऊँचाई पर आज तक पहुँचा है या नहीं, इसे सन्दिग्ध ही समझना चाहिये। केवल मानवतावाद सम्पूर्ण सृष्टि की अखंडनीयता एवं उसकी मूलभूत एकता की जैसी प्रखर शान्तिदेव को हुई थी, वह आज के लिए भी नवीन है।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः
तथा जगद् भिन्नमभिन्नदुःख-सुखात्मकं सर्वमिदं तथैव।

नाना प्रकार के अवयवों से युक्त होने पर भी जैसे हमारा शरीर एक और अ यह जगत् भी उसी प्रकार अभिन्न है। हाथ-पैर के दुःख जैसे हमारे लिए अल नहीं हैं, समस्त जगत् के सुख-दुख भी उसी प्रकार अलग-अलग नहीं, बल्कि एक

सम्पूर्ण मानवता का भाग्य एक है, सारी सृष्टि की नियति एक है, अतएव धर्म यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सारे जगत् के क्लेश को अपना क्लेश समझे, यह शान्तिदेव के उद्गारों में अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में प्रकट हुई। बोधिचर्यावतार में ने कहा है कि संसार में अशुभ या अन्याय का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। नाना की शुभ चेष्टाएँ भी अवश्य हो रही हैं, किन्तु, इस भयंकर अन्याय को जीतने किसी में भी नहीं है। इस पर विजय केवल "मैत्री" पा सकती है। स्वर्ग, मो निर्वाण तो दूर की बात है, "मैत्री" के नहीं रहने पर संसार ही अचल अथवा जाता है।

बोधिचर्यावतार मानवता की साधना का अपूर्व ग्रन्थ है। वह आज भी लगता है। यह भी कि सातवीं सदी में शान्तिदेव ने जो स्वप्न देखा था, उसकी तत्कालीन समाज के लिए अशक्य थी। हाँ, आज का मनुष्य चाहे तो उस सपने कर सकता है, क्योंकि अब पृथ्वी सिमट कर बहुत छोटी हो गयी है और हम एकता की अनुभूति आसानी से कर सकते हैं। शान्तिदेव का मत है कि इस जगत् में यदि सुख की सृष्टि करनी हो तो इसको खंड-खंड करके अनेक देशों, जातियों या अनेक जनों के रूप में न देखकर एक अखंड पृथ्वी या प्राणिलोक

ही देखना चाहिये । दुःख को मेरा दुःख, तेरा दुःख, जाति का दुःख, देश का दुःख, स प्रकार, विच्छिन्न रूप में नहीं देखकर, एक अखंड रूप में देखकर ही उसका प्रति-ार करना होगा । मोहग्रस्त होकर हम लोग अपने-अपने खंड-सुखों के संचय की चेष्टा ं, परस्पर एक-दूसरे को कष्ट पहुँचा कर, अपने में से, प्रत्येक के लिए घोर दुःख का ंचय कर रहे हैं । बुद्ध ने मैत्री शब्द के भीतर सामाजिक अर्थ भी रखे थे । वे अर्थ हले-पहल महायान में ही आकर प्रकट हुए ।

धर्म की सामाजिक व्याप्तियों का जैसा विशद आख्यान शान्तिदेव ने किया है, ससे यह अनुमान, अनायास ही, होता है कि मनुष्य को आगे जो कुछ करना है, सका चिन्तनपक्ष, कदाचित्, पहले ही तैयार किया जा चुका है ।

स्वप्राणानां जगत्प्राणैर्नदीनामिव सागरैः
अनन्तैर्यो व्यतिकरः तदेवानन्तजीवनम् ।

अब अनन्त प्राणों के साथ अपने प्राण का वैसा मिलन हो, जैसा मिलन नदियों का मुद्र के साथ होता है, तभी अनन्त जीवन की प्राप्ति होती है, अमरता अथवा निर्वाण प्त करने से नहीं ।

मोह से कहीं श्रेयस्कर ध्येय अपने सह-बन्धुओं के कष्ट का निवारण है, इसका ाख्यान करते हुए शान्तिदेव कहते हैं,

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ?

जीव जब दुःख से मुक्त होते हैं, तब उससे बोधिसत्त्व के हृदय में जो आनन्द का मुद्र उमड़ पड़ता है, उतना ही पर्याप्त है । रसहीन मोक्ष से क्या प्रयोजन ?

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा
भवेयं उपजीव्योऽहं यावत् सर्वे न निर्वृताः ।

अनन्ताकाश में स्थित जितने सत्त्वधातु (यानी जीव) हैं, जब तक वे मुक्ति नहीं पाते, तब तक मैं उनकी, इसी प्रकार सेवा करता जाऊँगा ।

बोधिसत्त्व के मार्ग पर चलने के लिए साधक को बोधिचित्त का विकास करना ता था । बोधिचित्त की प्रार्थनाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धिसत्त्व का चरित्र निःस्वार्थ समाज-सेवी का ही चरित्र था और ये प्रार्थनाएँ, प्रार्थना होकर, एक प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा संकल्प होती थीं ।

अनाथानाम् अहं नाथः, सार्थवाहश्च यात्रिणाम्,
पारेप्सुनां च नौभूतः, सेतुः संक्रम एव च ।
दीपार्थिनामहं दीपः, शय्या शय्यार्थिनामहम्,
दासार्थिनामहं दासो भवेयम् सर्वदेहिनाम् ।

गाँधीजी पर जैन शिक्षा का प्रभाव था, ऐसा बहुत लोग मानते हैं । ऐसा लगता है शान्तिदेव महात्मा गाँधी के, विशेष रूप से, पूर्व-पुरुष थे । गाँधीजी और मार्क्स में मुख्य भेद यह है कि मार्क्स सारे भूगोल को चमड़े से मढ़ देना चाहते हैं, किन्तु,

गाँधी जी समझते हैं कि हर आदमी के पाँव में जूते पहना देने से भी वही कार्य होता है। इस विचार की अनुभूति शान्तिदेव को भी हुई थी।

भूमिं छादयितुं सर्वान् कुतश्चर्म भविष्यति ?
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी।

सारी पृथ्वी को मढ़ने के लिए चमड़ा कहाँ मिलेगा ? पृथ्वी तो जूते के भी ढँकी जा सकती है।

बाह्या भावा मया तद्वत् शक्या वारयितुं नहि,
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ?

बाह्य वस्तुओं का निवारण शक्य नहीं है। हम अपने चित्त का निवारण अन्यों के निवारण करने की क्या आवश्यकता है ?

मैत्री अथवा प्रेम का स्वरूप क्या है ? याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था, मैत्रेयी ! पति के प्रयोजन के जिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लि प्रिय होता है।.........लोकों के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्र के लिए लोक प्रिय होते हैं।" अभिप्राय, कदाचित्, यह है कि प्रत्येक के ब्र होने के कारण हम जब दूसरों को प्यार करते हैं, तब असल में, हमारा प्रेम अ के ही प्रति होता है। इस स्थिति को महायान ने उलट दिया। अपने आप स्वार्थ से दूषित होता है। प्रीति की सार्थकता तब है, जब वह दूसरों के लिए की

महायान का उत्थान ईसा की पहली शताब्दी में हुआ। अतएव, चीन, जापान और तिब्बत में यही धर्म पहुँचा—चीन में ईसा के जन्म के को वर्ष बाद, तिब्बत में सातवीं सदी में, जापान में छठी शताब्दी में और कोरिया गुप्त के समय लगभग ३५२ ई० के पास। श्रीलंका, वर्मा, स्याम और हिन्दे हीनयान धर्म का प्रचार हुआ, किन्तु, नेपाल में महायान ही फैला।

महायान धर्म का सम्यक् वर्णन सद्धर्म-पुण्डरीक में है। वेदान्त और गी सामान्य जनरुचि के प्रभाव से बौद्ध मत में जो परिवर्त्तन हुए, वे सब इस ग्रन्थ से जा सकते हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक के अनुसार बुद्ध सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के हैं। माया उनके अधीन है। माया का प्रयोग वे लीला के लिए करते हैं। प पर धर्म की रक्षा के लिए वे समय-समय पर अवतार लेते हैं। इस ग्रन्थ का में खूब प्रचार हुआ था। विशेषतः, इसका प्रभाव चीन, तिब्बत, नेपाल, जापा कोरिया पर पड़ा, जहाँ महायान का प्रचार हो रहा था।

सुखावटी-व्यूह महायान धर्म का दूसरा प्रमुख ग्रन्थ है। सुखावटी उस स्व नाम है, जिसमें अमिताभ बुद्ध निवास करते हैं। पौराणिक धर्म में जैसे यह क था कि विष्णु अथवा शिव की उपासना करने से भक्त को स्वर्ग प्राप्त होता है, अब यह कहा जाने लगा कि अमिताभ की भक्ति करने से मनुष्य सुखावटी-स्व प्राप्त करता है।

सद्धर्म-पुण्डरीक और सुखावटी-व्यूह की मूल प्रतियाँ अब नहीं मिलतीं।

नके तिब्बती चीनी और जपानी अनुवाद उपलब्ध हैं। सद्धर्म-पुण्डरीक का चीनी में हला अनुवाद २२३ ई० में किया गया था और दूसरा अनुवाद २८६ ई० में। इसी कार, सुखावटी-व्यूह का चीनी में अनुवाद सन् १८६ ई० के पूर्व हो चुका था।

बुद्धत्व की प्राप्ति जन्म-जन्मान्तर की निरन्तर साधना का परिणाम है, यह बात राने बौद्ध मत में भी थी। अब यह कल्पना आरम्भ हुई कि बुद्धदेव पूर्व जन्म में कब, स योनि में जनमे थे और प्रत्येक जन्म में सत्कर्म करते हुए उन्होंने बुद्धत्व की ओर से प्रगति की थी। इस कल्पना से जातक-कथाओं का विकास हुआ, जो अत्यन्त चक हैं।

महायान ज्यों-ज्यों हिन्दूत्व के निकट आता गया, त्यों-त्यों उसमें देवी-देवताओं की द्धि होने लगी। तारा, प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, ये बौद्ध सम्प्रदाय के ही देवता । ये नये देवी-देवता उत्साह के साथ अपनाये जाने लगे, इनकी सुन्दर-सुन्दर प्रति-एँ, निर्मित होने लगीं और धूम-धाम से इनकी पूजा भी आरम्भ हो गयी।

गार्जुन का शून्यवाद

एक ओर तो महायान का लौकिक धर्म-पक्ष अति साकार और स्थूल होता जा रहा ; दूसरी ओर, इस काल का बौद्ध दार्शनिक चिन्तन पहले से भी अधिक ऊँचा उठ ा था। महायान के दार्शनिक आचार्य नागार्जुन हुए, जो कनिष्क और अश्वघोष के सम-लीन थे और विदर्भदेश (बरार) में रहते थे। वे ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे। ईसा की ली शताब्दी में उन्होंने शून्यवाद पर गम्भीरता से विचार किया और **माध्यमिक-**रिका नामक अद्भुत दर्शन की रचना की, जिसे समझने में पण्डितों का दिमाग न भी चक्कर खाता है। रूस के प्रसिद्ध दार्शनिक और भारतीय विद्या के उद्भट द्वान् स्वर्गीय प्रोफेसर शेरबास्की ने सन् १९२७ ई० में अपनी किताब में लिखा था नागार्जुन की गिनती विश्व के बड़े-से-बड़े दार्शनिकों में की जानी चाहिये। यह कहा जाता है कि नागार्जुन नहीं हुए होते, तो भारत में शंकराचार्य के अद्वैतवादी न का आविर्भाव नहीं होता।

उपनिषद्, बौद्ध धर्म या नागार्जुन के चिन्तन में शून्यता शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त आ है, वह वही नहीं है, जिसे अपने दैनिक जीवन में हम समझते हैं। हम लोग तो न्य का अर्थ रिक्त या खाली मानते हैं, जिसमें कोई चीज नहीं रहती। लेकिन, दर्शन यह शब्द उस अवस्था का संकेत करता है, जिसमें से सारी चीजें निकली हैं। गार्जुन का मत है कि हर चीज शून्य है। सत्य के दो रूप हैं, एक संवृति-सत्य और सरा परमार्थसत्य। संवृति-सत्य वह है, जो दिखायी पड़ता है, किन्तु, जो सत्य का सली रूप नहीं है। परमार्थ-सत्य वह है, जो दिखायी नहीं पड़ता है, किन्तु, जो सत्य असली रूप है। संवृति-सत्य दिखायी तो पड़ता है, मगर, उसका यह दिखायी पड़ना असत्य है। हम जो कुछ देखते हैं, वह शून्य है, स्वप्न है, कुछ नहीं में कुछ का थ्याभास है। तब भी, व्यवहार में हमें सत्य मान लेना पड़ता है। हर चीज शून्य यह सुनने में विचित्र चाहे जितना भी लगे, लेकिन, यही एकमात्र अन्तिम सत्य है।

इस सत्य पर विश्वास तभी होता है, जब मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त करता है। बुद्धि सत्य पकड़ा नहीं जा सकता। केवल अनुभव से ही हम उस नि:शब्दता को हैं, जो अस्ति और नास्ति के परे है।

अगर बुद्धत्व के स्थान पर हम आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान रखदें तो यह विलकु का मत हो जाता है। जो लोग शंकराचार्य पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्हें धर्म को नेस्तनावूद किया, वे सत्य के एक ही पक्ष पर जोर देते हैं। सच्ची है कि उपनिषद् और बौद्ध मत के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य ना किया और शंकर ने, अपने समय में आकर, इस समन्वय को शुद्ध वैदिक रूप शांकर मत का बौद्ध मत से इतना मेल है कि शंकराचार्य को लोग प्रच्छन्न बौद्ध लगे थे।

शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य और गोविन्दाचार्य के गुरु गौड़पादा गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर जो कारिका लिखी है, वह उपलब्ध कारिका को देखकर कई पंडितों ने यह मत बनाया है कि गौड़पादाचा के भक्त थे।[1] यह भी कहा जाता है कि तत्कालीन बौद्ध पंडितों से एक ही उनका मतभेद था। बौद्ध पंडित ज्ञान को अनित्य समझते थे और गौड़पाद नित्य संग्रहकार शांतरक्षित (सन् ७०५ से ७६२ ई०, सम्भवत: गौड़पाद के समकाली मत भी यही जान पड़ता है कि "अद्वैतवादियों के दर्शन में केवल यही दोष उनके विचार मे ज्ञान नित्य है। अन्य विषयों में उनके और बौद्धों के दर्शन भेद नहीं है।" (धर्मानन्द कोसम्वी)। गौड़पादाचार्य को अद्वैताचार्य भी क उनका कहना था कि "विवाद तो द्वैतवादी करते हैं। अद्वैत में सबका समन्व हमसे किसी का विवाद हो ही कैसे सकता है?" सच पूछिये तो हिन्दुत्व औ मत, तत्वत:, एक ही धर्म हैं और दोनों के बीच वही सम्बन्ध है, जो ईसाइयत के और नवीन टेस्टामेंटों में है। बौद्ध मत उसी धर्म का नवीन संस्करण है, जिसका आख्यान वैदिक धर्म है। सर हरिसिंह गौड़ ने एक बार गाँधीजी को यह सलाह कि अब हिन्दुत्व के उसी रूप का प्रचार किया जाना चाहिये, जिसका आख्यान बुद्ध ने किया है।

वैदिक मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत का क्या प्रभाव पड़ा, इसे समझने का सही दृष्टि है कि बौद्ध या जैन धर्म कोई विदेशी धर्म नहीं था, जो बाहर से इस देश में तथा जिसके साथ बहुत-सी ऐसी बातें इस देश में आयी हों, जो पहले यहाँ न

---

[1] ज्ञानेनाऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्ध: तं वन्दे द्विपदां वरम्। (माण्डूक्यकारिका, चतुर्थ प्र
अर्थात् ज्ञेय धर्मों से अभिन्न, आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश को जान लिया, उस द्विपदश्रेष्ठ सम्बुद्ध को मैं नमस्कार करता हूँ।

दोनों ही धर्म इसी देश में जनमे थे और दोनों का मूल उपनिषदों के चिन्तन में था। निषदों के भीतर ही उन अनेक अन्य दर्शनों के भी बीज थे, जो समय पाकर प्राचीन रत में विकसित होते गये। इसलिए, बौद्ध मत के प्रभाव की व्याख्या इस बात की ख्या है कि उस मत ने यहाँ की जनता का ध्यान वैदिक धर्म की किन-किन बातों ओर खास तौर से आकृष्ट किया और किन-किन बातों की उसने उपेक्षा या अव- ना की। आज बौद्ध धर्म इस देश में नहीं के बराबर रह गया है। मगर, तब भी के निशान वैदिक धर्म की उन बातों में मौजूद हैं, जो बुद्ध के पहले भी हिन्दू-धर्म थीं, मगर, उस समय उनपर कोई खास जोर नहीं दिया जाता था। बौद्ध धर्म ने हें, खास तौर से, जोर देकर ऊपर उठाया और पीछे हिन्दू-धर्म ने भी उन्हें प्रमुख न लिया।

वृत्ति का प्रचार

बौद्ध और जैन मत का हिन्दू-धर्म पर सबसे बड़ा प्रभाव निवृत्ति को प्रोत्साहन था। वृत्ति जीवन को निस्सार और दुःखपूर्ण मानने के भाव को कहते हैं। "जन्म लेना ही है, क्योंकि जन्म लेने से ही जीवन के कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसलिए, त यह है कि हम ऐसी कोशिश करें कि आगे हमारा जन्म ही नहीं हो।" यह बात उपनिषदों में ही जन्म ले चुकी थी और दार्शनिक दृष्टि से सोचने पर यह नक भी नहीं मालूम होती है। लेकिन, जब हम जिन्दगी में ऐसे उपदेशों पर अमल ने लगते हैं, तब संसार हमारे लिए घृणा की वस्तु बन जाता है। यह भी निश्चित है कि जो जाति जीवन से घृणा करती है, वह जीवन पर विजय नहीं पा सकती। तो जीवन से भागने में ही कल्याण सूझता है। बौद्ध और जैन मतों का भीषण व यह हुआ कि उन्होंने संसार से घृणा और वैराग्य सिखा-सिखा कर यहाँ के लोगों जीवन से विरक्त कर दिया, उनकी दृष्टि को अनामुष्मिक बना डाला यानी इन के प्रभाव के कारण, लोग इस जीवन से अधिक, मरने के बाद प्राप्त होने वाले न की बातों पर विचार करने लगे। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने ईसाइयत के बौद्ध मत पर भी निवृत्ति का प्रचारक होने का दोष मढ़ा है। पं० जवाहरलाल ने एक जगह इस सम्बन्ध में यह शंका उठायी है कि ऐसा क्यों हुआ कि भारत में बौद्ध मत से लोगों को निवृत्ति की प्रेरणा मिली, किन्तु, चीन या जापान में ऐसी बात नहीं हुई। फिर उन्होंने स्वयं ही इसका यह उत्तर दिया है कि हर देश में ताकत होती है कि वह बाहर से लिये हुए धर्म को अपने स्वभाव के अनुरूप बदल शायद, निवृत्तिवादी दृष्टिकोण भारत की अपनी ही विशेषता है। डॉक्टर राधा- न् ने भी एक जगह लिखा है कि पश्चिम जगत् के लोग तो जिन्दगी के भीतर घुस- आनन्द का रस पी रहे हैं, मगर, पूरब के लोग अन्धकार में जीवन का अर्थ ढूँढ़ने में त हैं। निवृत्ति भारत की विचारधारा में बहुत दिनों से वर्त्तमान रही है। अतः, देव और महावीर ने जब उस पर जोर डाला, तब भारत में तो निराशा और भी ी हो गयी, मगर, चीन और जापान, जो मूलतः, प्रवृत्तिवादी (अथवा भारत से कम

निवृत्तिवादी) थे, इसके जहर से बच गये। एक कारण यह भी समझा जाना कि चीन और जापान में बौद्ध धर्म का महायान रूप ही प्रचलित हुआ था, जो प्रधान हीनयान मत की अपेक्षा कहीं अधिक आशापूर्ण और उल्लासमय था।

आचार पर प्रभाव

भारत के विश्वास या दर्शन पर बौद्ध मत का कोई व्यापक प्रभाव नहीं है कहीं कोई बात मिलती भी है तो वह हिन्दू-धर्म के विकास की सीढ़ी-जैसी दो है। उपनिषद्, नागार्जुन का शून्यवाद और शंकर का अद्वैत, ये तो हिन्दू-ही विकास के सोपान हैं, और नागार्जुन यहाँ, मजे में, हिन्दू-चिन्तक के रूप में हैं। लेकिन, आचारों और रीति-रिवाजों में बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव है। णार्थ, अहिंसा की जो भावना हमारे देश में उतनी गाढ़ी होती गयी, उसका बौद्ध और जैन मत ही हैं। वैदिक आर्य खान-पान में मांस के प्रेमी थे, लेकि और जैन प्रभावों के कारण मांस खाना इस देश में निषिद्ध माना जाने लगा पान में जैन और वैष्णव एक तरह के लोग होते हैं। दोनों के भोजनों में पदार्थों का अभाव पाया जाता है और दोनों, बात-बात में, ऐसी पवित्रता और बरतते हैं, जिससे उनकी जीव-दया आप-से-आप प्रकट हो जाती है।

जाति-प्रथा को चुनौती

जाति-प्रथा को चुनौती देकर बुद्ध ने इस देश में एक महान् आन्दोलन का किया जो, प्रायः, गाँधी तक चलता आया है और आज भी चल रहा है। मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण जन्म लेने से पूज्य नहीं हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित होता है। उन नीचता जन्म पर नहीं, कर्म पर अवलम्बित हैं। इसलिए, ब्राह्मण भी सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा योग्य बना सकता है। इसी प्रकार यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया था और जब उपनिषद् बढ़े, तब ने उन्हें भी, ब्रह्म-विद्या का नाम देकर, शूद्रों और स्त्रियों की पहुँच से दिया। इसके विपरीत, बुद्धदेव ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का समान रूप से, दे दिया। यह ब्राह्मण धर्म के खिलाफ सबसे बड़ी बगावत बौद्धों का ब्राह्मणों ने जो भी विरोध किया, वह, मुख्यतः, उनके इसी कारण।

बौद्ध धर्म की एक बड़ी विशेषता यह रही कि उसने जाति-प्रथा के खिला हथियार कभी नहीं डाले। महायान के आरम्भ के समय से हम बौद्ध धर्म दिन बदल कर, हिन्दू-धर्म के समीप आते देखते हैं, लेकिन, सिद्धान्ततः, जाति उसने कभी भी अनुकरण नहीं किया। यही कारण है कि महायान बिगड़ मन्त्रयान और वज्रयान बनने लगा, तब भी जातिवाद के खिलाफ उसकी जारी ही रही। बौद्ध धर्म ने जातिवाद का जो डटकर विरोध किया, उसी काल में जाकर निर्गुण मत का प्रचार करनेवाले सन्तों को यह साहस हुआ

जाति-प्रथा को नहीं मानें। निर्गुनियाँ सन्त, बहुत-सी बातों में, बुद्ध के खानदान में पड़ते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्तिवादिता, उनका फक्कड़पन, उनका सभी जातियों को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मन्दिर में नहीं, मनुष्य के हृदय में है, ये सारी-की-सारी बातें बौद्ध धर्म की अच्छी, और फिर बाद की बिगड़ी हुई, परम्परा से निकली हैं। अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई नहीं हुआ होता। जाति-प्रथा को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और उनकी परम्परा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनियाँ सन्तों का मत फूल-फल सका। इस देश में विशाल मानवता का आन्दोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आन्दोलन बराबर चलता ही आ रहा है।

ध्यान देकर देखने से यह साफ़ मालूम होता है कि बुद्ध के समय से ही यहाँ दो तरह की विचारधाराएँ चलती आ रही हैं। एक वह, जो जातियों का भेद नहीं मानती और जो भारत के सभी मनुष्यों को एक समाज में बाँधना चाहती है; और दूसरी वह, जो वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन करके विभिन्न जातियों को अपनी-अपनी जगह पर कायम रखना चाहती है। पहली धारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा बाद के निर्गुनियाँ सन्त हैं तथा सिद्ध साधु, कबीर और दादू दयाल उसके कवि हैं। इसी तरह, दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए जिन्होंने, बार-बार बौद्ध-धर्म को दबाकर वर्णाश्रम-धर्म को ऊपर उठाने की कोशिश की और जो स्मृतियाँ रचकर जाति-प्रथा को और भी पुष्ट करते रहे। इसी धारा के मुख्य कवि विद्यापति (नैबन्धिक विद्यापति) और तुलसीदास हैं। वैष्णव मत में भी जहाँ कहीं यह विचार आता है कि, कम-से-कम भगवान के भक्तों में जातियों के भेद नहीं होते. वह बुद्ध की ही परम्परा का प्रभाव समझा जायगा।

सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना

हिन्दू-जाति कुछ आलसी और अपने ही घेरे में सन्तुष्ट रहनेवाली जाति रही है और इस आलस्य तथा सन्तोष का कारण यह नहीं है कि यहाँ की जलवायु में ही आलस्य भरनेवाला गुण है, बल्कि, यह कि जीवन के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि, यथेष्ट रूप से प्रवृत्तिमूलक नहीं रही। ‘‘जीवन कुछ नहीं है, संसार माया है, सुख वह नहीं है जो इस जीवन में मिलता है, बल्कि, वह जिसका स्वाद हम मरने के बाद चखेंगे,’’ घूम-फिर कर ये या ऐसी बातें यहाँ के सभी धर्मों में कही गयी हैं। नतीजा यह है कि हम जिन्दगी में हलचल और बेचैनी को पसन्द नहीं करते। कुछ तो भाग्य का भरोसा करके और कुछ इसी वैराग्य के कारण, हम थोड़े में ही सन्तोष कर लेते हैं। भारतीय जीवन एक समुद्र है जो अपने-आप में ही पूर्णता का अनुभव करता है। चौहद्दी से बाहर जाकर कुछ करने-धरने का जोश यहाँ के लोगों में कम रहा है। लेकिन, बौद्ध-धर्म जब देश के बाहर फैलने लगा, तब यहाँ के लोगों का विदेश के लोगों से सम्पर्क स्थापित हो गया और वे देश से बाहर जाकर भी बसने लगे। बाहरी दुनिया से भारत

का वाणिज्य का सम्बन्ध तो पहले भी था, किन्तु, उसकी प्रेरणा वाणिज्य तक सीमित रह गयी थी। सौदागरों के सिवा, ऐसे दूसरे लोग तब तक विदेश कम थे जो वाणिज्य छोड़कर किसी और बात में दिलचस्पी लेते। लेकिन, धर्मप्रचार द्वारा सांस्कृतिक सम्बन्धों का रास्ता खुला और भारत की संस्कृति भारत से कर बाहर फैलने लगी। हमारे उपनिवेश भी आर्थिक दृष्टि से नहीं बसाये गये जहाँ से धन ला-ला कर लोग अपनी मातृभूमि को सम्पन्न बनाते। बल्कि, वे से बाहर भारतीय संस्कृति के अड्डे थे, जहाँ पर लेन-देन का काम धर्म और तक ही सीमित था।

सिंहल, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया, तिब्बत, स्याम और बर्मा में भा संस्कृति का व्यापक प्रचार बौद्ध-मत के ही प्रचार से हुआ और वहाँ पायी जाने मूर्त्तियों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रीति-रिवाजों में भारतीय संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं, वे भी उसी युग के स्मारक हैं। और तो और, इन देशों ने अपनी लिपियों में देवनागरी की वर्णमाला (अ, आ, इ, ई, क, ख, ग, आदि) तक अपना लिया जो आज तक भी वहाँ चल रही है।

असल में, भारतीय संस्कृति का वह इतिहास पूरा नहीं समझा जाना जो सिर्फ भारत में मिलनेवाली सामग्रियों के आधार पर लिखा जाता है। भा पास के देशों और टापुओं में भी यहाँ की संस्कृति और सभ्यता के बहुत-से निश और सम्भव है, उनमें हमारा मौलिक रूप कुछ अधिक सचाई से झलकता हो।

श्री चमनलाल की "हिन्दू अमेरिका" नामक पुस्तक से यह प्रायः सिद्ध हो जा कि मैक्सिको में एक समय हिन्दू-सभ्यता का पूरा प्रसार था। यह भी खोज का है कि हमारी सभ्यता मैक्सिको कब पहुँची थी। मैक्सिको-सभ्यता का 'माया उसके भारतीय होने की ही गवाही देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

हिन्दू-धर्म पर बौद्ध-मत के प्रभावों की व्याख्या के सिलसिले में गीता की बस याद आ जाती है। विद्वानों का अनुमान है कि गीता उपनिषद् ही रही बाद को चलकर, बौद्ध-धर्म के प्रभावों को हिन्दू-धर्म में पचाकर गीता को किस वर्त्तमान रूप दे दिया है।[1] बौद्ध धर्म के प्रसंग में गीता के समझने का मार्ग यह उपनिषदों ने चिन्तनशील हिन्दुओं को यह बतलाया था कि यज्ञ सिर्फ नश्वर देनेवाले हैं, चाहे वे सुख इस लोक में मिलें या परलोक में। इसलिए, मनु चाहिये कि धर्म वह इन इनामों के लोभ में आकर नहीं करे, बल्कि इसलिए जन्म-बन्ध से छुटकारा पाना है। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म ने भी, अपने-अपने जनता को यही समझाया था। गीता में हम वैष्णव-धर्म का जो रूप देखते हैं बौद्ध और जैन-धर्मों के प्रभावों को अपने भीतर पचाये हुए है।

---

[1] विद्वद्वर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है कि यह बात प्रमाणित की जा है कि, अपने मूल रूप में, गीता बुद्ध से पहले की रचना है।

गीता की विशेषता यह है कि उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्त इस ग्रन्थ में माजिक जीवन पर लागू किये गये हैं। उपनिषदों ने वैराग्य को तो मुक्ति का साधन ना, किन्तु, शूद्रों को मुक्ति पाने का अधिकार नहीं दिया, क्योंकि वे वेद और उपनि- पढ़ नहीं सकते थे। बौद्ध और जैन-धर्मों ने निर्वाण या मुक्ति का वादा तो सबके ए किया, किन्तु उन्होंने भी एक शर्त लगा दी कि श्रमण या संन्यासी हुए बिना क्ति किसी को नहीं मिलेगी। गीता मुक्ति का दरवाजा सबके लिए खोलती है और भी कहती है कि गृहस्थी का काम करते हुए भी आदमी मोक्ष पा सकता है। ता गृहस्थों का उपनिषद् है।

एक दूसरी दृष्टि से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म बौद्ध एवं जैन ों के द्वारा किये जानेवाले प्रयोगों को ठीक उसी तरह सहानुभूति से देख रहा था, घर का बूढ़ा घर के नौजवान लड़कों के कामों को चाव से देखता हो, चाहे वे लड़के के कुछ खिलाफ ही क्यों न हों। और लड़कों को जब कोई कामयाबी मिल जाती तब घर का मालिक भी उसकी कीमत लगाने लगता है। यही नहीं, लड़के जब ती करते हैं, तब घर का मालिक उस गलती को सुधार भी देता है। इसी तरह, द्ध और जैन धर्मों के प्रयोग से जो बातें सच पायी गयीं या जिस बात की सचाई र भी साबित हो गयी, उस बात को हिन्दू-धर्म ने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारों के च स्थान दे दिया। साथ ही, एकाध ऐसी बात भी थी जिसका प्रयोग तो ये नये कर रहे थे, मगर, जिसे ठीक भाषा में वे कह नहीं पाते थे। गीता में हिन्दू-धर्म ऐसे सत्यों को भी उचित भाषा में व्यक्त कर दिया।

वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध और जैन, इन चारों मतवादों के बीच विचारों के जो र्ष हुए, उनसे, अन्त में जाकर, सत्य का एक अत्यन्त सुलझा हुआ रूप प्रकट हुआ। ही सत्य गीता का ज्ञान है और गीता में ही इन चारों मतवादों का समन्वय भी कता है।

गीता का ज्ञान-मार्ग सांख्य-मत के अनुसार है और बौद्ध तथा जैन मतों से उसकी समानता है, क्योंकि ये मत भी (जैन कुछ अधिक, बौद्ध कुछ कम) निर्वाण या कैवल्य लिए ज्ञान को आवश्यक बतलाते हैं। इस ज्ञान-मार्ग का पहला संकेत उपनिषदों किया था। बौद्ध और जैन धर्मों ने उसका वर्षों तक प्रयोग और प्रचार किया; और इस निखरे हुए सिद्धान्त को गीता ने अपने हृदय में स्थान दे दिया।

गीता का दूसरा प्रतिपाद्य मार्ग कर्म का मार्ग है। गीता से पहले वेदों के कर्म- ण्ड में कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था। उधर बौद्धों और जैनों ने कर्म का अर्थ त, अनुष्ठान, सदाचार, तपस्या और ध्यान बना लिया। फिर, जब गृहस्थों से यह हा गया कि उनकी मुक्ति संन्यास लिये बिना नहीं हो सकती, तब गृहस्थी के सारे र्म धार्मिक कर्म के घेरे के बाहर छूट गये। असल में, बौद्ध और जैन महात्मा जितना इस बात का प्रचार करते गये कि मोक्ष के लिए संन्यास लेना जरूरी है, उतना ही, माज में इस भाव का प्रचार होता गया कि धर्म का असली मार्ग कर्म-न्यास यानी

गृहस्थी के सभी कर्मों का त्याग है। इसी घबराहट से आजिज आकर बौद्धों यान-मार्ग के खुलने पर, यह मान लिया कि मुक्ति गृहस्थ रहने पर भी मिल है। लेकिन, असल में, जो बात कहना चाहते थे, उसके उपयुक्त भाषा उन्हें नहीं मिली थी। इसीलिए, हमारा विचार है कि कर्म की वास्तविक शिक्षा देने आचार्य असफल रहे थे। कर्म के क्षेत्र में उन्होंने जो भी प्रयोग किया, उसका घर के बूढ़े यानी हिन्दू-धर्म ने उठाया। क्योंकि यह खुलासा, अन्त में, गीता आकर हुआ कि कर्म-न्यास का अर्थ कर्म का त्याग (अथवा संन्यास) नहीं, बल्कि के फलों में होनेवाली आसक्ति का त्याग है। यह भी ध्यान देने की बात है कि के कर्मकाण्ड में केवल संन्यासी ही नहीं, गृहस्थों के भी कर्म शामिल हैं। यहाँ उससे युद्ध भी बाहर नहीं है, अगर वह न्याय के लिए लड़ा जाय और लड़नेवाला कर्त्तव्य माने, वासना की वृद्धि का साधन नहीं।

गीता का भक्ति-मार्ग ही एक ऐसी वस्तु, है, जिसका बौद्ध धर्म से कोई नहीं मालूम होता। भक्ति के बीज आर्यों के आगमन से पूर्व, इस देश में मौजूद बात ऊपर कही जा चुकी है। उपनिषदों में ये बीज, जहाँ-तहाँ, अंकुरित होने गीता में हम इस भक्ति का पुष्पित और पल्लवित रूप देखते हैं। भक्ति ने ठीक समय पर आकर आकार क्यों लिया, इसका कारण यह है कि जिस वस्तु अभाव होता है, उसकी कामना लोगों को और जोर से होने लगती है। चूँकि ने भक्ति के सभी दरवाजे बन्द कर दिये थे, इसलिए, वह वैदिक धर्म के हृदय से बढ़ने लगी। मालूम होता है, जब गीता में प्रतिपादित भक्ति समाज आकृष्ट करने लगी, तभी बौद्ध धर्म ने महायान के भीतर से बढ़कर उसे कर लिया।

उपनिषद् वेद से निकले थे और गीता उपनिषदों से। लेकिन, इस बीच हिंसा के खिलाफ देश में जो आन्दोलन चलते रहे, उनका प्रभाव गीता पर हुआ गीता में देवता की प्रसन्नता के लिए जीव-हिंसा करने का उपदेश नहीं है, बल्कि तो भगवान का पूजन पुष्प और पत्र से करने को कहती है। वैष्णव धर्म में जो की जो मनाही है वह भी , अधिकांश में बौद्ध और जैन धर्मों की देन है।

गीता हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। गीता की रचना के बाद हिन्दू धर्म भी व्याख्याता और सुधारक भारत में जनमे, उन्होंने अपनी पक्षसिद्धि के लिए की व्याख्या अवश्य लिखी अथवा गीता को अवश्य उद्धृत किया। यहाँ तक कि सक्ति-योग के नाम से गीता की एक व्याख्या गाँधीजी ने भी लिखी है। वेदों उपनिषदों की विचारधारा स्फटिक के समान उज्ज्वल होकर गीता में प्रकट हुई आश्चर्य नहीं कि हिन्दू-मात्र गीता को धर्म का अन्तिम आख्यान मानते हैं।

मौर्योत्तर हिन्दू-जागरण

बौद्ध काल और ब्राह्मण-काल का भेद इतिहासकार करते तो हैं, किन्तु, यह जन ठीक है या नहीं, यह सन्दिग्ध विषय है। अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्र

ड़ा किन्तु, उस समय हिन्दुत्व लुप्तप्राय था, यह नहीं समझना चाहिये। वस्तुतः, अशोक भी धर्मों के त्राता थे और उनके समय में भी, ब्राह्मण-धर्म पूर्ण रूप से जीवित था था, नयी आवश्यकताओं के अनुसार, वह अपना सुधार भी कर रहा था। बुद्धदेव ौर उनके अनुयायियों ने वैदिक धर्म को झकझोर कर उसकी जड़ता तोड़ डाली थी ौर बौद्ध-क्रान्ति की जो शिक्षाएँ अत्यावश्यक दीख पड़ीं, उन्हें ग्रहण करके वैदिक धर्म क बार फिर नवीन हो रहा था।

वैदिक धर्म के इस संशोधित और नवीन रूप का समय गुप्त-काल माना जाता है, किन्तु, वस्तुतः, इसका आरम्भ ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से ही माना जाना चाहिये। सल में, इस प्रक्रिया के प्रमाण मौर्य-वंश के पतन (ई०पू० १८०) के बाद ही दिखायी ड़ने लगे थे। अतएव, यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि वैदिक धर्म का जो रूप हम गुप्त-काल में देखते हैं, उसकी तैयारी ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के तीन सौ र्ष बाद तक की पाँच सदियों में हुई थी। किन्तु, इस काल को इतिहास में प्रमुखता हीं दी जाती, जिसका मुख्य कारण यह है कि उस समय देश में कोई सबल केन्द्रीय त्ता नहीं थी। उत्तरी और पश्चिमी भारत में, उन दिनों, शुङ्ग, कण्व, यूनानी, शक ौर कुषाण राजे राज कर रहे थे तथा आन्ध्र में सातवाहनों का राज्य था। हिन्दुत्व की एक विशेषता यह भी है कि जब-जब भारत में विदेशी नस्लों और संस्कृतियों के लोग आ बसते हैं, तब-तब, उसके भीतर से प्रगति का ज्वार उठने लगता है। यूनानी, शक और कुषाण लोग विदेशी थे, किन्तु, भारत आकर या तो वे हिन्दू हो गये थे अथवा बौद्ध। उनके साथ आनेवाली नयी भावनाओं ने बुद्ध से आन्दोलित ब्राह्मणत्व को और भी आन्दोलित कर दिया एवं वैदिक धर्म किसी महाजागरण के आवेश में आकर अपने भीतर नवीनता और ताजगी भरने लगा। कनिष्क के समय बौद्ध धर्म के भीतर से महायान-सम्प्रदाय का प्रकट होना ही यह बतलाता है कि मौर्यों के पतन के बाद भारतीय समाज पर ब्राह्मणत्व का रोब छा गया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक धर्म का विरोधी बौद्ध मत भी हिन्दू-लिबास पहनने को बाध्य हो गया।

मौर्यों के पतन से लेकर गुप्तों के उत्थान तक का समय हिन्दुत्व के इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काल गिना जाना चाहिये। सच पूछिये तो यही वह काल है जब आर्य बदल कर हिन्दू तथा वैदिक धर्म परिवर्त्तित अथवा परिपक्व होकर हिन्दुत्व हो जाता है। यही वह काल है जब रामायण और महाभारत का अन्तिम संस्करण बनता है, जब स्मृतियाँ लिखी जाती हैं, पिछले उपनिषदों का निर्माण होता है, आरम्भ के पुराण रचे जाते हैं, और दर्शन की अनेक शाखाओं का विकास होता है। हिन्दुत्व के रससिद्ध कवि कालिदास को लोग, व्यर्थ ही, चौथी सदी में रखते हैं। बहुत सम्भव है कि वे ईसा से कुछ पूर्व, विक्रमाब्द के आरम्भ में ही, हुए हों। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्यों ने आर्येतर संस्कृतियों को अपनी संस्कृति में पचाने का जो अभियान आरम्भ किया था, वह इसी काल में आकर पूरा हुआ एवं जिस गुह्य ज्ञान को

ब्राह्मण उतने दिनों से जनता से छिपाये हुए थे, वह महाकाव्यों और पुराणों के इसी काल में जन-साधारण के लिए सुलभ हो गया।

बौद्ध क्रान्ति से हिन्दुत्व ने दो प्रकार की शिक्षाएँ लीं। एक तो यह कि धर्म अच्छा है जो जनता की समझ में आये, जिसमें जनता से कोई बात छिपा कर नहीं जाय और जो जनता में उत्साह जगा सके। और दूसरी यह कि संसार-त्याग की पर अवलम्बित रहनेवाले धर्म को, अन्त में, अपने आपको बचाना भी कठिन हो है। बौद्ध धर्म की सफलता और असफलता से हिन्दुत्व ने जो प्रेरणा ली, वह सब सब रामायण और महाभारत में संचित है। इन दो महाकाव्यों की कथाएँ जनता बहुत दिनों से प्रचलित रही थीं और ये कथाएँ केवल आर्यों में ही नहीं, आर्येतर स में भी चालू थीं। ये दोनों काव्य भी बहुत दिनों से बनते आ रहे थे। किन्तु, उनकी पूर्णता और परिपाक का समय आ गया था। पूर्णता पर पहुँचते-पहुँचते, काव्यों ने लोक-कथाओं का ऐसा विलक्षण उपयोग किया कि उनसे देश में धा जागृति की लहर आ गयी और धर्म के जो रहस्य अब तक मंत्रों और अनुष्ठानों सुरक्षित गढ़ों में प्रच्छन्न थे, वे चरित्रों, घटना-वर्णनों और संवादों में मूर्तिमान हो हिन्दुत्व ने अब तक जो कुछ भी सोचा-समझा था, जितनी भी साधना और तपस्या थी, जिस किसी ऊँचाई या गहराई में पहुँचा था, उसका सारा भाग इन काव्यों में, रूपों में, प्रत्यक्ष होकर खिल उठा। तब से हिन्दुत्व के रक्षक वेद और उपनिषद् रामायण और महाभारत अधिक रहे हैं, एवं जिस किसी ने भी उपनिषद् नहीं किन्तु, रामायण और महाभारत को पढ़ा, या सुना है, वह हिन्दुत्व के सम्बन्ध में त भी अज्ञान नहीं गिना जाता है। वेदों और उपनिषदों के तो हिन्दू जनता केवल ही सुनती है; धर्म उसका वह है जो रामायण और महाभारत में लिखा हुआ वेदों और उपनिषदों के भी ज्ञान के सच्चे उद्धारक वाल्मीकि और व्यास हुए एवं भा में जो भी गौरव है, उसे इन्हीं दो आर्ष महाकवियों ने मूर्त्त रूप दिया।

भारत की एकता की सेवा भी, सबसे अधिक, इन्हीं दो महाकाव्यों ने लंका, पम्पापुर और अयोध्या, देश के इन तीन भूभागों की कथाओं को एक ही राष्ट् महाकाव्य में गूँथकर वाल्मीकि ने भारत की सांस्कृतिक ही नहीं, भौगोलिक एकता भी अक्षय तत्त्व बना दिया। इसी प्रकार, महाभारतकार ने भी देश के विभिन्न भा में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर इस प्र गुम्फित कर दिया कि महाभारत सारे देश की जनता का कण्ठहार हो गया। आश्चर्य नहीं कि कालिदास से लेकर आज तक के सभी भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत की कथाओं पर काव्य-रचना करते रहे हैं। सारे देश साहित्य आज भी रामायण और महाभारत का क्षीर-पान कर बलिष्ठ हो रहा जिससे आप-से-आप यह सत्य ध्वनित हो उठता है कि भारत की विचारधारा एक भारत की मानसिकता एक है एवं भारत की एक ही संस्कृति है, जिसकी सेवा वि भाषाओं में की जा रही है।

जिस सिद्धान्त पर आर्येतर देवता शिव आर्य-वृत्त में लाये गये थे, उस सिद्धान्त की सीमाएँ इस काल में और भी विस्तृत कर दी गयीं और भारत की विभिन्न जातियों (जिनमें विदेशी जातियाँ भी सम्मिलित हैं) में जो भी देवी-देवता थे, वे, सब-के-सब, हिन्दू-वृत्त में गृहीत हो गये। यह भारतीय संस्कृति के हित में बहुत बड़ा काम हुआ, क्योंकि जो विदेशी जातियाँ हिन्दू बनी थीं उन्हें यह सोचने का अवसर ही नहीं रहा कि वे किसी अपर धर्म में आयी हैं। कृष्ण का गोपाल और रसिक रूप, कदाचित्, इसी समय प्रचलित हुआ और, सम्भव है, राधा की कल्पना भी कृष्ण-कथा के आसपास इसी समय से मँडलाने लगी हो, यद्यपि, कृष्णचरित्र के साथ उसका लिखित गुम्फन बहुत बाद को हुआ। कार्त्तिकेय और गणेश इसी काल में हिन्दू देवता के पद पर आये। राम और कृष्ण इसी काल से अवतार के रूप में प्रसिद्ध हुए और इसी काल से दुर्गा शिव की शक्ति मानी जाने लगीं। राम, कृष्ण, शिव और पार्वती, हिन्दू-धर्म के ये चार देवता तभी से पूजित चले आ रहे हैं। जिस प्रकार, शिव आर्येतर देवता हैं और उनके व्यक्तित्व में उनके समान अनेक आर्येतर देवताओं का व्यक्तित्व पचा हुआ है, उसी प्रकार, आज की शक्ति-पूजा भी उस प्रकार की अनेक आर्येतर पूजाओं का आर्यीकृत रूप है।

बौद्ध मत गार्हस्थ्य से संन्यास को बहुत अधिक महत्त्व देता था, अतएव, धर्म के विषय में जिन्हें भी उत्साह होता, वे युवक होने पर भी, संन्यासी हो जाते थे। इससे समाज की प्रत्यक्ष हानि हो रही थी। अतएव, हिन्दुत्व ने इस काल में पुरुषार्थ के चार सोपान बनाये एवं उन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से विख्यात किया। धर्म तो सबके लिए आवश्यक बताया गया, किन्तु, मोक्ष-साधना के लिए वह उम्र बतायी गयी, जब मनुष्य गृहस्थ-धर्म का पालन कर चुकता है, जब वह पितृ, ऋषि और देव ऋणों से मुक्त हो जाता है।[1] निवृत्ति या संन्यास का हिन्दुत्व ने खण्डन नहीं किया, प्रत्युत, उसने यह बताया कि, अनुपाततः, निवृत्ति का स्थान जीवन में एक चौथाई होना चाहिये, अर्थात् मनुष्य की पूरी शक्ति का तीन अंश धर्म, अर्थ और काम के सेवन में लगाना चाहिये, बाकी एक अंश वह संन्यास को दे सकता है। हिन्दुत्व निवृत्ति की बुराइयों से चौंका हुआ था और वह इसे किसी भी प्रकार सीमा से आगे बढ़ने देना नहीं चाहता था। इसलिए, शास्त्रों में हम अर्थ, धर्म और काम पर ही अधिक जोर देखते हैं, जिनका सम्मिलित बोध 'त्रिवर्ग' शब्द से होता है। समझा यह जाता था कि पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए संन्यास आवश्यक नहीं है, क्योंकि अर्थ और काम को धर्म के साथ भोगना ही सच्चा संन्यास है और इस त्रिवर्ग की साधना का स्वाभाविक परिणाम मोक्ष होता है। जाग्रत हिन्दुत्व ने जिस सत्य को ग्रहण किया था, उसका ध्येय निवृत्ति

---

[1] पिता जन्म देता है, इसलिए, पितृ-ऋण से मुक्ति तब होती है, जब मनुष्य सन्तान उत्पन्न करता है। ऋषि ज्ञान देते हैं, जिससे उऋण होने का मार्ग है समाज में विद्या और संस्कृति को प्रोत्साहन देना। एवं देवता विश्व की रक्षा करते हैं, अतएव, उनका ऋण चुकाने का उपाय है सार्वजनिक सेवा कार्य, जिसका ध्येय समाज में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना है।

नहीं, प्रवृत्ति थी और प्रवृत्ति को धर्माचार्य चारों ओर से पुष्ट कर रहे थे। यह गीता में सबसे अधिक सफल हुआ है।

उपनिषदों ने जो परम्परा चलायी थी, वह निर्वैयक्तिक, निराकार ब्रह्म की पर थी। जैन और बौद्ध आचार्यों ने जनता से वह कल्पना भी छीन ली और शून् ध्यान करने को वे मनुष्य का परम धर्म बताने लगे। अतएव, जाग्रत हिन्दुत्व ने नये साहस का परिचय दिया एवं उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की निर्वैयक्तिकतावाले को पीछे छोड़कर वह उन अंशों को आगे लाने लगे, जिनमें ब्रह्म की साकारता आख्यान था, जिनमें यह कहा गया था कि सृष्टि ब्रह्म की रचना है और ब्रह्म भी किया जा सकता है, उसकी प्रार्थना भी की जा सकती है। यह परम्परा गी भली-भाँति प्रतिपादित हो चुकी थी। अब वह काव्य और लोकप्रिय दर्शन के जनता में बिखेरी जाने लगी। यहीं से ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक त्रिमूर्ति कल्पना चली। एक ही ईश्वर के तीन रूप, एक रचयिता का, एक पालक का और संहारक का। वैदिक आर्यों ने प्रकृति के रमणीय रूपों पर से विष्णु और भयानक पर से रुद्र की कल्पना निकाली थी। साथ ही, वे प्रजापति को भी पूजते थे। ये कल्पनाएँ देश भर की जनता के संस्कारों को साथ लेती हुई, अन्त में, त्रिमूर्ति कल्पना में समाविष्ट हो गयीं। यह हिन्दुत्व की सामासिकता का प्रोज्ज्वल प्रमाण

वैदिक धर्म से इस काल के हिन्दुत्व का जो भेद है, उसे एक लेखक ने यह क प्रकट किया कि वैदिक आर्य यज्ञवेदी को पूजते थे, किन्तु, इस काल के हिन्दू (ज शुद्ध आर्य नहीं थे) यज्ञवेदी के स्थान पर मन्दिर को ले आये। जो उत्साह, पहले के लिए था, वह अब प्रतिमा-पूजन के लिए दिखायी देने लगा और जो उत्साह प्रतिमा-पूजन में रहा होगा, वह अब यज्ञों के लिए शेष रह गया। आर्यों और द्र की पूजाओं में भिन्नता थी। आर्य हवन करते थे, निराकार की समाधि करते थे, द्रविड़ों की पद्धति जैनधर्म की पद्धति थी, उसमें पत्र-पुष्प-चन्दन के साथ स्तुति-पाठ जनरुचि के अनुकूल अनुष्ठान होते थे। इस काल में आकर ये दोनों पूजा-पद्ध एक हो गयीं। वरन्, यह कहना चाहिये कि द्राविड़ पद्धति ने आर्य पद्धति को दिया और हवन से कहीं अधिक प्रचार पूजा का हो गया। यज्ञ और हवन, एक से उन्हीं के बीच चलते रहे जो स्मार्त हिन्दू थे।

हिन्दुत्व की स्थापना तो बुद्ध से पूर्व अवश्य हो चुकी थी, किन्तु, उसकी शाखाओं का तब तक पूरा विकास नहीं हुआ था। इसके लिए विभिन्न जातियों के सं को आत्मसात् करना आवश्यक था, जिसकी प्रक्रिया सदियों से चली आ रही थी। काल तक (चौथी सदी) आते-आते, हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया और उसके वे अंग पुष्ट हो गये, जिन्हें हम आज देखते हैं। निराकार के पार्श्व में साकार की उपा निर्वैयक्तिक के साथ-साथ वैयक्तिक ब्रह्म का ध्यान, त्रिमूर्ति ईश्वर, दुर्गा, गणेश दशावतार, वेद की प्रामाणिकता में विश्वास, निष्काम कर्म की महत्ता, जन्मान् और कर्मफलवाद, वर्णाश्रम और त्रिवर्ग, वैष्णव, शैव और शाक्त उपासना की वि

न्दिर और मूर्त्ति, तीर्थ और श्राद्ध, ज्ञान, भक्ति और कर्म के त्रिमार्ग, हिन्दुत्व के जो मुख्य अंग हैं, उसके जो भी प्रधान लक्षण और विशेषताएँ हैं, वे गुप्त-काल तक कर तैयार हो गयीं। इसके बाद, हिन्दुत्व के निर्माण में कोई नयी ईंट नहीं लगी। भी आन्दोलन उठे, धूल झाड़ने को उठे ; जो भी धर्माचार्य आये, पपड़ियाँ तोड़ने आये। तब से हिन्दुत्व, धूप और छाया में चलता हुआ, अपने मूल रूप में कभी भी बदला, यानी कहीं से भी उसने कोई बड़ा उपकरण नहीं लिया है।

जातियाँ जब जगती हैं, तब उनका भौगोलिक विस्तार भी होता है। मौर्योत्तर ल के जाग्रत भारतीय समाज में ऐसे विस्तार की भी कामना जगी, और इसी काल मलाया, जावा, सुमात्रा, वोर्नियो और हिन्द-चीन में भारतीय संस्कृति का प्रचार एवं भारतवासियों ने वहाँ अपने राज्य कायम किये। ये राज्य तब तक चलते जब तक मुस्लिम-काल के भारतीय मुसलमानों ने इन देशों में अपने धर्म का ार नहीं किया। वाली-द्वीप में हिन्दू-राज्य की परम्परा अभी हाल तक कायम थी। लैंड वालों ने जब इस द्वीप पर अपना अधिकार जमाया, तब वहाँ के हिन्दू राजाओं डचों की अधीनता मानने से इनकार कर दिया और सन् १९०८ ई० में वे, सच्चे जपूत के समान, लड़ते-लड़ते सागर में वलिदान हो गये। ☐☐☐

प्रकरण ५

प्राचीन भारत और बाह्य विश्व

पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि भारत में चिन्तन, खोज, अनु और बौद्धिक उन्नति की प्रक्रिया, प्रायः, ईसाकी छठीं शताब्दी तक चलती इसके बाद उसका अवरोध हो गया और तब से लेकर उन्नीसवीं सदी के तक, इस देश ने बुद्धि के क्षेत्र में कोई भी बड़ा काम नहीं किया। छठीं शताब्दी उन्नीसवीं शताब्दी तक का, प्रायः, बारह सौ वर्ष का समय इस देश ने व्यर्थ इस काल में हम गणित और विज्ञान की दिशा में कोई भी नयी बात नहीं सो और, अगर शंकराचार्य को बाद दे दें तो, दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में काल में हमने कोई नया अनुसन्धान नहीं किया। कुछ काम आयुर्वेद के क्षेत्र में हुए, मगर, वे भी युगप्रवर्त्तक नहीं थे। हाँ, इन बारह सौ वर्षों में यहाँ के पं काव्य-शास्त्र पर खूब चिन्तन किया और शब्दों की शक्ति का पता लगाने में वे के और देशों से कहीं आगे निकल गए। ईलियट ने लिखा है कि जब आलोचना तब रचना का ह्रास होता हैं। यह बात भारत पर भी लागू होती है, क्योंकि (छठीं शताब्दी) से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक, इस देश में संस्कृत में जो भी रचना की गयी, वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि तक नहीं पहुँच सकी। उस में, हम अपने जातीय जीवन का स्पन्दन नहीं पाते। वह पच्चीकारी के सौन्दर्य से भरा हुआ जरूर है, लेकिन, उसमें जीवन को आलोड़ित करने की शक्ति का पूरा है। मध्यकालीन हिन्दी तथा अन्य देश-भाषाओं के भक्ति-साहित्य में नवीनता और जरूर है, क्योंकि, वह सर्वथा नूतन प्रयोग था ; मगर, बाकी तो, देश-भाषाओं (विशेषतः हिन्दी में) नीति के नाम पर संस्कृत का अनुकरण ही मिलता है। जब का हृदय-सरोवर सूख जाता है, वह रचना को छोड़कर आलोचना में जा फँसती है नयी सूझें नहीं मिलतीं, तब कवि और कलाकार पुरानी चीजों पर ही पच्चीकारी नक्काशी में चमत्कार दिखाने लगते हैं। अगर साहित्य जाति के भीतरी जीवन का बिम्ब है, तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सातवीं सदी से अठारहवीं का भारत निर्जीव देश था, उसमें परम्परा से आगे बढ़कर सोचने की शक्ति नहीं थी और, धर्म के मामले में भी, वह बाहरी आडम्बरों तक ही देख सकता था। हजार वर्षों के इस निश्चित काल में अगर भारत की सनातन आत्मा कहीं कुछ सकी तो वह सन्तों के साहित्य में। जब हिन्दू-राज्य-सत्ता बिखर गयी, पंडितों की फूट गयीं और पुरोहित धर्म के दलाल मात्र रह गये, तब हमारे धर्म और साहित्य

---

१. "लगभग ८०० ई० का काश्मीरी दार्शनिक जयन्त भट्ट सीधे शब्दों में कहता हम में नयी वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहाँ है।" —(इतिहास प्रवे

ने सन्तों की शरण पकड़ी और वहीं वे, अपने ढंग पर, पलते और पुष्ट होते रहे। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत और कालिदास के बाद उतने उजागर नाम शंकर, रामानुंज, वल्लभाचार्य, रामानन्द, कबीर, सूरदास और तुलसीदास के ही मिलते हैं।

मगर, यह केवल भारत का ही हाल नहीं था। इस काल में भारत से बाहर भी हीं कोई बड़ा चिन्तन नहीं हुआ। असल में, छठी शताब्दी तक जो कुछ भारत में सोचा ा चुका था, वही ज्ञान विश्व भर की पूँजी हुआ और इस काल में, भारत का चिन्तन जन-जिन देशों में पहुँचा, उन-उन देशों में जिन्दगी की एक नयी लहर दौड़ गयी। खुद रोप में भी वैज्ञानिकता का आरम्भ सोलहवीं सदी में हुआ और अगर यह कहें कि रोप में रिनासाँ (बौद्धिक जागरण) का आरम्भ चौदहवीं सदी में होता है, तो भी इस नुमान के लिए आधार रह जाता है कि अरबों ने भारत से जो कुछ लिया था, यूरोप रिनासाँ के पीछे उस ज्ञान का भी हाथ था।

ाहरी दुनिया से सम्पर्क

अभी हाल तक हिन्दू-समाज में यह अन्धविश्वास जारी था कि विदेश जाना पाप , बल्कि, अब भी गाँवों में ऐसे लोग मौजूद हैं जो समुद्र पार जानेवाले हिन्दू को तित समझते हैं। किन्तु, अत्यन्त प्राचीन काल में समुद्र-यात्रा पाप नहीं समझी ाती थी।

सिन्धु-सभ्यता वालों का सुमेर और बेबिलोन से निकट का सम्पर्क था, यह बात अब ी विद्वान् मानते हैं। जब आर्य इस देश में आये, तब ईरान से उनका सम्पर्क बना ा। सच पूछिये तो ईरानियों और वैदिक आर्यों के बीच सीमा-विभाजन-जैसी कोई त नहीं थी। आर्यों के उपनिवेश मेसोपोटामिया तक फैले हुए थे। उधर, ईरान की रफ के मित्तनी और हित्ताइत राजे वैदिक देवताओं की प्रार्थना करते थे। जब बुद्धदेव आविर्भाव हुआ, तब उनका धर्म पश्चिमी एशिया में भी प्रचलित हुआ। कहते हैं, ा मसीह ने जिस भू-भाग में अपना धर्मोपदेश किया, वहाँ ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही, द्ध धर्म का अमृत बरस चुका था। बौद्ध एवं ईसाई धर्मों के बीच हम जो समानता ते हैं उसका यही कारण है। बौद्ध मत के प्रभाव के कारण ईसाइयत का उदय ा, इस बात को रोमन चर्च के अनुयायी मानते हैं, बल्कि, सेण्ट बोसाफेत के नाम से द्ध को भी ईसाई सन्तों में ही गिन लेते हैं।

सिन्धु के मुहाने और ईरान की खाड़ी होकर भारत से यूरोप के बीच वाणिज्य-पार को लेकर बड़ा ही गहरा सम्पर्क था। उन दिनों, हाथीदाँत, वस्त्र, बन्दर, र मयूर इस देश के प्रधान निर्यात थे। ई०पू० ९७५ में राजा सॉलोमन ने अपने महल को सजाने के लिए भारत से बहुत-सी चीजें मँगवायीं थीं, इसका प्रमाण लता है। यूनान से भारत का सम्पर्क सिकन्दर के जमाने से ही नहीं, उसके बहुत से था। और दोनों देशों में दोनों देशों की भाषाओं के जानकार भी मौजूद थे। ग्रीस यूनान नाम, असल में, उसके एक नगर आयोनिया के नाम पर चला था और

आयोनिया से ही अरबों ने यूनान और भारतीयों ने यवन शब्द बना लिये।[1]

पाणिनि (ई०पू० सातवीं या छठी सदी) में यवनानी लिपि का उल्लेख है, यह अनुमान होता है कि उससे बहुत पूर्व, भारत और यूनान का सम्पर्क हो चुका इस काल में भारत और यूनान के सम्बन्ध की कड़ी फारस (संस्कृत नाम पारस) ईरान था। कहते हैं, ई०पू० ४८० में यूनान पर होनेवाले ईरानी आक्रमण में भा भी योद्धा शामिल थे और उस समय बहुत-से यूनानी लोग भी ईरानी साम्रा अफसर थे तथा उनमें से कितने ही भारत में भी नियुक्त थे।

ईरान के जरिये भारत के साथ होनेवाले इस गहरे सम्बन्ध का प्रभाव यून दर्शन पर पड़ा। यूनानी दर्शन का जनक थेल्स समझा जाता है। मगर, इस दर्श असली नींव जेनोफेन, परमेनिडिज और जीनो ने डाली थी और इन दार्शनिकों के में हम प्रकृति में छिपे हुए किसी एक परम तत्त्व की खोज को बहुत स्पष्ट पाते हैं बहुत-कुछ आर्यों के ही सर्वात्मवाद के समान है।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक पिथेगोरस का जन्म ई०पू० ५८० में हुआ था। चरित-लेखक ने लिखा है कि पिथेगोरस ने मिस्र और असीरिया जाने के अलावा, की भी संगति की थी। पिथेगोरस पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता था अनुमान यह है कि जन्मान्तरवाद की शिक्षा उसने हिन्दुओं से ली थी। पिथेगो यूनान को धर्म, दर्शन और गणित के सम्बन्ध में जो भी ज्ञान दिया, वह सब भारत में छठी शताब्दी के पहले ही विकसित हो चुका था। यह भी ध्यान देने है कि पिथेगोरस, महावीर और बुद्ध (जिनका वह समकालीन भी था) के स जीव-हिंसा का विरोध करता था। पिथेगोरस और इम्पेडोकल्स, दोनों ने दावा कि कि अपने पुनर्जन्म की बातें उन्हें याद हैं, जो भारत में बौद्ध साधकों का लक्षण जाता था। आगे चलकर, अफलातून ने इस पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ कर्म सिद्धान्त को मिलाकर यूनान के लिए एक नवीन दर्शन की रचना की जो भारतीय था। यही नहीं, अफलातून की 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक से यह भी होता है कि वह मानता था कि कर्मानुसार मनुष्य की आत्मा पशु-योनि में और आत्मा मनुष्य-योनि में जा सकती है। अफलातून के वार्तालाप में जो यह कल्प गयी है कि पृथ्वी परमात्मा का शरीर, स्वर्ग मस्तक, सूर्य और चन्द्रमा आँ आकाश मन है, वह भी उपनिषदों की विराट् की कल्पना से प्रभावित दीखती है

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से भारतवर्ष में मनुष्यों का जो वि हुआ, उसकी प्रतिध्वनि भी अफलातून की रिपब्लिक में सुनायी देती है, जहाँ समाज को तीन भागों (1. Guardians 2. Auxiliaries और 3. Craftsm

---

[1] यवन नाम पहले यूनानियों के लिए चलता था और उसका कोई बुरा अ था। पीछे चलकर, इसका प्रयोग सभी विदेशियों के लिए किया जाने ल उसका अर्थ भी बुरा हो गया।

बाँटने की बात कही है। यह भी आश्चर्य की बात है कि जैसे भारत में ये चार वर्ण ब्रह्मा के चार अंगों से उत्पन्न बताये गये हैं, वैसे ही, सुकरात भी उन्हें परम-पुरुष से उत्पन्न बताता है। प्लाटिनस ने ईश्वर का वर्णन 'नेति-नेति' कहकर किया है जो फिर, उपनिषदों के नेतिवाद से प्रभावित दीखता है।

सिकन्दर के भारत-आगमन के बाद भारत और यूनान के बीच का सम्बन्ध और ी गहरा हो गया। सीरिया में यूनानी दरबार था जहाँ से राजदूत भारत को आते ही हते थे। मेगस्थनीज पाटलिपुत्र कई बार आया था। उसके बाद, पाटलिपुत्र में ीरिया का राजदूत डैमेक्म नियुक्त हुआ। बिन्दुसार ने राजा एण्टियोकस प्रथम से राब मँगवायी थी, यह कथा भी मिलती है। अशोक ने अपने पड़ोसी राजाओं को ौद्ध बनाने का मनसूबा बाँधा था और उसके प्रचारक एशियाई देशों में जाने के सिवा सिडोनिया भी पहुँचे थे।

मौर्य-साम्राज्य के टूटने के बाद, बैक्ट्रियन यूनानियों का राज्य पंजाब तक आ हुँचा और स्यालकोट (सागल) के राजा मिनेंडर ने बौद्ध धर्म कबूल कर लिया, यह ात मिलिन्द-प्रश्न से प्रत्यक्ष है।

ईसा की पहली सदी में यूनानियों का राज्य युची या कुशान जाति के हाथों में आ हा। कनिष्क इसी जाति का राजा था जो बौद्ध हो गया था। कनिष्क के राज्यकाल ही बुद्ध की पहली मूर्त्ति बनी। कहते हैं, कनिष्क के मूर्त्तिकार भारत, यूनान, ईरान र चीन, सभी देशों से आये थे और उसके समय में गान्धार-कला का जो विकास ा, उसमें इन सभी देशों के कलाकारों का हाथ था।

कुशान राजाओं के समय रोम का साम्राज्य फुरात नदी के किनारे तक फैला हुआ , अतएव, भारत के राजाओं से रोम का निकट का सम्बन्ध था। भारत के राजाओं दूत रोम के दरबार में जाते ही रहते थे, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

दक्षिण भारत में उपजनेवाली कुछ चीजों की, रोम के बाजारों में, अच्छी खपत । इसलिए, मालाबार से लेकर रोम तक का समुद्री रास्ता दोनों देशों के लिए आम गया था। ईसा की पहली सदी में, यूरोप और भारत के बीच, स्थल की राह तनी छोटी थी, सन् १८३८ ई० के पूर्व तक (जबकि नवीन स्थल-मार्ग निर्धारित ा गया) वह उतनी छोटी कभी नहीं हो पायी थी। कहते हैं, पहली सदी में भारत के इटली तक सिर्फ सोलह सप्ताहों में पहुँच जाते थे। तमिल की एक पुरानी कविता यवन-देश से आनेवाले जहाजों का उल्लेख है। ये यवन म्लेच्छ तो जरूर समझे जाते लेकिन, राज-दरबारों में उन्हें अच्छी-अच्छी नौकरियाँ भी दी जाती थीं। पेरिप्लस एक लेख से पता चलता है कि किसी तमिल राजा के रनिवास के लिए कुछ यवना-ाँ यूनान से मँगायी गयी थीं। "कनिष्क के समय के करीब, एक रोमन लेखक ने कायत की है कि भारतवर्ष रोम से हर साल साढ़े-पाँच करोड़ का सोना खींच लेता और यह कीमत हमें अपनी ऐयाशी और अपनी स्त्रियों की खातिर देनी पड़ती हैं।

एक दूसरे रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों की शिकायत करते हुए लिखा है कि भारतवर्ष से आनेवाली 'बुनी हुई हवा की जाली' (मलमल) पहन कर अपना दिखाती थीं।" (जयचन्द्र)।

ईसवी सन् के आरम्भ होते-होते, भारत का दर्शन एशिया माइनर और मि इलाकों में बहुत प्रख्यात हो गया था और तक्षशिला के विद्यालय में केवल भारत नहीं, बहुत-से बाहरी देशों के छात्र भी विद्या पढ़ने आते थे। अफलातून के दर्शन नयी व्याख्या (Neo-Platonism) करनेवाले प्लाटिनस को तो भारत के से मिलने की इतनी उत्सुकता थी कि वह ईरानी साम्राज्य पर होनेवाली चढ़ा इसीलिए साथ हो गया था कि उसे कहीं कोई ब्राह्मण मिल जाय। प्लाटिन मुलाकात किसी ब्राह्मण से हुई या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है, ले अफलातून के दर्शन की उसने जो व्याख्या की है, उस पर ब्राह्मण-धर्म की स्पष्ट छा "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी हैं और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह नहीं है, वे से शरीर धारण नहीं करेंगी। पूर्ण रूप से अनासक्त होने पर वे चेतन वास्तवि विलीन हो जाएँगी।" यह और कुछ नहीं, उपनिषदों के मोक्ष और बौद्ध मत के नि की प्रतिध्वनि है, जिसकी साधना भारत में की गयी थी और जिसके नाद से उस का सारा संसार गूँज रहा था।

क्लिमेंट (अलेक्जेंड्रिया १५०-२१८ ई०) ने लिखा है कि "अलेक्जेंड्रिया में की संख्या बहुत है और यूनानवालों ने इन्हीं वर्बरों से दर्शन चुराया है।" अले में बसनेवाले बौद्धों और हिन्दुओं की संख्या बहुत काफी थी, इसके और भी प्रमाण मिलते हैं।

बौद्ध जातकों और ईसाई धर्म-ग्रन्थों की बहुत-सी कथाएँ एक-सी लगती हैं पर से मैक्समूलर ने यह अनुमान लगाया था कि ईसाई धर्म-ग्रन्थों पर बौद्ध जात स्पष्ट प्रभाव है। अलेक्जेंड्रिया के ईसाइयों में माला फेरने और कृच्छ्र साधना रिवाज था, वह भी उस नगर में बौद्धों के प्रभाव से ही प्रचलित हुआ था। त के ही समान अलेक्जेंड्रिया भी विद्या का प्रख्यात केन्द्र थी। इस नगर का पतन ई० में (मुहम्मद साहब के मरने के दस साल बाद) हुआ, जब हजरत उमर मुस के खलीफा थे। कहते हैं, "अलेक्जेंड्रिया के पुस्तकालय में इतनी पांडुलिपियाँ मुसलमान उन्हें छह महीनों तक जलाकर नहाने का पानी गर्म करते रहे।" (जी० राविल्सन)

अरबी सभ्यता के प्रधान केन्द्र वगदाद, कैरो (मिस्र) और कारडोवा (बने। वगदाद की स्थापना सन् ७६२ ई० में हुई और तभी से वह भारत और के बीच व्यापार का प्रमुख अड्डा बन गया। इस नगर का विध्वंस सन् १२५ मंगोल लुटेरों (चंगेज खाँ के उत्तराधिकारी हलाकू आदि) ने किया। मगर, यह शहर कायम था, इसके जरिये भारत का ज्ञान सारे यूरोप में पहुँचता रहा।

अरबों के पास अपनी खुद की सांस्कृतिक पूँजी कम थी। उन्होंने जो कुछ भी लिया, भारत या यूनान से लिया। अलबैरूनी, जो महमूद गजनवी के साथ भारत आया था, अरब देश का ही वासी था। उसे हिन्दू-सभ्यता से अनुरक्ति थी और यहाँ की सभ्यता की बहुत-सी बातें उसके मार्फत भी अरब और वहाँ से फिर यूरोप पहुँचीं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राचीन काल में भारत ने स्वयं अथवा एकाध बार यूनान का यत्किञ्चित् प्रभाव लेकर जिन विद्याओं का विकास किया था, वे विद्याएँ अरबों के द्वारा फिर यूरोप पहुँचीं और, इस प्रकार, प्राचीन विश्व में ज्ञान का जो आदान-प्रदान हुआ, उसी की नींव पर आधुनिक जगत् की विद्याएँ बढ़ी हैं। एक यह भी विलक्षणता है कि भारतीय पंडितों ने तो यूनान का ऋण स्वीकार किया है, किन्तु, अरबी पंडित ऐसी किसी स्वीकृति की सूचना नहीं देते। उदाहरण के लिए, हमारे ज्योतिष-ग्रन्थों में एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है, जिससे रोमन नाम का संकेत मिलता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिष-सिद्धान्त के बारे में भी यह कहा जाता है कि वह अलेक्जेंड्रिया के विद्वान पौल के सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया था। इन ग्रन्थों के साथ भारत के अन्य ज्योतिष एवं गणित-सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद पहले अरबी में हुआ और तब लैटिन में। इस प्रकार, भारत का ज्ञान सारे संसार की पूंजी बन गया।

आयुर्वेद के प्रधान आचार्य चरक कनिष्क के दरबार में रहते थे। अतएव, अनुमान यह किया जाता है कि उन्होंने अपनी संहिता की रचना में यूनानी आयुर्वेद से भी सहायता ली होगी। बाद को, चरक-संहिता भी अरबी में अनुदित हुई और अरबी से यह ज्ञान भी लैटिन भाषा में पहुँचा।

अरब में भारतीय संस्कृति और ज्ञान का काफी आदर था, इस विषय में सन्देह नहीं है। अरब जाति के लोग जिज्ञासु थे तथा इसी जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने भारत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में किया था। हिजरी सन् की दूसरी सदी में, उन्होंने बौद्ध साहित्य का अरबी में अनुवाद किया जो 'किताबुल-बुद' और 'बिलावर वा बुदासिफ' के नाम से मशहूर है। इसी प्रकार, ज्योतिष और गणित की पुस्तकों का अनुवाद उन्होंने 'सिन्द हिन्द' (सिद्धान्त) के नाम से, सुश्रुत का अनुवाद 'सुश्रुद' के नाम से, चरक का अनुवाद 'सिरक' के नाम से, पंचतंत्र का अनुवाद 'कलीला-व-दमना' (करटक-दमनक) के नाम से तथा चाणक्य-नीति का अनुवाद 'शानक' के नाम से और हितोपदेश का अनुवाद 'विदपा' के नाम से किया। कहते हैं, किताब सिन्दबाद की रचना भी भारतीय कथाओं के आधार पर की गयी थी। इसके सिवा, भारतीय संस्कृति और धर्म के विषय पर अनेक अरबी यात्रियों ने (अलबैरूनी, अल-असारी, अल-नदाम आदि) भी अपनी किताबों में अध्याय के अध्याय लिखे। अलकिन्दी ने भारतीय धर्म पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिख डाला। इसी प्रकार, सुलेमान और मसूदी ने भी, यात्राओं के प्रसंग में, भारत-विषयक जो ज्ञान संचित किया था; उसका उपयोग उन्होंने अपनी किताबों में खूब किया। शतरंज (चतुरंग) का भारतीय खेल भी अरब होकर ही यूरोप पहुँचा। भारत में इस खेल का प्रथम उल्लेख बाण (६२५ ई०) की रचना में मिलता है।

और तो और, जिन अंकों को हम अन्तर्राष्ट्रीय कहते हैं, वे भी भारत अरब गये थे और अरबों से वे यूरोप को मिले, जिसका प्रमाण यह है कि अरबी में तक अंकों का नाम 'हिन्दसा' हैं। अरब में पाये जाने के कोई एक हजार वर्ष पू अंकों का प्रयोग अशोक के शिला-लेखों में (ई०पू० २५६) हुआ था। इसी अरबी का नौबहार भारत के नवविहार का रूपान्तर-मात्र है। अचरज यह है अरबों ने अपने चिकित्सा-शास्त्र को यूनानी क्यों कहा, जब कि भारत के आयु उसका इतना मेल है। यह भी सम्भव है कि उन्होंने चिकित्सा-सम्बन्धी कुछ बातें से भी पायी हों और, इस प्रकार, इस विद्या का यूनानी नाम ही उन्हें पसन्द आ गया

इसका भी प्रमाण मिला है कि भारत में प्रचलित कथाएँ (जातक, पंचतंत्र, पदेश, शुक-सप्तति आदि) बहुत प्राचीन काल से देश के बाहर पहुँचती रही हैं। की खाल ओढ़नेवाले गधे की कहानी अफलातून की किताब में मिली है। शुक-स भी ईरान में तूतीनामा के नाम से प्रचलित थी और वहीं से वह यूरोप पहुँची। बियन नाइट्स की कहानियों की मूल रचना सन् ९५० के आस-पास हारूनरशी राज्यकाल में बसरा में हुई थी। इसके लेखक ने स्वीकार किया है कि इन कहा का आधार ईरानी, यूनानी और भारतीय कहानियाँ हैं।

ईसप्स फेब्ल्स में जो जीव-जन्तु विषयक कहानियाँ हैं, वे भी पूरब से ही प को गयी हैं। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उनमें आनेवाले जीव सिंह, शृ हाथी और मयूर, ये सब-के-सब भारतीय हैं। भारत का श्रृगाल ही यूरोपीय मा में बदल कर लोमड़ी हो गया है। राबिल्सन का यह भी ख्याल है कि शेक्सपि नाटक में एक पौण्ड मांस की जो कथा है, वह भी जन्म से भारतीय है, यद्यपि पता नहीं चलता कि यह कहानी शेक्सपियर को मिली कैसे।

गणित, ज्योतिष और विज्ञान

विज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विल डुराण्ट का मत है कि सारी सभ्यता के यह भी कृषि से ही विकसित हुआ होगा। ज्योमेट्री (रेखागणित) का अर्थ ही नापना होता है। फसल और ऋतु के सम्बन्ध में सोचते-सोचते आदमी का नक्षत्रों की ओर गया होगा और उसे जंत्री, पंचांग या कैलेंडर-जैसी कोई चीज करने की बात सूझी होगी, जिससे अन्त में ज्योतिष का आविष्कार हुआ। में ज्योतिष, शायद, प्राचीनतम विद्या है और ज्योतिष में भी फलित ज्योति पहले आया होगा। गणित ज्योतिष का विकास उन लोगों की आवश्यकता से होगा, जिन्हें नाव लेकर समुद्र पार करना पड़ता था। वाणिज्य-व्यापार रहनेवालों ने अंकगणित की आवश्यकता महसूस की होगी और आदिम स्थापित करने के सिलसिले में ही पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र का हुआ होगा।

आरम्भ से ही, धर्मप्राण होने के कारण, भारत के विषय में यह अनुमान यहाँ विज्ञान का भी जन्म धर्म की गोद में हुआ है। आर्य ग्रहों और नक्षत्रों की

पूजा के भाव से देखते थे। ग्रहों की चाल समझ कर वे पर्व-त्योहार का दिन निश्चित करते थे। इसी प्रक्रिया से यहाँ ज्योतिष का विकास हुआ। इसी प्रकार, मंत्रों का पाठ शुद्ध-शुद्ध हो, इस आवश्यकता से यहाँ व्याकरण और निरुक्त विकसित हुए। रेखागणित भी, यज्ञ की वेदी बनाने के सिलसिले में, रेखाओं की माप-जोख से जनमा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

अन्यत्र की भाँति यहाँ भी, फलित ज्योतिष पहले और गणित ज्योतिष बाद को विकसित हुआ और इसका कारण, कदाचित्, यूनान का प्रभाव था, क्योंकि वराहमिहिर (छठी शती) ने अपने ऊपर यूनान का ऋण स्वीकार किया है।[1] ज्योतिष और गणित के प्राचीन आचार्यों में आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०) का स्थान भारत में ही नहीं, सारे विश्व में बहुत ऊँचा माना जाता है। उन्होंने ग्रहण की भविष्यवाणी करने की विधि निकाली थी और पहले-पहल संसार को यह ज्ञान उन्होंने ही दिया था कि सूर्य स्थिर है, उसके चारों ओर पृथ्वी ही घूमती है, जिससे दिन और रात होते हैं। आर्यभट्ट के बाद, दूसरे आचार्य ब्रह्मगुप्त हुए, जिन्होंने भारत की ज्योतिष-विद्या को संगठित रूप दिया। किन्तु, वे आर्यभट्ट की पृथ्वी के घूमनेवाली घोषणा से सहमत नहीं हो सके। ब्रह्मगुप्त के बाद होनेवाले आचार्यों ने ज्योतिष का और विकास किया तथा पंडितों का अनुमान है कि इस काल में आकर हमारे ज्योतिष-शास्त्र पर बैबिलोन के भी ज्योतिष का प्रभाव पड़ा। इस काल में भारतीय पंडितों को यह पता चल गया था कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति है, जिससे वह चीजों को अपनी ओर खींच लेती है।"[2]

एक से नौ तक के अंक, शून्य का गणित-सम्बन्धी महत्त्व[3] और दशमलव की पद्धति, इन सारी बातों का आविष्कार भारत में ही हुआ था और यहीं से ये चीजें अरब होकर पहले यूरोप और पीछे सारे संसार में फैलीं। दशमलव-पद्धति का ज्ञान आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के समय इस देश में काफी प्रचलित था। बौद्धधर्म-प्रचारकों के जरिये यह ज्ञान चीन पहुँचा और बगदाद में इसका प्रचार सन् ८५० ई० के लगभग हुआ।

बीजगणित का विकास भारत और यूनान, दोनों ही देशों में, शायद, स्वतंत्र रूप से हुआ था, यद्यपि, कुछ पाश्चात्य पंडितों का ही यह भी अनुमान है कि यह विद्या पहले भारत में जनमी और यहीं से वह यूनानवालों को मिली थी। अँगरेजी में इस विद्या को अलजबरा कहते हैं जो अरबी शब्द (अल-जब्र) है। किन्तु, इससे

---

[1] ज्योतिषी वराहमिहिर ने लिखा है, 'यवन (यूनानी) लोग म्लेच्छ हैं, पर उनमें इस शास्त्र का ज्ञान है। इस कारण, वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।' (जयचन्द्र)

[2] आवर ओरियंटल हेरिटेज विल डुराण्ट।

[3] "इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बना ली जाय, यह आविष्कार पहले-पहल चौथी शती में यहीं हुआ। यूरोपवालों ने यह तरीका तेरहवीं-चौदहवीं शती में जाकर सीखा।" (जयचन्द्र)।

इतना ही सिद्ध होता है कि अन्य अनेक विद्याओं की तरह, यह विद्या भी यूरोप को अरब के मार्फत मिली है।

कहते हैं, रेखागणित (ज्योमेट्री) का स्वतंत्र विकास भारत में नहीं हो पाया और इस विद्या के विकास की प्रक्रिया यहाँ यूनान के प्रभाव के कारण सम्भव हु किन्तु, आर्यभट्ट और भास्कराचार्य रेखागणित के भी आचार्य थे, यह बात भु नहीं जा सकती। सूर्य-सिद्धान्त के बारे में भी यह माना जाता है कि उसमें ट्रिग का ऐसा उन्नत रूप मिलता है, जो तत्कालीन यूनान के अनुमान के भी बाहर था।

पदार्थ-विज्ञान की दिशा में पहला नाम कणाद का माना जाना चाहिये, जि मत था कि सृष्टि अणुओं से बनी हुई है। अणुवाद का समर्थन जैन-दर्शन भी क है। उदयनाचार्य का मत था कि प्रकाश एवं उष्णता का एक मात्र कारण सू और वाचस्पति मिश्र प्रकाश को भी परमाणुओं से निर्मित मानते थे। कहा जात कि ईसा की दूसरी शताब्दी में हिन्दुओं के यहाँ एक प्रकार के दिग्दर्शक यंत्र का प्रचार था जो लोहे का होता था, तेल में रखा जाता था और जो बराबर उत्तर की ओर इंगित करता था।

रसायन-शास्त्र का विकास यहाँ आयुर्वेद और उद्योग की वृद्धि के कारण हु गुप्त-काल में भारत का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था और रोमवाले यह मानते थे कपड़ा रँगने, चमड़ा चढ़ाने, साबुन बनाने और शीशा तथा सीमेण्ट बनाने में भा के कारीगर सभी देशों के कारीगरों से आगे हैं। सोने, लोहे, मोती, ताम्बे और की रासायनिक क्रिया का ज्ञान यहाँ खूब विकसित हो चुका था तथा छठी-सातवीं में औद्योगिक रसायन के क्षेत्र में भारत सारे संसार का अग्रणी था। लोहा गला काम में तो भारत, अभी हाल तक, यूरोप से आगे था।

चिकित्सा के क्षेत्र में तो प्राचीन विश्व में, शायद, भारत सब का गुरु था। (ई०पू० पाँचवीं सदी), चरक (दूसरी सदी), वाग्भट्ट (छठी सदी) और भाव (१५५० ई०)—ये आयुर्वेद के चार प्रधान आचार्यों के नाम हैं, जिन्होंने शरीर-वि और औषधि-विज्ञान की, इस देश में बहुत उन्नति की। आयुर्वेद का विकास यहाँ दिनों तक होता रहा और जब भी कोई नयी बीमारी उत्पन्न हुई, आचार्यों ने उ चिकित्सा का उपाय जरूर सोचा। उपदंश का उल्लेख भावमिश्र की पुस्त मिलता है, यद्यपि, यूरोप से यह रोग भारत में, पुर्तगालवालों के जरिये, अभी- पहुँचा था। उन दिनों, यहाँ के वैद्य केवल औषधियों का ही प्रयोग नहीं कर बल्कि,, चीर-फाड़ से भी उन्हें कोई घृणा नहीं थी। शल्य-चिकित्सा के यहाँ सवा नौ सौ औजार प्रचलित थे और गैरिसन का कहना है कि "ऐसा कोई भी ऑपरेशन नहीं था, जिसे प्राचीन हिन्दू सफलतापूर्वक नहीं कर सकते थे।" जब के पतन का दिन आया, हमारा धर्म जड़ हो गया और मिथ्या पवित्रता की र लिए जैसे लोग समुद्र-यात्रा को पाप समझने लगे ; वैसे ही, उन्होंने शल्य-चि को भी छोड़ दिया। आज तो आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा की बात ही कपोल-कल्पि

ती है मगर, प्राचीन भारत में इसका व्यापक प्रचार था। बौद्ध ग्रन्थ में एक कथा यी है कि जीवक नामक वैद्य ने एक सेठ के मस्तक का ऑपरेशन किया था। हैवेल लिखा है कि खलीफा हारूनर्रशीद भारत की चिकित्सा-पद्धति का पूरा कायल था र अपने राज्य में, अस्पतालों का संगठन करने के लिए, उसने भारत से अनेक वैद्य वाये थे। लाला लाजपत राय ने अपनी 'अनहैप्पी इंडिया' में लार्ड एम्पथिल का यह उद्धृत किया है कि "मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा-सम्बन्धी रा ज्ञान अरबों से मिला था और अरबों को भारत से।"

हत्तर भारत से सम्बन्ध

बर्मा और स्याम से दक्षिण और पूर्व की ओर जो भू-भाग और अनेक द्वीप हैं, उन्हीं नाम बृहत्तर भारत है। स्याम से पूरब की ओर जो इंडोचायना नामक देश है ह, असल में, भारतीय संस्कृति का ही वह क्षेत्र है जो चीन के पास पड़ता है। सलिए, उसका इंडो-चायना, हिन्दचीन या भारत-चीन नाम बहुत ही सार्थक है। इसी कार, इंडोनेशिया नाम दो यूनानी शब्दों के योग से बना है। इंडो (Indos) = इंडिया भारत + नेसस (Nesos) द्वीप। अतएव, इंडोनेशिया का अर्थ भारतद्वीप है। ह नाम ही सूचित करता है कि किसी समय सांस्कृतिक दृष्टि से भारत और इंडोनेशिया क ही देश थे।

वृहत्तर भारत के नाम से जिन भू-भागों और द्वीपों का बोध होता है, वे एक समय रत के उपनिवेश नहीं, उसके अंग समझे जाते थे। प्राचीन भारत के हिन्दू बड़े साहसी यापारी थे। इसके सिवा, उनमें अपनी संस्कृति और धर्म के प्रचार का भी पूरा उत्साह । इतिहास यह तो नहीं बतलाता है कि भारतवासियों ने अन्य जातियों को अपना स बनाने के लिए कभी दूसरे देशों पर आक्रमण किया, किन्तु, यह बात तो सिद्ध है क धर्म एवं संस्कृति के प्रचारार्थ तथा व्यापार के लिए भारतवासी दूर देशों की त्राएँ करते थे, बड़ी-बड़ी नौकाओं का बेड़ा लेकर हजारों मील समुद्र के पार चले ते थे और वन-पर्वतों को लाँघ कर दूसरे देशों से सम्बन्ध स्थापित करते थे। भारत का यापार पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही दिशाओं के देशों के साथ चलता था और दोनों दिशाओं से उसका सांस्कृतिक सम्बन्ध भी था। किन्तु, उन दिनों की याद अब केवल रत-चीन और भारत-द्वीपों में ही बची हुई है। और ऐसा लगता है, मानो, भारतीय नता यदि देश के बाहर की जनता से अपना सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहे तो इस र्य में उसे जितनी सफलता बर्मा, स्याम, भारत-चीन, मलाया, सुमात्रा, जावा और ली में मिलेगी, उतनी और कहीं नहीं मिल सकती। इन देशों में अब इस्लाम और साइयत का प्रचार है और हिन्दू वहाँ बहुत कम रह गये हैं। किन्तु, सांस्कृतिक दृष्टि वहाँ की जनता पर भारतीयता की अब भी स्पष्ट छाप है—यहाँ तक कि जावा के सलमान भी मूर्त्तियों पर पुष्प चढ़ाने, मन्दिरों में आरती जलाने तथा पवित्रतापूर्वक नकी रक्षा करने में कोई दोष नहीं मानते। उनके नाटक और गीत अब भी रामायण और हाभारत की कथाओं का आधार लेकर चलते हैं तथा उनके नाम और उपाधियाँ अब

भी संस्कृत-पूर्ण होती हैं। भारत-द्वीप (इंडोनेशिया) के राष्ट्रपति का सुकर्णो नाम पिताजी ने महाभारत के पात्र, महारथी कर्ण के नाम पर रखा था। एवं वहाँ के प्रधान मंत्री का नाम संस्कृत नाम "शास्त्र-अमितजय" से निकला हुआ है। जोग के सुलतान की उपाधि, 'भुवनोसेनापति' शुद्ध संस्कृत उपाधि है एवं द्वीपों के सुमात्रा, आदि नाम भी संस्कृत नामों के तत्सम या तद्भव रूप हैं। भारत-द्वीप के पति डाक्टर सुकर्णो ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखते हुए एक वार लि कि "आपका देश और आपकी जनता, इतिहास के आरम्भ काल से ही, हमारे भा और संस्कृति, दोनों ही, सूत्रों से बँधी हुई है। इंडिया नाम को एक क्षण के लि विस्मृत करना हमारे लिए असम्भव है, क्योंकि यह शब्द हमारे देश के नाम का प्र (इंडो) हैं। जिस स्थान से मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ उसका जोगजकर्त्ता ना (योग्यकर्त्ता) जावा जौर सुमात्रा के समान शुद्ध संस्कृत नाम है। आपके प्राचीन दे संस्कृति का उत्तराधिकार हमें कहाँ तक प्राप्त हुआ है, इसका एक उज्ज्वल प्रमाण अपना नाम भी है। जब मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ, तभी प्रोबोलिंगों के बन्द में एक जहाज पर चावल लादा जा रहा है, जो भारत भेजा जायेगा। प्रोबोलिं दो संस्कृत शब्दों—पूर्व और कलिंग—के योग से वना है। यही वह स्थान है, ज पहले-पहल भारतीयों की टुकड़ी इंडोनेशिया में उतरी थी। वे लोग कलिंग के व और यव की खोज करते हुए यहाँ आये थे, जिससे इस देश का नाम जावा पड़ ग

डाक्टर सुकर्णो ने जो भाव व्यक्त किया हैं, वही भाव भारत-चीन, हि मलाया और बोर्नियो तथा बाली के निवासियों का भी हो सकता है। क्योंकि ह जो सम्वन्ध यवद्वीप के साथ था, वही सम्बन्ध सभी दक्षिण-पूर्वी द्वीपों के सा होगा। इस सम्बन्ध की व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ द्वीपों में भारतीय लक्षणों को अलग-अलग समझने की चेष्टा करें।

बाली-द्वीप

आज भारत से वाहर भारतीयता का सबसे प्रोज्ज्वल प्रमाण यदि कहीं अ है, तो वह बाली-द्वीप में है। यह द्वीप भारत से कोई तीन हजार मील दूर, सु भी पूर्व की ओर बसा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २२४३ वर्गमील और जनसं पन्द्रह लाख है जिसमें से अधिकांश लोग आज भी हिन्दू हैं। ये लोग शैव हैं। सच्चे हिन्दू के समान ये पंचदेवताओं में से प्रत्येक की पूजा करते हैं। उनके मं स्तोत्र, सब संस्कृत में होते हैं एवं उनके पादण्ड (पुरोहित) आज भी संस्कृत का करते हैं। स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक (हिन्दू कल्चर इन ग्रेटर इंडिया) में है कि बाली द्वीप में हिन्दू धर्म जिस पवित्रता के साथ जी रहा है, उस पवि साथ वह अब भारत में भी उपलब्ध नहीं है।

कहते हैं, बाली नाम बलि से निकला है। पुराणों में वामन-बलि की जो उसमें कहा गया है कि राजा बलि पाताल में राज्य करता था। वही पाताल यहाँ

ना है और बलि यहीं के राजा थे। विद्वानों का अनुमान है कि बलि के समय यह द्वीप भारत के साथ स्थल मार्ग से जुड़ा था, किन्तु, वह भू-भाग, कालान्तर में, समुद्र के भीतर चला गया। यदि यह अनुमान ठीक हो तो बाली-द्वीप तो वामन भगवान का वतार-स्थल होने के कारण, सभी हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ-द्वीप ठहरता है।

हिन्दू बाली में कब पहुँचे थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। किन्तु, लियाङ्ग-वंश चीनी इतिहासकार (५०२ से ५५६ ई०) ने लिखा है कि बालि के राजा कौण्डिन्य-वंश थे। उस राज्य का चीन के साथ भी सम्बन्ध था और सन् ५१८ ई० में बाली के राजा ने चीन के राजा के पास दूत भेजा था। इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने लिखा कि बालि द्वीप की जनता ने मूल-सर्वास्तिवाद-निकाय को सर्वतोभावेन ग्रहण कर लिया है।

जावा और बाली की जनता पर रामायण और महाभारत का व्यापक प्रभाव है, बल्कि, महाभारत का प्रचार जावा में बाली से भी अधिक है। बाली की भाषा मलायी भाषा का एक रूप है, किन्तु, उसमें संस्कृत के बहुत शब्द मिले हुए हैं। बाली के ब्राह्मणों में संस्कृत के लिए अब भी उत्साह है, क्योंकि संस्कृत उनके धर्म की भाषा है। बालि के हिन्दू चतुर्वर्ण मानते हैं, शवों को जलाते और उनका श्राद्ध भी करते हैं तथा बालिकाओं का विवाह, वहाँ प्रायः, स्वयंवर-विधि से होता है। कहते हैं, बाली की जनता भारतवासियों को संस्कृत का ज्ञाता समझती है, किन्तु, जब भारतीयों को वह अन्य भाषा बोलते देखती है, तब उसे आश्चर्य होने लगता है।

यव-द्वीप

यव-द्वीप का उल्लेख वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड में आया है, जहाँ सुग्रीव वानरों को सीता की खोज करने के लिए अनेक दिशाओं में भेज रहे हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में यवद्वीप के साथ मलय द्वीप, अंग द्वीप, शंख द्वीप, कुश द्वीप और वराह द्वीप का भी उल्लेख है। अवश्य ही, ये नाम जावा और उसके आस-पास के द्वीपों के होंगे। कथासरित्सार में भी यव-द्वीप का नाम आया है।

यव-द्वीप या ज़ावा का क्षेत्रफल ५१,४८० वर्गमील हैं और उसकी जनसंख्या सन् १९४० ई० में ४,८४,१६,००० थी। जावा में पर्वत की सब से ऊँची चोटी का नाम सुमेरु है। जावा की अत्यधिक जनता अब इस्लाम-धर्म को मानती है तथा हिन्दुओं की संख्या वहाँ अत्यन्त न्यून है। किन्तु, जावा की प्राचीन हिन्दू-संस्कृति का त्याग वहाँ की मुस्लिम जनता ने भी नहीं किया है। रामायण और महाभारत की कथाएँ जावाई जनता के जीवन में घुली हुई हैं और इन कथाओं के नायकों को जनता अपना आदर्श मानती है। जावा और बाली में छाया-नाटकों का बहुत प्रचलन है। वहाँ की भाषा में छाया-नाटक को "वयङ्ग-ओरङ्ग" कहते हैं, जिसका मूल संस्कृत का व्यंग्य शब्द है। वयङ्ग-ओरङ्ग में राम-रावण-युद्ध, द्रौपदी-स्वयंवर, अर्जुन-विवाह आदि दृश्य दिखाये जाते हैं और इन नाटकों को जनता रात-रात भर देखती रहती है। जावा

के अनेक खँडहरों, मन्दिरों एवं प्रतिमालयों में हिन्दुत्व का प्राचीन रूप सोया किन्तु, उसका जीता-जागता रूप वहाँ के नाटकों में अब भी गतिमान है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्व, दक्षिण के हिन्दुओं ने कम्बोज (कम्ब्रोडिया) और जावा द्वीप में जाकर अपने उपनिवेश थे। कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि जावा में उपनिवेश बसानेवाले लोग थे। जावा में एक संवत् अजीशक के नाम से चला था जो अब तक चा यह संवत् ७८ ई० में आरम्भ हुआ, जिस वर्ष भारत वर्ष में शकाब्द का आरम्भ था। श्री आर० सी० मजूमदार का मत है (हिन्दू कालोनीज इन द फार ईस्ट ईसा की दूसरी सदी में जावा में हिन्दू राज्य था, जिसका प्रमाण यह है कि राजा श्रीदेव वर्मन ने उसी वर्ष चीनी राजा के पास दूत भेजा था।

जावा की भूमि हिन्दू-स्थापत्य और मूर्त्तिकला से खचाखच भरी हुई है। हिन् और स्थापत्य के जो अवशेष जावा में हैं, उनमें से कुछ तो खँडहर हैं और कुछ अवस्था में भी हैं। इनमें से बोरोबुदुर, प्रम्बनम, चण्डी कलासन और दियङ्ग के मन्दिर बहुत प्रसिद्ध हैं। बोरोबुदुर का मन्दिर तो संसार भर में अपना सानी रखता। संसार के प्राचीन-से-प्राचीन मन्दिरों की सूची में बोरोबुदुर के मन्दि स्थान बहुत ऊँचा है और हिन्दू-स्थापत्य और कला के इस विलक्षण नमूने को दे लिए संसार के सभी देशों के लोग वहाँ जाते हैं। कहते हैं,यह मन्दिर श्री (सुमात्रा द्वीप के पलेम बङ्ग नगर का प्राचीन हिन्दू नाम श्रीविजय था तथा का सुवर्णभूमि) के शैलेन्द्र-वंश के राजाओं ने ७५० ई० के आस-पास बनवाया

सामान्यतः, यह माना जाता है कि भारत-द्वीप (इंडोनेशिया) में पहले वैदि ही पहुँचा था तथा पाँचवीं सदी तक उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी धर्म वहाँ नहीं था। ४१३ ई० में फाहियान सुमात्रा गया था और उसने वहाँ वैदिक धर्म को बहु समृद्ध पाया था। पाँचवीं सदी में ही कश्मीर के राजा गुणवर्मा ने बौद्ध संन्यास और उसी ने जावा जाकर वहाँ के राजा और रानी को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। से जावाई जनता में वैदिक और बौद्ध धर्म, दोनों का प्रचार हुआ। जावा, और बाली में वैदिक धर्म और बौद्ध मत में अन्तर बहुत ही न्यून हो गया। कारण है कि उन द्वीपों में विष्णु, गरुड़, गणेश, शिव, बुद्ध आदि की जो मिलती हैं, उनमें बिलगाव करना असम्भव हो जाता है। वहाँ की कथाओं में भी, कहीं, बुद्ध शिव के छोटे भाई समझे जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध, ये एक ही कोटि के देवता और परस्पर अभिन्न माने जाते हैं।

जब बंगाल-बिहार में पालवंशी (बौद्ध) राजाओं का राज्य था, तब जावा- में भी बौद्ध राजे राज्य करते थे। सुमात्रा के बालपुत्र नामक बौद्ध राजा ने नाल एक विहार उन लोगों के आवास के लिए बनवाया था, जो जावा-सुमात्रा से तीर्थ को भारत आते थे। नालन्दा में राजा देवपाल (पालवंशी) का एक ताम्रपात

है, जिसमें उसनें नालन्दा में बनवाये गये इस विहार के लिए किन्हीं पाँच ग्रामों की ाय अर्पित की थी।

स्वामी सदानन्द ने अपनी पुस्तक में यह भी बताया है कि वृहत्तर भारत में कृष्ण की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें कोई भी ऐसी नहीं है जिसके हाथ में मुरली हो थवा जो गोपिकाओं के साथ केलि में हो। इससे फिर यह आशंका प्रबल हो जाती कि कृष्ण का रसिक-रूप भारत में बाद को विकसित हुआ। आरम्भ में कृष्ण रलीधर और गोपिकावल्लभ नहीं थे। सच तो यह है कि वृहत्तर भारत में भारतीय स्कृति के जो अवशेष हैं, उनके अध्ययन के बिना यह बात ठीक से जानी नहीं जा कती कि प्राचीन हिन्दुत्व का वास्तविक रूप क्या था।

ुमात्रा

भारत-द्वीप (इंडोनेशिया) के अन्तर्गत कितने ही टापू और द्वीप हैं, जिनमें से ावा, सुमात्रा, सिलिवी, वोर्नियो और न्यूगिनी प्रधान हैं। सुमात्रा का आकार जावा चौगुना है, किन्तु, इसकी जनसंख्या केवल ६२,१९,००४ है। पंडितों का अनुमान कि जब हिन्दू भारत से निकल कर प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ने लगे होंगे, ब उनका सबसे पहला पड़ाव इसी सुमात्रा द्वीप में पड़ा होगा, जिसे वे सुवर्ण-द्वीप कहते थे।

सुमात्रा में हिन्दुओं ने जो राज्य स्थापित किया था, उसकी राजधानी श्रीविजय (आज का पलेमवङ्ग) थी। इस राज्य की स्थापना या तो चौथी सदी से पूर्व या चौथी दी में हुई थी। सातवीं सदी में तो श्रीविजय का प्रताप चारों ओर जगमगा रहा ा। मलायू (आधुनिक जाम्बी) का राज्य श्रीविजय के अधीन हो गया था एवं पास के एक दूसरे द्वीप (बङ्का) पर भी श्रीविजय का राज्य था।

इत्सिङ्ग ने लिखा है कि दक्षिण समुद्र में श्रीविजय बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रधान केन्द्र थी एवं उसका राजा एक ओर तो भारत के साथ एवं दूसरी ओर चीन के ाथ व्यापार के काम को खूब प्रोत्साहित करता था। श्रीविजय में रहनेवाले ये विजेता शैलेन्द्र-वंश के राजे थे जिनका संघर्ष दक्षिण भारत के चोल-वंशी राजाओं से भी चला था। कहते हैं, चोल-वंशी राजाओं के धक्के से ही श्रीविजय की नींव हिल गयी।

इत्सिङ्ग जब भारत आ रहा था, तब उसने सुमात्रा में छह मास तक ठहर कर संस्कृत और पाली सीखी थी। इससे यह अनुमान होता है कि सातवीं सदी में सुमात्रा भारतीय विद्याओं के लिए भी उतनी ही प्रसिद्ध थी जितनी प्रसिद्धि नालन्दा और विक्रमशिला की थी। इत्सिङ्ग ने नालन्दा में रहकर दस वर्ष तक अध्ययन किया था और प्रधान पंडितों के समीप पहुँचने के पूर्व १०८ द्वार-पंडितों ने उसकी योग्यता की जाँच की थी। अवश्य ही, यह योग्यता उसने सुमात्रा में रहकर अर्जित की होगी। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति सुमात्रा के थे एवं बौद्ध

विद्या का वहाँ ऐसा प्रचार था कि विक्रमशिला के श्री दीपंकर श्री ज्ञान भी पधारे थे। यह भी किंवदन्ती है कि तिब्बत जाने के पूर्व शान्तरक्षित भी श्री आचार्य धर्मकीर्त्ति से मिलने को सुमात्रा गये थे।

बोर्नियो

मलय-द्वीप-समूह में सब से बड़ा द्वीप बोर्नियो है। इसका क्षेत्रफल जावा से आठ गुना अधिक है, किन्तु, जनसंख्या इसकी कुल तीस लाख है। यह सारा द्वीप वासियों से भरा हुआ है जो द्याक् कहलाते हैं। हिन्दू तो बोर्नियो में इक्के-दुक्के हैं, किन्तु, कुछ शिला-लेखों के मिलने के कारण यह बात निश्चित मानी जा कि ईस्वी सन् के आरम्भ में बोर्नियो में हिन्दुओं का उपनिवेश था। इसके बोर्नियो के दो-एक स्थानों पर कुछ प्राचीन गुफाएँ भी मिली हैं, जिनमें हिन्दू- के निशान हैं। गुफाओं में जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें कुछ तो बुद्ध की हैं और शिव, गणेश, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की।

हिन्द-चीन

हिन्द-चीन अथवा भारत-चीन का क्षेत्रफल २,८६,००० वर्गमील तथा जन २७,००,००० है। इस देश में पाँच प्रान्त हैं, जिनके नाम कोचीन-चीन, अ कम्बोडिया, तोकिङ्ग और लाओ हैं। प्राचीन काल में अन्नम के दक्षिणी भाग में राज्य था जिसके राजा का नाम श्रीमार था। कम्बोडिया कम्बोज का रूपान्तर है। महाभारत में उल्लिखित है कि कम्बोज देश का राजा सुदक्षिण अपनी से साथ कुरुक्षेत्र में कौरवों के पक्ष से लड़ा था। कम्बोज का नाम और भी कई सं ग्रन्थों में मिलता है।[1]

हिन्दुओं ने हिन्द-चीन में कम्बोज नामक राज्य ईसा की पहली स स्थापित किया था। उस ससय, कोचीन-चीन और कम्बोडिया एक ही रा अधीन थे, जिसका चीनी नाम फुनान था। इतिहासकारों का मत है कि हिन्दुओं प्रमुख उपनिवेश इसी फुनान प्रान्त में बना। कहते हैं, कौंडिन्य नामक एक ब्रा भारत से फुनान गया और वहाँ उसने नाग-जाति की कन्या नागिनी सोमा से किया जो उस देश की राजकुमारी थी। इसी दम्पति के पुत्र फुनान में कम्बोज के प्रतिष्ठाता हुए। दूसरी सदी में आकर इस वंश के राजाओं ने वर्मन की उ धारण की और तीसरी सदी में उन्होंने भारतवर्ष में अपना दूत भेजा।

कम्बोज नाम कैसे चला, इस विषय में सिलवन लेवी तथा अन्य फ्रांसीसी वि का मत है कि भारत से महर्षि कम्बु नाम का एक ब्राह्मण फुनान गया। उसने

---

[1] ब्रह्माण्ड-पुराण अध्याय ४९, श्लोक ५२ में उन जातियों का उल्लेख है जो अं में बसती थीं:—

काम्बोजाः दरदाश्चैव बब्बराः अंगलौकिकाः।
चीनाश्चैव तुषाराश्च पाह्लवाश्च क्षतोदराः।

रा नामक कुमारी से, जो किसी अप्सरा की कन्या थी, ब्याह किया। अतएव, कम्बोज म उसी ऋषि के नाम से निकला है। कुछ दूसरे लोगों का विश्वास है कि भारत- सी अपने उपनिवेशों के नाम, प्रायः भारत में प्रख्यात नामों में से चुनते थे। अतएव धार (अफ़गानिस्तान) में जो कम्बोज नगर था, उसी के अनुकरण पर, कम्बोज ज्य का नाम चला।

हिन्द-चीन में समुद्र के किनारे-किनारे चम्पा-राज्य की स्थापना द्वितीय शती में । यहाँ भी राज्य का चम्पा नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि राज्य स्थापित करने- ले हिन्दू चम्पा (भागलपुर) से आये थे। इन सभी द्वीपों का सम्मिलित नाम अंग- प, कदाचित्, इसलिए भी पड़ा हो कि इन द्वीपों में उपनिवेश बसानेवाले लोग अंग, ग और कलिंग से जाते रहे हों।

स्थापत्य, मूर्त्ति और चित्रों के रूप में हिन्द-चीन में भारतीय संस्कृति के अनेक वशेष विद्यमान हैं। इसके सिवा कुछ ऐसे प्रचलित रस्म-रिवाज भी हैं, जिनसे इस -भाग में भारतीय संस्कृति का प्राधान्य रहने का प्रमाण मिलता है। उदाहरण के लए, कम्बोडिया में यज्ञोपवीत की प्रथा अब तक जीवित है तथा यज्ञोपवीत-संस्कार के द वालको को गुरु के घर भी जाना पड़ता है।

कम्बोडिया की मिट्टी उत्तर भारत की मिट्टी के समान दीखती है और दोनों देशों ी उपज में भी समानता है। कम्बोडिया के अनेक नगरों के नाम संस्कृत नामों से कले हैं, यद्यपि, उनके उच्चारण में किञ्चित् विकृति आ गयी है। इसी प्रान्त में, अंग- र नामक स्थान है जहाँ भारतीय स्थापत्य और मूर्त्तिकला का विशाल खँडहर है। ाज से कोई सात सौ वर्ष पूर्व, अंगकोर पूर्वी विश्व में हिन्दू राज्य की सुसमृद्ध राज- नी था। पं० जवाहरलालज़ी ने लिखा है कि "अंगकोर की राजधानी सारे संसार में ख्यात थी और उसे लोग ,महारमणीय अंगकोर' के नाम से जानते थे। इस नगर में स लाख से अधिक लोग रहते थे और यह नगरी सीजर के रोम से भी बड़ी थी।" चौदहवीं सदी में, किसी कारणवश, यह नगरी उजड़ गयी और तब से वह उपेक्षित ही ली आ रही थी। किन्तु, पिछली सदी में किसी फ्रांसीसी पर्यटक ने उसका पता गाया और सारे संसार को उसकी गरिमा की सूचना दी। जावा में बोरोबुदुर और म्बोडिया में अंगकोर, ये दो भग्नावशेष ऐसे हैं जो हमें यह याद दिलाते हैं कि सारा र्वी एशिया एक समय भारत की सुगन्ध से सुगन्धित था। कला के सेवकों और विद्यार्थियों के लिए ये दोनों स्थान तीर्थ समझे जाने चाहियें।

कम्बोडिया के लोग संस्कृत भाषा के बड़े विद्वान् थे। आश्रमों (वन्य पाठशा- लाओं) का जैसा प्रचार भारत में था, वैसा ही कम्बोडिया में भी। राजघराने के लोग ब्राह्मणों से वेद की ऋचाएँ एवं ज्योतिष, न्याय और व्याकरण के पाठ बड़ी ही श्रद्धा के सीखते थे। खमेर-शिलालेखों में से अनेक शिलालेख ऐसे हैं जिनमें वेद, पुराण, रामा- यण, महाभारत, योग और न्याय के स्पष्ट उल्लेख हैं। कम्बोडिया में भारतीय संगीत का भी चलन था। दुःख की बात है कि हम भारतवासी भारतीय संस्कृति की इस

गरिमा को भूल बैठे हैं। किन्तु, बाहर वालों को वह याद है। सन् १९४ दिल्ली में एशियाई देशों का जो महासम्मेलन हुआ, उसमें हिन्द-चीन के प्रतिनि दाङ्ग नगोक चान ने कहा था कि "संस्कृति का एक मार्ग है, भारत जिसकी ऊँ खड़ा है। आज वह फिर हमारी ओर मैत्री का हाथ इसलिए बढ़ा रहा है कि ह मार्ग पर फिर से चलने लगें। हम इस संकेत से प्रसन्न हैं और भारत ने जो बढ़ाया है, उसे हम बढ़कर थामना चाहते हैं।"

चीन के साथ सम्बन्ध

भारत से चीन जानेवाले भारतीय विद्वानों में सबसे पहला नाम कश्यप का आता है, जिनका समय ईसा की पहली शताब्दी है। उनके बाद भी यह अवरुद्ध नहीं हुई और भारत के अनेक सन्त, महात्मा, पंडित और विद्वा जाते ही रहे।[1] इन पंडितों के साथ संस्कृत और पाली के अनेक ग्रन्थ भी चीन और चीनी में वहाँ उनका अनुवाद भी हुआ। महापंडित राहुल सांकृत्या अनुमान है कि चीन में अभी भी कोई पन्द्रह सौ ग्रन्थ ऐसे होंगे जो संस्कृत अथवा ग्रन्थों के अनुवाद हैं, यद्यपि, मूल संस्कृत एवं पाली ग्रन्थ भारत में लुप्त हो चुके

कहते हैं, पाँचवीं सदी के आरम्भ में कश्मीर-राज्य के किसी अमात्य का ए भारत से चीन चला गया। वहाँ उसने किसी राजकुमारी से विवाह किया जिस एक पुत्र हुआ, जिसका नाम **कुमारजीव** था। बच्चे को लेकर दम्पति कश्मीर चले और वहीं उसकी (कुमारजीव की) शिक्षा हुई। कुमारजीव संस्कृत और चीनी भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान निकले। उन्होंने अश्वघोष, नागार्जुन आदि भा विद्वानों और कवियों के अनेक ग्रन्थों का चीनी अनुवाद प्रस्तुत करके चीन में मह धर्म का प्रचार किया। उनके ग्रन्थ आज तक चीन में वैसे ही पढ़े जाते हैं जैसे में कालिदास के।

इसी प्रकार, चीन के विद्वान भी भारत आकर ज्ञान की साधना करते थे। चीनी यात्रियों में फाहियान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फाहियान पाँचवीं (३९९ से ४१४ ई०) भारत आये थे और पाटलिपुत्र में रहकर उन्होंने वर्षों ज्ञा साधना की थी। उनका जो यात्रा-विवरण उपलब्ध है, उससे तत्कालीन भा जीवन की अनेक बातें मालूम होती हैं।

दूसरे चीनी यात्री ह्यू-एन-साङ्ग थे जो सातवीं सदी में भारत आये थे, जब में राजा हर्षवर्द्धन का राज्य था। भारतवर्ष में वे ६२९ से ६४५ ई० तक

---

[1] श्री आर० सी० मजूमदार ने आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित अपनी एक में ऐसे अनेक बौद्ध पंडितों के नाम गिनाये हैं जो भारत से चीन गये थे जिन्होंने संस्कृत और पाली की कोई तीन हजार पुस्तकों का चीनी में किया था। अनुवाद के ये सारे काम दसवीं सदी तक पूरे हो गये थे। के सिवा भारत का प्रभाव चीन की चित्रकारी, मूर्त्तिकला, स्थापत्य और पर भी पड़ा था।

यू-एन-साङ्ग गोबी की मरुभूमि और मध्य एशिया होकर हिमालय को पार करके रत आये थे। उनके यात्रा-विवरण से पता चलता है कि उन दिनों मध्य एशिया बौद्ध राजाओं का राज्य था तथा मध्य एशिया के तुर्क भी तब तक बौद्ध ही थे। यू-एन-साङ्ग नालन्दा में रहकर पढ़ते और पढ़ाते रहे। वर्षों बाद वे नालन्दा विश्व-द्यालय के उप-कुलपति भी नियुक्त हुए थे। वे लौटे भी मध्य एशिया के ही मार्ग से। नके साथ संस्कृत के अनेक ग्रन्थ भारत से चीन पहुँचे। उन्होंने देखा कि उस समय रासान, इराक, मोसुल और सीरिया के उपान्त तक सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार था।

तीसरे चीनी यात्री इत्सिङ्ग भी सातवीं सदी में ही (६७१-६९५ ई०) भारत आये। वे चीन-समुद्र, भारत-सागर और बंगोपसागर होकर, समुद्र की राह से आये थे र रास्ते में कई मास तक सुमात्रा में रुककर उन्होंने संस्कृत और पाली भाषा का न प्राप्त किया था। वे भी नालन्दा में अनेक वर्षों तक रहे और जब अपने देश को पस जाने लगे तब यहाँ के अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ अपने साथ ले गये।

ईसा के पहले हजार वर्षों में भारत के सन्त, पण्डित और उपदेशक काफी संख्या चीन गये थे। चीन जाकर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार करनेवालों में तीन रतीयों के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कुमारजीव (४०१ ई०), बुद्धभद्र (४२१ ई०) र बोधिधर्म (५२० ई०), इन तीन महापुरुषों ने चीन जाकर जो काम किया, आज तक याद किया जाता है। बोधिधर्म के उपदेशों से ही आगे चलकर "जेन" द्ध मत (अर्थात ध्यानी बौद्ध मत) का विकास हुआ।

चीन से भी यात्री, काफी संख्या में, भारत आते थे। उनकी सुविधा के लिए क गुप्त सम्राट् ने बोध गया में एक चीना-संघाराम ही बनवा रखा था।

भारतीय यात्रियों ने चीन जाकर वहाँ अपने ज्ञान, साधना और स्वभाव का जो रिचय दिया, उससे चीनी जनता भारत की प्रशंसक और भक्त बन गयी। एक य चीन में यह जनश्रुति प्रचलित थी कि जो भी अच्छी चीजें आती हैं, भारत से ही ती हैं। हाङ्चाउ नगर में एक छोटा-सा पर्वत है जिसे उड़न-पहाड़ (फ्लाइंग उण्टेन) कहते हैं। चीन में कहावत है कि यह पहाड़ भारत से ही उड़कर चीन चा था। पहाड़ के पार्श्व में एक विशाल बौद्ध मन्दिर भी है जिसकी स्थापना एक रतीय सन्त ने की थी। चीन में वैदिक धर्म के भी दो-एक अवशेष मिले हैं जो वहाँ संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

भारत में बौद्ध धर्म की अवनति के साथ चीन और भारत का सम्बन्ध शिथिल ने लगा और, अन्त में, वह बिलकुल समाप्त हो गया। किन्तु, हजार वर्षों की संगति प्रभाव चीन पर आज भी मौजूद है।

द्ध और कनफ्युशियस

जब बौद्ध मत चीन पहुँचा, उससे पूर्व कनफ्युशियस और लाओजे (Laotse), दो विचारकों के विचार चीन में काफी प्रसार पा चुके थे। कहा जाता है कि

जिन दिनों भारत में गौतम जनमे थे, उन्हीं दिनों चीन में कनफ्युशियस और का आविर्भाव हुआ था। कनफ्युशियस और लाओजे समकालीन थे और मुलाकात भी हुई थी, ऐसी जनश्रुति सुनी जाती है। परम्परा के अनुसार लाओ जन्म ई०पू० ५७० में, बुद्ध का ई०पू० ५६३ में और कनफ्युशियस का ई०पू० में हुआ था।

कनफ्युशियस का विश्वास ईश्वर में था या नहीं, उसका ठीक-ठीक चलता। किन्तु, आचारों के वे प्रबल समर्थक थे। पूर्वजों की पूजा करना वे बंताते थे और आदर्श मनुष्य की उनकी कल्पना यह थी कि उसे अपने माता- बुजुर्गों के प्रति विनम्र होना चाहिये एवं राज्य-सत्ता के प्रति उसे आज्ञाकारी रहना चाहिये। कनफ्युशियस का सारा जोर समाज के संगठन एवं उसके शृङ्खला, अनुशासन और कर्मठता के विकास पर था। उनके एक शिष्य सेकुङ् थे कि मन्दिरों में भेड़ों की बलि रोक दी जाय। कनफ्युशियस ने कहा, तुम्हें दया आती है, लेकिन, मैं संस्था में विश्वास करता हूँ। एक बार यह पूछे जाने बुराई के बदले भलाई करने के बारे में आपका क्या विचार है, कनफ्युशियस था, तो भलाई के बदले में हमें क्या करना चाहिये? भलाई के बदले भलाई लोग भले बनते हैं और बुराई के बदले बुराई पाने से वे बुराई से डरते हैं। शियस का विश्वास ज्ञान में कम, आचार में अधिक था। वे कहते थे, सत्य को पाकर बड़ा होता है, आदमी सत्य को पाकर नहीं।

लाओजे रहस्यवादी थे। उन्होंने, **'ताओ'** का सिद्धान्त चलाया जो ब्रह्म के सिद्धान्त के समान था। ताओ का अर्थ पन्थ होता है। **ताओ-ते-किङ्** के बारे में अनेक रहस्यवादी उद्गार हैं। "जो ताओ भाषा में कहा जा वह असली ताओ नहीं है।" "ताओ वह है जो पहले निराकार था और जिस आकार प्रकट हुए हैं।" "संसार की सारी वस्तुएँ अस्तित्व में से निकली हैं, अस्तित्व का विकास शून्य के भीतर से हुआ।" स्वर्ग, ऋत, शान्ति और नि ताओ सिद्धान्त के चार प्रमुख सूत्र हैं।

आर्थर बैले का कहना है कि लाओजे पर उपनिषद् का प्रभाव था। किन्तु प्रभाव कब और कैसे पड़ा, यह बात हम नहीं जानते। चीन के पंडित भी ला उपनिषदों का प्रभाव मानते हैं।

किन्तु, चीन में लाओजे का प्रभाव कभी भी गहरा नहीं हुआ। कन समाज की ठोस सेवा का उपदेश देते थे। साथ ही, उन्होंने राज्यसत्ता के प्र भी सिखायी थी। अतएव, चीन के राजे, चुन-चुन कर, कनफ्युशियस-मतावल अपना मंत्री और सलाहकार बनाते थे। जो विद्वान मन से लाओजे के सि विश्वास करता था, वह भी राज्याश्रय पाने के लोभ से ऊपर से अपने को कन वादी ही बताता था। अतएव, कनफ्युशियस ने लाओजे को हमेशा दबा कर

चीन बौद्ध मत की ओर क्यों आकृष्ट हुआ, इसका कारण लाओजे के लाओजे ने एक प्रकार से बौद्ध मत के लिए जमीन तैयार कर रखी थी।

बौद्ध मत को एक प्रकार के **ताओधर्म** के रूप में लिया। और बौद्ध मत ने भी चीन अपनी अभिव्यक्ति ताओ-मत की शब्दावली में ही की। ईसा की दूसरी शताब्दी चीन में यह जनश्रुति भी सुनी जाती थी कि ताओ-ते-किङ्ग लिखने के बाद लाओजे दृश्य हो गये और वही भारत में बुद्ध बनकर प्रकट हुए।

कनफ्युशियस के विचार प्रवृत्तिमार्गी थे, बौद्ध मत निवृत्तिमार्गी था। तब भी, रम्भ में चीन में बौद्ध मत के प्रचार में कोई बड़ी बाधा नहीं आयी, क्योंकि ओजे की चालना से जगी हुई धर्म की तृषा चीनी जनता में भी थी और यह ा कनफ्युशियस के शुष्क तर्कों से नहीं, बौद्ध मत की रहस्यवादी भावना से त हो सकती थी। किन्तु, लगभग नवीं सदी के बाद बौद्ध मत को अपदस्थ करने तैयारी चीन में शुरू हो गयी। सन् ८४४ ई० में सम्राट् वुत्सुङ्ग ने सभी विदेशी ों के विरुद्ध उत्पीड़न की कार्रवाई शुरू कर दी, जिसकी मार में जरथुस्त्र-धर्म के थ बौद्ध धर्म भी आ गया। राज्य-प्रश्रय बौद्ध मत को उसके बाद भी मिला, किन्तु, की स्थिति डाँवाडोल होने लगी। दसवीं सदी तक बौद्ध मत के भीतर भारत में नये-, उत्तेजक विचार प्रकट हो रहे थे। इससे भी चीन में बौद्ध धर्म आकर्षण का केन्द्र ा रहा। उसके बाद, जब भारत में शैथिल्य आने लगा, तब उसका प्रभाव भारत से हर भी पड़ा और कनफ्युसियस के धक्के से चीन का बौद्ध मत कमजोर होने लगा। का विजेता **चंगेज खाँ** (११६२-१२२७ ई०) और उसका पोता एवं चीन का म मुगल सम्राट् **कुबला खाँ** (१२९४ ई० में मरा), दोनों बौद्ध थे। लेकिन, उनके द मिङ्-वंश (१३६८ से १६४४ ई०) तथा माञ्चू-वंश (१६४४ से १९१२ ई०) के ीन कनफ्युशियस का मत ऊपर आ गया और बौद्ध मत काफी दब गया।

र्मा और स्याम

बर्मा और स्याम के दर्शन, विचार और कला बहुत कुछ भारत के ही दर्शन, कला र विचार हैं। भारतीय संस्कृति का विस्तार बर्मा और स्याम से बहुत आगे तक । वर्मा और स्याम तो सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के अपने अंग थे। स्याम देश ने नी स्वाधीनता की रक्षा का बड़ा ही ध्यान रखा। किन्तु, बर्मा भारत के ही समान टिश जाति का गुलाम हो गया था। सन् १९३७ ई० तक बर्मा भारतवर्ष के साथ ही गवर्नर-जेनरल के अधीन था। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद दिल्ली में जो एशियाई सम्मेलन हुआ था, उसमें बर्मी प्रतिनिधि-मंडल के नेता श्री जस्टिस क्याव मिण्ट कहा था, "मैं तो विदेश नहीं, अपने ही घर आया हूँ। हम संस्कृति के केन्द्र से बद्ध हैं। हम भारत से विचार में समीप हैं, भूगोल में समीप हैं, समाज और कृति में भी समीप हैं।"

इसी प्रकार, एक स्यामी छात्र ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को शान्ति-निकेतन से लिखते हुए कहा था, "इस महान् और पुरातन देश आर्यावर्त में आने को मैं अपना म सौभाग्य मानता हूँ। यहाँ आकर मैं उस भारत-मातामही के चरणों में अपना

अभिनन्दन भेंट करता हूँ, जिसकी गोद में पलकर हमारी देशमाता ने यह शि
थी कि धर्म और संस्कृति में जो उत्तम गुण निहित हैं, उन्हें किस प्रकार
चाहिये।"

समुद्रगुप्त के समय (३५२ ई०) कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ
की भाषा ब्राह्मी लिपि में लिखी जाने लगी। तिब्बत में बौद्ध-धर्म कुछ पहले
चुका था। धर्म की अभिवृद्धि के लिए वहाँ के राजा ने नालन्दा के मुख्य
श्री शान्तरक्षित को अपने देश बुला लिया।

जापान में बौद्ध मत

जापान में बौद्ध मत कोरिया से गया था। उस समय शिन्तो-धर्म ही
धर्म था। शिन्तो-धर्म चीन के कनफ्युशियस-मत से मिलता-जुलता था।
प्रधान शिक्षा यह थी कि आदमी को पूर्वज, सम्राट् और राष्ट्र के प्रति
चाहिये। बौद्ध मत जापान छठी शताब्दी में पहुँचा था। नवीं सदी में
धर्म और शिन्तो-धर्म के बहुत से देवता एकाकार हो गये। शिन्तो-धर्म के भीत
धर्म के कई दार्शनिक एवं आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रविष्ट हो गये और इस
से शिन्तो-बौद्ध-मत, एक नया नाम निकल पड़ा।

ध्यानी बुद्ध को लेकर बोधिधर्म ने छठी शताब्दी में चीन में जिस ध्यान
प्रवर्त्तन किया था, उसका जापान में प्रचार मियोयान एइसाइ (Myoan Eisai
1215 A. D.) ने किया जो जेन-बौद्ध-मत के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। समाधि
में रात्रि-जागरण आवश्यक कृत्य था। इस रात्रि-जागरण को सुकर बनाने के
जापानी लोग चीन से चाय के बीज ले आये और चाय की खेती का रिवाज
भी चल पड़ा।

चीन के बौद्ध मतावलम्बी मानते थे कि मुक्ति अमिताभ की कृपा से मि
यह विश्वास जापान में जोडो सम्प्रदाय (१२वीं सदी) के भीतर पल्लवित हुआ।
अमिताभ को अमिदा बुत्सू कहते हैं। बुत्सू जापान में बुद्ध का नाम है।

जोडो सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गेंकू थे। उनके शिष्य शिनरन (Shinran) ने
पर बल डाला और बौद्ध मत से प्रवृत्ति-मार्ग की शिक्षा निकाली जिस ओर
का अपना रुजहान था। शिनरन की इस व्याख्या का घोर विरोध निचिरेन
और उन्होंने यह कोशिश की कि बौद्ध मत की निवृत्ति बनी रहे एवं अमि
कृपा में भी जनता का विश्वास अटल बना रहे।

सन् १८६८ ई० में शिन्तो-धर्म जापान का राज-धर्म बना दिया गया।
शिन्तो-धर्म और बौद्ध मत में जो सम्बन्ध रहता आया था, वह भग्न हो गया।
आगे चलकर धार्मिक स्वतंत्रता फिर से प्रचलित कर दी गयी और बौद्ध
फूलने-फलने लगा।

इन दिनों टोकियो में अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध समाज काम कर रहा है, जिस
भारत के प्राचीन बौद्ध धर्म को जाग्रत और प्रचलित करना है।

प्रकरण ६

बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव

न्ति की गंगा में शैवाल

महात्मा बुद्ध ने क्रान्ति की जो गंगा बहायी थी, उसमें शैवाल उसी के भीतर से
पन्न हुए। शैवाल जल से उत्पन्न होते ही हैं।

कामिनी-कांचन अनन्त काल से वदनाम रहे हैं। अनन्त काल से यह समझा जाता
है कि जहाँ कामिनी-कांचन एकत्र हुए कि मनुष्य की ऊर्ध्वग यात्रा अवरुद्ध हो
ती है और वह, शनैः-शनैः, नीचे आने लगता है। बौद्ध श्रमणों के भी पतन का
रण कामिनी-कांचन-संयोग ही हुआ। स्वर्गीय धर्मानन्द कोसम्बी ने लिखा है कि
मणों की अवनति का बीज उनके द्वारा स्वीकृत राज्याश्रय में था।" यह केवल इसी
रण नहीं कि राज्याश्रय पाकर श्रमण आरामतलब और आलसी हो गये, बल्कि, इस
रण भी कि राज्याश्रय की लत पड़ जाने के कारण उनकी स्वाधीनता जाती रही।
के लिए यह आवश्यक हो गया कि राजाओं को वे मिलाकर रखें, स्वयं उनसे मिल-
रहें और जो बातें राजाओं को पसन्द हों, उन्हें धर्म की कथाओं में स्थान दें। पुष्य-
ने जब वैदिक धर्म की ध्वजा फहरा दी, तब बौद्ध श्रमण वायव्य दिशा से आनेवाले
न और शक राजाओं का आश्रय खोजने लगे और उनकी प्रशंसा धर्मग्रन्थों तक में
ने लगे। ऐसी बात बुद्ध के समय का भिक्षु नहीं कर सकता था। किन्तु, महायान-
य में कनिष्क की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। शक राजा बड़े शूर थे और
हें शूरता से बड़ा प्रेम था। उन्हें प्रसन्न करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं ने बुद्ध के पूर्व-
म की कथाओं (जातकों) में अनेक रसों की कहानियाँ भर दीं जिससे जनता का
पौराणिक हो गया और जिन बातों को बुद्ध ने अव्याकृत कहकर छोड़ दिया था,
बातों की चर्चा में बौद्ध श्रमण जोर से पड़ गये। "राजाओं और बड़े आदमियों
मन जीतने के लिए मूल बौद्ध साहित्य में उन्होंने इतना परिवर्तन किया कि
बुद्ध का उपदेश कहना कहाँ तक उचित है, यह नहीं कहा जा सकता।" (कोसम्बी)।

दान और जागीर के कारण संघ राजमहल-से दीखने लगे और श्रमणों में विला-
ता की मात्रा बहुत बढ़ गयी। इससे होनेवाली आध्यात्मिक क्षति के सिवा, श्रमणों
एक क्षति यह भी हुई कि ब्राह्मण उनसे जलने लगे और, कभी-कभी, राजा श्रमणों
मठों पर इसलिए भी प्रहार करने लगे कि श्रमणों के भाग जाने पर वे मठ की
त्ति पर अधिकार कर सकें। श्रीहर्ष से पहले, राजा शशाङ्क ने बौद्ध मठों पर बड़ा
चार किया। उसी शती में नेडुरमान् पांड्य राजा ने दक्षिण में आठ हजार जैन
ओं को जान से मार डाला।

कहते हैं, ये उत्पीड़न शैवों के इशारे पर किये जाते थे । किन्तु, केवल इन से धर्म का पतन असम्भव था । सम्भव वह इसलिए हुआ कि बौद्ध साधुओं के खराब होने लगे थे ।

ये साधु धर्म को भूलकर सुख की कामना करने लगे । "गुप्त-साम्राज्य के काल से हर्षवर्द्धन के समय तक, उन्होंने मंजुश्री-मूलकल्प, गुह्यसमाज और आदि कितने ही मंत्रों की सृष्टि कर ली । मंजुश्री-मूलकल्प ने तंत्रों के लिए रा दिया । गुह्य-समाज ने अपने भैरवी-चक्र, शराब, स्त्री-सम्भोग तथा मन्त्रोच्चारण और भी आसान कर दिया । आठवीं शताब्दी में एक प्रकार से भारत के सम्प्रदाय वज्रयान-गर्भित महायान के अनुयायी हो गये थे । बुद्ध की सीधी-सादी से उनका विश्वास उठ चुका था और वे मनगढ़ंत हजारों लोकोत्तर कथाओं पर करते थे । बाहर से भिक्षु के कपड़े पहनने पर भी, भीतर से वे गुह्य-समाजी थे बड़े विद्वान और प्रतिभाशाली कवि, आधे पागल हो, चौरासी-सिद्धों में दा सन्ध्या-भाषा में निर्गुण गान करते थे । आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी बौद्ध धर्म, वस्तुतः, वज्रयान या भैरवी-चक्र का धर्म था । इन पाँच शताब्दियों धीरे, एक तरह से सारी भारतीय जनता इनके चक्कर में पड़कर कामव्यसनी और मूढ़विश्वासी बन गयी थी । राजा लोग जहाँ राज-रक्षा के लिए पलटन वहाँ उसके लिए किसी सिद्धाचार्य तथा उसके सैकड़ों तांत्रिक अनुयायियों की बहु-व्यय-साध्य पलटन रखा करते थे । देव-मन्दिरों में बराबर ही बलि-पूजा रहती थी । लाभ-सत्कार का द्वार उन्मुक्त होने से ब्राह्मणों और दूसरे धर्मानु ने भी, बहुत अंश में, इनका अनुकरण किया ।" (बुद्धचर्या) ।

बौद्ध धर्म के इस पतन से एक शिक्षा निकलती है कि सुख के आतिशय्य से पैदा होती है । सचमुच ही, राज्याश्रय बौद्ध धर्म की पहली बाधा थी, क्योंकि कुचाली और अ-लोकप्रिय राजाओं की भी प्रशंसा करना श्रमणों के लिए अनि गया और जनता से वे दूर पड़ने लगे । स्त्री-सेवन और विलासिता के प्रचलन कारण मनोवैज्ञानिक भी माना जाना चाहिये । साकारोपासना की अति से समाज निराकार की ओर चलता है और निराकारोपासना से क्लान्त समाज की खोज करता है । इसी प्रकार, भोग की अतिशयता से ऊबा हुआ समाज समझना चाहता है और त्याग के अति-सेवन से पीड़ित मनुष्य भोग की ओर चाहता है । वैदिक सभ्यता, अन्त में, भोगवादी हो गयी थी ; अतएव, उपनि त्याग का संदेश सुनाया । जैन और बौद्ध मत इस त्याग को खींचकर बहुत दूर गये । मध्यम मार्ग पर आरूढ़ रहने में क्षण-क्षण जिस सतर्कता की आवश्यक है, वह लोगों में नहीं रही । समाज, त्याग के शुष्क भावों से, विरत होने ल समाज की इसी विरति से हार कर बौद्ध एवं जैन धर्मों ने हिन्दुत्व के साकारवा को अपने भीतर पचाना आरम्भ किया । महायान बौद्ध धर्म की इस चिन्ता का था कि राजाओं तथा दान देनेवाली समृद्ध जनता से उसका सम्बन्ध कैसे

और जनता तथा धार्मिक नेताओं की जिस प्रवृत्ति ने हीनयान अथवा श्रावकयान पर महायान को तरजीह दी, उसी ने उस मार्ग को भी प्रशस्त किया, जिस मार्ग पर चलते हुए बौद्ध धर्म के पेट से पहले मंत्रयान, फिर वज्रयान और अन्त में, सहजयान प्रकट हुए।

श्रावकयान से सहजयान तक की दूरी बहुत बड़ी है और इन दोनों के रूप भी परस्पर मेल नहीं खाते। श्रावकयान या हीनयान भगवान बुद्ध का मौलिक उपदेश था और इस धर्म में भोग के त्याग एवं आचारों की पवित्रता ही प्रधान थी। किन्तु, सहजयान तक आते-आते वही धर्म मद्य, मांस और मैथुन को धार्मिक कृत्य मानने लगा। भगवान बुद्ध ने जिन सांसारिक सुखों को निर्वाण का वाधक वतलाया था, वे ही सुख अब मुक्ति के सोपान बन गये।

शाक्त धर्म का परिचय

महायान के भीतर से मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान कैसे प्रकट हुए, इसे समझने के लिए हमें तंत्र-साधना की परम्परा से किञ्चित् परिचित होना चाहिये। जिस प्रकार बुद्ध के मौलिक उपदेश उपनिषदों की चिन्तन-पद्धति से निकले थे और, वाद को, महायान का आरम्भ वैदिक धर्म के अनेक अंगों—मूर्त्ति-पूजा, अवतार-वाद, आदि—के प्रभावों से हुआ उसी प्रकार, महायान के वाद आरम्भ होनेवाले यानों पर हम शाक्त धर्म का प्रभाव देखते हैं।

शाक्त-मतावलम्बी शाक्त धर्म को उतना ही प्राचीन मानते हैं जितना प्राचीन वैदिक धर्म है, प्रत्युत, कितने ही विद्वान् यह भी विश्वास करते हैं कि इस मत का विकास, यद्यपि वैदिक धर्म के प्रभाव से हुआ है, किन्तु, उसके वीज प्राक्-आर्य भारत में विद्यमान थे।

तंत्रवाद के अनुसार सृष्टि का उद्भव और विकास शिव और शक्ति के संयोग से होता है। किन्तु, शिव, शव और शक्ति प्रेरणा है। शक्ति के प्रेरित होने पर ही शिव में गति उत्पन्न होती है। भाव यह कि केवल-ज्ञान निस्पन्द होता है। स्पन्दन अथवा चालना उसमें ऊर्जा अथवा शक्ति से आती है। संसार के रोमांटिक चिन्तकों ने जो यह कल्पना की कि नारी प्रेरणा का उद्‌गम है और पुरुष उसीसे प्रेरित होकर बड़े-बड़े कार्य करता है, मूल में, वह कल्पना शाक्त दर्शन से पूरा मेल खाती है। शाक्त दर्शन का सम्बन्ध सांख्य दर्शन से भी जोड़ा जाता है, क्योंकि सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति, दोनों अनादि हैं और उन्हीं के योग से सृष्टि उत्पन्न होती है। सांख्य दर्शन का प्रभाव अन्य सम्प्रदायों पर भी पड़ा। विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी की उपासना और ब्रह्मा की शक्ति के रूप में सरस्वती की उपासना, और कुछ नहीं, पुरुष और प्रकृति के समन्वय का ही प्रयास है। इसी क्रम में शिव और उनकी शक्ति पार्वती की कल्पना विकसित हुई। आरम्भ में शैव और शाक्त धर्म परस्पर भिन्न नहीं थे और आज भी शाक्त पंथ अन्य पन्थों से दूर, किन्तु, शैव पन्थ के समीप समझा जाता है। किन्तु, कालक्रम में दोनों पन्थों के बीच दूरता का विधान हो गया। शैव धर्म की साधना

पहले भी ज्ञानमयी भक्ति की साधना थी और आज भी शैव मार्ग ज्ञान-सम्मत का ही मार्ग है। शैव धर्म का ध्येय पहले भी मुक्ति थी और आज भी मुक्ति किन्तु, शाक्त धर्म ने, मोक्षकामी होते हुए भी, व्यवहारत:, अपना ध्येय मुक्ति सिद्धि को माना और उसके साधनों में भी प्रधानता मंत्र, यंत्र और योग की गयी। योग की साधना शैव धर्म के साथ ही विकसित हुई थी और उसके साथ वह भी वर्तमान है तथा शैवों में उसका लक्ष्य आज भी मुक्ति ही मानी जाती है। शाक्त धर्म ने योग को सिद्धियों के प्रमुख साधन के रूप में अपना लिया।

योग-शास्त्र

योग शब्द युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना होता है। इस विद्या का नाम इसलिए पड़ा कि इसके द्वारा साधक शरीर को आत्मा से जोड़ते हैं एवं वैय आत्मा को विश्वात्मा में एकाकार करते हैं। योगी योग-क्रिया के द्वारा भावों उद्वेगों को शान्त एवं मांस-पेशियों, स्नायुओं और धमनियों की क्रियाओं को अनुशासन में नियोजित करता है। अन्त में, मन के विलय के द्वारा योग आत्मा मुक्ति का भी कारण होता है।

भारत के बाहर भारत की सब से बड़ी विशेषता, शायद, योग ही समझी है। जब से मनोवैज्ञानिकों को यह पता चला है कि योग की प्रक्रिया मनोविज्ञान प्रक्रिया से मिलती-जुलती है, तब से आधुनिक विश्व में भी योग की प्रतिष्ठा अधिक हो गयी है।

योग की प्रक्रिया, बहुत दूर तक, मनोविज्ञान की प्रक्रिया है, यह सत्य है। तीय परम्परा में योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं ; "योग: चित्तवृत्ति-निरोध योग शरीर की क्रिया से मन को नियंत्रित करने का उपदेश देता है। वह आत्मा गहराई का सन्धान करनेवाली विद्या का नाम है। वह हलचल और प्रलोभनों के मन को स्थिर रखने की कला है। मनोविज्ञान ने अवचेतन का अनुमान भर है, योग अवचेतन मन तक जाने का मार्ग निर्धारित करता है। किन्तु, मन के द्वारा जब योग मुक्ति का कारण हो उठता है, तब वह मनोविज्ञान नहीं रह शुद्ध धर्म बन जाता है। योग से निसर्गोत्तर शक्तियाँ भी जाग्रत होती हैं।

योग की, मनोविज्ञान से, समता एक अन्य प्रकार से भी देखी जा सकती हम जो कुछ भी करते या सोचते हैं, उन कर्मों और विचारों का प्रभाव हमारी पर पड़ता जाता है। यही प्रभाव संस्कार है जिसकी परतें हमारी आत्मा पर हुई हैं। ये संस्कार विचारों की प्रक्रिया से बनते हैं, कर्मों के क्षरण से बने इन्द्रियों की आसक्ति और वासनाओं की तरंग से उत्पन्न होते हैं। आत्मा पर संस्कारों की परतें जम जाने के कारण मनुष्य आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता। योग के द्वारा इन परतों को तोड़कर अपने आत्मरूप का साक्षात्कार करता है। विज्ञान का मत है कि, यद्यपि, हम पशु-जीवन से निकल कर मनुष्य हो गये हैं,

मारी पाशविक प्रेरणाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। वे हमारे अवचेतन-मन में अब पुञ्जीभूत हैं और हमारी असावधानता में वे अचानक भड़क उठती हैं। मनोवि- न इसे आदिम जीवन की प्रेरणा (Primordial life-urges) कहता है। किन्तु, चार कर देखिये तो आदिम जीवन की यह प्रच्छन्न प्रेरणा अथवा जन्म-जात प्रवृ- यों (Instinctive Impulses) की यह शक्ति हमारे अतीत का ही संस्कार है। ग इसी संस्कार के बन्धन से मुक्ति का उपाय है।

मनोविज्ञान जब मन की अतल गहराई में उतरता है, तब भाषा असमर्थ हो जाती । इसलिए, मनोवैज्ञानिकों ने कई नये शब्द गढ़े हैं, जिनके अर्थ सामान्य भाषा में झे नहीं जा सकते, जैसे लिबिडो, ईरोज, ओडिपस कम्प्लेक्स इत्यादि। योग के भी तने ही पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनकी व्याख्या सामान्य भाषा में नहीं की जा कती। उनके सही अर्थों का ज्ञान केवल उनके पास है जो योग के अभ्यासी हैं। डलिनी, पट्-चक्र, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, युगनद्ध आदि ऐसे ही शब्द हैं।

योग की परम्परा प्राग्वैदिक परम्परा है। आर्यों ने इस विद्या का ज्ञान भारत में कर प्राप्त किया। पीछे उन्होंने इस विद्या का वर्धन और विकास भी किया। योग- धि, ध्यान-योग और अध्यात्म-योग, ये शब्द उपनिषदों में कई बार आये हैं। योग निरूपण, दर्शन की पद्धति के रूप में, पतंजलि ने किया। उनके ग्रन्थ का नाम योग न है जो योग का अत्यन्त प्रामाणिक आख्यान है। पतंजलि के मतानुसार चित्त ईश्वर पर पूर्णतया केन्द्रित किये बिना न तो ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है, उनकी कृपा ही मिल सकती है। पतंजलि मानते हैं कि सांसारिक वासनाओं पर जय नहीं मिलने से चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता, न योग की स्थिति ही उत्पन्न ती है। अतएव, योग वैराग्य-साधना का पन्थ है, अत्यन्त कठोर कृच्छ्राचार का मार्ग । भारतीय साधना में वैराग्य का जो अपरिमित महत्त्व देखा जाता है, उसका एक ान कारण इस देश में प्रचलित योगाचार था।

योग और सांख्य, भारतीय दर्शन की दोनों पद्धतियाँ, प्रायः एक ही हैं। दोनों में द है तो यह है कि योग-दर्शन सेश्वर भी है और निरीश्वर भी। पतंजलि के योग- वों में कहा गया है कि ईश्वर वह सर्वज्ञ गुरु है, जिसमें मानवीय आत्मा के दोष और की अपूर्णता नहीं होती और जो क्लेश, कर्म-विपाक तथा मलिन संस्कारों के स्पर्श से था मुक्त है। किन्तु, योगी ऐसे लोग भी हुए हैं, जिनमें ईश्वर-भक्ति नहीं थी। ग-साधना ईश्वर की कल्पना के बिना भी की जाती है। इसी कारण, कई स्थानों र योग को निरीश्वर-सांख्य भी कहा गया है। और इसी निरीश्वर योगसाधन का तिपादन महावीर और वृद्ध के अनुयायियों ने किया।

पतंजलि का योग नो राजयोग कहलाता है, जिसका सारा जोर मानसिक क्रियाओं नियंत्रण पर, चित्तवृत्तियों के निरोध पर है। किन्तु, योग की शारीरिक क्रियाओं अति विकास हठयोग में हुआ। हठयोग का अर्थ 'बलात् योग' होता है। राजयोगी होते हैं, जिनकी साधना की प्रकिया मनोविंज्ञान की प्रक्रिया है अर्थात् जो मन को

ही समेट कर उसे स्थिर करते अथवा किसी एक दिशा की ओर ले जाते हैं। हठयोगी शारीरिक क्रियाओं (रेचक, पूरक, कुम्भक, नेती, धौति आदि) के पर बलपूर्वक अधिकार प्राप्त करता है। योग के जो असंख्य चमत्कार सुने वे राजयोग के नहीं, इसी हठयोग के अंग हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि साधकों का कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जिसका राजयोग में थोड़ा या बहुत नहीं हो। किन्तु, शैव और शाक्त, ये दो सम्प्रदाय ऐसे हुए जिनमें हठयोग अधिक सम्मान था। और शाक्त यानी तंत्रमार्गी चूँकि यह मानकर चले थे कि में भक्ति से भी अधिक महत्त्व साधना की विधि अथवा उसके आचार का है, हठयोग का सर्वाधिक प्रचलन भी तन्त्र-मार्ग में ही हुआ।

तंत्र-मार्ग

तंत्र-मार्ग की असली विशेषता ही उसके साधनों की विशेषता है। भक्ति सना और प्रार्थना तंत्र-मार्ग में भी हैं, किन्तु, तन्त्र-मार्ग भक्ति, उपासना और का मार्ग नहीं है। तंत्र-मार्गी साधक रुदन, गायन अथवा विलाप और प्रार्थना द्वारा देवी को प्रसन्न करने की आशा नहीं रखता, बल्कि, उसका विश्वास मंत्रों उच्चारण में, मण्डलों, वृत्तों और नानाविधि यंत्रों के निगूढ़ रहस्य-चिन्तन में और पद्धति के द्वारा शरीर में निहित सूक्ष्म शक्तियों के जागरण और विकास में जब तक शरीर के भीतर निद्रित और प्रच्छन्न शक्तियाँ नहीं जगतीं, साधक विश्वास नहीं होता कि वह सिद्धि के समीप है। जब उसकी कुण्डलिनी-शक्ति हो जाती है, तभी वह समझता है कि उसके आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त गया। भारत में बहुत दिनों से यह विश्वास रहा है कि जिसकी कुण्डलिनी जग वह चमत्कारपूर्ण शक्तियों से युक्त हो जाता है। वह एक नगर में बैठे-बैठे दूसरे की घटनाओं को देख सकता है तथा वर्तमान में रहकर वह भूत और भविष्य झाँकी ले सकता है। इसलिए योगी, सिद्ध होते ही, देश और काल के बन्धन हो जाते हैं।

तंत्र-मार्ग में मंत्रों के शुद्ध पाठ पर जो जोर है उसकी परम्परा तो वेद थी, क्योंकि, वेदों के समय भी समझा यही जाता था कि शुद्ध-शुद्ध उच्चरित हुए मंत्र अपना फल नहीं देते। योग की परम्परा तो इस देश में वेदों के पूर्व से ही थी। रह गयी मंत्र, यंत्र और योग के साथ सम्बद्ध चमत्कारों की बात, चमत्कारों का भी भरपूर उल्लेख अथर्ववेद में है।

तंत्र की व्युत्पत्ति लोग तन् धातु से बतलाते हैं, जिसका अर्थ तनाव या होता है। किन्तु, तंत्र का अर्थ ज्ञान का विस्तार किया जाता है। "तन्यते वि ज्ञानं अनेन इति तंत्रम्।" यहाँ फिर सांख्य का स्मरण होता है, क्योंकि सांख्य संख्या का अर्थ गणना नहीं, प्रत्युत, चिन्तन है। अतएव, सांख्य का अर्थ है पद्धति से सत्य की उपलब्धि का मार्ग, जैसे समाधि के द्वारा सत्य की उपलब्धि

को योग कहते हैं। किन्तु, सभी ज्ञान तंत्र नहीं हैं। तंत्र एक विशिष्ट प्रकार का आध्यात्मिक ज्ञान है। कामिकागम के अनुसार तंत्र-साहित्य वह साहित्य है, जिनमें तत्त्व और मंत्र के विषय निरूपित किये गये हैं।

> **तनोति विपुलान् अर्थान् तत्त्व-मंत्र-समन्वितान्**
> **त्राणम् च कुरुते यस्मात् तंत्रम् इति अभिधीयते ।**

तत्त्व से तात्पर्य यह कि सृष्टि के मूलभूत नियम और सत्य क्या हैं। मंत्र से यह अभिप्राय है कि अक्षरों और शब्दों से उठनेवाली ध्वनियों का वैज्ञानिक स्वरूप और प्रभाव क्या है।

अर्थवाचक शब्द के रूप में "तंत्र" का दूसरा नाम "आगम" भी है और शुद्ध अद्वैत साधना को छोड़कर आगम, प्रायः, सभी सम्प्रदायों के मिलते हैं। निगम वेद तथा वेदोद्भूत शास्त्रों को कहते हैं, जिनमें मूल वैदिक धर्म का आख्यान है। आगम विभिन्न सम्प्रदायों की साधनाओं के अलग-अलग मार्ग बताते हैं कि अमुक सम्प्रदाय का साधक पूजा कैसे करे अथवा ध्यान, धारणा और समाधि के सही तरीके क्या हैं। इस प्रकार, तंत्र और आगम, दोनों के आधार वेद ही माने जाते हैं। **कुलार्णव-तंत्र** में भगवान शंकर पार्वती से कहते हैं कि जो शास्त्र वेदोद्भूत हैं, उन्हें भी कौलात्मक ही मानना चाहिये।

> **तस्मात् वेदात्मकम् शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये !**

हिन्दू-धर्म में तंत्र अथवा आगम पाँच माने जाते हैं'; गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त। गणेश और सूर्य की पूजा के गौण हो जाने के कारण अब गाणपत्य और सौर आगमों का अपेक्षाकृत कम प्रचार है। बड़े सम्प्रदाय अब वैष्णव और शैव ही रह गये हैं। किन्तु, शाक्त सम्प्रदाय का भी अभी, विशेषतः, बंगाल, में अच्छा जोर है और तांत्रिक पूजा-पद्धति का अति-विकास भी शाक्त-सम्प्रदाय में ही दिखायी देता है। बल्कि, तंत्र को शाक्त धर्म ने इस जोर से अपना लिया कि अब तंत्र-मार्ग कहने से ध्यान सीधे शाक्त धर्म पर चला जाता है।

शाक्त-दर्शन

वामाचार-साधना के कारण शाक्त धर्म बहुत बदनाम हुआ है, किन्तु, दार्शनिक दृष्टि से शाक्त-दर्शन भी अद्वैत-दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि के मूल में जो वास्तविक तत्त्व है, वह अद्वैत है। उसका नाम शिव-शक्ति एवं उसका स्वभाव सत्-चित्-आनन्द है। शांकर अद्वैत से शाक्त-अद्वैत का भेद यह है कि शांकर अद्वैत में माया का अस्तित्व नहीं माना जाता है, किन्तु, शाक्त-दर्शन में माया भी शिव-शक्ति का ही गुण मानी जाती है। यही गुण विकसित होकर सृष्टि का रूप ग्रहण करता है। शिव-शक्ति में से शिव अचल और शक्ति गतिपूर्ण है। शक्ति की शक्तियाँ दो हैं; एक विद्या, जो चेतना उत्पन्न करती है - दूसरी अविद्या, जो माया-शक्ति का प्रतीक है। इसी माया-शक्ति के द्वारा एक अनेक बनता है, अनन्त सान्त का आकार

ग्रहण करता है और जो अनादि तथा निराकार है, वह भूत, जीवन और मन के प्रकट होता है।

शाक्त-दर्शन में आदि-तत्त्व को मातृ-रूप मानने की सामाजिक व्याप्तियाँ ये कि इस दर्शन के अनुसार नारी-मात्र पूजनीय समझी जाने लगी। विशेषत:, मा और अविवाहित बालिकाओं का शाक्त-धर्म में अत्यन्त ऊँचा और पवित्र स्थान शाक्त-तंत्र में औरतों पर हाथ उठाने की मनाही है और सती-प्रथा को यह निन्दित समझता है। बलि-कर्म में भी मादा पशुओं के बलिदान को यह मार्ग बताता है। महानिर्वाण-तंत्र का कहना है कि जो पति अपनी पत्नी को कुवाक्य है, उसे प्रायश्चित्त-स्वरूप एक दिन का उपवास करना चाहिये। यह भी कि विवा पूर्व बालिकाओं को भी भलीभाँति पढ़ा-लिखा कर उन्हें सुयोग्य बना देना चाहि दबिस्ताँ नामक फ़ारसी ग्रन्थ के एक मुस्लिम लेखक ने भी लिखा है कि आग नारियों को बहुत बड़ा स्थान दिया गया है। आगम नारी-मात्र को शक्ति मानते हैं उनके मत में किसी भी नारी के साथ अच्छा बर्ताव नहीं करना अपराध में समझा जाता है। तंत्र-मार्ग की एक क्रान्तिकारी घोषणा यह भी थी कि तंत्र-सा करने से साधक, गृहस्थ होता हुआ भी, सिद्ध हो सकता है।

सिद्धि का प्राधान्य शाक्त-साधना में बाद को हुआ। वैसे, यह साधना भी की ही साधना है। जीव-मात्र को शाक्त तंत्र तीन कोटियों में विभक्त करते हैं। नीचे "पशु" है, जो माया के पाश में आबद्ध है। उसके ऊपर "वीर" और उससे ऊपर "दिव्य" जीव की कोटियाँ हैं। साधना के क्रम में पशु को ऊपर उठकर वीर कोटि में जाना पड़ता है और जो वीर की कोटि से ऊपर उठ गया, वह दिव्य जाता है। बौद्धों के यहाँ अर्हत् और जैनों के यहाँ सिद्ध का जो स्थान है, शाक्त में दिव्य का भी वही स्थान समझना चाहिये।

कुलार्णव-तंत्र के अनुसार आचार सात प्रकार के होते हैं; वैदिक, वैष्णव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल। वैदिक आचार कर्म पर आधारित है, वैष्णव पर और शैव ज्ञान पर। कर्म, भक्ति और ज्ञान में से किसी एक की अथवा तीनों साधना करनेवाला साधक दक्षिणमार्गी समझा जाता है। किन्तु, वामाचार इन आचारों से भिन्न है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के गहरे पुट वामाचार में भी हैं, यह सब होते हुए भी वामाचार बिलकुल भिन्न मार्ग है।

उलटी धारा की साधना

वामाचार उलटी धारा की साधना है। उसका दार्शनिक आधार यह कल्प कि शिव-शक्ति से छूटकर जीव माया के प्रवाह में बहता-बहता जन्म ग्रहण करता है अतएव, वह यदि मोक्ष पाना चाहे तो उसे उलट कर उस उद्गम की ओर गमन क चाहिये, जहाँ से माया की धारा निःसृत हुई है।

जब जीव शिव-शक्ति में निहित था, तब वह सच्चिदानन्द-स्वरूप और अद्वैत स्थिति में था। शिव-शक्ति से निःसृत होने पर ही वह द्वैत में पड़ा है। इसीलिए,

की कुछ वस्तुओं को वह काम्य तथा कुछ को अकाम्य समझता है ; कुछ को प्रिय और कुछ को अप्रिय मानता है। इसी प्रिय और अप्रिय लगने के भाव से विधि और निषेध के नियम बने हैं, जो बिलकुल कृत्रिम हैं। असल में, संसार का कोई भी कृत्य करणीय या अकरणीय नहीं है। जीवन की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है, जो स्वयं पाप अथवा पुण्य का कारण हो। मुख्य दृष्टि यह नहीं है कि जीवन में क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, बल्कि, यह कि कर्म और अकर्म का भेद कैसे मिटाया जा सकता है। शिव-शक्ति से व्याप्त होने के कारण संसार की प्रत्येक वस्तु अघृण्य है। साधना की सच्ची सफलता इस बात में है कि हम घृण्य को भी अघृण्य बना सकें ; स्थूल को भी सूक्ष्म के स्तर पर ले जा सकें। घृण्य को अघृण्य बनाने वाली साधना का उत्कट विकास औघड़-पंथ में हुआ। कहावत मशहूर है कि सिद्ध औघड़ वह है, जिसकी आँत मक्खी तक पचा सकती है।

इस उलटी साधना ने इस विचार पर जोर दिया कि संसार से मुक्ति का उपाय उससे भागना नहीं, प्रत्युत, सर्वतोभावेन उसे स्वीकार करना है। सम से सम का इलाज, यह होमियोपैथी का सिद्धान्त है। वामाचारियों का भी विश्वास है कि जो चीज मनुष्य को नीचे गिराती है, वही उसे ऊपर भी ले जाती है। इसी विश्वास के कारण वाममार्ग में मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन से युक्त पंच-मकार पूजा का प्रचलन हुआ, जिससे कितनी ही बुराइयाँ उत्पन्न हुईं और शाक्त-धर्म दूषित एवं कलुषित समझा जाने लगा। किन्तु, तंत्रों में इस पूजा का जो रूप समझाया गया है, वह गर्हित नहीं है। पहली अवस्था में तो मद्य, मांस, मीन आदि के सेवन का विधान अवश्य है, किन्तु; दूसरी अवस्था में उनके बदले किसी और वस्तु के सेवन का विधान है। तीसरी अवस्था में योग की प्रधानता दिखायी गयी है। और पंच-मकार में से प्रत्येक का स्थान योग अथवा मनोविज्ञान की कोई-न-कोई क्रिया ले लेती है। तंत्र-साधना की इस स्थिति का दुरुपयोग करके बौद्ध सिद्धों ने जनता को चक्कर में डाल दिया था। भोग तो वे पंच मकार का ही करते थे और बोलकर नाम भी वे मदिरा, मांस और नारी के ही लेते थे, किन्तु, जनता समझती थी कि उनका आशय कुछ और है।

वाममार्गियों के साथ कितनी ही ऐसी बातें देखी गयी हैं जिनका सभ्य, स्वच्छ एवं शिष्ट जीवन से कोई मेल नहीं है। उदाहरणार्थ, उनके बीच अखाद्य खाने का, अपेय पीने का और अगमनीय के साथ गमन करने का रिवाज रहा है। इन सारे भयानक आचारों का उद्गम शाक्त-दर्शन के इस विश्वास में था कि रमणीय और अरमणीय का भेद व्यर्थ है। द्वैत केवल वहीं नहीं है जहाँ हमारा चित्त आकृष्ट हो जाता है, प्रत्युत, वहाँ भी जहाँ जुगुप्सा और घृणा का प्राबल्य है, जिसे देखते ही हमारे भीतर आसक्ति नहीं, वितृष्णा, उत्पन्न होती है। जिसका चित अद्वैत में स्थिर हो गया, वह मल और मिष्टान्न में कोई भेद नहीं देखता, वह श्रेष्ठ और अधम को एक समान समझता है। भेद ही द्वैत का कारण है। अतएव, वाममार्गी साधक प्रत्येक प्रकार के भेद को घटाते-घटाते, अन्त में, उसे शून्य पर पहुँचा देता है।

दक्षिणमार्गी (वैष्णव, शैव और कर्मकाण्डी) साधक भी मानते हैं कि आत्मा में आबद्ध है। किन्तु, उनकी पाशों से छूटने की साधना और है। "मैं त्वचा न मैं मांस नहीं हूँ, मैं अस्थि नहीं हूँ, मैं रक्त और मज्जा भी नहीं हूँ," इस प्रकार सोचते, सबका निवारण कर, वे आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह नेति (Elimi tion) की प्रक्रिया है। किन्तु, वाममार्गी साधक उदात्तीकरण (Sublimation) प्रक्रिया में विश्वास करते हैं। जीव जब शिव-शक्ति के केन्द्र से वियुक्त होकर तब से वह "हंस" की स्थिति में है। "हंस" को उलटकर जब तक वह "सहं" "सोऽहम्" वृत्ति में नहीं पहुँचता, तब तक वह पाशों से मुक्त नहीं होगा। नर नारी जब तक हंस की स्थिति में हैं, तभी तक वे एक दूसरे के निमित्त पाश हैं। दोनों के भीतर यह अनुभूति जाग्रत होती है कि हम हंस नहीं, शिव-शक्ति के प्रतिरूप हैं, तब उनके पाश छूट जाते हैं। शाक्त धर्म में साधक का साधिका के समागम आनुष्ठानिक समागम का प्रतीक है। शाक्त योगाचार में हम "नाद" "विन्दु" का जो उल्लेख पाते हैं, वे इसी आनुष्ठानिक समागम के "नाद" और " हैं तथा समाधि के आनन्द का मूर्त्तरूप इसी समागम का आनन्द माना जाता है।

तांत्रिक साधकों का विश्वास इस बात में रहा है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, एक हैं। जो शक्ति महाब्रह्माण्ड में फैलकर सृष्टि की लीला का विस्तार करती है, पिण्ड (शरीर) के भीतर भी अपना कार्य कर रही है। मानव-शरीर के भीतर जैव नियम क्रियाशील हैं, वे ही भौतिक नियम बनकर ब्रह्माण्ड में काम कर रहे अतएव, सत्य के लिए आकाश-पाताल छानने का प्रयत्न व्यर्थ है। सत्य मनु शरीर के भीतर छिपा हुआ है और उसे उपलब्ध करने का साधन भी मानव- ही है।

इसी विश्वास के कारण तंत्र-साधना में हठयोग की प्रधानता हुई। शरी भीतर छिपे सत्य को शारीरिक क्रिया से ही खोजने के लिए साधक योग के सिवा दूसरे किस साधन का अवलम्ब ले सकते थे? हठयोग के साथ बहुत-से चमत्कारों संयोग बहुत समय से चला आता था। किन्तु, तंत्र-साधकों ने हठयोग का वरण त्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं किया। हठयोग को उन्होंने वह अभ्यास माना जिसके शरीर सत्यानुभूति का यंत्र बनाया जा सकता था। इस प्रकार, उपस्थ से लेकर रन्ध्र तक साधकों ने शरीर के भीतर छह चक्रों की कल्पना की। सबसे नीचे का मूलाधार है और सबसे ऊपर का सहस्रार। शक्ति का निवास मूलाधार में है और का निवास सहस्रार पर। साधक का कर्त्तव्य है कि वह योग-क्रियाओं के द्वारा का भेदन करे अर्थात् मूलाधार पर स्थित शक्ति को जगा कर उसे सभी चक्रों के प्रवेश कराते हुए सहस्रार पर पहुँचा दे। सहस्रार पर पहुँचते ही शक्ति शिव से एक हो जाती है और दोनों के एकत्र होते ही महासुख का अमृत फूट पड़ता है, उपलब्धि साधक की परम सिद्धि कहलाती है। तंत्र-ग्रन्थों में साधक को बराबर किया गया है कि चक्र-भेदन की क्रिया वह गुरु की अनुपस्थिति में न करे।

शिव-शक्ति-मिलन के कुछ दूसरे प्रतीक भी हैं। जिनका उल्लेख शैवागम और राणों में पाया जाता है। शरीर के वाम भाग में शक्ति बसती है और दक्षिण भाग शिव। एक ही शरीर में शिव और शक्ति का एकत्व निवास, यही अर्धनारीश्वर की ल्पना है। योग-दर्शन के अनुसार दक्षिण श्वास का नाम पिंगला है जिसमें शिव का वास है और वाम श्वास का नाम इड़ा (अथवा इंगला) जिसमें शक्ति निवास करती । साधक का कर्त्तव्य है कि वह पिंगला और इंगला को एक स्थान पर लाकर उन्हें काकार कर दे। श्वासों के इस एकीकरण का पारिभाषिक नाम सुषुम्ना है। जब वे क-दूसरे से बढ़ कर या घट कर नहीं चलते, जब वे तटस्थ स्थिति में पहुँच कर सम-सता को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार, शरीर और मन के द्वन्द्वों को भी तटस्थ बनाना, न्हें समरसता की अवस्था में ले जाना तंत्र-साधना का ध्येय है। योग के साथ काम का मिश्रण तंत्र-मार्गियों ने इस विचार से किया कि साधक और साधिका, दोनों इस अनु-भूति तक पहुँच सकें कि, वास्तव में, वे नर-नारी नहीं, प्रत्युत, उससे भिन्न कोई और त्व हैं जिसमें लैंगिक भेदों का आरोप नहीं किया जा सकता, जो शुद्ध, बुद्ध और भी लिंग-वाचक गुणों से स्वतंत्र है।

वामाचार की साधना वे साधक नहीं कर सकते जो अभी पशु-कोटि में हैं। यह इन साधकों के लिए विहित हैं जो वीर-कोटि में पहुँच चुके हैं। किन्तु, वामाचार ाक्त-धर्म की अन्तिम साधना नहीं है। इसके आगे "सिद्धान्त" और "कौल", ये दो ोपान और हैं। सिद्धान्त की कोटि में साधक तब पहुँचता है, जब उसे अनुभव से यह ात हो जाता है कि भोग और त्याग, दोनों निःसार हैं; प्रवृत्ति और निवृत्ति, विधि और निषेध, इनमें कोई तत्त्व नहीं है; सारी सृष्टि अन्तःशून्य है और शिव-क्ति के सिवा और किसी भी तत्त्व का कहीं अस्तित्व नहीं है। यह दिव्यावस्था है। उससे ऊपर कौल स्थिति है जो वैदिकों की ब्रह्मानुभूति के समान निर्विकल्प और ब्दातीत है। कौल शब्द "कुल" से बना है, जो बहुत-कुछ ब्रह्म का ही अर्थ देता है।

यह विचार तर्क-सम्मत है कि जीव मुक्त तभी हो सकता है जब उसके सारे पाश छूट जायें। पाशों में से कामिनी और काञ्चन, ये दो पाश महाभयानक हैं। वैदिक धर्म के अन्दर जो भी सम्प्रदाय बने, उन्होंने यही सिखाया कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए माया के पाशों से छूटना अत्यन्त आवश्यक है। कर्मवादियों ने कर्म के द्वारा, ज्ञानमार्गियों ने ान के द्वारा और भक्तों ने भक्ति के द्वारा इन्हीं पाशों से छूटने का प्रयास किया। एक शाक्त-धर्म ही ऐसा निकला, जिसने यह कहा कि माया के असत्य होने के कारण, उसके गढ़े हुऐ पाश भी असत्य हैं। वे कुछ नहीं में कुछ होने के भ्रम-मात्र हैं। अतएव, उनसे भागना व्यर्थ है। उन्हें अंगीकार करके उनका उदात्तीकरण ही योग्य है। कामिनी माया का सबसे प्रबल पाश मानी जाती थी। सभी मुक्तिकामी उसी को छोड़कर संन्यास लेते थे और उनमें से असंख्य लोग वन में भी नारी-सुख के लिए मन-ही-मन तड़पते थे। शाक्त-धर्म ने अपने वीर-कोटि के साधकों से कहा, तुम उस स्थिति में आ गये हो, जब नारी-समागम भी तुम्हारे लिए पाश नहीं, उदात्तीकृत आनन्द का

ही प्रतीक होगा। तुम इस भाव से समागम करो कि प्रत्येक पुरुष में शिव औ
नारी में शिवा प्रच्छन्न हैं और जहाँ भी नर-नारी का समागम होता है, वहाँ
शिव और शक्ति ही समागम कर रहे हैं। अन्य धर्मों ने काम को पाप मा
शाक्त साधकों ने उसे भी पवित्र कर्म मान लिया।

शाक्त तंत्र मानते हैं कि मंत्रों में शक्ति होती है, मंत्रों की शक्ति का परिणा
है ; देवताओं का अस्तित्व है और सिद्धियाँ, यदि सही ढंग से खोजी जायँ तो,
होती हैं तथा साधनाओं के द्वारा मनुष्य, सचमुच ही, उन्नति करते-करते
सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाता है। वैदिक धर्मों के ज्ञान, भक्ति और कर्म
में भी चलते हैं, किन्तु, अपने ढंग पर। सांख्य से शाक्त-दर्शन का एक बड़ा
बात को लेकर है कि सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ एवं पुरुष चेतन है अर्थात् ना
तथा नर जीवन्त है। किन्तु, शाक्त-मत में जड़ता का आरोप नर (शिव) पर
गया है, चेतना उसमें शक्ति (नारी) की चालना से उत्पन्न होती है। इस
का परिणाम यह हुआ कि शक्ति (दुर्गा, काली आदि) की जो भी प्रतिमाएँ ब
शक्ति शिव की पीठ पर खड़ी दिखायी गयी हैं।

तंत्र-साधना की परम्परा

सदैव से तंत्र-साधना के साथ गुह्यता का एक सघन वातावरण रहता आ
इस गुह्यता का आधार यह माना जाता है कि तंत्र की क्रियाएँ प्रच्छन्न रहने प
फलवती होती हैं। किन्तु, एक कारण यह भी हो सकता है कि वामाचार को
साधारण हमेशा शंका की दृष्टि से देखता था, अतएव, साधकों ने अपनी साध
गुप्त रखने में ही अपना कल्याण समझा।

योग और सिद्धि के चमत्कार बुद्ध भी जानते थे। उन्होंने स्वयं भी आत्म
योग (अपने-आप को विस्तृत करने की क्रिया) का अभ्यास किया था। उनके
शिष्य भारद्वाज जब श्रेष्ठी का पात्र ग्रहण करने को बढ़कर आकाश में ऊपर उ
तब बुद्ध ने उनके इस चमत्कार-प्रदर्शन की निन्दा की थी। अतएव, मंत्र, योग
सिद्धि की साधना भारत में, छिपे-छिपे, बहुत पहले से आ रही थी, इसमें संदे
है। किन्तु, यह सत्य प्रतीत होता है कि तंत्र-मार्ग का अति-विकास महाया
बादवाले सिद्ध साधुओं ने किया।

डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि बौद्ध भिक्षु अधिकतर युवक
करते थे और, प्रायः युवती नारियाँ भी भिक्षुणी बनकर संघ में प्रवेश करती थीं।
साधकों के लिए यह असम्भव था कि वे ब्रह्मचर्य का निर्वाह कड़ाई से कर सकें।
एव, अपने स्खलन को सार्थक सिद्ध करने के प्रयास में वे बौद्ध मत के बाहर प्र
तंत्र-मार्ग को अपनाने लगे। चूँकि उनकी क्रियाओं का समर्थन बौद्ध धर्म-शास्त्र
करते थे, अतएव, उन साधकों ने अपने समाज को गुह्य नाम दिया और जब

---

१. देखिये, राहुल-कृत बुद्धचर्या, सत्रहवाँ परिच्छेद।

माजियों की संख्या बढ़ गयी, तब वे अपना धर्म-शास्त्र लेकर प्रकट होने लगे। बौद्ध तवादियों का पहला धर्मशास्त्र "गुह्य-समाज-तंत्र" था। इस ग्रन्थ में स्वयं बुद्ध से कहलाया गया है कि तंत्र-मार्ग का बौद्ध मत से विरोध नहीं है। किन्तु, यह शास्त्र पाकर इतने दिनों तक इसलिए रखा गया था कि पहले के लोग इसे समझने को र नहीं थे।

गुह्य-समाज-तंत्र की दार्शनिक सामग्री असंग-कृत प्रज्ञापारमिता से ली गयी बतायी ती है और उसमें वर्णित आचार "मंजुश्रीमूलकल्प" के आधार पर हैं। असंग चार्य वसुबन्धु के भाई थे जो पेशावर में रहते थे। वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोष लिखा र असंग योगाचार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। असंग का समय चौथी ाब्दी है और मंजुश्रीमूलकल्प का मूल-रूप दूसरी या पहली शताब्दी में ही बन चुका । अतएव, अनुमान यह होता है कि महायान की आरम्भिक सदियों में ही बौद्ध धर्म त्र-मार्ग की ओर झुकने लगा था एवं चौथी शताब्दी के बाद वह, मुख्य रूप से, त्रमार्गी हो गया।

ह्य-समाज-तंत्र की विशेषताएँ

गुह्य-समाज-तंत्र ने बौद्ध मत में कई सर्वथा नवीन बातों का समावेश किया। बुद्ध केवल इतना कहा था कि कृच्छ्र साधनाओं से मोक्ष नहीं मिलता, न वह भोग में सक्त होने से प्राप्त होता है। गुह्य-समाज-तंत्र ने खुली घोषणा कर दी कि सांसारिक ों से मुँह मोड़कर शरीर को दंडित करना निर्वाण की राह नहीं है। निर्वाण की ी साधना वह है जो इन्द्रियों को तृप्त रखकर की जाती है। पहले के धर्माचार्यों ने कहा था कि बुद्धत्व की प्राप्ति अनेक जन्मों में किये गये तपश्चरणों का परिणाम । गुह्य-समाजियों ने कहा, बुद्धत्व एक जन्म में भी प्राप्त हो सकता है।

गुह्य-समाजियों का दूसरा नवीन अवदान यह था कि उन्होंने योग और समाधि में ीघ्र सफलता पाने के लिए शक्ति-सेवन (नारी की पूजा अथवा उसके सहयोग) को निवार्य बताया। कहते हैं, पूजा में त्रिया-सहयोग की आवश्यकता पहले-पहल गुह्य-माज-तंत्र में ही (यानी तीसरी शताब्दी में) बतायी गयी। उससे पूर्व के तंत्र-साहित्य इसका उल्लेख नहीं है।

यान और मंत्रयान

गुह्य-समाज-तंत्र के प्रभाव से भारत में महायान गौण एवं वज्रयान प्रमुख होने लगा। ायान से वज्रयान को भिन्न करनेवाली कई मान्यताएँ और कितने ही सिद्धान्त काम प्रभाव से ग्रसित दिखायी देते हैं। वज्रयान, यह नाम ही इसलिए चला कि महायान जो "शून्य" था, वह वज्रयानियों द्वारा "वज्र" कहा जाने लगा, क्योंकि "शून्य" वज्र" के समान ही अक्षय और अविनश्वर होता है। फिर वज्रयानियों ने महायान "शून्यता" एवं "करुणा" को, क्रमशः "प्रज्ञा" एवं "उपाय" के नाम दे दिये और दोनों के मिलन को "युगनद्ध" की दशा बताकर उसे ही प्रत्येक साधक का अन्तिम

लक्ष्य ठहराया।[1] "शून्य" (आदि तत्त्व जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है) और (यानी चेतना), ये दो शब्द महायान के माध्यमिक एवं विज्ञानवादी, दोनों ही में प्रयुक्त होते थे। वज्रयानियों ने उनके साथ "महासुख" नामक एक भी जोड़ दिया। वज्रयानी साधक प्रज्ञा (यानी शून्य) को निष्क्रिय ज्ञान मात्र हैं और उसे स्त्री समझते हैं। उपाय पुरुष तत्त्व है और वह क्रियाशील भी है। दोनों तत्त्वों के मिलन को वज्रयान सिद्धि के लिए परमावश्यक मानता है। की समरस अवस्था ही वह "महासुख" है, जो वज्रयानियों का परम ध्येय है। वज्रयानियों की कल्पना यह रही कि बोधिचित्त साधक को ऊर्ध्वमुख होकर यात्रा पृथ्वी के ऊपर की ओर आरम्भ करनी पड़ती है। इस यात्रा-क्रम में सामने, एक के बाद एक के क्रम से, पच्चीस लोक आते हैं, जो सभी त्याज्य हैं। ऊपर जो छब्बीसवाँ लोक है, वही शून्य है। उस शून्य के साथ रमण करने में सुख है, उसे छोड़कर कोई भी साधक वापस आना नहीं चाहता। यही

गुह्य-समाज-तंत्र के आरम्भिक अध्यायों में मंत्रयान पर विशेष जोर दिया सैकड़ों पृष्ठों के सूत्रों का पाठ शीघ्रता से करना कठिन था। यह कठिनाई को भी अनुभूत हुई थी। इसीलिए, ब्राह्मणों ने भागवत का चतुःश्लोकी गीता की सप्तश्लोकी गीता बनाकर प्रार्थना करनेवाले श्रद्धालु लोगों का कर दिया था। लगता है, उन्हीं की देखा-देखी बौद्ध भिक्षुओं ने भी लम्बे-लम्बे छाँटकर पंक्ति-दो-पंक्ति की धारणियाँ बना लीं। "इन्हीं धारणियों को और करके मंत्रों की सृष्टि हुई।" यह इसलिए भी आवश्यक हो गया, क्योंकि तंत्र ने यह स्थापना रखी कि ध्यानी बुद्ध पाँच हैं, जिनमें से प्रत्येक रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों में से किसी एक पर शासन करते हैं। गुह्य-समाज ने यह भी बताया कि प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक शक्ति और उनके परिवार में अनेक बोधिसत्त्वों का स्थान है। इन सभी देवी-देवताओं की के लिए मंत्रों की अलग-अलग रचना की गयी और साधक यह विश्वास करते मंत्रों के जप और मंत्रों के लेखन तथा ध्यान-मात्र से उन्हें सिद्धि प्राप्त हो

कालचक्र-यान का विकास भारत से बाहर हुआ था और बाहर से ही बंगाल और असम में पहले-पहल पाल-युग में पहुँचा। यह यान मंत्र की सम्यक् लिए तिथि, मुहूर्त्त, नक्षत्र और राशि पर जोर देता था। अतएव, कालचक्र-यान का सम्बन्ध ज्योतिष की गणना से भी जोड़ दिया।

महायान, यद्यपि, मूल बौद्ध धर्म से भिन्न मार्ग पर था, किन्तु, उसके भीतर चार नहीं था। पर, जब वज्रयान का प्राधान्य हो गया, बौद्ध संघ अत्यन्त कर्म करनेवालों का अड्डा बन गया। गुह्य-समाज-तंत्र ने खुली घोषणा की थी यानी साधु को नियमों से सर्वथा स्वाधीन होकर विचरने से भी पाप नहीं

---

[1] उत्तर भारत की सन्त-परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी।

ब उस तंत्र का बोलबाला हुआ, बौद्ध साधक, सचमुच ही औघड़ हो गये । 'वज्रयान के विद्वान् प्रतिभाशाली कवि चौरासी सिद्ध विलक्षण प्रकार से रहा करते थे। कोई पनही बनाया करता था, इसलिए, उसे पनहीपा कहते थे । कोई कम्बल ओढ़े रहता था, इसलिए, उसे कमरीपा कहते थे । कोई डमरू रखने से डमरूपा, कोई ओखल रखने से ओखरीपा कहा जाता था । ये लोग शराब में मस्त, खोपड़ी का प्याला ये, श्मशान या विकट जंगलों में रहा करते थे । ये लोग खुल्लमखुल्ला स्त्रियों और राब का उपभोग करते थे । राजा अपनी कन्याएँ तक इन्हें प्रदान करते थे ।"[१]

हजयान

निवृत्तिमूलक साधनाओं का इतिहास, एक प्रकार से, मनुष्यों की वेदनाओं का इतिहास है, उसकी पीड़ाओं और बेचैनियों का इतिहास है । धर्माचार्यों ने यह उपदेश दिया क कामिनी से भागो, कंचन से भागो एवं सुयश और समादर को सन्देह से देखो, योंकि ये लुभावनी ऋद्धियाँ तुम्हें घेर कर संसार में पचाने के लिए हैं । किन्तु, यवहार में देखा यह गया कि जो कंचन से भागने में समर्थ हुआ, वह कामिनी में टक गया और जो कामिनी के पाश से भी छूटा, वह कीर्ति को नहीं छोड़ सका । छ थोड़े लोग ऐसे जरूर हुए जो किसी भी बन्धन में नहीं थे । किन्तु, वे हमेशा पवाद रहे हैं । अपार मानवता तो आसक्ति और वैराग्य तथा भोग और उपवास बीच झटके ही खाती रही है । यह भी अचरज की बात है कि मानवता की इस पुल वेदना का समादर किसी भी धर्म ने नहीं किया । धर्म, दार्शनिक दृष्टि से वृत्तिमूलक हों अथवा निवृत्तिमूलक, द्वैतवादी हों अथवा अद्वैतवादी, घूम-फिर कर यही सिखावन देते हैं कि भूत और आत्मा दो हैं, मैटर और स्पिरिट, ये परस्पर मित्र हीं, शत्रु हैं तथा जो भूत को अपनाता है, वह शैतान का शिष्य है । जिसे ईश्वर को ाना है, जिसे अपना परलोक सुधारना है, उससे द्रव्य से दूर और आत्मा के निकट हना चाहिये ।

इस प्रसंग में जो शंकाएँ हमारे मनों में उठती हैं, वे प्राचीन मनुष्यों के मनों में भी वश्य उठती होंगी । किन्तु, उनका सही उद्घोष प्राचीन काल में सुनायी नहीं पड़ा । हाँ या तो वे लोग हैं जो चार्वाक्-पन्थी हैं अथवा वे लोग हैं जो कीर्त्ति, कंचन और ामिनी की ओर खिसकने को नैतिक स्खलन मानते हैं । वाममार्गियों और वज्रयानियों इस स्खलन पर यौगिक और आनुष्ठानिक चमक डालने की कोशिश जरूर की, न्तु, वे भी यह नहीं कह सके कि नर के भीतर नारी के निमित्त और नारी के भीतर र के निमित्त जो आकर्षण है, वह अपने-आप में सहज, स्निग्ध तथा पवित्र है और र्म से उसका विरोध नहीं है । वाममार्गी अपने को अद्वैतवादी कहते थे, किन्तु, श्वर और प्रकृति को दो मानने का भाव उनमें भी था, क्योंकि नर-नारी-समागम की ार्थकता वे भी आनुष्ठानिक रूप में ही मानते थे । और वज्रयानी साधु डोम्बी, नटी,

---

[१] बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन ।

रजकी, चांडाली और ब्राह्मणी का उपभोग तो करते थे, किन्तु, यह कहकर कि वे नहीं, बौद्ध तंत्र की मनोवैज्ञानिक (साइकिक) शक्तियाँ हैं। यही कारण है कि यानियों का नारी-सेवन कुरूप, कुत्सित और वीभत्स हो गया। नर-नारी-समाग सारी सार्थकता प्रेम को लेकर है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ ऐसे सारे समागम पा छल हैं, अन्याय और दुराचार हैं। वाममार्गियों और वज्रयानियों ने नारी- किया, यह कोई बहुत बड़ा अन्याय नहीं था। अन्याय और व्यभिचार वह इसलि गया कि उन्होंने नारियों को अपना प्रेम नहीं दिया और संसार को उन्होंने इस में रखा कि नारी उनकी प्रेम-पात्री नहीं, आध्यात्मिक उत्थान की सीढ़ी-मात्र है।

बुद्धदेव ने बौद्ध-मत का आधार चारित्रिक संयम पर रखा था। दार्शनिक में उनका भाव यह था कि साधक अव्याकृत विषयों पर चिन्तन नहीं करें, क्योंकि चिन्तन से कोई सुस्पष्ट परिणाम नहीं निकलता। ये दोनों ही बातें बाद के बौद्ध को भारी लगने लगीं। चारित्रिक संयम में त्रुटियाँ तो बुद्ध के समय में ही आर गयी थीं, किन्तु, वे खुलकर कही नहीं जाती थीं। अव्याकृत की अवहेलना म में आरम्भ हुई और चारित्रिक त्रुटियों को सार्थक सिद्ध करने की चेष्टा वज्रयान की। जब सभी बन्धन टूट गये और रास्ता काफी आसान हो गया, तब लगभग सदी में आकर, वज्रयान का एक सम्प्रदाय अपने को **सहजयान** कहने लगा। अ सहजयान और वज्रयान के बीच आरम्भ में विशेष भेद नहीं था। भिन्न वे त जब सहजयान बौद्ध-मत को छोड़कर वैष्णव-मत की ओर चला गया।

वज्रयान की तरह सहजयान में भी आचार पहले बदले थे और बदले हुए आ का समर्थन करने को उपयुक्त दार्शनिक विचार पीछे से तैयार किये गये। इ वज्रयान और सहजयान को दार्शनिक चिन्तन का फल नहीं, बल्कि, उनके द ही साधकों के आचारों का परिणाम समझना चाहिये।

वज्रयानी-सहजयान का दार्शनिक सिद्धान्त यह बना कि सृष्टि का आरम्भ बो से हुआ है जो सहज ही उद्भूत है, जो किसी अन्य शक्ति का निर्माण नहीं है। चित्त शून्यता और करुणा का समन्वित प्रतीक है। शून्यता महाज्ञान अथवा प्र कहते हैं जो निश्चल है, जैसे शाक्त-धर्म में शिव निश्चल और जड़ माना जाता करुणा, दया और मैत्री की प्रेरणा है, जो सक्रिय और गतिशील है। सक्रिय और शील होने के कारण करुणा का नाम उपाय हुआ। प्रज्ञा निवृत्ति और उपाय है। जिसके भीतर प्रज्ञा और उपाय परस्पर एक हो गये, अर्थात् प्रवृत्ति और का भेद मिट गया, वह साधक सिद्ध हो जाता है।

शाक्त दर्शन के समान सहजयान भी यह विश्वास करता था कि सत्य का शरीर में है और शारीरिक क्रियाओं के द्वारा ही वह प्राप्त किया जा सकता है। शारीरिक क्रियाओं के विकास के लिए बौद्ध सहजयानी भी योग का ही आ थे। हाँ, योग-विषयक कुछ पारिभाषिक शब्द उन्होंने अपने बना लिये थे। उदाह शाक्त योगियों का विश्वास छह या आठ चक्रों में था, किन्तु, बौद्ध सहजयानी केव

चक्रों में विश्वास करते थे, जिनके नाम मणिपूर-चक्र या निर्माण-चक्र (नाभि के समीप), अनाहत-चक्र या धर्म-चक्र (हृदय के समीप), सम्भोग-चक्र (ग्रीवा के समीप) और उष्णीष कमल (सहस्रार) थे। इसी प्रकार, शाक्त योगियों की पिंगला, इंगला और सुषुम्ना को भी सहजयानी साधक प्राण, अपान और अवधूती कहा करते थे। सहजयानियों का यह भी विश्वास था कि प्रत्येक नारी प्रज्ञा और प्रत्येक नर उपाय का प्रतीक है तथा उनकी साधना का साफल्य इस बात में है कि वे अपने भौतिक रूप का अतिक्रमण करके इस अनुभूति पर स्थित हों कि वे नर-नारी नहीं, सचमुच ही प्रज्ञा और उपाय के स्वरूप हैं। बोधिचित्त की स्थिति को सहजयान महासुख की स्थिति मानता है और उसका विश्वास है कि यह स्थिति प्रज्ञोपाय (नर-नारी-समागम) से ही सम्भव है।

काम-योग

तंत्राचार, वज्रयान और सहजयान साधना के उस स्वरूप की खोज करते रहे, जिसमें काम और अध्यात्म, योग और नर-नारी-समागम के बीच कहीं कोई समान भूमि पायी जा सके। धर्माचार्यों ने नर-नारी-समागम की मनाही की थी, सभी स्थूल सौन्दर्य को उन्होंने शंका की दृष्टि से देखने का उपदेश दिया था और बार-बार यह बताया था कि शरीर को कष्ट पहुँचाये बिना आत्मा की शक्ति का विकास नहीं होगा। किन्तु, व्यवहारतः, देखा यह गया कि शरीर को कष्ट पहुँचाने की प्रक्रिया, अन्ततः, आत्महनन की प्रक्रिया के समान है और कृच्छ्र साधनाओं का मार्ग जीवन नहीं, मृत्यु का मार्ग होता है। जीवित मनुष्य कोमल, मृदुल और उष्ण होता है। किन्तु, मरने पर वह कठोर और ठंढा हो जाता है। साधक कृच्छ्र साधनाओं का जितना ही अधिक अभ्यास करते, जीवन और प्रकृति से वे उतने ही अधिक दूर निकल जाते थे। और उसपर भी सूखे-से-सूखे काठ के भीतर भी, स्पर्श मात्र से, हरियाली की लहर दौड़ पड़ती थी। बड़े-से-बड़े साधक नारियों की संगति पाते ही पिघल पड़ते थे। ये सारी बातें इस बात की सूचना थीं कि प्रकृति के वेग को रोकना कठिन है; सारे योग झूठे और सारी साधनाएँ बेकार हैं। तब भी, साधक योग का सहारा लिये रहे, क्योंकि पातंजल-योग-दर्शन ने समाधि-सुख को निस्सीम आनन्द कहा था और यह भी संकेत दिया था कि महासुख तक जाने की एक राह तो योग है जो शरीर और मन की सम्मिलित क्रिया की राह है; किन्तु, वहाँ पहुँचने की एक दूसरी राह प्रणय-समाधि की राह भी हो सकती है यदि वह योग-सम्मत एवं अनुशासनों से युक्त हो। सहजयान ने **"काम"** और **"योग"** को एकाकार करने के अनेक मार्ग अपनाये। उनमें से एक मार्ग यह भी था कि चूँकि काम-सुख का मुख्य कारण विन्दु-पात है, इसलिए, साधक विन्दु को क्षरित होने से बचाये और उसे उलट कर उष्णीषकमल में पहुँचा दे। इस दुष्कर कार्य में जो सिद्धि प्राप्त करते थे, वे "ऊर्ध्वरेता" समझे जाते थे। कहते हैं, अवधूत की सिद्धि इसी दुष्कर साधना की सिद्धि थी और जो साधिका अवधूत से सहयोग करती थी, वह अवधूतिनी कहलाती थी। इस साधना से साधक को यह मानसिक तोष भी मिल जाता था कि नारी का उपभोग उसने वासना के लिए नहीं किया है।

वैष्णव-सहजिया-सम्प्रदाय

काम से उत्पन्न जो बेचैनियाँ साधकों को हीनयान के समय से तंग करती आ थीं, वे वैष्णव-सहज-सम्प्रदाय में आकर बहुत ही न्यून हो गयीं। प्रकृति से युद्ध क साधक बराबर पराजित होते आये थे, किन्तु, इस पराजय को स्वीकार करके प्रकृति से खुलकर समझौता करने में उन्हें बराबर एक प्रकार की झिझक रही और कुछ नहीं, मन के विरुद्ध एक नकली मन को कायम रखने की चेष्टा का प थी। वैष्णव-सहजयान में आकर यह झिझक कमजोर हो गयी। यदि आज की में कहें तो वैष्णव-सहजयानियों की मानसिकता यह थी कि विधि और निषेध, अप्राकृतिक कार्य हैं। किसी वस्तु से परहेज करने के निमित्त चेतना को बराबर ड़ते चलना कोई अच्छा काम नहीं है। इसी प्रकार, किसी अन्य वस्तु को काम्य कर दिन-रात उसी के पीछे दौड़ते चलना भी अपकर्म है। चेतना को बलपूर्वक करना भी निसर्ग के उतना ही विरुद्ध है जितना उसे जबर्दस्ती सिकोड़ने का प्र मन जब भी भय, लोभ या तृष्णा से ग्रस्त होकर काम करता है, तब उसका कार्य कृतिक होता है। इसी प्रकार, मन के कार्य तब भी अप्राकृतिक होते हैं, जब वह वस्तु से यह सोचकर भागता है कि यह प्रिय होने पर भी परित्याज्य है। इन्द्रि तलवार उठाकर पहरा देने का मार्ग सुख का मार्ग नहीं है। और सुख का मार्ग नहीं है जहाँ हम आकुलतापूर्वक सुख की खोज अथवा उसका आह्वान करते हैं। महासुख का कमल उस सरोवर में खिलता है जिसमें कोई भी लहर नहीं है, वि भी नहीं और निषेध की भी नहीं; जो सहज, शीतल और सुशान्त है।

वैष्णव-सहजयान ने हठयोग को हटाकर उसके स्थान पर राजयोग को अ किया, यह सोचकर कि रेचक-कुम्भक की क्रिया शरीर और मन को लाठी से हाँ समाधि में ले जाने की क्रिया है। सात्विक समाधि वह है जिसमें चित्तवृत्तियाँ आप निरुद्ध हो जाती हैं। बौद्ध-सहजयानी सृष्टि का उद्गम सहज बोधिचित्त को थे, वैष्णव-सहजयान ने बोधिचित्त को हटाकर उसकी जगह पर "प्रेम" को अ कर दिया और यह कहा कि प्रेम स्वाभाविक है, वही सहज है, वही सर्वशक्तिमा सृष्टि का जो आदि तत्त्व है, वह प्रेम है और वही सहज भी है। सहज ने ही लीला के लिए, अपने-आप को दो रूपों में विभक्त कर दिया है, जिनमें से ए "रस" और दूसरा "रति" है। सहज-मार्ग में "रूप" "प्रेम" हैं और "रति उद्भासित तथा उसका पालन करनेवाली शक्ति। रस के प्रतीक कृष्ण और र प्रतिमा राधा हैं। संसार में जितने भी पुरुष हैं, वे कृष्ण के रूप हैं और जितनी नारियाँ हैं, वे राधा के प्रतिरूप। "रूप" हमारा बाह्य आकार है, हमारा "स्वरूप" हमारे भीतर छिपा है। सहज साधना के अनुसार नर-नारी का ध्येय के भीतर छिपे "स्वरूप" को पहचानना है। जब उन्हें स्वरूप-ज्ञान हो जाय, प्रेम के आवेश में परस्पर आलिंगन कर सकते हैं। स्वरूप के ज्ञान के बिना, मात्र के मिलन में, आनन्द नहीं है। "समरस" अथवा "सहजानन्द" वह है, जो स्वरू

से सम्भूत समाधि से उत्पन्न होता है। पातंजल योग-दर्शन में कहा गया है कि मन की प्रक्रियाएँ जब समाधि में जाकर शान्त हो जाती हैं, तब योगी अपने "स्वरूप" में स्थित होता है। सहजिया-सम्प्रदाय के अनुसार जब मन की बाहरी और भीतरी क्रियाएँ आनन्द की उच्चतम अनुभूति में विलीन हो जाती हैं तब हम अपने सच्चे स्वरूप में होते हैं, जो हमारा सहज स्वरूप है।

आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाय तो यही बात इस प्रकार से कही जायगी कि काम का आध्यात्मिक आनन्द वहाँ उपलब्ध होता है, जहाँ प्रेमी-युगल केवल शरीर के धरातल पर ही नहीं मिलते, प्रत्युत, जब उनके मन और उनकी आत्माएँ भी एकाकार हो जाती हैं। समरस आनन्द की वह भूमिका है जहाँ पहुँच कर "मैं" और "तू" का भेद नहीं रहता, जब नर और नारी अपने बाह्य-स्वरूप का अतिक्रमण करके किसी निर्विकल्प, निर्विशेष स्थिति में पहुँच कर संज्ञातीत एवं आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

सचेष्ट प्रयास सुख नहीं, दुःख का कारण होता है, चाहे वह अप्रिय से बचने अथवा प्रिय को प्राप्त करने के लिए ही क्यों न किया गया हो। इसीलिए, सहजिया-सम्प्रदाय "विधि-मार्ग" के विरुद्ध चला गया। उसका अपना मार्ग "राग-मार्ग" हुआ अर्थात् वह मार्ग जिस पर चित्त और वृत्तियाँ अप्रयास चलती हों, स्वाभाविक रूप से गमन करती हों। इस सम्प्रदाय में परकीया का प्रेम भी निन्द्य नहीं हैं। प्रत्येक परकीया राधा है और प्रत्येक साधक कृष्ण तथा उनका प्रेम दूषित नहीं, विशुद्ध समझा जाता है। विधि-मार्ग की बाध्यता नहीं मानने के कारण सहजिया लोग सामिष-निरामिष आहार को भी कोई महत्त्व नहीं देते। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में यह मार्ग बंगाल में इतना लोकप्रिय हो उठा कि चैतन्य के उपदेश पीछे छूट गये और चैतन्य-सम्प्रदाय में ही "वैरागी-वैरागिनी-मार्ग" कायम हो गया, जिसका आधार मुक्त प्रेम था। कवि चंडीदास को सहजिया-सम्प्रदाय अपना महाकवि मानता है। यह भी कहा जाता है कि सहजयान के भीतर प्रचलित पाँच मनोवैज्ञानिक शक्तियों (डोम्बी, नटी, रजकी, चांडाली और ब्राह्मणी) में से चंडीदास रजकी के उपासक थे एवं उनकी प्रेरणादात्री प्रेमपात्री रमा, सचमुच, रजक जाति की थी।

मार का प्रतिशोध

साधक सिद्धार्थ जब सिद्धि के समीप पहुँच रहे थे, तब कहते हैं, मार ने उनकी समाधि तोड़ने के उद्देश्य से उनपर चढ़ाई की थी। मार की उस सेना में देवलोक की सुन्दर से सुन्दर युवतियाँ मौजूद थीं। किन्तु, सिद्धार्थ डिगे नहीं। वे मार को जीत कर बुद्ध हो गये।

किन्तु, मार ने उन्हें क्षमा नहीं किया। वह अपना पुष्प-बाण सँभाले, छिपे-छिपे, संघों में घूमता रहा और जब उसने देखा कि गैरिक चीवरों के नीचे रेशमी स्पर्श का लोभ सर्वत्र जाग चुका है, उसने संघों पर खुलकर चढ़ाई कर दी। भारत में बौद्ध धर्म

के विनाश के कारण कई बताये जाते हैं, किन्तु, इस विनाश का सब से वड़ा
मार था।

भारत का वज्रयान-युग बौद्धिकता और इन्द्रियवाद के संघर्ष का कार
उस समय बौद्धिकता का विकास वे कर रहे थे जो विचारक और दर्शनाचा
जिनका लक्ष्य जनता के बीच सम्मान पाना नहीं, प्रत्युत, दर्शन और तर्क की
गहन समस्या का समाधान खोजना था। पाँचवीं शताब्दी से लेकर, प्राय:,
ग्यारहवीं शती तक का समय, इस दृष्टि से, अत्यन्त मेधावी लोगों का समय क
सकता है, क्योंकि गौड़पाद, कुमारिल, शंकर, चन्द्रकीर्त्ति और वाचस्पति मिश्र इसी
में जनमे थे। किन्तु, विचारकों के वृत्त से बाहर जो साधकों का अपार समु
उसका ध्यान दार्शनिक विवेचन पर नहीं जाता था। उसकी जिज्ञासा केवल इस
को लेकर थी कि काम को धर्म से कैसे मिलाया जाय और इस मिलन की सां
दर्शन से कैसे सिद्ध की जा सकती है।

रवीन्द्रनाथ ने आदर्श मनुष्य की कल्पना इस रूप में की है कि उसे मन से सुं
और तन से बर्बर होना चाहिये; अर्थात् मन से वह कोमल, दयालु और त्यागी
किन्तु, शरीर उस का पाशविक होना चाहिये। बुद्ध ने अति-तप:-क्लान्त देह को
त्मिक साधनों के अनुपयुक्त तो कहा था, किन्तु, व्यवहारत: उन्होंने जिस साधन
प्रचार किया, उससे तप:क्लान्ति से छुटकारा नहीं था। अतएव, कहा जा सकता
संघों की स्थापना तथागत ने बर्बर मनुष्य को दबाकर की थी। किन्तु, बर्बर
मरा नहीं। वह कभी मरता भी नहीं है। काल पाकर वह बर्बर मनुष्य सिर त
खड़ा हो गया और, खुल्लमखुला, यह कहने लगा कि हमें भी वही सुख चाहिं
गृहस्थ भोगते हैं। प्रत्युत, यह भी कि जिस कर्म से गृहस्थ पतित होता है, हमारा
उससे भी नहीं हो सकता।

कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्प-कोटि-शतान्यपि
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते।

(इन्द्रभूति-कृत ज्ञानसि

अर्थात् जिन कर्मों के करने से सामान्य जीव करोड़ों कल्प तक नरक में पड़ा
है, उन्हीं कर्मों को करता हुआ योगी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इसपर यदि कोई यह पूछता कि आप तो गृहस्थ नहीं, वैरागी हैं, तो इस
उत्तर वज्रयानियों ने तैयार कर रखा था।

तथा-तथा प्रवर्त्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धिः कदाचन।

अर्थात् आचरण वैसा करना चाहिये जिससे मन में क्षोभ नहीं जगे;
चित्तरत्न के क्षुब्ध होने पर सिद्धि कभी भी प्राप्त नहीं होती। यह निदान, बहुत
आज का फ्रायडीय निदान है जो गृहस्थों के लिए उचित माना जाता है।
संन्यासी के मुख से ऐसी बातें आज भी घृणित ही मानी जायँगी।

रिफार्मेशन से पहले की इटली में धर्म-संघों की नैतिक स्थिति का वर्णन करते हुए एक लेखक ने लिखा है कि "लोगों को उस समय धर्माचार्यों से घोर घृणा थी। ये धर्माचार्य खुलकर क्रीड़ा करते थे, खूब शराब पीते और शिकार खेलते थे तथा हमेशा वे बढ़िया भोजन और घाँघरों की तलाश में रहते थे। सारा समाज यह मानता था कि स्वर्ग और चाहे जिसे भी मिल जाय, धर्माचार्यों को वह नहीं मिल सकता। लोगों का यह मत भी बन गया था कि ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य का एक-मात्र भेद यह है कि गृहस्थ के केवल एक पत्नी होती है, किन्तु, ब्रह्मचारी दश पत्नियों से सम्बन्ध रख सकता है। यह भी कि जब तक गृहस्थों के पास पत्नियाँ हैं, ब्रह्मचारी को विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। धर्माचार्य रखैल रखते थे और धर्म की भाषा में उसे 'आत्मा की गाय' कहकर अभिहित करते थे।"[1]

इटली के धर्माचार्य जिसे "आत्मा की गाय" कहते थे, भारत के वज्रयानी साधु उसे "मुद्रा" कहा करते थे। शाक्त-तंत्र में मुद्रा का अर्थ हाथों को उलट-पुलट कर बनाया जानेवाला रहस्यात्मक संकेत था अथवा कहीं-कहीं उसका अर्थ अन्न भी होता था, किन्तु, वज्रयान में आकर उसका अर्थ वह नारी हो गयी जो साधक की साधना में सहयोग देती थी। प्रज्ञोपाय-साधना में उपाय का प्रतीक तो साधक स्वयं होता था और प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व कोई नारी करती थी, जो साधक की "महामुद्रा" कहलाती थी। साधक अपनी मुद्रा-साधना में इतने तल्लीन रहते थे कि प्रज्ञा को व्यक्तित्व प्रदान करके उसे सम्बोधित करते समय उनके मुख से सदा उसके लिए डोम्बी, चांडाली, शबरी, योगिनी—जैसे शब्द ही निकलते थे। फलतः, उनकी यौगिक अन्तःसाधना वाह्य-मुद्रा-साधना तक ही सीमित रहने लगी।[2]

वज्रयानी सिद्धों के चर्यापदों में हम नीच जाति की स्त्रियों के सम्बोधन बार-बार पाते हैं। यह प्रथा, कदाचित्, इसलिए चली कि उच्च वर्णों की नारियाँ इन्हें नहीं मिल पाती थीं। अतएव, ये साधु निर्धन, अशिक्षित एवं भीरु निम्नवर्गीय समाज की लड़कियों का हरण करके अपना काम चलाते थे। वाममार्गी साधु, कापालिक और वज्रयानी सिद्धों से जनता भय मानती थी, क्योंकि उनमें से कितने ही ऐसे थे, जो यौगिक चमत्कार दिखा सकते थे, त्राटक अथवा हिपनाटिज्म की क्रिया से लोगों को प्रभावित कर सकते थे। भय का एक कारण यह भी था कि लोग यह जानते थे कि ये साधु गृहस्थों की बहूवेटियों को मंत्र से मोह कर अथवा बलात् चुरा कर हर ले जाते हैं और उन्हें मुद्रा बना कर सिद्धि प्राप्त करते हैं। कापालिकों और योगियों के व्यभिचार की कहानियाँ लोककथाओं में अब भी मौजूद हैं। मालतीमाधव नाटक में कापालिक का जो चरित्र दर्शाया गया है, वह भयानक, घृणापूर्ण और वीभत्स है।

तात्त्विक दृष्टि से वाममार्गियों और वज्रयानियों ने सोचा यह था कि योग के द्वारा हम काम-शक्ति का उदात्तीकरण करेंगे। काम का उदात्तीकरण करने में कुछ योगी

---

[1] A Cultural History of Modern Age—By Egon Friedell.

[2] उत्तर भारत की सन्त-परम्परा।

सफल भी हुए होंगे, किन्तु, अपार साधुओं के लिए योग उनके व्यभिचार का पर्दा गया। एक बार वाममार्गियों का एक दल इस चिन्ता में पड़ा कि समाज में आदर कैसे बढ़ सकता है। सलाह माँगने पर गुरु गोरखनाथ ने उनसे कहा, यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं, तो सब झंझट छोड़कर योग-क्रियाओं से अपना सम्बन्ध जोड़ योग की साधना भारत में हमेशा ही आदरणीय और उच्च साधना मानी जाती अतएव, जो भी योगी होता था, उसके स्खलन पर जनता अधिक ध्यान नहीं देती

जिन दिनों महायान का आरम्भ हुआ, उन दिनों वैदिक धर्म में नरक की बद्धमूल हो चुकी थी और लोग यह मानने लगे थे कि पाप की सजा नरक की होती है। आश्चर्य है कि नरक का त्रास तंत्र-मार्ग और वज्रयान में नहीं बढ़ा। सम्प्रदायों के लोग स्वर्ग-सुख पाने के तो उपाय ढूँढ़ते रहे, किन्तु, नरक के त्रासों उन्होंने जोर नहीं दिया। स्पष्ट ही, स्वर्ग की राह उन्हें व्यभिचार के भीतर से दिखायी पड़ी थी। यदि व्यभिचार दंडनीय हो जाता तो स्वर्ग का रास्ता ही था। इसलिए, नरक की कल्पना से उन्होंने छुट्टी ले ली।

अनादि सत्य का रूप हमेशा एक समान रहता है, अर्थात् दिखायी वह कभी देता। किन्तु, उसकी ओर मुख करके मनुष्य हमेशा यह सोचता है कि हमारा धर्म है। वेदों के समय यह धर्म प्रवृत्तिमूलक रूप में प्रकट हुआ था जिसकी शिक्षा कि कार्य करना धर्म है, अच्छा भोजन और अच्छा वस्त्र जुटाना धर्म है, पशु धर्म है, खेती और वाणिज्य करना धर्म है, अन्धों को आँख और लँगड़ों को पाँव धर्म है तथा देवताओं की स्तुति करना एवं शत्रुओं का मान-मर्दन करना भी धर्म वेदों के बाद जब उपनिषदों का समय आया, तब भी, निवृत्ति बहुत प्रखर नहीं प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वित आदर्श उस समय जनक के आदर्श में प्रकट जिसका सारांश यह था कि घर से भाग कर जंगल में रहना बहुत बड़ा धर्म नहीं धर्म की परीक्षा संसार के भीतर की जाती है। बायाँ हाथ नारी के स्कंध पर दायाँ हवन-कुण्ड में, सच्ची परीक्षा इसी रूप में दी जाती है। जो इस मुद्रा में जीवन बिता सके, असली धर्म उसी के चरित्र में है।

मिथिलायां दह्यमानायां न मे दहति किंचन।

किन्तु, बुद्ध और महावीर ने एकपक्षीय धर्म चला दिया ; संसार से भागो, वहाँ कदम-कदम पर पाप बिछा हुआ है। यह पहली गलती थी। दूसरी वज्रयानियों ने की कि धर्म को उन्होंने पाप का आवरण बना दिया। गृहस्थ भोगता है तो वह उसकी कीमत भी अदा करता है। सिद्धों ने सुख तो भोगा, उसकी कीमत नहीं चुकायी। यह पाप था।

कैसा रहा होगा वह समय और वह समाज, जिसके विश्वास की पताका को पुरी, भुवनेश्वर और खजुराहो के मंडपों पर फहरा रही है? मंडप के भीतर

---

१. मध्यकालीन धर्म-साधना।

शक्ति की प्रतिमाएँ और मंडप के ऊपर नर-नारी-समागम की नग्न मूर्त्तियाँ और काम के कर्म-चित्र, जिनकी ओर भाई-बहन एक साथ आँखें नहीं उठा सकते। इन मूर्त्तियों को देखकर आज का जनमत शरमाता है। क्या उन दिनों कोई जनमत नहीं था? आज का जनमत जनता बनाती है, अखबार और लेखक बनाते हैं। उस समय का जनमत साधु, संन्यासी, राजा और राजदरबारी तैयार करते थे और जनमत के ये सभी निर्माता परस्पर एक थे। यह कुहासा तब फटा, जब वैष्णव और शैव सन्तों के प्रभुत्व का समय आया, उससे भी बढ़कर जब मुसलमान आये। देखा गया है कि यह देश बाहरी आक्रमणों के समय ही आँखें खोलता है। बौद्ध साधुओं और संघों का संहार मुसलमानों ने किया, यह और बात है। बड़ी बात यह हुई कि बाह्य आक्रमणों की धमकी से देश के भीतर एक जागृति पैदा हुई और अन्ध-विश्वास का कुहासा काफी दूर तक फट गया।

बाद के सन्तों पर सहजयान का प्रभाव

लगभग पाँच सौ वर्ष की साधना के बाद बौद्ध सिद्धों ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए जो परम्परा छोड़ी, वह योग की परम्परा थी। वह इस विचारधारा की परम्परा थी कि मठ, मन्दिर, प्रतिमा और धार्मिक अनुष्ठान बेकार हैं, असली सत्य तो शरीर के भीतर छिपा हुआ है। इस सत्य की उपलब्धि भी शरीर के द्वारा ही की जा सकती है। एक स्थल पर गुह्य-समाज-तंत्र में ही कहा गया था कि चैत्य बनाना व्यर्थ है। बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों के पाठ से कोई फल नहीं मिलता। त्रिरत्न की पूजा और यन्त्रों का निदिध्यासन भी बेकार है। योगी के लिए ये सारे अनुष्ठान फालतू हैं। वह सांघिक एवं सामाजिक नियमों की पाबन्दी नहीं मानता। संक्षेप में उन्होंने जो परम्परा छोड़ी वह सहजयान की परम्परा थी और सहजयान भी अपने मूल रूप को छोड़कर निर्बन्ध जीवन का पर्याय हो गया था। सहजयान, यानी मन और इन्द्रियों को उनकी सहज-स्वाभाविक गति पर छोड़ देना। सहजयान, यानी मन और इन्द्रियों की माँगों की अवहेलना नहीं करना।

खाअन्त पिअन्ते सुहहिँ रमन्ते णित पुराण-चक्काबि भरन्ते
अइस धम्म सिज्झइ परलोअह, णाह पाय दलिऊ भयलोअह।

अर्थात् स्वेच्छापूर्वक खाने-पीने और सुख में रमण करने से परलोक बनता है और सांसारिक भय मिट जाते हैं।

जब कबीरदास का आविर्भाव हुआ, उस समय वैष्णव सहजयान अपने उत्कर्ष पर था। जहाँ तक योग की महत्ता और अनुष्ठानों की व्यर्थता का प्रश्न है, कबीर वज्रयानी परम्परा के उत्तराधिकारी हुए और उन्होंने ठीक उन्हीं दिशाओं में काम किया, जिन दिशाओं का संकेत वज्रयानी सन्तों ने किया था। फर्क यह रहा कि जो बातें बौद्ध साधुओं ने कुरूप ढंग से कही थीं, उन्हें कबीर ने कला और साहित्य के स्तर पर पहुँचा दिया। किन्तु, वामाचार और तंत्र को कबीर ने प्रश्रय नहीं दिया। जहाँ तक

सहजयान वेदों का विरोधी, जाति-प्रथा का आलोचक, शास्त्रों का निन्दक और के विरुद्ध था, वहाँ तक कबीर सहजयान के उत्तराधिकारी दिखायी देते हैं। सहजिया लोगों की रसिकता से उन्हें चिढ़ थी। इसलिए, सहज शब्द पर तो ने आस्था प्रकट की, किन्तु, उसके साथ सम्बद्ध रसिकता को उन्होंने त्याज्य

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ,
जिन सहजे विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ,
जिन सहजे हरि जी मिलें, सहज कहीजै सोइ।

इसी प्रकार, कबीरदासजी को यह बात भी पसन्द आयी कि वैष्णव- साधु हठयोग की अपेक्षा राजयोग को अधिक पसन्द करते थे। कबीर हठयो साधना कर चुके थे और उनके लिए समाधि में जाना नाक-कान के दबाने पर नहीं था। किन्तु, सबके लिए उन्होंने इसी सहज समाधि को विहित बताया जो योग से उत्पन्न होती है।

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिनते लागी दिन-दिन अधिक चली,
जहँ-जहँ डोलूँ सो परिचर्या जो-जो करूँ सो पूजा।

भारतीय धर्म के इतिहास में कबीर का महत्त्व बहुत बड़ा है। धर्म को सप्ताह में एक या दो दिन का कृत्य नहीं माना, न उन्होंने उसे मन्दिर अथवा पर की जानेवाली क्रियाओं तक ही सीमित किया। कबीर धर्म को जीवन की साँस में अवस्थित करना चाहते हैं। उनकी कल्पना का धार्मिक मनुष्य वह है जो के सिवा और कुछ करता ही नहीं। उसकी प्रत्येक क्रिया पूजा की क्रिया होती उसका हर एक कदम तीर्थ में पड़ता है। दूर से देखने पर कबीर भी निवृत्ति ही दिखायी देते हैं, किन्तु, प्रवृत्ति की दिशा में उन्होंने एक बहुत बड़ी क्रान्ति हमारे सम्पूर्ण, दैनिक सामान्य जीवन को धर्म-साधना का माध्यम बताकर धर्म के भीतर संसार को प्रतिष्ठित किया, जिसका सभी धर्माचार्य बहिष्कार आये थे।

कबीर और नानक ने व्याह का बहिष्कार नहीं किया, इसे भी हम सिद्धों के से ली हुई शिक्षा समझते हैं। पाँच-छह सौ वर्षों की साधना ने बतला दिया मात्र संन्यास लेने से आदमी काम की मारों से नहीं बच सकता। और सह साधकों ने यह भी सिद्ध किया था कि पत्नी को साथ लेकर भी आध्यात्मिक की जा सकती है। यही वह पृष्ठभूमि हुई, जिससे प्रेरणा लेकर कबीर और ना गार्हस्थ्यवृत्ति स्वीकार की।

वैदिक मार्ग भारत-धर्म का सनातन, विहित मार्ग है। नयी साधनाएँ जन्म और इस मार्ग से अलग चलना चाहती हैं, किन्तु, घूम-फिर कर वे फिर इसी मार्ग आ जाती हैं। साधक भटकते हैं, किन्तु अन्त में वे वैदिक मार्ग पर आ जाते हैं।

मार्ग ऋषियों का मार्ग था जो गृहस्थ होते थे। बौद्ध और जैन मार्गों ने मुनि-वृत्ति को मुख माना, जिसका पालन घर छोड़कर ही किया जा सकता था। किन्तु, मुनियों की जो दुर्दशा हुई, उससे आजिज आकर लोगों ने सहज मार्ग का सन्धान किया और सहजयान के बाद जो सन्त आये, उन्होंने वैवाहिक जीवन की महत्ता को खुलकर स्वीकार किया। बुद्ध वेद से बहुत दूर चले गये थे, किन्तु, कबीर और नानक का मार्ग गार्हस्थ्य की स्वीकृति के कारण वेद के निकट का मार्ग हुआ। वह, बहुत-कुछ, जनक के मार्ग का ही परिवर्तित रूप था। वेद और गीता की प्रवृत्तिमूलक शिक्षाओं की उपेक्षा करके अनेक बार साधकों ने गृह-त्याग की महिमा निरूपित की, किन्तु, बार-बार उन्हें गीता और वेद के पास वापस आना पड़ा। जिन नानाविध उद्यमों से संसार गतिमान है, उनमें हिस्सा लेना पाप नहीं, पुण्य है। रज्जव का एक दोहा मिलता है,

उद्यम अवगुन को नहीं जो करि जानै कोय,
उद्यम में आनन्द है साईं सेती होय।

सांसारिकता और आध्यात्मिकता में सम्बन्ध हो सकता है, इस सत्य का उद्घोष भी हम रज्जव के एक अन्य दोहे में सुनते हैं।

एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग,
एक बुड़हिं वैराग्य में, एक तरहिं सो गिरही लोग।

योग में बुड़नेवाले लोगों के दृष्टान्त वज्रयानी साधु हुए थे। भोग के वृत्त में रह कर योग सिद्ध करनेवालों में बड़े नाम कबीरदासजी और नानकदेव के हैं। यह भी कहा जा सकता है कि काम और अध्यात्म के संघर्ष से निकल कर वज्रयानी साधु जिस राह पर आना चाहते थे, वह राह वज्रयानियों को नहीं, कबीर और नानक को दिखायी पड़ी। और दर्शन की जो अनुभूति वज्रयानियों के पास भाषा के अभाव में छटपटा रही थी, उसे भी उपयुक्त भाषा कबीर में आकर प्राप्त हो गयी।

* * *

प्रकरण ७

बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक प्रसंग

चिनगारी जो बुझी नहीं

किन्तु वज्रयान ने समाज में जहाँ इतने दुराचार फैलाये, वहाँ उसने क्रानि उस शिखा को भी ऊँचा रखा, जिसे बुद्ध जला गये थे। बुद्धदेव ने (१) जाति-प्र चुनौती दी थी, (२) शास्त्रों का तिरस्कार किया था और (३) मनुष्य की बुद्धि को स्फुरणा प्रदान की थी। बुद्ध के इन तीनों नहीं, तो पहले दो उपदेशों वज्रयानी भी आरूढ़ रहे। हिन्दू-धर्म अपनी बाँहें पसार कर बौद्ध-मत को आ करने के प्रयत्न में था। किन्तु, हिन्दुत्व का आलिंगन चाहे जितना प्रगाढ़ रहा हो कभी भी इतना प्रगाढ़ नहीं हो सका कि बौद्ध-मतावलम्बी लोग जाति-प्रथा को स्वी करें अथवा वेदों को प्रमाण मान लें। जनता तो बौद्ध देवताओं की पूजा करते हु जाति-प्रथा को मानती थी, किन्तु, साधु उसे नहीं मानते थे। इस प्रसंग का एक पक्ष यह है कि उच्च वर्ण के लोगों में बौद्ध-धर्म की शिक्षा बहुत अधिक नहीं फैली बौद्धों के अधिक अनुयायी नीचे की जातियों में थे और उन जातियों को यह बात अच्छी लगती थी कि बौद्ध उपदेशक जातिवाद को नहीं मानते थे।

बौद्ध धर्म के उपदेश के बाद से इस देश में ऐसी विचार-धारा काम करती रहे जो शास्त्रों के सामने मस्तक झुकाने को तैयार नहीं है और जो सभी जाति तोड़कर विशाल मानवता की रचना करना चाहती है। यह भी ध्यान देने की बा कि वैदिक धर्म, आरम्भ से ही, वेदों की दुहाई देता आ रहा है और शास्त्रों के बल वह जाति-प्रथा को कायम रखना चाहता है। महावीर और बुद्ध के उपदेशों ने समाज की शृङ्खला टूटने लगी और वर्णाश्रम-धर्म विपन्न होने लगा, तब ब्राह्मणों को से बड़ी चिन्ता इसी विपत्ति को लेकर हुई। यह भी ध्यान देने की बात है कि वैदिक-धर्म फिर से ऊपर आया, तब सबसे अधिक उसने स्मृतियों के निर्माण पर देना शुरू किया एवं मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन का मार्ग वह अवरुद्ध करने लगा। तक कि गीता में भी ऐसे अवरोध समाविष्ट कर दिये गये। जब हम उसके मो अध्याय में भगवान् को यह कहते देखते हैं कि——

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः,
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।

(अर्थात् जो शास्त्र-विधि को छोड़कर स्वतंत्र रूप से काम करता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख, न उत्तम गति ही।)

तब, स्पष्ट ही, हमें यह भान होने लगता है कि इस तीर के लक्ष्य, मुख्यतः, बौद्ध और जैन ही हैं।

किन्तु, बौद्धों का प्रचार बढ़ता ही गया और वज्रयानियों ने तो शास्त्र-विरोध को सबसे श्रेष्ठ धर्म ही मान लिया। आगे चलकर, हिन्दी के निर्गुनियाँ सन्तों ने धर्म के बाह्याचार एवं जाति-प्रथा और पुरोहितवाद की जो खिल्ली उड़ायी, उस परम्परा की नींव इन्हीं वज्रयानियों ने डाली थी ; सन्त कवियों को वज्रयानियों की यह विरासत किस रूप में मिली थी, इसके प्रमाण सिद्धों के ये शब्द पद हैं।

बह्मणो हि न जानंत हि भेउ, एवइ पढ़िअउ ए च्चउवेउ। —सरहपा

(ब्राह्मण झूठमूठ वेदों को पढ़ते हैं, पर, परमार्थ का रहस्य नहीं जानते।)

बम्हा-बिहणु-महेसुर देवा, बोधिसत्व मा करिहू सेवा।
देव न पूजेहु तित्थ ण जावा, देवपुजाही मोक्ख न पावा। —तिलोपा

(बोधिसत्त्वों को ब्रह्मा-विष्णु-महेश की सेवा नहीं करनी चाहिये, पत्थर आदि के देवताओं की पूजा नहीं करनी चाहिए, न तीर्थ जाना चाहिये। वाह्य देवपूजा से मोक्ष नहीं मिलता।)

मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त, घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त,
कज्जे विरहइ हुअवह होमें, अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमें। —तिलोपा

(मिट्टी, पानी, कुश लिये मंत्र पढ़ता है। घर में बैठकर अग्नि में होम करता है। बिना मतलब होम के कड़ुवे धुएँ से आँखें फुड़वाता है।)[1]

वेद-विरोधी आन्दोलन

तंत्र, मंत्र और योगाचार, ये केवल वज्रयानियों में ही नहीं, अपितु, जैन, पाशुपत और वाममार्ग जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों में भी प्रचलित थे और उनका प्रचार वैदिक-धर्म में भी था। किन्तु, छठी सदी से दसवीं सदी तक के काल में जिस बात को लेकर हिन्दुत्व दो भागों में विभाजित होने लगा, वह यह थी कि हिन्दुओं का एक विशाल समुदाय स्मृति के मार्ग का अनुयायी था अर्थात् वह तीर्थ-स्नान में पुण्य मानता था, वर्णाश्रम-व्यवस्था में आस्था रखता था, व्रत, उपवास, स्वर्ग, नरक, पितृश्राद्ध आदि में विश्वास करता था तथा सभी देवताओं और उप-देवताओं की पूजा करता था।[2] किन्तु, इसके विपरीत, एक और समुदाय था जो जाति-प्रथा को नहीं मानता था, जो मन्दिरों, तीर्थों और पुरोहितों में विश्वास नहीं करता था तथा जिसे देवताओं की शक्तियों में विश्वास नहीं था। यह समुदाय, विशेषतः, उन योगियों और तांत्रिकों से

---

[1] देखिये, हिन्दी काव्य-धारा (राहुलजी) और साहित्य-समीक्षा (देवेन्द्रनाथ शर्मा)।

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म-साधना।

प्रभावित था जो यह कहते थे कि मनुष्य की सारी शक्तियाँ उसके अपने मं छिपी हुई हैं तथा शरीर और चित्त की शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता योगी व्रत, उपवास, यज्ञ, होम और शास्त्र-वचन को मिथ्या मानते थे और जन यह उपदेश देते थे कि धर्म के बाहरी ढकोसलों में कहीं कुछ नहीं है, अतएव, मन के भीतर डूब कर असली धर्म की साधना करो। शास्त्रों की अवज्ञा सिखाने उनकी खिल्ली उड़ाने में इन साधुओं को विशेष रस आता था। "कितने ही तां मतों ने अपने को खुल्लमखुला वेद-विरोधी सम्प्रदाय घोषित किया और दृढ़ कंठ से वैदिक मतों का प्रत्याख्यान किया। प्रतिक्रिया इतनी उग्र थी कि अत्यन्त सहज बा भी वे लोग भड़कानेवाली भाषा में कहते थे और हर प्रकार से, वैदिक मार्ग का सुनायी देनेवाला वक्तव्य देते थे।"

ये बातें उस समय हो रही थीं, जब गुप्तवंशी राजाओं की छत्रच्छाया में धर्म पूरे बल कें साथ उठकर खड़ा हो चुका था और उसकी, समाज पर, फिर से धाक जम गयी थी कि जो मार्ग अपने को वेद-विहित सिद्ध कर सकता, उसकी प्र बढ़ जाती थी। किन्तु, इस जाग्रत वैदिक-धर्म के होते हुए भी, सहजिया सिद्ध नाथ-सम्प्रदाय के साधु वेदों का कस कर विरोध कर रहे थे। पंडित हजारी द्विवेदी लिखते हैं कि "छठी-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद-विरोधी स्वर अधिक होकर प्रकट होता है। बौद्धों और जैनों में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है वह काफी पुराना है। परन्तु, यह नया स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है। इसमें सर्व सर्वशक्तिमान् प्रभुसत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। कभी-कभी तो इसमें वाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ बीतती त्यों-त्यों यह विरोधी स्वर दृढ़ ही नहीं, कठोर भी होता गया। वाममार्गी तांत्रिक योगी तो उलटी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधा यह है कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं। ये लोग अधिकाधिक उत्सा साथ सीधी बात को भी उलटा के, जटिल और गुथीली बनाकर और आक्रामक धक्कामार बनाकर कहते गये। कहने का ढंग कुछ विचित्र-सा था। गोमांस- पाप है, यह सर्वविदित बात है। वारुणी पीना बुरी बात है, यह सभी मानते लेकिन, हठयोगी यही कहेगा कि गोमांस का भक्षण करना चाहिये और अमर वा का पान करना चाहिये, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है और यही कुलीन का कर्त्तव्य है। यह भाषा, स्पष्ट ही, आक्रामक और धक्कामार है। कहते हैं, योगी गोमांस-भक्षण अथवा सुरापान का उपदेश देते थे, तब उनका अभिप्राय, सचमुच मदिरा या गोमांस से नहीं, बल्कि, योग की किसी क्रिया-विशेष से होता था। फिर भी, जिस भाषा में वे अपनी बात कहते थे, वह लोगों को तिलमिला देने थी। कृष्णाचार्य ने जब कहा था, **एक्कु न किज्जइ मंतु न तंतु, णिय घरणी लेई** करना, अर्थात् मंत्र-तंत्र सब बेकार हैं, केवल गृहिणी के साथ केलि करने से सिद्धि होती है, तब, वास्तव में, वे यह कहना चाहते थे कि महामुद्रा की साधना से ही

प्राप्त होती है। यद्यपि, उन्होंने, जप-तप सब की व्यर्थता बतलायी है, परन्तु इसके लिए इस भाषा की आवश्यकता नहीं थी।"

य और आचार के बीच दरार

जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं, वह बौद्धिक दृष्टि से कोई साधारण काल हीं था। इसके आदि में गुप्त-काल पड़ता है, जो हमारे साहित्य का स्वर्णकाल था। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल निस्सन्दिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं, उनका म्पादन, अन्तिम रूप में, इसी काल में हुआ था। जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ गुप्त-काल में रची गयीं, वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही हैं। जो ास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए, वे आज भी भारतीय मनीषी को प्रेरणा दे रहे हैं।"[१] प्तकाल के बाद भी, एक-से-एक चिन्तक पैदा हुए। कुमारिल और प्रभाकर जैसे मीमांसक, शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र जैसे दार्शनिक, न्यायवार्त्तिक के लेखक द्योतकर और प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चन्दकीर्ति (माध्यमकावतार और प्रसन्नपदा के लेखक) इसी काल में हुए। शान्तिदेव जिनका "बोधिचर्यावतार" त्याग और ात्म-बलिदान का अपूर्व ग्रन्थ है, इसी काल में हुए थे। इसके सिवा, विज्ञानवादियों के आचार्य चन्द्रगोमिन् और सन्तभद्र तथा अकलंक-जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में ादुर्भूत हुए।

चिन्तन में कोई कमी नहीं थी, किन्तु, इस काल का चिन्तन निरा बौद्धिक या अके-मिक किस्म का था। उसमें जिन्दगी को प्रभावित करने की वह बेचैनी नहीं थी, जो पनिषदों के युग में देखी गयी थी। यह चिन्तन रहस्य का उद्घाटन करने के लिए हीं, केवल शास्त्रार्थ के नाम पर किया जा रहा था। मनुष्य की मौलिक समस्याओं ो छोड़कर चिन्तकों का ध्यान इस बात पर अधिक चला गया था कि प्रतिपक्षी को रास्त करके अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कैसे बढ़ायी जाय। मनुष्य के सामने जब ौलिक समस्याएँ वर्त्तमान थीं, तब उसने उपनिषदों की रचना की थी। अब उन उप-निषदों की टीका करने का समय आ गया था। और एक टीकाकार जिन ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी) की टीका करके अद्वैत की सिद्धि करता था, दूसरा टीकाकार उन्हीं ग्रन्थों द्वैत की और तीसरा विशिष्टाद्वैत की सिद्धि कर रहा था। यही नहीं, बल्कि, वर्णा-श्रम-धर्म के खिलाफ जो विद्रोह फैलता चला आ रहा था, अब वह हिन्दुत्व की सँभाल बाहर जा पड़ा था। वाममार्गी योगी, कापालिक, पाशुपत, वज्रयानी और जैन, ायः, सभी सम्प्रदायों के साधु दिन-रात यह प्रचार कर रहे थे कि धर्म के बाह्याचार मिथ्या हैं, वेदों और शास्त्रों का अध्ययन केवल मस्तिष्क का बोझ है, ब्राह्मणों और रोहितों से किसी का उपकार नहीं हो सकता, तीर्थ और मन्दिर में जाने से मनुष्य को ख भी प्राप्त नहीं होता, जाति-प्रथा झूठी है और स्मृतियों के द्वारा बताये हुए मार्ग ी गलत हैं। यह भावना, विशेषतः, उनको प्रिय लगती थी जिन्हें जातियों की दीर्घा ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं था, मगर, जो संख्या में बहुत अधिक थे। यह ध्यान देने की

---

[१] मध्यकालीन धर्म-साधना।
17.

बात है कि सिद्धों में से अधिकांश नीची जातियों के लोग थे और उनकी मुद्रा अक्सर, छोटी जातियों की स्त्रियाँ ही होती थीं। अपने विरुद्ध उठी हुई इस से लड़ने के लिए हिन्दुत्व भी सजग था और वह नयी स्मृतियाँ रचकर अथवा स्मृतियों में नयी शर्तों की वृद्धि करके उन सभी लोगों को सामाजिक दंड दे जो वर्णाश्रम-धर्म का बन्धन तोड़नेवाले थे। इस काल में जातियों की श्रेणियाँ बढ़ गयीं, अस्पृश्यता और छूआछूत के विचार और भी कड़े हो गये एवं शूद्रों स्त्रियों का अनादर पहले से भी अधिक हो गया। बौद्ध मत का प्रचार देश के बड़े जोर से हो रहा था। यह बात ब्राह्मणों को अच्छी नहीं लगती थी। अजब कि इसीलिए स्मृतियों में समुद्र-यात्रा का निषेध प्रतिपादित किया गया हो। और बौद्धों में साँप और नेवले का सम्बन्ध हो गया था। शंकराचार्य ने शून्यवा "सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध" कहकर उपेक्षायोग्य समझा था। कुमारिल भट्ट-जैसे आचार्य ने भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातों को उसी प्रकार अग्राह्य बतला जिस प्रकार, कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध अमेध्य होकर अनुपयोगी हो जात "श्वदति निक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगी', इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते (ह०प्र० द्विवेदी)। उन दिनों, एक साधारण कहावत चालू हो गयी थी कि म बौद्ध के मुख में पानी देना भी पाप है। स्वामी शंकराचार्य हिन्दुत्व के त्राता माने हैं, किन्तु, चूँकि उन्होंने बौद्धों का विनाश करने में बौद्ध-दर्शन का ही (नागार्जुन वसुबन्धु के मत का) सहारा लिया था, इसलिए, जनता ने उन्हें भी प्रच्छन्न बौद्ध कर उनकी निन्दा की, यद्यपि, बौद्ध-मत के लिए यह प्रशंसा की ही बात थी। धर्म के ग्रन्थों की रचना उपनिषत्काल में अवरुद्ध नहीं हुई। सच तो यह है कि का सुविशाल धर्मसाहित्य उपनिषदों के बाद ही तैयार हुआ। किन्तु, इन ग्र देखने से यह कहीं भी भासित नहीं होता कि जिन दिनों ये धर्म-ग्रन्थ लिखे गये दिनों इस देश में बौद्ध आन्दोलन जोरों से चल-रहा था। प्रतिपक्षी मत की यह अत्यन्त घोर कही जायगी और उसे देखकर आश्चर्य भी होता है।

बौद्ध मत पर पुराणों के आक्रमण

हिन्दुत्व अपने आलिंगन में कस कर बौद्ध-धर्म को मार डालना चाहता था। बौद्धों को अपनाने के लिए उनके अनेक सिद्धान्तों को तो मान लिया था, किन्तु मत की जिन बातों को वह बिलकुल अग्राह्य समझता था, उनकी धार भोथी लिए पुराणों में उसने अनेक धार्मिक कथाओं की सृष्टि शुरू कर दी। कुमारिल मत का विरोध कर्मकाण्ड के आधार पर किया था और शंकराचार्य ने ज्ञान लेकर। दक्षिण भारत में शैव जनता जैन-सम्प्रदाय से अधिक रुष्ट थी, किन्तु, के प्रधान शत्रु बौद्ध थे। इसलिए, बौद्ध मत को नीचा दिखाने का प्रयास वैष्णव में ही अधिक मिलता है

सबसे बड़ी बाधा यह थी कि बुद्ध विष्णु का अवतार माने जा चुके थे, उनके मत पर आक्रमण करना जरा असुविधाजनक हो गया था। इस असुविधा

रने के निमित्त विचित्र-विचित्र कथाएँ गढ़ी जाने लगीं। एक कथा यह है कि एक र असुरों ने वैदिक विधि से यज्ञ करके इतना बल प्राप्त कर लिया कि वे देवताओं भी बली हो गये। इसपर देवताओं ने भयभीत होकर विष्णु से प्रार्थना की और ष्णु ने कृपा करके बुद्ध का अवतार लिया और असुरों से कहा कि वेद की सत्ता को मानो तथा वैदिक विधि से यज्ञ मत करो, क्योंकि यज्ञ में पशु-हिंसा होती है। ान, असुरों ने यज्ञ करना छोड़ दिया और वे, फिर से, देवताओं की तुलना में दुर्बल गये। इस कथा के भीतर से कई बाण निकलते हैं। एक तो यह कि बुद्ध का अवतार सुरों के कल्याण के निमित्त हुआ था। दूसरा यह है कि यज्ञ नहीं करने से मनुष्य की क्ति छीजती है। और तीसरा यह कि जो असुर नहीं हैं, उन्हें बुद्ध के उपदेशों को हें मानना चाहिये।

विष्णु-पुराण में एक और कथा आती है, जिसमें एक राजा मर कर श्वान-योनि उत्पन्न होता है। उसकी सती रानी उसे पहचान लेती है और कहती है, "महा-ज! आप किस कारण श्वान-योनि में उत्पन्न हुए? क्या आपको इसका स्मरण नहीं कि तीर्थस्नान के बाद पाषंडी से भाषण करने के कारण आपको यह कुत्सित योनि प्त हुई है?" इस कथा में पाषंडी से अभिप्राय जैन या बौद्ध श्रमण से है और उसका थ यह है कि जो जैन या बौद्ध श्रमण हैं, वे नीच हैं, अतः, पुण्यात्मा लोगों को इन नों और बौद्धों से बात भी नहीं करनी चाहिये।

ब्राह्मण-धर्मावलम्बी बौद्ध श्रमणों से बात भी नहीं करें, यह विधान करते हुए णु पुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है, जो मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में भी लब्ध है,

पाषंडिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकांच्छठान।
हैतुकान्बकवृत्तिश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।

दबाह्य कर्म करनेवाले, मार्जारव्रत धारण करनेवाले, हेतुवादी और वकवृत्ति डियों की, शब्दों से भी, पूजा न करे।)

सष्ट है कि जब श्रमणों में सच्चरित्रता थी, तब ब्राह्मण उनपर ऐसे आक्रमण करते थे, और करते भी हों, तो वे निरर्थक होते होंगे। यदि श्रमण अपनी अवस्था सुधार कर जनसाधारण के कल्याण का मार्ग पकड़ते, तो पुराणों के इन वारों से का कुछ भी नहीं विगड़ता। "पर, वैसा न करके पुराणों के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए वे एक प्रकार से महापंक में ही कूद पड़े। एक के बाद एक तंत्र की ना करके वे अपने सम्प्रदाय की रक्षा करने का प्रयत्न करने लगे। पर, दिन में बुद्ध पूजा और रात को वाम-मार्ग को स्वीकार करके नग्न स्त्री की पूजा करने का मेल बैठता?"[1]

समाज में बौद्ध-धर्म की इतनी अधिक निन्दा हुई कि शंकर का मायावाद भी, अन्त जनसाधारण को ग्राह्य नहीं हुआ, क्योंकि उससे बौद्धों के शून्यवाद की गन्ध आती । यही कारण है कि शंकर के बाद ही रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि

---

[1] भारतीय संस्कृति और अहिंसा ; धर्मानन्द कोसम्बी।

सन्तों ने द्वैत या विशिष्टाद्वैत का प्रचार आरम्भ कर दिया और जब कि शंक अद्वैत सिद्धान्त पंडितों तक ही सीमित रहा, द्वैत और विशिष्टाद्वैत पर अवै धर्म, बड़ी ही आसानी से, सारी जनता में फैल गये।

बौद्ध-धर्म के खिलाफ ब्राह्मणत्व के षड्यन्त्र, अनेक प्रकार से, चल रहे थे। कालीन धर्मसाधना' में पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने लिखा है कि "कूर्मपुराण के अध्याय में कहा गया है कि शिवजी की प्रेरणा से विष्णु ने ही कपाल, लकुल, भैरव आदि हजारों मोहशास्त्रों की रचना की थी। सांख्य-प्रवचन-भाष्य में पद् के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनमें शिवजी ने पार्वती को सम्बोधन करके है कि हे देवि! मायावाद बड़ा असत् शास्त्र है। मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण धारण करके इस शास्त्र की रचना की है। इसमें मैंने श्रुति-वाक्य का गलत अर्थ है और कर्म-स्वरूप की त्याज्यता का प्रतिपादन किया है। सर्व कर्मों के परिभ्र वता करके नैष्कर्म्य-भावना का मैंने समर्थन किया है। यह प्रच्छन्न बौद्ध मत अर्थात् पंडितों ने शंकर को भी दंडित करने का प्रयास किया, क्योंकि उन्होंने बौ शून्यवाद का प्रभाव ग्रहण किया था।

जैनों और बौद्धों पर शैवों का प्रहार

सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, सुन्दर पांड्य ने जैनों पर भयानक अ किया। "ईसा की सोलहवीं शताब्दी में सिंहल द्वीप का राजा राजसिंह अपने को मार कर गद्दी पर बैठा। उसने बौद्ध-संघ को आमंत्रित करके उससे पितृ प्रायश्चित्त पूछा। भिक्षु-संघ ने व्यवस्था दी कि प्रायश्चित्त देना हमारे वस नहीं है। तब उसने शैव धर्म स्वीकार कर लिया और भिक्षु-संघ पर भयंकर अ शुरू कर दिया। चार-पाँच वर्ष के अन्दर ही सारे सिंहल-द्वीप में एक भी भिक्षु रह गया।"[1]

प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में जैन और बौद्ध श्रमणों का जो रूप अंकित कि है, वह अत्यन्त पतित और घृणा उपजानेवाला है। यह नाटक कृष्णमिश्र दंडी परिव्राजक ने चन्देल राजा कीर्त्तिवर्मा के राज्य-काल में लिखा था। सन् १०६५ ई० में यह नाटक उक्त राजा के सामने खेला भी गया था। इस ना एक प्रकरण में "शांति" और "करुणा" अपनी सखी "श्रद्धा" की प्रतीक्षा हैं। इतने में वहाँ दिगम्बर (जैन) सिद्धान्त प्रवेश करता है और कहता है,

दिगम्बर—ओं णमो अरिहन्ताणं। (आकाश की ओर देखकर) अरे रे सुनो। हमारे इस मलमय पुद्गलपिंड की सब प्रकार के जलों से भी कैसे शुद्धि पर, आत्मा विमल-स्वभाव है और उसका ज्ञान ऋषि-परिचर्या से होता है। हो? यह ऋषि-परिचर्या कौन-सी? तो फिर सुनो। दूर से दंडवत करो और पूर्वक उन्हें मिष्टान्न भोजन दो। यदि वे तुम्हारी स्त्रियों से अति-प्रसंग करें मन में ईर्ष्या-मल उत्पन्न न होने दो।

---

[1] भारतीय संस्कृति और अहिंसा ; धर्मानन्द कौसम्बी।

[अनन्तर भिक्षु रूपधारी बुद्धागम (बौद्ध मत का प्रतीक) हाथ में पुस्तक लेकर प्रवेश करता है]

भिक्षु—(विचार करते) भो, भो उपासको ! सब पदार्थ क्षणस्थायी और अनात्मक । वे वाह्य से जान पड़ते हैं । पर जब चित्त-सन्तति में से सब वासनाएँ निकल जाती तव वह विषयों से विरक्त हो जाती हैं । (जरा इधर-उधर घूमकर बड़ी आढ्यता से) , यह सौगत धर्म, सचमुच, अच्छा है जिसमें सौख्य है और मोक्ष भी । सोने को तम आवास, अपनी पसन्द की बनियों की स्त्रियाँ, नियमित समय पर मिष्ट भोजन, तम बिछौने, श्रद्धा से स्त्रियाँ पूजा करती हैं और, इस प्रकार, बड़े आराम से चाँदनी तें कट जाती हैं ।

करुणा—सखि, तरुण ताड़ के वृक्ष के समान ऊँचा, काषाय वस्त्र धारण किये, ण्डित-सिर यह कौन आ रहा है ?

शान्ति— सखि, यह बुद्धागम है ।

भिक्षु— (आकाश की ओर देखकर) रे, रे, उपासको और भिक्षुओ ! भगवान त का यह वचनामृत सुनो । (पुस्तक पढ़ता है) मैं दिव्य चक्षु से लोगों की ति और दुर्गति देखता हूँ । सब संस्कार क्षणिक हैं । आत्मा स्थायी नहीं । इसलिए, क्षु स्त्रियों से अति-प्रसंग करें, तो भी ईर्ष्या न करे, कारण, ईर्ष्या चित्त का लिन्य है ।

[इतने में कापालिक रूपधारी सोमसिद्धान्त प्रवेश करता है । तब क्षपणक जैन, जो पहले से मौजूद है, उसके पास जाकर उससे कहता है ।)

क्षपणक—अरे कापालिक ! मनुष्यों की हड्डियों की माला धारण करनेवाले, तेरा में कौन-सा है और मोक्ष कौन-सा है ?

कापालिक— अरे क्षपणक ! हमारा धर्म कौन-सा है, यह सुन ! हम मनुष्य के ा, आँतें, वसा और मांस से भरी आहुतियाँ देते हैं और मनुष्य की खोपड़ी से रापान करके पारण करते हैं । ताजा कटे मनुष्य के गले से निकली हुई रक्त की रा के वलिदान से महाभैरव की पूजा करते हैं ।

इतने में, कापालिक से क्षपणक और बौद्ध भिक्षु, दोनों का विवाद हो जाता है र कापालिक उन पर तलवार उठा कर टूटता है । फिर कापालिक एक युवती ालिनी से कहता है तू, बारी-बारी से, दोनों का आलिंगन कर । आलिंगित होते ही क्षु गद्गद होकर कहने लगता है,

भिक्षु—अहा हा, इस कपालिनी का स्पर्श कितना सुखकर है ! मैंने, न जाने, तनी राँड़ों का आलिंगन किया होगा । पर, मैं सौ बार बुद्ध की सौगन्ध खाकर हता हूँ कि ऐसा आनन्द मुझे कभी नहीं मिला । सचमुच, कापालिकों का कार्य बड़ा प्रद है और यह सोमसिद्धांत अवर्णनीय है । यह धर्म आश्चर्यजनक है । हे महाभाग ! ने बुद्ध-धर्म बिल्कुल छोड़ दिया । अब मैं परमेश्वर-सिद्धान्त में प्रवेश करता हूँ । सलिए, तुम मेरे आचार्य और मैं तुम्हारा शिष्य । मुझे परमेश्वरी दीक्षा दो ।

और क्षपणक भी गद्गद होकर कहता है,

क्षपणक—(रोमांचित होकर) अरिहंत ! अरिहंत ! कपालिनी के स्पर्श में सुख हैं। सुन्दरी, दे, दे, पुनः मुझे आलिंगन दे।··· अरे कापालिकों का दर्शन और मोक्ष का साधन है। कापालिक ! अब मैं तुम्हारा दास हो गया हूँ। मुझे महाभैरव के अनुशासन की दीक्षा दो।[1]

नाटककार ने यहाँ किसी को भी नहीं छोड़ा है। जैन और बौद्ध भिक्षुओं पाशुपत कापालिकों के द्वारा धर्म और नैतिकता की जो दुर्दशा उन दिनों हो उसका नाटक में पूरा चित्र आ गया है। अतिशयोक्ति को बाद दे दें, तब भी वर्णन तत्कालीन समाज पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। यह भारत के घोर नैतिक का चित्र है। श्रमण भी धर्म से गिरकर पापाचार में जा फँसे थे। किन्तु, की उग्रता और कठोरता उनमें नहीं थी, इसलिए, कापालिकों ने उन्हें दबा "शैव कापालिकों ने तलवार, स्त्री और मदिरा, इन तीन साधनों का उपयोग बौद्ध एवं जैन श्रमणों को अपने पन्थ में आने को बाध्य किया होगा और जहाँ सम्भव नहीं था, वहाँ उनका उच्छेद किया होगा।"

ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच जो संघर्ष मचा, उसके फलस्वरूप, स्मृतियों में अनुशासनों की व्यवस्था की गयी, जात-पाँत और छुआछूत के बन्धन और भी बना दिये गये और धर्म रूढ़ियाँ प्रधान बन बैठीं। ज्यों-ज्यों ब्राह्मणत्व अपनी की रक्षा के लिए नये-नये चंगुल निकालता जाता था, त्यों-त्यों उन लोगों पर बढ़ता जाता था, जो समाज के निचले स्तर पर बसते थे और जो, जन्मना होने के अभिशाप से बचने के लिए, उस दल की ओर बढ़े जा रहे थे जो दल बौद्ध के प्रभाव में था और जिसे सिद्धों के ये उपदेश बहुत अच्छे लगते थे कि मनु श्रेष्ठता जन्म से नहीं, कर्म से मिलती है, और वे सारे शास्त्र अनादरणीय हैं जो को मनुष्य से हीन बताते हैं।

इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सम्प्रदाय

जब इस्लाम आया, उसे इस देश में फैलने में देर नहीं लगी। तलवार अथवा पद के लोभ से तो बहुत थोड़े ही लोग मुसलमान हुए, ज्यादा तो ऐसे जिन्होंने इस्लाम का वरण स्वेच्छा से किया। बंगाल, कश्मीर और पंजाब में गाँव एक साथ मुसलमान हो गये। शहरों के किनारों पर जो अछूत लोग उन्हें मुसलमान बनाने के किसी खास आयोजन की आवश्यकता नहीं हुई। वे शहरों के भीतर नहीं बस सकते थे, जहाँ ऊँची जातियों का प्राधान्य था और जातियाँ अछूतों को पशु से भी हीन समझती थीं। सच पूछिये तो मुसलमानों के मन के पूर्व ही, इस देश में बहुत-से हिन्दू वर्णाश्रम-धर्म को छोड़ एक ऐसी जगह खड़े थे, जहाँ वर्णाश्रम का कोई प्रभाव नहीं था। वे जात-पाँत को नहीं माने

---

[1] भारतीय संस्कृति और अहिंसा ; धर्मानन्द कोसम्बी।

तीर्थ-व्रत और प्रतिमा-पूजन में उनका विश्वास नहीं था। वे शून्य, अलख निरंजन या निराकार की उपासना करते थे। ऐसे विश्वासवालों का जब इस्लाम से सामना हुआ होगा, तब अजब नहीं कि उन्हें हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम ही अधिक अनुकूल दिखायी पड़ा हो।

बौद्धों के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिरकार, समाज में एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया जो निराकार को पूजता था और जाति-प्रथा का द्रोही और स्मृतियों का विरोधी था। सिद्ध, नाथपन्थी और बाद के निर्गुनियाँ सन्त इन्हीं बौद्ध प्रचारकों के उत्तराधिकारी थे। कट्टर ब्राह्मण-धर्म से बौद्ध-मत अपनी रक्षा तो नहीं कर सका, किन्तु, उसने ऐसी अनेक सन्तानें उत्पन्न कर दीं, जो ब्राह्मणत्व से आज तक युद्ध कर रही हैं। हजारीप्रसाद जी के अनुसार, "गोरखनाथ के पूर्व ऐसे बहुत-से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे, न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया।" असल में, बौद्ध मतावलम्बियों की स्वाभाविक परिणति या तो अद्वैतवादी हिन्दू-सम्प्रदायों में होती थी अथवा इस्लाम में। हजारीप्रसादजी ने लिखा है कि "बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में बौद्ध-धर्म जीवित था और बाद में चलकर वह कबीर-पन्थ में मिल गया।" इसी कारण, अवैदिक या वेदबाह्य कह-कह कर जिन लोगों का हिन्दुत्व ने तिरस्कार किया, वे सब-के-सब मानसिक धरातल पर हिन्दुत्व से अलग हो जाने को तैयार थे।" दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण-धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था, फिर भी, बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था।" जब मुसलमान इस देश में आये, तब इन लोगों का मन डोलने लगा। वैदिक-धर्म में इन्हें इज्जत नहीं थी। उधर, जिस निराकार भावना का इन लोगों के बीच प्रचार था, इस्लाम भी उसी निराकारोपासना को लेकर आया था। "पूर्वी बंगाल के वेदबाह्य सम्प्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे. जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्त्ता समझा। वे समूह-रूप में मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पशुपतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के सम्प्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हुए, परन्तु, इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे-गृहस्थ मुसलमान हो गये।" (मध्यकालीन धर्म-साधना)।

द्विवेदीजी ने अपनी कबीर नामक पुस्तक में भी इस विषय की समीचीन व्याख्या की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थीं। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घर-बारियों की एक जाति सारे उत्तरी और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपन्थी थे, कपड़ा बुनकर या सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जाति-भेद और ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही

इनकी कोई आस्था थी। आसपास के बृहत्तर हिन्दू-समाज की दृष्टि में ये नीच अस्पृश्य थे। मुसलमानों के आने के बाद, धीरे-धीरे ये मुसलमान होते रहे। पं युक्तप्रदेश, बिहारऔर बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानो ग्रहण कर लिया।

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी वर्त्तमान थी, जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं नाथपन्थी योगी ऐसे ही थे। रमाई पंडित के "शून्यपुराण" से जान पड़ता है कि प्रकार के तांत्रिक-बौद्ध मुसलमानों को "धर्म-ठाकुर" का अवतार समझने लगे थे। यह आशा हो चली की कि अब पुन: एक बार बौद्धों का उद्धार होगा। शायद, उन्हों ब्राह्मण-विरोधी सभी मतों को बौद्ध ही मान लिया था।

रमाई पंडित का समय ११वीं सदी माना जाता है। किन्तु, शून्यपुराण में इस के लिए जो उत्साह दिखायी देता है, उससे यह अनुमान होना चाहिये कि इस ग्रन्थ रचना मुसलमानों के बंगाल-प्रवेश के बाद हुई है। ब्राह्मण-धर्म के प्रति निचले स्त हिन्दुओं (विशेषत:, अस्पृश्य जातियों) का क्या भाव था, इसे समझने के लिए "शू पुराण" बड़े ही महत्त्व का ग्रन्थ है। "शून्यपुराण" का कवि इस्लाम को धर्म-रक्ष रूप में देखता है और यह कवि मुसलमान नहीं है। अतएव, निष्कर्ष यही निक है कि बौद्धों के प्रभाव में चलनेवाली हिन्दू जनता का एक अच्छा-खासा अंश ऐसा था जो हिन्दुत्व से इस्लाम को श्रेष्ठ समझता था और जिसे, सचमुच ही, यह आश चली थी कि इतने दिनों तक ब्राह्मणों और शास्त्रों ने मिलकर जनता पर जो अत्या किया है, मुसलमानों के हाथों उस अत्याचार का अन्त होनेवाला है। मुसलमान पंजाब में ऊधम मचाने लगे, तब उनके उपद्रवों से और लोग चाहे रुष्ट हुए हों, कि शून्यपुराण का कवि बहुत प्रसन्न था। उसे तो यही भासित हो रहा था कि स्वयं ठाकुर की सेना बंगाल में पहुँच गयी है। देवता ब्राह्मणों से नाराज हो गये हैं, औ ही अब उन्हें दण्डित कर रहे हैं। रमाई पंडित कहते हैं कि "सभी देवताओं ने मत होकर 'इजार' पहने। ब्रह्मा मुहम्मद हो गये, विष्णु पैगम्बर हो गये और मह ने आदम का रूप लिया। गणेश गाजी बने और कार्त्तिकेय काजी। ऋषिगण फकीर गये। बाबा नारद वेष बदल कर शेख हो गये और इन्द्र मौलाना बन गये। चन्द्र, आदि देवगण बजनियाँ बन गये। स्वयं चंडिकादेवी हाया बीबी हो गयीं। पद्म बीबी नूर हो गयीं। इसी प्रकार, सभी देवगण मुसलमान वेष धारण कर जा आये और वे देवालय, तोरणद्वार आदि तोड़ने लगे। साथ ही बलपूर्वक वस्तुओं अपहरण करके आनन्द मनाने लगे और 'पकड़ो-पकड़ो' कहने लगे। धर्म का पाँव कर रमाई पंडित गाते हैं कि यह बड़ी ही गड़बड़ी मच गयी।"[१]

---

[१] यतेक देवतागण, सभे हय्ये एकमत, आनन्देते परिलो इजार।
ब्रह्मा हैलो महामद, विष्णु हैलो पैगम्बर, आदम हईलो शूलपाणि।
गणेश हईलो गाजी, कार्त्तिक हईलो काजी, फकीर हईलो यत मुनि।

[शेष अगले पृष्ठ पर]

बौद्ध धर्म का लोप

बौद्ध धर्म भारत से कैसे लुप्त हुआ, इसके दो उत्तर दिये जाते हैं। एक तो यह जनाग्रह के कारण उसे हिन्दू रूप धारण करने को लाचार होना पड़ा। इस प्रकार, ह जहाँ से आया था, वहीं लौट गया। दूसरा यह कि उसकी समाप्ति मुस्लिम-आक्रमण के कारण हुई, क्योंकि मुसलमानों ने संघों और विहारों को नष्ट कर दिया और इनके विनष्ट हो जाने पर बौद्ध-धर्म जी नहीं सकता था। गृहस्थों की दृष्टि में भी बौद्ध-धर्म के प्रतीक संघ और विहार ही थे। जब संघ उजड़ गये, धर्म का प्रतीक दा को जाता रहा। इसके विपरीत, मन्दिरों के विनष्ट होने पर भी, हिन्दुत्व जीवित हा, क्योंकि वह मन्दिरों में कम, गृहस्थों के आचार-विचार और दैनिक अनुष्ठानों में अधिक बसता था। ईसाइयत और बौद्ध-मत के समान हिन्दुत्व ने कभी भी धर्म का संघ नहीं बनाया। यह भी एक कारण है कि वह मन्दिरों के टूटने पर भी अक्षुण्ण रह गया। हिन्दुत्व, मूलतः, अपने अनुयायियों की आदतों में निवास करता है। जो जनता बौद्ध थी, आदत, अनुष्ठान और दैनिक आचारों में वह भी हिन्दू थी। अतएव, जब भिक्षुओं का संघ नहीं रहा, यह जनता पूर्णरूप से हिन्दू हो गयी।

"शंकर-दिग्विजय" नामक काव्य के आधार पर बहुत दिनों से यह बात चली जाती है कि शंकराचार्य के ही प्रताप से बौद्ध भारत से निकाले गये। किन्तु, राहुलजी इस मत को नहीं मानते। 'बुद्धचर्या' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि शंकराचार्य का "शारीरक भाष्य" अनमोल ग्रन्थ अवश्य था, किन्तु, दिङ्नाग, उद्योतकर, कुमारिल और धर्मकीर्त्ति के युग के लिए वह कोई बहुत ऊँचा ग्रन्थ नहीं था और न शंकर के समय उत्तर भारत में उस ग्रन्थ का प्रचार ही हुआ था। उत्तर भारत में, "शारीरक भाष्य" का महत्त्व तब बढ़ा, जब मिथिला के सर्वशास्त्र-निष्णात दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने उसपर "भामती" टीका लिखी। यथार्थ में, वाचस्पति मिश्र के कंधे पर चढ़ कर ही शंकर को वह कीर्त्ति और बड़प्पन मिला जो आज देखा जाता है। वाचस्पति मिश्र के एक शती पूर्व नालन्दा में आचार्य शान्तिरक्षित हुए थे, जिन्होंने महादार्शनिक ग्रन्थ "तत्त्व-संग्रह" की रचना की। इस ग्रन्थ में शान्तिरक्षित के पूर्वज पचासों दार्शनिकों के मतों का उल्लेख मिलता है, किन्तु, शांकर मत का उसमें उल्लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शंकर के "शारीरक भाष्य" की प्रसिद्धि "भामती" टीका के कारण हुई। आगे राहुलजी ने कहा है कि "एक ओर कहा जाता है कि शंकर ने बौद्धों को मार भगाया, दूसरी ओर, हम उनके बाद, गौड़-देश (बंगाल-बिहार) में पालवंशीय बौद्ध नरेशों का प्रचंड प्रताप फैला देखते हैं तथा उसी समय उदन्तपुरी

[पिछले पृष्ठ का शेषांश]

तेजिया आपन भेक, नारद हईलो शेख, पुरन्दर हईलो मल्लना।
चन्द्र, सूर्य आदि देवे, पदातिक हइया सेबे, सेबे मिलि बाजाय बाजना।
आपुन चंडिका देवी, तेहु हैला हाया बीवी, पद्मावती हली बीबी नूर।
यतेक देवतागण, हय्ये सबे एकमत, प्रवेश कोरल जाजापुर।
(कविता-कौमुदी, सातवाँ भाग।)

(विहारशरीफ) और विक्रमशिला-जैसे बौद्ध विद्यालयों को स्थापित होते देखें इसी समय, भारतीय बौद्धों को हम तिब्बत पर धर्म विजय करते भी देखते हैं। शताब्दी में, जब कि उक्त दन्तकथा के अनुसार, भारत में कोई भी बौद्ध नहीं चाहता, तिब्बत से कितने ही बौद्ध भारत में आते हैं और वे सभी जगह बौद्ध और भिक्षुओं को पाते हैं। इस पाल-काल के बुद्ध, वोधिसत्त्व और तांत्रिक देवताओं की खंडित मूर्त्तियाँ उत्तरी भारत के गाँवों तक में पायी जाती हैं। यह रही हैं कि उस समय बौद्धों को कोई शंकर नेस्तनाबूद नहीं कर पाया था। द्वारा बौद्ध धर्म का देश-निर्वासन कल्पना-मात्र है।"

इसी से मिलता-जुलता मत धर्मानन्द कोसम्वी का भी है। उनका कहना है शंकराचार्य के दादा-गुरु गौड़पादाचार्य थे, जो अद्वैताचार्य भी कहे जाते हैं। अद्वैता बुद्ध के भक्त थे, क्योंकि मांडूक्योपनिषद् की कारिका के चतुर्थ प्रकरणं के आरम् उन्होंने बुद्ध की वन्दना की है। अद्वैतवादियों से बौद्धों का बहुत विरोध नहीं शान्तिरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में अद्वैतवादियों से बौद्धों का सिर्फ एक वात में मतभेद है कि अद्वैतवादी ज्ञान को नित्य मानते हैं और बौद्ध वैसा नहीं मानते। फिर शान्तिरक्षित ने इसे "अल्पापराध" ही कहा है। गौड़पादाचार्य प्रत्यक्ष रूप से बुद्ध थे। शंकराचार्य को लोग "प्रच्छन्न बौद्ध" कहते थे। किन्तु, शंकर ने बौद्ध विरुद्ध प्रतिक्रिया को अवश्य उत्तेजन दिया। कोसम्वीजी का मत है कि "शंकराचा समय, बौद्ध-धर्म मृत-प्राय हो गया था और उसका श्रेय श्रमणों के आलस्य के अति और किसी को देना है तो वह पाशुपतादिक शैव संन्यासियों को, उनको उभारने ब्राह्मणों को और उनकी सहायता करनेवाले शैव राजाओं को देना होगा। हाँ, सन्देह नहीं कि शंकराचार्य ने इस कार्य में यथाशक्ति सहायता दी। पर, बौद्ध उनके बाद भी, मुहम्मद गोरी के आक्रमणों तक, पूर्व हिन्दुस्तान में किसी-न-किसी जी रहा था।"

कोई-कोई विद्वान् यह भी कहते हैं कि बौद्ध-धर्म का भारतवर्ष से लोप हुआ कि दार्शनिक स्तर पर हिन्दू-धर्म से उसका सामंजस्य नहीं बैठ सका। बौद्ध विरोध ब्राह्मणों ने इसलिए किया कि बौद्ध जाति-प्रथा के विरोधी थे, यज्ञ को मानते थे तथा ब्राह्मणों की जन्मजात प्रतिष्ठा उन्हें स्वीकार नहीं थी। किन्तु, दर्शन का विरोध इसलिए हुआ कि उसका रूप नकारात्मक था। वह जीवन से खड़े होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता था।

बुद्धदेव का आविर्भाव बहुत-कुछ उन्हीं कारणों से हुआ था, जिन कारणों को उपनिषद् लिखे गये थे। बौद्ध मत और उपनिषदों में समानताएँ कम नहीं हैं। राधाकृष्णन ने दिखलाया है कि उपनिषद् और बौद्ध मत, दोनों ही वेदों को प्र नहीं मानते। दोनों ही वैयक्तिक अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं। यज्ञ धर्म के बाह्याचारों को दोनों ही निन्द्य समझते हैं। जिस सत्य को उपनिषद् कहते हैं, उसी सत्य को बुद्ध ने धर्म कहा है और दोनों मानते हैं कि यह अन्तिम बुद्धि से समझा नहीं जा सकता। दोनों का विश्वास है कि अपरिवर्त्तनशीलता की

पर पहुँचे बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती। इसी स्थिति को उपनिषद् मोक्ष एवं बुद्धदेव निर्वाण कहते हैं। दोनों की यह मान्यता है कि इस स्थिति तक पहुँचने का मार्ग वैराग्य है, ध्यान और समाधि है तथा इसे वही प्राप्त करता है जिसे यह विश्वास हो गया हो कि संसार के समस्त जीव एक हैं, उनमें भेद-भाव नहीं है। जीव और जगत् को दोनों नाशवान् मानते हैं। सच तो यह है कि बुद्धदेव ने अपने उपदेशों में बहुत-से ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग किया है, जो उपनिषदों के वाक्यों की प्रतिच्छाया-से लगते हैं।

यहाँ तक तो बातें ठीक रहीं और यह भी अच्छा रहा कि बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को उन विषयों पर सोचने से रोक दिया, जिनके सम्बन्ध में कोई भी बात निश्चितता से जानी नहीं जा सकती। उनका उद्देश्य अध्यात्म के ऊहापोह में जाना नहीं, मानव-जीवन की वेदनाओं का शमन था एवं उसके लिए वे मनुष्य के कर्मों का सुधार करना चाहते थे। मनुष्य के जीवन की पूर्णता उसके कर्मों की शुद्धता में है; मनुष्य की शान्ति हिंसा और मलिन कर्म से अलग रहने में है; ये उपदेश बुद्धदेव ने बार-बार दिये हैं।

यदि बौद्ध मत इतने से ही सन्तुष्ट रहता तो, सम्भव है, वह उस धर्म का क्रियापक्ष बन कर भारत में आज भी कायम रहता, जिसके सिद्धान्त-पक्ष का आख्यान उपनिषदों में हुआ है। किन्तु, दुर्भाग्यवश, यह नहीं हुआ। बुद्धदेव के प्रायः, दो सौ वर्ष बाद, बौद्ध पंडित उन विषयों पर सोचने का साहस करने लगे, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कहा था और जिनके बारे में उन्होंने कोई राय नहीं दी थी। उनके मौन का लाभ बाद के पंडितों ने उठाया और उन्होंने जो दर्शन प्रस्तुत किया, उसका निष्कर्ष यह था कि जीव और जगत्, दोनों परिवर्त्तनशील, दोनों नाशवान् हैं। परिवर्त्तनशील और नाशवान् तो इन्हें उपनिषदों ने भी माना था, किन्तु उपनिषदों का यह भी कथन था कि दोनों के नीचे, आधार-रूप से, आत्मा और परमात्मा अवस्थित हैं जिनका नाश नहीं होता है। इसलिए, पुनर्जन्म की कल्पना (उपनिषदों की व्याख्यानुसार) समझ में आने की बात थी। किन्तु, बौद्ध पंडितों ने पुनर्जन्म को तो माना, लेकिन, आत्मा को अनित्य कह डाला। इससे लोगों में यह जिज्ञासा उठी कि यदि आत्मा भी नष्ट होनेवाली वस्तु है, तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है? इस जिज्ञासा का सम्यक् समाधान बौद्ध दर्शन नहीं दे सका, जिससे उसका अनात्मा-विषयक प्रतिपादन जनता को ग्राह्य नहीं हुआ।

दूसरी क्लिष्ट कल्पना निर्वाण को लेकर उठी। उपनिषदों का मोक्ष आत्मा नहीं, आत्मा के बन्धनों का नाश था, उसकी सीमाओं का विलय था। हिन्दू मानते थे कि मोक्ष हमारा विनाश नहीं, प्रत्युत, हमारे अमर जीवन का आरम्भ है। किन्तु, बौद्धों ने जब यह कहा कि आत्मा अमर नहीं होती, उसका भी शरीर के साथ नाश हो जाता है, तब फिर यह शंका जनता को सताने लगी कि यदि आत्मा मरती है, तो उसके पुनर्जन्म की कल्पना ही व्यर्थ है और जब पुनर्जन्म ही शंका-ग्रस्त हुआ, तो फिर निर्वाण का अर्थ क्या है?

बौद्ध दर्शन में चिन्तन बहुत उच्च कोटि का हुआ था, किन्तु, वह ऐसा नहीं जिससे जन-सामान्य की जिज्ञासाओं का समाधान होता है। उलटे, जनता की और भी चकित हो गयी और भीतर से इस धर्म पर से उसकी श्रद्धा उखड़ती बुद्धदेव के जीवन-काल में एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि "महाराज! यदि की आत्मा यहीं रह जाती है तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है?" इसपर बुद्धदे ने ताली बजायी और दूर पर सुनायी देनेवाली उसकी प्रतिध्वनि को लक्ष्य करके कि ताली तो वहाँ नहीं गयी, किन्तु, उसकी प्रतिध्वनि वहाँ पहुँच गयी है। ऐ पुनर्जन्म होता है।" यह दृष्टान्त, कदाचित्, उपयोगी होगा, किन्तु, सामान्य बुद्धि लिए यह भी अयथेष्ट है।

बौद्ध दर्शन ने सब कुछ को नाशवान् मानकर, एक प्रकार से, पुनर्जन्म और नि की कल्पना को आधारविहीन कर छोड़ा। स्पष्ट ही, यह उपनिषदों के उपदेशों कतरा हुआ रूप था एवं इस स्थापना ने हिन्दुत्व और बौद्ध-मत के बीच की खाई बना दी। बुद्धदेव, कदाचित् उपनिषत्कालीन हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ थे, इसलिए, उ ओर जनता वेग से दौड़ी, यहाँ तक कि हिन्दुओं ने उन्हें विष्णु का अवतार मान लि किन्तु, बाद को जब बौद्ध साधु शराबियों, व्यभिचारियों एवं औघड़ों के समान आच करने लगे, तब जनता उनके विरुद्ध हो गयी।

□□

तृतीय अध्याय

हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम

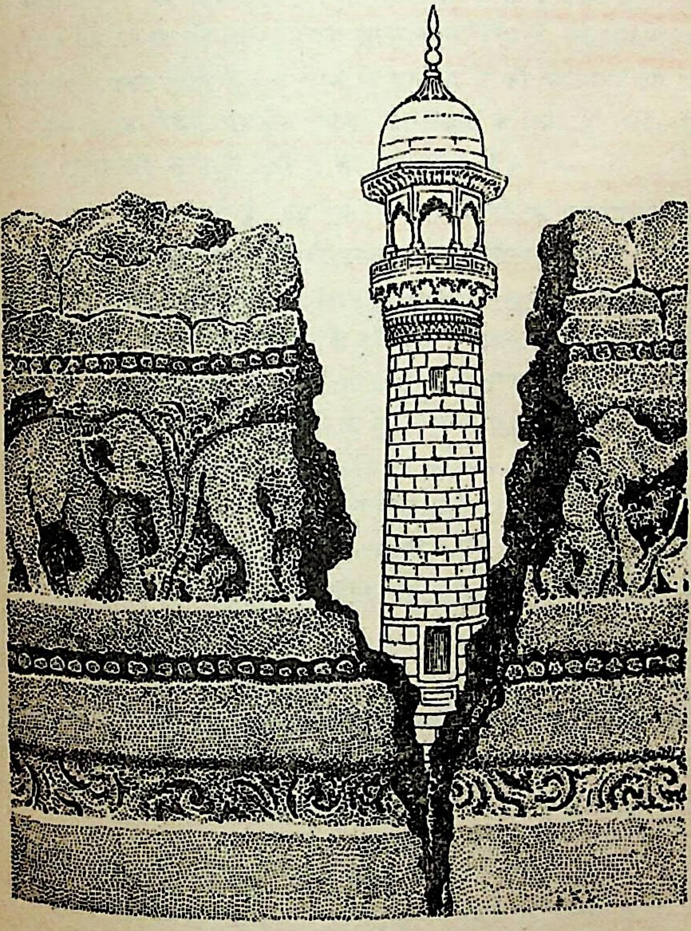

प्रकरण १

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की भूमिका

स्लाम से हिन्दुओं की अनभिज्ञता

स्वर्गीय मानवेन्द्रनाथ राय ने लिखा है कि संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम इतिहास से उतनी अपरिचित नहीं है जितने हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति स्लाम को उतनी घृणा से भी नहीं देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं।[1] हमारे ष्ट्रीय संस्कार में एक प्रकार की आध्यात्मिक साम्राज्यवादिता है, जो सब से अधिक सलमानों के प्रसंग में प्रकट होती है। इस्लाम के सम्बन्ध में जो भावनाएँ इस देश में चलित हैं, उनका खंडन केवल राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए ही नहीं, अपितु, ज्ञानिकता और ऐतिहासिक सत्य के हित में भी आवश्यक है।

राय महोदय ने जो बात लिखी है, वह एक अंश में भारत के मुसलमानों पर भी गू है, क्योंकि इस देश के मुसलमानों में भी इस्लाम के मौलिक स्वभाव, गुण और के ऐतिहासिक महत्त्व का ज्ञान बहुत ही छिछला रहा है। भारत में मुसलमानों का याचार इतना भयानक रहा कि सारे संसार के इतिहास में उसका जोड़ नहीं मिलता। अत्याचारों के कारण हिन्दुओं के हृदय में इस्लाम के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई, के निशान अभी तक बाकी हैं और पड़ोसी के हृदय में इतिहास ने जो जहर की रें छोड़ी हैं, उन्हें शिष्ट मुसलमान भी मन-ही-मन अनुभव करते हैं। यह बड़ी ही पूर्ण बात है कि भारत के किसी भी मुसलमान विद्वान ने मुसलमानी अत्याचारों को चित बताने अथवा भीषणता पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की।[2] फिर भी, यद्यपि न्दू और मुसलमान इस देश में एक साथ जीते चले आये हैं, लेकिन, दिल उनके फ़ नहीं हुए।

सलमानों का भारत-विषयक अज्ञान

हिन्दू इस्लाम के उसी रूप को जानते हैं जिससे उन्हें पाला पड़ा है। वे इस्लाम उन गुणों से बहुत ही कम परिचित हैं, जिनके कारण यह धर्म क्रान्तिकारी समझा ना था। लेकिन, भारतीय मुसलमानों का अज्ञान भी कम नहीं है। सारा संसार

---

[1] द हिस्टारिकल रोल आव् इस्लाम—एम० एन० राय।

[2] "आधुनिक मुसलमान लेखक डा० हबीब ने महमूद के बारे में लिखा है कि गजनवी की सेना से भारतीय मन्दिरों का जो घोर विध्वंस हुआ, उसको किसी ईमानदार इतिहासकार को छिपाना नहीं चाहिये और अपने धर्म से परिचित कोई भी मुसलमान उसका समर्थन नहीं करेगा।"

(भारतीय इतिहास का परिचय, राजबली पाण्डेय।)

जानता है कि प्राचीन जगत् में सभ्यता का गुरु भारतवर्ष था। किन्तु, हिन्दु
आज ऐसे बहुत-से मुसलमान हैं जो खुलकर बोलते तो नहीं, मगर, मन-ही-मन
सूस करते हैं कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत की संस्कृति बहुत ऊँ
थी। उनका ख्याल है कि हिन्दुओं को खाने-पीने और पोशाक पहनने की शिक्षा
मानों से मिली है!

यह भावना मुसलमानों में अभी नयी-नयी आयी हो, सो बात नहीं है। ज
मुसलमानों के गुलाम हो गये, तब, धीरे-धीरे, उनकी सांस्कृतिक गरिमा का ह्रा
लगा। उन्होंने फारसी पढ़ी और मुसलमानों के तौर-तरीके सीखे। फिर शा
को प्रसन्न रखने के लिए वे दरबारों में और दरबार से बाहर भी मुसलमानों से
जुलने के समय मुसलमानी तहजीब बरतने लगे। इससे मुसलमानों पर यह अ
कि हिन्दुओं के पास अपने तौर-तरीके, शायद, नहीं रहे होंगे।

हिन्दू-संस्कृति को समझने की जो थोड़ी-बहुत कोशिश आरम्भ के मुगलों ने
उसकी परम्परा आगे चली नहीं। मुस्लिम पंडित और विद्वान् फारसी भाषा में
हो गये और, गूलर के कीड़ों के समान, उन्होंने इस्लाम को ही अपना ब्रह्मा
लिया। चूँकि उर्दू कविता का उद्भव और विकास उन्हीं संकीर्णता के दिनों में
इसलिए, उस काव्य की भाषा तो हिन्दुस्तानी रही, लेकिन, सारे भाव अरब और
के आ गये। भारतीय मुसलमानों की यह खयाली दुनिया, उनकी अपनी दृ
कितनी सच्ची और ठोस थी, इसका प्रमाण वह उद्धरण है जिसे पं० अम्बि
वाजपेयी ने सैयद इनशाउल्लाह खाँ की किताब "दरिया-ए-लताफत" से दि
इनशाउल्लाह खाँ का विचार था कि "**बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि**
ने बोल-चाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना, इन सब बातों का सलीका मुस
से सीखा है, किसी बात में भी इनका कोई फेल एतबार के काबिल नहीं।"[1] यह
कुछ वैसी ही गाली है, जैसी गाली लार्ड मेकाले ने बंगाली-जाति को दी थी।

लेकिन, यह बात क्या ठीक है? इनशाउल्लाह के समय के मुसलमान भार
महिमा को भले ही भूल गये हों, लेकिन, इस्लाम के अभ्युदय के समय तथा उसके
के पूर्व, अरब और ईरान के लोग भारत की सभ्यता और संस्कृति से खूब परि
"जेरूसलम के हमीदिया-पुस्तकालय में हारूनरशीद के महामंत्री फजल-बिन-यहि
मुहर लगा हुआ एक ताम्र-पत्र मिला है, जिस पर १२८ शेर लिखे हुए हैं, जिनमें
वर्ष, वेदों और आर्य ज्ञान-विज्ञान की बड़ी प्रशंसा की गयी है।...."हजरत मुह
५०० वर्ष पहले के कवि जरहम-बिन-ताई की कविता में गीता के "परित्राणाय
विनाशाय च दुष्कृताम्" इत्यादि श्लोकों के आधार पर श्री कृष्णावतार की चर्चा
प्रशंसा है। इसमें महादेव की आराधना इष्टफलदायिनी बतायी गयी है।"[2]

---

[1] हिन्दी पर फारसी का प्रभाव।

[2] वही।

मुहम्मद साहब से पहले अरबों को हिन्दू और बौद्ध धर्मों का पूरा ज्ञान था। अरब के लोग किसी समय बौद्ध-मतावलम्बी थे, यह अनुमान भी निराधार नहीं है। मक्के के काबा-मन्दिर में ३६० मूर्त्तियाँ थीं, जिनमें प्रति दिन एक मूर्त्ति की, विशेष रूप से, पूजा की जाती थी। मुहम्मद साहब ने इन मूर्त्तियों को तो हटा दिया, लेकिन सी कारण से, एक काला पत्थर वहाँ अब भी रह गया है, जिसे **संगे-असवद** कहते हैं और जिसे हर हाजी श्रद्धा के साथ चूमता है।

बलख में एक **नौबिहार** नाम का मन्दिर था जिसका पुजारी बरामका कहलाता था; इस मन्दिर में जो मूर्त्ति थी, उसे रेशम का कपड़ा पहनाया जाता था। वाज-पेयीजी का अनुमान है कि "काबे के मन्दिर और बलख के नौबिहार मन्दिर में बुद्धदेव की पूजा होती थी। अरबी-फारसी में मूर्त्ति के लिए जो बुत शब्द प्रचलित है, वह बुद्ध का ही अरबी रूप है। नौबिहार नव-विहार या बौद्ध मठ ही था।"[1]

इस्लाम के उदय के बाद भी भारतीय विद्या खलीफा मनसूर के समय (हिजरी ५४, ईस्वी सन् ७०१) में अरब में प्रचलित थी, इसका प्रमाण मिलता है। खलीफा रूंरशीद ने अपनी चिकित्सा के लिए भारत से वैद्य बुलवाया था जिसने अरब में र-शास्त्र की धाक जमा दी थी। भारत की विद्या के लिए अरबों में कितना अधिक आदर-भाव उत्पन्न हुआ था, इस विषय में मौलाना नदवी ने तीन अरब लेखकों के प्रमाण दिये हैं। इनमें पहला बसरे का निवासी **जाहिज़** है, जिसकी मृत्यु सन् २५५ हिजरी में हुई थी। इसने लिखा है कि "भारतवासी ज्योतिष और गणित में बहुत बढ़े हुए हैं और उनकी एक विशेष लिपि है। चिकित्सा-शास्त्र में भी वे आगे हैं और इसके कई विलक्षण भेद जानते हैं। उनके पास बड़े-बड़े रोगों की विशेष औषधियाँ ती हैं। मूर्त्तियाँ बनाने, रंगों से चित्र बनाने और भवन-निर्माण-कला में वे बहुत चतुर हैं। शतरंज का खेल उन्हीं का निकाला हुआ है। वे तलवारें बहुत अच्छी बनाते और उनके चलाने के करतब जानते हैं। उनका संगीत भी बहुत मनोहर है।.... उनके यहाँ सब प्रकार का नाच भी है। उनके यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ हैं और कविता का भी भंडार है। दर्शन, साहित्य और नीतिशास्त्र भी उनके पास हैं। उनमें चार और वीरता भी है और कई ऐसे गुण हैं जो चीनियों में भी नहीं हैं। उनमें स्वच्छता और पवित्रता के भी गुण हैं। उनके पास सुन्दरताई, सुघराई, लावण्य और ष्ठ भी है। ....विचार और चिन्तन की विद्या भी उन्हीं के पास से आयी है। वे मंत्र जानते हैं, जिनके पढ़ देने से विष उतर जाता है।"[2] इत्यादि।

नदवी साहब ने जाहिज़ के बाद दूसरा हवाला **याकुब्दी** का दिया है। **याकुब्दी** हिन्दुस्तान भी आया था। उसका देहान्त सन् २९८ हिजरी में हुआ। याकुब्दी ने लिखा है कि हिन्दुस्तान के लोग बुद्धिमान और विचारशील हैं और, इस दृष्टि से, वे जातियों से बढ़कर हैं। गणित और फलित ज्योतिष में उनकी बातें सबसे अधिक

---

[1] हिन्दी पर फारसी का प्रभाव।

[2] वही।

ठीक निकलती हैं। सिद्धान्त उन्हीं की विचारशीलता का परिणाम है, जिससे यूनां और ईसाइयों ने लाभ उठाया है।

बहुत प्राचीन काल में भारत और ईरान एक ही देश के समान थे, अतएव धर्म और जरथुस्त्र-मत परस्पर समान रहे। उसके बाद भी अरब और ईरान, भा अन्यतम पड़ोसी होने के कारण, भारत के ज्ञान और संस्कृति से बराबर प्रभावित रहे। यही नहीं, बल्कि, मध्यकालीन युगों में ज्ञान की जो धारा सारे पश्चिमो में फैली, उसका उत्स भारतवर्ष ही था। मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने "सुखनदाने-फारस" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "हिन्द ने या फारस ने अपने इ सरमाया मिस्र को दिया। मिस्र ने दोनों से लेकर यूनान को दिया। यूनान ने इ को दिया। रूमिया, यूनान व फारस ने अरबों को दिया और फिर अरब से वह एशिया और यूरोप में फैला।"[1] आजाद साहब ने स्थिति का चित्रण ईमानदारी से किया है। केवल इतना जोड़ना और बाकी रह जाता है कि ईरा जो विद्या मिस्र को दी थी, वह भी, अधिकांश में, भारत से ही गयी थी।

भारतीय ज्ञान और संस्कृति की महिमा मुहम्मद-बिन-अलबैरूनी की "कि हिन्द" में भलीभाँति वर्णित है और उसका विशद आख्यान अमीर खुसरो ने भी था। किन्तु, भारत की महिमा से परिचित होने का यथेष्ट उत्साह मुसलमानों में नहीं जगा। जब भारत पर उनका राज्य था, तब अपने-आपको वे विजेता सम और शासितों की संस्कृति को सहानुभूति से समझने के योग्य मनोदशा का उनमें था। जब उनकी सलतनत टूट गयी, तब वे मुस्लिम-राष्ट्रीयता के पक्षपाती हो और उनका ध्यान भारत से निकल कर अरब और ईरान की ओर चला गया। को सहानुभूति से समझने की कोशिश हिन्दुओं ने भी नहीं की। फिर भी, यह है कि उर्दू-साहित्य की गति-विधि का जितना अच्छा ज्ञान आज के हिन्दुओं में उसकी तुलना में मुसलमानों का हिन्दी-साहित्य-विषयक ज्ञान अत्यन्त अल्प, शून्य के समान है।

रास्ता क्या ?

ऐसी स्थिति में कौन वह राह है जिस पर चल कर हिन्दू मुसलमान के मुसलमान हिन्दू के अधिक समीप पहुँच सकता है ? हिन्दुओं की मानसिक कठि है कि इस्लाम का अत्याचार उन्हें भुलाये नहीं भूलता और मुसलमान यह पस्त हैं कि जिस देश पर उनकी कभी हुकूमत चलती थी, उसी देश में उन्हें अल् बनकर जीना पड़ रहा है।

प्रजातंत्र में ऐसा कोई भी तरीका नहीं है, जिससे अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्य दिये जायँ। लेकिन, ऐसे तरीके तो प्रत्येक शासन-पद्धति में पाये जा सकते हैं, अल्पसंख्यकों की हर जायज शिकायत दूर की जा सके। किन्तु, यह तभी सम्भव है अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदाय परस्पर एक दूसरे का विश्वास करें।

---

[1] हिन्दी पर फारसी का प्रभाव।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, हमारा ख्याल है, हिन्दू-मुस्लिम-एकता को बढ़ावा ने के लिए इतिहास की घटनाओं पर पर्दा नहीं डाला जा सकता, न यही योग्य है कि म इस्लाम पर पड़नेवाले हिन्दू-प्रभाव अथवा हिन्दुत्व पर पड़नेवाले मुस्लिम-प्रभाव को ढ़ा-चढ़ा कर पेश करें। जो बातें जैसी हैं, इतिहास में उनका वर्णन भी वैसा ही गा। मुसलमानों को यह समझना है कि आदमी की धर्म-भक्ति और उनके स्वदेश म में विरोध नहीं है। अमीर खुसरो, जायसी, अकबर, रहीम और दाराशिकोह सलमान भी थे और भारत-भक्त भी। हिन्दुओं को इस बात का ज्ञान प्राप्त करना कि इस्लाम का भी अर्थ शान्ति-धर्म ही है। इस धर्म का मौलिक रूप अत्यन्त स्वी था तथा जिन लोगों ने इस्लाम की ओर से भारत पर अत्याचार किया, वे शुद्ध स्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। इन अत्याचारों को हमें इसलिए भूलना है कि उनका रण ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं जो अब समाप्त हैं और इसलिए भी कि इन्हें भूले ना हम देश में एकता स्थापित नहीं कर सकेंगे।

स्लाम का क्षिप्र प्रसार

प्रत्येक धर्म ऐतिहासिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होता है और उसका प्रसार उसी समाज में सम्भव होता है जिसके सदस्य उस धर्म की आवश्यकता का अनुभव ते हैं। इतिहास ने इस्लाम पर बार-बार यह दोष लगाया है कि उसका प्रसार वार के द्वारा किया गया और इस लांछन को दूर करने के लिए मुस्लिम इतिहासकारों मे अनेक ने जी-तोड़ कोशिश भी की है। लेकिन, बात रह जाती है कि मुसलमान हाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने जनता के सामने तीन विकल्प रखे ; या तो कुरान लो र इस्लाम कबूल करो ; या कर दो और अधीनता स्वीकार करो ; अथवा दोनों में कोई बात पसन्द नहीं हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए हमारी तलवार प्रस्तुत । ये बड़े ही कारगर उपाय रहे होंगे। किन्तु, यह समझ में नहीं आता कि सिर्फ न्हीं उपायों से इस्लाम उतनी जल्दी कैसे फैल गया। अवश्य ही, प्रत्येक देश की रिस्थिति और समानता के सिद्धान्त में इस्लाम का विश्वास इस कार्य में सहायक होंगे।[1]

इस्लाम को जन्म लिये सिर्फ अस्सी वर्ष हुए थे कि, इतने ही समय में, उसका झंडा क ओर तो भारत की सीमा पर पहुँच गया और दूसरी ओर, वह अतलान्त-महासागर किनारे पर जा गड़ा। मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में और मृत्यु ६३२ ई० हुई। सन् ६२२ ई० में उन्होंने मक्का छोड़कर मदीने की हिजरत की, जिस वर्ष से स्लाम का वास्तविक आरम्भ माना जाता है। लेकिन, सात सौ ई० लगते-लगते, लाम इराक, ईरान और मध्य-एशिया में फैल गया तथा सन् ७१२ ई० में सिन्ध

---

[1] "The Mohammedan Conquest of India came as salvation to the down-trodden, to the poor. That is why one-fifth of our people have become Mohammedans. It was not the sword that did it all".

(स्वामी विवेकानन्द ; द फ्युचर आव् इंडिया ।)

मुसलमानों की अधीनता में चल गया और उसी साल, मुसलमानी राज्य स्पेन स्थापित हो गया। जो अरबी सेनापति समुद्र पार करके स्पेन पहुँचा, वह जि में उतरा था। उसका नाम तारिक था जिससे जबलुत्तारिक (तारिक की चट्टान) जिब्राल्टर नाम चला है। हिजरी सन् के सौ साल (यानी ७२२ ई०) होने मुसलमानों के राज्य के समान शक्तिशाली राज्य दुनिया में और कहीं नहीं र था। इतिहास में रोमन साम्राज्य की गरिमा बहुत विशाल समझी जाती है। कि उसके निर्माण में लगभग छह सौ साल लगे थे। लेकिन, अरबों का व्यापक साम्रा इस्लाम के जन्म से केवल सौ साल में फैल गया। खलीफों ने जितना बड़ा साम्रा स्थापित किया, सिकन्दर का साम्राज्य उसका एक अंश मात्र था। ईरान के रा प्रायः, एक हजार वर्ष तक रोमन साम्राज्य के पड़ोस में अपनी सत्ता कायम रखी किन्तु, अरब के धर्मयोद्धाओं के सामने वह खड़ा नहीं रह सका। मुहम्मद साह मृत्यु के दस साल बीतते-बीतते, ईरान पर अरब के मुसलमानों का कब्जा हो गया वहाँ के लोग मुसलमान होने लगे। भारतवर्ष में जो पारसी-धर्म के लोग हैं, पूर्वज इन्हीं आक्रमणों के समय ईरान छोड़कर भारत चले आये थे कि वे मुस होने से बच सकें।

इस्लाम का उदय अरब में हुआ था। वह ईरानवालों का धर्म नहीं था। सभ्यता और संस्कृति में ईरानवालों के सामने अरबी योद्धा बर्बर और अर्ध-सभ्य अतएव, शरीर से तो अरबों ने ईरानवालों को जीत लिया और उन्हें मुसलमान भी डाला, किन्तु, ईरान की ऊँची संस्कृति के सामने ये विजेता पराजित हो गये बहुत शीघ्र यह अवस्था आ गयी कि फारसी भाषा इस्लाम की भाषा और ईरानी सं मुसलमानों की अपनी संस्कृति हो गयी। यह भी ध्यान देने की बात है कि अरब सामी (Semitic) थी और ईरानवाले आर्य थे। अतएव, इस्लाम का जन्म संस्कृति के बीच हुआ था, किन्तु, ईरान आकर वह आर्य-नस्लवालों का धर्म हो दमिश्क के खलीफे जिस साम्राज्य पर राज्य करते थे, उसके एक छोर से दूसरे तक जाने में तेज-से-तेज ऊँटनियों को भी पाँच महीने का समय लग जाता था। इ के इस क्षिप्र-प्रसार पर इतिहास आश्चर्य करता आया है और लोग कहते हैं कि यह प्रसार इतनी जल्दी इसलिए हुआ कि इस्लाम की सहायिका तलवार खड्गवाद के साथ इस्लाम का सम्बन्ध इतना गहरा समझा जाता है कि स्वयं मु कवि अकबर इलाहाबादी इसका खंडन नहीं कर सके और सिर्फ इतना ही क रह गये कि,

> **लोग यह कहते हैं, तलवार से फैला इस्लाम,**
> **यह नहीं कहते हैं कि तोप से क्या फैला है।**

किन्तु, एक तलवार के कारण ही इस्लाम का सारा प्रसार सम्भव नहीं असल में, कवियों, नेताओं और सन्त-सुधारकों के समान, नया धर्म भी तभी प्रक है जब उसकी आवश्यकता होती है और वह उसी समाज में प्रकट होता है जिस

लोग उसके इन्तजार में होते हैं ; इस्लाम भी अरबी देशों की ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण जनमा था और, इसीलिए, वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

इस्लाम के उदय के पूर्व, अरब में निर्धन भोगवादियों का जमाव था। अरब गरीब किस्म के लोग थे और गरीब होने के कारण उनका लोभ भी बहुत बढ़ा हुआ था। सूदखोरी साधारण-सी बात थी और धन बटोरने का हर उपाय लोगों में अच्छा समझा जाता था। जुआ, शराब-खोरी और वेश्यागमन भयंकर रूप से प्रचलित थे। विधवा, अनाथ और कमजोर आदमी फालतू समझे जाते थे और उन्हें आश्रय देनेवाला कोई नहीं था। समाज में शादी का कोई खास महत्त्व नहीं था, न यौन-सम्बन्धों के बारे में ही कोई अच्छी नीति बरती जाती थी। स्त्रियों का समाज में कोई आदर या अधिकार नहीं था तथा गिरे हुए समाज के जो भी लक्षण होते हैं, वे उन दिनों के अरबी समाज में पूर्णरूप से विद्यमान थे। अरब के लोग बद्दू कहलाते थे और सारा-का-सारा बद्दू-समाज, घोर रूप से, मूर्त्तिपूजक था। मक्के के हर एक मन्दिर में ढेर-की-ढेर मूर्त्तियाँ थीं और उनमें से प्रत्येक मूर्त्ति पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। सब बड़ी प्रतिष्ठा एक काले पत्थर की थी, जिसे काबा कहते थे। सारा अरब अन्धविश्वास, कुरीति एवं दुराचार का अड्डा बना हुआ था। हाँ, इस रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह कहीं-कहीं, यहूदी और क्रिस्तान लोग जरूर रहते थे तथा कभी-कभी वहाँ इक्के-दुक्के अन्य धर्मों के उपदेशक भी आ निकलते थे। किन्तु, बद्दुओं पर उनका कोई प्रभाव नहीं था।

उन दिनों केवल अरब का ही बुरा हाल रहा हो, सो बात नहीं थी। अरब के पश्चिम की ओर जो बहुत बड़ा रोमन साम्राज्य था, वह भी खोखला हो चुका था और उसके भीतर भी विलासिता और भोगाचार पाप की सीमा तक पहुँचे हुए थे। अरब की दूसरी ओर जो ईरानी साम्राज्य था, वह भी विलासिता के पंक में डूबा हुआ था और इन दो साम्राज्यों के बीच चलनेवाली लड़ाइयों के कारण, दोनों ही राज्यों की जनता का बुरा हाल था। इस भाग में उन दिनों ईसाइयत में भी पवित्रता का बल नहीं रह गया था। यह धर्म राजाओं के अत्याचारों का सहायक बन गया था और जनता में धर्म के नाम पर जादू-मंत्र और तावीज का प्रचार कर रहा था।

इस्लाम का आरम्भिक रूप

ऐसे समय में मक्के में हजरत मुहम्मद का जन्म हुआ। पेशा उनका सौदागरी का था और, आरम्भ में, इज्जत भी उनकी सौदागरों के ही बीच हुई। इससे यह बात और भी विचित्र लगती है कि उनके द्वारा बताये गये धर्म का खड्गवाद से इतना मेल क्यों हो गया। उन्होंने दर्शन के ऊहापोह में नहीं जाकर एक सीधे-सादे कर्ममय धर्म का आख्यान किया, जिसकी खास बातें ये थीं कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके दूत या पैगम्बर हैं। इन दो सिद्धान्तों में विश्वास करनेवालों से उन्होंने पाँच स्पष्ट कर्म करने को कहा। (१) कलमा पढ़ना यानी इस बात को दिल में बिठाने के लिए जाप करना कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके रसूल (दूत) हैं (ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्-

सूलल्लाह)। (२) नमाज पढ़ना यानी प्रार्थना करना। (३) रोजा रखना यानी जान के महीने में उपवास रखना। (४) जकात यानी अपनी आय का ढाई प्र दान में दे देना और (५) हज यानी तीर्थ-यात्रा करना।

मुहम्मद साहब मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे, मगर, मूर्त्ति-पूजा का विरोध की समझ में नहीं आया और वे मुहम्मद साहब पर टूट पड़े। निदान, उन्हें शहर छोड़कर अन्यत्र भागना पड़ा। यही घटना मुसलमानों के यहाँ हिजरत कही है, जिसका अर्थ एक स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना है। अरब में उन दिनों मक्का यस-रिब, ये दो नगर प्रधान थे। मुहम्मद साहब जब मक्का छोड़कर भागे, तब यस नगर के लोगों ने उन्हें शरण दी और आदर से उनका स्वागत किया। इसी उप उस नगर का नाम मदीनतुन्नबी अर्थात् "नबी का नगर" पड़ गया। मदीने में लोगों ने मुहम्मद साहब का बढ़कर साथ दिया, वे ही अनसार हुए।

मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश दिया, वह अत्यन्त सरल और सब के सुलभ धर्म था। अतएव, जनता उसकी ओर उत्साह से बढ़ी। खास करके, आरम्भ ही, उन्होंने इस बात पर काफी जोर दिया कि इस्लाम में दीक्षित हो जाने के आदमी-आदमी के बीच कोई भेद नहीं रह जाता है। इस बराबरीवाले सिद्धान्त कारण इस्लाम की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी और जिस समाज में भी निम्न स्त लोग उच्च स्तरवालों के धार्मिक या सामाजिक अत्याचार से पीड़ित थे, उस समा निम्न स्तर के लोगों के बीच यह धर्म आसानी से फैल गया।

धर्म की विजय उसके नेताओं के चरित्र के कारण होती है। इस्लाम की जिस त्वरा से हुई, वही इसका प्रमाण है कि मुहम्मद साहब और उनके उत्तराधि खलीफे अत्यन्त उच्च कोटि के व्यक्ति रहे होंगे। इस्लाम में यती-वृत्ति की प्र वैराग्य की प्रमुखता अथवा लौकिक सुखों के त्याग की महिमा नहीं है। गिब ने इस्लाम का पक्षपाती इतिहासकार है, लिखा है कि पूर्वी एशिया के सभी धर्मों में इ ही ऐसा है जो सांसारिकता के बहुत समीप और वैराग्य-भावना से, अधिक-से- दूर है।[1] यती-वृत्ति को इस्लाम किसी भी अवस्था में प्रोत्साहन नहीं देता साधुओं की संख्या बढ़ाने का विरोधी है। भारत में भी कबीर आदि निर्गुनियां जिन्होंने मुसलमान सन्तों से प्रभाव ग्रहण किया, गृहस्थाश्रम में रहकर ही भगवा भजन करते रहे। ईसाइयों के भीतर जो साधु-संघ बनाने की पद्धति चली, उसकी आलोचना करता है। "ईसाइयों के लिए यह मार्ग हमने निर्धारित नहीं उन्होंने इसे खुद ही खोज निकाला है।" फिर भी, आध्यात्मिक विकास पर इस्ला भी बहुत जोर है और नमाज़, ज़कात, रोज़ा, हज के द्वारा एक प्रकार की साधना को भी मान्यता दी गयी है। कम-से-कम यह तो कहा ही जा सकता है

---

[1] "Of all the religions of East Asia, Islam has generally regarded as the most worldly and the least ascetic".

H.A.R. GIBB (Mohammeden

रोजा एक तरह का तप और ज़कात भोग को सीमित रखने का प्रयास है। वास्तव में, इस्लाम के भीतर सांसारिकता से वैराग्य का मेल बिठाने की जो चेष्टा की गयी है। इसी से यह धर्म हमें गृहस्थाश्रम के समीप दीखता है।

इस्लाम त्याग और वैराग्य का अभिमान नहीं करता है। किन्तु, उसके आरम्भिक साधक, खास कर पहले के चार खलीफा—(१) अबूवक्र (६३२-३४ ई०), (२) उमर (६३४-४३ ई०), (३) उस्मान (६४३-५५ ई०) और (४) अली (६५५-६१ ई०)—इतने धर्मनिष्ठ निकले कि लोग उनके जीवन में मूर्त्तिमान नवीन धर्म का तेज देखकर कृतकृत्य हो गये।

इस्लाम का आरम्भ धर्म के रूप में हुआ था, किन्तु, परिस्थितियों ने घेरकर उसे राजनैतिक रूप भी दे दिया। मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना भागना पड़ा और मदीने में ही यह निश्चित हो गया कि नये धर्म को फैलाने के लिए केवल संगठन बनाने की ही नहीं, तलवार उठाने की भी जरूरत है। अरब लोगों की बिखरी हुई शक्तियाँ इस्लाम के अन्दर एक होने लगीं और जिस नवी को लोगों ने खदेड़ कर भगा दिया था, उसके उपदेशों को मनवाने के लिए मुसलमानों का संगठन मार-काट पर आमादा होने लगा। अरबों की एकता और इस्लाम का प्रसार, ये पर्यायवाची शब्द हो गये। अतएव, जो संगठन बना, उसमें राजनीति और धर्म, दोनों एक स्थल पर आकर मिल गये। यही संगठन अरबी-साम्राज्य का केन्द्र बना जिसके नेता खलीफा कहलाने लगे।

खलीफा मुसलमानों के राजा भी थे और धर्मगुरु भी, जैसे आगे चलकर भारत में भी सिक्ख-धर्म के भीतर गुरु और राजा एक ही व्यक्ति होने लगा। आरम्भिक काल के चार खलीफों ने सादगी, सच्चरित्रता और वीरता तथा वैराग्य का ऐसा अच्छा उदाहरण उपस्थित किया कि इस्लाम का आचार-पक्ष वहुत ऊँचा उठ गया और इसके अन्दर उन लोगों की संख्या बढ़ने लगी जो गृहस्थ रहकर भी वैराग्य निभा सकते थे, जो गद्दी पाकर भी तबीयत से फकीर रह सकते थे और जो तलवार उठाकर भी दया का तिरस्कार नहीं करते थे। हजरत उमर ने, जिनके सिपाहियों ने ईरानी साम्राज्य पर विजय प्राप्त की थी, जब स्वयं जेरूसलेम में विजेता की हैसियत से प्रवेश किया, तब वे जिस ऊँट पर सवार थे, उसी पर उनके सारे सामान भी लदे थे और ये सामान थे कम्बल का एक खेमा, एक बोरा अनाज, एक बोरा खजूर और लकड़ी के कुछ वर्तन। यह थी सादगी उस विजेता की जिसके इशारे पर राजमहल के सारे सुख, एक क्षण में, मुहैया किये जा सकते थे। ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया, फिलस्तीन और मिस्र पर विजय पानेवाले वहादुर मुस्लिम नेताओं की सादगी का वर्णन करते हुए गिब्ब ने लिखा है कि "जहाँ भी वे अपना पड़ाव डालते थे, सेना के सभी लोग एक ही पाँत में बैठकर प्रार्थना करते, एक ही दस्तरख्वान पर भोजन करते और, फिर साथ ही, खलीफा के मुख से उत्साहप्रद उपदेश सुनते थे। चढ़ाई हो या तीर्थ-यात्रा, ये खलीफा सर्वत्र न्याय फैलाते चलते थे। उन्होंने अरबों में प्रचलित वहुविवाह की व्यभिचारपूर्ण प्रथा में सुधार किया; खिलाफत की ओर से जो लोग कर उगाहने को नियुक्त थे,

उन्हें निर्दय और जुल्मी होने से रोका और कर्मचारियों को विलासी बनने से किया। खालिद को पैगम्बर ने ईश्वर की तलवार की उपाधि दी थी और उन्हों वीरता के चलते, मेसोपोटामिया और सीरिया इस्लाम के झंडे के नीचे आये थे। जब वे मरने लगे, तब उनके पास केवल एक घोड़ा और एक ही गुलाम था। अबूबक्र ने अपनी सेना को आदेश दे रखा था कि न्यायी बनो, क्योंकि अन्याय से उ नहीं हो सकती; बहादुर बनो, क्योंकि शत्रु के सामने सिर झुकाने की अपेक्षा म जाना कहीं श्रेष्ठ है; दयालु बनो, क्योंकि बूढ़ों, बच्चों और औरतों पर तलवार उ पाप है; फल देनेवाले वृक्षों को, फसलों और जानवरों को तबाह मत करो। दुश्मन को भी तुमने कोई वचन दिया है, तो उसे निभाना तुम्हारा धर्म है, और लोग दुनिया की झंझटों से दूर रहते हैं, उन पर जुल्म मत करो।"

अबूबक्र और उमर उन अफसरों को सजा देते थे जो रेशम पहनते थे या वि में रहते थे। उनका ख्याल था कि अगर मुसलमान ईरान या कुस्तुनतुनिया के दर का अनुकरण करने लगे तो उनका पतन हो जायगा। वे धर्म की नयी सेना को आराम और भोग-विलास से दूर रखना चाहते थे, क्योंकि उन्नतिशील जाति कभी आराम नहीं करती। वह हमेशा संघर्ष में लीन रहती है और संघर्ष की शक्ति छीजती है, जब जातियाँ विलास में पड़ जाती हैं।

अपने आरम्भिक दिनों में इस्लाम क्रान्तिकारी धर्म था। वह मनुष्यों को विश्वास से बचाता था, दार्शनिक उलझनों से दूर रखता था और ईश्वर को छोड़ अन्य किसी भी शक्ति के सामने मस्तक झुकाने से इनकार कर देने की शिक्षा देता सबसे बड़ी बात यह थी कि जो भी मुसलमान हो जाते थे, उन्हें अमीर से मुसलमान भी अपना सच्चा धर्मबन्धु समझते थे और अपनी बराबरी का दर्जा देते इससे उन दिनों जहाँ-जहाँ इस्लाम पहुँचा, वहाँ के समाज में भारी क्रान्ति मच गयी मनुष्य अपने मस्तक को ऊँचा उठाकर चलने लगा। मानवेन्द्रनाथ राय ने लिखा है "अरबी आक्रमणकारी वीर जहाँ भी गये, जनता ने उन्हें अपना रक्षक और त्राता कर उनका स्वागत किया, क्योंकि यह जनता कहीं तो रोमन शासकों के भ्रष्टाचार नीचे पिस रही थी, कहीं ईरानी तानाशाही के जुल्मों से त्रस्त थी और कहीं ईसा का अन्धविश्वास उसे जकड़े हुए था। ये आक्रमणकारी अरब अपने नबी के क्रान्ति उपदेशों में कट्टरता से विश्वास करते थे, खलीफों के विवेकपूर्ण एवं व्यावहारिक आ का पालन उनका निश्चित धर्म था और इन कारणों से पराजित जनता की सहानु और विश्वास उन्हें आसानी से प्राप्त हो जाता था।"

किन्तु, पुण्य की यह लहर स्थायी नहीं रह सकी। मुहम्मद साहब की मृत्यु साल बीतते-बीतते, अरब-साम्राज्य उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, दक्षिणी फ्रांस, ईरान, एशिया, यहाँ तक कि मंगोलिया तक फैल गया और वे बातें मुसलमानों में भी पड़ीं, जिन्हें रोकने के लिए आरम्भिक खलीफा सादगी का जीवन बिताने का उपदे गये थे। साम्राज्य के साथ सुखों का पुंज आता है, सुखों का लोभ दुष्ट राजनीति

न्म देता है और दुष्ट राजनीति के साथ सारे पाप और दुराचार समाज में घुस पड़ते ई। साम्राज्य बन जाने के बाद, मुसलमानों के भीतर भी ये दोष घुसे और धर्म की ना सुखों के लोभ में फँसने लगी। बात यहाँ तक बढ़ गयी कि खलीफा के पद के लिए गड़े शुरू हो गये और नमाज़ में झुके हुए नेताओं की गरदनें काटकर हत्यारे लोग नेता नने लगे। शिया और सुन्नी का जो भेद हम मुसलमानों में देखते हैं, वह खलीफा के ; के लिए उठे हुए झगड़ों से ही पैदा हुआ था।

स्लाम से भारत का आरम्भिक सम्पर्क

तब भी, अरब राज्य में विद्या और ज्ञान की काफी प्रतिष्ठा थी। बद्दुओं की र आदतें ईरान और भारत के संसर्ग से, शीघ्र ही, खत्म हो गयीं और उनकी गिनती मार के सभ्य लोगों में की जाने लगी। "आठवीं शती के शुरू में, सिन्ध और बलख अरब-साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भारतवर्ष का प्रभाव खिलाफत के देशों पर ड़ने लगा। खलीफा हारूनर्रशीद के समय (७८६-८०९) से तो हिन्दू-संस्कृति के वाह से बगदाद का दरबार, मानो, आप्लावित हो उठा। बरमकी नाम के एक वजीर ानदान की वहाँ बड़ी ताकत थी ; वे लोग बलख के थे। उनके पुरखे बलख के नव-विहार में पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम के मुसलमान हुए थे। पुराने रिश्ते-नाते कारण वे भारत के हिन्दू विद्वानों को बगदाद बुलाते और उन्हें वहाँ वैद्य आदि के दों पर रखते थे। अरब विद्यार्थियों को वे पढ़ने को भारत भेजते। संस्कृत के दर्शन, क, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रन्थों के उन्होंने अरबी अनुवाद कर-ये। भारतवर्ष से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही यूरोप ले गये। पंचतंत्र आदि ी कहानियाँ उन्हीं के द्वारा विदेशों में पहुँचीं।"[1]

इस्लाम जब अपने निर्मल उत्कर्ष पर था, तब भी वह भारत में आ चुका था। न्तु, तब उसका आगमन मित्रता के नाते हुआ था। अरब, फिलस्तीन और मिस्र से रत का प्राचीनतम व्यापारिक सम्बन्ध था। यूनानी लोग यहाँ का चावल खाते थे। रोम और यूनान के लेखक भारत के भूगोल से परिचित थे। वे वहाँ के निर्यात का ब्योरा भी जानते थे। भारत और पश्चिम के बीच व्यापारिक सम्बन्ध में अरब सौदागरों का काफी हाथ था। अरब सौदागरों का पहला बेड़ा भारतीय तट पर ६३६ ई० में या था, इसका प्रमाण मिलता है। सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम की चढ़ाई ७१२ ई० में हुई। किन्तु, भारत के पश्चिमी तट पर अरब सौदागर बहुत पहले से आ रहे थे और मोपला लोगों ने तभी इस्लाम कबूल किया था। किन्तु, ये धर्म-परिवर्त्तन, तः, स्वेच्छा से किये गये थे, जबर्दस्ती के कारण नहीं। नवीं सदी के खत्म होने के हले ही, मालाबार का राजा चेरामन पेरूमल मुसलमान हो गया, क्योंकि उसने सपने में चन्द्रमा को फटते देखा था और दूसरे दिन उसे विश्वास दिलाया गया कि यह इस्लाम का चमत्कार है। भारत में सबसे पहले उसीने अरबों को अपना धर्म फैलाने की सुविधा दी थी। कहते हैं, चेरामन पेरूमल मुसलमान होकर मक्का चला गया था। जमोरिन

---

[1] जयचंद्र विद्यालंकार।

का राज्याभिषेक अभी हाल तक, मुस्लिम-वेश में किया जाता रहा है और त्राव के राजा सिंहासन पर बैठने के समय अभी तक तलवार उठाकर इस शपथ को दु रहे हैं कि मैं इस तलवार को तब तक रखूँगा जब तक मक्के से मेरा चचा लौट आता है। यहाँ अभिप्राय पेरूमल के मक्का जाने से है। जमोरिन की आज्ञा थी प्रत्येक धीवर-परिवार में से एक व्यक्ति को मुसलमान होना ही पड़ेगा। पश्चिमी पर मुसलमानों का आगमन आठवीं सदी से शुरू हुआ। दसवीं शती तक वे पूर्वी पर भी पहुँचने लगे और उनकी धाक राज-दरबारों से लेकर व्यापारियों तक खूब गयी। इन प्रान्तों में, तभी उनकी सैकड़ों मस्जिदें भी बन गयीं और समाज में पीर-औलिया भी घूमने लगे।

उत्तर के राजे भी इस्लाम को उदारता से देखते थे। काम्बे के हिन्दुओं ने एक मुस्लिम सौदागरों पर आक्रमण किया और उनकी बस्तियाँ उजाड़ दीं। इसपर, सिद्धराज ने (१०९४-११४३ ई०) उस मामले की जाँच करवायी, दुष्टों को दण्ड और मुसलमानों को नयी मस्जिदें बना लेने को रुपये भी दिये।

कुछ ऐतिहासिक विश्लेषण

यहाँ तक हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहा। इस्लाम से हिन्दुओं की भयंकर तब आरम्भ हुई, जब महमूद गजनवी ने इस देश में आकर क्रूरता बरती और मन्दिरों को विनष्ट करके अपने लिए दुर्नाम अर्जित किया। किन्तु, महमूद गजनवी मुहम्मद गोरी, ये लोग अरबी या ईरानी नस्ल के नहीं थे, न इतिहास में उन्होंने इस्लाम का प्रतिनिधित्व ही किया है। इस्लाम के माथे यह कलंक क्यों लगा, समझने के लिए नीचे का विवरण उपयोगी होगा।

जब पश्चिम में रोम-राज्य और भारत में गुप्त-साम्राज्य चल रहा था, तब एशिया में हूण नामक एक बर्बर जाति उपद्रव मचा रही थी। पाँचवीं सदी में दल के दल रोम-राज्य और भारतवर्ष में घुसे और वे जहाँ भी गये, वहीं उन्होंने मचा दिया। इन्हीं हूणों को एक बार स्कन्दगुप्त ने खदेड़ कर देश से बाहर कर था। किन्तु, स्कन्दगुप्त के बाद हूण भारत में फिर घुस पड़े और मालवा में अपना सुदृढ़ राज्य स्थापित कर लिया। तोरमान और मिहिरकुल, ये हूण राजे थे अत्याचारपूर्ण शासन का उल्लेख ह्यू-एन-साङ् और कल्हण ने किया है। इस शासन तोड़ने का सुयश मन्दसर के राजा यशोवर्मन ने लिया। किन्तु, उसके बाद भी हूण से बिलकुल निकले नहीं, अपितु, छोटे-छोटे राज्य बनाकर पड़ोस के राजाओं से रहे। यह संकट तब तक चलता रहा, जब तक कि ब्राह्मणों ने उन्हें शुद्ध करके न बना लिया।

पाँचवीं शती में काबुल में तुखारों का और ईरान में सासानी शाहों का रा इन दोनों राज्यों से भी हूणों की लड़ाइयाँ हुईं। "४८५ ई० में ईरान का शाह हूणों से लड़ता हुआ मारा गया। तब हूणों ने अफगानिस्तान को भी अपने पैरों

रौंद डाला। गान्धार पहुँच कर उन्होंने किदार के वंशज को वहाँ से भगा दिया।"[1] तोरमान के बेटे मिहिरकुल ने शाकल (स्यालकोट) में अपनी राजधानी बनायी थी और वह अपने को पशुपति (शिव) का उपासक कहता था।

मध्य एशिया में हूणों का प्रभाव नौशीरवाँ ने समाप्त किया। "किन्तु, नौशीरवाँ ने यह काम अकेले नहीं किया, उसमें पच्छिमी तुर्क उसके सहायक थे। तुर्क, असल में, हूणों की एक शाखा थे, जिसका असल नाम था **असेना**। असेना लोग पाँचवीं शती में कान्सू प्रान्त में एक पहाड़ के पास रहते थे। **उस पहाड़ की शक्ल एक खौद या मिगफार (फौजी टोपी) की-सी थी जिसे हूण-भाषा में "तुर्क" कहते हैं। इसी से वे लोग तुर्क कहलाने लगे।**[2]

ह्यू-एन-साङ् को ६३० ई० में भारत आते समय, तुरफान से कपिश की सीमा तक के लिए, पच्छिमी तुर्कों के "काजान" अर्थात् राजा ने राहदान दी थी। इस समय, अरब में इस्लाम का उदय हो चुका था। किन्तु, ये तुर्क उन दिनों धीरे-धीरे बौद्ध हो रहे थे और तुर्की भाषा में संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद भी चल रहा था।

जब विलासिता के कारण अरब-साम्राज्य का पतन होने लगा, तब सन् ८५० ई० के लगभग उसके कई टुकड़े हो गये। खिलाफत एक छोटी-सी रियासत के रूप में रह गयी और जो राज्य उसके स्थान में खड़े हुए, उनमें अधिकांश मुसलमान बने हुए ईरानियों के राज्य थे।

इस बीच तुर्क भी मुसलमान होने लगे। वीरता और शारीरिक शक्ति के आगार होने के कारण, इन तुर्कों में से बहुत-से लोग ईरान में पहले से ही नौकरी करते थे।[3] वहाँ धीरे-धीरे ये लोग रियासतदार और सरदार भी हो गये। इसलिए, जब अरब-साम्राज्य टूटा, उसके कई हिस्सों में ये तुर्क सरदार राजे और सुलतान बन बैठे। खिलाफत के कमजोर होते ही, इन तुर्कों ने ईरान का पूर्वी दरवाजा अपने पूर्वी प्रान्तों के भाई-बन्दों के लिए खोल दिया और पूरी तुर्क-जाति मुस्लिम-राज्य में घुस पड़ी।

इन्हीं सरदारों में से एक अलप्तगीन भी था, जिसने मौका पाकर गजनी में रियासत खड़ी कर ली। अलप्तगीन के बाद, उसका दामाद, सुबुक्तगीन गजनी का राजा हुआ। सुबुक्तगीन का पिता तुर्क था और माता ईरानी थी। इसी सुबुक्तगीन का पुत्र महमूद गजनवी हुआ, जिसने भारत पर सत्रह बार चढ़ाई की और सोमनाथ की मूर्त्ति का ध्वंस किया। अतएव, समझना चाहिये कि जिस मुसलमान के कारण इस्लाम भारत में इतना बदनाम हुआ, वह ईरानी कम, तुर्क या हूण अधिक था और अरबी तथा ईरानी संस्कृतियों की उदारता उसमें नहीं थी। भारत में मुसलमानी राज्य की नींव डालने

---

[1] जयचन्द्र विद्यालंकार। [2] वही।

[3] "A dull-witted folk with few ideals, the Turks Could do two things superlatively well, obey orders and fight like devils."
—Lothrop Stroddard. (New World of Islam.)

वाला मुहम्मद गौरी भी पठान था और, अजव नहीं कि, उसके पूर्वज भी तुर्क
रहे हों।

भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला वावर अपना सम्बन्ध मंगोल जा
वतलाता है। ये मंगोल बड़े ही भयंकर वीर थे। इनका सव मे वड़ा नेता चिङ्
हान (११५५ ई० तक) हुआ, जो इतिहास में चंगेज खाँ के नाम से प्रसिद्ध है।
या खान मंगोल भाषा में एक सम्मान-सूचक शब्द था। दूसरी जातियों ने यह
उन्हीं लोगों से लिया है। चंगेज खाँ वौद्ध था। किन्तु, इस वौद्ध सेनापति ने
निर्दयताएँ कीं कि इतिहास आज तक उसकी याद रोमांच के साथ करता है।
विजय के उद्देश्य से इसने सेना लेकर निरुद्देश्य यात्रा आरम्भ की और
समरकन्द, हेरात और बलख, इन वड़े-वड़े नगरों को इसने भून कर राख कर दि
कहते हैं, अपने प्रतिद्वन्द्वी जलालुद्दीन की खोज करता हुआ चंगेज भारत भी
था, किन्तु, भारत से शीघ्र ही वह लौट गया। उसके उत्तराधिकारी हलाकू ने
को उजाड़ते हुए वहाँ के विख्यात पुस्तकालय को भी जला डाला।[1]

उसके अत्याचार से घवराकर बहुत-से विद्वान् अपनी कितावें लिये हुए
स्पेन की ओर भागे। विद्वानों की इसी भाग-दौड़ से यूरोप में विद्या की वह लहर
जिसे हम सांस्कृतिक जागरण अथवा रिनासाँ कहते हैं। कहते हैं, युद्ध में
प्रयोग पहले-पहल चंगेज ने ही किया था, अतएव, उसी के समय से दुनिया में
कला वदली। तैमूरलंग (१३६९ ई०) भी माँ की ओर से अपने को चंगेज का
कहता था और बाबर भी इसी वंश की संतान था। कहते हैं, तैमूर के वाद उसके
धिकारी मार-काट को छोड़कर कला और विद्या की भी साधना करने लगे थे और
एशिया में एक समय तैमूरी-रिनासाँ (सांस्कृतिक जागरण) भी चला था। वावर
सांस्कृतिक जागरण में पला था, इसीलिए मुगल-खानदान के लोग, भारत में
सांस्कृतिक कार्य करनेवाले हुए। वावर माँ की ओर से चंगेज खाँ और वाप की
से तैमूर का वंशज था।

जिस इस्लाम का प्रवर्त्तन हजरत मुहम्मद ने किया था और जिसका रूप
उमर, उस्मान और अली-जैसे खलीफों ने सँवारा था, वह धर्म, सचमुच, स्वच्छ धर्म
और उसके अनुयायी सच्चरित्र, दयालु, उदार और ईमानदार थे। उन्होंने मानव
को एक नया सन्देश दिया, गिरते हुए लोगों को ऊँचा उठाया और, पहले-पहल,
में यह दृष्टान्त उपस्थित किया कि धर्म के अन्दर रहनेवाले सभी लोग आपस में

---

[1] सन् १९४६ और ४७ ई० में जब मुस्लिम लीग के कार्यकर्त्ताओं ने
प्राप्त करने के लिए सीधी-कार्रवाई शुरू की तब उनके नेता यह कहकर
जनता को डराते थे कि हम चंगेज खाँ और हलाकू की सन्तान हैं और हम
कर दिखायेंगे जो चंगेज और हलाकू ने किया था। किन्तु, चंगेज और
मुसलमान नहीं, शायद भ्रष्ट किस्म के बौद्ध थे। मुसलमान अपने को
वंशज मानें, यह इतिहास-विरुद्ध बात है।

है। उन दिनों इस्लाम ने जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उनका विवरण भी मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठानेवाला है। वीरता और बलिदान में ये मुसलमान अद्भुत अवश्य थे, किन्तु, चंगेज और हलाकू की बर्बरता उनमें नहीं थी, न महमूद और शहाबुद्दीन के समान वे लोभी और कठोर थे। सेनापति तारिक के अधीन मुसलमानी सेना का बेड़ा जब जबलुत्तारिक पर उतरा, तब बहादुरों ने अपनी नावें तोड़कर समुद्र में बहा दीं, कुछ नावों को जला कर ताप भी डाला, जिससे घर लौटने की उन्हें कोई उम्मीद नहीं रह जाय और समर-भूमि में वे प्राणपन से लड़ सकें। लूट-मार, अन्याय और अत्याचार की परम्परा इस्लाम में तब आयी, जब अरबी लोग साम्राज्य के सुखों में पड़ जाने के कारण दुर्बल और कमजोर हो गये और इस्लाम का नेतृत्व उनके हाथ से निकल कर तुर्कों और मंगोलों के हाथ में चला गया जो अभी हाल में मुसलमान हुए थे। नेतृत्व के इस हस्तान्तरण का कारण यह था कि यूरोप से इस्लाम को खदेड़ कर बाहर करने के लिए यूरोपीय जातियों ने संवबद्ध होकर मुसलमानों के खिलाफ धर्म-युद्ध (Crusade) की घोषणा कर दी थी और इस मुसीवत में इस्लाम अपने पुराने अनुयायियों की ओर से नितान्त निराश होकर नये अनुयायियों की ओर देख रहा था।

लेकिन, ये नये अनुयायी अर्ध-सभ्य और कठोर थे। उनमें वही निर्भयता और शारीरिक शक्ति की अपारता थी जो बर्बर जातियों का प्रधान लक्षण है। इन बर्बर अनुयायियों के आने से इस्लाम की गिरती हुई आधिभौतिक शक्ति जरूर ठहर गयी, किन्तु उसके कर्म इतने गर्हित हो गये कि यूरोप और एशिया में लूट-खसोट, मार-काट, खूँरेजी और पाशविक अत्याचार मुसलमानों के खास लक्षण माने जाने लगे। एम० एन० राय ने लिखा है कि "दरबार की विलासिता के कारण अरबी विद्या और संस्कृति की भावना दूषित हो गयी और इस्लाम की गौरवपूर्ण पताका अपनी आरम्भिक क्रान्तिकारी चमक को खोकर तुर्कों और तातारों के व्यभिचारी हाथों में पड़कर अपना मोल खो बैठी।"

कुछ मनोरंजक बातें

इस्लाम अपने प्रगतिशील युग में भारत नहीं आया अथवा आया भी तो दक्षिण के समुद्री तटों पर व्यापारियों के साथ या दाहिर की पराजय के उपरान्त, सिन्ध और उसके आस-पास के भागों में। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी और बाबर, ये सच्चे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। उन्होंने इस्लाम की बाहरी चीजें ही देखी थीं, अबूबक्र, उमर, उस्मान और अली की धार्मिक तेजस्विता उनमें नहीं थी। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक "आवर हेरिटेज" में इन आक्रामकों के बारे में लिखा है, "ये जो नये लोग भारत में आये, उन्होंने इस्लाम के तत्त्व को भले ही नहीं समझा हो, किन्तु, उसकी बाहरी बातें उन्होंने ग्रहण कर ली थीं।" लेकिन, बाहरी बातें क्या भीतरी तत्त्व का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं? इस्लाम के गौरव का कारण उसकी आरम्भिक उदारता थी, [illegible] की विचार-स्वाधीनता थी। इस्लाम बड़ा ही ऊँचा धर्म था। बर्बरता उसमें तब आयी, जब तातार लोगों ने इस्लाम में प्रवेश किया। गंगा और सिन्धु के किनारे

इस्लाम का झंडा गाड़नेवाले लोग अबूबक्र और उमर की पवित्रतावाले लोग नं बल्कि, ये वे ईरानी थे जो विजय और साम्राज्य के सुखों से अन्धे होकर झूम रहे ये मध्य एशिया के वे बर्बर लोग थे, जिन्होंने इस्लाम की टोपी अभी हाल ही में थी, किन्तु जो उसके मौलिक संस्कारों से अपरिचित थे ।

इतिहास की इन घटनाओं के प्रकाश में देखने पर भारत में इस्लामी अत्याचार कुछ मनोरंजक पहलू सामने आते हैं । पहली बात तो यह है कि गजनवी और गोरी साथ जो इस्लाम भारत पहुँचा, वह वही इस्लाम नहीं था जिसका आख्यान हज मुहम्मद और उनके शुरू के चार खलीफों ने किया था अथवा जो इस्लाम, गजनवी आक्रमण के पूर्व, सौदागरों और फकीरों के साथ भारत के पश्चिमी तटों पर था । वास्तव में, यह वह इस्लाम था, जो एम०एन० राय के मतानुसार, तुर्क तातार अनुयायियों के हाथों व्यभिचरित हो चुका था । दूसरी बात यह है कि भारत के राजपूत गजनवी और गोरी के खिलाफ युद्ध कर रहे थे, तब युद्ध एक हूणों के ही दो दलों के बीच था । गजनवी और गोरी, कदाचित्, दोनों तुर्क यानी थे, और इधर, भारत की जो-सेना उनका मुकाबला कर रही थी, उसमें भी अधि में, वे ही लोग थे, जो हूण-देश से भारत में आये थे और शुद्धि के बाद राजपूत- में सम्मिलित कर लिये गये थे ।

इतिहास-लेखकों का मत है कि बौद्ध-ब्राह्मण-संघर्ष में दोनों पक्ष अपने लिए की सहायता चाहते थे । किन्तु, क्षत्रिय राजे जब बौद्ध होते, तब ब्राह्मण इस स्थिति क्षुब्ध हो उठते थे । क्षत्रियों को पूर्ण रूप से बस में नहीं आते देखकर ब्राह्मणों ने नया तरीका निकाला । जो विदेशी सीथियन, हूण और शक वंश के लोग इस दे राज्य-सत्ता पाने को संघर्ष कर रहे थे, उन्हें ब्राह्मणों ने आबू के कुण्ड पर करवाकर राजपूत बना लिया । इससे विदेशियों की बर्बरता जाती रही और मान लिये जाने के कारण वे ब्राह्मणों के कृतज्ञ भी हो गये । इधर ब्राह्मण-क्षत्रिय में ब्राह्मणों का पलड़ा भी भारी हो उठा, क्योंकि उन्हें नये शिष्य मिल गये डॉक्टर भागवतशरण उपाध्याय ने लिखा है कि "वर्त्तमान राजपूतों के अनेक कुल और गुर्जरों से प्रादुर्भूत हुए हैं । गुर्जरों ने भारत में एक विशिष्ट सम्राट्-कुल (प्रतिहार) की नींव डाली और भारत के एक विस्तृत भाग गुजरात का नाम संज्ञा से सार्थक किया । गुर्जर, सम्भवतः, जाट और अन्य जातियाँ, गुप्त-साम्रा ध्वंस के पश्चात् आनेवाली जातियों के वंशधर हैं ।"

तीसरी बात यह है कि गजनवी और गोरी-जैसे मुसलमान इस्लाम के सेवक थे, उनमें दूसरों का धन लूटकर आनन्द मनाने की भावना ही प्रधान थी । इस्लाम दुहाई, तौहीद का प्रचार और मूर्त्ति-पूजा का खंडन, ये सिर्फ लोभ को छिपाने आवरण मात्र थे । गजनवी ने भारत पर १७ बार चढ़ाई की, लेकिन, इन चढ़ाइयों इस्लाम का प्रचार उसने कुछ भी नहीं किया । इतिहास इतना ही जानता है कि इस देश का धन लूटने को आता था और यहाँ की लूट से उसने अपनी राजधानी मालामाल किया भी । तैमूरलंग ने जब हिन्दुस्तान की ओर नजर डाली तब, कहते

लोगों ने उससे कहा कि हिन्दुस्तान जाने की ऐसी क्या जरूरत हो सकती है, वहाँ तो मुसलमानों का राज्य पहले से ही मौजूद है। किन्तु, राज्य मुसलमानों का हो या हिन्दुओं का, तैमूरलंग भारत की समृद्धि को लूटने के लिए बेकरार था। अतएव, वह सन् १३९८ ई० में सिन्धु के पार चला आया। मुहम्मद तुगलक को हरा कर उसने दिल्ली में डेरा डाल दिया और लूट-मार मचा कर फिर समरकन्द को लौट गया।

इतिहास-लेखकों का यह भी मत है कि महमूद गजनवी की सेना में हिन्दू सिपाही भी काफी संख्या में काम करते थे। इन सिपाहियों ने मध्य एशिया के युद्धों में महमूद का साथ दिया था। तिलक नाम का एक हिन्दू महमूद की सेना में कुछ ऊँचे पद का अधिकारी था और नियाल्तगीन नामक सरदार ने जब महमूद के खिलाफ विद्रोह किया, तब उसे दवाने को तिलक ही भेजा गया था।

एक स्थिति यह भी हुई कि जब इस देश पर मुगलों का आक्रमण हुआ, तब पठान और राजपूत आपस में दोस्त हो गये और यह दोस्ती काफी दिनों तक चलती रही। हल्दीघाटी में महाराणा प्रताप की सेना की एक पंखी बिलकुल पठानों की थी और ये पठान महाराणा के प्रति अत्यन्त वफादार थे। □□□

प्रकरण २

इस्लाम धर्म

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ "शान्ति में प्रवेश करना"[1] हैं। अतः, मुस्लिम वह व्यक्ति है जो "परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति सम्बन्ध"[2] रखता हो। अतएव, इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा वह धर्म द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है तथा मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम वर्ताव करता है।

इस धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद साहब थे, जिनका जन्म अरब देश के शहर में सन् ५७० ई० में हुआ था। जब हजरत मुहम्मद अरब में इस्लाम का कर रहे थे, उन दिनों भारतवर्ष में हर्षवर्धन और पुलकेशी का राज्य था। धर्म के मूल कुरान, सुन्नत और हदीस हैं। कुरान वह ग्रन्थ है जिसमें साहब के पास ईश्वर के द्वारा भेजे गये संदेश संकलित हैं। सुन्नत वह है मुहम्मद साहब के कृत्यों का उल्लेख है और हदीस वह किताब है जिसमें उनके संकलित हैं। हदीस की किताबों में मुहम्मद साहब की जीवन-चर्या का भी और इन किताबों में सुन्नत भी मिलती है।

इस्लाम धर्म मुहम्मद साहब ने सोच कर नहीं निकाला, बल्कि, इस धर्म का इलहाम (समाधि अथवा प्रेरणा की अवस्था में दर्शन) हुआ था। कुरान का अर्थ रित अथवा पठित वस्तु है। कुरान उन पदों का संकलन है जो मुहम्मद साहब के से उन क्षणों में निकले, जब वे सीधी भगवत्प्रेरणा की अवस्था में थे। यह भी जाता है कि भगवान कुरान की आयतें (पद) मोहम्मद साहब के पास देवदूतों के भेजते थे। इन्हीं आयतों के संकलन से कुरान तैयार हुआ। ये आयतें मुहम्मद को, समय-समय पर, २३ वर्षों में हासिल हुईं जिन्हें वे तालपत्रों, चमड़े के अथवा लकड़ियों पर लिखकर रखते गये। उनके स्वर्गवास के बाद, जब अबूबक खलीफा हुए, तब उन्होंने इन सारी लिखावटों का सम्पादन करके कुरान की पोथी की जो बहुत प्रामाणिक मानी जाती है। इन २३ वर्षों में मुहम्मद साहब १३ तो मक्के में थे और १० साल तक मदीने में।

मुहम्मद साहब को जब धर्म का इलहाम हुआ, तब से लोग उन्हें पैगम्बर और रसूल कहने लगे। पैगम्बर कहते हैं पैगाम (संदेश) ले जानेवाले को। मुहम्मद के जरिये भगवान का सन्देश पृथ्वी पर पहुँचा, इसलिए वे पैगम्बर कहे हैं। नबी कहते हैं किसी उपयोगी परम ज्ञान की घोषणा को। मुहम्मद साहब ने

---

[1] मोहम्मद अली (रिलीजन आव् इस्लाम।)

[2]

नी घोषणा की, इसलिए वे नबी हुए। तब से, नबी का अर्थ वह दूत भी हो गया जो रमेश्वर और समझदार प्राणी के बीच आता जाता है। रसूल का अर्थ भी प्रेषित या त होता है। मुहम्मद साहब रसूल हैं, क्योंकि परमात्मा और मनुष्यों के बीच उन्होंने दूत का काम किया।

"ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह", यह इस्लाम का मूल-मंत्र है। जिसका र्थ होता है, "अल्लाह के सिवा और कोई पूजनीय नहीं है तथा मुहम्मद उसके रसूल ।" केवल अल्लाह को मानने से कोई आदमी पक्का मुसलमान नहीं हो सकता, उसे ह भी मानना पड़ता है कि मुहम्मद अल्लाह के नबी, रसूल और पैगम्बर हैं। इसके द कुरान हर मुसलमान के लिए पाँच धार्मिक कृत्य निर्धारित करता है। वे त्य हैं :—

. कलमा पढ़ना—अर्थात् इस मंत्र का पारायण करना कि ईश्वर एक है और हम्मद उसके रसूल हैं (ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह)। इस्लाम का श्वरवाद (तौहीद) इसी मंत्र पर आधारित है, अतएव, इसके पारायण की इस्लाम बहुत महिमा है।

. नमाज़ पढ़ना—अर्थात् प्रतिदिन पाँच बार भगवान से प्रार्थना करना। इसको लात भी कहते हैं।

. रोज़ा रखना—अर्थात् रमज़ान के महीने भर केवल एक शाम खाना और वह सूर्यास्त के बाद। रमज़ान महीना इसलिए चुना गया कि इसी महीने में पहले-पहल रान उतरा था।

. ज़कात—अर्थात् अपनी वार्षिक आय का चालीसवाँ हिस्सा (ढाई प्रतिशत) न में दे देना।

. हज—अर्थात् तीर्थों में जाना। पहले ये तीर्थ केवल मक्का और मदीने में थे। व सन्तों की समाधियों को भी मुसलमान तीर्थ मानते हैं।

रान की शिक्षा

कुरान सबसे अधिक जोर इस बात पर देता है कि ईश्वर एक है तथा उसके सिवा सी और की पूजा नहीं की जानी चाहिये। आर्यों अर्थात् जरथुस्त्रवादियों में जो नि-पूजा प्रचलित थी, उसका कुरान बड़े जोर से बहिष्कार करता है और ईसाइयों भी उसका इस बात को लेकर मतभेद है कि ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र कहते हैं र ईसा, मरियम (ईसा की माँ मेरी) तथा पिता (ईश्वर), इन ईश्वरत्रय में उनका श्वास है। कुरान का कहना है कि भगवान ने सभी जातियों में पैगम्बर और धर्मो-देशक भेजे हैं, इसलिए, ईसा भी एक पैगम्बर हैं, किन्तु, वे ईश्वर के पुत्र नहीं माने सकते, क्योंकि ईश्वर में पुत्र उत्पन्न करनेवाले गुणों को जोड़ना उसे मनुष्य-कोटि में आना है। "अय मरियम के पुत्र ईसा ! क्या तू ने यह कहा कि ईश्वर के साथ म दोनों को भी जोड़ दो ?" ऐसे प्रश्न उठा कर कुरान ने ईसाइयों के ईश्वरत्रय-

9.

विषयक विश्वास का खंडन किया है। मूर्तिपूजक अरब भी मानते थे कि बेटे-बेटियाँ हैं और ईसाई तो ईसा को ही ईश्वर का पुत्र कहते हैं। इस हटाने के लिए कुरान ने बार-बार कहा है, "यदि ईश्वर को सन्तानोत्पादक आकाश फट जायगा और धरती उलट जायगी।" इस्लाम विश्व के उस भाग में जहाँ वर्षा कम होती थी। निर्जन उजाड़ में आँख खोलने के कारण, उसने स्वच्छता से देखा, सजावट में नहीं। चित्र, मूर्त्ति और संगीत के प्रति इस्लाम का भी यही कारण था।

कुरान जिस ईश्वर को मानता है वह देखने सुनने, बोलने-चालने, खुश और होनेवाला ईश्वर है। वह प्रेम भी करता है, घृणा भी करता है, भक्तों की सुनता है और दुष्टों का दलन भी करता है। किन्तु ईश्वर के ये सभी कार्य कार्यों के समान नहीं होते, क्योंकि उसे मनुष्यों के समान हाथ-पाँव और आदि नहीं हैं। वह है तो निराकार, किन्तु, उसकी शक्ति का वर्णन करने मनुष्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। फिर भी, कुरान यह मानता है कि अर्श (आकाश) पर रहता है और वहाँ उसका सिंहासन भी है। यह ईश्वर प्रेम दया का आगार है।

ईश्वर के सिवा, कुरान देव-योनि को भी मानता है।[1] कुरान में देवों दूतों का नाम "मलक" या फरिश्ता है। मलकों और फरिश्तों को हम देख नहीं न वे प्रकट होकर मनुष्यों से सम्पर्क ही रख सकते हैं। अगर मलकों में मनुष्यों रहकर काम करने की शक्ति होती तो नबी या पैगम्बर मनुष्य नहीं, मलक ही भगवान मुहम्मद साहब को जो पैगाम भेजते थे, वे पैगाम कभी-कभी देवदूत ले आते थे। किन्तु, मुहम्मद जिबरील को चर्म-चक्षु से नहीं आध्यात्मिक देखते थे। मलकों के बारे में कुरान का यह विश्वास है कि वे मनुष्य की प्रगति में सहायक होते हैं। इसलिए, कुरान मलकों के अस्तित्व में विश्वास सिखाता है। कुरान का कहना है, "धर्म यह है कि मनुष्य अल्लाह, मलायक, किताब और नबी में विश्वास करे।"

शैतान भी देवताओं की ही तरह, मलक-योनि का है। किन्तु, शैतान में रखने की कुरान मनाही करता है।

कुरान का कहना है कि मनुष्य में उच्च और नीच, दोनों ही प्रकार की काम करती हैं। नीच वासनाएँ प्राण-धारण के लिए हैं, उच्च वासनाएँ

---

[1] इकबाल का मत है कि कुरान इस सम्भावना में भी विश्वास करता है कि रचयिता केवल खुदा ही नहीं, कुछ और शक्तियाँ भी हैं। (Secret of की भूमिका)। इस पुस्तक में निकोलसन ने कुरान के .२३वें अध्याय की आयत से एक उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है—"सृष्टि की रचना में परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ है।"

के लिए। नीच वासनाएँ अगर नियंत्रण में नहीं रहें तो मनुष्य का पतन हो है। कुरान की कल्पना है कि नीच वासनाओं को उभारने का काम 'जिन' करते नसे बचने के लिए मनुष्य को सदैव सावधान रहना चाहिये। इबलीस देवता नहीं, जिन-योनि का है और वह मनुष्य को गुमराह करने की कोशिश में लगा रहता 'जिन' की कल्पना इस्लाम में आध्यात्मिक संघर्ष को तेज करने के लिए की गयी थी। कुरान का अवतरण हजरत मुहम्मद की दिव्य-दृष्टि के कारण हुआ था। किन्तु, यह नहीं कहता कि दिव्य-दृष्टि केवल हजरत मुहम्मद को ही मिली थी। प्रत्येक में दिव्य-दृष्टि-वाले लोग उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कुरान का मत है। इसलिए, सच्चा मान सभी धर्मग्रन्थों को प्यार करता है, क्योंकि ये सभी धर्म भगवान के ही बताये हैं। मुहम्मद की तरह, फकीर भी दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न होते हैं। फर्क यह है कि मद "अम्बिया" में से थे और फकीर "औलिया" होते हैं। संसार में जितने भी बर हुए हैं, कुरान सब को दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न मानता है। मुहम्मद साहब के साथ का इतना ही पक्षपात है कि उन्हें कुरान धरती का आखिरी पैगम्बर मानता है और समझता है कि दिव्य-दृष्टि में भी मुहम्मद पहले के सभी पैगम्बरों से अधिक पूर्ण थे।

के परे

कुरान का विश्वास है कि पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म पहला और आखिरी जन्म है। न तो पहले जनमे थे, न आगे जन्म लेंगे। किन्तु, मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नहीं ाता। इस जीवन के समाप्त हो जाने पर, मनुष्य की देह जब कब्र में डाली जाती तब वहाँ से उसका एक दूसरा जीवन आरम्भ होता है जिसे "बरजख" कहते हैं। ख का शाब्दिक अर्थ दो वस्तुओं के बीच खड़ी होनेवाली कोई बाधा या वस्तु है। यह जाता है कि मनुष्य के पार्थिव जीवन के बाद एक और जीवन आयेगा, का आरम्भ कयामत(प्रलय) से होगा। किन्तु, कयामत तब आयगी, जब सृष्टि का हो जायगा। तब तक जीव को कब्र में पड़ा रहना होगा। बरजख के मानी कब्र भी होते हैं। अतएव, इस प्रसंग में बरजख से अभिप्राय उस लम्बी अवधि से है, में मनुष्य को अपना पार्थिव जीवन समाप्त करके कयामत के इन्तजार में कब्र में रहना है।

बरजख क्या है, इस पर बड़ा विवाद है। कुरान की कल्पना यह मालूम होती है मनुष्य का लक्ष्य आध्यात्मिकता की प्राप्ति है। आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ स्थूल (पार्थिव) शरीर में हो जाता है, किन्तु, इस जीवन में मनुष्य को इसका भान हो पाता। बरजख वह अवस्था है, जब सूक्ष्म जीवन का भान उसे होने लगता है, पूरी आध्यात्मिकता की अनुभूति मनुष्य को कयामत के बाद ही होती है। बरजख एक तरह का परलोक है। अतएव, बरजख के दिक्काल का वर्णन हम उस भाषा नहीं कर सकते, जिस भाषा में इस लोक के दिक्काल का वर्णन करते हैं। बरजख स्थिति, कदाचित्, अर्ध-चेतना की स्थिति है; कदाचित्, वह स्वप्न अथवा सुषुप्ति जब मनुष्य चल-फिर तो नहीं सकता, किन्तु, मन उसका तब भी कुछ-न-कुछ काम

करता रहता है। मनुष्य की पार्थिव मृत्यु केवल शरीर की मृत्यु है; उसकी आ भिन्न प्रकार से कब्र में भी जीवित पड़ी रहती है और इसी आत्मा को कयामत उठ कर ईश्वर के समक्ष जाना पड़ता है।

कयामत का वर्णन कुरान में बड़ी ही भीषणता के साथ किया गया है। यह कुछ हिन्दू-कल्पना के कल्पान्त अथवा महाप्रलय के समान है। "जब कयामत चाँद में रोशनी नहीं रहेगी, सूरज और चाँद सट कर एक हो जायँगे और मनुष्य नहीं समझ सकेगा कि वह किधर जाय और ईश्वर को छोड़ कर अन्यत्र उसे शरण भी नहीं।" "जब तारे गुम हो जायँगे, आकाश टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, की धूल उड़ जायगी और नबी अपने निर्धारित क्षण पर पहुँचेंगे।" "न्याय जरूर आयगा, जब सूर (तुरही) की आवाज उठेगी, जब तुम सब उठ कर झुण्ड आगे बढ़ोगे और स्वर्ग के दरवाजे खुल जायँगे।"

कब्र में आदमी की देह गल कर बिलकुल मिट्टी हो जायगी। उसकी के हड्डी शेष रहेगी जिसका नाम अल-अज्ब है। कयामत के समय, चालीस दिन निरन्तर घोर वृष्टि होगी और धरती सर्वत्र बारह हाथ पानी के नीचे चली इसी समय, अल-अज्ब नामक अस्थि से एक नये शरीर का अंकुर फूटेगा और शरीर लेकर आत्माएँ भगवान के सामने होंगी। जब कयामत आयगी, सूर्य प उगने लगेगा, दज्जाल नामक दानव अरबी भाषा में सर्वत्र इस्लाम का संदेश सु मेहदी प्रकट होंगे और सूर नामक शंख से तीन बार आवाज उठेगी।

सूर की आवाज सुन कर सभी आत्माएँ भगवान के सामने खड़ी होंगी मुहम्मद उनके प्रवक्ता होंगे। तब, हर एक रूह के पुण्य और पाप का लेखा लिया जायगा। पुण्य और पाप को तोलने का काम जिबरील करेंगे। जिसका परिमाण में अधिक होगा, वह स्वर्ग जायगा। जिनके पाप अधिक होंगे, वे में पड़ेंगे।

स्वर्ग सातवें आकाश (अर्श) पर अवस्थित है। वहाँ एक सुन्दर पुष्पो जिसके पास झरने और फव्वारे उमड़ते हैं। स्वर्ग में दूध और मधु की नदियाँ हैं। वहाँ ऐसे वृक्ष हैं, जिनकी धड़ें सोने की हैं और जिनमें बड़े ही सुस्वादु फ हैं। स्वर्ग में "हूर-युल-आयून" जाति की सत्तर युवतियाँ हैं, जिनकी आँखें काली और दीर्घ हैं। इसके सिवा, पुण्यात्मा की परिचर्या के लिए वहाँ सुन्दर-सुन्दर भी रहते हैं जो "गिलमाँ" जाति के हैं।

कुरान में विभिन्न नरकों की भी कल्पना की गयी है जो अत्यन्त भयान विकराल हैं।

कुरान का फातिहा नामक अध्याय गीता के दूसरे अध्याय के समान है। मानसिकता के निर्माण में सबसे अधिक प्रभाव इसी अध्याय का रहा है। यह के विवेचन का अध्याय है जिसकी ओर प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज

या जाता है। कारण यह है कि कर्मफलवाद में विश्वास के दृढ़ होने से आदमी र्म को छोड़ने को प्रेरण पाता है। छिप कर भी किया हुआ कर्म अपना फल लाता है। कुरान कहता है, "अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम अवश्य मिलेंगे। ने भी, कण-मात्र भी, सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आँखों से देखेगा; जिसने भी, मात्र भी, दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आँखों से देखेगा।" कयामत के बाद आदमी को स्वर्ग मिलेगा या नरक, इसका निर्धारण इसी जन्म में गये कर्मों से होता है, क्योंकि "जो इस जीवन में अन्धा है, वह आगे के जीवन में न्धा ही रहेगा।" कुरान कहता है, "अगर तुम ज्ञान से देखते तो यहीं नरक को देख सकते थे।"

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य कुरान "लका-उल्लाह" अथवा ईश्वर-मिलन को मानता किन्तु, यह ईश्वर-मिलन् कैसे होता है, इस विषय की कल्पना सुस्पष्ट नहीं है। मत निर्वाण और मोक्ष का पर्याय है या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तो उसका अर्थ संहार मालूम होता है और कहीं दिव्य जीवन। इसी तरह मत का उल्लेख कहीं व्यक्ति के लिए, कहीं पीढ़ी के लिए और कहीं सृष्टि-मात्र के किया गया है।

कुरान का विश्वास है कि आत्मा पर सुख-दुःख की छाप देह के जरिये पड़ती है। तु, आत्मा को कुरान देह से भिन्न नहीं मानता है। शरीर जब कब्र में चला जाता ब उसमें आत्मा रहती है या नहीं, इस विषय में भी कुरान में सुस्पष्टता का व है। न यही पता चलता है कि कयामत के बाद जो देह मिलेगी वह वही देह या नहीं जो कब्र में रखी जाती है। अस्थि से अंकुर फूटनेवाली बात का मुख्य र्थ क्या है, इसमें भी संशय रह जाता है। कुरान खुल कर यह नहीं कहता कि शरीर कयामत में फिर प्राप्त होगा। उलटे, वह कयामत के समय नयी सृष्टि की ना करता है।[1] सिर्फ इतना संकेत मिलता है कि मनुष्य फिर उठेगा, किन्तु, के गुण बदल जायँगे। जैसे स्वर्ग और नरक की प्रकृति को हम नहीं देख सकते, ही, आगामी जीवन को भी जानने में हम असमर्थ हैं। इतना सत्य है कि वह न मिट्टी के पार्थिव जीवन से भिन्न होगा।

ान और कुफ्र

इस्लाम के समग्र सिद्धान्त दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। एक का नाम "उसूल" र दूसरे का नाम "फरू" है। उसूल शब्द "असल" से निकला है, जिसका अर्थ जड़ ना है। फरू शब्द "फरअ" से निकला है, जिसका अर्थ शाखा या डाल है। कुरान ये नाम नहीं थे। कुरान सिर्फ ईमान और अमल, इन दो शब्दों का उल्लेख करता

---

[1] "जब हम अस्थि-मात्र रह जायँगे, जब हम गलित हो जायँगे, तब हमें नया जीवन कौन देगा? कहो कि वह जिसने यह दुनिया बनायी है, जो ऐसी दुनिया फिर बना सकता है।" (रिलीजन आव् इस्लाम में उद्धृत)

है। अब ईमान का पर्याय उसूल और अमल का पर्याय फरू है। उसूल वे
सिद्धान्त हैं जिन्हें नबी ने बताया है। फरू उन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण
कहते हैं। अतएव, मुहम्मद साहब के उपदेश उसूल अथवा मूल हैं और उन प
करने का नाम फरू अथवा शाखा है।

ईमान की शाखाएँ अनेक कही गयी हैं। कुरान कहता है, "ईमान की ६०
हैं और ह्या उसी की शाख है।" हदीस का वचन है, "ईमान की ७० शाखें हैं।
ऊँची यह कि अल्लाह को छोड़ कर और किसी की पूजा मत करो; और सर्व
यह कि जिन बातों से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।"

ईमान उस सत्य की स्वीकृति है जिसे नबी ने उद्घोषित किया। कुफ्र उ
की अस्वीकृति को कहते हैं।

ईमान का सर्वोच्च शिखर **तौहीद** है जो यह सिखाता है कि ईश्वर को छो
और किसी को मत पूजो। कुफ्र का सबसे बुरा रूप शिर्क है जिससे मनुष्य ई
अलावा और देवताओं को भी ईश्वर मान लेता है अथवा उनमें ईश्वरी गुणों का
करता है। शिर्क का सबसे बुरा रूप **मूर्त्तिपूजा** है।

मुहम्मद साहब का सबसे अधिक जोर ईश्वर को एक, केवल एक मानने प
इस विषय में वे अपने बारे में भी कोई शंका फैलने देना नहीं चाहते थे।
कहा है, "मैं मर्त्य हूँ। मैं सिर्फ यह कहने आया हूँ कि ईश्वर एक है और
उसी की पूजा की जानी चाहिए।" कहावत है कि जब मुहम्मद साहब
लगे, उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि जिस खजूर के पेड़ के पास बैठ कर मैं
किया करता था, पहले तुम उसे काट डालो, नहीं तो लोग उसी की पूजा करने
यह भी ध्यान देने की बात है कि मुसलमान मुहम्मदी या मुहम्मदन (ईसा से
और बुद्ध से बौद्ध के समान) कहलाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि इससे मुह
पूजा का भाव टपकता है।

संसार के धर्मों में इस्लाम ही ऐसा धर्म है जिसका विषय केवल व्यक्ति
सारा समाज है अथवा जो व्यक्ति के सभी आचारों का निर्धारण करता है।
केवल वैयक्तिक धर्म की ही बातें नहीं हैं, प्रत्युत, उसमें मनुष्य-मनुष्य के विविध
राजनैतिक बर्ताव, न्याय, शासन, सेना-संगठन, विवाह, तलाक, शान्ति,
सूदखोरी, दान आदि के सम्बन्ध में भी धार्मिक उपदेश हैं, जिनका पालन
नियमों के समान ही आवश्यक माना जाता है। उदाहरण के लिए, इस्लाम
को घृणित पाप समझता है और एक साथ चार पत्नियों से अधिक रखने की
नहीं देता।[1] इसी प्रकार, इस्लाम में शराब पीने की कड़ी मनाही की गयी है

---

[1] ए० सी० बुकेट ने ३३वीं सूरत का हवाला देकर बताया है कि इ
पत्नियों तक की इजाजत देता है।

जिहाद और जिजिया

नमाज, रोज़ा, ज़कात, हज और जिहाद, ये इस्लामी धर्म के मूल माने जाते हैं, कि, जिहाद तो एक तरह से राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझा जाता है। जिहाद का सामान्य र्थ युद्ध या धर्मयुद्ध है, किन्तु, आरम्भ में, यह शब्द इतना भयानक अर्थ नहीं देता ा। जिहाद शब्द जहद धातु से निकला है, जिसका अर्थ ताकत, शक्ति या योग्यता ता है। क्लेन (Klein) नामक एक विद्वान ने जिहाद का अर्थ संघर्ष किया है और न संघर्ष के उसने तीन क्षेत्र माने हैं। (१) दृश्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष, (२) अदृश्य त्रु (जिन) के विरुद्ध संघर्ष और (३) इन्द्रियों के विरुद्ध संघर्ष।

साधारणतः, विद्वानों का यह मत है कि इस्लाम के प्रचार के लिए जो लड़ाइयाँ ड़ी गयीं, उन्हें पवित्र विशेषण देने के लिए ही इस शब्द का प्रचलन किया गया। किन्तु, मोहम्मद अली (रिलीजन आव् इस्लाम के लेखक) का मत है कि इस शब्द का र्थ इस्लाम के प्रचार के लिए युद्ध करना नहीं है। मक्का में उतरनेवाले कुरान के अंशों में जहाँ-जहाँ यह शब्द आया है, वहाँ-वहाँ इसका अर्थ परिश्रम, उद्योग या सामान्य संघर्ष ही है। लड़ने की इजाजत नबी ने तब दी, जब वे भाग कर मदीने पहुँचे या जब वे मक्का छोड़ कर भागने की तैयारी में थे। मदीने में आत्मरक्षा के लिए तलवार उठाना आवश्यक हो गया। तभी लड़ाइयाँ जिहाद के नाम से चलने गीं किन्तु, यहाँ भी जिहाद का व्यापक अर्थ है और उसके भीतर वाणी और तलवार दोनों के लिए स्थान है। "ओ नबी! जो काफिर और पाषंडी हैं उनके खिलाफ अपना संघर्ष जारी रख और उनके सामने विचलित मत हो जा।" अन्यत्र भी कहा गया है, "क्या तू यह समझता है कि जब तक अल्लाह जाहिदों को चुन नहीं ले और धीरों को परख नहीं ले, तब तक तू स्वर्ग के उद्यान में प्रवेश कर सकता है?"

हदीस हज की भी गिनती जिहाद में करता है और कहता है कि "नबी ने कहा है कि सबसे अच्छा जिहाद हज में जाना है।" किन्तु, पीछे चल कर काजियों (न्यायपतियों) ने जिहाद का अर्थ युद्ध कर दिया।

मोहम्मद अली के मतानुसार, विधर्मियों को तलवार के जोर से इस्लाम में लाने की शिक्षा कुरान ने नहीं दी थी, न यह बात नबी के ही दिमाग में थी। लड़ने की इजाजत नबी वहीं देते थे, जहाँ आत्मरक्षा का प्रश्न होता था। किन्तु, जब मुल्ला और काजी सर्वेसर्वा बन बैठे, तब उन्होंने सारी दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया। जिस हिस्से में मुसलमान सुखी और स्वतन्त्र थे, यानी जिस हिस्से पर उनकी हुकूमत थी उसे तो उन्होंने दारुल-इस्लाम (शांति का देश) कहा। इसके विपरीत, धरती के जिस हिस्से पर उनका आधिपत्य नहीं था, उसे दारुल-हरब (युद्ध-स्थल) कह कर उन्होंने मुसलमानों को उत्तेजित किया कि ऐसे देशों को जीत कर वहाँ इस्लाम का झंडा गाड़ना जाहिदों का परम कर्त्तव्य है। किन्तु किसी-किसी लेखक ने यह भी लिखा

है कि विश्व भर में इस्लामी साम्राज्य स्थापित करने की कल्पना मुहम्मद साह भी जगी थी। "प्रायः, प्रत्येक बार उनके अन्तिम शब्द ये होते थे कि 'अय लो जो मैं कहता हूँ, उसे ठीक से सुनो और उसका अर्थ समझो। तुम्हें मानना चाहि हर एक मुस्लिम हर दूसरे मुस्लिम का अपना भाई है। तुम सबके सब आपस समान हो।' अपने जीवन के अन्त तक आते-आते, उनकी धारणा यह हो गयी थी सारी पृथ्वी को एक धर्म के अधीन होना चाहिये। सारे संसार के लिए एक नबी एक ही धर्म, यह भाव उनमें जग चुका था।"[१]

इसी प्रकार, जिजिया वह कर था जिसे नबी ने ईसाई, यहूदी, पारसी तथा गैर-अरबी दुश्मनों से लड़ाई के बाद, सन्धि की शर्तों के अनुसार, वसूल किया जब कोई देश मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करता, तब उसे नजराने के रू जिजिया कर देना पड़ता था। किन्तु, हजरत उमर के समय में आकर यह वैय कर हो गया।

इस्लाम का आरम्भ धर्म में हुआ था, किन्तु, बढ़ कर वह राज्य और सेना संगठन भी बन गया। इस प्रकार, इस्लामी राज्य, इस्लामी संस्कृति और इस्ल राष्ट्र सबके साथ धर्म का जोश लिपट गया। पहले तो धर्म के आवेश से ही राज्य स्थापना हुई थी। पीछे, राज्य की शक्ति-वृद्धि से धर्म का भी प्रताप बढ़ने लगा। देशों में पादरी अलग और राजा अलग थे। भारतवर्ष में भी पुरोहित अलग राजा अलग थे। किन्तु इस्लामी देशों का धर्म-गुरु और राजा, दोनों एक ही व्य होने लगा। इस प्रकार, धर्म से तलवार की तेजी बढ़ी और तलवार से धर्म का बढ़ने लगा। इस्लाम की देखा-देखी भारत में सिक्ख-सम्प्रदाय का संगठन भी सिद्धान्त पर किया गया था।

सुन्नी-शिया सम्प्रदाय

इस्लामी धर्म-राज्य के पहले नेता या खलीफा स्वयं मुहम्मद साहब हु मुहम्मद साहब के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक बेटी थी, जिसका नाम फातिमा फातिमा बीबी का ब्याह हजरत अली से हुआ था जिनकी वीरता पर रीझ कर म्मद साहब उन्हें "शेरे-खुदा" कहा करते थे। ऐसा हुआ कि नबी के मरने पर खि फत (धर्म-राज्य) के सरदार हजरत अली नहीं बनाये गये। खिलाफत के दूसरे सर हजरत अबूबक्र, तीसरे हजरत उमर, चौथे हजरत उस्मान और पाँचवें खलीफा सरदार अली हुए। इस स्थिति से उत्तराधिकारी का विवाद उठ खड़ा हुआ और लोग कहने लगे कि हजरत मुहम्मद के बाद गद्दी उनके दामाद, हजरत अली को मि चाहिये थी। इनका यह भी कहना था कि खिलाफत की गद्दी पर खलीफों के उत्त धिकारी ही बैठ सकते हैं। छठे खलीफ़ा के समय वह विवाद विकराल हो उठा और

---

[१] A. C. Bouquet (Comparative Religion).

ने हजरत अली के पुत्र (और मुहम्मद साहब के नाती) हजरत इमाम हुसैन को घोषित कर दिया। कहा जाता है कि हजरत इमाम हुसैन जब मदीने से कूफ़ा रहे थे, तब रास्ते में कर्बला नामक स्थान में तत्कालीन खलीफ़ा ने उनकी हत्या दी। इस कांड के बाद मुसलमानों में दो दल हो गये, जिनमें से हजरत अली के शिया और बाकी लोग सुन्नी कहलाने लगे। मुहर्रम का शोकोत्सव हजरत हुसैन[1] की याद में ही मनाया जाता है और शियों का यह खास पर्व है। साहब के तुरन्त बाद होनेवाले तीन खलीफों (अबूबक्र, उमर और उस्मान) को नहीं मानते, किन्तु, सुन्नी, समझते हैं कि उनकी खलीफागिरी ठीक थी।

अन्य विशेषताएँ

इस्लाम मनुष्य और भगवान के बीच किसी बीचवान की आवश्यकता में विश्वास करता। सामूहिक नमाज में एक इमाम की जरूरत तो समझी जाती है, किन्तु, भी सच्चरित्र मुसलमान इमाम का काम कर सकता है, यद्यपि, इमामत एक बार की वह प्रायः, बराबर इमाम होता है। पाँच बार नमाज पढ़ने की प्रथा, कदा- इस भाव से चलायी गयी थी कि आदमी बहुत देर तक भगवान से अलग नहीं रहे। से-कम पाँच बार वह उनकी शरण में पहुँच जाया करे। इस्लाम संसार में सबसे अपरिवर्तनीय धर्म है। जब पहले-पहल यह धर्म अरब से बाहर फैलने लगा, अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ने लगे और यह सम्भव दीखने लगा कि इसमें परिवर्तन इस अवस्था पर नियंत्रण रखने के लिए तीन बातों की व्यवस्था की गयी।

(१) इज्मा—यानी यह शर्त कि सभी युगों और सभी स्थानों में इस्लाम के उपदेशकों पूरा-पूरा मतैक्य रहना चाहिये।

(२) सुन्नत—यानी नबी ने जो काम किये थे, उनका अनुसरण हदीस के अनुसार जाना चाहिये। और

(३) कयास—यानी मूल उपदेशों से क्या अर्थ लिये जा सकते हैं, इस पर सावधानी विचार।

शिया-सुन्नी झगड़े के खड़े होने के पूर्व तक, ये नियंत्रण कड़ाई से चलाये जा सके, किन्तु, मुसलमानों में दो दल हो जाने के बाद, यह बात उतने जोर से चली नहीं, यद्यपि, अपरिवर्तनीयता इस्लाम को अब भी पसन्द है। इस्लाम में जो एकरूपता रही, उसका बड़ा कारण यह रहा कि इस्लाम और मुसलमान, दोनों, खलीफों के नियन्त्रण और

---

[1] जिस व्यक्ति ने हजरत इमाम हुसैन की हत्या करवायी थी, उसका नाम यजीद था। जिस स्थान पर इमाम हुसैन की हत्या हुई उसका नाम कर्बला है। कर्बला तभी से बलिदान और शहादत का प्रतीक माना जाता है। मौलाना मोहम्मद अली का इस घटना पर एक चुभता हुआ शेर है :—

> कत्ले-हुसैन अस्ल में मर्गे-यजीद है।
> इस्लाम जिन्दा होता है हर कर्बला के बाद।

नेतृत्व में थे और धार्मिक रीतियों में कोई भी परिवर्तन खलीफों की मंजूरी के नहीं किया जा सकता था। किन्तु सन् १९१८ ई० में, जब टर्की के अधिनायक पाशा ने खिलाफत को उठा दिया, तब से मुसलमान इस नेतृत्व से विहीन हो गये अब इस्लामी देशों पर धार्मिक अनुशासन रखनेवाला कोई एक व्यक्ति नहीं र है। विश्व भर की ईसाइयत का संचालन रोम के पोप किया करते हैं। उसी प्र संसार भर के मुसलमान खलीफा को अपना धर्मगुरु मानते थे। किन्तु, जब खि टूट गयी, तब से यह अनुशासन भी उठ गया है। यद्यपि, इससे इस्लाम में अभी कोई शिथिलता नहीं आयी है।

तसव्वुफ या इस्लामी रहस्यवाद

संसार में ईश्वर की कल्पना कई रूपों में की गयी है। एक रूप वह है कि ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं माना जाता है, न यही समझा जाता है कि उसे दुनि हालतों के जानने की कोई फिक्र है। चूँकि ईश्वर निर्विकार समझा जाता है, इस यदि यह कहा जाय कि उसने सृष्टि रची है अथवा वह भक्तों की प्रार्थना सुनने को खोले रहता है तो इससे ईश्वर में विकार का आरोप हो जाता है। यह ईश्वर के की कल्पना का ईश्वर है।

इसके विपरीत, ईसाइयों की कल्पना का ईश्वर प्रेमी और दयालु है तथा वह संसा रक्षा और पालन उसी प्रकार करता है जैसे कोई पिता अपने परिवार का पालन कर किन्तु, इस्लाम ने, मूल-रूप में, जिस ईश्वर की कल्पना की थी, वह प्रतापी स्वेच्छाचारी प्रभु की कल्पना थी। इस ईश्वर के सामने दलील कोई चीज नहीं मानवीय न्याय-बुद्धि का उसके आगे कोई जोर चल सकता था। अल्लाह शब्द का ही शक्ति-सम्पन्न पुरुष होता है। इस्लाम ने ईश्वर के उन गुणों को प्रधानता दी, प्रेम कम, भय अधिक हो सकता था। इस्लाम की धार्मिक चेतना का रूप यह था ईश्वर बहुत समीप से सब कुछ देख रहा है और उसकी छोटी-सी भी अवज्ञा हु इसका परिणाम भयानक हो सकता है। इसलिए, मनुष्य के लिए उचित यह है वह ईश्वर की कृपा और इच्छा पर आँखें मूँद कर निर्भर रहे। परमात्मा की दया सामने सम्पूर्ण रूप से झुके रहने का भाव इस्लाम की सबसे बड़ी विशेषता थी।

किन्तु, यह सम्बन्ध, मुख्यतः, भय और आतंक का सम्बन्ध था, जिसमें बन्दा की ओर आँख उठा कर देख भी नहीं सकता था। मनुष्य का हृदय, स्वभावत: प्रेम चाहता है। आदमी की इच्छा होती है कि उसका भगवान भी उससे प्रेम उसे अपने साथ हँसने-बोलने और खेलने-कूदने की आजादी दे। अतएव, खुदा बन्दे के सम्बन्ध के बारे में मुहम्मद साहब ने जो कठोरता रखी थी वह, काल-क्र ढीली होने लगी और बन्दा धीरे-धीरे खुदा को वह रूप देने लगा जो प्रेम और के अधिक अनुकूल था। इस विकास का पहला सोपान तब प्रकट हुआ, जब नबी मृत्यु के बाद, शियों के एक उग्र सम्प्रदाय ने "हुलूल" और "तकसीर" के सिद्धान्तों

घोषणा की। हुलूल, यानी यह विश्वास कि मनुष्य ईश्वर-कोटि तक पहुँच सकता है, अर्थात् स्वयं ईश्वर बन सकता है। और "तकसीर", यानी यह विश्वास कि ईश्वर भी चाहे तो मनुष्य-रूप में प्रकट हो सकता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शियों ने हजरत अली में देवत्व का आरोप किया।

इसके साथ ही, एक घटना और घटी। इस्लाम के द्वारा धार्मिकता के स्तर पर जाग्रत किये जाने पर मुस्लिम जनता के भीतर ऐसे चिन्तक उत्पन्न होने लगे जिन्हें अनेक प्रकार के प्रश्न झकझोर रहे थे। ईश्वर की प्रकृति क्या है? सृष्टि और मानवात्मा के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? आत्मा का रूप क्या है और ईश्वरीय ज्ञान किसे कहते हैं? स्पष्ट ही, ये ऐसे प्रश्न हैं जिनसे दर्शनों का उद्भव और विकास होता है। कुरान में व्यावहारिक धर्म का उपदेश तो किया गया था, किन्तु, उसमें गम्भीर दर्शन का अभाव था। अब जो सृष्टि-सम्बन्धी जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो, धीरे-धीरे, इस्लामी दर्शन का भी विकास होने लगा।

इन प्रश्नों का समाधान खोजनेवालों में मोतजली-सम्प्रदाय सबसे आगे था। ये मोतजली पंडित बुद्धिवादी थे और बुद्धि के द्वारा ही वे ईश्वर का पता लगाना चाहते थे। ये बहुत-कुछ उसी रास्ते से चल रहे थे जिसे उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग कहते हैं अथवा जिस मार्ग से शंकराचार्य ने ईश्वर-सिद्धि की है। इस्लाम ने यती-वृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया था। किन्तु, मोतजली-सम्प्रदाय में यती-वृत्ति की भी प्रधानता होने लगी। बुद्धि के कर्कश मार्ग से चलते-चलते यह सम्प्रदाय इस निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि कुरान अपौरुषेय नहीं है, न उसे अन्तिम सत्य का आख्यान ही मानना चाहिये। कुरान में जो ज्ञान झलका है वह ठीक है, किन्तु, त्रिकाल के लिए वह यथेष्ट समझा नहीं जा सकता। मनुष्य को और भी नयी प्रेरणाएँ और नया प्रकाश मिल सकता है।

मोतजली चिन्तक निर्मुक्त विचारक थे और उनकी दृष्टि बहुत ही उदार थी। इन चिन्तकों में अलगजाली (१०५१-१११२ ई०) सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक निकले। किन्तु, धर्म पर सोचते-सोचते वे नास्तिकता पर जा पहुँचे और धर्म-मात्र से उनका विश्वास उठ गया। कुछ दिनों तक उनकी अवस्था नास्तिकों की-सी बनी रही। किन्तु, शीघ्र ही, तमाम शंकाओं के भीतर से रहस्यवाद ने उनका उद्धार किया। बुद्धि के क्लान्त होकर बैठ जाने पर, उनके भीतर सम्बुद्धि (इंटुइशन) की ज्वाला धधक उठी और इस आलोकित मनोदशा में उन्होंने अभीप्सित सत्य का साक्षात्कार किया। तब से, परम्परावादियों की दलीलों को उन्होंने बचपन का खेल समझ कर छोड़ दिया तथा विज्ञान, दर्शन, बुद्धि और तर्क की राह उन्हें अधूरी दीखने लगी। उन्होंने कहा है कि तर्क से हम उसे प्राप्त कर सकते हैं जो सापेक्ष (अर्थात् बुद्धिगम्य) है, उसे नहीं, जो निरपेक्ष (अथवा ज्ञानातीत) है। निरपेक्ष सत्य को जानने के लिए मनुष्य को सम्बुद्धि को छोड़ कर और कोई चारा नहीं है। इस अनुभूति के प्राप्त होते ही गजाली सिमट पर एकान्त में चले गये और समाधि एवं सम्बुद्धि के द्वारा अपनी साधना में संलग्न हो गये। इस समाधि से सुनिश्चित सिद्धान्त प्राप्त करके वे बाहर आये और तभी उन्होंने दर्शन के

खंडन में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तुहफतुल-फिलासफा" की रचना की। गजाली को चन्द्रबली पाण्डेय ने इस्लाम का व्यास कहा है, जो उपाधि अनुचित नहीं दीखती, क्यों इस्लाम के भीतर ज्ञान और भक्ति के समन्वय का आरंम्भ उन्हीं से होता है। फि की तरह, गजाली ने भी एलान किया कि ईश्वर और जीव के स्वभाव में मौलिक एक है, इसलिए, जीव ईश्वर को जान सकता है तथा मृत्यु के बाद वह ईश्वर-कोटि त पहुँच सकता है। स्पष्ट ही, यह भारतीय वेदान्त का प्रभाव था।

बुद्धि और सम्बुद्धि, दोनों दो चीजें हैं या नहीं, इस विषय में पहले भी मतभेद थ और आज भी है। किन्तु, सामान्यतः, मनुष्य सृष्टि को दो दृष्टियों से देखने का आ रहा है। एक दृष्टि बुद्धि की दृष्टि है, जिससे विज्ञान का विकास हुआ है। दूस दृष्टि हृदय की दृष्टि है, जिसका सहारा सन्त और महात्मा, कवि और कलाकार ले हैं। प्राचीन काल में द्रष्टा की उपाधि उन्हें दी जाती थी जो हृदयवादी होते थे, जे सत्य को समझते नहीं, देख लेते थे। किन्तु, अठारहवीं सदी में, विज्ञान के आरम्भ के बाद, बुद्धि प्रधान हो उठी और बुद्धिवादी व्याख्या से ही मनुष्य को अधिक सन्तोष हों लगा। किन्तु, रूसो[1] के समय में, प्रधानता फिर से सम्बुद्धि को दी जाने लगी। फि जब रोमाण्टिक आन्दोलन उठा, तब सम्बुद्धि की प्रधानता और भी बढ़ गयी। कार यह था कि सरकारों और विचारों के नियंत्रण के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए सह ज्ञान की दुहाई देना जरूरी था। दूसरे, विज्ञान की किरणों के सामने जब धर्म फीव पड़ने लगा, अन्धविश्वास की परम्परा बिखरने लगी, तब धर्म और धार्मिक परम्प का समर्थन करने के लिए भी सम्बुद्धि का सहारा लेना आवश्यक हो गया। फ्रांसी दार्शनिक बर्सों ने अलौकिक सत्यों के सन्धान में सम्बुद्धि के प्रकाश को एक मात्र आधा माना है।[2] बीसवीं सदी के मुसलमान कवि इकबाल ने भी हृदय और मस्तिष्क में

---

[1] शिक्षा के विषय में रूसो का विचार था कि इससे मनुष्य अच्छा नहीं, चाला बनता है। वह कहता है, "चिन्ता की मुद्रा ही प्रकृति के विरुद्ध है। सोचनेवाला मनुष्य पतित प्राणी होता है। जब से समाज में पंडितों की संख्या बढ़ी, तभी ईमानदार लोगों की संख्या घटने लगी है। बुद्धि का जो क्षिप्र विकास हो रहा है उसे रोक देने में ही मानवता का कल्याण है। इसके बदले, हमें मनुष्य के हृद और उसकी भावना का विकास करना चाहिये।" संयोग की बात है कि अभिन मुस्लिम सूफी इकबाल भी अशिक्षा को दोष नहीं मानते, प्रत्युत, अपनी एक कवि में उन्होंने उसे गुण बना दिया है :—

तेरी बेइल्मी ने रख ली बेइल्मों की शान,
आलिम-फाजिल बेच रहे हैं अपना दीन-ईमान।

(बाले-जिबरील)

[2] काण्ट और शोपेनहार ने भी बुद्धि का क्षेत्र केवल बाह्य अथवा स्थूल विश्व तक ही माना है।

हृदय की स्वाधीनता के प्रति आस्था दिखलायी है। **जो अक्ल का गुलाम हो, वह दिल** न कर कबूल। किन्तु, सत्य, कदाचित्, यह है कि नयी बात, नये विश्वास और नये सत्य की झाँकी (केवल धर्म और काव्य में ही नहीं, तर्क और विज्ञान में भी) पहले सम्बुद्धि, सहज ज्ञान अथवा सहज दर्शन को ही दिखलायी देती है। किन्तु, सहज ज्ञान से उसे लेने के बाद तर्क और विज्ञान की कसौटी पर उसे प्रमाणित करना भी आवश्यक होता है, क्योंकि मनुष्य की अन्य शक्तियों के समान, उसकी सहज वृत्ति भी भूल कर सकती है। किन्तु, गजाली, बर्सों, इकबाल और हीगेल, ये सभी सहज-ज्ञान-वादी यह कहते हैं कि भूल सिर्फ अक्ल से होती है, हृदय, सम्बुद्धि और सहज दर्शन कभी भी भूल नहीं करते। बुद्धि से भूल इसलिए होती है कि उसके साधन तर्क हैं और तर्क भ्रामक हो सकते हैं। कित्तु, सहज ज्ञान आलोकित मनोदशा में सत्य का रहस्योद्घाटन करता है और चीजों को उनके खंडित रूपों में नहीं देख कर, सम्पूर्णता में देखता है। इसलिए, भूल करने की गुन्जाइश यहाँ नहीं है। बुद्धि गणक है जो गणित के न्याय से सत्य को समझना चाहती है। सहज वृत्ति स्वयं आँख है। वह गणना नहीं करके, क्षण मात्र में, सत्य का पूरा स्वरूप देख लेती है। "रहस्यवादी अन्तर्दर्शन का आरम्भ ही कुछ इस प्रकार के भावों से होता है कि जो रहस्य था, उस पर से परदा हट गया है, जो प्रच्छन्न था, वह अकस्मात् सारे सन्देहों से मुक्त और सुनिश्चित हो गया है। रहस्यवादियों का विश्वास पीछे उत्पन्न होता है, पहले तो उनके सामने अन्तर्दर्शन और सुनिश्चितता ही प्रत्यक्ष होती है।"[1]

मोतजलियों ने जो राह पकड़ी थी, वह बुद्धि की राह थी। अतएव, कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर चलते-चलते, गजाली नास्तिक हो गये और आस्तिकता पर वापस वे तब आये जब बुद्धिवाद को उन्होंने छोड़ दिया। उन दिनों, अरब के जो भी मुसलमान कवि, वैज्ञानिक और सन्त भारतीय अथवा ईरानी विचारधारा से प्रभावित थे, वे हजरत मुहम्मद के उपदेशों की कसौटी पर कसे जाने पर शंकावादी अथवा मुक्त चिन्तक ही सिद्ध हो सकते थे। ऐसे मुक्त चिन्तकों में उमर खैय्याम और अबुल अरा (१०५७) का वड़ा नाम है। अबुल अरा पर प्रत्यक्ष बौद्ध प्रभाव था, यह बात उसके दीवान के अनुवादक, हेनरी वेरलिन की पुस्तक[2] से स्पष्ट होती है। अबुल अरा पर बौद्ध प्रभाव था। वे आवागमन के सिद्धांन्त के विश्वासी थे। शाकाहारी भी थे तथा दूध, मधु और चमड़े का व्यवहार नहीं करते थे। पशु-पक्षियों के लिए भी उनके हृदय में दया थी तथा वे ब्रह्मचर्य और यती वृत्ति का भी पालन करते थे।" अबुल अरा के विचारों की स्वाधीनता नीन्चे के पदों में प्रत्यक्ष है :—

(१)

ईश्वर को छोड़ और ईश्वर नहीं है, यह सत्य है;
और सत्य यह भी है, मन के सिवाय कोई दूसरा नबी नहीं।

---

[1] बरट्रेण्ड रसल-कृत "मिस्टिसिज्म ऐण्ड लॉजिक"।

[2] अबुल अरा, द सीरियन।

घूम रहा आदमी का मन अन्धकार में
खोजते हुए अपूर्व स्वर्ग को,
स्वर्ग जो छिपा हुआ है हम में औ' तुम में ।

(२)

जाल हैं अगणित, पन्थ अनेक ; प्रदर्शक पथ के अमित सुजान ;
मुक्त इन द्वारों में है कौन द्वार तेरे घर का भगवान ?
मुहम्मद के कर में है खड्ग, सत्य भी है क्या उनके पास ?
नहीं क्यों कहूँ ? कदाचित्, उन्हें मिल गया हो इसका आभास ।[1]

इन्हीं मुक्त चिन्तकों ने अभिनव-अफलातूनी (Neo-Platonic) विचारों के इस्लाम में बोये, जिनकी फसल सूफियों ने काटी । अभिनव-अफलातूनी विचार यह क जीव ब्रह्म से अलग होने के वाद उसके विरह में बेचैन है और शान्ति उसे मिलेगी जब वापस होकर वह ब्रह्म में लीन हो जायगा । यही विचार सूफी-मत नींव बना जिसपर से विरह-कल्पना की हजारों अट्टालिकाएँ उठी हैं । विरह कल्पना बुद्धि से समझी नहीं जा सकती थी, अतएव, सम्बुद्धि का सहारा सभी लेने

गजाली परम्परा को तोड़ कर चले थे, किन्तु, वे रहस्यवाद पर जा पहुँचे । दूसरे चिन्तक इब्न-सीना यूनानी दर्शन के प्रेमी थे, किन्तु, उस दर्शन से असन्तुष्ट हो वे भी रहस्यवादी हो गये । उनका भी मत था कि बुद्धि का मूल्य केवल विज्ञान लिए है । किन्तु, अन्तिम सत्य का जैसा पूर्ण, सरल और समुचित ज्ञान सम्बुद्धि से है, वैसा बुद्धि से नहीं हो पाता । सूफी-मत को प्रेम की दिशा इन्हीं दार्शनिकों ने उन्होंने कल्पना की कि अन्तिम सत्य का रूप पूर्ण सौन्दर्य का रूप है । यह सत्य तो प्रच्छन्न है किन्तु, सृष्टि-रूपी दर्पण में उसका जो विम्ब पड़ता है, वही उसकी व्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति प्रेम का संकेत देती है । प्रेम है सौन्दर्य के पहचानने शक्ति, प्रेम है सौन्दर्य पर न्योछावर होने की योग्यता । प्रेम ही वह शक्ति है जो को उसके विरह की अनुभूति कराती है और प्रेम से ही प्रेरणा पाकर जीव उस में फिर से मिल जाने का प्रयास करता है, जिस सत्ता से वह सृष्टि की प्रक्रिया वियुक्त हो गया है ।

मुहम्मद साहब ने जो उपदेश दिया था, उसमें खुदा मालिक और इन्सान था । इन नये विचारकों ने खुदा को पूर्ण सौन्दर्य और बन्दे को उस सौन्दर्य का बना दिया । मुहम्मद साहब ने जो धर्म चलाया था, उसमें **दास्य-भाव** ही प्रधान था । सूफियों ने दास्य-भाव को काटकर उसकी जगह पर **प्रेम** और **रति** को अंकित दिया । इस प्रकार, इस्लाम में तसव्वुफ या रहस्यवाद का प्रचार बढ़ने लगा । में तो यह मुक्त चिन्तकों की तार्किक जिज्ञासा का समाधान करने को उठा था, परोक्ष में इसका मुख्य कारण यह था कि नवीं शती तक या उसके बाद ही, में क्लान्ति आ गयी थी तथा उनकी वह शक्ति समाप्त होने लगी थी जिसने

---

[1] हेनरी बेरलिन-कृत The Diwan of Abul'-Ara नामक अँगरेजी अनुवाद से।

ाशा था। रहस्यवादी मुद्रा थकी, पराजित और संघर्षहीन जाति को बहुत पसन्द ती है। मुसलमान पराजित तो नहीं थे, किन्तु, इस समय उन्हें साम्राज्य का सुख हुत अधिक था और संघर्ष तो कुछ था ही नहीं। सूफी-मत के जन्म के समय, इस्लाम उद्दामता मद्धिम पड़ रही थी, उसका तेज विश्राम कर रहा था। किन्तु, इतना ही ीं, इस्लाम में रहस्यवाद के उद्भव के कुछ और भी कारण थे और उनमें से एक ुख कारण था विदेशी प्रभाव, जो अब इस्लाम को परिवर्तित करने लगा था।

ानी और भारतीय प्रभाव

अरबवालों ने दर्शन के लिए फलसफा शब्द चलाया और वे यह मानते रहे कि र्शन की शिक्षा उन्होंने यूनानियों से ली है। किन्तु, वस्तुतः, यूनान ने अरब को वही न दिया जिसे उसने भारत से प्राप्त किया था। जिन दिनों भारत का यूनान से हरा राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध था, उन्हीं दिनों, यूनानी दर्शन का विकास रहा था और इस विकास पर हिन्दू-धर्म की काफी छाप पड़ी थी। पिथेगोरस (ई०पू० ५८०) जीव-हिंसा का विरोधी और पुनर्जन्म का विश्वासी था। उसके वाद, फलातून ने इस पुनर्जन्म-वाद में कर्मफलवाद भी मिला दिया। प्लाटिनस (चौथी ती) ने ईश्वर का वर्णन 'नेति-नेति' कह कर किया है। इसी दार्शनिक ने अफलातून (प्लेटो) के दर्शन की नयी व्याख्या की और यही अभिनव-अफलातूनी मत का प्रवर्त्तक ी हुआ। "जो आत्माएँ शुद्ध हो चुकी हैं और शरीर पर जिनका तनिक भी मोह हीं है, वे फिर से शरीर धारण नहीं करेंगी। पूर्णरूप से अनासक्त हो जाने पर वे लय, चेतन वास्तविकता में विलीन हो जायँगी।" यह और कुछ नहीं, उपनिषदों के ोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण की ही प्रतिध्वनि है। अभिनव-अफलातूनी मत के अनुसार ईश्वर सर्व-शुभ का रूप है और उसी से संसार की प्रत्येक वस्तु निकली है। सृष्टि के भीतर जो चेतन शक्ति है, उसी का प्रतिबिम्ब सारी सृष्टि है। अतएव, प्रकृति-मात्र परमेश्वर से व्याप्त है। जड़ और कुछ नहीं, केवल चेतन का आवरण है, उसकी पोशाक है। इस मत के माननेवालों का विश्वास था कि "सर्व-शुभ-रूप परमेश्वर का ध्यान और चिन्तन करते-करते मनुष्य उस उद्गम पर फिर पहुँच सकता है जहाँ से वह विच्छिन्न हो गया है।" इन बातों का सूफी-मत से निकट का सम्बन्ध है, प्रत्युत, इन्हें इस मत का मुख्य आधार कहना चाहिये। सूफियों ने, अपनी पसन्द के अनुसार, इन बातों को वांछित दिशा में विस्तार दिया और काव्य के माध्यम से इस दर्शन को एक स्वतन्त्र रूप दे डाला। भेद यह रहा कि यूनानी दार्शनिक परमात्मा को व्यक्तित्व-हीन मानते थे, किन्तु, सूफी-मत ने ईश्वर को व्यक्तित्व देकर उसे अपनी आवश्यकता के अनुकूल बना लिया। सूफी-मत में जो आवेशयुक्त आनन्द का प्राधान्य है, उसके बीज भी अभिनव-अफलातूनी मत में विद्यमान थे, जैसा कि नीचे के इस सन्दर्भ से प्रकट होता है :—

"पंडित जन शुभ का अस्तित्व अपने भीतर मानते हैं और इस आस्था का विकास करने के लिए वे सिमट कर अपने हृदय के पवित्र मन्दिर में चले जाते हैं। जिसे यह

ज्ञान नहीं है कि आत्मा में शुभ और सुन्दर का निवास है, वही उसकी खोज करता है। असल में, उसे अपने-आप में केन्द्रित होना चाहिये ; अपने अस्तित प्रसार करना चाहिये ; एक को छोड़ कर अनेक में नहीं भटकना चाहिए, प्रत्युत, के उस उत्स की खोज करनी चाहिये जिसकी धारा उसके हृदय में बह रही है।[1]

यह गद्य में तसव्वुफ नहीं तो, और क्या है ?

बार-बार यह विवाद उठाया जाता है कि सूफी-मत का मूल कहाँ था। यह इस्लाम के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है, इसपर कई विद्वान् बहुत जो हैं।[2] किन्तु, सच बात यह है कि रहस्यवाद सभी धर्मों से ऊपर का धर्म है, वह सभी धर्मों के मूल में रहता है। पूजा और प्रार्थना कैसे करें, यह वाद की है। उसके पहले ही ईश्वर से किसी प्रकार का मिलन स्थापित करने की बात है जो सभी आस्तिक धर्मों का समान लक्षण है। रहस्यवाद का कोई-न-कोई प्रत्येक धर्म में मिलता है। यही कारण है कि रहस्यवाद के भेद भी अनेक रहे जैसे प्रत्येक धर्म का सार उसके रहस्यवादी अंश में रहता है, वैसे ही, तसव्वुफ इ का निचोड़ था। जो लोग लोगों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने के पक्ष में नहीं जिन्हें दारुल-हरब और दारुल-इस्लाम से कोई सरोकार नहीं था, जो लोग कुरा उस पक्ष से प्रभावित थे जो ईश्वर-समाधि, ईश्वर-चिन्तन और ईश्वर के पास पर जोर देता था, वे ही लोग धर्म की औपचारिकता के घेरे से निकल कर सू गये। सभी धर्मों के समान इस्लाम का जन्म भी आध्यात्मिक बेचैनी से हुआ यही बेचैनी सिमट कर सूफियों में चली गयी।

यह भी समझना भूल है कि इस्लाम से पूर्व रहस्यवाद की परम्परा नहीं थी। तो यह है कि तसव्वुफ को मुसलमान फकीरों ने सुचिन्तित रूप दे दिया, उसे सम्प्र के रूप में खड़ा कर दिया, इसलिए, इसका सम्बन्ध उनसे अधिक दीखता है। अन् तसव्वुफ के जन्म और संगठन के पूर्व भी उसकी परम्परा सभी देशों में मिलती खुद अरब में ही तसव्वुफके जन्म के पूर्व मुहम्मद साहब के "इलहाम" और " (आवेश) में सूफी-मत के दो लक्षण मौजूद हो चुके थे। और कुरान की ईश्वर-क में चाहे जितनी भी कठोरता रही हो, किन्तु, उसमें भी, जगह-जगह, ऐसे संकेत मि हैं कि ईश्वर और जीव के बीच प्रेम का सम्बन्ध हो सकता है। "वह (ईश्वर)

---

१. एफ. हैडलांड डेविस-कृत "द पर्शियन मिस्टिक्स" से।

२. "It must be strictly maintained that mysticism is not a nat growth in Islam, but, is a foreign element which has worked way into it and is really inconsistent with the original dogm It is, perhaps, a revolt of some Muslim souls against t extremity of Islamic transcendance."

—A. C. Bouquet (Comparative Religio

न्दों को) प्यार करता है और वे उसे प्यार करते हैं ; इसीलिए, उसका एक नाम (प्रेमी) भी है।" यह कुरान का ही वचन है।[1]

सारी प्रकृति किसी अदृश्य सत्ता से व्याप्त है, यह अनुभूति तो भारत में वैदिक में ही उत्पन्न हो चुकी थी और, आगे चलकर, उसका प्रभाव यूनान और ईरान भी पड़ा था। जीव ब्रह्म से बिछुड़ा हुआ है तथा उसे फिर ब्रह्म में ही लौट जाना यह ज्ञान भी पहले भारत में ही जगा था और वहीं से उसने पाश्चात्य देशों में र पाया। सूफी-मत में प्रेम की जो इतनी प्रधानता है अथवा सूफी जो यह कहा ते हैं कि इश्क-मजाजी इश्क-हकीकी का सोपान है, उसकी परम्परा भी पीछे की ओर दूर तक पहुँचती है। ईसाई सन्त ईसा-मसीह को दूल्हा और अपने को उनकी हिन कहा करते थे। सॉलोमन के गीतों में यह कल्पना इतनी रंगीन है कि उससे लता की बू आती है। भारतवर्ष में ब्रह्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए रत्यानन्द उपमा देने की प्रथा उपनिषत्काल में चल चुकी थी। बृहदारण्यक-उपनिषद् में न्द का केन्द्र उपस्थ बताया गया है (सर्वेषामानन्दानामुपस्थं एकायनम्)। अफलातून रीर-सम्पर्क-रहित प्रेम की कल्पना करके नर-नारी के सम्बन्ध को पवित्रता के तल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने सभी जातियों के मन्दिरों में व्यभिचार के प्रचलित होने बात कही है और इसका सम्बन्ध सूफी-मत के मादन-भाव के साथ जोड़ा है। धर्म नाम पर गुह्य टोलियाँ बना कर सुरा और सुन्दरी का उपभोग करने की प्रथा क देशों में प्रचलित थी। खुद भारत में यह प्रथा कितनी मजबूत थी, यह हम यान के प्रसंग में दिखा आये हैं। सूफी-मत में इन विभिन्न लक्षणों का समागम रे-धीरे हो गया, जिसके ताने-बाने को खोलना अब सम्भव नहीं है। "सूफी-मत के भव के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उसके मादन-भाव का उदय सामी तियों के बीच में हुआ और फिर अपनी पुरानी भावना और धारणा की रक्षा के ए सारग्राही सूफियों ने अन्य जातियों के दर्शन तथा इतिहास से सहायता ले, रे-धीरे, एक नवीन मत का सृजन किया।"[2] यह निष्कर्ष, हम समझते हैं, काफी पूर्ण है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि मादन-भाव की परम्परा भारत में हीं थी।

डॉक्टर ताराचन्द ने सूफी-मत के पाँच उद्गम माने हैं : (१) कुरान, (२) मुहम्मद जीवन, (३) ईसाई-मत और अभिनव-अफलातूनी मत, (४) हिन्दुत्व और बौद्ध तथा (५) ईरान में प्रचलित जरथुस्त्र-धर्म। किन्तु, अभिनव-अफलातूनी मत के

---

[1] "नबी ने कहा है, 'तखल्लिकू-बि-इखलाक़िल्लाह' अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणों का विकास कर।"—इकबाल ('सीक्रेट ऑव द सेल्फ' की भूमिका से।)

[2] श्री चन्द्रबली पाण्डेय—तसव्वुफ।

20.

भीतर से पड़नेवाला प्रभाव भी, वास्तव में, हिन्दू प्रभाव था, यह ध्यान में रख बात है।[१] इस मत ने सूफियों में वैराग्य की भावना जगायी और उन्हें साधु की ओर प्रेरित किया। ईश्वर से वियुक्त जीव की कल्पना तथा सर्वात्मव विचार भी इस्लाम को इसी मत से मिले। यह प्रभाव नवीं सदी में पड़ा, जब पुस्तकों का अनुवाद अरबी में किया जाने लगा था। तसव्वुफ पर सबसे अधिक हिन्दुत्व का ही माना जाना चाहिये, क्योंकि यह दुहरा था, अर्थात् एक तो के माध्यम से दूसरे सीधे हिन्दुस्तान से जानेवाले हिन्दू और बौद्ध सन्तों एवं के द्वारा।[२]

वेदान्त के मोक्ष और बौद्ध मत के निर्वाण के वजन पर ही सूफियों ने फना कल्पना निकाली और बुद्ध का आष्टांगिक मार्ग ही उनका "तरीका या सलूक" इसी प्रकार, सूफियों ने भारतीय योग के 'ध्यान' को "मराकबा" कह कर अपना भारतीय योगियों के चमत्कार ही सूफियों के यहाँ करामात या मोजज़ा कहलाने सूफियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता, सत्य और अपरिग्रह पर जो इतना जोर है उनमें माला जपने की जो प्रथा है, उन सब के पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में सबसे पक्षपात-रहित मत प्रोफेसर हुमायूं का है जिन्होंने अपनी पुस्तक, "आवर हेरिटेज" में लिखा है कि "सूफी-मत का कुरान में था, किन्तु, भारतीय विचारधारा का इस पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव

---

[१] 'इकबाल ऐज़ ए थिंकर' में डॉक्टर खलीफा अब्दुल हकीम ने तसव्वुफ भारतीय प्रभाव मानने में आगा-पीछा किया है। यह विचित्र बात है कि मु विद्वानों को यूनानी प्रभाव मानने में कोई हिचक नहीं होती, किन्तु, भा प्रभाव को स्वीकृत करने में वे हिचकने लगते हैं। इन पंक्तियों के लेख मुलाकात सन् १९५५ ई० में अरब के बृहस्पति डाक्टर ताहा हुसेन से हुई थी। लेखक ने जब यह कहा कि भारत में ईरान के रहस्यवाद का बोलबाला रहा, तब ताहा हुसेन बोल उठे, "लेकिन यह चीज तो पहले भा ही अरब और ईरान पहुँची थी। इसलिए, तसव्वुफ जब ईरान से भारत तब वह अपने ही घर लौटा था।"

[२] रावलिसन ने लिखा है कि जब अलेकजेंड्रिया व्यापार का केन्द्र थी, तब भारतीय और यूरोपीय व्यापारियों का पूरा मिलन होता था। इसी नगर अभिनव-अफलातूनी मतवाले यूनानी और भारतीय बौद्ध आपस में वि विनिमय करते थे। इस प्रकार, हिन्दू और बौद्ध विचारों का प्रभाव ई पर पड़ा। इस नगर का पतन ६४२ ई० में हुआ और तब व्यापार के ईरान में आ गये। ईरान में ही ज्योतिष, गणित और वैद्यक की भारतीय पु अरबी और फारसी में अनूदित हुई और, अनूदित रूप में ही, वे कारडोवा पहुँचीं, जहाँ से यूरोप के मध्यकालीन विद्यापीठों में उनका प्रचार हुआ।

है। इसके विकास में योगदान ईसाइयत, अभिनव-अफलातूनी मत, जरथुस्त्री मत और मैनिज्म से भी मिला। किन्तु, **बाह्य प्रभावों में से सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दू-धर्म एवं बौद्ध दर्शन से ही आया है।"** अन्यथा और कौन उपाय है जिससे इस शंका का समाधान किया जा सके कि हजरत मूसा के समय से सभी सामी धर्मों में ईश्वर और जीव के अलग-अलग होने की जो सुनिश्चित परम्परा चली आ रही थी, उसके विरुद्ध सूफी-मत व्यक्ति को ब्रह्म में विलीन करने पर उतना अधिक जोर क्यों देने लगा ?

इस प्रसंग को और भी अधिक सुस्पष्टता से सर चार्ल्स इलियट ने उपस्थित किया है।[1] उनका विचार है कि अभिनव-अफलातूनी मत के प्रभाव से तसव्वुफ का उद्‌भव मानना न्यायसंगत नहीं है।[2] मुहम्मद साहब के बहुत पहले से अरब, बगदाद और बलख का भारतवर्ष से गहरा सम्पर्क था। इसलिए, भारत का चिन्तन इस भूभाग में काफी प्रचलित रहा होगा। इलियट की सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि जीव और ब्रह्म के बीच एकता तथा जीव का यह दावा करने का भाव कि मैं ब्रह्म हूँ, किसी भी प्रकार अभिनव-अफलातूनी मत में नहीं खोजा जा सकता। किन्तु, यह भारतीय वेदान्त के लिए साधारण-सी बात थी। सूफी-मत, आरम्भ में, मद्धिम था, किन्तु, बाद में वह बहुत निर्भीक हो उठा। यह निर्भीकता सीधे हिन्दू-धर्म से आयी होगी। मनसूर सन् ९२२ ई० में "अनलहक" पुकारने के अपराध में फाँसी चढ़ा था और यह प्रमाणित है कि वह योग सीखने को भारत आया था। उसके बाद भी अनेक सूफी सन्त ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से भारत आये थे अथवा भारत के इतने समीप पहुँचे थे जहाँ उन्हें भारतीय ज्ञान और योग के गुरु मिल सकते थे। फरीदुद्दीन अत्तार हिन्दुस्तान भी आये थे और तुर्किस्तान भी गये थे। जलालुद्दीन रूमी का जन्म बलख में हुआ था, जहाँ एक समय बौद्ध मत का प्रधान केन्द्र था। सूफी कवि शेख सादी बलख, गजनी, पंजाब और गुजरात में घूमे हुए थे। दक्षिण के सुलतान मुहम्मद बहमनी ने हाफिज को भारत आने का निमंत्रण दिया था। जहाज के बर्बाद हो जाने से हाफिज भारत की यात्रा तो पूरी नहीं कर सके, किन्तु भारतीय विचारों से उनका भी अच्छा सम्पर्क था। इन सारी बातों से यह अनुमान अनायास निकल आता है कि अरब और ईरान में उन दिनों यह साधारण विश्वास था कि ज्ञान और योग की शिक्षा लेने के लिए भारत जाना आवश्यक है। और जो लोग भारत नहीं आ सकते थे, उनके भी कान भारतीय ज्ञान के लिए अवश्य खुले रहते होंगे और वे भी पुस्तकों के द्वारा भारत का ज्ञान अवश्य प्राप्त करते होंगे।

---

[1] हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म—तीसरी जिल्द।

[2] इस्लामी सूफीवाद पर अभिनव-अफलातूनी मत का प्रभाव है, यह मतवाद, विशेषतः, ई०जी० ब्राउन ('लिटररी हिस्ट्री ऑव पर्शिया' में) और आर०ए० निकोलसन ने (सिलेक्टेड पोयम्स फ्राम द दीवान आव् शम्स-तबरेज़ में) फैलाया है। सर चार्ल्स इलियट इसे गलत मानते हैं।

सूफियों के विश्वास

डॉक्टर बुकेट[१] ने, "डिक्शनरी ऑव् इस्लाम" के आधार पर सूफी-मत के विश् की जो सूची दी है, वह इस प्रकार है :—

१. अस्तित्व केवल परमात्मा का है ; वह प्रत्येक वस्तु में है और प्रत्येक परमात्मा में है।

२. दुनिया की हर चीज परमात्मा से निकलती है और परमात्मा के विना कि भी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

३. सभी धर्म व्यर्थ हैं। हाँ, उनका एक उपयोग है कि वे एक ही सत्य की इंगित करते हैं। इनमें से सबसे उपयोगी धर्म इस्लाम है जिसका सच्चा दर्शन सूफ़ी का दर्शन है।

४. पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों की सृष्टि परमात्मा ने की है।

५. मनुष्य के संकल्पों की प्रेरणा और निश्चयन परमात्मा करता है, अ मनुष्य अपने कर्मों में स्वाधीन नहीं है।

६. आत्मा शरीर के पिंजड़े में कैद है, किन्तु, पिंजड़ा पीछे बना और (आत्मा) पहले से ही मौजूद रहा है। पिंजड़े के टूटे विना पक्षी स्वाधीन न सकता। अतएव, मृत्यु काम्य है, क्योंकि मृत्यु के बाद ही आत्मा परमात्मा को करती है।

७. सूफी का मुख्य कर्त्तव्य ध्यान और समाधि है, प्रार्थना और नाम-स्मरण इन्हीं तरीकों से वह परमात्मा-मिलन की राह पर अग्रसर होता है।

डॉक्टर खलीफा अब्दुल हकीम[२] ने सूफी-मत के जो लक्षण बताये हैं, वे प्रकार हैं :—

१. सारी वास्तविकता एक है अर्थात् संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं, वह ही सत्ता का विस्तार है। प्रकृति के सभी रूप एक ही सत्य के विभिन्न पहलू हैं।

२. जैसे सभी चीजें एक ही तत्त्व से निकली हैं, वैसे ही, ये सब-की-सब उसी में लौट जाने को बेकरार हैं।

३. सत्य का ज्ञान बुद्धि से भी हो सकता है यदि बुद्धि खंडित या पक्षपातपू हो। किन्तु, तर्क उसमें सहायक नहीं हो सकता। तर्क से वास्तविकता का सार नहीं होता है। वास्तविकता के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए बुद्धि की अपेक्षा भावना अनुभूति अधिक विश्वसनीय हैं।

४. मनुष्य-जीवन का असली लक्ष्य यह है कि धार्मिक अनुभूतियों के द्वारा अन्तिम सत्य का साक्षात्कार करे और उस सत्य के साथ एकाकार हो जाय।

---

[१] Comparative Religion.

[२] Iqbal, As A Thinker.

५. यह धार्मिक अनुभूति ही प्रेम है। प्रेम के भीतर, स्वाभाविक रूप से, सत्य का ज्ञान निहित रहता है।

६. सभी धार्मिकता और ऊँची नैतिकता का आधार प्रेम है। प्रेम के बिना धर्म और नीति, दोनों निर्जीव हो जाते हैं। प्रेम के प्रकाश के बिना बुद्धि भी अन्धकार में टकती रहती है।

सूफी साधक ईश्वर को निराकार भी मानते हैं और साकार भी। वे ईश्वर को नुष्य की आत्मा और मानव-जीवन को उस आत्मा का आवरण मानते हैं। प्राय:, लेक साधक ईश्वर की कल्पना परम सुन्दरी नारी के रूप में करता है जिसपर वह नक्त होना चाहता है। सूफी-मत में परमेश्वर साकार सौन्दर्य है और साधक साकार म। इस सम्बन्ध की व्याख्या इकबाल के एक शेर में बड़ी ही सफाई के साथ हुई है, समें साधक परमेश्वर से कहता है कि "यह भी कैसी स्थिति है कि सौन्दर्य भी पर्दे छिपा हुआ है और प्रेम भी आवरण के नीचे है। या तो खुद तू ही पर्दे से बाहर जा, या फिर मेरे ही ऊपर का आवरण हटा दे।"[1] यह पुरुष-साधकों की बात है। न्तु, सूफी-सम्प्रदाय में साधिकाएँ भी हुई हैं, जो परमात्मा को अपना पति समझती । इनमें से, बसरे की **राबिया** नाम की साधिका बहुत प्रसिद्ध हुईं। इनका देहान्त सलेम में सन् ७५३ ई० में हुआ, ऐसा कहा जाता है। सूफी-मत में विचारों की जो ाधीनता थी, उसका प्रमाण राबिया के वचनों में भी मिलता है। कहते हैं, एक बार न्होंने कहा था कि "मेरा हृदय परमात्मा के प्रेम से ऐसा लबालब भर गया है कि समें नबी के भी प्रेम के लिए जगह नहीं रही, फिर शैतान के प्रति घृणा की तो बात क्या है।" बरजख की लम्बी अवधि की कल्पना से घबरा कर वे कहती हैं, "अय ो आत्मा! तू कभी नहीं जगने की आशा में कब तक सोती रहेगी और कब सूर की वाज सुन कर तू कयामत का सामना करने को खड़ी होगी।"[2]

सौन्दर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति, यह सूफी-मत के सिद्धान्तों का निचोड़ है। इसी की सिद्धि के लिए सूफियों ने इश्के-मजाजी की भी छूट दी, क्योंकि इश्के-मजाजी भी इश्के-हकीकी हासिल हो सकता है। वैसे, सूफी-मत यती-वृत्ति, वैराग्य-साधना, न और संयम, सब पर जोर देता है।

सौन्दर्य और प्रेम के बाद सूफियों में संगीत की प्रधानता है, क्योंकि संगीत में मन केन्द्रित करके उसे ऊपर ले जाने की शक्ति होती है। उसका उपयोग सूफी सन्त माधि की सुगमता के लिए किया करते हैं।

मनुष्य के सीमित गुणों को सूफी "नासूत" कहते हैं और भगवान की निस्सीमता "लाहूत"। इसी प्रकार, जब तक मनुष्य मोक्ष अथवा ईश्वर-मिलन से दूर है, तब

हुस्न भी हो हिजाब में, इश्क भी हो हिजाब में,
या खुद आशकार हो, या मुझे आशकार कर। (बाले-जिबरील)

Influence of Islam on Indian Culture.

तक उसकी स्थिति "बका" की स्थिति समझी जाती है तथा जब वह मोक्ष अथवा मिलन को प्राप्त करता है, तब वह "फना" (विनाश, निःशेषता या निर्वाण) स्थिति में पहुँच जाता है। सूफियों के दो सम्प्रदाय हैं जिनमें से एक तो यह मान कि सृष्टि का उपादान-कारण प्रकाश है और दूसरा यह कि सृष्टि विचार से नि है। सूफियों में एक सम्प्रदाय और है जो हुलूल (अवतारवाद), इम्तिज़ाज (अंशाव वाद) और नस्खे-अरबा यानी आत्मा के आवागमन में विश्वास करता है।

सूफियों का उद्देश्य वस्ल यानी मिलन अथवा फना यानी ब्रह्म-मिलन और नि है। किन्तु, इस मार्ग पर चलने के लिए सूफी-मत में गुरु का होना आवश्यक माना है। गुरु (पीर या शेख) की पूजा का तसव्वुफ में इतना महत्त्व है कि जिसने सन्त को अपना पीर नहीं बनाया, उसके बारे में यह समझा जाता है कि उसका शैतान है। पीर और मुर्शिद (शिष्य) के सम्बन्ध के बिना सूफियों में साधना का अस्तित्व ही नहीं है।

मौलिक इस्लाम से भेद

सूफी-मत के उद्गम-बिन्दु चाहे अन्य धर्मों में भी रहे हों, किन्तु, सम्प्रदाय के में उसका संगठन इस्लामी देशों में ही हुआ। अरब के नगरों में यहूदी-मत, ईसा हिन्दुत्व, बौद्ध मत और इस्लाम, इन सब धर्मों का मिलन हुआ था। ईरान में इ का सम्पर्क जरथुस्त्रवाद से भी हुआ। सूफी-मत इन सब का समन्वय या योग तो कहा जा सकता, किन्तु, उसपर इन सब का कुछ-न-कुछ प्रभाव था। वह ऐसा म जो सम्प्रदायगत होकर भी असाम्प्रदायिक हो गया। उसने नबी की अवज्ञा की, कु की अवज्ञा की और उस घाट से उमड़ कर बाहर फैलने लगा जिसमें इस्लाम को रखने की आशा की गयी थी। संगीत को नबी ने प्रश्रय नहीं दिया था, किन्तु मत संगीत को अपना साधन मानने लगा। यों भी, औसत सूफी कवि ही हुआ थे और कवियों को कुरान ने कोई अच्छा स्थान नहीं दिया है, जिसके पीछे अफ का असर रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतएव, सूफी सन्त और म काजियों और मुल्लाओं की नजर में काफिर समझे जाने लगे और उन्हें प्राण-दंड की प्रथा-सी चल पड़ी। ईश्वर-प्रेम के कारण शहीद होने वाले सूफी सन्तों में म अल-हल्लाज का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। उमंग में आकर उन्होंने अनलहक (अहं ब्रह् का नारा दिया और, बदले में, सुन्नी हुकूमत ने उनकी गरदन उड़ा दी।[1] इसी प्र भारतवर्ष में सरमद नामक एक सूफी सन्त को औरंगजेब ने मरवा डाला क्योंकि

---

[1] इकबाल मानते हैं कि पूर्ण मनुष्य वह है जो परमात्मा के अधिक-से-अधिक नि पहुँचा हुआ है। निकट आने पर (यानी अपने भीतर ईश्वरत्व का अधिक विकास करने पर) मनुष्य परमात्मा के अस्तित्व में विलीन नहीं होता, परमात्मा ही उसके भीतर विलीन हो जाता है। इकबाल ने दिखलाया है

[शेष अगले पृष्ठ

ईश्वर से एकाकार होने को अपना ध्येय मानते थे। अजब नहीं कि इन उत्पीड़नों से बचने की कोशिश में अरब और ईरान के सूफी, बहुत पहले से ही, भारत आते रहे हों। महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद से तो इस देश में उनका आना बिलकुल साधारण बात हो गयी।

भारतवर्ष में सूफियों के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं जिनके कारण इस देश पर सूफी-मत का व्यापक प्रभाव पड़ा है। पहला सम्प्रदाय सुहरवर्दिया कहलाता है जिसके प्रवर्त्तक सन्त जियाउद्दीन (१२ वीं सदी) थे। दूसरा सम्प्रदाय चिश्तिया कहलाता है जिसका प्रवर्त्तन हजरत अदब अब्दुल्ला चिश्ती ने किया था। ये गौरी की सेना के साथ भारत आये थे और अजमेर में रहते थे। निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरू और मलिक मुहम्मद जायसी इन्हीं की परम्परा में थे। कादिरिया-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक शेख अब्दुल कादिर जीलानी (१३ वीं सदी) माने जाते हैं जो बगदाद में रहते थे और नक्शबन्दिया-सम्प्रदाय के अग्रणी ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द थे, जो तुर्किस्तान में रहते थे। शाहजहाँ का साधु पुत्र दारा-शिकोह कादिरिया-सम्प्रदाय में दीक्षित था तथा बिहार में सूफी-मत का प्रचार करनेवाले फकीर मखदूमशाह भी इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[1]

□□□

[पिछले पृष्ठ का शेष।]

मौलाना रूमी भी इसी विचार के पोषक थे। इकबाल का निम्नलिखित शेर इसी भाव का द्योतक है जिस पर मुल्लाओं का आज भी अच्छा विचार नहीं है।

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता, तेरी रज़ा क्या है।

[1] उत्तर भारत की सन्त-परम्परा।

प्रकरण ३

मुस्लिम-आक्रमण और हिन्दू-समाज

अचरज की बातें

मुसलमानी आक्रमण के बाद भारत वर्ष पहले-पहल पराधीन हुआ और पहले इस देश पर ऐसे लोगों का आधिपत्य हो गया जो यहाँ के धर्म से अपने धर्म को एका करना नहीं चाहते थे, बल्कि, जिनकी कोशिश थी कि भारतीय जनता ही अपना छोड़ कर मुसलमान हो जाय। सिन्ध पर मुसलमानों का अधिकार सन् ७१२ई० में हो गया था। मुहम्मद गौरी ने दिल्ली को सन् ११९२ ई० में जीता। इस प्रकार, हिन्दु को और नहीं तो चार-पाँच सौ साल की चेतावनी तो मिल ही गयी थी। फिर इन ने मुसलमानी आक्रमण से बचने की तैयारी क्यों नहीं की ?

दूसरा आश्चर्य यह है कि भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान पराजय सन् ११९२ ई० में हुई, काशी का पतन सन् ११९४ ई०में हुआ, और ११९६-९७ में बंगाल मुसलमानों के अधीन हो गया। पेशावर से लेकर बंगाल तक विजय आठ-दस साल में पूरी हो गयी, यह बात समझ लेने पर भी, ठीक से, सम नहीं आती है। उन दिनों रेल और वायुयान नहीं थे और सड़कें भी थोड़ी खराब ही रही होंगी। इस पर भी तुर्रा यह है कि मुस्लिम आक्रामक दो-चार फौज लेकर हिन्दुस्तान में नहीं आते थे। बाबर सिर्फ बारह हजार आदमी हिन्दुस्तान आया था। सन् ११९९ ई० में बख्तियार खिलजी ने उदन्तपुरी, (शरीफ) पर चढ़ाई केवल दो सौ सवारों को लेकर की थी। और "बंगाल के इति के बारे में मुस्लिम लेखकों की चलायी हुई यह कहानी प्रसिद्ध है कि सिर्फ अठ सवारों के साथ, जिन्हें लोग घोड़े बेचने वाले समझते रहे, बख्तियार के नदिया के राजमहल के रक्षकों पर एकाएक हमला कर दिया और राजा लक्ष सेन महल के दूसरी तरफ से भाग निकला।" (जयचन्द्र)। जहाँ ऐसा हुआ, वहाँ भी मुस्लिम फौजें बड़ी तायदाद में नहीं आयी थीं।

तो राजाओं ने, जगह-जगह, उनका सामना क्यों नहीं किया ? अथवा जनता ही, स्थान-स्थान पर, उन्हें बाधा क्यों नहीं पहुँचायी ? क्या दिल्ली से मुर्शिदाबाद कोई सुरंग थी जिसके भीतर से आक्रामकों की सेना छिपकर निकल जाती मुट्ठी भर मुसलमान आदमियों के इस विशाल जंगल को आनन-फानन जीत कर पर राज्य करने लगे, इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि इस देश के लोगों ने सामना नहीं किया।

हिन्दू हारे क्यों ?

हिन्दुओं की पराजय का कारण बतलाते हुए, अक्सर, कहा जाता है कि हिन्दू इसलिए हारे कि वे गर्म देश में रहते थे और मांस खाना उन्होंने छोड़ दिया था। इसके विपरीत, मुसलमान ठंडे देश से आये थे और मांसाहारी होने के कारण उनमें शारीरिक शक्ति भरपूर थी। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि युद्ध में हिन्दू अपने लस्टम-पस्टम हाथियों का भरोसा रखते थे जो फुर्तीलि घुड़सवारों के मुकाबिले में निकम्मे निकलते थे। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'इतिहास-प्रवेश' में इन दोनों ही बातों का खंडन किया है और यह वताया है कि शाकाहार और हाथी, इन्हें बदनाम करना व्यर्थ है। **हिन्दुओं की पराजय इसलिए हुई कि उनका राजनैतिक जीवन मन्द हो गया था।**

असल में, पतन तो इस देश का हर्षवर्द्धन के बाद ही आरम्भ हो गया था, क्योंकि उसके बाद चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर भारत में कोई राजा नहीं बैठ सका। केन्द्र की शक्ति टूट गयी और कोई किसी का रोकनेवाला न रहा। परिणाम यह हुआ कि सारे देश में छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए और वे, आपस में ही, युद्ध करने को अपना परम कर्तव्य मानने लगे। अपना राज्य और अपनी राजधानी राजाओं को इतनी प्यारी हो उठीं कि देश का अस्तित्व ही वे भूल बैठे। आज भी, कमजोर प्रजातंत्री देशों में जब कोई व्यक्ति या दल स्थापित सरकार को नहीं चाहता है, तब वह एक विचित्र प्रकार की दलील देता है। "हम देश की रक्षा क्यों करें? यह किसका देश है? मेरा या उनका? पहले यह फैसला हो जाय कि यह मेरा देश है, तब मैं इसकी रक्षा के लिए काम करूँगा।" तत्कालीन राजाओं के भी कुछ ऐसे ही भाव थे। भारत का अर्थ उनका अपना राज्य था। फिर, वे राज्य से वाहर जाकर क्यों लड़ते? वाहर तो उनका अपना नहीं, किसी दूसरे राजा का राज्य पड़ता था।

प्रायः, प्रत्येक राजा को प्रत्येक दूसरे राजा से कुछ-न-कुछ शिकायत थी, जिसके कारण, कोई भी चार राजे एक राजा का साथ देने को तैयार नहीं थे। पृथ्वीराज और राणा साँगा को कुछ राजाओं का जो सहयोग प्राप्त हो गया था, उसे हिन्दू-स्वभाव के अपवाद का ही उदाहरण समझना चाहिये।

'जय सोमनाथ' नामक उपन्यास में श्री क० मा० मुन्शी ने लिखा है कि जब गजनी का अमीर सोमनाथ पर चढ़ाई करने चला, तब उसे खबर मिली कि झालोर के राजा वाक्पति राज अगर मित्र न बनाये गये तो वे अमीर की सेना को काफी कष्ट दे सकते हैं। अमीर ने मुलतान के अजयपाल को अपना दूत बनाकर वाक्पतिराज के यहाँ भेजा और उन्हें आश्वासन दिया कि अमीर उनके राज्य पर चढ़ाई करना नहीं चाहता है। वाक्पति राज अमीर की बात मान गये और लड़ाई में तटस्थ रहने का उन्होंने वचन भेज दिया। इसके बाद, जब यह निश्चय हुआ कि वल्लभी के राजा भीमदेव के नेतृत्व में राजपूत वीर अमीर का डट कर सामना करेंगे और सोमनाथ के मन्दिर को भ्रष्ट नहीं होने देंगे, तब भीमदेव ने अपने मंत्री को वाक्पतिराज के यहाँ सहायता की माँग

के लिए भेजा। सोमनाथ मन्दिर की रक्षा के लिए सहायता की माँग की जाने वाक्पतिराज ने कहा—"अभी परसाल की ही बात है कि मैं मारवाड़ पर चढ़ाई क चाहता था और उसके लिए मैंने भीमदेव से मदद माँगी थी। किन्तु, भीमदेव ने कहकर सहायता देने से इनकार कर दिया कि मारवाड़ उसका नातेदार है। आज मु वह मदद क्यों माँगता है? अपनी विपद् वह आप झेले।"

ठंढे देशों के मांसाहारी लोग भारत में पहले भी आये थे, किन्तु, उस समय में किसी-न-किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता कायम थी और देश की एकता कहीं-न- प्रत्यक्ष खड़ी थी। इस एकता के रहते हुए, किसकी मजाल थी कि भारत को बनाता? आदमी कमजोर पहले होता है, पराजय उसकी वाद को होती है। देश एकता पहले टूटती है, दासता उसपर बाद को आती है। मुसलमान सिन्ध में बहुत दिनों से बैठे थे और लूटमार के द्वारा वे भारत से कुछ ले भागने के आदी रहे थे। किन्तु, देश की एकता में जब तक थोड़ा भी दम रहा, वे सम्पूर्ण भारत जीतने का मनसूबा नहीं बाँध सके। हाँ, जब उन्होंने देख लिया कि अब इस देश किसी की वात कोई भी मानने को तैयार नहीं है, सब आपस में ही लड़ रहे हैं, अपने-अपने राज्य की सीमा को ही भारतवर्ष की सीमा मान बैठे हैं और भारत एकता का भाव पूर्ण रूप से लुप्त हो चुका है, तब वे देश पर जोर से चढ़ आये विना किसी दिक्कत के यहाँ के सुलतान बन बैठे। मुसलमानी आक्रमण के राजाओं की मनोवृत्ति कैसी थी, इसका भी उदाहरण 'जय सोमनाथ' में आया है, घोघा राणा का प्रपौत्र सामन्त राजा भीमदेव से कहता है कि "चालुक्यराज! लगता है कि क्षुद्रबुद्धि और पारस्परिक विरोध में मस्त अपने राजाओं को मारने लिए ही भगवान सोमनाथ ने इस अमीर को भेजा है।" एकता जब खिड़की की से भाग गयी, तब आजादी को मुख्य द्वार होकर जाना ही था।

राजनीतिक चेतना का अभाव

हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अपनी सीमा के वाहर जाकर लड़ने की उनके परम्परा नहीं थी। "सबसे उत्तम रक्षा यह है कि आक्रामक पर उसके घर में ह करो", इस नीति पर हिन्दुओं ने कभी भी अमल नहीं किया। परिणाम यह हुआ रक्षापरक युद्ध लड़ने की उनकी आदत हो गयी। जब देश में केन्द्रीय सत्ता कायम यह रक्षापरक युद्ध देश के लिए लड़ा जाता था। जब केन्द्र टूट गया, रक्षापरक लड़ा अपने क्षुद्र राज्यों के लिए लड़ी जाने लगीं। "राजपूतों की जिस वीरता की बड़ी प्र की जाती है, वह वीरता सदा रक्षापरक युद्धों में ही प्रकट हुई। वह अपना अन्त देख निराश होकर मरने-मारने पर तुले हुए आदमियों की वीरता होती थी। महत्त्वाकांक्षा की वह प्रेरणा, विशाल दृष्टि का वह स्वप्न, वह ऊँची साध कभी न हों थीं, जो मनुष्यों को नयी भूमि खोजने और जीतने के खतरे उठाने के लिए आगे बढ़ है। बेशक, कायर बनकर अधीनता मानने की अपेक्षा वैसी वीरता की मौत मरना

अच्छा था। किन्तु, वह बहादुरी का मरना ही था, बहादुरी का जीना नहीं कहा जा सकता था।"[१]

राजे तो ऐसे गये, और प्रजा को यह ज्ञान ही नहीं था कि यह देश उसका है। उन दिनों देश का जीवन दो तबकों में बँटा हुआ था। एक तबका उनका था जो राजे थे, शासक थे, अमले, कारिन्दे या दरबारी थे। जिन्दगी के असली मजे इन्हीं लोगों को नसीब थे। उनमें शिक्षा भी थी, संस्कृति भी और धन-ऐश्वर्य भी। सल्तनत से सरोकार इसी तबके का था। बाकी जनता इस तबके से दूर थी और मेहनत-मजदूरी करके अपना भी पेट पालती थी और इन विलासियों के आराम के लिए भी पैसे देती थी। किन्तु, जैसे ऊपरवाले तबके को इस नीचे वाले तबके के लिए कोई दर्द नहीं था, वैसे ही, जनता के हृदय में भी राजाओं के लिए कोई सहानुभूति नहीं थी। "कोउ नृप होय हमहिं का हानी", यह बात तुलसीदास ने बाद में लिखी। किन्तु, यह भाव यहाँ की जनता में पहले से ही वर्त्तमान था।

मुसीबत के समय प्रजा राजा का साथ तभी दे सकती है, जब राज्य को वह अपना समझे और राजा के लिए उसके हृदय में आदर और प्यार हो। मुसलमानी आक्रमण के समय हिन्दुस्तान के राजे जुल्मी और प्रजा मजलूम थी। नतीजा यह हुआ कि बाहर से आनेवाले दुश्मनों का विरोध जनता ने नहीं किया, बल्कि, जनता के आदमी यदाकदा आक्रामकों के साथ हो गये। जब मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की, तब दाहिर ने अरब आक्रामकों का सामना तो डट कर किया, "किन्तु सिन्ध के इन अन्तिम राजाओं ने अपनी जाट और मेड़ प्रजा पर बड़े जुल्म किये थे। इसलिए, बहुत-से जाटों ने अरबों का साथ दे दिया।" (जयचन्द्र)

देश की जैसी हालत इस समय थी, बहुत-कुछ वैसी ही हालत एक बार फिर उस समय हो गयी, जब मुगल-साम्राज्य टूटने लगा और इस देश में अँगरेज अपना पाँव फैलाने लगे। नवाब वाजिदअली शाह की गिरफ्तारी किस आसानी से कर ली गयी, इसका वर्णन करते हुए प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी (शतरंज के खिलाड़ी) में लिखा है कि "नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये और सेना उन्हें अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मारकाट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहाये बिना नहीं हुई होगी।" जो हाल वाजिदअली शाह की गिरफ्तारी के समय था, वही हाल इस देश की प्रजा और राजा का उस समय रहा होगा, जब यहाँ मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ हुआ।

भारतवर्ष में पंचायत की प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही थी। गाँवों के लोग स्वावलम्बी और स्वतंत्र थे। राज्य से इनका इतना ही सम्बन्ध था कि जब-तब राजाओं के कारिन्दे कर वसूल करने को पहुँच जाते थे। उन्हें सत्कारपूर्वक विदा कर देने के

---

[१] इतिहास-प्रवेश।

बाद गाँव फिर अपने-आप में स्वतन्त्र हो जाते थे। सर्वत्र शान्ति थी, सर्वत्र भाग्य आधार लिये लोग निश्चिन्त जीते थे और गाँव के ऊँच-नीच का निपटारा भी वे ही कर लेते थे। स्वायत्त-शासन का प्रेम यहाँ के वासियों के रक्त में था। इसी प्रे कारण राजे अपनी स्वाधीनता चाहने लगे थे। इसी प्रेम के कारण प्रान्तों की से खटपट हो जाती थी।

स्वायत्त-शासन की इस अतिवृद्धि से हानि यह हुई कि हमारी ग्रामीण जनता दृष्टि संकीर्ण हो गयी और उसने गाँव की दुनिया से बाहर की बड़ी दुनिया में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। प्रान्त या देश के शासन से उसकी कोई दिलचस्पी नहीं गयी और उसने मान लिया कि खेती-वारी और साधारण वाणिज्य-व्यापार तथा कर्म के सिवा और कोई प्रश्न नहीं है, जिसकी ओर उसे उन्मुख होना चाहिये। पंचायतों को देश के बड़े कामों से सम्बद्ध करने का कोई तरीका निकला होता, अधिकारों को विकेन्द्रित करके जनता में यह भाव जगाया गया होता कि केवल ही नहीं, राज्य और सरकारें भी जनता के ही सहयोग से चलती हैं, तो सम्भव है जनता की दृष्टि विशाल होती और वह देश के भाग्य के विषय में उदासीन रहती। किन्तु, उस समय इतनी बात कोई सोच भी नहीं सकता था। राजा के प्रजा आहार थी। अतएव, जब राजाओं को आहार बनानेवाले लोग बाहर से गये, जनता ने कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया। बल्कि, वह थके सिपाहियों को बरग नीचे बैठा कर पानी पिलाने लगी, गौणतः, इसलिए कि राजाओं के बदले पंचायतों का कुछ भी नहीं बिगड़ता था; किन्तु, मुख्यतः, इसलिए कि प्यासों पानी पिलाना धर्म था, चाहे वे शत्रु ही क्यों न हों।

सर्वनाशी अन्धविश्वास

धार्मिकता की अति ने देश का विनाश किया, इस अनुमान से भी भागा नहीं सकता। और यह धार्मिकता भी गलत किस्म की धार्मिकता थी जिसका उद्देश्य सत्ता की खोज नहीं, प्रत्युत, यह विचार था कि किसका छुआ हुआ पानी पीना चाहि और किसका नहीं; किसका छुआ हुआ खाना खाना चाहिये और किसका नहीं; कि स्पर्श से अशुद्ध होने पर आदमी स्नान से पवित्र हो जाता है और किसके स्पर्श से हड्डी तक अपवित्र हो जाती है। बौद्ध धर्म हिन्दुत्व का निर्यात किया जानेवाला रूप गया था और बौद्धों की संगति में पहले ब्राह्मण भी विदेश जाते थे। सुमात्रा जावा में पौराणिक सभ्यता फैलाने को बौद्ध नहीं, ब्राह्मण ही गये होंगे। किन्तु, बौद्ध ब्राह्मण-संघर्ष के क्रम में ब्राह्मणों ने विदेश-यात्रा करनेवाले बौद्धों को नीचा दिखाने लिए धर्मशास्त्रों में यह विधान कर दिया कि विदेश जाना पाप है और इस पाप मनुष्य सदा को पतित बन जाता है। फरिश्ता ने लिखा है कि पश्चिम में अट हिन्दुओं की अटक बन गया था और उससे आगे जानेवाला हिन्दू पतित समझा जाता था। यह अन्धविश्वास, शायद, सिन्ध पर मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने के बा

प्रचलित हुआ होगा। सिन्ध और उसके आस-पास मुसलमानों की प्रभुता को फैलते देख कर ब्राह्मणों को यह नहीं सूझा कि राजाओं को इस खतरे से आगाह करें अथवा जनता को इस विपत्ति से भिड़ने के लिए तैयार करें। उलटे, उन्होंने विष्णु-पुराण में कल्कि-अवतार की कथा घुसेड़ दी और जनता को यह विश्वास दिलाया कि "सिन्धु-तट, दाविकोर्वी, चन्द्रभागा तथा कश्मीर प्रान्तों का उपभोग व्रात्य, म्लेच्छ और शूद्र करेंगे। वे अल्प कृपा और बहुत कोप करने वाले होंगे। सदा अनृत धर्म में रुचि रखनेवाले और स्त्री, बालक तथा गायों का वध करनेवाले होंगे। तब शम्बल-ग्राम के विष्णुयश नामक प्रमुख ब्राह्मण के घर में वासुदेव कल्कि का अवतार होगा और वे सब म्लेच्छों का उच्छेद तथा ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना करेंगे।"[1]

जो वस्तुएँ परिश्रम और पुरुषार्थ से प्राप्त होती हैं, उनकी याचना के लिए भी देवी-देवताओं से प्रार्थना करने का अभ्यास हिन्दुओं में बहुत प्राचीन था। अब जो पुराणों का प्रचार हुआ तो वे देश-रक्षा, जाति-रक्षा और धर्म-रक्षा का भार भी देवताओं पर छोड़ने लगे।

सिन्ध पर अरब-आक्रमण का वर्णन करते हुए श्री जयचन्द्रजी ने लिखा है कि देवल में एक बड़ा बौद्ध मन्दिर और विहार था, जिसके शिखर पर ऊँचा झण्डा फहराता था। सिन्धियों को विश्वास था कि उसमें जादू है और जब तक शिखर पर झण्डा फहराता रहेगा, तब तक देवल नगर की क्षति नहीं होगी। किन्तु, अरबों ने गुलेल से पत्थर मार कर शिखर को तोड़ डाला। शिखर के टूटते ही सारी सिन्धी जनता की हिम्मत टूट गयी। अरबों ने देवल के सभी पुरुषों को मार डाला ओर विहार की सात सौ भिक्षुणियों को बाँदी बना लिया।

सोमनाथ मन्दिर का ध्वंस करने के पूर्व भी महमूद गजनवी ने अनेक मन्दिरों का विनाश किया था। लेकिन, सोमनाथ मन्दिर के पुजारी इस विश्वास में थे कि अन्य देवताओं पर सोमनाथ की कृपा नहीं रहने से ही उनके मन्दिरों का तोड़ा जाना सम्भव हुआ है। जब महमूद को यह खबर मिली, उसने ठान लिया कि सोमनाथ को तोड़कर वह हिन्दुओं के इस विश्वास को उन्मूलित करेगा कि पत्थर का देवता शक्तिशाली होता है। महमूद सोमनाथ सन् १०२५ ई० की जनवरी में पहुँचा। मन्दिर की रक्षा के लिए सेना आ जुटी थी, लेकिन, हिन्दू इस विश्वास में आनन्द मना रहे थे कि मुसलमानों का सफाया करने के लिए ही सोमनाथजी ने उन्हें बुलाकर इकट्ठा कर लिया है। सोमनाथजी की रक्षा करने के प्रयास में कोई ५० हजार हिन्दू मन्दिर के द्वार पर मारे गये और मन्दिर तोड़कर महमूद ने कोई दो करोड़ दीनार की सम्पत्ति लूट ली।

सुबुक्तगीन और जयपाल शाहि के बीच सन् ९८६ ई० में जो लड़ाई हुई, उसमें हिन्दू सेना बड़ी ही वीरता से लड़ी थी। कई दिनों तक संघर्ष के बाद भी हिन्दू जब

---

[1] देखिये, विष्णु-पुराण, अंश ४, अध्याय २४-९८।

नहीं थके, तब "हिन्दू सेना जिस चश्मे का पानी पीती थी, तुर्कों ने उसमें शराब दी। हिन्दू सेना शराब से गन्दे हुए सोते का पानी पीने को तैयार न थी, हार मान कर उसने सन्धि कर ली।" (जयचन्द्र)। जात-पाँत, छुआछूत और मिथ्या आडम्बरों को हिन्दुओं ने बहुत अधिक महत्त्व देना सीख लिया था। आदत उनका काल बन गयी।

महमूद गजनवी के समय हिन्दुओं की जो हालत थी, उसका विवरण देते हुए बैरूनी ने लिखा है, "मैंने कई बार सुना है कि जब (युद्ध में कैद हुए) हिन्दू दास कर अपने देश और धर्म में वापस जाते हैं, तब हिन्दू उन्हें प्रायश्चित्त-रूप में करने का आदेश देते हैं। फिर वे उन्हें गौओं के गोबर, मूत्र और दूध में नियत तक दबाये रखते हैं ·· फिर वे उन्हें वही मल खिलाते हैं। मैंने ब्राह्मणों से पूछा क्या यह सत्य है। परन्तु, वे इससे इनकार करते हैं और कहते हैं कि ऐसे लिए कोई भी प्रायश्चित्त सम्भव नहीं है।" (जयचन्द्र)।

ज्यों-ज्यों हिन्दुओं का साहस और पुरुषार्थ घटता जाता था, त्यों-त्यों उनकी बढ़ती जाती थी। उनका धार्मिक संस्कार विकृत हो गया था और वे मानने कि संसार में सबसे तुनुक चीज जनेऊ और जात है, जो एक बार गयी तो फिर नहीं लायी जा सकती है। फिर भी, हम सबसे श्रेष्ठ हैं, इस अहंकार की उनमें होती गयी। अलबैरूनी ने यह भी लिखा है कि "हिन्दू लोग समझते हैं कि उनके जैसा दूसरा देश नहीं, उनके राजाओं-जैसे दूसरे राजे नहीं, उनके धर्म-जैसा दूसरा नहीं और उनके शास्त्रों-जैसा दूसरा शास्त्र नहीं है। यदि तुम खुरासान और शास्त्रों और विद्वानों के सम्बन्ध में उनसे बात-चीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही मिथ्यावादी भी समझेंगे। वे अगर प्रवास करें और दूसरों से मिलें-जुलें तो उनकी प्रवृत्ति नहीं रहेगी, कारण, उनके पूर्वज ऐसे संकुचित विचारों के नहीं थे।" कि बाहरी लोगों से इतना मिलने-जुलने के बाद भी हिन्दुओं में ऐसे लोग आज भी मिलते हैं।

किन्तु, हिन्दू तो देश के बाहर कदम धरना ही पाप समझने लगे थे और ब्राह्मणों ही नहीं, श्रमणों का भी उनके पतन-काल में यही हाल था। यह मुगल-काल में भी विद्यमान था। अकबर ने सुजानसिंह हाड़ा को फौज लेकर के पार जाने को कहा। सुजानसिंह हाड़ा वीर पुरुष था। विद्रोहियों का तो नहीं हुआ, इस चिन्ता से वह लाचार हो गया कि काबुल के पार जाकर वह अपनी जात में कैसे रहेगा? निदान, उसने अपने दो बेटों को फौज देकर को दबाने को भेज दिया और फिर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, क्योंकि, समाज के विश्वास के अनुसार, ये दोनों लड़के काबुल जाते ही मुसलमान हो इस्लाम में दीक्षित चाहे वे भले ही न हुए हों। बच्चे भी क्या करते? उन्हें हो जाना पड़ा, क्योंकि काबुल जाकर वे समाज में फिर से वापस नहीं आ सकते थे।

की बाधा

एक दूसरी विचित्र कहानी "वीर-विनोद"[1] में मिलती है। कथा यह है कि शेर-से हारकर हुमायूँ जब ईरान भाग गया, तब वहाँ के बादशाह ने उसको शरण। बादशाह ने एक दिन हुमायूँ से पूछा कि आपने हिन्दुस्तान की वीर-जाति के विवाह-सम्बन्ध किया है या नहीं? इसपर हुमायूँ ने भारत की स्थिति बतलायी र यह कहा कि पठान तो हमारे शत्रु हैं और राजपूत हमसे सम्बन्ध नहीं करेंगे। तु, यह बात हुमायूँ के मन में अटक गयी। अतः, मरने के पूर्व, उसने अकबर को दिया कि वह राजपूतों को अपना मित्र बनाने के लिए उनके साथ विवाह-न्ध करने की चेष्टा अवश्य करे। हुमायूँ के इसी वसीयतनामे के अनुसार, अकबर राजपूत सरदारों से कहा कि वे अपनी बेटियाँ शाही खानदान में ब्याहें और शाही दान की बेटियाँ अपने यहाँ लें। किन्तु, अकबर का यह प्रस्ताव राजपूतों के गले उतरा। वे घबरा गये कि अगर एक मुसलमानिन घर में आ गयी तो, शास्त्रा-र, सारे खानदान का धर्म भ्रष्ट हो जायगा और सब-के-सब मुसलमान हो जायँगे। लिए, आपस में सोच-विचार कर उन्होंने यह निश्चय किया कि हम अपनी बेटी ही खानदान में भले ब्याह दें, किन्तु, शाही खान्दान की बेटी को अपने यहाँ नहीं वे।[2] यह बात राजपूतों ने इसलिए स्वीकार की कि ब्याही हुई बेटियों को शाही ल से बुलाकर वे फिर अपने घर नहीं ले जानेवाले थे।

"वीर-विनोद" की यह कहानी सच है या झूठ, इस बात की अभी परीक्षा नहीं है। किन्तु, अनुमान होता है कि इस तरह की कोई बात हुई होगी। मुहम्मद

---

[1] राजपूताने का यह इतिहास कविवर श्यामलदास ने महाराणा उदयपुर की आज्ञा से १९ वीं सदी में लिखा था। यह पुस्तक प्रकाशित है और पाँच जिल्दों में है।

[2] "आम राजपूत लोगों में इस बात का जिक्र इस तौर पर है कि हुमायूँ बादशाह की वसीयत के मुवाफिक बादशाह अकबर ने राजपूतों से कहा कि हमारे रिश्तेदार तो तुर्किस्तान में दूर रहते हैं और हम बड़े खानदानों के सिवा रिश्तेदारी नहीं कर सकते। तुम लोग हिन्दुस्तान में बड़े इज्जतदार और पुराने खानदानी हो, इसलिए, हमारी बेटियों के साथ शादी करना कबूल करो। जिस पर राजपूतों ने सोच-विचार कर कहा कि आपकी बेटियाँ तो हमारी सरदार हैं जिनके साथ शादी करना बेअदबी में दाखिल होगा और अपनी बेटियाँ हम लोग आपको ब्याह देंगे। इन लोगों का इस बात से यह मतलब था कि बादशाहों की बेटियाँ हमारे घरों में आयीं तो उनके बड़प्पन से परहेज में खलल आकर मुसलमान होना पड़ेगा। और हमारी बेटी बादशाह के घर में गयीं तो ज्यादा अन्देशे की बात नहीं है। इसलिए, राजा भारमल्ल (बिहारी-मल्ल) कछवाहे ने सबसे अव्वल अपनी बेटी बादशाह को दी।" (वीर-विनोद : द्वितीय भाग ; खंड १ ; पृष्ठ १७० की पाद-टिप्पणी से।)

हुसेन आजाद ने "दरबारे-अकबरी" के पृष्ठ ६१ और ६२ पर लिखा है कि हुमायूँ ईरान गया और शाह तहमास्प से उसकी मुलाकात हुई, तब एक दि बादशाह शिकार को निकले। वहाँ एक जगह बैठने पर हुमायूँ का पैर नंगी ज पड़ गया। इसे देखते ही उसके साथ के एक हिन्दुस्तानी सरदार ने अपनी पग कर उसका टुकड़ा हुमायूँ के पाँव के नीचे फैला दिया। इसका शाह तहमास्प प असर हुआ। उन्होंने पूछा कि बिरादर हुमायूँ! तुम्हारे साथ ऐसे जाँ-निसार, हलाल लोग थे, फिर, मुल्क तुम्हारे हाथ से कैसे निकल गया? बादशाह ने क भाइयों के हसद और अदावत ने काम खराब कर दिया। इसपर, बादशाह त ने कहा कि हिन्दुस्तान में दो फिरके के लोग बहुत हैं—एक अफगान और राजपूत। खुदा की मदद शामिल-हाल हो, तो अबकी दफा वहाँ पहुँचो तो अ को तिजारत में डाल दो और राजपूतों को दिलासा व मुहब्बत के साथ हाल करो।"

मुहम्मद हुसेन आजाद ने यह किस्सा अकबर-कालीन ग्रन्थ "मआसिरुल-उ से लिया है। इस कथा में राजपूतों के साथ ब्याह-शादी की बात नहीं आती। इससे इस अनुमान का आधार मजबूत होता है कि हुमायूँ ने अकबर के लि वसीयत छोड़ी थी, उसमें राजपूतों से मेल-जोल बढ़ाने की कोई बात जरूर रही और इस विचार पर हुमायूँ इसलिए आया होगा कि ईरान के बादशाह ने उ सलाह दी थी।

अकबर ने जब बिहारीमल्ल कछवाहे की बेटी से ब्याह किया, उस समय, राज्य बहुत छोटा था; उसकी शक्ति बहुत सीमित और उसकी उम्र भी अठारह के करीब थी। तो क्या उसने राजपूतों को नीचा दिखाने को यह ब्याह किया और क्या उसके मन में यह बात आयी ही नहीं कि ऐसे ब्याह के विरुद्ध राजपूतों क्रोध उबल सकता है? इस विवाह के विरुद्ध राजपूती क्रोध उबला। अकबर के जहाँगीर ने भी राजपूत युवती से विवाह किया, जो राजा भगवान दास की बेटी इससे अनुमान होता है कि विवाह के पूर्व ही राजपूतों की भावना शान्त कर दी थी; वे निरुत्तर बना दिये गये थे। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि हुमायूँ की गुलबदन बेगम, शाहजहाँ की बेटी जहाँआरा और औरंगजेब की बेटी जैबुन्निसा शहजादियाँ आजीवन क्वाँरी रह गयीं। कहीं यह, सचमुच ही, मुगलों और अ के बीच की खटपट और राजपूतों की धार्मिक कुण्ठा का परिणाम तो न था?

जाति से बड़ी जात

यदि भारत में मुसलमानी अत्याचार भयानक रहा, तो तत्कालीन राजपूती की कहानी भी कुछ कम लोमहर्षक नहीं है। कम-से-कम, राजपूतों के प्रसंग में तो कहा ही जा सकता है कि वे तुर्कों की तलवार को कुछ नहीं समझते थे। और यही है कि मुसलमान तलवार के जोर से नहीं बढ़े, भारतबासियों ने उनका साम

किया। इसी प्रकार, इस्लाम भारत में केवल खड्ग-बल से नहीं फैला। हिन्दू- में वेद-विरोधी आन्दोलन इस्लाम के उदय से, कम-से-कम, एक हजार वर्ष पहले छिड़ चुका था और बहुत-से लोग वेद, ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठानों में श्वास खो चुके थे। धर्म-परिवर्तन के अधिक आसान शिकार ये ही लोग हुए। ने बहुत-से ऐसे लोगों को भी अपने वृत्त में खींच लिया जो अछूत होने के अपमानित हो रहे थे। और बहुत-से लोग इसलिए भी मुसलमान हो गये, प्रायश्चित्त के नियम हिन्दुओं के यहाँ थे ही नहीं। हिन्दुत्व छुई-मुई-सा नाजुक हो गया था। इसलिए, गाँव के कुएँ में अगर मुसलमान पानी डाल देते तो सारा स्वतः, मुसलमान हो जाता और शास्त्रों के प्रहरियों को यह सूझता ही नहीं कि के समान मनुष्य भी शुद्ध किया जा सकता है। आक्रमण के रास्ते में गाय पड़ तो हिन्दुओं की, स्वतः, पराजय हो जाती थी। फौज की जद में अगर मन्दिर जाते तो हिन्दुओं को कँपकँपी छूटने लगती थी।

जात-पाँत-तोड़क मंडल के कार्याध्यक्ष श्री सन्तराम ने लिखा है कि मौलाना मुहम्मद मुरादाबादी के इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि तेरहवीं सदी में रतनजू एक व्यक्ति (जो, शायद, हूण या शक खानदान का था) कश्मीर के राजा सहदेव राजसभा में किसी ऊँचे पद पर काम करता था। हिन्दू-धर्म पर उसकी असीम थी और वह हिन्दू होना चाहता था। किन्तु, पंडितों ने उसे, किसी भी प्रकार, बनने नहीं दिया, क्योंकि यह बात ही अकल्पनीय थी। निदान, वह मुसलमान और उसके मरने के बाद उसका बेटा शाह मीर सहदेव को मार स्वयं राजा बैठा। जिन ब्राह्मणों ने रतनजू को हिन्दू बनने नहीं दिया था, उन सबको शाह ने बोरों में बन्द करवा के झेलम में डाल दिया। "श्रीनगर में जहाँ ये लोग गये थे, वह स्थान आज भी 'वट-मजार' के नाम से प्रसिद्ध है।"

बंगाल में जिस "काला पहाड़" नामक प्रतापी मुसलमान ने असंख्य बंगाली हिन्दुओं मुसलमान बनाया, वह स्वयं पहले हिन्दू था एवं ब्राह्मणों के अत्याचारों से बहुत कर ही वह मुसलमान हुआ था और मुसलमान होने के बाद उसने वही किया जो भिमानी पुरुष को करना चाहिये।

धार्मिक विश्वासों की विकृति के साथ हिन्दुओं की दूसरी कमजोरी उनका जात-पाँत रहता था। विपत्ति में यदि वैश्य है, तो राजपूत उसकी मदद नहीं करेंगे और विपत्ति यदि एक गोत्र का ब्राह्मण है, तो दूसरे गोत्रवाला ब्राह्मण अलग खड़ा रहेगा। यह हिन्दुओं का पहले भी था और, कहीं-कहीं, आज भी है। हिन्दू जनता के ये द्वेष ऐसे प्रौढ़ हैं कि उनकी कहावतें बनी हुई हैं।[१] ये कहावतें विनोद या

---

[१] लाला सन्तरामजी ने अपनी एक प्रचार-पुस्तिका में ऐसी कुछ कहावतें दी हैं, जिनमें से कुछ ये हैं :—

१. जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन क्या दरकार ?

[शेष अगले पृष्ठ पर]

मनबहलाव की चीजें नहीं हैं, बल्कि, यहाँ, उनके अनुसार आचरण करने का भी मौजूद है। जिस देश में मनुष्य मनुष्य नहीं होकर ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, या कहार समझा जाता हो, जिस देश के लोग अपनी भक्ति और प्रेम प अधिकार अपनी जात वालों का समझते हों और जिस देश की एक जात के दूसरी जात के विद्वान् को मूर्ख, दानी को कृपण, बली को दुर्बल, सच्चरित्र को और अपनी जाति के मूर्ख को विद्वान् और पापी को पुण्यात्मा समझते हों, की स्वतन्त्रता और समृद्धि के विषय में यही कहा जा सकता है कि "रहिबे को है, गयी तो अचरज कौन ?"

शास्त्रों का अत्याचार केवल इतना ही नहीं था कि उन्होंने खाने-पीने, फिरने, मिलने-जुलने और आने-जाने पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये थे अनुसार आदमी की जात, बात की बात में, चली जाती थी। उनका इससे अत्याचार, कदाचित्, यह था कि जाति-भ्रष्ट व्यक्ति को फिर से जाति में मि उन्होंने कोई उपाय नहीं निकाला था। मनु और याज्ञवल्क्य-स्मृतियों में जा मनुष्य को जाति में लाने का कोई प्रबन्ध नहीं था। यह प्रबन्ध पहले-पहल स्मृति" में किया गया, जिसमें केवल ९६ श्लोक हैं और जो, शायद, दसवीं लिखी गयी थी। अनुमान यह है कि सिन्ध-प्रदेश के मुसलमानों के हाथ में के बाद जब पश्चिमोत्तर भारत की जनता धड़ल्ले से मुसलमान बनायी जाने उसे समाज में वापस आने की सहूलियत देने के लिए, यह स्मृति आनन-फानन गयी।[1] किन्तु इस स्मृति का महमूद गजनवी के समय व्यापक प्रचार नहीं और उस समय भी, सामान्यतः, हिन्दू यही मानते थे कि जिसके शरीर पर के छुए हुए पानी का छींटा पड़ गया, वह किसी भी प्रकार, हिन्दू नहीं रह अलबेरूनी के विवरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय पतित जात में फिर से मिलाने का रिवाज हिन्दुओं के यहाँ नहीं था। शाही वं राजा जयपाल जब महमूद गजनवी के हाथों कैद हुआ तो कैद से निकलने उसने समाज में वापस आना अनुचित समझा और, प्रायश्चित्त-स्वरूप, वह

[पिछले पृष्ठ का शेष]

२. खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम्, जब मित्रम् तब दगीदगा।

३. पीताम्बर छाजो भलो, साबत भलो न ठाट।
और जात शत्रू भलो, मित्र भला नहीं जाट॥

[1] इस बात का एक उदाहरण तो हमने अपने समय में भी देखा कि जो दयानन्द के कहने से नहीं चेते, राममोहन राय के कहने से नहीं चेते, मालवीय के कहने से नहीं चेते, वे ही नोआखाली की दुर्घटना के सम उठे कि मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट की गयी हिन्दू स्त्रियाँ भी हिन्दू ही हैं, ज्यों का त्यों, सुरक्षित है। अतएव, उन्हें समाज में वापस ले लेने में नहीं है।

जलकर मर गया। एक प्रायश्चित्त की प्रथा के प्रचलित न रहने से हिन्दुओं की कितनी हानि हुई, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

ब्राह्मण-बौद्ध-विद्वेष

ब्राह्मणों और बौद्धों का सम्बन्ध कितना कटु था, यह पहले के एक प्रकरण में दिखलाया जा चुका है।[1] उनके बीच साँप और नेवले का सम्बन्ध हो गया था। ब्राह्मणों ने कहावत चला दी थी कि जो व्यक्ति मरते हुए बौद्ध के भी मुख में पानी देता है, वह नरक में पड़ता है। अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध में जैन और बौद्ध कुछ अधिक थे, अतएव, ब्राह्मणों ने इन प्रान्तों में जाने की, धार्मिक तौर पर, मनाही कर दी थी।[2]

यह भी कहा जाता है कि बौद्धों के खिलाफ मुसलमानों को ब्राह्मण भड़काया करते थे और ब्राह्मणों के खिलाफ बौद्ध। बौद्ध चाहते थे कि मुसलमान ब्राह्मणों को नष्ट कर दें तो अच्छा हो। ब्राह्मण चाहते थे कि इस बहाने अगर बौद्ध ही समाप्त हो जायँ तो हमारी नाक बचे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि विहार पर बख्तियार खिलजी द्वारा आक्रमण करने के पीछे नालन्दा के कुछ बौद्धों का षड्यन्त्र था। बंगाल के पाल राजे बौद्ध, किन्तु, सेन राजे हिन्दू थे। सेन-वंशी राजे बौद्ध धर्म के प्रचण्ड शत्रु हुए, यह मानी हुई बात है। नालन्दा सेन राजाओं के अधीन था। सेन राजाओं का कर्त्तव्य था कि नालन्दा की रक्षा के लिए कुछ उपाय करते। किन्तु, नालन्दा का विहार जलकर खाक हो गया और सेन राजे दूर पर अपने महल में सोते रहे। कुछ ऐसा ही बर्ताव बौद्ध श्रमणों ने सिन्ध में किया था जब वहाँ दाहिर के साथ मुहम्मद-बिन-कासिम की लड़ाई चल रही थी। श्री जयचन्द्रजी ने लिखा है, "दाहिर के एक भाई ने, (दुश्मन का) सख्त मुकाबला किया, परन्तु, जनता का एक बड़ा अंश श्रमण था। वे तमाशबीन बने रहे।" श्रमण और ब्राह्मण एक दूसरे को कटवाने के फेर में थे, किन्तु, मुसलमानी तलवार दोनों की गरदनों पर गिरी, बल्कि, श्रमणों पर तो इतने जोर से गिरी कि उनका सफाया ही हो गया।

इस प्रकार, हिन्दुओं ने जात-पाँत और धर्म की रक्षा की कोशिश में जाति और देश को बर्बाद कर दिया। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएँ थीं, उनमें सर्वप्रमुख बाधा यही जातिवाद था। जिस गौरव की अनुभूति के लिए मनुष्य राष्ट्रीयता का वरण करता है, उस गौरव की तृषा इस देश में जात-पाँत की अनुभूति में ही शमित हो जाती थी। जात अगर ठीक है, तो सब कुछ ठीक है। धर्म अगर बचता है, तो सब कुछ बचता है। इस भावना के फेर में हिन्दू इस तरह पड़े कि देश तो उनका गया ही, जात और धर्म की भी केवल ठठरी ही उनके पास रही। हिन्दुओं

---

[1] देखिये, 'क्रांति की गंगा में शैवाल' नामक प्रकरण।

[2] अंग-वंग-कलिंगेषु, सौराष्ट्र-मगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति। (सिद्धान्त-कौमुदी)

की इस स्थिति पर क्षोभ और करुणा से विचलित होकर विल डुराण्ट लिखते है "जात-पाँत के भेद-भावों से दुर्बल हो जाने के कारण ही हिन्दू जाति आक्राम सामने विवश होती गयी। आक्रामकों के प्रहार सहते-सहते उसकी अवरोध की का दिवाला निकल गया और जब आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं रहा, तब हिन्दू अलौकिक बातों में अपना त्राण खोजने लगे। अपने-आप को बहलाने अथवा देने के लिए उन्होंने इस दलील का आश्रय लिया कि स्वाधीनता हो या पराधी दोनों ही माया की वस्तुएँ हैं। जीवन क्षणभंगुर है। अतएव, व्यक्ति या समाज स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना, कदाचित् ही, आवश्यक कार्य हो। हिन्दू-जा क्लेशपूर्ण, भीषण इतिहास से जो शिक्षा निकलती है, वह यह है कि निरन्तर धानता बरते बिना सभ्यता की रक्षा नहीं की जा सकती। जातियों में शान्ति के प्रेम होना ठीक है, किन्तु, उन्हें अपनी बारूद को गीला होने देना नहीं चाहिये।'

---

१. आवर ओरियेंटल हेरिटेज।

प्रकरण ४

हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध

अत्याचार का दुष्परिणाम

अलबेरूनी ने लिखा है कि महमूद की चढ़ाई के समय हिन्दू धूलि-कणों के समान उड़ गये और जीवित लोगों के मुख में उनकी कहानी-मात्र शेष रही। यह भी कि तभी से वे मुसलमानों से अत्यन्त घृणा करने लगे।

अलबेरूनी ने सत्य हीं कहा है। हिन्दू जन्मजात अहिंसक थे। अनेक धर्मों का स्वागत करते-करते, वे धार्मिक मामलों में बहुत ही सहिष्णु हो गये थे। महमूद से पहले जो मुसलमान भारत में आये थे, उन्हें यहाँ के राजाओं ने अच्छा प्रश्रय दिया था। अगर कोई उनकी मस्जिदें तोड़ता, तो हिन्दू राजे अपराधियों को दण्ड देते थे तथा टूटी हुई मस्जिदों की मरम्मत अपने पैसे से करवा देते थे। लड़ाई और मार-काट के दृश्य तो हिन्दुओं ने वहुत देखे थे, उन्हें सपने में भी यह ख्याल न था कि दुनिया की एकाध जाति ऐसी भी हो सकती है जो मूर्त्तियों को तोड़ने और मन्दिरों को भ्रष्ट करने में ही सुख माने। जब मुस्लिम-आक्रमण के साथ मन्दिरों और मूर्त्तियों पर विपत्ति आयी, हिन्दुओं का हृदय फट गया और वे इस्लाम से तभी जो भड़के, सो अब तक भड़के हुए हैं।

भारत में इस्लाम का आरम्भिक इतिहास मार-काट, खूँरेजी, धर्म-परिवर्त्तन, निर्ममता और अन्याय का इतिहास है। मुसलमान एक आदर्श, एक धर्म और एक सुगठित समाज में जिस प्रकार आवद्ध थे, उससे उन्हें अपार नैतिक बल प्राप्त होता था। इसके विपरीत, हिन्दुत्व ढीला हो चुका था। हिन्दुओं के धर्म, आदर्श और सिद्धान्त के अनेक रूप थे। उन्हें एकता का भी वल नहीं था। फिर भी, भारत में इस्लाम की धाक उस आसानी से नहीं जमी, जिस आसानी से यूरोप में जमी थी।

जब खिलाफत की राजधानी दमिश्क में आयी (सन् ६७० ई०), उस समय अफगानिस्तान में हिन्दू-राज्य था। यह राज्य था तो छोटा, किन्तु, उसकी शक्ति सुसंगठित और सेना मजबूत थी। अरब के मुसलमान अफगानिस्तान पर कब्जा करना चाहते थे और काबुल पर चढ़ाइयाँ उन्होंने कई बार कीं। लेकिन, काबुल का हिन्दू-राज्य टस से मस नहीं हुआ। तब अरबों ने सिन्ध की ओर मुँह फेरा और सन् ७११ ई० में उसे जीत लिया। फिर भी, अरब सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके। "लगभग डेढ़ शताब्दी (६४४-७८६) तक भारत के पच्छिमी दरवाजों पर लगातार टक्करें मार कर अरब लोग केवल एक प्रान्त सिन्ध में ही घुस सके और अफगानिस्तान में घुसने या सिन्ध में आगे वढ़ने की उनकी सब चेष्टाएँ बेकार हुईं।" (जयचन्द्र)। आठवीं सदी के

आरम्भ में सिन्ध पर मुसलमानों का जो कब्जा हुआ, वह तीन सौ साल तक, ज्यों-त्यों, बना रहा। इस बीच इस्लाम का राज्य पिरेनीज से लेकर चीन तक फैल था, लेकिन, सिन्ध से दक्षिण मुसलमान नहीं जा सके थे। अन्त में, भारत पर मु विजय का रास्ता तुर्कों ने खोला। इस देश पर बार-बार चढ़ाइयाँ करके उन्होंने मुस्लिम-विजय को सम्भव बना दिया।

इस्लाम केवल नया मत नहीं था। यह हिन्दुत्व का ठीक विरोधी मत हिन्दुत्व की शिक्षा थी कि किसी भी धर्म का अनादर मत करो। मुसलमान मानते कि जो धर्म मूर्त्ति-पूजा में विश्वास करता है, उसे नेस्तनाबूद कर देना ही धर्म का बड़ा काम है। हिन्दू गोहत्या को सबसे बड़ा पाप समझते थे। मुसलमान गोभक्षक हिन्दुत्व इतना उदार था कि अनेक मतों के प्रति उदारता का बर्ताव करके उसने अपना बना लिया था। किन्तु, अब जो नया धर्म भारत में आया, वह प्रजा नहीं, का धर्म था और इस धर्म की चेष्टा यह थी कि हिन्दुत्व से दोस्ती न करके उसे ही भीतर आत्मसात् कर ले। अतएव, हिन्दुत्व इस्लाम को लील नहीं सका। इस्लाम से अपनी रक्षा करने में उसे भारी संकटों का सामना करना पड़ा। हिन्दु पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओं का। अतएव, इस्लाम के सांस्कृ आक्रमणों का उत्तर आक्रमण से देना हिन्दुत्व के लिए सम्भव नहीं था। परिणाम हुआ कि अपनी रक्षा के प्रयास में हिन्दुत्व, घोंघे की तरह सिकुड़ कर, अपनी खोल छिपने लगा। जात-पाँत के नियम उसने और भी कठोर बना लिये। लड़कियों बचपन में ब्याह आम बात हो गयी और छुआछूत की भावना और भी भयंकर उठी। सबसे विचित्र बात यह हुई कि इस्लाम के विरुद्ध हिन्दुओं की घृणा दबकर अन्तर्मन में चली गयी और इस की अभिव्यक्ति इस प्रथा में हुई कि मुसलमान का हुआ पानी पीने से भी हिन्दू का धर्म चला जाता है। पर्दे का चलन थोड़ा-बहुत से भी था, किन्तु, मुस्लिम-काल में यह प्रथा कुप्रथा में परिणत हो गयी।

सबसे पहले इस्लाम का प्रचार नगरों में आरम्भ हुआ, क्योंकि विजेता, मुस नगरों में ही रहते थे और उनका आतंक भी, प्रधानतः, वहीं था। कुछ यह भी हुआ कि अन्त्यज और निचली जाति के लोगों पर नगरों में सबसे अधिक अत्या था। ये लोग, प्रायः, नगर के भीतर बसने नहीं दिये जाते थे और बाहर से जब वे में आने लगते, तब उन्हें फटे हुए बाँस को पटक कर अपने आगमन की सूचना देते चलना पड़ता था, जिससे ऊँची जात के लोग उनकी छाया से बच सकें। इस्लाम जब उदार आलिंगन के लिए अपनी बाँहें इन अन्त्यजों और ब्राह्मण-पीड़ित जातियों ओर बढ़ायीं, ये जातियाँ प्रसन्नता से मुसलमान हो गयीं।

कश्मीर और बंगाल में तो लोग, झुण्ड-के-झुण्ड मुसलमान हुए। इन्हें किसी ने लाठी हाँककर इस्लाम के घेरे में नहीं पहुँचाया, प्रत्युत, ये पहले से ही ब्राह्मण-धर्म से हुए थे (देखिये प्रकरण, क्रान्ति की गंगा में शैवाल)। ये लोग हिन्दुत्व की उलझी

मस्या के रूप में बहुत दिनों से हिन्दुत्व से, कुछ-कुछ, अप्रसन्न चले आ रहे थे। जब लाम आया और सूफी-धर्म से इसका परिचय हुआ, इन्हें लगा जैसे यह इस्लाम ही का अपना धर्म हो। अरब और ईरान के मुसलमान तो यहाँ बहुत कम आये थे। ड़े पञ्चानवे तो वे ही लोग हैं, जिनके बाप-दादे हिन्दू थे। इन नये मुसलमानों ने हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किया।

म्प्रदायिक राज्य

भारत की अपनी परम्परा असाम्प्रदायिक राज्य की परम्परा थी। जैन, बौद्ध और दिक धर्मावलम्बियों के बीच खटपट यहाँ भी चलती थी, लेकिन, इस देश के राजे राज्य ओर से किसी भी धर्म का दलन नहीं करते थे, न यहाँ यही रिवाज था कि ज्य-धर्म से भिन्न धर्मों के माननेवाले लोगों को द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी का गरिक माना जाय। किन्तु, मुस्लिम-राज्य-काल में भारत की यह धर्म-निरपेक्ष ति समाप्त हो गयी। सुलतान, बादशाह और नवाब खुलकर मुसलमानों का व देने लगे और हिन्दुओं के साथ वही बर्ताव किया जाने लगा जो गुलामों के व किया जाता है।

जो जाति पराजित हो जाती है, उसके साथ गुलामों का-सा व्यवहार किया ही ता है, यह अनुभव संसार के, प्रायः, सभी देशों का रहा है। किन्तु, इस्लामी राज्य-में यह व्यवहार धर्म का अंग समझा जाता था। सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, स्लामी-राज्यतंत्र के अनुसार, सभी गैर-मुस्लिम जनता शत्रु है तथा उसकी संख्या और क्ति को समाप्त कर देना मुस्लिम शासक का प्रधान कर्त्तव्य है। ईसाइयों और हूदियों की धर्म-पुस्तकों को हजरत मुहम्मद भी धर्म-ग्रन्थ मानते थे, लेकिन, ये लोग भी इस्लामी-राज्य में समता का स्थान नहीं पा सकते थे।

इस्लामी राज्यतंत्र का सिद्धान्त यह था कि जो लोग अपना धर्म छोड़कर मुसलमान नहीं हो जाते अथवा जो लोग मुस्लिम-आक्रमणों का साथ नहीं देते या लड़ाई में तटस्थ रहते हैं, वे सारे-के-सारे लोग "ज़िम्मी" हैं। यानी ऐसे लोगों की सुरक्षा का ज़िम्मा मुस्लिम शासन लेने को तैयार था, लेकिन, इस शर्त पर कि ज़िम्मी लोग मुसलमानों के साथ बराबरी का दावा नहीं करेंगे, वे जिज़िया नामक वैयक्तिक कर चुकायेंगे और राज्य की सेवा में तत्पर रहेंगे।

हिन्दुओं को केवल जिज़िया देने से ही छुटकारा नहीं था। उन्हें अपनी पोशाक भी मामूली रखनी पड़ती थी। वे घोड़ों पर चढ़कर मुसलमानों के सामने नहीं निकल सकते थे, न शस्त्र धारण करने का उन्हें अधिकार था। अपने धर्म-कर्म भी हिन्दुओं को इस चौकसी से निभाने पड़ते थे कि मुसलमान उनसे कहीं रुष्ट न हो जायँ।

सर यदुनाथ सरकार ने जब यह बात कही थी कि किसी मुसलमान को दूसरे धर्म में ले जाने का काम, शरीयत के अनुसार, घोरतम अपराध है और ऐसे अपराधी की गरदन कोई भी मुसलमान उड़ा सकता है, तब कई मुस्लिम विद्वानों ने इसका खंडन

किया था। किन्तु, अब श्री आर० सी० मजुमदार ने शेख हमदानी-कृत "जवा मुलूक" से जो उद्धरण उपस्थित किये हैं[1], उनसे सर यदुनाथ की ही स्थापना मालूम होती है। मुस्लिम-राज्य की गैर-मुस्लिम प्रजा, इस्लाम के कानून की दृ कितनी हेय समझी जाती थी, इसका अनुमान नीचे लिखे कुछ प्रतिबन्धों से, आ से, किया जा सकता है।

१. मुस्लिम-राज्य में कोई भी प्रतिमालय नहीं बनाया जा सकता।
२. जो प्रतिमालय तोड़ दिये गये हैं, उनका नव-निर्माण नहीं किया जा स
३. कोई भी मुस्लिम यात्री प्रतिमालय में ठहरना चाहे तो बेरोक-टोक सकता है।
४. सभी गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानों की इज्जत करेंगे।
५. गैर-मुस्लिम प्रजा मुसलमानी पोशाक नहीं पहनेगी।
६. गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानी नाम नहीं रख सकते हैं।
७. गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानों के सामने, जीन और लगाम कस कर, पर नहीं चढ़ेंगे।
८. गैर-मुस्लिम प्रजा के लिए तीर, धनुष और तलवार लेकर चलना म
९. गैर-मुस्लिम जनता मुसलमानों के मुहल्लों में न बसे।
१०. गैर-मुस्लिम प्रजा अपने मुर्दों को लेकर जोर से विलाप न करे।
११. गैर-मुस्लिम लोग मुस्लिम गुलाम न खरीदें।

ये सभी नियम राज्य की ओर से हमेशा कड़ाई से बरते जाते थे या नहीं, बताना कठिन है। किन्तु, हर मुस्लिम शासक को यह मालूम था कि जिस शास वह संचालन कर रहा है, उसका आधार ऐसे ही नियमों पर है।

हिमालय के पास सांबल में एक बौद्ध मन्दिर था, जहाँ चीनी भक्त काफी सं आते थे। चीनी सम्राट् ने एक बार चाहा कि वे उस मन्दिर का जीर्णोद्धार कर निदान, मुहम्मद-बिन-तुगलक को उपहार भेजकर उन्होंने उससे अनुमति की या की। तुगलक ने उपहार तो रख लिये, लेकिन, चीनी सम्राट् को जवाब यह भेजा मुस्लिम-राज्य में मन्दिर वही बनवा सकता है जो जिज़िया देने को तैयार हो।

फीरोज शाह तुगलक जिज़िया देनेवालों को भी मन्दिर बनाने की अनुमति देता था। उससे पहले के सुलतान ब्राह्मणों को जिज़िया-कर से मुक्त रखे हुए फीरोज शाह ने ब्राह्मणों पर भी जिज़िया लगा दिया।

लेकिन, जिज़िया देकर भी हिन्दू अपने धर्म का पालन करें, यह बात मुस्लि पंडितों और उलमाओं को पसन्द नहीं थी। तुगलक-युगीन इतिहासकार जियाउ बरनी ने शिकायत लिखी है कि कुछ थोड़े-से टकों के बदले अगर सुलतान काफि को धर्म की स्वतंत्रता देते रहेंगे तो हिन्दुस्तान में इस्लाम का झंडा बुलन्द न रह सकेगा।

---

[1] History And Culture Of The Indian People। (विद्याभवन-सीरी

दो-एक पठान सुलतान खुद, शायद, कुछ उदार भी रहे हों, लेकिन, उन दिनों ल्लाओं का वड़ा जोर था और मुल्ले केवल धर्म की वातों में ही नहीं, राज-काज में सुलतानों का मार्ग-दर्शन करते थे। मुगीसुद्दीन नामक एक काजी ने अलाउद्दीन लजी से कहा था, "काफिरों के सामने विकल्प तो, वैसे, दो ही हो सकते हैं, यानी त या इस्लाम। लेकिन, हनीफा ने उनके लिए जिज़िया की रियायत की वात भी ही है।"

अरव-विजय के छह सौ वर्ष बाद मुस्लिम इतिहासकार वरनी ने **फतवए-जहाँदारी** हिन्दू-धर्म पर भयानक कोप प्रकट किया। उसने महमूद गजनवी की याद बड़े फख़्र की है और कहा है, काश! महमूद एक वार और आ जाय तो हिन्दुओं का पूरा ाया हो सकता है।

अफ़ीफ़ नामक एक दूसरे इतिहासकार ने फीरोज तुगलक के वजीर के मुख से हलवाया है कि राज्य के उद्देश्य दो ही हैं—एक तो राज्य की समृद्धि और प्रजा की क्षा तथा दूसरा राज्य का विस्तार और काफ़िरों का सफाया।

देश की सुरक्षा, रियाया की खुशहाली और राज्य का विस्तार, ये किसी भी शासन के लिए गौरव के कार्य हैं। किन्तु, मुस्लिम इतिहासकारों ने अधिक प्रशंसा उन सुलतानों और ग़ाज़ियों की लिखी है, जिन्होंने अधिक-से-अधिक मन्दिर तोड़े और अधिक-से-अधिक लोगों को मुसलमान बनाया। कुरान के अनुसार **कुफ्र** का सवसे वुरा रूप **शिर्क** और शिर्क का सवसे वुरा रूप **मूर्त्तिपूजा** है; और हिन्दुस्तान मूर्त्तिपूजकों का देश है। अतएव, कुफ्र का दलन करने में मुसलमानों को जितने अत्याचार इस देश में करने पड़े, उतने किसी और देश में नहीं।

इब्न-बतूता एक मुस्लिम विद्वान था जो १४वीं सदी में अफ्रीका से भारत आया था, जब मुहम्मद-बिन-तुगलक यहाँ सुलतान था। वतूता ने जो विवरण छोड़ा है, उससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि उस समय जवर्दस्ती धर्म-परिवर्तन करवाने की प्रक्रिया कितनी तेज थी और झुण्ड-के-झुण्ड हिन्दू किस प्रकार दास बनाये जाते थे। हिन्दुओं का दरजा मुसलमानों की तुलना में बहुत ही तुच्छ था, यह बात भी वतूता ने स्पष्ट शब्दों में लिखी है। वतूता की आँखों के आगे ही तुगलक ने भयानक से भयानक जुल्म किये थे। एक वार तो ऐसा हुआ कि अत्याचार के भयानक दृश्य को असह्य पाकर बतूता नमाज़ के वहाने उस स्थान से अलग हट गया था।

हिन्दुओं के प्रति भेद-भाव नौकरियों में भी वरता जाता था। साधारणतः, मुसलमान हिन्दुओं का विश्वास नहीं करते थे, अतएव, जिम्मेदारी की जगहें उन्हें दी जाती थीं जो पठान थे अथवा उन मुसलमानों को जो बाहरी देशों से आते थे। सिकन्दर लोदी और शेरशाह सूरी ने इस बात की कुछ थोड़ी चिन्ता जरूर की कि हिन्दुओं के वीच उन्हें लोकप्रियता प्राप्त हो, लेकिन, बाकी सुलतानों ने हिन्दुओं के दर्द की कोई परवाह नहीं की। आश्चर्य है कि पठान-शासन-काल की इतनी स्पष्ट बुराइयाँ आज के भी मुस्लिम-लेखकों को नहीं दिखायी देतीं और वे, बिना किसी

हिचकिचाहट के, लिख देते हैं कि **पठान-राज्य-काल में गैर-मुस्लिम प्रजा को** **एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता प्राप्त थी, केवल राजनैतिक अधिकार उन्हें** मिले थे ।[1]

सांस्कृतिक प्रतिशोध

मुसलमानों के अत्याचारों से आजिज आकर हिन्दुओं ने उन्हें म्लेच्छ कहना किया । म्लेच्छ वे यों भी समझे जाते, क्योंकि सभी विदेशी आक्रान्ता भारत में समझे जाते थे । यवन और म्लेच्छ समानार्थक थे । इनका अभिप्राय विदेशी से था । मुसलमानों को म्लेच्छ कम ही बार कहा गया । अधिकतर वे यवन ही थे । आयोनिया (Ionia) के यूनानी लोगों को ईरानी लोग यौन कहते थे । के लिए यौन का प्रयोग पहले-पहल डेरियस प्रथम के अभिलेख में मिलता है । भारतीयों ने यह शब्द (यौन, यवन) ज्यों-का-त्यों उठा लिया । म्लेच्छ भी पहले व्यक्ति को कहते थे जो संस्कृत का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता था ।

मुसलमानों को हिन्दुओं ने, अपनी संस्कृति में, वही दरजा दिया जो अछूतों दिया जाता था । इसीलिए, हरिजनों ने मुसलमानों का उतना अनादर नहीं जितना सवर्ण हिन्दू करते थे । और हिन्दुओं की अस्पृश्यतावादी नीति के मुसलमान शिकायत भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि हिन्दुओं ने यह नीति केवल मानों का अपमान करने को नहीं निकाली थी । वे इस नीति को धर्म समझते थे जब चश्मे के पानी में कोई शराब मिला देता, तब हिन्दू धर्म छोड़कर जीतने के धर्म रखकर हार जाना अधिक पसन्द करते थे । अत्याचार से बचने को बहिष्कार की नीति को और भी मजबूत बना लिया । इब्नबतूता ने लिखा है मालाबार में मुसलमान को लोटे में पानी नहीं दिया जाता था । पानी उसे हिन्दू में पिलाते थे । और जिस बरतन में मुसलमान खाना खा लेता था, हिन्दू उसे डालते थे या मुसलमान को दे देते थे ।

आस-पास बसे रहने पर भी हिन्दुओं ने यह नीति जारी की कि वे, जहाँ होगा, मुसलमानों के घर नहीं जायेंगे, न मुसलमानों को अपने घर आने देंगे । मुसलमानों के सूफी सन्त भारत में घूमने लगे, तब आदर तो उनका हिन्दुओं ने किया, लेकिन, हिन्दू इन सन्तों को भी अपने घर के भीतर नहीं ले जाते थे, न बरतन में उन्हें भोजन करने देते थे । सुलतानों, नवाबों और बड़े कर्मचारियों से बड़े भाग्य की बात समझी जाती थी । लेकिन, जो सौभाग्यशाली हिन्दू इन

---

[1] सैयद आबिद हुसेन ने अपनी किताब National culture of India में शासन का वर्णन यह कह कर किया है :—"A dynastic monarchy ted by the SHARIAH, giving its Non-Muslim subjects religi and cultural freedom, but slightly less political rights."

मानों से कभी हाथ मिलाने का अवसर पा जाते, वे भी घर जाकर स्नान करते अपने कपड़े बदल डालते थे ।

हिन्दू बाहर से तो दब गये, लेकिन, भीतर ही भीतर उनकी घृणा की भावना ट होती गयी । यह घृणा उन्हें केवल मुसलमानों से ही नहीं हुई, बल्कि, जो हिन्दू मानों से हेल-मेल बढ़ाता, अपने मुहल्ले में वह भी घृणित ही समझा जाता था । मानों ने भारत में अत्याचार तो ऐसे भयानक किये, जिनका दुनिया के इतिहास हीं सानी नहीं है ; किन्तु, भारत का सब से बड़ा अकल्याण उन्होंने यह किया कि ओं के हृदय में उन्होंने साम्प्रदायिकता की आग पैदा कर दी । धार्मिक द्वेष भारत हीं था । यह चीज यहाँ मुस्लिम साम्प्रदायिकता की देन है ।

मुसलमानों की विजय शुद्ध राजनैतिक विजय थी । देश की संस्कृति पर उसका क प्रभाव नहीं पड़ा । ऊपर के रजवाड़े टूट गये, किन्तु, उनके नीचे गाँवों की स्था, ज्यों-की-त्यों, बनी रही । हिन्दू-जनता ने, धीरे-धीरे, मुसलमानों को अपना मी मान लिया और उनके साथ वह बहुत-कुछ वही बर्ताव करने लगी जो बर्ताव अन्त्यजों के साथ करती आयी थी । उस बर्ताव के खिलाफ मुसलमानों ने कभी ई बड़ा आन्दोलन किया हो, इसका प्रमाण इतिहास में नहीं है । कारण, शायद, यह कि मुस्लिम पड़ोसी पहले हिन्दू-अन्त्यज रहे थे अथवा ऐसी जातों के लोग जिनका ी नहीं चलता था । अतएव, मुसलमान हो जाने पर भी उनकी यह हिम्मत नहीं कि, स्पृश्यता के मामले में, वे हिन्दुओं के साथ बराबरी का दावा कर सकें ।

ता-आन्दोलन का आरम्भ

भारत की विशेषता है कि जो नवागन्तुक इस देश में बस जाते हैं, उन्हें अपने ज में खपाने की वह, कोई-न-कोई, राह निकाल लेता है । जब आर्य यहाँ आये थे, ने अनेक जातियों को एक समाज में बाँधने के लिए जाति की प्रथा निकाली थी । स्वयं आर्यों का भारतीयकरण भारत ने उन्हें निवृत्तिवादी बनाकर पूरा किया । न्तु, जाति-प्रथा अब निकम्मी चीज थी । न तो हिन्दू इतने उदार रह गये थे कि मानों को वे अपनी जाति की दीर्घा में बिठा सकें, न मुसलमान अपनी इकाई खोने तैयार थे । निदान, भारत की निवृत्तिमार्गी विचारधारा उभर कर ऊपर आयी र इस बार उसने इस्लामी तसव्वुफ की राह से हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर प लाने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया ।

शासक और सुलतान कठोर के कठोर ही बने रहे और मुल्लों का उन पर प्रभाव भी सा ही रहा जैसा पहले था । लेकिन, जनता ने सलतनत की नीति से भिन्न राह पकड़ ी । लोगों को इस राह पर आने का प्रोत्साहन इस बात से भी मिला कि मुस्लिम सन्त सलतनत की नीति से बँधे नहीं थे, न मुल्लों का सहयोग ही उन्हें प्राप्त था । तनत और मुल्ले, अक्सर, सन्तों का विरोध करते थे । ईरान के सूफी सन्त मनसूर को मुस्लिम-सलतनत ने शूली पर चढ़ा दिया था और भारत में भी औरंगजेब ने सरमद

को मरवा डाला था। इससे यह अनुमान आसानी से निकाला जा सकता है कि सन्त, कुछ-कुछ, बागी किस्म के लोग थे।[1] अतएव, उनकी साधुता और विद्रोह पर रीझकर हिन्दू-जनता उनका साथ देने लगी।

सूफियों की इज्जत खिलजी-काल में ही खूब वढ़ गयी थी और उनका प्रभाव हि और मुसलमानों पर यथेष्ट रूप से छा गया था। सूफियों के इस प्रभाव से लोग जलने भी लगे थे। इस सम्वन्ध में कुतुवुद्दीन, मुवारक खिलजी और गया तुगलक के नाम काफी वदनाम हैं। गियासुद्दीन ने हज़रत निज़ामुद्दीन औलि धमकी दी थी कि अमुक तारीख को दरवार में हाजिरी दो, नहीं तो तुम्हें होना पड़ेगा। कहते हैं, औलिया साहव दरवार तक तो नहीं गये, लेकिन, नि तिथि के पहले ही गयासुद्दीन कत्ल हो गया।

सूफियों से अलग एक तरह के फकीर और होते थे जो कलन्दर कहलाते थे कलन्दर सम्प्रदाय नहीं वनाते थे, न एक जगह पर ज्यादा दिन टिका ही करते वैराग्य और फकीरी के जरिये अपना मोक्ष खोजते हुए घूमते चलना ही इनका स्वभाव

सूफियों और कलन्दरों के प्रभाव से भारत में इस्लाम का रूप वदल ग इस्लाम सीधा-सादा कट्टर धर्म था जिसमें बाहरी अनुष्ठानों पर वहुत जोर दिया था। अव वह एक प्रकार का जटिल भक्ति-मार्ग वन गया जिसमें योग, चम अन्धविश्वास, भजन, कव्वाली, पीरों की पूजा और हिन्दू-धर्म की वीसियों दूसरी प्रविष्ट हो गयीं। इस्लाम में गुरु-परम्परा का जोर पहले उतना नहीं था जितना में आकर वढ़ा।

जब सूफी-धर्म अपनी वुलन्दी पर था, तव तक भक्ति का आन्दोलन द भारत से उत्तर में पहुँच चुका था। इन दोनों आन्दोलनों ने हिन्दुओं और मुसल के वीच की दूरी कम कर दी।

---

[1] शाह अव्दुर्रहीम एक सूफी मुल्ला थे। औरंगजेव उनसे वहुत ही खुश करता था। एक वार औरंगजेव ने उन्हें कुछ जमीन देनी चाही। इसके ज में शाह साहव ने वादशाह को इस आशय का पत्र लिखा कि "सभी सन्त मानते कि जो फकीर राजा के दरवाजे पर जाता है, वह फकीर नहीं, शैतान है। रा के पास सम्पत्ति वहुत थोड़ी होती है। यदि तू मुझे कुछ देगा तो तेरे पास बच रहेगा ?" कहते हैं, औरंगजेव इस पत्र को अपनी जेव में रखे रहता था और क वदलने पर उसे दूसरे कपड़े में रख लेता था तथा, एकान्त पाकर, इस पत्र को पढ़ता और पढ़कर रोने लगता था।

एक दूसरे फकीर का कहना था, "भगवान रोज रोटी भेजता है, लेकि एहसान का वोझ वह किसी पर नहीं डालता। राजा जव भी कुछ देता है, आदमी पर उसका एहसान हो जाता है।"

भारत में इस्लाम के दो रूप प्रकट हुए। मुसलमान-शासक हिन्दुओं के द्रोही, न्दिरों के भंजक और प्रतिमाओं के शत्रु थे। लेकिन, मुस्लिम सूफी सन्तों में हिन्दुओं के शत्रुता का भाव नहीं था। वे हिन्दू और मुसलमान, दोनों को एक नये धर्म में क्षित करना चाहते थे, जो आत्मा का धर्म था, जो सच्ची मानवता का धर्म था। न्त आचार तो अपने ही धर्म का बरतते थे, लेकिन, प्रेम उनका सभी धर्मों पर समान था और प्रत्येक धर्म के आदमी को वे आत्मा के धर्म में दीक्षित करना हते थे, हृदय में प्रेम की पीर जगाकर उसे ईश्वरोन्मुख बनाना चाहते थे। सभी सूफी सन्त धर्म के बाह्याचारों और अनुष्ठानों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते । उनका सारा जोर प्रेम पर था, परमात्मा की भक्ति पर था। इसलिए, इस्लामी ने उनके खिलाफ थे और इसलिए कबीर आदि का विरोध वैदिक धर्म के पंडितों ने किया। लेकिन, भारतीय जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो वैदिक अनुष्ठानों र आचारों में विश्वास नहीं करता था, जिसके भीतर, बहुत दूर पर, बुद्ध की णा काम कर रही थी, जिसने सरहपा-नहपा आदि बौद्ध सिद्धों के इस उपदेश को ना लिया था कि यज्ञ झूठे हैं, पंडितों का आदर करने में कोई पुण्य नहीं है, न कादशी और मंगल को व्रत रखने से आत्मा का कल्याण होता है। यह विचार-धारा हिंसा को मानती थी, आत्मचिन्तन की प्रक्रिया में विश्वास करती थी और प्रतिमा-जन तथा तीर्थ-यात्रा के विरुद्ध थी।[1]

सूफियों के उपदेश सब से अधिक इन्हीं लोगों को पसन्द आये और ये ही लोग स्लाम तथा हिन्दुत्व के बीच के प्रथम सेतु हुए। हिन्दू से मुसलमान होनेवालों में सब से अधिक संख्या इन्हीं लोगों की थी और इसी वर्ग के लोग हिन्दू रहकर भी इस्लाम , विशेषतः, उसके सूफी-आन्दोलन से प्यार करने लगे। राजनीति के धरातल पर स्पर बँटे हुए लोग धर्म के धरातल पर एक होने लगे। जनता की प्रवृत्ति भेद से भेद की ओर हो चली। मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार होने लगे और हिन्दू मुसलमानों की 'दास्ताने-हमजा'। हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के बीच न्धुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया। बहुत-से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धान्त स्वीकार करके मांस-भक्षण को बुरा कहने लगे।[2]

अमीर खुसरो की भारत-भक्ति

सुलतानों के अत्याचार की जिम्मेवारी मुस्लिम-जनता पर नहीं थी। मुस्लिम-जनता, शायद, तुरन्त यह समझ गयी थी कि यदि भारत में उसे रहना है तो इस देश की संस्कृति का ज्ञान उसे अर्जित करना चाहिये और भारत को अपना देश मान लेना चाहिये। यदि जनता के भीतर ऐसे भाव नहीं रहे होते तो अमीर खुसरो का जन्म उस काल के लिए असम्भव घटना हुई होती। पृथ्वीराज की पराजय सन् ११९२ ई० में हुई

---

[1] देखिये, इसी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में "इस्लाम से पूर्व ही इस्लामवत् सम्प्रदाय।"

[2] पं० रामचन्द्र शुक्ल की जायसी-ग्रन्थावली।

और अमीर खुसरो का जन्म-वर्ष सन् १२५३ ई० माना जाता है ; यानी भा **इस्लामी राज्य के आरम्भ से केवल इकसठ साल बाद भारत ने उस मुसल जन्म दे दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी महापुरुष था।**

अमीर खुसरो के पिता सैफ़ुद्दीन महमूद तुर्क थे। वे सुलतान नासि (१२४६-१२६५ ई०) के राज्यकाल में भारत आये थे। अमीर खुसरो का जन्म में हुआ था। वे शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और उन्हीं के चरणों में उन्होंने विद्या भी पढ़ी थी। जब शेख साहब स्वर्गीय हुए और उनका शरीर डाल दिया गया, तब अमीर खुसरो ने अपनी पीड़ा एक दोहे में व्यक्त की थी तक प्रसिद्ध है।

गोरी सोवत सेज पर, मुख पर डाले केस,
चल खुसरो घर आपनो, रैन भई सब देस।

खुद अमीर खुसरो का देहान्त सन् १३२५ ई० में हुआ।

खुसरो, कई दृष्टियों से, भारत के महापुरुषों में गिने जाने के योग्य हैं। दि आस-पास प्रचलित खड़ी बोली में साहित्य-सृजन का काम, सब से पहले, खुसरो आरम्भ किया था। उस समय मुसलमान अपनी कविताएँ फारसी में लिखते थे हिन्दू अपना साहित्य डिंगल अथवा अपभ्रंश भाषाओं में। हिन्दू और मुसलमान ही यह जानते थे कि जनता की भाषा न तो अपभ्रंश थी, न फारसी ; किन्तु, दो जातियों के कवि उन्हीं भाषाओं पर आसक्त थे जिन्हें जनता नहीं समझती थी। खुसरो ने प्रचलित जनभाषा में रचना करके हिन्दी और उर्दू के भविष्य की राह दी। अतएव, वे खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू, दोनों ही भाषाओं के पिता हुए हैं।

संगीत और वाद्य-यंत्रों में भी उन्होंने नूतन आविष्कार किये थे। किन्तु, सब से बड़ा काम यह हुआ कि, सलतनत की साम्प्रदायिक नीतियों की कुछ भी किये बिना, उन्होंने भारत के प्रति अपनी अद्‌भुत भक्ति अर्पित की। अपनी "नुहे-सिपह्र" (नौ आकाश) में उन्होंने भारत की जो प्रशंसा लिखी है, वह इस बात प्रमाण है कि खुसरो, सच्चे मन से, अपने को भारतीय मानते थे। मुसलमान के प्रति अपनी भक्ति अर्पित करें, यह बात, शायद, उस समय भी मुस्लिम-समाज अच्छी नहीं समझी जाती थी। खुसरो ने लिखा है, "सम्भव है, कोई मुझसे पूछे भारत के प्रति मैं इतनी श्रद्धा क्यों रखता हूँ। मेरा उत्तर यह है कि केवल कि भारत मेरी जन्मभूमि है, भारत मेरा अपना देश है। खुद नबी ने कहा है कि देश का प्रेम आदमी के धर्म-प्रेम में सम्मिलित होता है।"[१]

भारत की साम्प्रदायिक वेदना का रूप यह है कि हिन्दू, अस्पृश्यता में करने के कारण, सामाजिक व्यवहारों में मुसलमान को बराबरी का दरजा देने तैयार नहीं है। कट्टर हिन्दू अपने प्यारे से प्यारे मुस्लिम मित्र को भी उस जगह

---

[१] डाक्टर यूसुफ हुसेन की पुस्तक Glimpses Of Medieval Indian Culture

कर खिलाने को तैयार नहीं है जहाँ वह खुद खाता है। मुसलमान दोस्त किसी हिन्दू चौके में खाये, हिन्दू-समाज में इससे बड़ी बदनामी और नहीं हो सकती। और मान की कठिनाई यह है कि जमाने से उसे यह सिखाया गया है कि जिस देश पर मानों का राज्य नहीं है, वह देश **दारुल-हरब** यानी शत्रुओं का देश समझा जाना हिये। अतएव, देश-भक्ति और धर्म-भक्ति को एक करके चलने में मुसलमान को ठिनाई होती है। आम लोगों का ख्याल है कि जिस देश का शासन इस्लामी कानून नहीं चलता, उस देश में बसनेवाला मुसलमान प्रच्छन्न विद्रोही बनकर जीता है। ता है, अमीर खुसरो के समय में भी भारत के मुसलमान इस दुविधा से पीड़ित । इसीलिए, खुसरो ने अपनी भारत-भक्ति की बात काफी जोर से कही जिससे मुसलनों के मन का कुहासा फट जाय और वे अपने को भारतमाता की सन्तान मान सकें। **दि खुसरो को हिन्दुस्तान ने अपने आदर्श मुसलमान के रूप में उछाला होता तो हिन्दुान की कठिनाइयाँ कुछ-न-कुछ कम हो जातीं।** आज भी मौका है कि हम खुसरो ो आदर्श भारतीय मुसलमान के रूप में जनता के सामने पेश करें।

खुसरो ने भारत की प्रशंसा केवल देश-भक्ति के जोश में आकर नहीं लिखी, प्रत्युत, इनके लिए उन्होंने कई ठोस प्रमाण भी दिये हैं। उनके विवरण से यह भी पता चलता है कि चौदहवीं सदी में भी भारत संसार का सब से अग्रणी देश था। खुसरो की दृष्टि में भारत इसलिए वन्दनीय है कि—

१. इस देश के लोगों में ज्ञान और विविध विद्याओं का व्यापक प्रचार है।
२. विश्व की सभी भाषाएँ भारतवासी शुद्धता से बोल सकते हैं।
३. ज्ञान सीखने को बाहर के लोगों को भारत आना पड़ता है, किन्तु, भारतवासियों को भारत से बाहर जाना नहीं पड़ता।
४. अंकों का विकास भारत में हुआ है। विशेषतः, शून्य का प्रतीक भारत का आविष्कार है। हिन्दसा शब्द हिन्द और असा, इन दो शब्दों के योग से बनता है। (खुसरो का ख्याल था कि असा भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे।)
५. कलीला व दमना (करटक और दमनक) की कहानी भारत में रची गयी और फारसी, तुर्की, ताजी (अरबी) एवं दरी भाषाओं में उस कहानी का अनुवाद हुआ है।
६. शतरंज के खेल का आविष्कर्त्ता भारतवर्ष है।
७. भारतीय संगीत अन्य सभी देशों के संगीत से कहीं उच्च कोटि का है।
८. संगीत पर यहाँ केवल मनुष्य ही नहीं झूमते, उसे सुनकर यहाँ के हरिणों को भी स्तम्भ हो आता है।
९. अन्य किसी भी देश में खुसरो के समान भाषा का जादूगर नहीं है, गर्चे मुलतान का वह एक अदना-सा चारण है।

खुसरो ने अपनी मसनवी में इस बात की भी चर्चा की है कि भारत में तोते और मैना भी आदमी की बोली बोलते हैं, घोड़े ताल पर कदम उठाते हैं, बकरियाँ सन्तुलन

के खेल दिखाती हैं और बन्दर रुपये और अठन्नी का भेद बता सकते हैं। भा खुसरो ने पृथ्वी का स्वर्ग माना है और लिखा है कि आदम और हौवा जब निकाले गये थे, तब वे इसी देश में उतरे थे। भारत के सामने उन्होंने बसरा, रूस, चीन, खुरासान, समरकन्द, मिस्र और कंधार, सब को तुच्छ बताया है। ने पान की भी बड़ाई लिखी है और भारत में बने वस्त्र को सारे संसार में बेजोड़ बताया है।

अमीर खुसरो बड़े ही बुद्धिवादी, जिन्दादिल और असाम्प्रदायिक मुसलमान दिल्ली की बड़ाई करते हुए उन्होंने लिखा है, इस चमन की कहानियाँ अगर मक्क ले तो वह भी श्रद्धा के साथ भारत की परिक्रमा करने लगेगा।

हिन्दुओं की धर्मप्रियता और भक्ति-भावना की उन्होंने खुलकर तारीफ की है। हिन्दुओं के धार्मिक स्वभाव को उन्होंने मुसलमानों के लिए भी अनुकरणीय कहा प्रतिमा-पूजन का समर्थन तो वे भला कैसे करते, किन्तु, प्रतिमा पूजनेवालों में जो तल्लीनता देखी, उसकी भी उन्होंने तारीफ ही की है। इस सम्बन्ध में उनका है कि "तीर का लक्ष्य भले ठीक न हो, मगर, उसकी गति कितनी तेज है!"

सन्तो ! राह दोऊ हम दीठा

तसव्वुफ या रहस्यवाद धर्म के बाहरी आडम्बरों में विश्वास नहीं करता। और रहस्यवादी का धर्म न तो रोज़ा; नमाज़ और अज़ाँ तक सीमित है, न आरती और घड़ियाल के अधीन। रहस्यवादी की सारी पूँजी उसकी भगवद्भक्ति है, उसका ईश्वर-प्रेम होता है। मूल में संसार के सभी धर्म एक हैं, क्योंकि सब आरम्भ इसी जिज्ञासा से हुआ है कि मनुष्य की किस्मत का मालिक कौन है, की रूह किस बड़ी रूह से मिलने को बेकरार है, जन्म के पूर्व आदमी कहाँ था मरने के बाद वह कहाँ जायेगा। जब तक आदमी इन मौलिक प्रश्नों पर विचार है, तब तक वह न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान। इन मौलिक समस्याओं पर समय वह उस सामान्य विस्मय के पास रहता है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते आदमी हिन्दू तब बन जाता है जब वह शंख फूँकता और आरती की थाल उठाता है इसी प्रकार, वह मुसलमान उस समय होता है जब रोज़ा, नमाज़ और अज़ाँ को धर्म-सिद्धि का मार्ग समझने लगता है। धर्म-चिन्तन में एक वह भी जगह आती जहाँ पहुँच कर हम सभी धर्मों से छूट जाते हैं अथवा एक साथ सभी धर्मों से एका हो जाते हैं।

ईरान से जो सूफी-धर्म भारत पहुँचा, वह रोज़ा और नमाज़ से बँधकर चलनेवा धर्म नहीं था। सूफी निर्मुक्त चिन्तक थे और उनका उद्देश्य लोगों को डाल से उतार मूल की ओर ले जाना था। वे मनुष्यों को यह शिक्षा देते थे कि धर्म के बाहरी ष्ठानों में फँसकर तुम असली धर्म से दूर हो रहे हो। डाल से उतर कर नीचे की देखो, सभी धर्म एक हैं और एक ही धर्म, मूल से ऊपर उठकर, अनेक डालियाँ बन बिखर गया है। सच्चा धर्म अलग-अलग डालों पर बैठकर कोलाहल मचाने में

कि, मूल पर पहुँच कर शान्त हो जाने में है। धर्म कोलाहल नहीं, शान्ति है; धर्म ाद नहीं, नीरवता है। धर्म युद्ध नहीं, मैत्री और प्रेम है।

ईरानी तसव्वुफ भारतीय वेदान्त के प्रभाव में बढ़ा था, अतएव, जब वह भारत ुंचा, इस देश में उसे तैयार जमीन मिल गयी। यह नया धर्म बहुत-से भारतवासियों ो परम अनुकूल दिखायी पड़ा। यह उन्हें भी रुचा, जो वैदिक धर्म के अनुष्ठानों से रक्त थे और उन्हें भी, जो सामाजिक धरातल पर हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए ई सम्मिलित राह निकालना चाहते थे। भारत में इस नये आन्दोलन के सब से बड़े ा महात्मा **कबीरदास** (जन्म सन् १३९९ ई०) हुए।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हमारे देश में तीन बड़े नेता कबीर, अकबर और महात्मा ंधी हुए हैं। गाँधीजी की विशेषता यह थी कि वे किसी भी धर्म को छोटा नहीं कहते । सभी धर्मों पर उनकी समान भक्ति थी और सभी धर्मों को समान समझने का ही उपदेश भी देते थे। अकबर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म सर्वविध पूर्ण नहीं था। नकी कोशिश थी कि सभी धर्मों की अच्छी बातें लेकर एक नया धर्म चलाया जाय ो सब को सन्तोष दे सके। लेकिन, कबीर अपने इन दोनों उत्तराधिकारियों से बिलकुल न्न रहे। उन्होंने यह नहीं कहा कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों के दोनों अच्छे धर्म ैं, अतएव, हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में मिलकर रहना चाहिये। उलटे, न्होंने इस बात की खुली घोषणा की कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों के दोनों अधूरे र्म हैं।[1] असली धर्म वह है जिस पर रहस्यवादी आरूढ़ होता है। अतएव, उचित है कि हिन्दू और मुसलमान इस सूक्ष्म आत्म-धर्म के धरातल तक उठने की कोशिश ें, जहाँ पहुँचने पर मन्दिर और मस्जिद, दोनों बेकार हो जाते हैं।

संसार के सभी रहस्यवादी, मिजाज से, कुछ-कुछ, विद्रोही होते आये हैं। कबीर-दास विद्रोह के अवतार थे। वेद, वर्णाश्रम-धर्म और जात-पाँत का विरोध उन्होंने उसी निर्भीकता से किया जो निर्भीकता बुद्ध में दिखायी पड़ी थी। और इस्लाम के अनुष्ठानों की आलोचना उन्होंने उसी बहादुरी से की जिस बहादुरी के कारण पहले मनसूर और,

---

[1] हिन्दुत्व और इस्लाम धर्म के उच्चतम रूप नहीं हैं, इस अनुभूति के उदाहरण हमें गोरखनाथ और नामदेव में भी मिलते हैं जो कबीरदास के पूर्ववर्त्ती थे। यथा,

हिन्दू ध्यावे देहरा, मूसलमान मसीत,
जोगी ध्यावे परम पद, जहँ देहरा न मसीत।
हिन्दू आखै राम को, मुसलमान खोदाइ,
जोगी आखै अलख को, तहँ राम अछै न खोदाइ।

—गोरखनाथ (१०वीं या ११वीं सदी)

हिन्दू पूजे देहरा, मूसलमान मसीत,
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीत।

—नामदेव (जन्म सन् ११७० ई०)

बाद को, सन्त सरमद को शहीद होना पड़ा था। हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का सम
उन्हें बहुत ठीक दिखायी पड़ा था। कबीर को गुजरे अब लगभग पाँच सौ साल
गये हैं, लेकिन, आज भी उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है, और आज भी हम यही
हैं कि जब तक भारतीय समाज, पूर्णरूपेण, वेदान्त को अपना आधार नहीं
हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का भारत को कोई समाधान नहीं मिलेगा।

कहते हैं, अपने जीवन-काल में कबीर को अनेक कष्ट सहने पड़े थे, अनेक यात
झेलनी पड़ी थीं, अनेक कुत्साओं, पराभवों और अपमानों का सामना करना पड़ा
उनके समर्थक और शत्रु दोनों ही धर्मों के लोग हुए, क्योंकि दोनों ही धर्मों के
ऐसे लोग थे जो आडम्बरों को छोड़कर धर्म के सच्चे रूप पर आना चाहते थे
दोनों ही धर्मों के भीतर ऐसे भी लोग थे जिनकी रोजी कबीर के आन्दोलन से
जाती थी। लेकिन, विरोधों के सामने कबीर ने कभी भी घुटने नहीं टेके। विरो
ने जितना ही उनका विरोध किया, उतना ही उनका आत्मविश्वास बढ़ता गया
उतने ही जोर से हिन्दुओं और मुसलमानों को वे यह कहकर फटकारते गये कि
दोनों के धर्मों को मैं देख चुका हूँ। ये दोनों के दोनों धर्म अधूरे और अपूर्ण हैं।
चाहते हो तो उस धरातल तक उठो, जिस पर कबीर का निवास है।

> सुर, नर, मुनि औ औलिया, ये सब बेलैं तीर,
> अलह-राम की गति नहीं, तहँ घर किया कबीर।
> हद्द छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान,
> मुनिजन महल न पावई तहाँ किया विश्राम।

कबीरदास भारत के अत्यन्त महान् क्रान्तिकारी पुरुष हुए हैं। उनकी बड़ाई
इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक, हिन्दुओं और मुसलमानों की
में उँगली डालकर, उन्हें यह समझाया कि मन्दिर और मस्जिद के सवाल पर
से बढ़ कर मूर्खता का कोई और काम नहीं हो सकता; अपितु इसलिए भी कि सं
के विरुद्ध उन्होंने भारत में नवीन भाषा की पताका फहरायी और संस्कृति का
नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के हाथों में
दिया। कबीर की परम्परा में जो अनेक सन्त और महात्मा जनमे, उनमें नानक,
धन्ना, सुन्दरदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास और धरणीदास के नाम अत्यन्त वि
हैं और इनमें से कोई भी सन्त ब्राह्मण-वंश में नहीं जनमा था। स्वयं कबीरदा
हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे।

कबीर ने जो यह मंत्र फूंका कि हिदुत्व और इस्लाम, दोनों के दोनों अधूरे
तथा राम और रहीम को एक न मानना बिलकुल मूर्खता की बात है, वह
श्रवणरन्ध्रों में ऐसा बस गया कि उसकी गूँज हम अनेक सदियों में सुनते आये हैं।

> हिन्दु की दया, मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी,
> वह करै जिबह, वो झटका मारै, आगि दुओ घर लागी।

× × ×

हिन्दु कहत है, राम हमारा, मुसलमान रहमाना,
आपस में दोउ लड़े मरत हैं, भेद न कोई जाना।

× × ×

जो खोदाय मस्जीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा?
तीरथ-मूरत रामनिवासी, बाहिर केहिका डेरा?

× × ×

वेद-कितेब छाँड़ि दे पाँड़े, ई सब मन के भरमा।

× × ×

साधो, पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेंड़ को धाये, दिल में दरद न आई।
गाय वधे सो तुरुक कहावे, यह क्या उनसे छोटे?
कहैं कबीर, सुनो भाई साधो, कलि के बाम्हन खोटे।

—कवीरदास (१५ वीं सदी)

अलह कहो, भावे राम कहो, डाल तजो, सब्र मूल गहो।

× × ×

दादू ना हम हिन्दु होहिंगे, ना हम मूसलमान,
षट् दर्शन में हमनहीं, हम राते रहिमान।

× × ×

हिन्दू लागे देहुरा, मूसलमान मसीति,
हम लागे इक अलख सों, सदा निरन्तर प्रीति।

× × ×

दोनों भाई हाथ-पग, दोनों भाई कान,
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान।

—स्वामी दादूदयाल (मृत्यु सन् १६०३ ई०)

हेत न करि हिन्दू धरम, तजि तुरकी रसरीति,
रज्जब जिन पैदा किया, ताही सूँ करि प्रीति।

× × ×

रज्जब हिन्दू-तुरक तजि, सुमिरहु सिरजनहार,
पखापखी सूँ प्रीति करि, कौन पहूँचा पार?

—रज्जबजी (अनुमित मृत्यु-वर्ष सन् १६८३ ई०)

कहियो जाय सलाम हमारी राम को,
नैन रहे झड़ लाय तुम्हारे नाम को।

—वाजिदजी (दादू के शिष्य)

हिन्दू की हद छाड़ि के, तजी तुरुक की राह,
सुन्दर सहजे चीन्हिया, एकै राम-अलाह।
—स्वामी सुन्दरदास (दादू के

सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू-मूसलमान,
साहेब तिसको बन्दता जिसका ठौर इमान।

× × ×

तौजी और नमाज न जानूँ, ना जानूँ धरि रोजा,
बाँग जिकिर तबहीसे बिसरी जब से यह दिल खोजा।
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया,
मक्का-हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया।
—मलूकदास (मृत्यु-वर्ष सन् १६८

मूरत औ कबर न बोले, न खाय कछु, हिन्दू औ तुरुक, तुम कहा
दास पलटू कहै, पाया तिन्ह आपमें, मूए बैलने कब घास
—पलटू साहब (अठारहवीं सदी का अ

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या भारतवर्ष की सब से भयानक समस्या है। सन् १९२० ई० में गाँधीजी आये और उन्होंने खिलाफत तथा असहयोग-आन्द को मिलाकर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक कर दिया, अँगरेज बेतरह घबरा थे और भारतवासियों का हृदय आशा से फूल उठा था। किन्तु, एकता टिकी जिन मुसलमानों ने राष्ट्रीयता का व्रत लिया, बाकी मुस्लिम जनता उनके खिला गयी। आखिर को, आजादी के समय, भारत का विभाजन इस उम्मीद में किया कि इससे हिन्दू-मुस्लिम-समस्या समाप्त हो जायगी। सो, देश बँट गया यह परन्तु, एकता आज भी नहीं है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की राहें केवल दो हैं। एक तो यह कि देश से धर्म अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाय, मस्जिद और मन्दिर नेस्तनाबूद कर दिये और आदमी केवल आर्थिक और राजनैतिक यन्त्र का पुर्जा बनाकर छोड़ दिया गाय और बाजे के पीछे आदमी की कीमती जानें इस देश में इतनी ज्यादा बर्बा हैं कि बीसवीं सदी के अनेक चिन्तकों और कवियों को एक समय यही राह दिखायी देती थी।[1]

---

[1]
तेरे झूठे कुफ्रो-ईमाँ को मिटा डालूँगा मैं,
हड्डियाँ इस कुफ्रो-ईमाँ की चबा डालूँगा मैं।
डाल दूँगा तर्जे-नौ अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूँगा कुफ्रो-ईमाँ को दहकती आग में।
—जोश मलीहाबादी

[शेष पृष्ठ ३४१

दूसरी राह वेदान्त की राह है। वेदान्त हिन्दू-दर्शन का शब्द जरूर है, लेकिन, वह हिन्दुत्व नहीं है। सच्चा वेदान्ती न हिन्दू होता है, न मुसलमान, न बौद्ध या क्रिस्तान वह केवल अच्छा आदमी होता है। प्रत्येक धर्म के दो पक्ष होते हैं, जिन्हें श्रुति और स्मृति कहने का चलन है। श्रुति धर्म का वह भाग है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते हैं। स्मृति धर्म का वह रूप है जहाँ पहुँच कर सभी धर्म परस्पर भिन्न हो जाते हैं। अदृश्य वास्तविकता से सम्बन्ध होने की इच्छा धर्म का श्रुति-रूप है। इस इच्छा को कार्य का रूप देते समय मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरों को महत्त्व देना धर्म के स्मृति-रूप को बढ़ावा देता है। श्रुति सभी धर्मों को एक स्थान पर लाती है। स्मृतियाँ धर्मों को एक-दूसरे से दूर ले जाती हैं। धर्म का यही श्रुति-रूप वेदान्त है जो मनुष्य को सहिष्णु, सर्वप्रेमी और कूटस्थ बनाता है। वेदान्त धर्म का वह रूप है जो मुसलमान को पहले से अच्छा मुसलमान और हिन्दू को पहले से अच्छा हिन्दू बना सकता है।

धर्मों के आनुष्ठानिक रूप यदि महत्त्व पाते रहे तो विश्व के धर्मों में कभी भी एकता नहीं हो सकेगी। मुसलमान कहता रहेगा कि हिन्दू यदि बाजे बजायेंगे तो मेरी नमाज में बाधा पड़ेगी। और हिन्दू चीखता रहेगा कि मुसलमान यदि गोहत्या करेंगे तो मैं अपनी जान दे दूँगा। तब भी, हर बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि धर्म की समाधि सड़क पर होनेवाले शोर से नहीं टूटती; और एक व्यक्ति यदि मांस-भक्षण करता है तो उसके पाप की जिम्मेवारी किसी दूसरे मनुष्य के मत्थे नहीं मढ़ी जायगी। इसी बुद्धि को अपने मन में बसा लेना और उसके अनुसार आचरण करना वेदान्त है।

यही वह ज्ञान है जिस पर आरूढ़ होने से श्री रामकृष्ण परमहंस को एक धर्म से दूसरे धर्म का भेद दिखायी नहीं देता था। यही वह स्वप्न है जिससे प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कल्पना की थी कि भारत का भावी धर्म वह है जिसमें वेदान्त का मन और इस्लाम का शरीर एकाकार होंगे। यही वह दृष्टि है जिसे पाकर कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने कहा था, धर्म को पकड़े रहो, लेकिन, धर्मों को छोड़ दो। कबीर से लेकर मलूकदास तक भारत के सभी सन्तों ने जिस परम धर्म का आख्यान किया था, उसी धर्म को डॉ० राधाकृष्णन आज की भाषा में "रिलीजन आव् स्पिरिट" अथवा आत्मा का धर्म कहते हैं। संसार के और लोग इस धर्म पर चाहे कुछ विलम्ब से ही आयें, लेकिन, हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों को इस धर्म का वरण, शीघ्र-से-शीघ्र, करना चाहिये, क्योंकि विनाश का खड्ग आज उन्हीं की गरदन पर झूल रहा है।

[पृष्ठ ३४० का शेष]

तथा

ठोकर मार फोड़ दे उसको, जिस बरतन में छेद रहे,
वह लंका जल जाय जहाँ भाई-भाई में भेद रहे।
गजनी तोड़ सोमनाथ को, काबे को दें फूंक शिवा,
जले कुराँ अरबी रेतों में, सागर जा फिर वेद रहे।

—द्वन्द्व-गीत।

तसव्वुफ का भारतीयकरण

सूफियों की प्रेम-पीड़ा की भाषा फारसी रही थी। भारत में आकर उसने भार रूप लेना आरम्भ किया। कबीरदास भी सूफी ही थे, किन्तु, वे तसव्वुफ के उस रू कवि हुए, जिस पर हठयोग और वेदान्त का पूरा प्रभाव था। तसव्वुफ की एक दू धारा के भारत में अनेक कवि हुए हैं जो, प्रायः, सब-के-सब मुसलमान थे और किसी-न-किसी, प्रसिद्ध सूफी फकीर की शिष्य-परम्परा में पड़ते थे। इन कवियों शिरोमणि **मलिक मुहम्मद जायसी** हुए जो शेरशाह के समकालीन थे।

इन कवियों की गणना हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवियों में की जाती है। कवियों ने अपना प्रेम-काव्य मसनवी के ढाँचे में लिखा है। उनकी भाषा अवधी है छन्दों में सर्वत्र प्रयोग उन्होंने दोहा और चौपाई का किया है। सूफी-पन्थ में अपने को आशिक और भगवान को माशूक समझता है तथा भक्त और भगवान के काफी ऊँचा स्थान गुरु को भी दिया जाता है। हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवियों काव्य में ये रूपक सर्वत्र पाये जाते हैं। ये कवि कोरे कलाकार नहीं, प्रत्युत, अपने के सेवक थे। ईरान के सूफी कवि अपनी मसनवियों में अपनी धार्मिक अनुभूतियाँ नि करते थे। हिन्दी के इन मुस्लिम साधकों ने भी हिन्दी में मसनवियों की ही रचना है। कथारम्भ के पहले उन्होंने ईश्वर-स्तुति और पैगम्बर साहब की वन्दना लिखी और, अन्त में, यह दर्शाया है कि आध्यात्मिक प्रसंग में पूरे काव्य का तात्पर्य क्या हिन्दी के प्रेममार्गी सूफी कवि यह दृष्टान्त छोड़ गये हैं कि यदि कोई मुसलमान, फार छोड़ कर, अपनी साधना भारतीय भाषाओं के जरिये करे तो उसे जो सफलता मि सकती है, वह फारसी में नहीं मिलेगी।

पद्मावत की रचना जायसी ने शेरशाह के समय में की थी। कहते हैं, इस का बँगला अनुवाद आराकान के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० में करवाया जायसी से पूर्व कुतबन ने मृगावती की रचना की थी। कुतबन से मृगावती काव्य रच का श्रेय हुसेन शाह को दिया जाता है जो बंगाल के शासक थे। बंगाल में "सत्य की कथा का आरम्भ भी हुसेन शाह ने ही करवाया था।

हिन्दी में जितने भी सूफी प्रेम-काव्य के ग्रन्थ हैं, उनकी मूल-प्रतियाँ कहीं-न-कहीं फारसी लिपि में ही पायी गयी हैं और इसका भी प्रमाण मिलता है कि, फारसी लि में होने पर भी, ये काव्य हिन्दी-प्रान्तों में काफी पढ़े जाते थे। सब से बड़ा प्र यह है कि तुलसीदासजी ने जब रामचरितमानस की रचना की, तब अपने काव्य भाषा और उसके छन्द उन्होंने वे ही रखे जिनका प्रयोग जायसी आदि कवियों ने कि था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दिशा में एक समय इन काव्य-ग्रन्थों ने बहुत योगदान दिया था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि हिन्दुओं और मुसलमानों दिलों को आमने-सामने लाकर उनका अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं कवियों नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की

बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।"

किसी भी कविता में कवि के असली मनोभाव छिपाये नहीं छिपते हैं। विशेषतः, जायसी ने जो कथानक चुना था, वह चित्तौरगढ़, पद्मिनी रानी और अलाउद्दीन खिलजी से सम्बद्ध था। अतएव, यह विषय उनके लिए काफी खतरनाक था। किन्तु, जायसी ने इस कथानक का निर्वाह ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई भी हिन्दू कवि कर सकता था। हिन्दुओं के विचार , विश्वास और आचार के प्रति जायसी ने जो श्रद्धा दिखायी है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। वेद और पुराण की निन्दा हिन्दू नहीं सुन सकते थे। किन्तु, पद्मावत का एक चरित्र राघवचेतन वेद-निन्दक है। अतएव, जायसी ने उसे खल बताया है और उसकी निन्दा ही लिखी है। अलाउद्दीन हिन्दुओं की दृष्टि में हेय समझा जाता था। जायसी ने ग्रन्थ के अन्त में यह सूचना दी है कि अलाउद्दीन माया का प्रतीक है (माया अलादीन सुलतानू)। अवश्य ही, जायसी में यदि साम्प्रदायिकता रही होती तो अलाउद्दीन को वे माया का प्रतीक नहीं वताते। मुस्लिम-अत्याचार की निन्दा करनेवाला मुसलमान हिन्दुओं का प्यारा होता है, यह सिद्धान्त हम जायसी के कृतित्व से निकाल सकते हैं।

ग्रन्थ में विवाह का वर्णन विलकुल हिन्दू-प्रथा के अनुसार है तथा अलाउद्दीन के स्वागत में जो भोज होता है, उसमें ऐसे किसी भी भोजन का उल्लेख नहीं है जो हिन्दुओं के लिए अखाद्य हो। इसके सिवा, हठयोग, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार आदि का जो वर्णन काव्य में आया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का मन इस देश की संस्कृति और परम्परा में किस प्रकार रँगा हुआ था। और इतना होने पर भी, जायसी के मुसलमान होने पर कहीं कोई पर्दा नहीं पड़ा है। उन्होंने पैगम्बर साहव की स्तुति उसी भक्ति से की है जिस भक्ति से हिन्दू कवि, ग्रन्थारम्भ में, अपने इष्टदेव की वन्दना करते थे।

भारत के हिन्दू और मुसलमान अव भीरु और दकियानूस हो गये हैं। एक समय उन्हें इस चिन्ता ने घेरा था कि अँगरेजी पढ़ने से हमारी संस्कृति विगड़ जायगी। उस पस्ती से हिन्दू तो वहुत पहले ही छूट गये, मुसलमान कुछ देर से निकले। नतीजा यह हुआ कि शिक्षा में वे हिन्दुओं से कुछ पीछे रह गये। आज फिर मुसलमान कुछ वैसी ही चिन्ता में गिरफ्तार हैं। उन्हें फिर यह फिक्र हो गयी है कि हिन्दी सीखने से कहीं हमारी संस्कृति न खराब हो जाय। लेकिन, अमीर खुसरो, जायसी, कुतबन, मंझन, रहीम, रसखान, आलम और मुमताज, ये सभी हिन्दी-कवि इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय मुसलमान यदि भारत की भाषाएँ सीखें या उनमें रचना करें तो इससे उनकी संस्कृति दूषित नहीं होगी। उलटे, उन्हें अधिक पाठक और प्रशंसक प्राप्त होंगे और उनके इस काम से, इस्लाम के साथ-साथ, हिन्दुस्तान की भी वहुत बड़ी सेवा होगी। हिन्दी का वह रूप प्रकट हो सकता है जो हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों के अनुकूल हो।

हिन्दू-संस्कृति को समझने का प्रयास

मुसलमानों के भारत-विजय के पूर्व ही हिन्दू-संस्कृति के बहुत-से ग्रन्थों का अनुवाद अरबी और फारसी में हो चुका था। भारत में इस्लामी राज्य कायम हो जाने के बाद अनुवाद की उपादेयता पर मुसलमानों का ध्यान जरा देर से पड़ा। पठानों में अनुवाद के लिए कोई खास उत्साह नहीं था। सूफी साधक अपने मतलब का ज्ञान, शायद, हिन्दू गुरु-भाइयों से प्राप्त कर लेते थे। हठयोग की साधना तो पुस्तकीय ज्ञान मात्र से शक्य थी भी नहीं। अतएव, योग-विषयक ज्ञान मुसलमान साधक संगति से ही प्राप्त करते थे। तब भी पठान-काल में भी अनुवादों के कुछ दृष्टान्त मिलते हैं। महाभारत का बँगला अनुवाद, सब से पहले, नसीरशाह (१२८२-१३२५ ई०) ने करवाया था। नसीरशाह भारतीय भाषाओं को काफी प्रोत्साहन देता था। विद्यापति ने भी नसीरशाह की प्रशंसा लिखी है।

बंगाल के अन्य सूबेदार हुसेनशाह भी बँगला भाषा के प्रेमी थे। भागवत का बँगला अनुवाद कराने के काम पर माताधर वसु को उन्हीं ने नियुक्त किया था। पीछे, उन्हीं की देखादेखी हिन्दू राजे भी बँगला को प्रोत्साहन देने लगे। इन्हीं हुसेनशाह ने मृगावती काव्य की भी रचना करवायी थी।

लेकिन, संस्कृत से फारसी में अनुवाद के काम, धड़ल्ले के साथ, मुगल-काल में आरम्भ किये गये। अकबर के दरबारी पण्डित फैजी ने योगवाशिष्ठ, लीलावती, नल-दमयन्ती और सिंहासन-बत्तीसी का अनुवाद फारसी में किया। अथर्ववेद का फारसी अनुवाद हाजी इब्राहीम ने किया एवं रामायण और महाभारत का अनुवाद कइयों ने मिलकर, जिनमें कुछ हिन्दू भी थे, जिन्होंने अच्छी फारसी सीख ली थी। अथर्ववेद का भी अनुवाद हिन्दू और मुस्लिम पंडितों ने मिलकर किया था, यद्यपि अथर्ववेद के अनुवादक के रूप में नाम केवल मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी का ही लिया जाता है। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों के अनुवाद अपनी देख-रेख में करवाये थे।

मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, रामतीर्थ और आदित्य नाम के हिन्दू पंडित और सांस्कृतिक नेता अकबर के दरबार में आया करते थे। यह भी कहा जाता है कि तुलसी,सूर और दादूदयाल की भेंट मुगल बादशाहों से हुई थी।

असाम्प्रदायिक व्यवहार के दृष्टान्त

औसत मुसलमान आचारों में उदार और विचारों में कट्टर होता है। मिलने-जुलने, खान-पान और सामाजिक सौजन्य में वह किसी का भी अनादर नहीं करता। लेकिन, विचार के धरातल पर उसमें विरोधी मतों के लिए सहानुभूति बहुत कम होती है। मसलन, मुसलमान के लिए इस सम्भावना को कबूल करना कठिन है कि दुनिया के अन्य धर्म इस्लाम की छाया भी छू सकते हैं। हिन्दू का हाल ठीक इसके विपरीत है। वह विचार के धरातल पर अत्यन्त उदार होता है। संसार के अन्य धर्मों को अपने ही धर्म

के समान मानकर उनपर श्रद्धा करने में कठिनाई, कदाचित् ही, किसी हिन्दू को होगी। परन्तु, सामाजिक आचार के मामले में हिन्दू जितने संकीर्ण होते हैं उतने संकीर्ण दुनिया के और कोई लोग नहीं हैं। मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने जो सम्बन्ध स्थापित किया, उसमें हिन्दू-स्वभाव के गुण और अवगुण, दोनों प्रकट हो गये।

आचार के मामले में हिन्दुओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि मुसलमानों का छुआ हुआ पानी हम नहीं पियेंगे, न उनके साथ हम रोटी-बेटी का सम्बन्ध करनेवाले हैं। किन्तु, विचार के धरातल पर हिन्दुओं ने इस्लाम को भी आदरणीय धर्म मान लिया। राणा कुम्भा के प्रसिद्ध कीर्त्ति-स्तम्भ में हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ हैं। किन्तु, अरबी अक्षरों में अल्लाह का नाम भी उस पर खुदा है। “वह निराकार ब्रह्म का अरबी नाम है। इस प्रकार, इस्लाम के बुनियादी विचार को हिन्दुओं ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया।”

मुसलमानों की सभी लड़ाइयाँ हिन्दुओं के ही खिलाफ नहीं थीं, वे आपस में भी लड़ते थे, जैसी लड़ाइयाँ हिन्दुओं ने भी हिन्दुओं के खिलाफ लड़ी थीं। अनेक बार ऐसा भी हुआ कि लड़ाइयों में हिन्दुओं ने मुसलमानों का और मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ दिया। बाबर और राणा साँगा की लड़ाई में सुलतान महमूद लोदी और मेवात के हसन खाँ राणा के साथ थे। हेमू अफगानों का सेनापति था और दरबार ने, हिन्दु-परम्परा के अनुसार, उसे विक्रमादित्य की पदवी दी थी। औरंगजेब के समान कट्टर हिन्दू-द्रोही बादशाह भी अपनी फौज में हिन्दू सेनापति रखता था। इसी प्रकार, राणा प्रताप और शिवाजी महाराज की सेना में भी अनेक पठान अफसर काम करते थे। शिवाजी के यहाँ तो मुसलमान अच्छे-से-अच्छे पदों पर नियुक्त किये गये थे। अपने छः सौ वर्षों के राज्यकाल में मुसलमानों ने ज्यादा लड़ाइयाँ मुसलमानों के ही खिलाफ लड़ीं। सन् ११९३ ई० से लेकर सन् १५२६ ई० तक दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर जो ३५ सुलतान बैठे, उनमें से १९ सुलतानों की हत्या हिन्दू नहीं, मुस्लिम दुश्मनों के हाथों हुई थी।

शिवाजी महाराज साम्प्रदायिक समझे जाते हैं, किन्तु उनके साम्प्रदायिक होने का इसमें कोई प्रमाण नहीं मिला। अपने सारे जीवन में उन्होंने एक भी मस्जिद लुटवायी हो, इसका कोई भी सबूत इतिहास में नहीं है। एक बार लूट के माल में उन्होंने कुरान-शरीफ की एक प्रति देखी और वे अपने सिपाहियों पर नाराज हो उठे। निदान, कुरान की प्रति जिसके घर से लायी गयी थी, उसी के घर वह पहुँचा दी गयी। एक बार ऐसा हुआ कि उनके सिपाही कल्याण के सूबेदार का घर लूटकर, लूट के माल में, सूबेदार की बेटी को भी साथ ले आये। शिवाजी महाराज ने इसपर बड़ा ही पश्चात्ताप प्रकट किया और उस युवती को उन्होंने इज्जत के साथ डोली में बिठाकर उसके घर भेज दिया। आदमी बहन की विदाई में जैसे उपहार भेजता है, वैसे ही, उस युवती को उपहार में उन्होंने दो गाँव भी दिये।

अपने सिपाहियों को शिवाजी ने कड़ी हिदायत दे रखी थी कि लड़ाई या लूट के

प्रसंग में मस्जिद, कुरान और नारी की बेइज्जती नहीं होनी चाहिये। शिवाजी के समय के जो कागजात मिले हैं, उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि शिवाजी का उ इस्लाम का अनादर नहीं, केवल "हिन्दवी स्वराज्य" का संस्थापन था। उन्होंने तल अत्याचार का विरोध करने को उठायी थी और चूँकि अत्याचारी शासक मुसलमान इसलिए, लोगों ने, गलत ढंग से, शिवाजी महाराज को साम्प्रदायिक मान लिया।

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कटुता का सम्बन्ध, प्रायः, पठानों के समय चला। मुगलों के आगमन के बाद परिस्थिति में सुधार आने लगा। मुगल स अकबर ने जिस उदारता का परिचय दिया, उसके बीज बाबर के ही हृदय में मो थे। बाबर ने हुमायूँ के लिए एक वसीयतनामा[1] लिखा था, जिसमें हुमायूँ को उ ये उपदेश दिये थे:—

"हिन्दुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्हें तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष हो न्याय करना और सभी धर्मों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिन्दू प मानते हैं, अतएव, जहाँ तक हो सके गोवध नहीं करवाना और किसी भी सम्प्रदाय पूजा के स्थान को नष्ट नहीं करना।"

साहित्य और कला की सेवा में मुगलों ने साम्प्रदायिकता नहीं आने दी। मनो मिश्र, जगतराम, वीरबल, होलराय, टोडरमल, भगवानदास, मानसिंह, नरहरि गंग को अकबर ने काफी सम्मान दिया था। हिन्दू चित्रकारों में भी मुकुन्द, मह जगन, हरिवंश और राम का, मुगलों के यहाँ, बड़ा सम्मान था। जैसे पठान-तु खुसरो, कबीर, जायसी आदि मुस्लिम कवियों ने हिन्दी-साहित्य की रचना की थी, ही, मुगल-काल में रसखान, आलम, जमाल, रसलीन, कादिर, मुबारक, रहीम ताज ने हिन्दी की बहुत अच्छी सेवा की। दाराशिकोह तो हिन्दी, संस्कृत और हिन् के पक्षपाती होने के कारण मुसलमानों में काफी वदनाम थे। कहते हैं, उनकी अं पर, नागरी अक्षरों में, "प्रभु" शब्द अंकित रहता था। शेरशाह के सिक्कों पर नागरी और फारसी अक्षरों में उसका नाम खुदा रहता था। उसके कई सिक्के और स्वस्तिक के चिह्न वाले भी पाये गये हैं।[2] शेरशाह का न्याय भी अटल था। साधारण स्त्री की फरियाद पर उसने अपने बेटे को कड़ा दण्ड दिया था। कवि सुन्दर को शाहजहाँ ने "महाकविराज" की उपाधि दी थी।

जो हिन्दू नारियाँ मुगलों के घर व्याही गयीं, वे राजमहल में हिन्दू-विधि से रहती थीं, ऐसा कहा जाता है। रानी जोधबाई के आँगन में तुलसी के वृक्ष बरा लहलहाते रहते थे। उनके घर में होम और यज्ञ भी बराबर होते थे। अकबर जोधबाई के महलों के बीच के रास्ते पर हरम की और कोई रानी नहीं चल सकती लेकिन, यह सम्मान भगवानदास की बेटी को नहीं मिला जिसका ब्याह जहाँगीर से

---

[1] इसकी प्रति भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद बतायी जाती है।

[2] इतिहास-प्रवेश।

था। जहाँगीर हिन्दू-द्वेष्टा नहीं था, लेकिन, उसके पूरे हृदय पर एकमात्र नूरजहाँ का राज्य था।

समकालीन कवियों का दृष्टिकोण

कबीर दास तथा उनकी परम्परा के सन्त कवि और मलिक मुहम्मद जायसी एवं उनकी परम्परा के प्रेममार्गी सूफी कवि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को किस दृष्टि से देखते थे, यह बात हम, संक्षेप में, ऊपर कह आये हैं। इन दोनों ही परम्पराओं के कवि इस समस्या से पूर्णरूप से अवगत थे और इसका समाधान वे दोनों धर्मों के लोगों को परस्पर समीप लाकर करना चाहते थे। एकता की जो राह सन्त कवियों को दिखायी पड़ी थी, वह यह थी कि हिन्दू और मुसलमान, अपने-अपने धर्म के बाह्याडम्बरों को छोड़कर उनसे ऊपर उठें और उस परम धर्म को ग्रहण करें जहाँ से सभी धर्म उत्पन्न होते हैं और जो सभी धर्मों में एक समान व्याप्त है। प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपनी अनुभूति को भारत की भाषा में लिखकर, मानो, यह सन्देश दिया कि हम भारत के मुसलमान हैं, अतएव, हमारी आत्मा की भाषा फारसी नहीं, भारत की भाषा होगी; हम अपनी संस्कृति का आख्यान इसी देश की भाषा में करेंगे और हम अपनी "प्रेम की पीर" इसी देश की जनता को सुनायेंगे।

किन्तु, हिन्दी के अन्य महाकवि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को किस दृष्टि से देखते थे, इसका निश्चित ज्ञान हमें नहीं मिलता। विद्यापति ठाकुर कबीर दास से पहले हुए थे। उनकी पदावली में मुसलमानों पर किञ्चित् भी आक्रोश नहीं है। बल्कि, नसीरशाह का उल्लेख उन्होंने थोड़ी-बहुत प्रसन्नता से ही किया है। हाँ, जौनपुर के मुसलमानों का वर्णन करते हुए उन्होंने उनके उच्छृङ्खल व्यवहारों का उल्लेख दुःख के साथ अवश्य किया है।

धरि आनय बाभनक बरुआ, मथा चढ़ावय गायक चुरुआ।
हिन्दू बोलहि दूरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार।

—कीर्त्तिलता

(ब्राह्मण कुमार को पकड़ लाता है; उसके माथे पर गोमांस की हाँड़ी चढ़ा देता है। हिन्दू नाम सुनते ही दुरदुरा कर बाहर कर देता है; तुर्क छोटा ही क्यों न हो, आतंक वह खूब दिखाता है।)

हिन्दी के दूसरे महाकवि सूरदास में भी मुसलमानों के प्रति निन्दा और आक्रोश के भाव नहीं हैं। विद्यापति और सूरदास ने अपने लिए जो विषय चुना था, वह ऐसा था भी नहीं जिसमें समकालीन सामाजिक समस्या झाँकी मारती। हाँ, मुस्लिम-काल में लोक-समाहार के महा समर्थ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए जो अपने समय से लेकर आज तक जनता के हृदय पर एकच्छत्र राज्य करते आ रहे हैं। तुलसीदास केवल कवि ही नहीं हैं। उनका स्थान हिन्दू-संस्कृति के रक्षक, त्राता और उद्धर्त्ता का स्थान है। नैतिक विषयों पर धर्मशास्त्रों का कहाँ क्या कहना है, यह जानने की चिन्ता उत्तर भारत में अधिक नहीं है। वहाँ की जनता प्रत्येक विषय पर केवल तुलसीदास

की राय जानना चाहती है। तुलसीदास पर जनता का ऐसा अटल विश्वास है कि राजा, नेता और फकीर, इनमें से जो भी तुलसी के खिलाफ होगा, जनता उसके खिलाफ हो जायगी। अवश्य ही, ऐसा सम्मान वही कवि पा सकता है जिसने अपने देश की संस्कृति के कण-कण को अपने भीतर पचा लिया हो और जिसका हृदय अपार जनता के हृदय से बिलकुल एकाकार हो। तुलसीदास ऐसे ही कवि हुए हैं, अतएव, उनके प्रसंग में महत्त्व केवल उतने का ही नहीं है जिसे कहने का उन्हें अवसर मिला, बल्कि महत्त्वपूर्ण बातें वे भी हैं जो उनके कहने से छूट गयी हैं।

तुलसीदास के सारे साहित्य में इस बात का कहीं रंच भर भी प्रमाण नहीं है कि मुसलमानों पर उन्हें तनिक भी क्रोध या आक्रोश था। उनका समय अकबर और जहाँगीर के राज्य-काल में पड़ता है जब हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का ताप, काफी दूर तक, शमित हो चुका था, जब लोग यह भूल चुके थे कि मुसलमान विदेशी हैं और जब हिन्दू और मुसलमान पड़ोसी बनकर शान्ति के साथ जीने लगे थे।

तुलसीदास का सम्मान दोनों ही धर्मों के लोग करते थे। खानखानाँ रहीम से तुलसीदास की दोस्ती थी, यह बात साहित्य के इतिहास में अनेक बार कही गयी है। जब तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखा, रहीम ने कुछ दोहे रच कर उस काव्य की प्रशंसा की थी और यह स्वीकार किया था कि यह काव्य हिन्दुओं के लिए वेद और मुसलमानों के लिए कुरान है।[1] जनश्रुति तो यह भी चलती है कि अकबर से तुलसीदास की भेंट हुई थी, किन्तु, इस जनश्रुति का कोई भी आधार नहीं है। इसी प्रकार, तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं अथवा मानसिंह को वे किस दृष्टि से देखते थे, यह सब जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

तुलसीदास के विषय में दृढ़तापूर्वक कहने योग्य बात केवल यह है कि वे निगमागम-सम्मत हिन्दुत्व के कट्टर पक्षपाती थे और वर्णाश्रम-धर्म की किञ्चित् भी अवज्ञा उन्हें पसन्द नहीं थी। वे वैदिक धर्म के अनुष्ठानों में पूरी श्रद्धा रखते थे तथा धर्म-परिवर्तन की तो बात ही क्या, वे शूद्रों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना भी नहीं सह सकते थे।[2] मुस्लिम-समाज हिन्दू-समाज से बिलकुल भिन्न था, इसलिए, तुलसीदास को यह चिन्ता नहीं थी कि मुसलमान अपने समाज में क्या करते हैं। किन्तु, हिन्दू-समाज के भीतर रहकर जो लोग जनता को यह सिखाते थे कि मन्दिरों में जाना व्यर्थ है, व्रत रखने से पुण्य नहीं होता और साकार की उपासना अन्धविश्वासी मनुष्य करता है, तुलसीदास ऐसे सभी निराकारवादियों के कट्टर विरोधी थे। एक दिन कोई "अलख-निरंजन" की पुकार लगानेवाला निराकारवादी फकीर उनके दरवाजे पर पहुँचा और "अलख-अलख" का नारा लगाने लगा। तुलसीदास उस फकीर पर बिगड़ गये और बोले, "तुलसी अलख को देख चुका है, मगर, तू रामनाम का जप कर।"

---

[1] हिन्दुआन को वेद सम, तुरुकहिं प्रगट कुरान। —रहीम

[2] सूद्र द्विजहिं उपदेसहिं ज्ञाना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना। —तुलसीदास

हम लख हमहिं, हमार लख हम-हमार के बीच,
तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच ।

तुलसीदासजी नाथ-पन्थियों और गोरख-पन्थियों के भी विरुद्ध थे, क्योंकि उनका विचार था कि योगाचार की ओर जनता को प्रेरित करने से कोई लाभ नहीं है। इन पन्थों के फेर में पड़ी हुई जनता मन्दिर और मूर्त्ति को तो आसानी से छोड़ देती थी, किन्तु, निराकारवादी मत के सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान उसके पल्ले नहीं पड़ता था। इस प्रकार वैदिक परम्परा कमजोर होती थी और जनता का हृदय शून्यता से भरता जाता था। अतएव, एक जगह उन्होंने यह भी कहा है कि गोरख ने ऐसा योग जगाया कि लोगों की भक्ति ही भाग गयी ।[1]

साकार मत और वेद-पुराण की निन्दा कबीर आदि सन्तों ने खुलकर की थी। इस निन्दा का समर्थन प्रेममार्गी सूफी कवि भी करते थे। अतएव, एक स्थल पर तुलसीदास ने ऐसे भक्तों को भी फटकारा है।

साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान,
भगत निरूपहिं भगति कलि, निन्दहिं वेद-पुरान ।

अवश्य ही, यहाँ "साखी, सबदी और दोहा" से आशय कबीर, दादूदयाल आदि से है तथा कहानी और उपाख्यान कहनेवाले भक्त जायसी, कुतबन, मंझन और उस्मान हैं। स्थापित राज्यसत्ता के तुलसीदास न तो प्रशंसक थे, न आलोचक। धरती के राजदरबारों से ऊपर एक और दरबार है, जो स्वयं भगवान का है। तुलसीदास ने अपना पट्टा इस बड़े दरबार में लिखवा लिया था। फिर दिल्ली के बादशाह की ओर वे लालच से क्यों देखते ?

हम चाकर रघुवीर के पट्यौ लिख्यौ दरबार,
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार ?

इस दोहे से जो थोड़ी-सी अवज्ञा ध्वनति होती है, वह अवज्ञा मुसलमान की नहीं, राज्यसत्ता की है, जिससे भारत के सन्त अपने को हमेशा श्रेष्ठ समझते थे। रामचरितमानस के अन्त में तुलसीदास ने कहा है कि यह कथा कामी, क्रोधी और ब्राह्मण-द्वेष्टा को नहीं सुनानी चाहिये, भले ही, वह ब्राह्मण-द्वेषी इन्द्र के ही समान क्यों न हो ।

द्विज-द्रोहिहिं न सुनाइय कबहूँ,
सुरपति-सरिस होय नृप जबहूँ ।

किन्तु, खानखानाँ रहीम को अपना काव्य सुनाने में तुलसीदास को आपत्ति नहीं थी। यदि भूषण को छोड़ दें तो हिन्दू-मुस्लिम-समस्या पर मध्यकालीन हिन्दी कवियों की प्रतिक्रिया हमें दो रूपों में दिखायी देती है। कबीर, दादूदयाल, जायसी और उस्मान इस पक्ष में हैं कि दोनों जातियों के लोग एक हो जायँ, यदि एक न हो सकें तो, कम-से-कम, काफी नजदीक आ जायँ। किन्तु, दूसरी धारा के कवि कहते

---

[1] गोरख जगायो योग, भगति भगायो लोग ।

हैं, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से अलग रहें, इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं है। लेकिन, एक दूसरे के धर्म में उन्हें दखल नहीं देना चाहिये। विद्यापति, सूरदास और तुलसीदास तथा, कदाचित्, खानखानाँ रहीम, रसखान, मुबारक और रसलीन भी इ पिछली धारा के पक्षपाती हैं।

बुद्ध के समय से भारत में संस्कृति की दो धाराएँ बहुत ही स्पष्ट रही हैं। ए धारा वह है जो वर्णाश्रम-धर्म को अक्षुण्ण रखना चाहती है, जिसका विश्वास वेदों पुराणों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में है तथा जो धर्म के स्मृति-रूपों पर श्रद्धा रखती है एवं मन्दिर, मूर्त्ति, तीर्थ और व्रत में विश्वास करती है। इस धारा के आचार्य मनु और शंकर तथा उसके कवि कालिदास, जयदेव, विद्यापति और तुलसीदास हैं। आधुनिक काल में इस धारा के ओजस्वी प्रतिनिधि पं० मदनमोहन मालवीय थे। दूसरी धारा वह है जो बुद्ध के कमंडलु से निकली थी और जो बौद्ध आचार्यों से होकर सरहपा-नहपा आदि सिद्धों में पहुँची और कबीर, नानक, दादूदयाल एवं जायसी से होकर आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी में प्रकट हुई थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, ये दोनों ही धाराएँ परस्पर समीप होती जा रही हैं। परमहंस रामकृष्ण में तो ऐसा दिखायी पड़ा, मानो, ये दोनों ही धाराएँ संगम पाकर पर्यवसित हो गयी हों। किन्तु, उनके बीच की दूरी अभी बाकी है। भारत और निखिल मानवता का भविष्य यदि अच्छा है तो, एक-न-एक दिन, ये दोनों धाराएँ एक हो जायँगी। भविष्य, कदाचित्, तुलसीदास के पक्ष में कम, कबीर की ओर कुछ अधिक है।

तब भी, यह मानना ही पड़ेगा कि तुलसीदास असाम्प्रदायिक कवि हैं। इसका एक अन्यतम प्रमाण यह है कि अरबी-फारसी शब्दों से उन्हें किञ्चित् भी घृणा नहीं थी।

राज्यसत्ता से अपने को श्रेष्ठ बताने का भाव साम्प्रदायिकता नहीं, बल्कि, साहित्यिक का स्वाभिमान है। ऐसी श्रेष्ठता का दावा वैष्णव कवि कुम्भनदास ने भी किया है—

संत को सिकरी सों का काम ?
आवत-जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम।

श्रीधर नाम के एक कवि अकबर के समय में हो गये हैं। अकबर गुणग्राहक और उदार सम्राट् थे, अतएव, पण्डित और कवि बराबर उनके दरबार में हाजिरी देने जाते थे। यह बात श्रीधर कवि को बहुत बुरी लगी। बुरी लगने की बात ही है। दरबार चाहे अकबर का हो या आधुनिक शासकों का, वहाँ जो पंडित हाजिरी देने जाता है, वह किसी लोभ से ही जाता है।

राजदुआरे साधुजन, तीनि वस्तु को जायँ,
कै मीठा, कै मान को, कै माया की चाय।

श्रीधर ने ऐसे सभी कवियों को फटकारते हुए जो प्रभावपूर्ण सवैया लिखा, वह हमेशा कवियों के समक्ष टाँगे रखने के योग्य है। इस सवैये में अकबर की अवज्ञा तो

ही, कुछ थोड़ी अवज्ञा अकबर के दादा वाबर की भी है। किन्तु, कवि के भाव में प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं है। वह केवल कवि के स्वभाव-जनित अहंकार का स्फोट है।

अबके सुलतान भये फुहियान-से, बाँधत पाग अटब्बर की,
नर की नरकी कविता जु करे, तेहि काटिये जीभ सुलब्बर की।
इक श्रीधर आस हैं श्रीधर की, नहिं त्रास अहै कोउ बब्बर की,
जिनको नहिं आस कछू जग में सो करो मिलि आस अकब्बर की।[1]

हिन्दी-कवियों में एक भूषण ही हुए जिन्होंने इस्लाम का तो नहीं, मुसलमानों का कर विरोध किया। वे शिवाजी महाराज के राजकवि थे। शिवाजी महाराष्ट्र हते थे और भूषण का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ था। किन्तु, औरंगजेव की साम्प्र-यिकता से सारे भारत के हिन्दू नाराज थे। यही आक्रोश भूषण के भीतर से, आग लपटों-जैसी प्रचण्ड कविता के रूप में, फूट पड़ा। भूषण एक ऐसे आश्रयदाता की में थे जो हिन्दू-हृदय के इस आक्रोश का प्रतीक हो। जब उत्तर प्रदेश में उन्हें वीर हिन्दू नहीं मिला, वे अपना घर-बार छोड़ कर महाराष्ट्र चले गये और वाजी की स्तुति में उन्होंने ऐसी निर्भीक कविताएँ लिखीं, जिनके नाद से सारा देश उठा। शिवाजी का "हिन्दुवी स्वराज्य" केवल हिन्दू-स्वराज्य भले ही न रहा हो, न्तु, भूषण का काव्य शुद्ध हिन्दू-राष्ट्रीयता का काव्य है।

न्दी के मुसलमान कवि

हिन्दू-मुस्लिम-एकता का मार्ग और कोई नहीं, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है। राष्ट्रीयता पक्की तभी हो सकती है, जब मुसलमान भी अपने को भारतमाता की न मानें और अपनी भावनाएँ और विचार उस भाषा अथवा उन भाषाओं में लिखें यहाँ के और लोग लिखा करते हैं। उर्दू भी भारत की ही भाषा है और वह राष्ट्रीयता का समर्थ माध्यम भी बन सकती है यदि उसके लेखक और कवि प्रेरणाएँ भारत के अतीत और वर्त्तमान से ग्रहण करें जैसे कवीर, खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान और नजीर अकबराबादी ने ग्रहण की थीं। भारतीय राष्ट्री-की इस आवश्यकता की अनुभूति सबसे पहले अमीर खुसरो को हुई थी। कवीर, जायसी, कुतुबन, मंझन और उस्मान ने, खुसरो से शिक्षा लेकर, सारा साहित्य अवधी भाषा में लिखा। यह परम्परा इन्हीं लोगों तक नहीं रुकी। वाद भी, हिन्दी ने अनेक मुस्लिम कवि उत्पन्न किये जिनकी रचनाएँ हिन्दी-की कीमती थाती के रूप में विद्यमान हैं। कहते हैं, स्वयं अकबर भी जब-तब

---

[1] नर की नरकी कविता जु करे = जो कवि मनुष्य की स्तुति में नारकीय कविता लिखे। वब्बर = शेर-वबर और अकबर का दादा वावर।

हिन्दी में कुछ दोहे कह दिया करते थे।[1] कुछ सवैये शाहजहाँ[2] के भी मिलते है काफी दोहे जैबुन्निसा के भी उपलब्ध हैं जो औरंगजेब की बेटी थी।[3]

किन्तु, अकबर के वजीर खानखानाँ रहीम तो हिन्दी के ऐसे सिद्धहस्त कवि हु उनका प्रकाश साहित्य के भाण्डार को आज भी आलोकित कर रहा है। "तु वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्दी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँ रहते हैं। भाषा पर तुलसी का-सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं।" कविताओं में आये हुए प्रसंगों को देखते ही यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि हिन्दू-दर्शन साहित्य तथा अलंकारशास्त्र का उन्हें उतना ही अच्छा ज्ञान था जितने अच्छे ज्ञान दावा बड़े-से-बड़ा हिन्दू विद्वान् कर सकता है। अपने धर्म और आध्यात्मिक वि पर सुदृढ़ रहते हुए भी मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

खानखानाँ रहीम कई भाषाओं में पारंगत थे। "उन्होंने फारसी का एक भी बनाया था और वाकयात-बाबरी का तुर्की से फारसी में अनुवाद भी किया इन्होंने कुछ मिश्रित रचनाएँ भी की हैं जिनमें संस्कृत और खड़ी बोली, दोनों ही भा का प्रयोग हुआ है। कदाचित्, ऐसी ही रचनाओं को देखकर डाक्टर यूसुफ हुसे रहीम को उर्दू का कवि समझ रखा है। किन्तु, रहीम उर्दू में नहीं लिखते थे। रचनाएँ या तो फारसी में मिलती हैं अथवा शुद्ध हिन्दी में या फिर उनकी कृतियाँ खिचड़ी-भाषा में हैं।

---

[1] राजा वीरबल अपनी वर्ष-गाँठ पर अपना सारा सर्वस्व दान कर देते थे। लड़ाई में वे मारे गये, उसपर जाने के पूर्व भी उन्होंने अपनी सम्पत्ति गरी बाँट दी थी। वीरबल की मृत्यु का दु:संवाद जब अकबर को मिला, तब ने यह सोरठा कहा था :—

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख,
सो मो कहँ अब दीन, कछुक न राख्यौ बीरबल।

[2] औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित होकर शाहजहाँ ने यह सवैया लिखा था :

जन्मत ही लख दान दियो अरु नाम रख्यौ नवरंग बिहारी,
बालहिं सों प्रतिपाल कियो अरु देस-मुलुक्क दियो दल भारी।
सो सुत वैर बुझै मन में धरि हाथ दियो बँधसार में डारी,
शाहजहाँ विनवै हरि सों बलि राजिवनैन रजाय तिहारी।

[3] औरंगजेब की पुत्री शाहजादी जैबुन्निसा बेगम भी हिन्दी की कवयित्री थीं। काव्य-संग्रह का नाम "नैन-विलास" है जिसमें से यह दोहा पं० अम्बिका वाजयेपी ने उद्धृत किया है :—

जैबुन्निसा जहान में, दुख्तर आलमगीर।
नैन-विलास विलास में खास करी तहरीर।

खिचड़ी भाषा में कौतुकी रचनाएँ सब से पहले अमीर खुसरो ने लिखी थीं। फारसी पद का एक टुकड़ा वे फारसी में और दूसरा ब्रजभाषा में रचते थे। यथा,

ज़ेहाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराय नैना बनाय बतियाँ,
कि ताबे हिजराँ न दारम् ऐ जाँ, न लेहु काहे लगाय छतियाँ।

लेकिन, रहीम की कौतुकी रचनाओं में फारसी और ब्रजभाषा की खिचड़ी नहीं, संस्कृत और खड़ी बोली का मेल है।

दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरंगशावनयना गुल तोड़ती थी खड़ी।

रहीम ने "खेट-कौतुक-जातकम्" नाम से एक ज्योतिष-ग्रन्थ की भी रचना की थी जिसकी भाषा संस्कृत, फारसी और हिन्दी, तीनों के संगम के समान थी। यथा,

यदा मुश्तरी कर्कटे वा कमाने,
यदा चश्मखोरा जमीवासमाने,
तदा ज्योतिषी क्या कहै, क्या पढ़ैगा ?
हुआ बालका पादशाही करैगा।

(जिसकी जन्म-पत्री में धनु अथवा कर्क के बृहस्पति दसवें स्थान में हों तो ज्योतिषी क्या लिखे-पढ़ेगा ? क्योंकि वह लड़का पादशाही करेगा। — अं० प्र० वाजपेयी।)

हिन्दी-फारसी-मिश्रित कविताएँ गंग कवि भी लिखते थे। कदाचित्, यह विद्वत्ता-प्रदर्शन का क्षेत्र था। गंग की पंक्तियाँ हैं,

कौन घरी करिहै बिधना जब रूए अयाँ दिलदार मुबीनम्।
आनन्द होय तबै सजनी, दर वस्लये चार निगार नशीनम्।

हिन्दी के दूसरे प्रसिद्ध मुसलमान कवि रसखान जाति के पठान थे। उनका जन्म सन् १५५८ ई० में हुआ था। किन्तु, उनका हृदय शुद्ध कृष्णाश्रयी वैष्णव का हृदय था। समस्त कृष्णभक्ति-काव्य के बीच रसखान के कवित्त और सवैये हीरे-मोती की तरह चमकते हैं और उनके भीतर जो अपार भावविह्वलता लहराती है, वह अन्यत्र कम ही सुलभ है।

इसी प्रकार, अनीस, अहमद, कमाल, जमाल, जलालुद्दीन, ताज, तानसेन, नेवाज, फकीरुद्दीन, आलम और शेख तथा मुबारक और रसलीन, आदि मुसलमान कवियों ने हिन्दी में उच्च कोटि की रचनाएँ कीं और हिन्दू-हृदय को इस विषय में सबको आश्वस्त किया कि भारत के मुसलमान और कोई नहीं, भारत की ही सन्तान हैं और उनकी तथा हिन्दुओं की किस्मत एक है।

इनमें से ताज तो अत्यन्त ही भावुक कवयित्री हुई हैं। उनका जन्म सन् १६४३ ई० में हुआ था। वे इतनी भावुक थीं कि कृष्ण-प्रेम के उत्साह में आकर वे यह भी बोल सकीं कि मैं इस्लाम छोड़ कर हिन्दू हो जाने को तैयार हूँ। ताज मुसलमान थीं और वे मुसलमान ही रहीं भी। किन्तु, कृष्ण-तत्त्व की महिमा दिखाने के उत्साह में उन्होंने

जो कुछ कहा, वह केवल असाम्प्रदायिक कवि ही कह सकता था । ताज का वह
इस प्रकार है :—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहौंगी मैं,
देव-पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा-कुरान, सारे गुनन गहौंगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ली दिये,
तेरी नेह-आग में निदाग हो दहौंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पे,
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुवानी हो रहौंगी मैं।

हिन्दी के मुसलमान कवियों की संख्या काफी बड़ी है और हिन्दीवालों को पर नाज भी कम नहीं है । इन कवियों ने हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रति निर्मल, प्रगाढ़ और निश्छल श्रद्धा व्यक्त की कि वह कविता का स्वतंत्र विष उठी । हिन्दी के ये मुसलमान कवि हिन्दू-जनता को इतने प्यारे लगे कि वह उन्हें कवियों से भी श्रेष्ठ समझने लगी ।

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये ।

इनमें अचरज की कोई बात नहीं । वह हिन्दू अन्य हिन्दुओं से श्रेष्ठ है जो अ धर्म के सिवा इस्लाम पर भी श्रद्धा रखता है । और वह मुसलमान भी अन्य मुसलम से श्रेष्ठ है जो अपने मजहब के सिवा हिन्दू-धर्म का भी सम्मान करता है ।

दुःख की बात केवल यह है कि हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न बहुत अच्छे समाधान तक प कर फिर पीछे को लौट गया । □□

प्रकरण ५

इस्लाम का हिन्दुत्व पर प्रभाव

सतही असर

इस्लाम भारत में पहुँच तो सातवीं सदी में ही गया था और मोपला लोग उसी समय मुसलमान भी हो गये थे, किन्तु, इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच, निकट के सम्बन्ध बारहवीं सदी के बाद आरम्भ हुए। इस प्रकार, इन दोनों धर्मों को एक भूमि पर और एक आकाश के नीचे रहते प्रायः, आठ सौ वर्ष हो चुके हैं, किन्तु, आठ सदियों की संगति के बाद भी, हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान रह गये। दोनों के बीच जो मिश्रण होना चाहिये था, वह नहीं हो सका। एकता का एक आन्दोलन अकबर ने चलाया था, किन्तु, उसे औरंगजेब ने काट दिया। दूसरा आन्दोलन महात्मा गाँधी ने चलाया। उसे जिन्ना ने काट दिया। इस्लाम प्रभावित होने से डरता है, क्योंकि, संशोधित, प्रभावित अथवा सुधरा हुआ इस्लाम इस्लाम नहीं है। उधर हिन्दुत्व हमेशा इस बात का अभिमानी रहा है कि हिन्दू हिदुत्व के भीतर चाहे पतित ही समझा जाय, किन्तु, जन्मना वह संसार के अन्य सभी लोगों से श्रेष्ठ है। इस्लाम की यह कट्टरता कि हमारा वही रूप ठीक है, जिसे नबी ने प्रवर्त्तित किया था और हिन्दुत्व का यह आग्रह कि धर्म के मामले में, हमें किसी से कुछ सीखना नहीं है, ये दोनों बातें दीवार बनकर इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच खड़ी रही हैं। इसलिए, यह मानने का कोई बड़ा आधार नहीं है कि हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच कभी भी कोई बड़ा समन्वय या मिश्रण का काम हुआ है। तब भी, दोनों ने दोनों पर प्रभाव जरूर डाला। किन्तु यह बाहरी प्रभाव है, सतह पर का परिवर्त्तन है, जिससे मूल में कोई विकार नहीं आता और यदि ऊपरी बातों को देखें तो इस्लाम ने जितना प्रभाव हिन्दुत्व पर डाला, उससे कहीं अधिक प्रभाव हिन्दुत्व का इस्लाम पर पड़ा है।

इस्लामी प्रभाव का अतिरंजन

हिन्दुत्व पर इस्लाम का कोई प्रभाव पड़ा है या नहीं, इस विषय की खोज पुरानी नहीं है। इसका आरम्भ इसी सदी में हुआ है और, सबसे पहले, सर चार्ल्स इलियट ने अपने विख्यात ग्रन्थ "हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज्म" (प्रथम प्रकाशित, सन् १९२१ ई०) में यह बात, प्रायः, दबी जबान से कही थी कि रामानुज, मध्व तथा लिंगायत या वीर-शैव पर कुछ इस्लामी प्रभाव हो सकता है। उसके बाद, डॉक्टर ताराचन्द की वह प्रसिद्ध पुस्तक (Influences of Islam on Indian Culture) निकली, जिसने सारे संसार में यह भ्रम फैला दिया कि शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य और दक्षिण के आलवार सन्त एवं वीर-शैव तथा लिंगायत-सम्प्रदाय, ये सब-के-सब इस्लामी प्रभाव से आविर्भूत हुए। इस भ्रान्त, अतिरंजित और, लगभग, गलत सिद्धान्त के

तीसरे प्रचारक प्रोफेसर हुमायूँ कबीर हैं जिनकी 'आवर हेरिटेज' नामक छो पुस्तक, शायद, सुलिखित और छोटी होने के कारण ही, संसार में दूर-दूर तक है। प्रोफेसर कबीर की पुस्तक हिन्दू-मुस्लिम-एकता को पुष्ट बनाने के उद्देश्य से गयी है, लेकिन, एकता के प्रचार में भी सत्य जितना सहायक होता है, उतनी मह असत्य को सत्य मानकर चलने से नहीं मिलती। उदाहरणार्थ, जब डॉक्टर तारा और प्रोफेसर कबीर यह कहते हैं कि स्वामी शंकराचार्य ने अपना अद्वैतवाद इस्लाम लिया, तब ज्ञानी उपेक्षा की हँसी हँसते हैं और बाकी लोग एक बार यह सोचे नहीं रह सकते कि ऐसे प्रयासों का ध्येय सत्य की सेवा नहीं, किसी-न-किसी किस्म पक्षपात है, अथवा यह कि बिलकुल नयी बातें बोलने के जोश में ये लेखक गलत बोल रहे हैं।

डॉक्टर ताराचन्दजी का उत्साह अब कुछ ठंडा मालूम होता है। अधिक अध्य मनन और चिन्तन करने से वे अब, शायद, यह अनुभव करने लगे हैं कि जो बातें उ अपनी पहली पुस्तक में उतने जोर से कही थीं, वे जोर से कहने योग्य नहीं हैं। उनका विचार यह मालूम होता है कि हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का प्रभाव, बिलकुल, प्रभाव रहा है। दर्शन और विचार के धरातल पर इस्लाम ने हिन्दुत्व पर कोई प्र नहीं डाला।[१]

डॉक्टर ताराचन्द ने तो सुदीर्घ चिन्तन के बाद वस्तुस्थिति को पहचान किन्तु, उनकी पहली पुस्तक के आधार पर आज भी नयी पुस्तकें लिखी जा रही हैं इस बात का प्रचार करती हैं कि शंकर का अद्वैतवाद इस्लाम की शिक्षा से था और हिन्दुओं का भक्ति-आन्दोलन भी इस्लाम की देन है। इन सभी पुस्तकों ध्येय एकता को प्रोत्साहित करना है, किन्तु, उनके लेखक एक अच्छे उद्देश्य की सेवा

---

[१] "Unfortunately, the two groups lived in almost complete iso tion from one another. Religion, language, customs and gene conditions prevented mutual intercourse. They formed tw worlds apart. They were divided by impenetrable walls. Occa sionally a Zainul-Abdin, an Akbar or a Dara Shikoh mig seek to pull them down ; sometimes a Muslim Darwesh and Hindu Yogi might meet and exchange views, otherwise th gulf between sacerdotal groups of the two communities rem ined wide."

तथा

"Between the higher thoughts of the two Communiti there yawned an abyss which appeared difficult to span."

[डॉक्टर ताराचन्द की नयी पुस्तक "हिस्ट्री आव् द फ्रीडम मूवमेंट", जिल्द १

इस उत्साह से जुट जाते हैं कि उन्हें सत्य और असत्य में अथवा सचाई और अतिरंजन में भेद ही नहीं दीखता, न उन्हें इस बात का ध्यान रहता है कि उनकी स्थापनाएँ, उन्हीं की दलीलों से, खंडित हो रही हैं। ये लेखक यदि दूसरों की स्थापनाओं को ज्यों-त्यों सही न मान कर, स्वयं ही ज्ञान के मूल-स्रोतों पर पहुँचने की कोशिश करें तो सत्य उन्हें अधिक स्पष्ट होकर दिखायी पड़ेगा और वे ऐसी बहुत-सी गलत बातों को दुहराने से बच जायेंगे जो सिर्फ गलत हैं।

डॉक्टर आबिद हुसेन की पुस्तक "भारत की राष्ट्रीय संस्कृति" को मैं इसी कोटि में गिनता हूँ। इस पुस्तक के लेखक का ध्येय, शायद, यह था कि इस्लाम के प्रभाव को वह खूब चमका कर दिखाये। अतएव, जोश में आकर उन्होंने यह लिख दिया कि **भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग पर मुस्लिम-संस्कृति का सीधा और गहरा प्रभाव पड़ा है।**" लेकिन, खोज करने पर इस बात के पुष्ट प्रमाण जब उन्हें नहीं मिले, तब उन्होंने स्वीकार कर लिया कि "शरीर से तो हिन्दुओं ने विजेताओं के सामने आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु, आत्मा से वे अपने धर्म और जाति की स्वपूर्णता में छिप गये एवं हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ऐसा बिलगाव आ गया कि दोनों के बीच किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं हो सकता था।"

पठानों के बारे में डॉ० आबिद हुसेन ने एक जगह तो यह लिखा है कि, "वे अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतिनिधि थे" और दूसरी जगह वे यह भी लिख गये हैं कि "पठानों के पास कोई सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी ही नहीं।" इसी प्रकार, तुलसीदास और कबीर, दोनों को रामानन्द का शिष्य बताकर उन्होंने उन्हें समकालीन बना दिया है, जो बिलकुल गलत बात है। कबीर साहब की मृत्यु सन् १५१८ ई० में हुई और तुलसीदासजी सन् १५३२ ई० में जनमे थे।

शंकराचार्य का जन्म आठवीं सदी में हुआ और भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ आलवारों के काव्य में उससे काफी पहले ही हो चुका था, यद्यपि, भक्ति की प्राचीनतम परम्परा प्राग्वैदिक काल तक पहुँचती है। लेकिन, आबिद हुसेन दोनों को इस्लाम से प्रभावित मानते हैं। यदि ये दोनों बातें इस्लाम से प्रादुर्भूत थीं, तो लेखक ने यह क्यों लिखा है कि "दसवीं सदी के अन्त तक मुसलमान हिन्दू-संस्कृति की केवल कोर ही छू चुके थे, अभी हिन्दुत्व के केन्द्र से वे बहुत दूर थे?" क्या अद्वैत और भक्ति-आन्दोलन हिन्दू-संस्कृति के केवल किनारे मात्र हैं, वे हिन्दुत्व के हृदय और केन्द्र नहीं हैं?

इस बड़े ही नाजुक विषय पर जो भी पुस्तकें मुस्लिम अथवा मुस्लिम-संस्कृति के हिमायती लेखकों ने लिखी हैं, उनमें से डॉक्टर यूसुफ हुसेन की पुस्तक[1], कदाचित्, सबसे अधिक निष्पक्ष है। भक्ति को यूसुफ हुसेन सार्वभौम मानते हैं। "भक्ति सामी भी है। और आर्य भी। भक्ति नीरस बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदय का विद्रोह है।" और रामानुज के प्रसंग में लिखते हुए उन्होंने कहा है, "हम यह कहने का आग्रह नहीं करेंगे कि रामानुज पर इस्लाम का सीधा प्रभाव था।" किन्तु, इस भ्रम के शिकार यूसुफ हुसेन भी हैं

---

[1] Glimpses of Medieval Indian Culture.

कि हिन्दू बहुदेववादी थे ; उनकी यह प्रवृत्ति, इस्लाम के प्रभाव से, एकेश्वरवाद
परिणत हुई ।

तथ्य की कई भूलें यूसुफ हुसेन की भी किताब में हैं । उदाहरणार्थ, यूसुफ
का यह कहना सत्य नहीं है कि अकबर के साले (अथवा श्यालक-पुत्र) राजा मान
गोस्वामी तुलसीदास के संरक्षक (पेट्रन) थे । हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों
तुलसी-साहित्य के विशेषज्ञों के लिए यह नयी सूचना है । लेकिन, ऐसी निराधार
को भी लोग ले उड़ेंगे क्योंकि छिपे-छिपे आन्दोलन यह चल रहा है कि मानसिंह
खिलाफ हिन्दुओं में जो झिझक है, वह दूर हो जाय और वे हिन्दू-राष्ट्र-नायक के
में स्वीकार कर लिये जायँ । जहाँ तक हमें मालूम है, तुलसीदास के एकमात्र स्नेही
संरक्षक काशी के बाबू टोडर सिंह थे जिनकी मृत्यु पर तुलसीदास ने दो-चार दोहे
लिखे थे । समस्त तुलसी-साहित्य में इस बात का रंच भर भी प्रमाण नहीं है कि तुल
दासजी ने राणा प्रताप और मानसिंह के नाम भी कभी सुने थे । गोस्वामी जी
धर्म और वर्णाश्रम-आचार के अत्यन्त कठोर प्रहरी थे । आज हिन्दुओं और मुसल
के बीच वैवाहिक सम्बन्ध को हम भले ही निर्दोष मान लें, किन्तु तुलसीदास के
ऐसे सम्बन्ध केवल गर्हित माने जाते थे । जब तक बिलकुल ठोस प्रमाण सामने
आता, हिन्दू-जनता इस बात को हरगिज स्वीकार नहीं करेगी कि तुलसीदास ने
मानसिंह को अपना संरक्षक माना था । ऐसी अनर्गल बातें बोलकर लोग हिन्दू-मुस्
एकता को मजबूत नहीं बनाते, हिन्दुओं को चिढ़ा कर वे उसे कमजोर करते हैं ।
मुस्लिम-वैवाहिक सम्बन्ध के खिलाफ हिन्दुओं की झिझक कभी दूर भी हो जाय, लेकि
मानसिंह के हिन्दू-राष्ट्र-नायक माने जाने की सम्भावना बिलकुल शून्य है ।

इसी प्रकार, खानखानाँ रहीम को उर्दू का कवि मानना सरासर मनमानी
रहीम के समय के मुस्लिम कवि या तो फारसी में लिखते थे या हिन्दी में । उस
उर्दू का अस्तित्व ही नहीं था । दक्खिन के मुसलमान उन दिनों जो कविताएँ लिख
थे, उनकी भाषा भी हिन्दी ही थी, गर्चे, लिखी वे फारसी लिपि में जाती थीं ।
नाम भी उस भाषा का उर्दू नहीं, बल्कि, दक्खिनी हिन्दी अथवा हिन्दवी था ।
से बाहर रहीम की रचना साधु हिन्दी में ही मिलती है जिसमें अरबी-फारसी के
बहुत ही कम आये हैं ।

हर मुसलमान लेखक जानता है कि इस्लामी विजय के समय सारा भारत
मन्दिरों और मूर्त्तियों से भरा हुआ था । ये मूर्त्तियाँ और मन्दिर भारत में उस
भी थे जब अरबों ने सिन्ध को जीता था और उस समय भी जब इस्लाम का
नहीं हुआ था । क्या कोई विद्वान् यह बता सकता है कि इन मन्दिरों में भक्ति का
रूप इस्लामोदय के पूर्व प्रचलित था वह इस्लामोदय के बाद परिवर्त्तित हो
यदि नहीं, तो यह कहने का आधार क्या है कि भारत में भक्ति-आन्दोलन का
इस्लामी प्रभाव से हुआ ?

भारत की प्राचीनता का तर्क-सम्मत ज्ञान भारत में प्रचलित नहीं था ।

कसौटी पर भारत की प्राचीनता को गौरव यूरोप ने दिया। किन्तु, भारत को अपनी पर निस्सहाय देखकर अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस लोभ में पड़ गये कि भारत यूरोप का शिष्य बताकर वे अपने-आपको गौरव दे डालें। वेबर ने लिखा था कि आत्मिक मुक्ति के लिए भक्ति को साधन मानने की प्रथा भारत में नहीं थी। यह भारतवासियों ने ईसाइयत से ली होगी। अब मुस्लिम लेखक और दूसरे प्रकार पक्षपाती लोग दुनिया को यह समझा रहे हैं कि हिन्दुओं ने भक्ति और अद्वैतवाद के सिद्धान्त इस्लाम से ग्रहण किये थे। इसी प्रकार, एक समय यह भी कहा जाता था कि "कृष्ण" शब्द "क्राइस्ट" से निकला है, सिवके हिन्दुस्तान में यूनान की देखादेखी चले और कालिदास के नाटकों पर यूनानी नाटकों का प्रभाव है। और अब यह कहा जाता है कि कर्णाटक के वीर-शैवों के "अल्लम प्रभु" केवल "अल्ला" के रूपान्तरण हैं। मानों भारतवर्ष ने सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी सृष्टि कभी की ही नहीं। पहले उसने सारी अच्छी चीजें यूनान से ली थीं और, इस्लाम के जन्म के बाद, उसने सारी अच्छी चीजें इस्लाम से ग्रहण कीं।

शंकराचार्य और इस्लाम

शंकर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया है और इस्लाम, आरम्भ से ही, एक ईश्वर में विश्वास करता था, इतनी-सी बात पर डॉक्टर ताराचन्द ने यह अनुमान निकाल लिया कि शंकर का उद्भव इस्लामी प्रभावों के कारण हुआ, क्योंकि शंकर केरल में जनमे थे और केरल में तब तक मुसलमान आ चुके थे। अर्थात्, मुसलमान केरल में आये नहीं कि हिन्दुओं ने उनके पास एकेश्वरवाद को देखकर उसका अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। ये नितान्त भ्रमपूर्ण बातें हैं। इस मत के विरुद्ध सबसे पहले यह अकाट्य तर्क है कि शंकर का एकेश्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद का विकसित रूप है और उसका इस्लामी एकेश्वरवाद से कोई भी मेल नहीं है। इस्लाम एक ईश्वर को ईश्वर मानता है, किन्तु, वह एकेश्वरवादी या अद्वैतवादी नहीं, केवल ईश्वरवादी है। इस्लाम ईश्वर को एक मानता है, किन्तु, वह यह भी समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनायी, वह सातवें आकाश पर बसता है। एवं उसके हृदय में भक्तों के लिए प्रेम और दुष्टों के लिए घृणा का वास है। संसार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते हैं वह कुछ नहीं में कुछ का आभास है", ये बातें इस्लाम में न पहले थीं, न अब हैं। इस्लाम में इसका आभास मात्र सूफियों के जरिये आया था और वह भी नवीं-दसवीं सदी के बाद। यह भी स्मरण रखने की बात है कि स्वयं सूफियों को यह ज्ञान कुछ तो सीधे ब्राह्मणों से और कुछ नव-अफलातूनी मत से मिला था और नव-अफलातूनी मत के प्रवर्तक प्लॉटिनस ने उसे ब्राह्मणों और बौद्धों से प्राप्त किया था। इसके विपरीत, शंकर का ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, निराकार और निर्विकार है। उसे भक्तों की चिन्ता नहीं, न दुष्टों को दंड देने की फिक्र है। शंकर के अनुसार, सृष्टि ईश्वर ने नहीं बनायी। यह महत्तत्त्व का विस्तार है। शंकर ब्रह्म के सिवा और किसी का अस्तित्व नहीं मानते। शांकर मत शुद्ध अद्वैत मत है। किन्तु, इस्लाम शुद्ध या विशिष्ट, किसी

भी प्रकार के अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करता। उसका विश्वास सिर्फ ईश्वरवाद और सृष्टि के स्वभाव के विषय में भी कुरान शंकर के ठीक उलटा बोलता है। का ईश्वरवाद शंकर के अद्वैतवाद से बिल्कुल भिन्न है। फिर भी, न जाने, किस से डॉक्टर साहब को यह भ्रम हो गया कि शांकर मत इस्लाम की तौहीद का करण है।

शंकर को इस्लाम का अनुकर्त्ता कहकर डॉक्टर ताराचन्द ने केवल भ्रम का प्रचार नहीं किया, प्रत्युत, उन्होंने भारतीय संस्कृति से भी अपना अपरिचय किया है। शंकर भारतीय चिन्ताधारा में आकस्मिक घटना की तरह नहीं उनकी परम्परा की लकीर उपनिषदों से आगे ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त तक है। नासदीय सूक्त ने जीवन और सृष्टि के विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाये थे, प्रश्नों का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषद्, फिर बौद्ध दर्शन और सबके में, शंकर का सिद्धान्त प्रकट हुआ। शंकर के निकटतम पूर्वज बौद्ध दार्शनिक थे, शून्यवाद की स्थापना की थी। जो बौद्धों का शून्यवाद था, वही शांकर मत का वाद हुआ। हाँ, बौद्धों से आगे बढ़कर शंकर ने एक तटस्थ ब्रह्म को स्थान अवश्य किन्तु, यह तटस्थ ब्रह्म भी नया नहीं था, प्रत्युत, वह उपनिषदों के युग से आ था। शून्यवाद को मायावाद के नाम से अपनाने के कारण ही, शंकर को लोग " बौद्ध" कहते थे। शंकर ने ब्रह्म की कल्पना जिस रूप में की थी, वह भक्तों के निराशाजनक था, क्योंकि भक्तों की प्रार्थना सुनने को इस ब्रह्म के कान खुले हुए थे। इसलिए, शांकर मत के विरुद्ध, शंकर के बाद ही, जोर की प्रतिक्रिया उठी निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, ये सभी महात्मा साकारवाद की ओर झुके, शंकर के निराकार मत से तार्किक पंडितों को ही समाधान मिलता था, बाकी के पल्ले वह नहीं आ रहा था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे, तो उनके गुरु गौड़पाद अथवा अद्वैताचार्य प्रत्यक्ष बौद्ध समझे जाते हैं। शंकर के गुरु गोविन्दा थे और गोविन्दाचार्य के गुरु गौड़पादाचार्य। गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका लिखी है, उसके चतुर्थ प्रकरण के आरम्भ में उन्होंने बुद्ध की वन्दना इन में की है :—

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्,
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धः तं वन्दे द्विपदां वरम्। [1]

(ज्ञेय धर्मों से अभिन्न आकाश-कल्प ज्ञान से जिसने आकाश-सदृश पदार्थों को लिया; उस द्विपदश्रेष्ठ सम्बुद्ध को मैं प्रणाम करता हूँ।)

क्या इन प्रमाणों के रहते हुए यह मानने का कोई आधार है कि शंकर का वाद भारतीय परम्परा से भिन्न वस्तु थी और उसका आविर्भाव इसलिए हुआ कि

---

[1] गीता प्रेस से माण्डूक्योपनिषद् की जो टीका प्रकाशित हुई है, उसमें सम्बुद्ध अर्थ 'पुरुष' कर दिया गया है जो, कदाचित्, अनुचित है।

ने मुसलमानों की संगति की थी ? यह मानी हुई बात है कि इस्लाम, आरम्भ में, दर्शन-मूलक धर्म था। दार्शनिक बारीकियाँ उसमें सूफियों ने डालीं। जिन दिनों शंकर जन्मे (७८८ ई०) उन दिनों तक, इस्लाम शून्यवाद के ऊहापोह में पड़ा भी नहीं था। इसके विपरीत, शून्यवाद और मायावाद के विषय की विचिकित्सा भारतवर्ष में उपनिषदों के युग से होती आ रही थी और उसका ज्ञान यूनान को भी प्राप्त हो चुका था। "सच बात तो यह है कि शंकर के विचारों पर दार्शनिक वसुबन्धु की पूरी छाप है। इसी कारण वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाते हैं। और चूँकि उन्होंने अपने दर्शन में बौद्ध धर्म की मुख्य बातें अपना लीं, इसलिए, बौद्ध दर्शन अनावश्यक-सा हो गया।" (जयचन्द्र)[1]

भारतीय दर्शन-परिषद् के स्मारक-ग्रन्थ में लिखते हुए दर्शनाचार्य स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने बतलाया है कि "नागार्जुन शून्यवादी थे। उन्होंने माना है कि संसार में किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। सब कुछ नहीं में कुछ होने का भ्रम है। न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है, न विनष्ट। लंकावतार-सूत्र का दर्शन भी नागार्जुन का ही दर्शन है; यद्यपि, वह विज्ञानवादी दर्शन है। यह दर्शन भी मानता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं, वह अपनी मानस-तरंग के कारण। वस्तुतः, बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जगत् सत्य है ही नहीं। इसी विचार को मैत्रेय और असंग ने आगे बढ़ाया तथा वसुबन्धु (पंचम शताब्दी) ने उसका विस्तार किया। आगे चलकर शंकर ने उपनिषदों का जो वेदान्ती भाष्य किया, उसकी नींव वसुबन्धु के दर्शन में ही डाली जा चुकी थी।"

शंकराचार्य का सब से बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने हिन्दुत्व को पौराणिक धर्म से मोड़कर उपनिषदों की ओर उन्मुख कर दिया। जैसे गीता ने बीसवीं सदी में आकर लोकमान्य तिलक के हाथों नवीनता प्राप्त की, वैसे ही, शंकराचार्य के हाथों उपनिषदों की दिशा नवीन हो गयी। उन्होंने अपने सारे ग्रन्थ इस भाव से लिखे कि मनुष्य को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने का मार्ग स्पष्ट दिखायी पड़े। उनका दूसरा महत्त्व यह भी है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे, जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का उनका आग्रह प्रकट होता है। वे आध्यात्मिक सुधारक और सन्त थे एवं शक्त-मन्दिरों में बलि देने की प्रथा का उन्होंने अनेक स्थानों पर विरोध किया था। बौद्ध संघों के अनुकरण पर उन्होंने संन्यासियों के मठ स्थापित किये तथा भारत की भौगोलिक एकता को प्रत्यक्ष करने के निमित्त देश की चार दिशाओं में उन्होंने चार पीठ भी बसाये, जो बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथपुरी और शृङ्गेरी में अवस्थित हैं तथा जहाँ जाने की धार्मिक अभिलाषा प्रत्येक हिन्दू के मन में रहती आयी है।

हिन्दुत्व का गढ़ दक्षिण देश

प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने भी अपनी पुस्तक[2] में इस सम्भावना पर बहुत अधिक

---

[1] इस प्रसंग में "क्रांति की गंगा में शैवाल" नामक प्रकरण भी देखिये।

[2] आवर हेरिटेज।

जोर डाला है कि, हो-न-हो, शंकर ने इस्लाम से प्रभाव ग्रहण करके ही अपने सिद्धा का प्रतिपादन किया है। वे इस बात से बहुत चकित दीखते हैं कि ऐसा क्यों हुआ शंकर, निम्बार्क, रामानुज और वल्लभाचार्य, सब-के-सब, दक्षिण में ही उत्पन्न हुए इस पर से वे यह अनुमान लगाते हैं कि सातवीं सदी में त्रावणकोर में जो मुसलम व्यापारी आये थे, उन्हीं से शंकर ने इस्लाम का ज्ञान लिया होगा और इस ज्ञान दक्षिण में ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि हिन्दुत्व की दिशा ही बदल गयी और हिन्दु के सभी नेता दक्षिण में ही उत्पन्न होने लगे।

यह फिर भ्रान्त धारणा है। यदि इस्लाम में ऐसी दर्शनोत्तेजकता थी तो सिन्ध अथवा उसके आस-पास (जहाँ वह ७१२ ई० से ही मौजूद रहा है) उसने कोई शं उत्पन्न क्यों नहीं किया? अथवा उत्तर भारत में (जहाँ उसका प्रचार और प्रभा दोनों विराट् थे) आकर उसकी यह दर्शनोत्तेजकता कहाँ लुप्त हो गयी थी? यह स झना नितान्त भूल है कि भारत के मनीषी देश के किसी एक भाग में उत्पन्न होते हैं माध्यमिक अथवा शून्यवादी दर्शन के रचयिता आचार्य नागार्जुन (जो, निश्चित रूप शंकराचार्य के बौद्धिक पूर्वजों में से हैं) ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद दक्षिण के विद (बरार) देश में जनमे थे तथा सौत्रान्तिकवाद के "अभिधर्मकोष" के कर्त्ता आचा वसुबन्धु (जो शंकराचार्य के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं) का जन्म चौथी सदी में पेशावर हुआ था। शंकर स्वयं तो दक्षिण में जनमे थे, किन्तु, उनके "शारीरक-भाष्य" पर भाम व्याख्या लिखकर देश भर में उसे प्रसिद्ध करनेवाले उद्भट विद्वान् पं० वाचस्पति मिश्र जन्म मिथिला में हुआ था। सच तो यह है कि भारतवर्ष के सामने धर्म और दर्शन जो विराट् समस्याएँ उपस्थित थीं तथा बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिक जिन समस्याओं लेकर परस्पर जूझ रहे थे, वे समस्याएँ सम्पूर्ण देश के तेजस्वी विद्वानों के समक्ष चुनौ बनकर खड़ी थीं और उनपर सोचनेवाले लोग देश के किसी भी भाग में जन्म ले स थे। यदि पहली सदी में विदर्भ में नागार्जुन का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है आठवीं सदी में केरल में शंकराचार्य के जन्म लेने से भी किसी को चकित नहीं हो चाहिये। मुसलमानी आक्रमण के पहले भी उत्तर भारत की जनसंख्या में बाहरी मिलाव बहुत अधिक हो चुकी थी, जिससे खाँटी हिन्दुत्व धीरे-धीरे खिसक कर दक्षिण की ओ जा रहा था। शंकर के समय के आस-पास भारत में जो धार्मिक उत्पीड़न हुए, उनक संख्या भी उत्तर में कम, दक्षिण में बहुत अधिक रही। और इन उत्पीड़नों का लक्ष जैन एवं बौद्ध संघों को उजाड़ कर उनकी जगह पर ब्राह्मण-धर्म (शैव और वैष्णव म को उत्थान देना था। गुप्त राजाओं ने वैदिक-धर्म के लिए जो उत्साह दिखलाया उनके बाद, वह उत्साह, मुख्यतः, दक्षिण के ही राजाओं में दिखायी पड़ता है। इससे यह शंका निवृत्त नहीं होती कि वैदिक-धर्म का, शंकर के समान अद्भुत उन्ना दक्षिण में ही क्यों उत्पन्न हुआ? आज दक्षिण भारत हिन्दू-धर्म की राजधानी अव उसका मुख्य देश है। किन्तु, हिन्दुत्व ने अपनी दक्षिण की यात्रा महावीर और बुद्ध

---

२. आवर हेरिटेज

बाद ही आरम्भ की थी। हाँ, जब उत्तर में मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार भयानक हो उठे, तब इस यात्रा की गति कुछ अधिक तीव्र हो गयी।

और जब शंकर का केरल में जन्म लेना अचरज का विषय नहीं रह जाता, तब विष्णु स्वामी, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभाचार्य का दक्षिण में जन्म लेना बिलकुल स्वाभाविक बात हो जाती है।। ये जनमे ही इसलिए कि इनके पूर्व शंकराचार्य का जन्म हो चुका था। शंकर के शुद्धाद्वैत में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, साकारोपासना के प्रेमियों के लिए कोई आर्कषण नहीं था। अतएव, शुद्धाद्वैत के विरुद्ध, द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की स्थापना करने के निमित्त ही, इन पिछले आचार्यों का अवतार हुआ, जिन्होंने भक्ति की धारा को पुष्ट बना कर सारे भारत को सींच दिया। शंकर और उनके बाद के आचार्यों के बीच, क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की व्याख्या में इस्लामी प्रभाव की अनिवार्यता कहीं भी दिखायी नहीं देती।

वर्णाश्रम का विरोध

विष्णु स्वामी, निम्बार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभाचार्य ने जिस साकारोपासना का प्रवर्तन किया, उस पर भी डॉक्टर ताराचन्द को इस्लामी प्रभाव दिखायी देता है। वे कहते हैं कि विष्णु स्वामी, निम्बार्क और मध्व का चिन्तन नज्जाम, अशअरी और गजाली के चिन्तन के समान लगता है। ये यह भी कहते हैं कि इन आचार्यों ने जो मार्ग चलाया, उसमें जाति-प्रथा की कठोरता नहीं थी, धर्म के बाह्योपचार अप्रमुख थे तथा एकेश्वरवाद, भक्ति-भावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्ति पर उसमें बहुत जोर था।

डॉक्टर साहब ने वैष्णव धर्म के ये लक्षण ठीक बताये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये लक्षण पहले के वैदिक-धर्म में प्रमुख नहीं थे। किन्तु, इन्हें प्रमुख बनानेवाले आन्दोलन भी भारत में पहले ही आरम्भ हो चुके थे। जाति-प्रथा की भावना इसलिए शिथिल हुई कि बौद्ध श्रमण इसके विरुद्ध, पन्द्रह सौ वर्षों से आन्दोलन करते आये थे। यह काम इस्लाम की प्रतीक्षा में रुका हुआ नहीं था।

जाति-प्रथा पर बारह सौ वर्षों से चलने वाले जैन और बौद्ध आन्दोलन का प्रभाव नहीं पड़ा और इस्लाम ने भारत आते ही उसे प्रभावित कर दिया, ऐसी बात वही बोल सकता है जो नयी बात बोलने के जोश में सत्य की कुछ भी परवाह न करता हो। धर्म के बाह्योपचार ढीले इसलिए हो गये कि इस्लाम के जन्म के पूर्व ही, इस देश में वेद-विरोधी लोगों का दल बहुत बड़ा हो गया था और जो बातें मुसलमानों के आगमन के बाद कबीर, दादू और नानक ने कहीं, उन उपदेशों का सिक्का बौद्ध सन्त (सिद्ध लोग) जनता के मन पर पहले ही (सातवीं, आठवीं, नवीं सदियों में) बिठा चुके थे। जिसने सिद्धों के पद पढ़े हैं, वह त्रिकाल में भी यह नहीं मान सकता कि नानक, कबीर, और दादू के प्रादुर्भाव का एकमात्र कारण इस्लाम था। इस्लामी सूफियों का प्रभाव इन सन्तों पर अवश्य पड़ा, किन्तु, उनके वास्तविक पूर्वज मुस्लिम सूफी नहीं, प्रत्युत, बौद्ध-धर्मी के सिद्ध सन्त थे, जिन्होंने धर्म के बाह्योपचार पर उतने ही भीषण प्रहार किये थे,

जितने भीषण प्रहार आगे चलकर निर्गुनियाँ सन्तों ने किये। कबीर की बहुत-सी में हम सिद्धों की उक्तियों की आवृत्ति पाते हैं।[१]

असल में, जब सूफी आये, उसके पहले ही भारत में सूफियों से मिलते-जुलते के झुण्ड तैयार हो चुके थे और इन्हीं लोगों के अनुयायियों ने इस्लाम का, स्वागत किया। कबीर, नानक आदि पर मुस्लिम प्रभाव बहुत पड़ा, यह ठीक है, उनकी परम्परा का आरम्भ यहाँ सिद्ध-युग में ही हो चुका था। मुसलमान नहीं तब भी निर्गुनियाँ सन्तों की कोई-न-कोई पीढ़ी अवश्य उत्पन्न होती, क्योंकि वेद-वि आन्दोलनों के विस्तार के कारण, यह पीढ़ी इतिहास के गर्भ में आ चुकी थी।

भक्ति के विषय में भी यह कहना ठीक नहीं है कि यह इस्लाम की देन है। और राम-पूजा के साथ भक्ति का उदय भी भारतवर्ष में बहुत पहले ही हो चुका बल्कि, ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भक्ति के अंकुर इस देश में उगने लगे थे और छठी के आलवार सन्तों की वाणी एवं गुप्त-कालीन साहित्य में तो भक्ति रूप धर कर हो चुकी थी। हाँ, यह सम्भव है कि भक्ति की सरिता में सूफियों के कारण कुछ तरंगें उठने लगी हों।

गुरु-परम्परा

डॉक्टर ताराचन्द यह भी मानते हैं कि गुरु-पूजा का आरम्भ भारतवर्ष में सू में प्रचलित रीति के अनुकरण पर हुआ। किन्तु, विश्लेषण करने पर यह बात प्रमाणित नहीं होती। कुरान में जो यह बात कही गयी है कि "ईश्वर एक है मुहम्मद उसके रसूल हैं" उससे मुहम्मद सभी मुस्लिमों के सामूहिक गुरु का प लेते हैं। इसी आधार पर सूफियों के यहाँ गुरु को देवता मानने की परम्परा होगी। किन्तु, भारतवर्ष के लिए यह विचार नया नहीं था। विद्या-गुरु के विद्यार्थी के भाव कितने पवित्र और भक्ति-युक्त होने चाहियें, इसका आख्यान इस में बहुत प्राचीन काल से होता आया था। और धर्मगुरु की कल्पना की बात तो यह कल्पना भी गीता में जन्म ले चुकी थी। गीता में भगवान् कृष्ण का वचन है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्। (गीता ८।

अर्थात् ओम् का जाप और, उसके अर्थ के रूप में, भगवान कृष्ण का ध्यान हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। जैसे कुरान के (ला-इलाह-इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूल्लाह) में हजरत मुहम्मद ने मनुष्य और ईश्वर बीच अपने लिए स्थान रखा है, वैसे ही, गीता में भी भगवान कृष्ण ने यह संकेत है कि जीव की ब्रह्म तक की यात्रा श्रीकृष्ण के माध्यम से ही हो सकती है।[२]

---

[१] देखिये इसी प्रकरण में रहस्यवाद का सन्दर्भ।

[२] ध्यातव्य तो यहाँ गीता का यह श्लोक भी है,

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

कुछ गुरु का ही पद है, जिसे इन दो धर्म-नेताओं ने अपने लिए रख लिया है। कुरान के मन्त्र और गीता के इस श्लोक में जो समता है, उसे देखते हुए तो यही सम्भव लगता है कि कुरान पर गीता का, कुछ-न-कुछ, प्रभाव है। यह प्रभाव कैसे पड़ा, इसके बारे में कई अनुमान लगाये जा सकते हैं। एक तो यह कि गीता की यह रचना पहले यूनान पहुँची होगी और वहाँ से अरब देशों में। अथवा यह भी सम्भव कि वह ब्राह्मण और बौद्ध पण्डितों के द्वारा सीधे अरब पहुँची हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में भी "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ", यह वाक्य आता है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुरु में देवत्व के आरोप की भावना उस समय आरम्भ हो चुकी थी।

भारतीय गुरु-परम्परा का विकास भारत में ही हुआ, ऐसा मानने का एक और कारण है। गुरु की महिमा का बखान सिद्धों ने किया है और सिद्धों के समय में बिहार अथवा उत्तरी भारतवर्ष में इस्लाम नहीं पहुँचा था, यह निश्चित बात है। सिद्धों में सबसे प्राचीन कवि सरहपा हैं जिनका समय राहुलजी ने सन् ७६० ई० के माना है। गुरु के विषय में सरहपा कहते हैं :—

गुरु-उपदेशे अमृत-रस, धाइन पीयेउँ जेहि।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थलहिं तृषितें मरऊ तेहि।
चित्त-अचित्तहिं परिहरहु, तिमि होवहु जिमि बाल।
गुरु वचने दृढ़ भक्ति करु, ज्यों होइ सहज उलास। (राहुलजी-कृत अनुवाद)

ऐसे उद्धरण "हिन्दी-काव्य-धारा"[1] में से कुछ और भी दिये जा सकते हैं। जिन दिनों, भारत के सिद्ध गुरु-महिमा का इस प्रकार बखान कर रहे थे, उन दिनों, सूफी मत का जन्म भी नहीं हुआ था। किन्तु, भारत के पण्डितों और सन्तों का उस समय इस्लाम वालों से अच्छा परिचय था। अतएव, यह मानने का बहुत बड़ा आधार निकल आता है कि इन सिद्धों की देखादेखी सूफियों ने भी गुरु-महिमा को अपना लिया, अन्यथा इस्लाम ऐसी मान्यता का पूरा विरोधी था। जिसे रहस्यवाद कहते हैं, उसका अद्भुत विकास सिद्धों के समय में हो चुका था और ऐसा लगता है कि जब अरब और ईरान में तसव्वुफ को जन्म देने की तैयारी चल रही थी, तब केवल उपनिषदों और बौद्ध दर्शनों ने ही उसे प्रभावित नहीं किया, प्रत्युत, उसपर इन सिद्ध सन्तों के रहस्यवादी विचारों का भी प्रभाव पड़ा। अतएव, मुसलमानों के साथ जो सूफी मत भारत पहुँचा वह सोलह आने विदेशी तत्त्व नहीं था। उसके भीतर भारतीय विचारों और साधनाओं का बहुत बड़ा अंश विद्यमान था। श्री राहुलजी ने भी माना है कि गुरु-परम्परा का वास्तविक आरम्भ सिद्धों ने किया। हाँ, कबीर आदि निर्गुनियाँ सन्तों ने इस परम्परा को पुष्ट अवश्य किया है।[2]

---

[1] लेखक श्री राहुल सांकृत्यायन।

[2] इस सम्बन्ध में यह खोज भी की जानी चाहिये कि "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु...." वाला मन्त्र कितना प्राचीन है।

आलवार सन्त

इसी प्रकार, आलवार सन्तों के बारे में भी डॉक्टर ताराचन्द का विचार है उनपर मुसलमानी प्रभाव है और इसी प्रभाव के कारण, हिन्दुत्व के व्रत, उप तीर्थयात्रा और (कभी-कभी) मूर्त्ति-पूजा, आदि प्रचलित आचारों की निन्दा करते हैं

प्रमुख आलवारों का समय सातवीं से नवीं शताब्दी तक है, यद्यपि, उनकी पर तीसरी सदी तक जाती है। अतएव, यदि उन पर मुसलमानी प्रभाव मानना है, तो मानना पड़ेगा कि यह प्रभाव मालाबार से आया होगा। किन्तु, एक तो मालाबा उस समय तक इस्लाम का इतना प्राधान्य ही नहीं हुआ था कि उसके प्रभाव से नये धा आन्दोलन उठते ; दूसरे, आलवार सन्तों को भी हम आकस्मिक नहीं मान स भारत में उनकी परम्परा उस समय शुरू हुई थी, जब अरब में इस्लाम का जन्म नहीं हुआ था। भक्ति का निश्चित प्रमाण महाभारत और गीता में प्रत्यक्ष है। बाद, वह भागवत में निरूपित हुई और रामानुज आदि के साथ जोरों से फैली। और रामानुज के बीच के काल में भक्ति को अनुपस्थित देख कर ही लोगों को होती है कि भक्ति-आन्दोलन हिन्दुत्व के लिए नया आन्दोलन था। किन्तु, वह नहीं था। गीता और रामानुज के बीच की कड़ी ये आलवार सन्त थे।

एक दृष्टि से देखिये तो शंकर की अद्वैत-सिद्धि बाद की वस्तु है। उसके पूर्व ही, दक्षिण में भक्ति की सुगबुगाहट शुरू हो गयी थी। और आरम्भ में ही भक्ति-आन्दोलन शैव और वैष्णव, दोनों ही धाराओं में बह रहा था। शंकर में की बौद्धिकता का उत्कर्ष है। आलवार सन्त भारतीय जनता के हृदय को लेकर रहे थे। शंकर भारत के पण्डितों की धारा में आये थे। आलवार देश की जनता आकुल भावनाओं के प्रतिनिधि थे। समाज के सर्वोच्च धरातल पर जो चिन्तन रहा था, शंकर में हम उसकी पराकाष्ठा देखते हैं। किन्तु, देश की जनता के हृद परमात्मा-विषयक जो भावना उमड़ रही थी, उसके उद्गाता आलवार सन्त दक्षिण के लोग आलवारों और नायनारों को भी आकस्मिक नहीं मानते। अपने भक्ति प्राग्वैदिक तत्त्व है। वह बहुत पहले से ही चली आ रही थी। आर्यों ने कुछ विलम्ब से ग्रहण किया।

आलवार-नायनार सन्त प्रेम के दीवाने थे। शिव या विष्णु के प्रति वे प्रेम भावना से दौड़ रहे थे। इनके गान रहस्यवादी गान हैं। उनके भीतर अदृश्य पर रीझने वाले मनुष्य की आकुलता भरी हुई है। कबीर और मीरा के रहस्य पद, फिर भी, मुसलमान सूफियों के भावों से प्रभावित हैं, किन्तु, आलवारों के पदों हम खाँटी भारतीय रहस्यवादिता की झाँकी पाते हैं। उत्तर में फैले हुए वेद-वि आन्दोलनों के कारण हिन्दुत्व का शुद्ध रूप खिसक कर दक्षिण चला गया था। कारण है कि जिन दिनों उत्तर भारत के बौद्ध-सिद्ध धर्म के बाह्योपचारों की खि उड़ा रहे थे, उन्हीं दिनों, दक्षिण के आलवार और नायनार सन्त शिव और वि प्रेम में पागल हो रहे थे। धर्म के बाह्योपचार छूंछे हैं एवं जाति का भेद निस्सार

ह अनुभूति बौद्ध सिद्धों के समान आलवारों में भी थी, किन्तु, इसके कारण भिन्न थे। द्ध सिद्ध धर्म के बाह्योपचारों का खण्डन इसलिए कर रहे थे कि बुद्ध से उन्हें इस ण्डन की परम्परा प्राप्त हुई थी। किन्तु आलवारों ने इन आचारों को गौण इसलिए ना कि वे भगवान के प्रेम में मस्त थे और भगवान की शरण में आये हुए भक्तों के च उन्हें कोई भेद-भाव दिखायी नहीं देता था। आगे चल कर बौद्ध सिद्धों की यह ण्डनात्मक परम्परा कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों को मिली, किन्तु, रामानन्दी और ल्लभाचार्यी साधुओं को यही परम्परा आलवारों के यहाँ से प्राप्त हुई। एक परम्परा सुधार की भावना थी, ब्राह्मणत्व के विरुद्ध आक्रोश और निन्दा के भाव थे; किन्तु, सरी परम्परा में वही लक्ष्य प्रेम के द्वारा प्राप्त किया गया था। सामाजिक समता की सिद्धि के लिए कबीर को डाँट-फटकार का सहारा लेना पड़ा। किन्तु, रामानुज, मानन्द और वल्लभाचार्य तथा चैतन्य ने उसी समता का उपदेश प्रेम से गद्गद होकर या है।

आलवारों में विभिन्न श्रेणियों के लोग थे। उनमें एक स्त्री (आन्दाल) भी थी। राजा भी आलवार सन्त हुए और कुछ आलवार ऐसे भी थे जो भिक्षु थे अथवा स्पृश्य जाति या ब्राह्मण-वंश के सदस्य थे। भगवत्प्राप्ति का मार्ग सबके लिए उन्मुक्त भगवान को पाने के लिए उच्च वंश का होना आवश्यक नहीं है, यह भाव, प्रधान प में, पहले आलवारों में ही प्रकट हुआ। आलवारों के रहस्यात्मक पदों से ही रामा- ज को भक्ति का दर्शन प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली। इसीलिए, वैष्णव-भक्ति के र्शन में हम एक प्रकार की सामाजिक एकता का समर्थन पाते हैं।

भक्ति प्राग्वैदिक काल से ही भारत का जनधर्म रही थी। जनधर्म होने के कारण ही, द्राविड़-धर्म में भक्ति को प्रमुखता प्राप्त हुई। द्राविड़-धर्म की यही प्रवृत्ति हमें लवारों के पदों में उत्कर्ष पर मिलती है। भागवत में जो यह कहा गया है कि भक्ति का जन्म द्रविड़-देश में हुआ, वह इतिहास-संगत उक्ति है। और चूँकि, भक्ति का लन-पोषण दक्षिण में हुआ, इसलिए, उसके सभी प्रमुख सन्त भी दक्षिण से ही आये। ह सीधी-सी बात है। फिर भी, जो लोग इस बात को नहीं मानते, न जानते ही हैं, न्हें भक्ति को भारतबाह्य आन्दोलनों से मिलाने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है।

सच तो यह है कि इस्लाम का यत्किञ्चित् प्रभाव तेरहवीं सदी के बाद से पड़ने गा। उसके पूर्व भारत में जो भी आन्दोलन उठे, उनपर इस्लामी प्रभाव मानने का ई आधार नहीं है। दूसरी ओर, ये सभी आन्दोलन भी प्राचीन भारतीय परम्परा की पृष्ठभूमि पर, आदि से अन्त तक, भली-भाँति समझे जा सकते हैं।

वीर शैव और इस्लाम

वीर शैवों की प्रधानता बेलगाँव, बीजापुर, धारवार जिलों तथा मैसूर और कोल्हा- पुर राज्यों में है। इस भूखण्ड में इनकी संख्या कोई तीस लाख होगी। वीर शैव ङ्गायत धर्म को मानते हैं और इनका दावा है कि यही धर्म शैव धर्मों में सब से चीन है। इस धर्म के माननेवाले लोग **पर-शिव** को ईश्वर मानते हैं और **अल्लम प्रभु**

को उनका अवतार। इस धर्म के नेता **वासव** थे जो कालाचुरी-वंश के राजा (११५६-६७) के मन्त्री थे। वीर शैव सम्प्रदाय में यज्ञ, उपवास, तीर्थयात्रा, का भी महत्त्व नहीं है। ये लोग जाति को नहीं मानते। इनके यहाँ अन्त्यज भी होकर ब्राह्मण के समान हो जाता है। इस मत के अनुयायियों में बाल-विवाह तलाक जायज और विधवा-विवाह भी जायज हैं। डॉक्टर ताराचन्द का कहना है ये अपने शवों को मिट्टी में गाड़ते हैं और श्राद्ध नहीं करते। पुनर्जन्म में इनका नहीं है। सभी लिंगधारी साथ खाते हैं और वे बड़े ही भक्त, विरक्त तथा होते हैं।

डॉ० ताराचन्द का कहना है कि यह सम्प्रदाय, अवश्यमेव, उस समय उत्पन्न होगा, जब मुसलमान व्यापारी के रूप में भारत आने तथा काम्बे से लेकर किलोन बसने लगे थे। इस सम्बन्ध में, आवश्यक छानवीन करते हुए हमने बिहार के राज्य श्री रंगनाथ दिवाकरजी से कुछ पूछताछ की थी। उनसे हमें मालूम हुआ कि शैव-साहित्य की परम्परा कन्नड़-भाषा में ग्यारहवीं सदी तक पहुँचती है। इसके इस मत का काफी साहित्य तमिल और तेलुगू भाषाओं में भी उपलब्ध है। इस में सभी उद्धरण वेदों अथवा आगमों से आते हैं एवं हिन्दू-धर्म के अलावा, उसमें धर्म का उल्लेख नहीं है। अरबी का तो इस साहित्य में कोई दूर का भी निशान मिलेगा। सच तो यह है कि जब दक्षिण में पहले शैव-धर्म और बाद को वीर-शैव फैला, उस समय तक वहाँ इस्लाम का प्रचार ही नहीं हुआ था।

अल्लम प्रभु इस सम्प्रदाय के बहुत बड़े सन्त हुए हैं जो वीर शैव मत के **वासव** के समकालीन थे। अल्लम प्रभु के बहुत-से वचन कन्नड़ में मिलते हैं, जिनमें से ऊँचे दार्शनिक और आध्यात्मिक भाव हैं। अल्ला और अल्लम के बीच अक्षरों समानता भले ही हो, किन्तु, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं है, जिससे यह दिखलाया सके कि वीर-शैव पर इस्लाम का थोड़ा भी प्रभाव है।

वीर शैवों का विश्वास है कि जो व्यक्ति इस मार्ग में दीक्षित हो जाता है, पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म सिर्फ उन्हीं का होता है जो "भावी" हैं, अर्थात् जो या संसार में फँसे हुए हैं। इस मत के लोग शक्ति-विशिष्ट-अद्वैत में विश्वास करते हैं। इस्लाम विशिष्ट अथवा अविशिष्ट, किसी भी प्रकार के, अद्वैत में नहीं करता। वह केवल ईश्वर में विश्वास करता है। वीर शैवों का अन्तिम समरसैक्य की प्राप्ति है अर्थात् वे **पर-शिव** के साथ आनन्दमय मिलन के हैं। वीर शैव मूर्त्ति-पूजा भी करते हैं। इस मत के लोग एक लघु लिंग को साथ लिये चलते हैं, जो, उनके लिए यज्ञोपवीत के समान आवश्यक और होता है। ये लोग मन्दिरों में भी पूजा करते हैं।

वीर-शैव-सम्प्रदाय का ऊपर जो परिचय दिया गया है, उसमें इस्लाम का कहाँ पर है, यह डॉ० ताराचन्द ही जानें। उनका भ्रम, कदाचित् अल्लम् नाम

शव गाड़ने की प्रथा पर आधारित है। सो, किटेल (Kittel) के कन्नड़-कोष[1] के अनुसार, अल्लम का अर्थ लिंगायत भक्त है, अल्ला का अनुचर नहीं। और मुर्दा गाड़ने की प्रथा का कारण यह है कि वीर-शैव-सम्प्रदाय शैवों का उग्रतम सम्प्रदाय है। वीर का अर्थ ही यहाँ कठिन अथवा उग्र समझा जाना चाहिये। शैवों का सब से अग्रणी सम्प्रदाय संन्यासियों का सम्प्रदाय है। संन्यासी के लिए जात-पाँत, रस्म-रिवाज कोई महत्त्व नहीं रखते और संन्यासियों के शवों के गाड़ने की प्रथा भी हजारों वर्ष प्राचीन है। वीर शैवों ने इसी संन्यासी-सम्प्रदाय के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य माना और उसके समान कठिन आचरण करने के कारण ही वे वीर कहलाये। यज्ञ, व्रत, उपवास, तीर्थयात्रा, स्पृश्यास्पृश्य-विचार, शास्त्र-सम्मत बाल-विवाह और तलाक की निन्दनीयता, आदि को नहीं मानना वीर शैवों की उग्र प्रवृत्ति के कारण है। और जैसे संन्यासियों के शव गाड़े जाते हैं तथा उनका श्राद्ध नहीं किया जाता, वैसे ही, गृहस्थ वीर-शैव भी श्राद्ध अथवा चिता को नहीं मानते, क्योंकि ये सामान्य गृहस्थों के लक्षण हैं। संन्यास शैव-धर्म की आत्यन्तिक साधना का सोपान है। इसलिए, उसके कितने ही आचरण, अत्यन्त प्राचीन काल से, गृहस्थों के आचरण से भिन्न रहे हैं। वीर-शैवों ने उग्र साधना के लिए संन्यास को गार्हस्थ्य में पचा लिया। हिन्दुओं की और भी कई जातियाँ हैं जो शवों को नहीं जलातीं। किन्तु, इसके कारण, हम उन्हें इस्लाम से प्रभावित नहीं समझते।

वीर-शैव मदिरा नहीं पीते, न आमिष ही खाते हैं। उनके कर्म और आचरण अत्यन्त शुद्ध एवं पूर्णरूप से भारतीय हैं। यही नहीं, उनके सारे साहित्य में कहीं एक शब्द भी नहीं है जो अरबी या फारसी भाषा का हो अथवा जो सूफियों के यहाँ से आया हो। वीर-शैव सामान्य शैव-धर्म का ही अति-विकास है। हिन्दू-समाज की प्रचलित रूढ़ियाँ वीर-शैव में कम हैं, किन्तु, इसका कारण यह नहीं है कि वीर-शैवों ने इस्लाम का अनुकरण किया, प्रत्युत, यह कि वे वीर होने के कारण उन सभी आचरणों का पालन करना चाहते थे जिनका पालन संन्यासी करता है। और यह तो मानी हुई बात है कि संन्यास लेनेवाला हिन्दू न तो जात-पाँत को मानता है, न छुआछूत को।

भौगोलिक एकता और मुक्त चिन्तन

भारतीय दर्शन और विचारधारा पर इस्लाम का कोई भी गम्भीर प्रभाव पड़ा हो, उसका प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु, दर्शन के नीचे वाले स्तर पर जो प्रभाव पड़ा, उसका तखमीना हम लगा सकते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में इस्लाम का सब से बड़ा प्रभाव एकता की दिशा में पड़ा। हर्षवर्द्धन के बाद से इस देश में सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता का लोप हो गया था। मुसलमानी राज्य की स्थापना से देश में केन्द्रीय सत्ता फिर से मजबूत होने लगी और, इस प्रकार, इस्लाम के आने से देश की राजनैतिक एकता में वृद्धि हुई। किन्तु, मुसलमानों ने जैसी एकता उत्तर भारत में स्थापित की, वैसी एकता का विधान वे दक्षिण भारत में नहीं कर सके। उत्तर में भी, असम पूर्ण रूप से मुसलमानी शासन के अधीन कभी नहीं आया। यह भी ध्यान देने की बात है कि औरंगजेब पर जब दक्षिण

---

[1] कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी : लेखक : रेवरेंड एफ० किटेल।

को अपने वस में लाने की धुन सवार हुई, तब मुगल-साम्राज्य का अस्तित्व ही
में पड़ गया । यों भी, देश के विभिन्न भागों में शासन चलाने का काम बहुत-से
मनसबदार भी करते थे जिन पर केन्द्र का नियन्त्रण सदैव एक-सा कड़ा नहीं
था । दक्षिण भारत में अनेक राज्य मुस्लिम-काल में हिन्दू राजाओं के अधीन
मदुरा १७३६ ई० तक, मैसूर १७६१ ई० तक और तंजौर १७९९ ई० तक
राजाओं के अधीन था । इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि तुङ्गभद्रा
दक्षिण का भाग खाँटी हिन्दुत्व का प्रधान आश्रय हो गया । किन्तु, यह सब होने
भी, मुगलों के समय में, भारत को जो राजनैतिक एकता प्राप्त हुई, वह
बाद कभी भी प्राप्त नहीं हुई थी ।

राजनैतिक एकता में वृद्धि के बाद, इस्लाम का दूसरा शुभ परिणाम यह
सूफी साधुओं और भारतीय साधकों के मिलन से, देश में धर्म की नयी जागृति
हुई, जिसके व्याख्याता कबीर, दादू और नानक-जैसे सन्त हुए । एक तरह से
तो यह धारा बौद्ध काल से आती हुई फक्कड़-मिजाज सिद्ध साधुओं की परम्परा
विकास थी । किन्तु, सूफियों की संगति से इस धारा को यथेष्ट वल मिला ।
आकर सूफी मत भी प्रभावित हुआ । सूफियों ने इसी देश में आकर योग की
की । यहीं आसन, षट्चक्र और कमल-वेध पर फारसी में कितावें लिखी गयीं,
प्रभाव अरब और ईरान तक भी पहुँचा । भारतीय योगियों की देखा-देखी,
यह कल्पना भी चल पड़ी कि हृदयस्थ कमल के दल पर मुहम्मद साहब का

इस्लाम के अनुकूल प्रभावों में भ्रम मुक्त चिन्तन के प्रसार को भी गिन
विचारों की स्वतंत्रता इस्लाम की विशेषता नहीं थी । कुरान के कड़े फरमानों
भी डरते थे और वे चाहते थे कि उनकी वाणी और आचार से इस्लाम का
ध्वनित न हो ।[1] किन्तु, तब भी स्वाधीन चिन्तन का उन्हें जो चस्का लग
ज़िसके कारण, उन्हें मुल्लाओं के सामने लांछित होना पड़ता था और,
उनकी जान भी चली जाती थी । इधर, वेद-विरोधी साधुओं की जो जमात

---

[1] मौलाना रूमी की मसनवी के चौथे भाग में सुप्रसिद्ध सूफी सन्त बायज़ीद (
के समकालीन, १० वीं सदी का आरम्भ-काल) के विषय में यह कथा है
दिन मस्ती में आकर बायज़ीद बोल उठे, "अहा ! मैं स्वयं सर्वशक्तिमान्
का स्वरूप हूँ । मुझे छोड़कर और कहीं ईश्वर नहीं है । लो, मेरी पूजा
शिष्य इस घोषणा से बहुत चकराये । निदान, जब बायज़ीद होश में
शिष्यों ने उनसे यह बात कही । बायज़ीद सुनकर विस्मित रह गये ।
से केवल यह निकला कि "अगर मैं फिर ऐसा कहूँ तो तुम बेधड़क मेरी
तलवार से उड़ा दो ।" बायज़ीद ने मस्ती में आकर एक दिन फिर
कहा और, उनकी आज्ञा के अनुसार, एक शिष्य ने उनपर तलवार
किन्तु, वे मरे नहीं । तलवार की धार उलट कर शिष्य की गरदन पर
और वह मर गया । (देखिये, द पर्शियन

बौद्ध काल से चली आ रही थी, स्वाधीन चिन्तन पर उसका भी उत्कट प्रेम था। ये दोनों दल जब एकत्र हुए, तब मुक्त चिन्तन का भारत में प्रवाह ही खुल पड़ा और वर्णाश्रम-धर्म के प्रहरियों की उपेक्षा करके ये लोग जनता को समानता का सन्देश कुछ और उत्साह से देने लगे। इस्लाम के आगमन से एक-तो हिन्दू-समाज के निचले धरातल की जनता में निर्भीकता आ गयी; दूसरे, मन्दिरों में देवताओं को बुरी तरह खण्डित होते देखकर मूर्त्ति-पूजा पर से जनता का विश्वास हिलने लगा। यह वर्णाश्रम धर्म पर दोहरी मार थी। ब्राह्मण इस विपत्ति को भली भाँति समझ रहे थे। इसी का परिणाम था कि मुस्लिम-काल में सायण, मध्व, उवात, दुर्गा और आनन्दतीर्थ-जैसे पण्डितों ने आगे बढ़कर वेदों की नयी व्याख्या आरम्भ कर दी और वे यह प्रयत्न करने लगे कि किसी प्रकार धर्म और धर्म-पुस्तक पर से जनता की आस्था नहीं हटे। इसी प्रकार, धर्म-शास्त्रों की भी नयी व्याख्याएँ करके उन्हें नव-जीवन देने का कार्य आरम्भ हुआ तथा मुस्लिम-काल में मेधातिथि, कुल्लुक भट्ट, विज्ञानेश्वर, रघुनन्दन और विद्यारण्य-जैसे निबन्धकार स्मृतियों का उद्धार करने लगे।

किन्तु, वर्णाश्रम-धर्म के प्रयत्नों का यह विवरण मुस्लिम-काल के हिन्दुत्व का सच्चा विवरण नहीं है। इस काल का मुख्य आन्दोलन तो वह है जिसके नेता नामदेव और कबीर, तुकाराम और दादू तथा नानक और चैतन्य हैं। इस्लाम के बहुत सारे विचार हिन्दुओं के यहाँ कबीर के मुख से पहुँचे। रामानन्द कबीर के भी गुरु थे और गुरु-परम्परा में उनका सम्बन्ध तुलसीदास से भी था। इससे जान पड़ता है कि उनकी दो भाव-धाराएँ थीं—एक वह, जो वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों को प्रोत्साहन देती थी और दूसरी वह, जिसका आशीर्वाद तुलसी-जैसे वर्णाश्रमी कवि के साथ था। निष्कर्ष यह कि युग ने जो उदारता घोषित कर दी थी, वह सभी सन्तों के यहाँ आदर पा सकी।

□□□

प्रकरण ६

भक्ति-आन्दोलन और इस्लाम

भारत में भक्ति का समारम्भ कब हुआ तथा इसके बीज कहाँ-कहाँ विकी इसके सम्बन्ध में विद्वानों में अभी काफी मतभेद है। एक तो वेद में भक्ति को अनु देख कर तथा दूसरे, महंजोदरो की खुदाई से मिलनेवाले निशानों में भक्ति का यत्कि प्रमाण पाकर, विद्वान् यह अनुमान लगाने लगे हैं कि भक्ति आर्येतर तत्त्व है। म इस अस्थिरता से प्रोत्साहित होकर कुछ विद्वानों ने अब यह भी कहना आरम्भ दिया है कि भक्ति का वास्तविक विकास भारतवर्ष में मुसलमानों के आगमन के हुआ। अस्तु, विचारपूर्वक देखना चाहिये कि इस विषय में तथ्य क्या है।

भक्ति की प्राचीनता

भक्ति के इतिहास को हम कहाँ से पकड़ें ? साधु-समाज में एक दोहा प्रचलि जिसके अनुसार भक्ति का विकास दक्षिण भारत में हुआ था।

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंन्द,
परगट कियो कबीर ने सात द्वीप, नौ खंड।

इसी भाव से मिलता-जुलता एक संस्कृत श्लोक है जो भागवत और पद्म दोनों ही ग्रन्थों में पाया जाता है। भागवत में स्वयं भक्ति नारदजी से कहती है,

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता,
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

अर्थात् मैं द्राविड़ देश में जनमी, कर्णाटक में विकसित हुई, कुछ समय महारा रही और गुजरात पहुँच कर मैं जीर्ण हो गयी।

भागवत की रचना आठवीं या नवीं सदी में हुई थी, ऐसा विद्वान् मानते हैं। कि आठवीं सदी से पूर्व क्या भक्ति का भारत में कहीं पता ही नहीं था ? भक्ति के प्र विष्णुपुराण में भी हैं, देवी-भागवत में भी और कूर्म, वायु तथा शिव पुराणों में अन्य पुराणों के बारे में भले ही यह कहा जाय कि वे भागवत के समकालीन हैं वे उसके बाद रचे गये हैं, किन्तु, विष्णु-पुराण की प्राचीनता असन्दिग्ध है। इस अधिक निश्चित प्रमाण यह है कि महाभारत में भक्ति अत्यन्त सुविकसित रूप में है और गीता, जो महाभारत का अंश है, भक्ति का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट करती है।

वेद में भक्ति का स्पष्ट प्रमाण तो नहीं है, किन्तु, यह कैसे कहा जा सकता है आर्य इन्द्र, अग्नि, वरुण और आदित्य की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करते थे, उन देवताओं के लिए कोई भक्ति-भाव नहीं था ? बहु-देववाद के भीतर से आर्य किसी एक, अदृश्य, परम सत्ता की ओर उन्मुख रहते थे। धर्म का जन्मस्थान भू

यों पर चकित होने का भाव है। हम कौन हैं? यह सृष्टि कहाँ से निकली है? ति की अनेक विभूतियों में से वह विभूति कौन है जो हमारी श्रद्धा की अधिकारिणी ? कस्मै देवाय हविषा विधेम ? जो आर्य भाव-विह्वल होकर अपने-आप से ऐसे प्रश्न ते थे, उनके हृदय में भक्ति नहीं तो और किस भाव की प्रेरणा थी ? सच तो यह कि जिस जिज्ञासा से धर्म की उत्पत्ति होती है, उसी जिज्ञासा में भक्ति के भी बीज द रहते हैं। भक्ति पहले एक देश में जनमी और वहाँ से चलकर वह अन्य देशों में ी, ऐसा सोचना मिथ्या चिन्तन का पर्याय है। भक्ति का जन्म सभी देशों में धर्मोदय ाथ ही हुआ, यही सच्ची बात है। भक्ति वह तत्त्व है जो सभी धर्मों में समान रूप ाया जाता है। जो धर्म नास्तिक-दर्शन की पताका लेकर उठे थे, भक्ति का प्रवेश के भीतर भी हो गया।

तब भी, एक बात है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदों के समय आर्य यज्ञ र हवन तथा ऋचाओं का पाठ करते थे एवं उनका विश्वास था कि यज्ञ करने से ही ता प्रसन्न होते हैं। लेकिन, भागवत के समय से जिस भक्ति-मत का प्रचार हुआ, में यज्ञों की प्रधानता नहीं रही और जनता यह मानने लगी कि भगवान को प्रसन्न ने का सही मार्ग यह है कि हम अपने-आपको उनकी शरण में छोड़ दें। यही प्रपत्ति र शरणागति का सिद्धान्त है जिसका उपदेश रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य ा भक्ति के अन्य आचार्यों ने किया है।

प्रपत्ति और शरणागति के सिद्धान्त सामी (Semitic) धर्मों में आरम्भ से ही द्यमान थे। इसी कारण, डॉक्टर ताराचन्द और हुमायूँ कबीर को यह भ्रम सताता कि, हो-न-हो, भारत के भक्ति-आन्दोलन में प्रपत्ति के भाव इस्लाम से ही गये होंगे। न्तु, प्रपत्ति क्या उतनी पुरानी है जितने पुराने रामानुजाचार्य हैं? यह पारिभाषिक उनका गढ़ा हुआ अवश्य है, मगर, जिस भावना को भाषा देने के लिए यह शब्द गया, वह भावना रामानुज से कहीं प्राचीन थी। प्रपत्ति और शरणागति के भाव ं पुराणों में भरे पड़े हैं और उनमें से अधिकांश पुराण रामानुज से सदियों पूर्व के पुराणों को छोड़ दें तब भी गीता के

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

इस श्लोक में जो उपदेश दिया गया है, वह शरणागति नहीं तो और किस बात ंदेश है?

प्रतिमा-पूजन के निशान महंजोदरो में मिले हैं, इससे यह अनुमान होता है कि भक्ति न का सनातन जन-धर्म थी और आर्यों के पहले से ही वह इस देश में प्रचलित थी। ों के आगमन के बाद आर्य तो हवन-कर्म द्वारा ही अपने देवताओं को प्रसन्न करते किन्तु, इतर जनता उस समय भी भक्ति और पूजा ही करती थी। बाद को भक्ति ों के धरातल से उठकर पण्डितों के धरातल पर भी पहुँच गयी। यह भी कहा है कि बौद्ध लोग जब शून्य की साधना करने लगे, तब आर्य जनता में प्रतिक्रिया-

स्वरूप, भक्ति का प्रचार बढ़ गया । एक दूसरा मत यह है कि उपनिषदों का ज्ञा नीरस और दुरूह था । उसके लिए गम्भीर चिन्तन के उपयुक्त मस्तिष्क की श्यकता थी । मस्तिष्क की इसी प्रधानता के विरुद्ध मनुष्य के हृदय ने विद्रोह कि भारतीय जनता का भक्ति की ओर झुकना इसी विद्रोह का परिणाम था ।

महामहोपाध्याय काणे ने सूत्र-काल के अन्तिम चरण में भारत में ऐसे पुरो का होना माना है जो मन्दिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे ।[1] मुद्रा और शिला-ले आधार पर भी यह पता चलता है कि, धर्म-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द के रू भक्ति का चलन ई०पू० दूसरी सदी में था । बुह्लर (Buhler) के मतानुसार भक्ति उल्लेख ई०पू० आठवीं सदी में भी मिलता है । पांचरात्र-आगम में गोपालकृष्ण वासुदेव का एकाकार होना छान्दोग्य-उपनिषद् से भी सूचित होता है और छान्दो उपनिषद् बुद्ध से पूर्व का ग्रन्थ है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

फ्रांसीसी विद्वान सेनार्त (Senart) ने लिखा है कि भारत में भक्ति का मूल ब गहराई में है । वह बहुत प्राचीन काल तक पहुँचता है । भारत में भक्ति किसी पन्थ के रूप में नहीं उठी । वह एक शक्तिशालिनी भावना रही है, जिससे का इतिहास और समस्त काव्य परिव्याप्त है । भारत के पुराने-से-पुराने अध्यात्म में किसी एक अदृश्य के लिए व्याकुल ईहा सर्वत्र मिलती है । आर्य केवल ज्ञानी ही नहीं थे, वे अदृश्य सत्ता के सामने प्रणिपात में झुकने को भी तैयार थे । में भी भक्ति के उद्भव को किसी विदेशी प्रभाव की अपेक्षा नहीं थी ।[2]

और जो विचार सेनार्त का है, वही विचार बार्थ (Barth) ने भी प्रकट है । भ्रम केवल उन्हें है जो नयी बात बोलने के शौक से बीमार हैं ।

धर्म पहले व्यक्ति के हृदय में उदित होता है । भक्ति भी पहले व्यक्ति के हृ जन्म लेती है । मनुष्य का हृदय किसी पर न्योछावर होना चाहता है । आदमी के पाँव पकड़ कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है । यही भावना जब ईश्वरोन्मु जाती है, तब वह भक्ति बन जाती है । उपनिषदों की बौद्धिकता से जिन्हें सन्तो था, वे वासुदेव की उपासना करने लगे । निर्वैयक्तिक ब्रह्म से अतृप्त हृदय ईश्वर की कल्पना की ओर मुड़ा । पाण्डित्य से ऊबी हुई भावुकता ने जब यह दे जो सन्तोष और शान्ति कर्मकाण्डियों को यज्ञ से और मेधावियों को ब्रह्म-चिन्तन प्राप्त होती, वही शान्ति अपढ़ जनता किसी भी देवता पर न्योछावर होकर से प्राप्त कर लेती है, तब पण्डितों का दल भी भक्ति-मार्ग की ओर झुकने लगा ।

गीता ने जिस पांचरात्र और ऐकान्तिक धर्म का आख्यान किया है, उसका यह विश्वास है कि प्रेमपूर्वक ईश्वर की पूजा करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है । धर्म की जमीन उपनिषदों के मुक्त चिन्तन में तैयार हुई थी । किन्तु, इस धर्म

---

[1] धर्मशास्त्रों का इतिहास ।

[2] La Bhagwat Gita.

जब नास्तिकता का प्रचार होने लगा, तब भारत के सभी आस्तिक धर्मों ने भक्ति का मार्ग अपना कर उस नास्तिकता का विरोध किया।

बीज-रूप में भक्ति प्राग्वैदिक धारा है। आन्दोलन के रूप में भी वह, कम-से-कम बौद्ध मत जितनी ही प्राचीन है। एकवाद, अनेकवाद या सर्ववाद के आधार पर भक्ति-आन्दोलन का इतिहास अलग-अलग समझा नहीं जा सकता। आरम्भ से ही भक्ति में एकेश्वरवाद भी रहा है और बहुदेववाद भी तथा सर्वात्मवाद की जो झलक हम कबीर और जायसी में देखते हैं, उसका भी गहरा पुट भक्ति में पहले से ही मौजूद था। हिन्दुत्व किसी एक नबी, एक पैगम्बर या एक अवतार का निर्माण नहीं है। अनेक सन्तों, मुक्त चिन्तकों, महात्माओं और द्रष्टाओं से सेवित होने के कारण वह, आरम्भ से ही, कट्टरपन्थी नहीं उदार रहा है। यही, वैविध्य और उदारता यहाँ के भक्ति-आन्दोलन में भी रही है।

आरम्भ में आर्यों के भीतर कर्मकाण्ड प्रधान था और भक्ति गौण थी। जब भक्ति उठी, तब भक्ति ही प्रधान हुई और कर्मकाण्ड गौण हो गया। गीता में ही हम कर्मकाण्ड को गौण होते देखते हैं, क्योंकि गीता का कर्मयोग कर्मकाण्ड नहीं, कोई और वस्तु है। यह भी कहा जा सकता है कि भारत ने जब आर्यों का भारतीयकरण करना आरम्भ किया, तब आर्य पहले तो प्रवृत्तिवाद से हटकर निवृत्ति की ओर आये और, बाद को, कर्मकाण्ड के बदले उन्होंने भक्ति-मार्ग को प्रधान मान लिया।

गीता का महत्त्व

हिन्दू-धर्म, बहुत प्राचीन काल से, दो प्रकार के ग्रन्थों पर आधारित रहा है। इनमें से एक को निगम और दूसरे को आगम कहने का रिवाज है। निगम वेद हैं जिन्हें हिन्दू अपौरुषेय मानते हैं। आगमों की उत्पत्ति शिव, शक्ति या विष्णु से मानी जाती है जो, ईश्वर-कोटि में होने पर भी, पुरुष-कोटि में आते हैं। निगम आर्य-भावों तक सीमित हैं। आगमों की विशेषता यह है कि वे आर्य, आर्येतर और प्राग्वैदिक, तीनों ही प्रकार की परम्पराओं का आख्यान करते हैं। वैसे, भक्ति के पुट वेदों में भी हैं; किन्तु, वेदों का सारा जोर कर्मकाण्ड पर है। जिस भक्ति का व्यापक प्रचार भागवत के समय में आकर हुआ, उसके बीज, उद्भव और विकास की सारी कहानियाँ आगम-ग्रन्थों में हैं, जिनमें से अनेक को पुराण भी कहते हैं। इसी आगमिक धारा की परिणति भक्ति में हुई।

गीता उपनिषद् कही जाती है, अतएव, वह निगम-ग्रन्थ है। किन्तु, वह भागवत-आगम भी समझी जाती है। भगवान् कृष्ण का अप्रतिम महत्त्व यह है कि उन्होंने भागवत-सम्प्रदाय की भक्ति को वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह अध्यात्म से एकाकार कर दिया। गीता वह प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थ है जिसमें भारत की वैदिक और प्राग्वैदिक धाराएँ, निगम और आगम, एक स्थल पर मिल जाते हैं। गीता के बाद से यह पूछना ही व्यर्थ है कि कर्म (वेद, निगम), ज्ञान (उपनिषद्, निगम ही) और भक्ति में से कौन तत्त्व प्रमुख और कौन अप्रमुख हैं।

वेदों और उपनिषदों की विशेषता सर्ववाद थी। आगम, आरम्भ से ही, किसी-किसी ईश्वर को लक्ष्य मानकर चलते आये थे। गीता ने दोनों को एकाकार क दिया यानी यह विश्वास प्रकट किया कि जो एक है, वही सब में व्याप्त है। निगम अनुसार मुक्ति के कारण कर्म और ज्ञान माने जाते थे। गीता ने मुक्ति के लिए ज्ञा कर्म और भक्ति, तीनों की सार्थकता प्रतिपादित की। गीता में वेदों की हलकी आलोच भी है और उनपर अपार श्रद्धा भी। गीता वर्णाश्रम का तिरस्कार नहीं करती, तिरस्कार भक्ति-युग में आकर कबीर आदि ने किया। गीता के समय से ले रामानुज के समय तक (बल्कि, कबीर से पूर्व तक) भक्ति का पहला युग था जब प्रप शरणागति आदि के भाव काफी बलवान् थे, किन्तु, वर्णाश्रम का उल्लंघन कोई न करता था। भक्तों के द्वारा वर्णाश्रम की अवज्ञा, प्रायः, कबीर के समय से आरम् हुई। अतएव, समझना चाहिये कि कबीरदास ने भक्ति के उत्तर-युग का प्रवर्त्तन कि और इस्लाम का जो प्रभाव भक्ति पर पड़ना था, वह इसी युग में पड़ा।

अतिरंजनवादियों की भ्रान्ति

कठिनाई यह है कि जो लोग अद्वैतवाद और भक्ति-आन्दोलन को इस्लामी प्रभा की देन समझते हैं, वे यह मानकर चलते हैं कि अद्वैत और भक्ति का प्रचलन हि समाज में था ही नहीं। फिर ये दोनों बातें आठवीं सदी के बाद और, खासकर, दक्षि में ही क्यों उत्पन्न हुईं? हमारा ख्याल है, विद्वानों के मन में ऐसी शंकाएँ केवल अज्ञा से उत्पन्न होती हैं। इस्लाम का जन्म सातवीं सदी में हुआ, लेकिन, आलवार भ दक्षिण में चौथी-पाँचवीं-छठी शताब्दियों में भी जनमे थे।[1] आलवारों की परम्प दक्षिण में और नहीं तो पाँच सौ वर्षों तक चली थी और आरम्भ के आलवारों के भ वे ही थे, जो आठवीं-नवीं सदी के आलवारों में दिखायी देते हैं। इसी प्रकार, शंकराचार्य का भी इस्लामी परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे शुद्ध भारतीय दार्शनिक और उनके माया तथा अद्वैत के सिद्धान्त केवल औपनिषदिक विचारों का विकास मा हैं। उपनिषदों के सिवा उनपर प्रभाव यदि किसी अन्य चिन्ताधारा का पड़ा है तो व चिन्ताधारा बौद्ध शून्यवादियों की थी। क्या आठवीं सदी के मुसलमान शून्यवादी थे? शंकराचार्य के समय केरल में इकले-दुकले मुसलमान थे, यह ठीक है, किन्तु, उनके पा ऐसी चीज क्या थी जिसका प्रभाव शंकर पर पड़ता? और इस्लाम यदि इतना ही प्रभावशाली था तो जिस उत्तर भारत पर उमने उतनी सदियों तक राज्य किया, वहाँ कोई शंकराचार्य क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? यह भी सोचने की बात है कि इस्लाम स्व ही अद्वैत में विश्वास नहीं करता है। फिर अद्वैत-चिन्तन को वह प्रेरित कैसे कर सक था? शंकराचार्य पर इस्लामी प्रभाव की छाया भी नहीं पड़ी थी और भक्ति-आन्दोल पर इस्लाम का प्रभाव कबीर के समय से पड़ने लगा, इस स्थापना से भागने की रा

---

[1] कृष्ण स्वामी आयंगर ने Early History Of Vaishnavism In Sou India में यह बताया है कि आदि-आलवार तीसरी शताब्दी में उत्पन्न हुए और उनकी परम्परा नवीं शती तक चलती रही।

कम-से-कम, उन्हें तो नहीं ही मिलेगी, जिन्हें भारत की संस्कृति और परम्परा का कुछ थोड़ा भी ज्ञान है।

आलवार भक्त

पाँचवीं से लेकर नवीं सदियों तक दक्षिण में भक्ति का खूब बोलबाला था, यह बात आलवार सन्तों के साहित्य से प्रत्यक्ष है। ये आलवार सन्त बहुधा निम्न जातियों के होते थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी अधूरी होती थी। किन्तु, उनके भीतर चरित्र और हार्दिक गुणों का अद्‌भुत चमत्कार रहता था। शिक्षा, वंश और वैभव का अभिमान नहीं रहने के कारण, ये सन्त अत्यन्त विनीत हुआ करते थे और अपनी सर्व-साधन-हीनता को लेकर ये भगवान के चरणों में अपने को निवेदित कर देते थे। "मेरा जन्म द्विजाति-कुल में नहीं हुआ, न मैं चारों वेदों का जाननेवाला हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। इस कारण, हे भगवान ! मुझे तुम्हारे प्रकाशमान चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है।" ऐसे भाव आलवारों के थे। रामानुजाचार्य ने आगे चलकर जिसे प्रपत्ति (अर्थात् सब कुछ छोड़कर भगवान की शरण में गिरने की भावना) की संज्ञा दी, प्रायः, सभी आलवारों के गीत उस भाव से ओत-प्रोत हैं। आलवारों ने दक्षिण में भक्ति की पताका को बहुत ऊँचा कर दिया और उनकी वाणी जन-जन के हृदय की वाणी बन गयी। भक्ति को आलवारों ने जन-जीवन का ऐसा अभिन्न अंग बना दिया कि इस गये-बीते जमाने में भी दक्षिणापथ के लोगों में भक्ति की अद्‌भुत प्रधानता विद्यमान है। इनमें से बारह सन्त ऐसे हुए, जिनकी विशेष ख्याति हुई और जिनकी मूर्त्तियाँ दक्षिण के मन्दिरों में स्थापित मिलती हैं। ये सन्त भक्ति-विभोर जनता के हृदय-देव हो गये थे, इसलिए, विष्णु के साथ इनकी भी पूजा आरम्भ हो गयी। इन आलवारों में सब से प्राचीन कौन थे, इसका समाधान अभी नहीं हो सका है। किन्तु, डॉक्टर कृष्ण स्वामी आयंगर[1] ने यह सिद्ध किया है कि आलवारों में से एक प्वाय गइ **आलवार** का समय ईसा की दूसरी शताब्दी है। इसी प्रकार कुलशेखर नामक एक दूसरे आलवार का समय उन्होंने ईसा की छठी शताब्दी माना है। प्रत्येक आलवार का समय निश्चित करने में मतभेद अवश्य है। परन्तु, इस बात पर, प्रायः, सभी लोग सहमत हैं कि ये बारह विशिष्ट आलवार ईसा की तीसरी सदी से लेकर नवीं सदी तक के बीच हुए हैं। अतएव, यह बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि प्रपत्ति, शरणागति, **आत्म-समर्पण** और **एकान्तनिष्ठा** से विभूषित भक्ति का सम्यक् विकास और प्रचार आलवारों के साहित्य द्वारा नवीं सदी के पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था तथा उस समय तक दक्षिण की जनता भक्ति से, पूर्णतः, विभोर भी होने लगी थी।

इन आलवार कवियों के तमिल पदों का सम्पादन पहले-पहल **नाथमुनि** ने किया जो नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में त्रिचिनापल्ली के श्रीरंगम् में रहते थे। नाथमुनि ने उपलब्ध पदों के चार संग्रह तैयार किये और प्रत्येक में, प्रायः, एक-एक हजार पद रखे।

---

[1] अर्ली हिस्ट्री आव् वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया।

इन्हीं संग्रहों के नाम "प्रबन्धम्" हैं। प्रबन्धम् में आलवारों के पद, मूल रूप में, गये थे। पीछे, वैष्णव विद्वानों ने उनपर टीकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार, प्रब भक्ति-आन्दोलन का आदि ग्रन्थ बन गया।

अभी तक भागवत-पुराण ही भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ समझा जाता है। कि हमारा अनुमान है कि इस आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ भागवत नहीं, **प्रबन्धम्** है। यह कारण कि, यद्यपि, भागवत और प्रबन्धम्, ये दोनों ग्रन्थ, एक ही समय में लिखे फिर भी, प्रबन्धम् की बहुत-सी कविताएँ दूसरी-तीसरी सदी से प्रचलित चली आ थीं। साथ ही, यह भी विचारणीय है कि प्रबन्धम् की कविताएँ जनता की भक्ति-भा की सीधी अभिव्यक्ति हैं। किन्तु, भागवत की रचना पाण्डित्य के स्तर पर की गयी है प्रबन्धम् भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ क्यों माना जाय, इसका संकेत भी भागवत देता है; क्योंकि उसका भी मत है कि भक्ति का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था।

प्रबन्धम् का प्रभाव उत्तर भारत में वैष्णवाचार्यों ने पहुँचाया। विशिष्टा सम्प्रदाय का प्रथम विवेचन यामुनाचार्य (९१६ से १०४० ई०) ने किया, जो प्रब के सम्पादक श्री नाथमुनि (रघुनाथाचार्य) के पुत्र अथवा पौत्र थे। उनके वाद, विशि द्वैत की स्थापना श्री रामानुजाचार्य (१०२७ से ११३७ ई०) ने की, जो स्वयं प्रब के बहुत बड़े प्रेमी थे। गीता और पातंजल-योग के अतिरिक्त, उन्होंने आलवारों परम्परा को भी भक्ति का मूल-स्रोत माना है।

शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों से सबसे अधिक निराशा दक्षिण की भक्ति-वि जनता को हुई और इसी जनता की प्रतिक्रिया ने रामानुज, निम्बार्क आदि वैष्णवा को उत्पन्न किया। इन वैष्णवाचार्यों को द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों खोज क्यों अच्छी लगी, इसका भी समाधान यही है कि ये सभी आचार्य आलवारों भक्ति-भावनाओं से, उनके पदों और रचनाओं से पूर्ण रूप से ओत-प्रोत थे। इनका पहले ही आलवारों के संस्कारों से भर चुका था; मस्तिष्क लड़ाकर इन्होंने संस्कारों का बौद्धिक समर्थन प्राप्त किया। आलवार भक्त सीधे-सादे लोग थे। भक्ति, शरणागति और एकान्तनिष्ठा, यही उनकी सारी पूंजी थी। किन्तु, वै धर्म के आचार्य मस्तिष्क से भी मेधावी और तार्किक थे। आचार्य निर्णय पर आये, युक्तियों से उस निर्णय की पुष्टि उन्होंने वाद में की। और इसी पुष्टि के उन्होंने अपने दर्शनों का विकास किया।

प्रपत्ति के सिद्धान्त के बारे में, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का था। किन्तु, रामानुज को यह विचार इस्लाम से नहीं मिला। (इस्लाम तब तक में फैला कहाँ था?) यह तो आलवारों की शरणागति का, रामानुज के द्वारा हुआ, पारिभाषिक नाम है। आलवारों में भक्ति के जो लक्षण थे, उन्हें अन्य भक्तों लिए भी निर्दिष्ट करने को रामानुज ने प्रपत्ति नामक शब्द निकाला। यह भी देने की बात है कि द्विजों के साथ शूद्रों को भी वैष्णव-धर्म में आने का अधिकार, से पहले, रामानुज ने ही प्रदान किया। इसका कारण यह था कि आलवारों में से

शूद्र-वंश के थे और शूद्र-कुलोत्पन्न होने पर भी, जनता उन्हें पूज रही थी। ऐसे में, रामानुज यह कैसे कह सकते थे कि शूद्रों को वैष्णव होने का अधिकार नहीं है ? अधिकार तो उन्होंने दिया, किन्तु, प्रपत्ति को उन्होंने शूद्र भक्तों के लिए, विशेष रूप से विहित वताया। यह वर्णाश्रम-धर्म और बृहत् मानवतावाद के बीच एक प्रकार का समझौता था, जिसका पालन रामानुज-परम्परा के अन्य सन्तों—विशेषतः, रामानन्द और तुलसी – ने भी किया है।

रामानुज की देन

आलवार सन्त रहस्यवादी और कवि थे। उनके उत्तराधिकारी वैष्णव आचार्य चिन्तक और दार्शनिक हुए। शंकर ने वेदान्त को फिर से नवीन कर दिया था। वैष्णव आचार्यों के सामने यह प्रश्न उठा कि इस वेदान्त से तमिल-प्रवन्धम् का सामंजस्य कैसे बिठाया जाय अर्थात् कर्म और ज्ञान से भक्ति का मेल कैसे हो ? तमिल-प्रवन्धम् को सार्वजनिक पूजा में समाविष्ट करने का प्रथम श्रेय श्री नाथमुनि को है। उन्होंने ही तमिल-प्रवन्धम् को, वैष्णवों के यहाँ, वेद का दरजा दिलवाया। उनके पौत्र यामुनाचार्य ने पांचरात्र-पद्धति की प्रामाणिकता को स्थापित किया, शंकर के माया-सिद्धान्त का खण्डन किया, जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार, बारहवीं सदी के आरम्भ में, रामानुज ने जिस विशिष्टाद्वैत-दर्शन का महल खड़ा किया, उसकी नींव यामुनाचार्य ने ही डाली थी।[1]

रामानुज के मुख्य ग्रन्थ तीन हैं, (१) वेदार्थ-संग्रह, (२) गीता की टीका और (३) वेदान्त-सूत्र का श्रीभाष्य। शंकराचार्य ने उपनिषदों से अद्वैत का जो अर्थ निकाला था, वेदार्थ-संग्रह में रामानुज ने उसका खंडन किया है। गीता की टीका में भी उन्होंने भक्ति का पक्ष ऊँचा किया है। किन्तु, उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की वास्तविक स्थापना श्रीभाष्य में हुई है। इसी ग्रन्थ में वेदान्त-सूत्रों की ईश्वरवादी व्याख्या करके उन्होंने वैष्णव-धर्म या भक्ति का दर्शन तैयार किया। वेदान्त का ईश्वर, असल में, ईश्वर नहीं, ब्रह्म है जिसने संसार की रचना नहीं की, जो भक्तों की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देता, जिसे विश्व के प्रपंच से कोई मतलब नहीं, जो शुद्ध, बुद्ध, निराकार और निर्विकार है। किन्तु, रामानुज ने इस ब्रह्म में ईश्वरत्व का आरोप किया, उसे भक्तों की प्रार्थना सुनने योग्य एवं विश्व-प्रपंच का कर्त्ता तथा उसका प्रहरी बना दिया। ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को लाने के कारण रामानुज क्रान्तिकारी महात्मा दीखते हैं और इसी कारण, कदाचित्, विद्वानों को यह शंका होती है कि ब्रह्म को ईश्वर-कोटि में लाने की प्रेरणा उन्हें इस्लाम से मिली होगी। किन्तु, एक बात है जिस पर ध्यान देने से ऐसी शंकाओं का निवारण, आप-से-आप, हो जाता है। यह समझना नितान्त भूल है कि ब्रह्मसूत्र की ईश्वरवादी व्याख्या करने के आदि श्रेय के अधिकारी रामानुजाचार्य हैं, क्योंकि उनसे और शंकराचार्य से भी पूर्व, **बोधायन** हुए थे जिन्होंने वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या की थी। फिर आचार्य **टंक** और आचार्य **द्रविड़** का समय भी रामानुज और शंकर से पूर्व

---

[1] डी० एस० शर्मा-कृत "रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म"।

पड़ता है और इन आचार्यों ने भी वेदान्त में ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को देखा था। रामानुज की विशेषता यह है कि ईश्वरवाद पर से उन्होंने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया और यह सिद्ध किया कि भक्ति की शिक्षा केवल तमिल-प्रबन्धम् से ही नहीं, प्रत्युत, प्रस्थानत्रयी (वेदान्त-सूत्र, उपनिषद् और गीता) से भी मिलती है। रामानुज वैदिक-धर्म और आलवार, दोनों की परम्पराओं के प्रति आस्थावान् थे और दोनों के तत्त्वों को एकाकार करके ही उन्होंने अपने मार्ग का प्रवर्त्तन किया। वेद का प्रतिपाद्य विषय कर्म था। उपनिषदों ने उसमें ज्ञान का पुट मिलाया और भक्ति जनता के स्तर से उठकर ऊपर पहुँची। किन्तु, इन तीनों का समन्वय गीता में किया गया। जो कार्य गीता ने किया था, बहुत-कुछ वही कार्य रामानुजाचार्य ने किया, किन्तु, इस भेद के साथ कि जहाँ गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म में किसी एक के साथ कोई अनुचित पक्षपात नहीं था, वहाँ रामानुज ने तीनों में से भक्ति को खुलकर अप्रतिम प्रधानता दे दी। इसका कारण, कदाचित्, यह है कि गीता उपनिषदों (ज्ञान के शिखर) से उतर कर भक्ति को पाती है, इसलिए, ज्ञान की प्रधानता उसमें कम नहीं होती; किन्तु, रामानुज तमिल-प्रबन्धम् से उठकर ज्ञान और कर्म को देखते हैं। गीता की जड़ वेद और उपनिषद् में अर्थात् कर्म और ज्ञान में है। रामानुज का सारा अस्तित्व आलवारों के भक्ति-विह्वल पदों में गड़ा हुआ है।

रामानुज की पद्धति का मूलाधार वह दृष्टि है, जिससे वे ईश्वर को जीव और प्रकृति से एकाकार देखते हैं। उनकी कल्पना यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों अनादि हैं, किन्तु, जीव और प्रकृति, अनिवार्य रूप से, ईश्वर पर आश्रित हैं। वस्तुतः, ये तीनों परस्पर इस प्रकार से मिले हुए हैं कि उनमें से कोई भी अलग करके देखा नहीं जा सकता। जैसे, वस्तु से उसका गुण विभक्त नहीं किया जा सकता, जैसे विशेष्य से विशेषण का भिन्न होना असम्भव है, उसी प्रकार, ईश्वर से जीव और प्रकृति भी अभिन्न हैं।[1] इसी से रामानुज की पद्धति विशिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है। वह शंकर के अद्वैत-मार्ग से भिन्न है, क्योंकि शंकर केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व मानते हैं, किन्तु रामानुज-मत में ईश्वर (ब्रह्म) के समान जीव और प्रकृति भी अनादि हैं। "तत्त्वमसि", वेदान्त के इस वाक्य की व्याख्या शंकर ने यह की थी कि जीव भी ब्रह्म ही है। रामानुज ने यह अर्थ चलाया कि "तत्" (अर्थात् सृष्टि का कारण-स्वरूप ईश्वर) "त्वम्" (अर्थात् जीव में छिपी हुई आत्मा) से एकाकार है।

शांकर-मत में ब्रह्म के निर्विकारत्व का जो प्रतिपादन हुआ है, उससे उस मत में भक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता। किन्तु, ब्रह्मवाद को ईश्वरवाद बनाने में ही द्वैत की झाँकी मौजूद थी और, द्वैत का आधार मिलते ही, रामानुज-मत में भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा हो गया। रामानुज कहते हैं कि ज्ञानयोग की साधना सीमित साधना है। उससे आत्मा इतना ही जान सकती है कि वह शरीर से भिन्न है। किन्तु,

---

[1] गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
—तुलसीदास

परमात्मा का अंश हूँ", इस अनुभूति तक जाने के लिए ज्ञान यथेष्ट नहीं है ।[1] यह अनुभूति तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा प्रेम का मार्ग पकड़े, भक्ति का आश्रय ले और जिस सत्ता से वह विच्छिन्न हो गयी है उसकी ओर आकुलता से गमन करे । चूँकि जीव ईश्वर से भिन्न है, इसलिए, रामानुज ने मोक्ष का अर्थ ब्रह्म में विलीन होने की अवस्था को नहीं बताया । उनका कहना है कि मोक्ष उस व्यक्ति को मिलता है जो इस जीवन में भक्ति की साधना को पूर्ण कर चुका है । ऐसे भक्त मृत्यु के बाद एक अन्य शरीर प्राप्त करते हैं तथा अनन्त काल तक वैकुण्ठ में ईश्वर का सामीप्य लाभ करके वहाँ भी भक्ति की साधना करते रहते हैं । जिसे हिन्दुत्व स्वर्ग और इस्लाम बहिश्त कहता है, उसका लोभ विशिष्टाद्वैती भक्त को नहीं होता । भक्त स्वर्ग-सुख की अभिलाषा नहीं करते, न लय और मुक्ति चाहते हैं । उनका सुख तो मरणोपरान्त भी आराध्य का गुण गाने में ही है ।[2]

ज्ञान, कर्म और भक्ति में भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए भी, रामानुज ने यह कहा कि भक्ति में भी सब से सुगम मार्ग प्रपत्ति का है । इस मार्ग के लिए न तो ज्ञान की आवश्यकता है, न विद्याभ्यास और योग-साधना की । फिर भी, यह मार्ग सर्वसुगम और सबसे छोटा मार्ग है । जो मनुष्य सर्वतोभावेन भगवान की शरण में गिरता है, उसे भगवान तुरन्त अपना लेते हैं ।[3]

आलवार-सन्त जात-पाँत नहीं मानते थे, न वर्णाश्रम के विधि-निषेध के वे कायल थे। रामानुज ने आलवारों के इस मुक्त संस्कार को वर्णाश्रम के नियन्त्रणों से कैसे मिलाया, यह भी देखने योग्य है । उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति को तो द्विजों के लिए विहित बताया, किन्तु, प्रपत्ति का द्वार सब के लिए उन्मुक्त कर दिया । सामाजिक समता की दिशा में तत्कालीन ब्राह्मण जहाँ तक जा सकता था, रामानुज वहाँ तक जाकर रुके । उनके सम्प्रदाय ने लाखों शूद्रों और अन्त्यजों को अपने मार्ग में लिया, उन्हें वैष्णव-विश्वास से युक्त किया, उनके आचरण धर्मानुकूल बनाये और, साथ ही, ब्राह्मणत्व के नियन्त्रणों की अवहेलना भी नहीं की ।

रामानुज की मृत्यु के बाद उनके सम्प्रदाय में फूट आ गयी । वेद और तमिल-प्रबन्धम् के बीच रामानुज ने जो सन्तुलन रखा था, उस सन्तुलन की रक्षा उनके बाद उनके शिष्य नहीं कर सके । उनमें से कुछ तो वैदिक धर्म को प्रधानता देने लगे और

---

[1] कहत कठिन, समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक,
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक । —तुलसीदास

[2] भक्ति न छाड़ौं, मुक्ति न माँगौं, तव जस सुनौं सुनावौं ।

× × ×

अस विचारि हरि भगत सयाने,
मुक्ति निरादरि भगति लोभाने । —तुलसीदास

[3] राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं,
अनइच्छित आवत बरियाई । —तुलसीदास

कुछ तमिल-प्रबन्धम् को। वेद-मार्गी वैष्णव सन्तों का सम्प्रदाय उत्तर भारत में च और तमिल-प्रबन्धम् के माननेवालों का सम्प्रदाय दक्षिण में। स्वभावतः ही, संस्कृ पर आधारित होने के कारण, उत्तर का श्री-सम्प्रदाय कुछ अधिक अनुदार हो ग और छोटी जात के लोगों को अधिकार देने में उसने कृपणता दिखलायी।

स्वामी रामानन्द

रामानन्द स्वामी का जन्म सन् १२९९ ई० में प्रयाग में हुआ था और श्री-सम्प्रदाय की दीक्षा उन्होंने काशी में स्वामी राघवानन्द से ली थी जो रामानुज-परम्परा की चौथी पीढ़ी में पड़ते हैं। भक्ति-आन्दोलन में रामानन्द बड़े ही महत्त्व के आचार्य हुए हैं।

श्री-सम्प्रदाय विष्णु और उनकी शक्ति लक्ष्मी की पूजा में विश्वास करता था, किन्तु, विष्णु के रामावतार की पूजा का प्रचलन उस सम्प्रदाय में नहीं था। रामो-पासना का वास्तविक प्रवर्त्तन रामानन्द ने किया। रामानन्द का सम्प्रदाय रामावत सम्प्रदाय कहलाता है जो विशिष्टाद्वैतवादी तो है, किन्तु, उपासना वह विष्णु के बदले राम की करता है। रामानन्द का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में किया और उस संगठन में प्रवेश पाने का अधिकार उन्होंने उन वैष्णवों को भी दिया जो जन्मना शूद्र अथवा मुसलमान थे। रामानन्द ने प्रस्थानत्रयी पर भी टीकाएँ लिखीं। उनकी ब्रह्मसूत्र की टीका "आनन्दभाष्य" के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ब्रह्म को उन्होंने "ब्रह्मशब्दवाच्य श्री रा ठहराया है और उसी को सगुण तथा निर्गुण, दोनों माना है।"

लगता है, रामानन्द के भीतर धर्म और समाज, दोनों को लेकर चिन्ता उत्पन्न हुई थी। जिस सम्प्रदाय में वे दीक्षित हुए थे, वह विष्णु की उपासना करता था। इस उपासना से प्रेरणा पहले कृष्ण-भक्ति को मिलने लगी। आगे चलकर जयदेव ने कृ के जिस रूप को उभारा, उसकी ओर लोगों का झुकाव बहुत अधिक होने लगा। उ हिन्दू-समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो हिन्दुओं की वीरता को उभा सके, जो उन्हें त्याग और कष्ट-सहिष्णुता की ओर प्रेरित कर सके। ऐसा धर्म भगवा राम को लेकर खड़ा किया जा सकता था।

राम की उपासना पहले से प्रचलित भले ही न रही हो, किन्तु, हिन्दुओं के हृ में राम विष्णु के अवतार के रूप में पूजित अवश्य रहे थे। स्वयं कालिदास उन्हें विष्णु का अवतार मानते थे।[1] वैदिक धर्मावलम्बियों की दृष्टि में राम इतने पूजनीय थे कि बौद्धों ने उन्हें बोधिसत्त्व और जैनों ने आठवाँ बलदेव मान लिया था।[2]

दक्षिण के वैष्णव आलवार तीसरी-चौथी सदियों में तो नारायण की ही करते थे। आगे चलकर जब वे अवतारों की पूजा पर आये तब पहले उपासना उन्हों वामन की आरम्भ की और तब कृष्ण तथा बलराम की। उसके बाद रामोपासना

---

१. रामाभिधानो हरिरित्युवाच।

२. यह सब ईस्वी सन के पूर्व ही हो चुका था।

आरम्भ आलवारों ने ही किया। त्रावणकोर के कुलशेखर आलवार दाशरथि राम भक्त थे। उनके साहित्य का लगभग पाँचवाँ अंश रामचरित से सम्बद्ध है। तमिल- में रामोपासना बहुत पहले से प्रचलित थी। रामायण भी हिन्दी में पीछे, तमिल पहले लिखी गयी थी।

तीर्थ-यात्रा के क्रम में रामानन्द ने सारे देश का भ्रमण किया था। दक्षिण में तो वर्षों रहे थे। राम-भक्ति पर श्रद्धा रामानन्द को दक्षिण में ही हुई और वहीं से वे भक्ति का प्रसाद उत्तर वालों के लिए ले आये। इसीलिए, परम्परा कहती है कि क्ति को दक्षिण से उत्तर लाने का काम रामानन्द ने किया।

जिस राम-भक्ति का प्रचार दक्षिण और उत्तर, दोनों ही भूभागों में हुआ, उसका धार अध्यात्म-रामायण थी। किन्तु, यह पता नहीं चलता कि अध्यात्म-रामायण रचना दक्षिण में हुई थी अथवा उत्तर में। कभी-कभी यह अनुमान लगाया जाता कि यह रामायण स्वयं रामानन्द स्वामी ने लिखी होगी।

रामानुजाचार्य तक भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का रंच भर भी प्रभाव नहीं पड़ा। इस्लाम का प्रभाव उसपर तब पड़ने लगा, जब भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत में हुँचा जहाँ मुसलमानों की संख्या बहुत काफी थी, जहाँ स्थान-स्थान पर सूफियों का निवास था और जहाँ के हिन्दू मुसलमानों के रीति-रिवाज और सामाजिक आचारों से थोड़ा-बहुत प्रभावित होने लगे थे।

तब भी, यह तो नहीं कहा जा सकता कि रामानन्द ने इस्लाम के प्रभाव में आकर ष्णव आगमों में कोई संशोधन किया हो। वर्णाश्रम का बन्धन रामानन्द भी मानते थे। आनन्दभाष्य में शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार उन्होंने भी नहीं दिया है। हिन्दू तो वे भी जन्मना मुस्लिम से श्रेष्ठ समझते थे। फिर भी, कोई बात थी जिसके कारण नीची जातियों के साधक उनके पास पहुँच जाते थे। कबीर को उन्होंने दीक्षा देने से इनकार किया था। किन्तु, कबीर दास जब गंगा-तट पर उनकी खड़ाऊँ के नीचे आ गये तब रामानन्द के मुख से अचानक "राम" शब्द निकला। कबीर ने इसे ही गुरु-मन्त्र मान कर ग्रहण कर लिया और रामानन्द को वे आजीवन अपना गुरु मानते रहे।

रामानन्द के भीतर प्राचीनता और नवीनता के बीच संघर्ष था। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबन्धों का खंडन नहीं कर सकते थे। किन्तु, उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण अथवा द्विज के वंश में नहीं हुआ है। विचार से वे कठोर वर्णाश्रमी, किन्तु, आचारों से दयालु सन्त थे। इसीलिए, जब स्वामी रामानन्द स्वर्गीय हुए, उनके अनुयायी दो धाराओं में बँट गये। एक धारा उन भक्तों की बनी जो विशिष्टाद्वैत को मानते थे एवं जिनका विश्वास वेद और वर्णाश्रम धर्म में भी भरपूर था। गोस्वामी तुलसीदासजी और नाभादासजी इसी धारा के भक्त-कवि हैं। इसके विपरीत, दूसरी धारा के भक्त वे हुए जो वेद और वर्णाश्रम के विरुद्ध थे, जिनका विश्वास विशिष्टाद्वैत में भी नहीं था, किन्तु, जो रामानन्द के भक्ति-धर्म को आदर्श समझते थे।

इस दूसरी धारा के नेता कबीर दास हुए जिन्होंने गुरु-मन्त्र को (रामनाम भुलाया तो नहीं, किन्तु, राम-विषयक सारी धारणाओं को वदल दिया। कबीर के दशरथ के पुत्र नहीं हैं[१], न वे चतुर्भुज विष्णु के अवतार हैं।[२] वे तो अकाल, अनाम[3] और अरूप हैं जिन्हें रामाश्रयी वैष्णव राम और मुसलमान रहीम कहता है जिन्हें कबीर दास ने, अपनी ओर से, एक अत्यन्त प्यारा नाम "साहव" का है।[४] कहते हैं, कृष्ण-धर्म में रसिकता की वृद्धि देखकर ही रामानन्द ने राम की चलायी थी और वे रामभक्ति में माधुर्य लाना नहीं चाहते थे। किन्तु, कबीर ने को अपना पति मान लिया।[५] सूफी-मत के अनुसार राम को प्रियतमा समझना प्रासंगिक होता, किन्तु, कबीर पर छाये हुए हिन्दू-संस्कार ने कबीर के तसव्वुफ को इस्लामी नहीं रहने दिया। तब भी, राम की कल्पना में कबीर ने जो परिवर्तन उनका कारण इस्लामी प्रभाव था।

इस्लाम का एकेश्वरवाद कबीर को बहुत पसन्द था और अभ्यासी वे वेदान्त के भी थे। अतएव, सगुणोपासक गुरु से मंत्र लेकर भी वे अपने निर्गुण-प्रे नहीं छोड़ सके।

लेकिन, सारा भक्त-समाज कबीर के प्रभाव में नहीं आया। कवीर की सिमट कर उस पतली धारा में बह गयी जिसके किनारे-किनारे नानक, दादू सुन्दरदास और मलूकदास आदि सन्तों के पर्ण-कुटीर बसे हुए हैं। इस मार्ग में वल्लभाचार्य, विट्ठल स्वामी, सूरदास, कुम्भनदास, तुलसीदास, नाभादास और स्वामी रामदास के जो समृद्ध आश्रम हैं, वहाँ केवल सगुण लीला ही चलती है। ने भक्ति-आन्दोलन पर प्रभाव महात्मा कबीर दास के जरिये डाला और कबीर ने प्रभाव का उत्तराधिकार निर्गुणोपासक सन्तों को दे दिया। लेकिन, यह प्रभाव उत्तर में ही सीमित रहा। विन्ध्य के दक्षिण द्रविड़ देश में भक्ति निर्गुण की अधिक नहीं झुकी। पता नहीं, इस स्थिति पर उन पण्डितों ने कभी विचार किया या नहीं जिसके मतानुसार भक्ति पर इस्लाम का प्रभाव दक्षिण में ही पड़ने लगा

महात्मा कबीर दास ने निर्गुण उपासना की जो धारा बहायी, वह अपने ही बहती हुई आगे निकल गयी। जिन भारतवासियों पर इस धारा का प्रभाव है, वे पाँत के मामले में काफी उदार हैं एवं धार्मिक असहिष्णुता भी उनमें अपेक्षाकृत

---

१. दसरथ के गृह ब्रह्म न जनमे, ई छल माया कीन्हा।

२. चारि भुजा के भजन में, भूलि पड़ा संसार,
कबिरा सुमिरे ताहि को, जाकी भुजा अपार।

३. निर्गुण राम जपहु रे भाई
अविगत की गति लखी न जाई।

४. ता साहिब के लागों साथा, सुखदुख मेटि जो रह्यो अनाथा।

५. राम मोर साईं मैं राम की बहुरिया।

है। किन्तु, कबीर के तुरन्त बाद जो सगुणोपासना की धारा उमड़ी, उसने सम्पूर्ण संस्कृति और साहित्य को प्लावित कर दिया। इस धारा के कवियों और सन्तों में पाण्डित्य भी है और सहृदयता भी। उनमें आक्रोश और कटुता के वे भाव नहीं हैं, जो कबीर और उनके अनुयायियों में दिखायी पड़ते हैं। यह धारा आत्मविश्वास से जगमगाते हुए मूल-हिन्दुत्व की धारा है। इसमें न तो नकारात्मकता है, न अपने-आप पर डरने या शरमाने की प्रवृत्ति। कबीर ने राम-मन्त्र तो रामानन्द से लिया था, किन्तु, वेदान्त और इस्लाम से अर्जित निराकारवादी संस्कार के कारण उन्हें राम को दशरथ का पुत्र मानने में झिझक और कठिनाई हुई। किन्तु, जब तुलसीदास आये, उन्होंने, डंके की चोट से, यह घोषणा कर दी कि हाँ, मेरा उपास्य वही राम है जिसने दशरथ के गृह में अवतार लिया था।

मंगल - भवन अमंगल - हारी
द्रवहु सो दसरथ अजिर विहारी।

× × ×

पुरुष प्रसिद्ध प्रकाश-निधि, प्रगट परात्पर नाथ,
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ।

जहाँ-जहाँ तुलसीदासजी को यह बताने का अवसर मिला है कि मैं जिस राम का भक्त हूँ, वह और कोई नहीं, राजा दशरथ का पुत्र है, वहाँ-वहाँ हम उनके भीतर एक अद्भुत उत्साह, एक सचेष्ट निर्द्वन्द्वता, एक प्रकार की शालीन वीरता का निर्भीक तेज देखते हैं, मानो, वे किसी चुनौती का जवाब दे रहे हों; मानो, वे किसी से ललकार कर कहना चाहते हों कि हाँ, मैं उसी राम का भक्त हूँ जिसे तुम माया की कृति कहते हो; जिसे तुम मनुष्य मानते हो और जिसका उपासक होने के कारण तुम, कदाचित्, मुझे अन्धविश्वासी और मूढ़ भी समझते हो।

तुलसी के भीतर से यह और कोई नहीं, स्वयं हिन्दू-धर्म बोल रहा था। हिन्दू-धर्म, जिसकी प्रतिमाएँ और मन्दिर तोड़कर धूलिशायी कर दिये गये थे। हिन्दू-धर्म, जिसे मुस्लिम आलोचक साकारवादी होने के कारण तुच्छ समझते थे। और हिन्दू-धर्म, जिसकी अपनी सन्ततियाँ इस्लाम स्वीकार करके अथवा कबीरादि की संगति में बैठकर निर्गुण की प्रशंसा और सगुण की निन्दा कर रही थीं।

उन्नीसवीं सदी में भी हिन्दुत्व की टक्कर जब ईसाइयत से पड़ी, तब हिन्दुत्व के आरम्भिक सुधारक साकारवादी हिन्दुत्व की ओर से बोलने का साहस नहीं कर सके। ब्राह्म-सामाजियों का हिन्दुत्व पूरा नहीं, खण्डित हिन्दुत्व था और इस खण्डित हिन्दुत्व को ले कर ब्राह्म-समाजी इसलिए चले थे कि हिन्दुत्व का इतना अंश ईसाइयत और बुद्धिवाद की कसौटी पर भी खरा उतरता था। हिन्दुत्व के बाकी अंशों को ब्राह्म-समाजियों ने इसलिए छोड़ दिया कि उनका समर्थन करने में ईसाइयों के सामने उन्हें शर्म आती थी। उन्नीसवीं सदी में समग्र हिन्दुत्व का पूरा प्रतिनिधित्व परमहंस राम-

कृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने किया जो मूर्त्तिपूजा, व्रत, उपवास, अवतार तीर्थ, सब को सार्थक एवं अनिवार्य समझते थे। उन्नीसवीं सदी में जो हाल राम राय और केशवचन्द्र सेन का हुआ, मुस्लिम-काल में वही दशा कबीर और अनुयायियों की थी। और उन्नीसवीं सदी में जो शालीन वीरता हम रामकृष्ण हंस में देखते हैं, मुस्लिमकाल में उस वीरता का प्रतिनिधित्व गोस्वामी तुलसीदास किया। इसीलिए, वे हिन्दुत्व के परम त्राता और अन्यतम रक्षक माने जाते हैं।

कबीर के भीतर जो दर्द और बेचैनी, जो जोश और तूफान है, वह, पूर्ण भारतीय नहीं है। यही चीज है जो उन्होंने इस्लाम से पायी थी और इसी की वि उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए छोड़ी। किन्तु, तुलसी और सूरदास के चिन्तन कल्पना में जो कुछ भी है, इसी देश का है। यह भी ध्यान देने की बात है कि और तुलसी की धाराओं में से तुलसीवाली धारा ही दिनोंदिन अधिक पुष्ट विकसित होती आयी है। इस्लाम के सम्पर्क से जो जीवन उमड़ा, उसका अल्पांश निराकारवादियों को प्राप्त हुआ। उसके बहुलांश को लेकर साकारोपासना ही वि सित हुई है। हिन्दुत्व ने शक्ति तो जागरण से खूब पायी, किन्तु, उसका उपयोग अपनी सनातन परम्परा को स्थिर बनाने में किया। हिन्दुत्व का यह स्वभाव है वह जितना ही बदलता है, उतना ही अपने सनातन रूप के अधिक समीप जाता है।

भक्ति-मार्ग में उदारता के पहले बीज स्वामी रामानन्द ने ही बोये थे। वे आचार्य हुए, जिन्होंने मुसलमान शिष्यों को भी शिष्य माना और स्त्रियों तथा का भी अपने सम्प्रदाय में स्वागत किया। रामानन्द के एक शिष्य कबीर और रैदास थे। शायद, रामानन्द के ही दृष्टान्त पर आगे चलकर गोसाईं विट्ठलनाथ रसखान को दीक्षा दी, जो मुसलमान थे। इसी प्रकार, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने (१४८५-१५३३ ई०) मुसलमानों को शिष्य-रूप में स्वीकार किया।

असम में श्री शंकरदेव ने जो महापुरुषीय-सम्प्रदाय चलाया, रामानन्द और की-सी उदारता उस सम्प्रदाय में भी थी। शंकरदेव ने नागा और मिकिर आदिवासी जातियों को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया एवं कुछ मुसलमान भी शिष्य हुए। महापुरुषीय-सम्प्रदाय में शूद्र गुरु भी ब्राह्मण शिष्य को दीक्षा दे सकता है

ये सारी बातें इस्लाम के कारण हुईं। यदि इस्लाम के भीतर समानता सिद्धान्त प्रबल नहीं होता, यदि सूफियों और हिन्दू भक्तों के बीच सत्संगति का नहीं होता और यदि समाज के हर तबके में नये जागरण की गूँज नहीं उठी होती वैष्णव आचार्य सामाजिक आचारों में उदारता दिखाने को तैयार होते या नहीं कहना कठिन है।

भक्ति-आन्दोलन के समय प्रतिमा-पूजन की जो निन्दा हुई, वह भी भारत मुस्लिम विजय का परिणाम थी। आश्चर्य यह है कि जो भक्त स्वयं मूर्त्ति की

रते थे, मूर्ति-पूजा की निन्दा उनके मुख से भी सुनायी देती थी। शंकरदेव और मदेव, दोनों के दोनों मूर्त्तिपूजक थे, किन्तु, मूर्त्ति-पूजा की निन्दा उन्होंने भी लिखी है। यह, शायद, उस पीड़ा की अभिव्यक्ति थी जो प्रतिमाओं को असहाय टूटते देखकर तिमा-पूजकों के हृदय में उठती थी। नामदेव की एक उक्ति से तो यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। "पत्थर का देवता नहीं बोलता। वह चोट खाकर टूट जाता है। पत्थर के देवताओं के पुजारी सब खो बैठते हैं।"[1]

शैवाचार्य

यह भी ध्यान देने की बात है कि जैसे वैष्णव-भक्ति, कवियों और रहस्यवादी न्तों की अनुभूतियों से निकल कर, दर्शन के स्तर पर पहुँची, उसी प्रकार, शिव की क्ति भी दक्षिण के शैव सन्तों और कवियों की वाणी में बढ़ी थी। वैष्णव भक्तों में से आलवारों का आविर्भाव हुआ, शैव भक्तों में उसी प्रकार और, प्रायः, उसी समय, नायनार भक्त हुए। एवं जैसे आलवारों की भक्ति-विह्वल अनुभूतियों का दार्शनिक रूप विशिष्टाद्वैत है, उसी प्रकार, शैव सिद्धान्त भी नायनार भक्तों की अनुभूतियों से बढ़कर दर्शन के स्तर पर पहुँचा है। आलवार बारह हुए हैं, किन्तु, नायनारों में तिरसठ भक्तों के नाम हैं और इनकी प्रतिमाएँ भी दक्षिण के शैव मन्दिरों में पूजी जाती हैं। जब नाथमुनि ने आलवारों के पदों का संकलन तमिल-प्रबन्धम् नाम से किया, उसी समय (दोनों आचार्य चोलवंशी नृपति राजराज के समकालीन थे) शैवाचार्य नाम्बि-आन्दार-नम्बी ने शैव गानों और पदों का संकलन ग्यारह जिल्दों में किया, जिनका सम्मिलित नाम **"तिरुमरइ"** या पावन पुस्तक है। आलवारों के पदों में जो स्थान विष्णु का था, नायनारों के गीतों में वही स्थान शिव का है। इन दोनों ही प्रकार के भक्तों के पद विश्व भर के सर्वश्रेष्ठ भक्ति-साहित्य में स्थान रखते हैं।

शैव सिद्धान्त में सृष्टि के परम अध्यक्ष का नाम शिव है। वे ही चेतना के आगार और ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनादि सत्य हैं। उन्हीं की कृपा सृष्टि की पाँच प्रक्रियाओं में व्यक्त होती है। ये प्रक्रियाएँ हैं सृष्टि की रचना, पालन और विनाश तथा जीव को मोहाच्छन्न बनाना और फिर उसे मोह से मुक्त करना। शिव सारे कार्य अपनी शक्ति के माध्यम से करते हैं। सृष्टि को शैव सिद्धान्त अनादि मानता है और विश्वास करता है कि सृष्टि का विकास जीवों के कल्याण के लिए होता है। जड़ प्रकृति और चेतन जीव, न में शिव का निवास है। स्वभाव से आत्मा भी शिव के समान ही अनादि, अनन्त और चेतन है। किन्तु, बन्ध में पड़ जाने के कारण वह अपने को सान्त, क्षणिक और अज्ञानी मानती है। इस बन्ध से मोक्ष पाने के लिए आवश्यक है कि जीव अपने पूर्व कर्मों से मुक्त हो, जड़ की अधीनता से बाहर निकले और अपने को सान्त समझना छोड़ दे। मुक्ति की साधना के लिए शैव सिद्धान्त विहित पद्धति का निर्धारण करता है, गुरु को आवश्यक बतलाता है तथा, सब से ऊपर, शिव की कृपा को अनिवार्य मानता

---

[1] इतिहास-प्रवेश

है। शैव सिद्धान्त, वस्तुतः, शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के बी मत है।

आलवार भक्तों और वैष्णवाचार्यों तथा नायनार भक्तों और शैवाचार्यों के पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जाना चाहिये, किन्तु, पिता यहाँ अशिक्षित और पुत्र गत विद्वान थे। आलवारों ने जिस धर्म की साधना जनता के स्तर पर रहकर की धर्म को वैष्णवाचार्यों ने जनसाधारण के धरातल से उठाकर पाण्डित्य के धरातल पहुँचा दिया। यामुनाचार्य, रामानुज, निम्बार्क (१११४ से ११६२ ई०) मध्व अथवा आनन्दतीर्थ (जन्म सन् ११९७ ई०), विष्णुस्वामी (सम्भवतः दसवीं शता तथा वल्लभाचार्य (१४७९-१५३० ई०) और चैतन्य, ये सब के सब शांकर म विरोधी और भगवान के साकार रूप के भक्त थे। इनमें से जो अपेक्षाकृत आचार्य हैं (यथा यामुनाचार्य, विष्णुस्वामी और रामानुज) वे निश्चित आलवार संस्कारों में पलकर बड़े हुए थे। बाकी आचार्यों पर भी आलवार अवश्य रहा होगा। भागवत-पुराण की रचना के पीछे आलवार-संस्कारों का किस प्रकार पहुँचा, यह खोज का विषय है। किन्तु, भक्ति का जो रूप आ साहित्य, भागवत, गीत-गोविन्द (११वीं सदी) और रामानुज एवं निम्बार्क तक सित हुआ, उसपर इस्लामी प्रभाव की छाया भी नहीं पड़ी थी, यह अटल सत्य है

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी अपनी पुस्तक "मेडिवल मिस्टिसिज्म इण्डिया" में यह अनुमान लगाया है कि द्रविड़ों और आर्यों से पूर्व के भारतवासि भक्ति की प्रवृत्ति, सम्भवतः, प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। आर्यों की बौद्धिकता भक्ति की इन प्राथमिक प्रवृत्तियों से मिश्रित होने लगी, तब भारत की धार्मिक में धीरे-धीरे गहराई और विस्तार आने लगा। कुछ लोगों का यह भी अनुमान है भक्ति के बीज पण्डितों के दार्शनिक चिन्तन में नहीं, ग्रामीण जनता के हृदय में होंगे, क्योंकि जनता के द्वारा ग्राम-देवताओं के पूजन में चिन्तन कम, भावना होती है। कालक्रम में, यही भावना जन-जीवन के स्तर से उठकर, पहले सन्तों कवियों में, तथा बाद को दार्शनिकों में पहुँची। बात चाहे जो हो, किन्तु, इतना दीखता है कि भक्ति की धारा गीता में फूटती है, दक्षिण के आलवार-सन्तों के वह अपनी पहली राह बनाती है, रामानुज एवं अन्य आचार्यों की पद्धतियों में विस्तार प्राप्त होता है एवं बाद के कवियों और सन्तों को पाकर वह सारे प्लावित कर देती है। इस्लाम का प्रभाव रामानुज के बाद के सन्तों और कवि मिले तो मिले, रामानुज के काल तक तो वह नहीं ही मिल सकता है।

रहस्यवाद

यदि रहस्यवाद की बात को लें, तब भी, जायसी, कुतुबन और उस्मान वाला ही ऐसा है, जिसमें हम ईरानी सूफियों का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। इस अनुसार, आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका माना जाता है। प्रेमी कोई और प्रेमिका कोई राजकुमारी होती है। आत्मा को जगाने के लिए कोई गुरु

जो राजकुमारी के रूप का वर्णन करता है तथा जिसे सुन कर राजकुमार के हृदय में न का जोश पैदा होता है। वह राजकुमारी को पाना चाहता है, किन्तु, उसके पास हुँचने के पूर्व, राजकुमार को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। सूफी भाषा ये बाधाएँ माया के रूपक हैं, शैतान के खेल हैं। फिर राजकुमार और राजकुमारी ब्याह हो जाता है। कभी-कभी विवाह के बाद वियोग भी होता है, जिसमें पर-मात्मा के लिए आत्मा की बेचैनी दिखलायी जाती है। इस पद्धति की अभारतीयता है कि इसमें परमात्मा को नायिका का रूप दे देते हैं, जब कि भारतीय दृष्टिकोण परमात्मा ही पुरुष और आत्मा ही नारी मानी जाती है। इन कहानियों में, कहीं-कहीं, यह विवरण भी आ जाता है कि हठयोग की परिभाषा के अनुसार, शरीर के भाग में कौन-सी नाड़ी या चक्र है। इसे भारतीय मानना चाहिये, क्योंकि योग शिक्षा सूफियों ने भारतवासियों से ही ली थी। सूफियों ने परमात्मा को जो सौन्दर्य प्रतीक और प्रेम को उसे पाने की राह माना था, उसी सिद्धान्त को कथा में अनूदित करने के प्रयास से जायसीवाली शैली का जन्म हुआ। सूफी सौन्दर्य और प्रेम के मतवाले थे। शारीरिक सौन्दर्य का उन्होंने उत्तम-से-उत्तम वर्णन किया है। हिन्दी में जो रहस्यवादी कथा-काव्य मौजूद हैं, उनपर ये लक्षण खूब घटते हैं। किन्तु, संयोग की बात कि इस शैली को किसी भी हिन्दू कवि ने नहीं अपनाया; इस प्रकार जो भी काव्य हिन्दी में हैं, वे मुसलमान कवियों के ही लिखे हुए हैं।

किन्तु, इस रहस्यवाद से भिन्न जो कबीर, दादू और नानक का रहस्यवाद है, उनकी परम्परा सूफियों के यहाँ से नहीं आयी। अस्पष्ट भाषा में निगूढ़ भावों को का प्रयास, अपूर्ण भाषा के द्वारा किसी पूर्ण सत्य की ओर इंगित करने की चेष्टा जिस गहराई या ऊँचाई तक वाणी नहीं जा सकती, उसे अभिव्यक्ति देने की अधूरी कोशिश, ये बातें कबीर, दादू, नानक और नामदेव में भी हैं तथा आठवीं-नवीं सदियों सिद्धों में भी। इस निगूढ़ शैली के आदि प्रयोक्ता सिद्धाचार्य ही थे, जिनकी भाषा उसके दुरूह होने के कारण ही "सान्ध्य भाषा" कहने का रिवाज है। यही नहीं, निर्गुनियाँ सन्तों के फक्कड़पन और निर्भयता का भी पहला रूप हमें सिद्धों की रचनाओं में खूब मिलता है। अतएव, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पठान-काल के निर्गुनपन्थी कवियों ने इस्लाम के प्रभाव में आकर उलझी वाणी में रहस्य का वर्णन किया, उलटबाँसियाँ कहीं अथवा मूर्त्तिपूजा, तीर्थ और पुरोहितवाद पर प्रहार किये। ये सारी बातें पहले से चली आ रही थीं।[1] सूफियों से इनका इतना ही लगाव

---

[1] रहस्यवाद और उलटबाँसी का प्रमाण :—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि-शशि नाहिं पवेश,
तहँ मूढ़ चित ! विश्राम करु, सरह कहेउ उपदेश। (सरहपा : काल ७६० ई०)
यदि पलन-गमन-दुआरे, दृढ़ तालाहू दीजै,
यदि तहँ घोर अँधारे, मन-दीपहु कीजै। (कन्हपा : काल ८४० ई०)
सिष्टि-उतपती बेली प्रकास, मूल न थी, चढ़ी अकाश।
उरध गोड़ कियो विस्तार, जाण नै जोशी करै विचार। (गोरख : काल ८४५ ई०)

[शेष पृष्ठ ३९० पर]

मानना चाहिये कि निर्गुनियाँ साधु और सूफी सन्त, इनके बीच स्वभाव, दृष्टि और सिद्धान्त को लेकर पहले से ही एक प्रकार की समानता थी। अतएव, दोनों नहीं कि परस्पर मित्र हो गये।

यह भी ध्यान देने की बात है कि कबीर आदि कवियों ने केवल भावों के ही नहीं, छन्दों के लिए भी सिद्ध-साहित्य की ओर देखा है। बीजक के कितने ही चर्यापदों में प्रयुक्त छन्दों के अनुकरण या विकास हैं और एक को पढ़ते समय दूसरे याद आप-से-आप आ जाती है।

भक्ति-आन्दोलन में हिन्दी में तीन प्रकार के कवि उत्पन्न हुए। एक तो वे, कथा-काव्य की प्रणाली से रहस्यवाद का कथन करते थे जिनके सिरमौर हैं। दूसरे वे, जो निर्गुण का उपदेश करते थे और साथ-ही वर्णाश्रम की निन्दा भी, जिनके अग्रणी कबीर हुए; और तीसरे वे, जो वर्णाश्रम-धर्म के थे, किन्तु, भक्त होने के कारण, सभी मनुष्यों पर प्रेम करते थे। इस सरणी के प्रसिद्ध कवि विद्यापति, चण्डीदास, सूरदास और तुलसीदास हैं। इनमें से जायसी धारा, अधिकांश में, इस्लामी सूफी मत की देन थी। कबीर वाली धारा का वर्णा विरोधी भाग सिद्धों की धारा का विकास-मात्र था। हाँ, इन लोगों ने समाज की दृष्टि से अथवा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने के लिए जो कुछ कहा उसे हम इस्लाम के आगमन से उत्पन्न स्थिति का प्रभाव मानेंगे। इनके काव्य का रहस्यवादी अंश है, उसमें वेदान्त भारतवर्ष का है, किन्तु, विरह की बेचैनी सूफी से आयी है। लेकिन, विद्यापति, सूर और तुलसी पर इस्लाम का कोई प्रभाव है नहीं, यह बताना अत्यन्त कठिन है। हमारा तो अब तक यही अनुमान रहा है कि कवियों पर इस्लामी प्रभाव बिलकुल नहीं है।

□□

[पृष्ठ ३८९ का शेषांश]

गगनि-मण्डलि में गाय बिआई, कागद दही जमाया।
छाछि छाँड़ि पंडिता पीनी, सिधा माखन खाया। (गोरख
जासु न वर्ण न गन्धरस जासु न शब्द न स्पर्श
जासु न जन्म न मरणहुँ, नाम निरंजन तासु। (योगीन्दु : काल १००० ई॰
जो परमात्मा सोई हौं जो हौं सो परमात्म।
एह जाने बिनु जोगिया, अन्य न करहु विकल्प (योगीन्दु : १००० ई॰

आचार-खण्डन के प्रमाण :—

ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद, यों ही पढ़ेउ ये चारो वेद।
माटि-पानि-कुश लिये पढ़न्त, घर ही बैठी अग्नि होमन्त।
कार्य बिना ही हुतवह होमे, आँखि डहावे करुए धूमे। (सरह
आत्मा गोरा कृष्ण नहिं, आत्मा रक्त न होइ।
आत्मा सूक्ष्महू स्थूल नहिं, ज्ञानी जाने जोइ। (योगीन्दु
तीर्थहिं तीर्थ भ्रमन्त कहि, मूढ़हि मोक्ष न होइ।
ज्ञान विवर्जित जो कि जिव, मुनिवर होइ न सोइ। (योगीन्दु
आगम-वेद पुराणहिं पण्डित मान वहन्ति।
पक्व सिरीफल अलिय जिमि बाहर होहि भ्रमन्ति। (कन्हपा : ८४० ई॰
(राहुलजी-कृत हिन्दी अनुवाद, "हिन्दी काव्य-धारा"

प्रकरण ७

अमृत और हलाहल का संघर्ष

तौहीदे-इलाही

सम्राट् अकबर ने तौहीदे-इलाही नामक जो नया पन्थ चलाया था, उसकी प्रेरणा राजनीति से आयी थी अथवा उस धार्मिक जागरण से जो कबीरदास के समय से चलता गया था ? यह एक प्रश्न है जहाँ व्यष्टि और समष्टि का स्वच्छ विभाजन नहीं किया जा सकता, जहाँ·वैयक्तिक और सामाजिक भावनाओं के बीच स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।

तौहीदे-इलाही की कल्पना राजनैतिक भी थी और धार्मिक भी। राजनैतिक वह इस कारण थी कि आरम्भ के मुगल बादशाह—बाबर, हुमायूँ और अकबर—प्रयासपूर्वक हिन्दुओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। पठानों से मुगलों की पटती नहीं थी, अतएव, मुगल चाहते थे कि राजपूत उनके दोस्त बन जायें। बाबर ने वसीयत के जरिये हुमायूँ को सलाह दी थी कि हिन्दुस्तान पर हुकूमत करते-त हिन्दुओं की धार्मिक भावना को ठेस मत पहुँचाना। और हुमायूँ ने भी अकबर के लिए वसीयत छोड़ी थी कि, हो सके तो, राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उनके साथ अपनी मित्रता पक्की कर लेना। अकबर इन राजनैतिक परम्पराओं का मूल्य समझता था। साथ ही उसने धर्म के उस महाजागरण से भी शिक्षा ली थी जो सूफियों और हिन्दू सन्तों के सहारे सारे भारत में फैल रहा था और जिसका लक्ष्य मनुष्य को धर्म के स्मृति-पक्ष से ऊपर उठा कर उसके श्रुति-पक्ष पर ले जाना था।

अकबर धर्म के मूल-रहस्य को जानने के लिए बड़ा बेचैन रहता था। मुसलमान होने के कारण उसकी यह भी इच्छा थी कि वह इस्लाम की शरीयत के अनुसार चले। किन्तु, तब तक इसलाम की अनेक शाखाएँ निकल आयी थीं, अनेक फिरके बन गये थे। इनमें से कौन ठीक है और किसका अनुगमन उसे करना चाहिये, यह जानने के लिए, हुर सीकरी में उसने एक इबादत-खाना (प्रार्थना-गृह) बनवाया जिसमें विभिन्न इस्लामी फिरकों के विद्वान जमा होकर परस्पर विचार-विनिमय करते थे। इन विद्वानों के विचार-विमर्शों से अकबर को इस्लाम की कट्टरता नापसन्द आने लगी। तब उसने इबादत-खाने की बैठकों में अन्य धर्मों के विद्वानों को भी बुलाना आरम्भ किया। विभिन्न धर्मों के विद्वानों की इस विचार-गोष्ठी में सभापति का काम अकबर स्वयं करता था और, स्वभावत: ही, परस्पर झगड़नेवाले विद्वानों को सभापति की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ती थी। इस प्रकार, धीरे-धीरे, अकबर देश का धार्मिक नेता भी बनने लगा। सन् १५७९ ई० में अकबर ने खुद साम्राज्य के प्रमुख इमाम की हैसियत से मस्जिद के मिम्बर से खुतबा पढ़ा। तभी, राज्य के प्रमुख उलमाओं के हस्ताक्षरों से यह घोषणा-की गयी कि इमामे-आदिल (न्यायी इमाम) सब मुजतहिदों (मजहब के व्याख्याकारों)

से बड़ा है और विवादग्रस्त मामलों में उसका फैसला सबको मान्य होगा। जो न मा
उसे दंड देना उचित होगा"[1]

इस घोषणा से कट्टर मुसलमान भड़क उठे और अकबर के भाई मुहम्मद हकी मिलकर उन्होंने बिहार और बंगाल में बलवा करा दिया। "जौनपुर के एक काज़ी फतवा दे दिया कि अकबर के खिलाफ बलवा करना जायज है।"[2]

अकबर ने इस बलवे को दबा दिया और उसके बाद, धर्म के मामले में निर्णय की, उसे पूरी स्वतन्त्रता मिल गयी। "अकबर दूसरे धर्मों की तरफ झुकने लगा उसने घोषणा कर दी कि उसके बेटे चाहे जो मजहब मान सकते हैं। जरथुस्त्रियों तरह, वह अपने घर में पवित्र अग्नि रखने और सूर्य को प्रणाम करने लगा और और हिन्दुओं के प्रभाव से उसने गोहत्या की मुमानियत कर दी। ईसाइयों का पत्नीव्रत भी उसे भाया। इस प्रकार, सब धर्मों का सामंजस्य करके उसने एक व्या धर्म बनाने की कोशिश की। उसने लिखा, "एक साम्राज्य में, जिसका एक शासक यह अच्छा नहीं है कि प्रजा एक दूसरे के विरोधी मतों में बँटी रहे। इसलिए, हमें सबको मिलाकर एक करना चाहिये। किन्तु, इस प्रकार कि वे एक भी हो जायें अनेक भी बने रहें।"[3]

अकबर की धार्मिक नीति उस युग के लिए अत्यन्त प्रगतिशील थी। ईरान के शाह अब्दुस-सफरी को एक पत्र में उसने लिखा था कि, "भाँति-भाँति के धार्मि सम्प्रदाय दैवी थाती हैं और खुद परमेश्वर ने ही उन्हें हमारे हाथ में सौंपा है। इसलि हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन सब को प्यार करें। बादशाह ईश्वर के प्रतिबिम्ब हैं। उन्हें इस महासिद्धान्त को कभी भी नहीं भूलना चाहिये।"[4]

अकबर, सचमुच, महान् था। भारत की एकता की समस्या को उसने पहचाना था। इस देश की एकता तभी बच सकती है जब इसकी अनेकता के उसका पूरा सामंजस्य हो।

फैजी के द्वारा अकबर ने रामायण, महाभारत, योगवाशिष्ठ और कुछ वेदान्त फारसी में अनुवाद करवाया था एवं हिन्दुओं के बीच इस्लाम के प्रति श्रद्धा जगाने उसने एक छोटा-सा उपनिषद् भी लिखवाया था जिसका नाम "अल्लोपनिषद्"[5] है अकबर हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच जिस समन्वय के लाने की चेष्टा कर रहा उसमें उसका सबसे बड़ा सहायक अबुल फजल था। किन्तु, उलेमा दोनों के खि थे। इतिहासकार बदायूनी ने लिखा है कि "अबुल फजल संसार को नास्तिकता जहर से जला रहा है।"

फिर भी, धर्म और विचार की सारी स्वतन्त्रताओं के बीच, अकबर इस्लाम तौहीद (एकेश्वरवाद) को कस कर पकड़े हुए था। इसीलिए, अपने ईश्वर-

---

१. इतिहास-प्रवेश। २. वही। ३. वही। ४. नेशनल कलचर ऑव् इंडि

५. यह उपनिषद् सत्यार्थ-प्रकाश में उद्धृत है।

(दीने-इलाही) का नाम उसने तौहीदे-इलाही रखा था। सन् १५९३ ई० में, उसने र्मिक स्वतन्त्रता के लिए कई आज्ञाएँ निकालीं, जिन में से प्रमुख ये थीं कि (१) कोई बर्दस्ती मुसलमान वनाया गया हिन्दू अगर फिर हिन्दू वनना चाहे तो उसे कोई न रोके। (२) किसी भी आदमी को जबर्दस्ती एक धर्म से दूसरे धर्म में न लाया जाय। (३) प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म-मन्दिर बनाने की पूरी स्वतन्त्रता रहे और (४) जबर्दस्ती सी विधवा को सती न वनाया जाय। जिज़िया और तीर्थयात्रा-कर उसने १५३३ ० में ही उठा दिये थे। स्पष्ट ही, अकबर के ये धार्मिक सुधार मुल्लाओं को अच्छे हीं लगे और वे अकबर की, हलके-हलके, निन्दा करने लगे। "उनके कट्टरपन से खीझ र पिछले जीवन में अकवर को इस्लाम का वहुत कुछ दमन भी करना पड़ा।"

अकवर की उदारता की नीति वहुत-से आम मुसलमानों को भी अच्छी नहीं लगी। तिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि अकवर की दया निस्सीम थी एवं दया के कारण वह, कभी,-कभी, वेवकूफी भी कर वैठता था। कहते हैं, अकबर ने कुछ दिनों तक नर्जन्म में भी विश्वास किया था और कभी-कभी, वह दरबार में चन्दन लगाकर भी ता था। जैन, यहूदी, ईसाई और हिन्दू, वह सव को खुश रखना चाहता था। उसने इबिल का अनुवाद फारसी में कराने की आज्ञा निकाली थी और ईसाइयों को भारत- र्ष में अपना धर्म फैलाने की भी स्वतन्त्रता दे रखी थी। अपने एक बेटे की शिक्षा के ए भी, उसने ईसाई शिक्षक रख छोड़ा था।

अकवर के व्यक्तित्व का आन्तरिक अंश विलकुल सूफियाना था। उसके भीतर वे रे गुण थे, जिनके विकास से धर्म के नेता तैयार होते हैं। अवुल फजल और वदायूनी विवरणों से मालूम होता है कि अकबर सूफियों की तरह, कभी-कभी समाधि में चला ता था और, कभी-कभी, सहज ज्ञान के द्वारा वह मूल सत्य के आमने-सामने भी ँच जाता था। एक वार वह शिकार में गया। उस दिन ऐसा हुआ कि घेरे में वहुत-से नवर एक-साथ पड़ गये और वे सव मार डाले गये। अकबर हिंसा के इस दृश्य सह नहीं सका। उसके अंग-अंग काँपने लगे और तुरन्त उसे एक प्रकार की माधि-सी हो आयी। इस समाधि से उठते ही उसने आज्ञा निकाली कि शिकार ना वन्द किया जाय। फिर उसने भिखमंगों को भीख दी, अपना माथा मुँड़वाया र धार्मिक भावना के इस जागरण की स्मृति में एक भवन का शिलान्यास भी या।[1] जंगल के जीवों ने अपनी वाणी-विहीन वाणी से उसे धर्म का रहस्य वतलाया और अकवर की जागरूक आत्मा ने उसे सुन लिया। यह, स्पष्ट ही, अत्यन्त भावुक र धर्मप्राण व्यक्ति का लक्षण प्रतीत होता है।

अकवर हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों का प्रेमी था किन्तु, दोनों की कट्टरता से उसे णा थी। धर्म-परिवर्तन करनेवालों को वह नीची नजर से देखता था, क्योंकि उसका श्वास था कि "जो लोग अपना धर्म भय या लोभ से वदलते हैं, उनमें धार्मिकता नहीं ती है।"

---

१. ए पेजेंट ऑव् एशिया (केनेथ सॉडण्र्स।)

हलाहल का विस्फोट

हिन्दू-मुस्लिम-एकता का जितना वड़ा नेता अकवर था, उतना वड़ा नेता और हुआ है या नहीं, यह बताना आसान नहीं है। किन्तु, जिन गुणों के कारण अकब हिन्दुओं की श्रद्धा वढ़ी, उन्हीं गुणों के कारण मुसलमान उसके खिलाफ हो काजी और मुल्ले पठानों के समय राजकाज में हस्तक्षेप करते थे और पठान मु उनकी दस्तंदाजी को रोक नहीं पाते थे। पठानों के समय मुल्ले खुलकर वहां सुलतान की करते थे जिसके राज्य-काल में अधिक-से-अधिक मूर्तियाँ और मन्दिर जाते थे तथा अधिक-से-अधिक हिन्दू मुसलमान वनाये जाते थे। किन्तु, अकवर ने शासन को धर्मनिरपेक्ष बनाना चाहा और यह घोषणा कर दी कि जो भी जवर्दस्ती मुसलममान बनाया गया हो, वह चाहे तो अपने धर्म में वापस जा सकता तब मुल्लों की दृष्टि में वह इस्लाम का द्रोही समझा जाने लगा।

अकवर ने इस्लाम का कोई अहित नहीं किया। वह शरीयत को मानता और तौहीद के सिद्धान्त पर अटल विश्वास रखता था। उसका अपराध केवल यह कि सभी धर्मों को वह एक दृष्टि से देखता था और चाहता था कि मुस्लिम-राज्य जैसे मुसलमान निश्चिन्त रहते हैं, वैसे ही, सभी धर्मों के लोग बेफिक्र रहें। बादशाह की यह उदार नीति मुल्लों को सह्य नहीं हुई। मुल्लों की एकमात्र का यह थी कि भारत के अन्य धर्मों का चाहे जो भी हाल हो, किन्तु, इस्लाम का प्र अधिक-से-अधिक होना चाहिए। लेकिन, अकवर की उदार नीति के कारण इस्लाम प्रसार में वाधा पड़ती थी। इसलिए, मुल्लों ने वादशाह के खिलाफ आन्दोलन आ कर दिया। इस जहरीले आन्दोलन के सब से बड़े नेता का नाम शेख अहमद सरहिन्दी

शेख अहमद सरहिन्दी

शेख अहमद सरहिन्दी का जन्म १५६३ ई० में हुआ था और उसकी सन् १६२४ ई० में, यानी अकबर की मृत्यु के कोई १९ साल वाद हुई। शेख अह इब्ने-तैमिया का शिष्य था। वह केवल कट्टर मुसलमान ही नहीं, प्रत्युत, इस्ला धर्मों का प्रचण्ड विरोधी भी था। इस्लाम को वह सभी धर्मों, सभी संस्कृतियों प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था। वह इस्लाम के उस प्राचीन, आरम्भिक रूप कायल था जब मुस्लिम-समाज में तसव्वुफ का प्रचार नहीं हुआ था, न मुस्लि संस्कृति पर किसी अन्य संस्कृति का प्रभाव ही पड़ा था। उन्नीसवीं सदी में वहाबि ने इस्लाम के जिस प्राचीन रूप को वापस लाने की कोशिश की तथा वीसवीं सदी उसके जिस रूप का आख्यान हाली और इकवाल ने किया, शेख सरहिन्दी इस्लाम उसी रूप का उपासक था।

लगभग चार सौ वर्षों के सम्मिलित जीवन में मुसलमानों ने हिन्दुओं से जो आदतें सीखी थीं, शेख सरहिन्दी उन सब को गुनाह समझता था। विवाह, श्राद्ध, त्योहार और दैनिक रहन-सहन में हिन्दुओं और मुसलमानों के वहुत-से रीति-रिवा समान हो गये थे। गोहत्या से घृणा उन दिनों मुसलमानों को भी होने लगी थी और

वा-विवाह को मुसलमान भी हीन कर्म मानने लगे थे। शेख अहमद ने इन सारी तों को दुष्कर्म बताया और मुसलमानों से उसने कहा कि हिन्दुओं की संगति में ने जो कुछ भी सीखा है, उसे छोड़ दो, क्योंकि ये बातें असली इस्लाम के खिलाफ । उसका उपदेश था कि भारत के मुसलमानों को ठीक उसी प्रकार से रहना चाहिये, मुहम्मद साहब के समय में अरब के मुसलमान रहा करते थे और उन्हें सतर्क ना चाहिये कि हिन्दुस्तान में बसनेवाले बहु-संख्यक गैर-मुस्लिमों की आदतें उनके र न समा जायें। हिन्दुओं से शेख अहमद को भयानक विद्वेष था। वह उन्हें फिर समझता था और उसका विश्वास था कि काफिरों के दलन और अपमान से कर भगवान को प्रसन्न करने का और कोई उपाय नहीं है।[1]

हिन्दू-मुस्लिम-एकता के विरुद्ध अपना जहरीला प्रचार शेख अहमद ने अकबर के राज्य-काल में आरम्भ कर दिया था। किन्तु, अकबर का रोब-दाब सारे देश में था, एव, शेख अहमद का प्रचार उस समय जोर नहीं पकड़ सका। लेकिन, अकबर रने के बाद शेख अहमद ने निर्भय होकर मुसलमानों के भीतर आग भड़काना शुरू या। नतीजा यह हुआ कि जहाँगीर ने उसे पकड़वा कर जेल में डाल दिया। मगर, गीर ढीला-ढाला बादशाह था। प्रभावशाली मुसलमानों के बीचबिचाव करने से दया आ गयी और शेख अहमद को उसने कैद से रिहा कर दिया। लेकिन, शेख मद को हिन्दू-मुस्लिम-एकता पर दया नहीं आयी। जेल से रिहा होते ही उसने ला प्रचार फिर से आरम्भ कर दिया और जहाँगीर के राज्य-काल भर वह अपने तों को बेरोक-टोक फैलाता रहा।

शेख अहमद सरहिन्दी के मरने के बाद उसके मतों के प्रचार का बीड़ा अहमद के , मुहम्मद मासूम ने उठाया। और जब मासूम का देहान्त हुआ, तब उसके बेटे सैफुद्दीन ने वही प्रचार और भी भीषणता से आरम्भ कर दिया। हिन्दुस्तान की -किस्मती से, इसी शेख सैफुद्दीन को औरंगजेब ने अपना गुरु बनाया और, इस कार, शेख अहमद की रूह को वह बलवान मनुष्य प्राप्त हो गया जो अहमद के सपनों कार्य का रूप दे सकता था।

मृत की पराजय

हिन्दुत्व और इस्लाम, दो धाराओं के समान, अलग-अलग बहते हैं। अकबर ने न्दुओं के हृदय को जीतकर बड़ी धारा को छोटी धारा के समीप लाना चाहा था। किन, शेख अहमद और उसके वंशधरों ने जी तोड़कर कोशिश की कि बड़ी और टी धाराओं के बीच की दूरी बराबर कायम रहे। अकबर के विचार समय से पहले आये थे। तत्कालीन मुस्लिम-जनमत ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। अकबर

---

[1] "Sh. Ahmad was fiercely hostile to the Hindus, whom he regarded as infidels and considered nothing more pleasing to God than their humiliation and disgrace." [डॉ० ताराचन्द की पुस्तक हिस्टरी आव् द फ़ीडम मूवमेंट, जिल्द १ से]

ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता को मजबूत बनाना चाहा, लेकिन, मुस्लिम-सम्प्रदाय ने इस्लाम का अपमान समझा और जवाब में शेख अहमद सरहिन्दी को खड़ा कर दि शेख अहमद की समाज में बहुत अधिक प्रतिष्ठा रही होगी और उसके खानदान लोग मुसलमानों के बीच बहुत आदर से देखे जाते होंगे। अन्यथा यह कैसे सम्भव कि देश का बादशाह औरंगजेब अहमद के पोते को अपना गुरु मान ले ?

अकबर के उदारवादी विचार दारा-शिकोह में आकर अपनी पूर्णता पर पहुँ लेकिन, शेख अहमद की रूह दारा-शिकोह से नाराज थी। इसीलिए, औरंगजेब ने दा शिकोह को मार डाला। जिस दिन दारा-शिकोह मारा गया, उस दिन हलाहल जी और अमृत हार गया।

अमृत और हलाहल की दूसरी लड़ाई फिर बीसवीं सदी में आकर हुई, जब के नेता महात्मा गाँधी हुए। अकबर ने जैसी उदारता हिन्दुओं के साथ बरती बहुत कुछ वैसी ही उदारता का व्यवहार गाँधीजी ने मुसलमानों के साथ किया। लेकि इस देश में जो मुसलमान हिन्दुओं का पक्षपाती होता है, उसे मुसलमान मार डालते जैसे औरंगजेब ने दारा-शिकोह को मार डाला। और जो हिन्दू मुसलमानों का पक्ष होता है, उसे हिन्दू मार डालते हैं, जैसे गोडसे ने गाँधीजी की हत्या कर दी।

अकबर के विचार सोलहवीं सदी के लिए समय से बहुत आगे थे। लेकिन, गाँ जी का जो हाल हुआ उससे यही दिखायी देता है कि पिछले चार सौ वर्षों में भी हम नहीं बढ़े हैं। अकबर अपने समय से आगे थे, लेकिन, गाँधीजी भी अपने समय से ही दिखायी पड़े। भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए यह कितनी की बात है ?

एकता के दुर्बल प्रहरी

अकबर ने जो ज्योति जलायी थी, वह जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में रही। जहाँगीर और शाहजहाँ, दोनों की माताएँ हिन्दू थीं, अतएव, हिन्दू-वि कट्टरपन इन लोगों में नहीं आया। फिर भी, इन विलासी शासकों में अकबर का और प्रताप नहीं था कि मुल्लाओं के विरोध को दबाकर वे एकता के शकट को बढ़ाते। अकबर की उदारता, अकबर की दूरदर्शिता और अकबर का मानवत्व भा वर्ष के नेताओं और राजाओं में, कभी-कभी ही, प्रकट हुआ है। कितने विस्मय बात है कि जब फ्रांस में कैथोलिक लोग प्रोटेस्टेंटों को जिन्दा जला रहे थे, जब इंग्लैं (एलिज़ाबेथ के इंग्लैण्ड में) प्रोटेस्टेंट लोग कैथोलिकों से फ्रांस का बदला दुगुने बल से रहे थे और जब इनक्विज़िशन के मारे स्पेन में यहूदियों का बुरा हाल था, तब भा वर्ष में अकबर हिन्दुओं पर किये गये मुस्लिम-अत्याचारों के निशान को दूध और से धो रहा था।

अकबर ने हर तरह से हिन्दू-धर्म का आदर किया। सिर्फ एक जहर था जि उतार उसके पास नहीं निकला। देश पर शासन मुस्लिम-कानून से होता था और पर आधारित होने के कारण इस कानून में यह विधान था कि यदि मुसलमान

हो तो उसके खिलाफ काफिर गवाह की गवाही सबूत नहीं मानी जायगी। परिणाम स्का यह था कि मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं को न्याय कम मिल पाता था। मगर, ही बात अँगरेजी शासन में भी चलती रही, क्योंकि, यद्यपि, अँगरेजों ने इस तरह के के कानून नहीं बनाये थे, मगर, कचहरियों में अँगरेज अपराधी के साथ पक्षपात का होना मामूली बात थी।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की नीति बहुत दूर तक बरती, लेकिन, सन् १६३२ ई० में, न जानें शाहजहाँ को क्या हुआ कि उसने फरमान निकाल दिया कि अब आगे से नये मन्दिर नहीं बनवाये जायँ और जो मन्दिर बनाये जाने के क्रम में हों, वे तोड़ दिये जायँ। गोहत्या की मुमानियत भी,[1] जो अकबर के समय से चली आ रही थी, सन् १६२६ ई० के आसपास आकर ढीली हो गयी। किन्तु, पुराने मन्दिर तोड़ नहीं गये, इससे शाहजहाँ की उदारता जरूर झलकती है। इसके सिवा, पुर्तगाली यात्री **सेबाश्चियन मानदिक** के यात्रा-विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि शाहजहाँ के मुस्लिम अफसरों ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट डाला था कि उसने ो मोर-पक्षियों का शिकार किया था और बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जिन जीवों का वध करने से हिन्दुओं की भावना को ठेस पहुँचती है, उनका वध नहीं किया जाय।

शाहजहाँ, यद्यपि, हिन्दू माँ का बेटा था, किन्तु, उसका व्यक्तित्व फटा हुआ था। उसके व्यक्तित्व के दोनों टुकड़े उसके दो पुत्रों में साकार हुए। व्यक्तित्व का जो अंश अकबर से आया था, उसका प्रतिनिधि दारा-शिकोह हुआ। इसके विपरीत, उसके व्यक्तित्व के जिस अंश पर शेख अहमद के प्रचारों का प्रभाव था, उसका प्रतिनिधित्व औरंगजेब ने किया।

राजित पीयूष, दारा-शिकोह

जन्मान्तरवाद के सिद्धान्तानुसार, दारा-शिकोह को अकबर का ही अवतार कहना चाहिये, सिवा इसके कि वह अकबर की वीरता, कर्मठता और अध्यवसाय से विहीन था। शाहजहाँ ने जब-जब उसे सूबेदार बनाया, वह अपने इलाके में कभी नहीं गया। दिल्ली में बैठकर किताबें पढ़ना उसका सबसे बड़ा काम था। फिर भी, अकबर का

---

[1] अकबर ने गोहत्या की मनाही कर रखी थी। कहते हैं, नरहरि नामक किसी हिन्दी-कवि ने गौओं की ओर से निम्नलिखित छप्पय अकबर को सुनाया था, जिसका अकबर के भावुक हृदय पर अनुकूल प्रभाव पड़ा:—

अरिहुँ दन्त तृन धरे ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सन्तत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत छीर नित स्रवहिं बच्छ महि थम्भन.जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पियावहिं।
कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, विनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुयेहु चाम सेवहिं चरन।

जो काम अधूरा रह गया था, लगता है, उसी को पूरा करने के लिए उसने दारा कर जन्म लिया था, यद्यपि, यह काम पूरा तो क्या, आधा भी सम्पन्न नहीं हुआ। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र था। यदि वह भारत का सम्राट् हुआ होता तो भारत इतिहास आज कुछ और होता। तब हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य की जहरीली आग से शायद, बाहर निकल गये होते और भारत की राष्ट्रीयता बहुत मजबूत हो गयी होती किन्तु, भारत का दुर्भाग्य उसके पीछे लगा हुआ था। औरंगजेब ने खदेड़ कर दारा मार डाला और बाप को कैद कर के वह खुद सिंहासन पर बैठ गया। जिस दिन दारा शिकोह मारा गया और औरंगजेब गद्दीनशीन हुआ, सामासिक संस्कृति का कले असल में, उसी रोज फटा और तब से, यद्यपि, हम इस फटन को बार-बार सीने कोशिश करते रहे हैं, किन्तु, वह ठीक से सिल नहीं पाती।

दारा-शिकोह जवान होता हुआ भी, धार्मिक और अत्यन्त विचारशील था। पंडितों, हिन्दू कवियों और हिन्दू साधकों से उसका दरबार भरा रहता था। वह मुसलमान नहीं होकर शुद्ध सूफी था। "मजमउल बहरैन" (दो नदियों का संगम) अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में उसने हिन्दुत्व और सूफीमत के बीच पूर्ण समन्वय है। उसने कुछ उपनिषदों का भी फारसी में अनुवाद किया था एवं उसकी कामना थी कि इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच कोई स्थायी सामंजस्य उत्पन्न हो किन्तु, अदृष्ट को यह मंजूर नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल-जुलकर समान-संस्कृति उत्पन्न की थी, वह दारा के शरीर के साथ छिन्न हो गयी एवं ने, पाकिस्तान के पूर्वाभास के रूप में, परस्पर मिलती हुई दो जातियों को धर्मान्ध नीति के जोर से अलग कर दिया।

दारा शिकोह और सम्राट् अकबर, ये हिन्दू-हृदय को बहुत ही प्रिय रहे हैं। का आदर हिन्दुओं ने इसलिए नहीं किया कि वह कट्टर मुसलमान नहीं था, न कि वह इस्लाम के जबर्दस्ती प्रचार किये जाने का विरोधी था; वरन्, इसलिए इस्लाम की तरह वह हिन्दू-धर्म का भी प्रेमी था तथा वह जनता के केवल तन ही मन और ईमान की भी रक्षा करना चाहता था।

क्रान्तिकारी का साथी कोई नहीं

किन्तु, दोष एक ही तरफ का रहा हो, सो बात नहीं है। जब औरंगजेब ने दारा शिकोह का पीछा किया, बेचारा दारा बाज के द्वारा खदेड़े हुए कपोत के समान राजस्थान और पंजाब में त्राण खोजता भागता फिरा। किन्तु, कोई भी हिन्दू का लाल ऐसा नहीं निकला जो उसे शरण दे अथवा उसकी ओर से झंडा लेकर हो। सहायता करने की बात तो दूर रही, औरंगजेब के हिन्दू मनसबदार जसवन्त और जयसिंह दारा के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। आखिर को, दर्रा-बोलान के पास पठान ने उसे शरण दी। किन्तु, ज्योंही औरंगजेब की सेना वहाँ पहुँची, उस पठान दारा को फौज के हवाले कर दिया और औरंगजेब ने डंका बजा कर दिल्ली में हत्या कर दी।

अकबर-बीरबल-विनोद की कुछ ऐसी भी कहानियाँ सुनी जाती हैं, जिनमें ऐतिहा- थ्य तो नहीं है, किन्तु, जिनसे इस बात पर थोड़ा प्रकाश अवश्य पड़ता है कि र की उदार धार्मिक नीति का जो प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ना चाहिये था, वह नहीं । कहते हैं, एक बार अकबर ने बीरबल से कहा कि कौरव-वंश का जैसा महाभारत- हिन्दुओं में प्रचलित है, कुछ वैसा ही महाभारत मुगलिया-खानदान का भी लिखा चाहिये। बीरबल ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। किन्तु, कुछ दिनों बाद, उसने ह से पूछा कि हिन्दुओं के महाभारत में तो द्रौपदी के पाँच पति दिखलाये गये न, साम्राज्ञी के लिए जहाँपनाह कितने पति रखना चाहेंगे। यह कहानी, सम्भवतः, होगी। किन्तु, हिन्दू मुसलमानों से जो बिलगाव कायम रखना चाहते थे, उसकी करने के लिए ऐसी कहानियों की सृष्टि हुई होगी।

ांतिकारी नेताओं का जो हाल होता है, अकबर का भी वही हाल हुआ। उसका न तो उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने दिया, न मुसलमानों ने। कट्टर मुसलमान उसे समझते रहे और ऊँचे तवके के हिन्दुओं ने भी उसे मुसलमान ही समझा। फिर ने जो प्रयत्न आरम्भ किया था, लस्टम-पस्टम, उसका कुछ-न-कुछ कल्याणकारी म अवश्य निकलता, यदि शाहजहाँ के बाद, औरंगजेब भारत का सम्राट् नहीं ता।

ता का परिणाम

औरंगजेब इस्लाम की पाबन्दियों का पालन करने के कारण अच्छा मुसलमान समझा है, किन्तु, शासक वह बहुत बुरा निकला। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मुगलों की जिस सामासिक संस्कृति को पाल पोस कर खड़ा किया था, उसे औरंगजेब ही झटके में तोड़ डाला और, साथ ही उसने अपने साम्राज्य की कमर भी तोड़ वह हिन्दुओं का ही नहीं, सूफियों का भी दुश्मन था और सरमद-जैसे सन्त को सूली पर चढ़वा दिया था। हिन्दुओं पर तो उसने तरह-तरह के अन्याय किये। खों, "बिक्री के माल पर अढ़ाई रुपया सैकड़ा चुंगी लगती थी। हिन्दुओं पर वह पाँच रुपया सैकड़ा कर दी गयी। इसके बाद, मुसलमानों के माल पर से महसूल उठा दिया गया। मुसलमान बननेवालों को सरकारी ओहदे, तरक्की और में माफी मिलने लगी। दिल्ली और अन्य बड़े-बड़े शहरों में संगीत बन्द करा या। शहरों में होली, दिवाली और मुहर्रम का जुलूस निकालना और स्त्रियों में पूजना रोका गया। काफिरों के मन्दिर और विद्यालय ढहा देने का हुक्म गया (१६६९ ई०) उसके बाद, सब हिन्दू पेशकारों और दीवानों को राजकीय से निकालने का हुक्म हुआ, पर, पीछे, आधे पद हिन्दुओं को दे देने पड़े। इसके मूर्ति-पूजा रोकने का फरमान निकाला गया। अन्त में, औरंगजेब ने गैर- नों पर फिर से जिजिया लगा दिया (१६७६ ई०)"।[1] इस प्रकार, हिन्दुओं

---

[1] इतिहास-प्रवेश।

और मुसलमानों को दो जातियों के रूप में अलग रखने का सचेष्ट प्रयास औरं
ने किया। अजब संयोग की वात है कि भारत-विभाजन की प्रथम कल्पना भी
की थी। उसी ने यह वसीयत की थी कि उसके मरने के बाद, उसका सारा
उसके तीन बेटों के बीच बाँट दिया जाय, यद्यपि, उसका यह सपना पूरा नहीं हुआ

औरंगजेब ने इस्लाम की सेवा तो खूब की, लेकिन, प्रजा ने ईंट का जवाब
से दिया। जब मथुरा में मन्दिर तोड़ा गया, गोकुल जाट के नेतृत्व में वहाँ के कि
ने बगावत कर दी। उज्जैन में जो कर्मचारी मन्दिर तोड़ने गये, उन्हें प्रजा ने
डाला। दिल्ली के पश्चिम, नारनौल के जिले में सतनामी लोग विद्रोह कर बैठे
महाराष्ट्र में शिवाजी ने ऐसा प्रचण्ड विद्रोह मचाया कि मुगल-साम्राज्य की नींव
उखड़ गयी। किन्तु, औरंगजेब की धर्मान्धता पर सबसे विलक्षण टीका यह हुई
उसके अन्याय से आहत होकर गुरु नानक का चलाया हुआ सिक्ख-सम्प्रदाय, जो
भक्तों का सम्प्रदाय था, खुलकर सैनिकों का सम्प्रदाय वन गया।

अकबर और औरंगजेब

अकबर जितने लोकप्रिय हिन्दुओं में रहे[१], उतने लोकप्रिय वे मुसलमानों में,
नहीं थे। लेकिन, औरंगजेब को कोई भी हिन्दू पसन्द नहीं करता है। तब
मुस्लिम-समाज की जो विचार-धारा पाकिस्तान के निर्माण में सहायक हुई, वह औरं
को अकबर से श्रेष्ठ समझती है।

भारतीय इस्लाम के सब से बड़े कवि सर मुहम्मद इकबाल ने अपनी फ
कविता "रमूजे-बेखुदी" में कहा है कि "शाह आलमगीर (औरंगजेब) महान
प्रतापी राजा था। गोरगाँ-तैमूर के वंश का वह गौरव और अभिमान हुआ है।
आलमगीर के कारण इस्लाम की कीर्ति-पताका बहुत ऊँचाई पर उड़ी और पैगम्बर
नियमों का व्यापक सम्मान हुआ। कुफ्र और ईमान के युद्ध में वह हमारे तरकश
आखिरी तीर था। जब नास्तिकता का नापाक बीज, जिसका पालन अकबर ने कि
था, दारा के हृदय में अंकुरित हुआ, तब प्रत्येक हृदय में धर्म की ज्योति मन्द
लगी और मुसलमानों की जमायत पतन और भ्रष्टाचार से सुरक्षित नहीं रह
तब भगवान ने हिन्दुस्तान में विनम्र-हृदय योद्धा आलमगीर को धर्म की जागृति
ईमान की रक्षा के लिए चुन कर खड़ा किया; उसकी तलवार ने पाप और अपवित्र
की फसल में आग लगा दी और धर्म की मशाल फिर से प्रज्वलित हो उठी।"[२]

---

[१] हिन्दी में 'अर्ध-कथानक' नामक एक काव्य है, जिनके लेखक कविवर बनारसीद
हैं। बनारसीदास अकबर के समकालीन थे। यह काव्य उन्होंने आत्म-चरित के
में लिखा है। इस काव्य से मालूम होता है कि अकबर की मृत्यु का दुःसंवाद सुन
सारी जनता हाहाकार कर उठी थी। स्वयं बनारसीदास यह दुःसंवाद सुनते ही बेहो
होकर गिर गये थे। ऐसे ही, जब गाँधी जी मरे, तब उनकी मृत्यु का समाचार
ही कई लोग अचानक मर गये थे।

[२] प्रोफेसर आरबेरी-कृत "द मिस्ट्रीज आव् सेल्फलेसनेस" नामक अंगरेजी अनुवाद से

संयोग की बात है कि जैसे औरंगजेब ने भारत-विभाजन की कामना की थी, वैसे किस्तान की भी कल्पना पहले-पहल सर इकबाल के ही भाषण में प्रकट हुई जब स्लिम-लीग के सभापति हुए थे। उससे भी अधिक संयोग की बात यह है कि बाल ने जिस पीर को अपना गुरु बनाया था, वह शेख अहमद सरहिन्दी की ही रा में पड़ता था।

ब भी अमृत की धारा फूटती है, जहर अपना सिर ऊपर उठाने लगता है। बर ने चाहा था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का भेद कम-से-कम कर जाय। शेख सरहिन्दी ने आन्दोलन चलाया कि इस्लाम की खैरियत इसी में है वह हिन्दुत्व के स्पर्श से दूर रहे। वर्त्तमान युग में अकबरी नीति की परिणति त्मा गाँधी में हुई और शेख सरहिन्दी के दर्शन का प्रतिनिधित्व जिन्ना साहब ने या। अमृत और हलाहल के इस संघर्ष में जीत अब तक हलाहल की ही हुई है। दारा-शिकोह मारा गया, तब जहर की जीत और अमृत की हार हुई थी। जब का विभाजन हुआ, तब भी पराजय अमृत की ही हुई। लेकिन क्या अकबर, शिकोह और गाँधी आगे भी हारते ही जायेंगे और जीत उन्हीं की होती जायेगी अहमद सरहिन्दी, औरंगजेब और नाथूराम गोडसे के साथ हैं? यही वह सवाल सका जवाब हिन्दुओं और मुसलमानों को साथ होकर ढूँढ़ना है।

□□□

प्रकरण ८

सिक्ख-धर्म

गुरु नानक

भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ के मिलने से भारतवर्ष में जो धार्मिक जागृ उत्पन्न हुई, कबीर की तरह, नानक भी उसी जागृति के पुष्प थे। देश-विदेश में घूम उन्होंने अपने समय के बड़े-बड़े योगियों और साधकों की संगति की थी। कहते हैं, बगदाद भी गये थे और वहाँ उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ था। बगदाद में उन याद में एक मन्दिर भी है जिस पर तुर्की भाषा में शिलालेख मौजूद हैं। गुरु नानक सयद-वंशी चेलों के उत्तराधिकारी अभी तक उस मन्दिर की रक्षा करते हैं। ये बातें बगदाद के एक अरबी पत्र 'दारुस्सलाम' के ९ अप्रैल, १९१९ ई० वाले अंक छपी हैं।[1]

गुरु नानक ने जो पन्थ चलाया, वही सिक्ख-पन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्का सन्त-धारा के अनुसार, गुरु नानक भी निराकारवादी थे। वे अवतारवाद, जातपाँत मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते थे। उनका मत एक ओर जहाँ वेदान्त पर आधारित है, दूसरी ओर, वह तसव्वुफ के भी अनेक लक्षण लिये हुए है। विशेषतः, गुरु नानक उपासना के चारों अंग (सरन-खंड, ज्ञान-कंड, करम-खंड तथा सच-खंड) सूफियों के मुकामात (शरीअत, मारफत, उकबा और लाहूत) से निकले हैं, ऐसा विद्वानों का विच है। गुरु नानक और शेख फरीद के बीच गाढ़ी मैत्री थी, इसके भी प्रमाण मिलते हैं

गुरु साहब की वेशभूषा और रहन-सहन सूफियों-जैसी थी। अतएव, बहुत अर्वाचीन विद्वान यह अनुमान लगाते हैं कि गुरु नानक पर मुस्लिम-प्रभाव अधिक अतः, उनका धर्म इस्लाम का ही स्वतंत्र आख्यान रहा होगा। इस अनुमान के सम में, अक्सर, यह भी कहा जाता है कि गुरु नानक के शिष्य केवल हिन्दू ही नहीं, बहु से मुसलमान भी हुए थे। इस प्रसंग में, यदि सिक्ख-धर्म-ग्रन्थों का प्रमाण खोजा तो 'रहतनामा' में गुरु की स्पष्ट आज्ञा मिलती है कि खालसा-धर्म (शुद्ध धर्म) हि और मुस्लिम, दोनों धर्मों से अलग है।[2] गुरु की इस आज्ञा को सही मानना चाहि क्योंकि गुरु नानक यदि हिन्दुत्व या इस्लाम से पूर्णरूप से सन्तुष्ट होते तो उन्हें नवीन पन्थ निकालने की चिन्ता ही नहीं होती।

हिन्दुओं के लिए गुरु नानक के दिल में कितना दर्द था, यह उनके इस कथन जाना जा सकता है कि "हिन्दुओं में से कोई भी वेद-शास्त्रादि को नहीं मानता, अपि अपनी ही बड़ाई में लगा रहता है। उनके कान व हृदय सदा तुर्कों की धार्मि

---

१. देखिये, मेडिवल मिस्टीसिज्म ऑव् इंडिया ; आचार्य क्षितिमोहन सेन।
२. देखिये, सिक्खिज्म, इट्स आयडियल्स एण्ड इंस्टीट्यूशन्स ; तेजासिंह

ओं से भरते जा रहे हैं और मुसलमान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निन्दा के लोग सबको कष्ट पहुँचा रहे हैं। वे समझते हैं, रसोई के लिए चौका लगा देने से हम पवित्र हो जायँगे।" इसी प्रकार, अन्यत्र वे मुसलमानी शासन के लिए उगाहनेवाले हिन्दू कर्मचारियों को लक्ष्य करके कहते हैं कि "गौ तथा ब्राह्मणों पर लगाते हो और धोती, टीका एवं माला-जैसी वस्तुएँ धारण किये रहते हो। अरे, तुम अपने घर पर तो पूजा-पाठ किया करते हो और बाहर कुरान के हवाले दे-र तुर्कों के साथ सम्बन्ध बनाये रहते हो। अरे, ये पाखंड छोड़ क्यों नही देते।"[1] इन पंक्तियों में हिन्दुओं की आलोचना तो है ही, किन्तु, उनके लिए कुछ तड़प, नुभूति और दर्द भी है और सिक्ख-धर्म का सारा इतिहास हिन्दुत्व के लिए इस, इस सहानुभूति और इस दर्द से परिपूर्ण रहा है। अतएव, यह मानना अधिक युक्त है कि जैसे उन्नीसवीं सदी में हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा करने के लिए आर्य-समाज र ब्राह्म-समाज का रूप लिया था, वैसे ही इस्लाम से बचने के लिए उसने अपना कारवादी रूप प्रकट किया जिसके महान् व्याख्याता महात्मा नानक हुए।

-मत, हिन्दुत्व और इस्लाम

किसी पाश्चात्य लेखक ने चमत्कारपूर्ण शैली में कहा है कि सिक्ख-धर्म सनातन-की अरबी टीका और आर्य-समाज इस्लाम का संस्कृत में अनुवाद है। इसलिए, -धर्म को इस्लाम की शाखा मानना तो नितान्त भूल है, हम उसे हिन्दुत्व की ही कह सकते हैं।

च्ची बात तो यह है कि सिक्ख-धर्म के दर्शन और इस्लाम के दर्शन में, विशेषतः, के स्वरूप को लेकर वही भिन्नता है जो कुरान और वेदान्त के बीच मिलती है। मुहम्मद ईश्वरवादी थे, किन्तु, ईश्वर के बारे में उनकी कल्पना यह थी कि सातवें आसमान पर रहता है एवं मनुष्यों के सुख-दुःख तथा भक्ति-अभक्ति से सम्बन्ध है। किन्तु, गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है। "वह स्थान-में रहकर सिंहासनासीन होनेवाला नहीं है, बल्कि, सर्वात्म-भाव से अणु-अणु र ओतप्रोत है और उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन विश्व के प्रत्येक पदार्थ, स्वभावतः, होता जा रहा है"।[2] इससे विदित होता है कि गुरु नानक वेदान्त भावना से भरे हुए थे एवं उनपर सूफियों की धर्म-साधना का प्रभाव तो पड़ा था, इस्लामी दर्शन का उनपर कोई प्रभाव नहीं था।

नका सृष्टि-विकास का सिद्धान्त वेदान्त का सिद्धान्त है। वे कर्म को मानते हैं, को मानते हैं, निर्वाण और माया को मानते हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश के में विश्वास करते हैं। उनका, गुरु-परम्परा में, जो विश्वास है, वह सूफीमत से हुआ दीखता है। इस्लाम की मौलिक शिक्षा के विपरीत और सूफीमत की के अनुसार, वे वैराग्य में भी आस्था रखते हैं। इसके सिवा, नामजप, ध्यान,

---

र भारत की सन्त-परम्परा में 'आदि-ग्रन्थ' से उद्धृत।

र भारत की सन्त-परम्परा।

समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ बहुत महत्त्व है। सब मिलाकर गुरु द्वारा प्रवर्त्तित पन्थ सरल, सुकुमार, जनप्रिय एवं विनयपूर्ण पन्थ था। उसकी सबसे शिक्षा यह थी कि परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। इसलिए, निखिल को ब्रह्ममय समझ कर उसे प्रणाम करो।

सिक्ख-धर्म में 'वाह गुरु' का जो धार्मिक नारा प्रचलित है उसकी एक कहीं से डोरोथी फील्ड ने उद्धृत की है,[1] जिसके अनुसार, 'वा' का संकेत 'ह' का हरि, 'गु' का गोविन्द और 'रु' का राम की ओर है।

सिक्ख-धर्म, आरम्भ से ही, प्रगतिशील रहा है। जात-पाँत, मूर्त्तिपूजा और के साथ वह सती-प्रथा, शराब और तम्बाकू का भी वर्जन करता है। इस धर्म ने को बराबर बुरा समझा। कहते हैं, तीसरे गुरु अमरदास से एक रानी मिलने आयी, किन्तु, वह पर्दे में थी। इसलिए, गुरु ने उससे मिलना अस्वीकृत कर दिया। यह धर्म, आरम्भ से ही, व्यावहारिक भी रहा है एवं जिस वैराग्य को गुरु उच्च के लिए आवश्यक मानते थे, उसे वे गृहस्थों पर जबर्दस्ती लादने के विरुद्ध थे। पान में खालसा-धर्म में वैष्णवों की कट्टरता कभी नहीं रही। प्रतापमल नामक हिन्दू-पंडित का बेटा जब मुसलमान होने लगा, तब उसने बेटे से कहा था कि पीने की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दू-धर्म को छोड़ना चाहते हो तो अच्छा है कि न होकर सिक्ख हो जाओ।[3]

गुरु और ग्रन्थ

सिक्ख-धर्म में गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक दस गुरु हुए जिनके क्रमश:, नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरगोविन्द, हरराय, तेगबहादुर और गोविन्दसिंह हैं। प्रत्येक गुरु, अन्त समय में, अपने उत्तराधिकारी अपना पद सौंपकर उसे पन्थ का गुरु घोषित कर दिया करते थे। गुरु गोविन्दसिंह स्वर्गवासी होने लगे, तब उन्होंने ग्रन्थ को ही पन्थ का गुरु घोषित किया और यह दे दी कि अब से कोई व्यक्ति गुरु नहीं होगा।

गुरु नानकदेव के वचनों को, पहले-पहल, गुरु अंगद ने 'गुरुमुखी' लिपि में तभी से यह लिपि चालू हुई है। सिक्खों के मुख्य धर्म-ग्रन्थ, 'ग्रन्थ साहिब' का और सम्पादन सन् १६०४ ई० में पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने किया। इस ग्रन्थ में के पाँच गुरु और नवें गुरु तेगबहादुर के वचन और पद संगृहीत हैं। एक दोहा गोविन्द सिंहजी का भी है एवं इस ग्रन्थ में अन्य हिन्दू-सन्तों और सुधारकों के भी हैं। गुरु गोविन्दसिंह साहित्य के बहुत बड़े विद्वान्, कवियों के प्रबल संरक्षक स्वयं भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। उनकी सभी रचनाओं को सिक्ख, 'दशम ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते हैं। उन्होंने विचित्र-नाटक, जफरनामा, सौ साखी, जाप

---

[1] देखिये, रिलीजन ऑव् द सिक्ख्स।

[2] देखिये, सिक्खिज्म, इट्स आयडियल्स एंड इंस्टीट्यूशन्स।

[3] वही

चरित्र, आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने एक रामायण भी लिखी जिसे पटियाला कालेज के प्राध्यापक सन्त इन्द्रसिंह चक्रवर्ती ने, अभी हाल में, विन्द-रामायण' के नाम से प्रकाशित किया है।

लाम से टक्कर

सिक्खों का सम्प्रदाय शान्त, विनम्र एवं भावुक भक्तों का सम्प्रदाय था, किन्तु, के भीतर सामरिकता क्यों आ गयी, इसका दायित्व तत्कालीन शासकों की धर्मान्ध और तानाशाही मिजाज पर है। बात यों हुई कि जहाँगीर ने जब अपने भाई रो को मारने के लिए खदेड़ा तब वह अपने प्राण बचाने को भाग निकला। इस में, उसने गुरु अर्जुनदेव से कुछ आर्थिक सहायता की याचना की और गुरु ने, द्रवित होकर, उसे पाँच हजार रुपये दिये। यह कहानी किसी चुगुलखोर ने जहाँगीर पहुँचा दी। इस पर, जहाँगीर ने गुरु अर्जुनदेव को दिल्ली बुलवाया एवं उनपर लाख रुपयों का जुर्माना ठोंक दिया तथा यह भी आज्ञा दी कि ग्रन्थसाहिब में से वे पंक्तियाँ निकाल दो जिनसे इस्लाम का थोड़ा भी विरोध होता है। किन्तु, गुरु र्जुनदेव ने दोनों आज्ञाओं को मानने से इनकार कर दिया। इसपर जहाँगीर ने गुरु भयंकर अत्याचार किये। 'उनके ऊपर जलती हुई रेत डाली गयी, उन्हें जलती लाल कड़ाही में बिठाया गया और उन्हें उबलते हुए गर्म जल से नहलाया गया। ने सब-कुछ सहन कर लिया और मुँह से आह तक नहीं निकाली।'[1] फिर रावी- के बहाने वे कैद से बाहर आये और रावी के तट पर जाकर उन्होंने जीवन- समाप्त कर दी। सिक्खों के प्रसंग में सुविख्यात जहाँगीरी न्याय का यही हरण संसार के सामने आया।

गुरु अर्जुन के बाद, छठे गुरु हरगोविन्दजी हुए। इन्हीं के समय से सिक्ख-सम्प्रदाय रिकता की ओर अग्रसर होने लगा। गुरु अर्जुन के साथ जो अमानुषिक अत्याचार , उन्हें भूलना किसी भी सिक्ख के लिए सम्भव नहीं था। साथ ही, इस घटना सिक्ख होश में भी आ गये और उन्होंने देखा कि केवल जाप और माला से ही धर्म रक्षा नहीं की जा सकती। यदि धर्म को बचाना है तो उसके लिए तलवार भी की जानी चाहिये और उसके पीछे राज्य-बल भी होना चाहिए। इसीलिए, हरगोविन्द ने सेली फाड़ कर गुरुद्वारे में डाली और शरीर पर राजा और योद्धा परिधान धारण कर लिया। यहीं से सिक्ख-सम्प्रदाय की युद्धवीरता की परम्परा हुई। गुरु ने आज्ञा जारी की कि अब से भक्त गुरुद्वारे में चढ़ाने के लिए द्रव्य भेजकर, अश्व और शस्त्रास्त्र भेजा करें।

रु हरगोविन्द सन्त होने के साथ-साथ बड़े भारी योद्धा और विक्रमी पुरुष थे। अर्जुनदेव के साथ जहाँगीर ने जो अत्याचार किया था, उसके कारण सिक्ख- और मुगल-हुकूमत के बीच शत्रुता की परम्परा आरम्भ हो गयी और राज्य

त्तर भारत की सन्त-परम्परा।

की ओर से बार-बार यह कोशिश की जाने लगी कि सिक्ख-सम्प्रदाय को मटियामेट
दिया जाय । किन्तु, गुरु हरगोविन्द का भी साहस और संगठन इतना प्रबल था कि
लड़ाई में तुर्कों को मुँह की खानी पड़ी । गुरु हरगोविन्द के समय सिक्खों से
तीन लड़ाइयों में भिड़े । पहली लड़ाई सन् १६२८ ई० में, दूसरी सन् १६३०
में और तीसरी सन् १६३४ ई० में हुई । कहते हैं, सन् १६३४ ई० वाली लड़ाई
भयानक थी । उसमें मुगलों ने कोई पचहत्तर हजार की सेना लेकर गुरु हरगो
पर चढ़ाई की थी । किन्तु, तीनों लड़ाइयों में जीत सिक्खों की हुई । इससे सिक्खों
प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये और सारा हिन्दू-समाज उन्हें धर्म और संस्कृति के
के रूप में देखने लगा । सिक्ख-समाज को हिन्दुओं ने अपनी धर्म-रक्षक भुजा के
स्वीकार किया और सिक्खों की संख्या बढ़ाने को, प्रायः, यह परम्परा चल पड़ी कि
हिन्दू-परिवार अपने ज्येष्ठ पुत्र को गुरु की शरण में उत्सर्ग कर दे । अभी भी पं
में ऐसे हिन्दू परिवार हैं जिनका एक सदस्य सिक्ख होता है ।

गुरु हरराय से भी औरंगजेब की नहीं बनी । फिर, जब औरंगजेब ने धर्म-
की नीति को जोरों से चलाना चाहा, तब कश्मीर के कुछ पंडित धर्म पर आयी हुई वि
की कष्ट-कथा लेकर गुरु तेगबहादुर के पास पहुँचे । गुरु ने कहा, "किसी महापुरु
बलिदान के बिना हिन्दू-धर्म की रक्षा असम्भव है ।" कहते हैं, गुरु तेगबहदुर के
बालक गोविन्द सिंह वहीं खड़े थे । पिता की बात सुनते ही वे बोल उठे कि "पिता
तो आपसे बढ़कर दूसरा महापुरुष कौन होगा ?" गुरु को बेटे की बात लग
उन्होंने आनन-फानन अपने बलिदान की राह सोच निकाली और ब्राह्मणों से कहा
औरंगजेब को समाचार भेज दो कि तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लें तो सभी हि
खुशी-खुशी मुसलमान हो जायँगे । निदान, यही हुआ और औरंगजेब ने गुरु तेगबहा
को अपने दरबार में बुलवा भेजा । गुरु वहाँ हाजिर तो हुए, किन्तु, इस्लाम को
करने से उन्होंने इनकार कर दिया । इस सत्याग्रह का जो स्वाभाविक परिणाम होना
वह अपनी पूरी भीषणता से घटित हुआ । गुरु तेगबहादुर शेर की तरह पिंजड़े में
गये, उनपर भयानक से भयानक अत्याचार किये गये और, अन्त में, उनकी हत्या
कर दी गयी ।

गुरु गोविन्द का अवतार

गुरु हरगोविन्द ने अपने पिता की अकाल -मृत्यु से क्षुब्ध होकर सिक्ख-सम्प्रदाय
सैनिक रूप देना आरम्भ किया था । गुरु गोविन्द ने इस प्रक्रिया को पूर्णता पर
दिया । गुरु हरगोविन्द ने शान्तिप्रिय सिक्ख-धर्म पर खड्गवाद की छोटी-सी
लगायी थी । गुरु गोविन्द ने उसे विशाल वृक्ष बना दिया । सिक्ख-धर्म की सारी
सिकता को बदलने के उद्देश्य से उन्होंने एक विचित्र लीला रची । आनन्दपुर के
वैशाखी मेले में, उन्होंने सभी सिक्खों को एकत्र किया । फिर, एक बड़े चबूतरे
चारों ओर से कनात खड़ी करवायी और उसके भीतर कुछ बकरे बँधवा दिये । त
तलवार खींचकर कनात से बाहर आये और बोले कि धर्म की रक्षा के लिए

बलिदान चाहती है। तुम में से जो प्राण देने को तैयार हो वह कनात में आवे। मैं अपने हाथों महाचंडी के आगे उसका बलिदान करूँगा। गुरु की ललकार पर एक आदमी कनात में जाता, गुरु उसे वहीं बिठा देते और एक बकरे की गरदन काटकर खून-भरी तलवार लिये बाहर निकल आते। इस प्रकार, पाँच वीर कनात के भीतर हुये। जब छठा आदमी नहीं उठा, तब गुरु ने उन पाँच वीरों को बाहर निकाला और कहा कि ये **'पाँच प्यारे'[1] धर्म के खालिस अर्थात् शुद्ध सेवक हैं और उन्हें लेकर मैं आज से खालसा-धर्म की नींव डालता हूँ।'** उसी समय, उन्होंने एक कड़ाह में पवित्र जल भरवाया, उनकी धर्मपत्नी ने उसमें कुछ बताशे घोले और गुरु ने तलवार से उस जल को आलोड़ित किया तथा तलवार से ही उसे 'पाँच प्यारों' पर छिड़का। इसी अमृत[2] को पीकर लोग खालसा-धर्म की सेवा में प्रवृत्त हुए।

सिक्ख-समाज का वर्त्तमान संगठन, बहुत कुछ गुरु गोविन्द का ही किया हुआ है। सिक्खों में पगड़ी बाँधने की प्रथा उन्हीं की चलायी हुई है और उन्हीं ने पंच ककारों के धारण को सभी सिक्खों के लिए अनिवार्य बना दिया। ये पंच ककार हैं—(१) कंघी (बाल सुलझाने के लिए); (२) कच्छा (फुर्ती के लिए): (३) कड़ा (यम, नियम और संयम का प्रतीक); (४) कृपाण (आत्मरक्षा के लिए) तथा (५) केश (जिसे, अतः, सभी गुरु धारण करते आये थे)। सिक्खसमाज में मदिरा और तम्बाकू का वर्जन भी गुरु गोविन्द सिंह ने ही आरम्भ किया। सिक्खों के लिए जो कर्म निषिद्ध हैं उनका उल्लेख रहतनामा में मिलता है। रहतनामे में केश-कर्तन को महान् अपराध माना गया है।

गुरु गोविन्दसिंह की तैयारियों से औरंगजेब घबरा उठा। उसने गुरु की राजधानी आनन्दपुर पर एक बार जबर्दस्त घेरा डाला। किन्तु, गुरु हाथ नहीं आये। आनन्दपुर से भागते समय उनके दो बच्चे (जोरावर सिंह ९ साल और फतेह सिंह ७ साल) गायब हो गये। इन्हें किसी ने सरहिन्द के शासक वजीरखाँ के हाथों में सौंप दिया[3] और उस सूबे ने इन दो बच्चों को सिर्फ इसलिए दीवारों में चुनवा दिया कि, पितृ-संस्कार के कारण, वे स्वेच्छा से मुसलमान होने को तैयार नहीं थे।

औरंगजेब के मरने के बाद, उसके बेटे बहादुर शाह से गुरु गोविन्दसिंह की मैत्री हो गयी। किन्तु, उसी के राज्य-काल में गोदावरी नदी के पास, गुरु गोविन्दसिंह के सोते समय, एक पठान ने उनके पेट में छुरा भोंक दिया जिससे उनका स्वर्गवास हो गया। यहीं मरते समय गुरु गोविन्दसिंह ने धर्म-ग्रन्थ को खालसा-धर्म का गुरु घोषित किया।

---

[1] ये पाँच प्यारे थे लाहौर के दयाराम, दिल्ली के धर्मदास, द्वारका के मुहकमचन्द, बीदर के साहिबचन्द और जगन्नाथपुरी के हिम्मत।

[2] कहावत है कि इस कड़ाह का पानी दो गौरैयों ने पी लिया था और पानी पीते ही वे आपस में लड़ने लगे थे।

[3] कहते हैं, जिसने यह जघन्य कृत्य किया, उसका नाम गंगू सोइयाँ था।

गुरु नानक अपने को न तो हिन्दू मानते थे, न मुसलमान और जिसे वे सिक्ख कहते थे वह उनकी दृष्टि में सुधरा हुआ हिन्दू और सुधरा हुआ मुसलमान, दोनों सकते थे। आरम्भ में, उनके पन्थ में बहुत-से मुसलमान भी दीक्षित हुए थे और कह हैं, जब नानक मरे तब उनकी लाश को जलाने और दफनाने के लिए हिन्दू औ मुसलमान उसी प्रकार झगड़ पड़े, जिस प्रकार वे कबीर की लाश पर झगड़े थे। फि भी, कालान्तर में, सिक्खों का मुसलमानों से वैर हो गया। इसे हम शासकों की धर्मान्धता का ही परिणाम कहेंगे।

गुरु हरगोविन्द ने जो परम्परा चलायी, उससे प्रत्येक सिक्ख के दो रूप हो गये— एक वीर और सिपाहीवाला, दूसरा सन्त और भक्तवाला। किन्तु, गुरु गोविन्दसिंह ने सन्त और भक्त को गौण, शूर और वीर को प्रमुख बना दिया। असल में, वे परशुराम के अवतार थे और संकट के समय, मनुष्यों को यह शिक्षा देने आये थे कि जीवन-सं में विजय पाने के लिए केवल शास्त्र ही नहीं शस्त्र की भी आवश्यकता होती है; केवल 'शाप' ही नहीं, 'शर' का भी प्रयोग करना पड़ता है। उनकी कविताओं के भीतर ए विचित्र प्रकार का तेज है, जो हमारी आँखों से ओझल हो गया है। जिस परमात्मा को गुरु नानक 'निरंकार पुरुख' कहते थे, उसके नाम गुरु गोविन्द ने **'असिध्वज'**, 'महाकाल' और **'महालौह'** रखे। ये नामकरण बतला देते हैं कि गोविन्दसिंह ने सिक्ख-धर्म को समेट कर किस दिशा में मोड़ना चाहा था। हिन्दी की रीतियुगीन कविताओं के बीच भूषण की कविता अपना अलग व्यक्तित्व रखती है, किन्तु, गुरु गोविन्दसिंह की कविताओं में भी कुछ वैसे ही उज्ज्वल मंत्र हैं।

सेवक सिक्ख हमारे तारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।
जो हो सदा हमारे पच्छा, श्री असिधुजजी करियहु रच्छा।
मैं न गनेसहिं प्रथम मनाऊँ, किशन-विशन कबहूँ नहीं ध्याऊँ।
महाकाल रखवार हमारे, महालोह मैं किंकर थारे।
अपना जान मुझे प्रतिपारिय, चुनि-चुनि शत्रु हमारे मारिय।

× ×

धन्य जियो तेहि को जग में मुख ते हरि, चित्त में युद्ध विचारे।

× ×

दशम कथा भागवत की, भाषा करी बनाय।
अवर वासना नाहिं कछु, धर्म-युद्ध को चाय।

कविता का उपयोग गुरु गोविन्दसिंह ने अपने मतों का प्रचार करने के लिए किया, साधु-सिक्खों में सामरिकता भरने के लिए किया। युद्ध जब अवश्यम्भावी हो जाता है, तब संसार-त्यागी लोग उससे भाग खड़े होते हैं। किन्तु, जिन्हें संसार में रहना है, वे उसे धर्मयुद्ध मानकर सोत्साह संघर्ष करते हैं। धर्मयुद्ध की परिभाषा है वह युद्ध, जिसे मनुष्य को आत्मरक्षा के लिए लड़ना पड़ता है। सिक्ख लड़ाई नहीं चाहते थे। लड़ाई उनपर जबर्दस्ती लादी गयी थी। इसलिए, सिक्ख-सम्प्रदाय में ऐसे गुरु निकल आये

न्होंने युद्ध को धर्म से समन्वित कर दिया। आत्मरक्षा में लड़ाइयाँ तो राणा प्रताप और शिवाजी ने भी लड़ीं, किन्तु, वे युद्ध का दर्शन नहीं गढ़ सके। सिक्खों ने दर्शन भी गढ़ा और खिलाफत-जैसा एक संगठन भी बनाया जिसमें एक ही व्यक्ति सारे सम्प्रदाय का राजा और गुरु, दोनों होता था। सच पूछिये, तो सिक्ख-धर्म में संगत या संगठन की जो प्रथा थी, उसी के कारण, मुसलमान सिक्खों से घबराते थे और उसी के कारण सिक्ख तबाह भी हुए। सभी सिक्ख एक समान बाल रखते थे, कड़े पहनते थे, कंघी रखते थे। इसलिए, मुसलमानों के लिए हर बालवाले के पीछे दौड़ना आसान था। सिक्ख राजपूताने के रेगिस्तान और पहाड़ों की तराइयों में छिपते फिरते थे और पीछे-पीछे शाही फौज के आदमी बालवालों को खोजते चलते थे। गुरुओं ने सिक्खों के हृदय में वीरता और बलिदान की जो ज्वाला जलायी, वह तत्कालीन हिन्दुओं में नहीं थी। मुस्लिम-काल में धर्म के नाम पर सबसे ज्वलन्त बलिदान सिक्खों ने दिये या फिर मेवाड़ के राजपूतों ने, यद्यपि, राजपूतों में धर्माभिमान कम, अपने किलों, नगरों और बहू-बेटियों की रक्षा की चिन्ता अधिक थी। जैसे महाराणा प्रताप और शिवाजी महान हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष से उत्पन्न हुए, उसी प्रकार, सिक्ख-धर्म भी हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलने से जनमा था। किन्तु, कालक्रम में, यह धर्म इस्लाम के विरुद्ध हिन्दुत्व की तलवार बन गया। 'सत श्री अकाल' 'अल्लाहो अकबर' का उत्तर-जैसा ता है एवं सिक्खों ने शूकर को भक्ष्य मान कर एक प्रकार से गो-भक्षण की प्रवृत्ति का जवाब निकाला था।

सिक्ख-मत और हिन्दुत्व

सिक्ख-धर्म और हिन्दुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। हिन्दुत्व का स्वभाव है कि उस पर जब जैसी विपत्ति आती है तब वह वैसा ही रूप अपने भीतर से प्रकट करता है। इस्लामी हमलों से बचने के लिए अथवा उनका उत्तर देने के लिए हिन्दुत्व ने इस्लाम के अखाड़े में अपना जो रूप प्रकट किया, वही सिक्ख या खालसा-धर्म है। सिक्ख-गुरुओं ने हिन्दू-धर्म की रक्षा और सेवा के लिए अपनी गरदनें कटायीं, अपने जीवन का बलिदान दिया तथा उन्होंने अपना जो सैनिक संगठन खड़ा किया, उसका उद्देश्य भी हिन्दू-धर्म को जीवित एवं जागरूक रखना था। इसी कारण, सिक्ख सारे भारतवर्ष में हिन्दुओं के प्रिय रहे हैं।

यद्यपि, गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने बराबर निराकार की भक्ति पर जोर दिया, किन्तु, सिक्ख-सम्प्रदाय कभी भी साकारोपासना का विरोधी नहीं हुआ। गुरु गोविन्द ने वीरता की उमंग में आकर 'किसुन-विसुन' के अस्तित्व से इनकार तो कर दिया, किन्तु, चण्डी की स्तुति करना वे नहीं भूले और उन्होंने रामकथा पर भी सुन्दर काव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिन्दू देवी-देवताओं पर काफी श्रद्धा रखते हैं। सिक्ख-धर्म-ग्रन्थ में लिखा है—

> **रामकथा जुग-जुग अटल, जो कोई गावे नेत।**
> **स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।**

यही नहीं, हिन्दू-समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख-समाज में कम नहीं हैं। सिक्खों में भी जात-पाँत है, छुआछूत है और विवाह-सम्बन्धों पर बहुत-कुछ वैसे ही नियन्त्रण हैं, जैसे हिन्दुओं के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमार, ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख-सम्प्रदाय में भी हिन्दुत्व ही एक नया उपसर्ग लगाकर जी रहा है।

किन्तु, इतना होने पर भी आज हिन्दू और सिवख कुछ-कुछ भिन्न समझे जाते हैं जिसका कारण यह है कि जब अँगरेज यहाँ के शासक थे, तब उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद बढ़ाने के साथ-साथ, हिन्दुओं और सिवखों के बीच भी काफी भेद बढ़ा दिये। इस सम्बन्ध में, दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित अपने एक लेख में लाला सन्तराम ने लिखा है कि "जब अँगरेजों ने पहले सिक्खों को हरा कर पंजाब पर अधिकार किया, तो उन्हें सिवख-पन्थ तथा सिवख-मत को लोगों की दृष्टि में तुच्छ तथा हेय दिखलाने की आवश्यकता हुई, जिससे लोग उससे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य से उन्होंने ट्रम्प नाम के एक विद्वान से सिक्खों के धर्म-ग्रन्थ का अँगरेजी में अनुवाद कराया। वह अनुवाद मैंने देखा है। उसमें उसने सिवख-मत तथा गुरुओं की खूब खिल्ली उड़ायी है। उसमें परस्पर-विरोधी बातें दिखला कर ग्रन्थसाहब को 'चूँ-चूँ का मुरब्बा' सिद्ध करने का यत्न किया गया है। इसके बाद, एक समय आया जब अँगरेजों को हिन्दुओं तथा सिवखों के वीच फूट डालने की आवश्यकता हुई। तब उन्होंने मेकलाफ नामक एक दूसरे विद्वान से उसी धर्म-ग्रन्थ का अनुवाद कराया। उसमें उसने सिक्ख-धर्म को हिन्दुत्व से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया।"

अंगरेजों ने सिक्ख-सत्ता को नष्ट किया और सिक्ख अँगरेजों के ही भारी मित्र हो गये, यह भी इतिहास का व्यंग्य है। सरदार खुशवन्त सिंह ने अपनी पुस्तक 'द सिक्ख' में लिखा है कि "लार्ड डलहौजी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'सिक्ख-राष्ट्र का सम्पूर्ण विनाश मेरा ध्येय है। मुझे सिक्ख-वंश को समाप्त करके सारी जाति को अपने अधीन लाना है। यह कार्य मुझे शीघ्र करना है, सम्पूर्ण रूप से करना है और इस तरह करना है कि इस सम्बन्ध में आगे करने को कुछ भी नहीं रह जाय,' डलहौजी ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही किया"।

सिवख-मत हिन्दू-धर्म के धड़ से वीर-बाँह की तरह निकला था। यह भुजा हिन्दुत्व की रक्षा की भुजा थी। सिक्खों ने जो अपरिमित बलिदान किये, उनका सुफल सबसे अधिक हिन्दुत्व को प्राप्त हुआ। फिर भी, आज हिन्दू और सिक्ख परस्पर लड़ते हैं क्योंकि उनकी लिपियाँ दो हैं। इसे बुद्धि का दिवाला नहीं तो और क्या कहा जाय?

□□□

प्रकरण ९

कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव

कला की भारतीय परम्परा

भारतीय जीवन चित्रों से सम्पृक्त है । यद्यपि, सामग्रियों के अभाव में, प्रयत्न के आधार पर, भारतीय चित्रों का इतिहास शृङ्खलामय रूप में नहीं रखा जा सकता, फिर भी, सिन्धु-सभ्यता में रँगे भाण्डों और ठीकरों पर जो चित्रकारी हुई है, वह हमारे, प्रायः, पाँच हजार वर्ष पहले के पूर्वजों के चित्र-प्रेम की साख भरती है । इन भाण्डों और ठीकरों पर अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियाँ मिलती हैं जो, मुख्यतः, काले और फीरोजी रंगों से बनी हैं । चित्रित आकृतियों में वृक्ष तो आते हैं, किन्तु, पशु-पक्षियों के अंकन नहीं के बराबर मिलते हैं । मानव-आकृति का कोई चित्र अब तक नहीं मिला है । अपवाद के रूप में मोर की पीठ पर नृत्य करती हुई दो मानव-आकृतियाँ हैं । पशुओं के जो चित्र हैं, उनमें उनकी जातिगत विशेषताओं का अच्छा अध्ययन उपलब्ध होता है । ये जीव एकचश्म हैं और ऐसी मुद्रा में अंकित हैं जिससे वे देव-लोक के जीव मालूम होते हैं । फिर भी, उनमें पशु-सुलभ बल का अभाव नहीं है ।

सिन्धु-सभ्यता के बाद एक बड़ा अन्तराल मिलता है, जिसमें चित्रों की ज्ञात सामग्री का सर्वथा अभाव है । हाँ, डॉक्टर आनन्दकुमार स्वामी का कहना है कि वेदों के समय में भी चित्रों का चलन भारतवर्ष में था । उनके अनुसार, ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला है जो चमड़े पर बना रहा होगा । इसी प्रकार, यह भी साबित होता है कि उस समय इन्द्र की मूर्त्तियाँ दस गौओं पर बिकती थीं । परन्तु, उत्तर-वैदिक-वाङ्मय में हम ऐसे शब्दों को पाने लगते हैं जो, पीछे चलकर, चित्र के प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं । इनमें से एक शब्द "छायातप" है जो जगत् के द्वन्द्व को परिलक्षित करने में प्रयुक्त हुआ है । जातकों में जिस समाज का वर्णन है, उसे हम चित्रकला से पूर्ण रूप से व्याप्त पाते हैं । जातकों में शिक्षा के अठारह विषयों का उल्लेख है, जिनमें से चार का पता तो चलता है, बाकी का पता नहीं चलता । इन चार विषयों में चित्रकला भी एक थी । ये विषय शिक्षा के अनिवार्य अंग थे और उस समय चित्र-कला की शिक्षा भी अनिवार्य रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं । राजकुमारों की शिक्षा के लिए तो यह अनिवार्य थी ही । उस समय कलाओं के पूर्ण अभ्यास के बिना कोई भी व्यक्ति पूर्णतः शिष्ट और सुसंस्कृत नहीं समझा जाता था । समाज में चित्रकार का ऊँचा सम्मान था । हाँ, साथ-साथ एक आन्दोलन भी चल रहा था जिसे हम सुधारवादी अथवा पवित्रतावादी आन्दोलन कह सकते हैं । इस आन्दोलन से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि चित्रों का समाज पर इतना अधिक प्रभाव था कि लोग उनके विरुद्ध

सोचने को लाचार हो गये थे। बुद्ध के समय चित्र इतने मोहक बनते थे कि बुद्ध ने भिक्षुओं को चित्र देखने की मनाही कर दी थी। शुक्राचार्य ने भी इसे अस्वर्ग्य अर्थात् सांसारिकता में लगानेवाला कहा है। जान पड़ता है, बुद्ध के समय शबीह (व्यक्ति-चित्र) बनाने की विद्या पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। फलतः, भगवान बुद्ध को अपनी शबीह बनाने और उसकी पूजा करने का निषेध करना पड़ा। ऐसा निषेध और भी कई धर्मों में मिलता है।

वात्स्यायन के कामसूत्र में चित्र के षट्-अंग माने गये हैं जो निम्नलिखित श्लोक में वर्णित हैं :—

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्र-षडंगकम् ।[1]

मानसोल्लास, कुमार-विहार और शिल्परत्न में भी चित्रकला की व्याख्या है। उत्तर-रामचरित में अर्जुन नामक चित्रकार-कृत वन के चित्र का जिक्र आया है। जैन ग्रन्थ नायधम्मकला में भी एक मनोरंजक कथा है जिससे उन दिनों चित्र की बहुलता सिद्ध होती है। विष्णुधर्मोत्तर में तो चित्रकला की विधिवत् सांगोपांग व्याख्या ही उपलब्ध है।

चित्रों का विशेष गुण सादृश्य समझा जाता था। परवर्त्ती साहित्य में सादृश्य का हमें वही अर्थ मिलता है जो दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान हो। किन्तु, भारतीय कलाकार इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होते थे। सादृश्य की उपलब्धि हो जाने पर भी चित्र निष्प्राण रह सकते हैं। अतएव, चित्र को जीता-जागता बनाने के लिए उसमें भाव की प्रतिष्ठा की जाती थी। फलतः, भारतीय चित्र में आकृति निश्चल होते हुए भी निश्चल नहीं है। वह सवेग है, व्यापार-पूर्ण है। इसकी उत्पत्ति के लिए चित्रकार दृश्य के उस चूड़ान्त का अंकन करता है जिसमें सारे दृश्य की घटना-शृङ्खला, उसकी प्रत्येक इकाई, सम्पुटित होकर, बीज-रूप में वर्त्तमान रहती है। चूड़ान्त के इस अंकन में अतीत की इकाइयाँ ही नहीं, भविष्य की इकाइयाँ भी सम्पुटित हो जाती हैं। यह दृश्य भविष्य की ओर निर्देश करने में समर्थ है, यही उसकी पूर्णता है।

परवर्त्ती साहित्य जिस समाज का प्रतिविम्ब है, उसमें चित्र का विशिष्ट स्थान मिलता है। प्रत्येक घर चित्र से अलंकृत होता था और उसकी भित्ति पर चित्र बने होते थे। भित्ति-चित्र का इस देश में इतना अधिक प्रचार था कि भित्ति शब्द ही यहाँ चित्रों के आधार के लिए रूढ़ हो गया, जैसे यूरोप में चित्र का आधार केनवास समझा जाता है।

किन्तु, भारत के ऊष्मा-प्रधान देश होने के कारण, यहाँ पर अति प्राचीन चित्रों के उदाहरण अब प्राप्त नहीं हैं। केवल साहित्य के उल्लेखों से ही हम यह जानते हैं कि अति प्राचीन काल में यहाँ चित्रकला का विकास हो चुका था।

---

[1] तत्कालीन चीनी चित्रकार भी इन्हीं लक्षणों को मानते थे। पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि ये लक्षण भारत से ही चीन गये होंगे।

चित्र तीन प्रकार के फलकों पर बनाये जाते थे। प्रथम फलक भित्ति या दीवार थी, जिस पर चित्र बनाने की परिपाटी भारत और इटली में खूब प्रचलित थी। दूसरा फलक चर्म या वस्त्र था, जिसपर चित्र बनाने का काम जापानियों ने बहुत किया था और तीसरा फलक लकड़ी, ताल-पत्र, पत्थर और हाथी के दाँत होते थे। भारत में पुराने चित्रों के उदाहरण दीवारों पर मिलते हैं एवं उनकी अपेक्षा नवीन चित्र ताल-पत्रों और कागज पर। अन्य चित्रों के उदाहरण अनुपलब्ध हो गये हैं।

भित्ति-चित्र के जो उदाहरण भारत में उपलब्ध हैं, उनका वातावरण धार्मिक है। पहाड़ों को काट कर यहाँ चैत्य, विहार और मन्दिर बनाने की प्रथा थी एवं उन्हीं की दीवारों पर गच (पलस्तर) लगा कर चूने-जैसे किसी पदार्थ की घुटाई करके उसपर चित्र बनाये जाते थे। ऐसी गुफाओं में सबसे अधिक प्राचीन गुफा **जोगीमारा** की गुफा है जो सरगुजा-राज्य (मध्य प्रदेश) की रामगढ़ पहाड़ी में अवस्थित है। यह गुफा ईसा से, कम-से-कम, एक सौ वर्ष पूर्व बनी होगी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

किन्तु, भारतीय चित्रकला के चमत्कारों का असली खजाना **अजन्ता** की गुफाओं में है। अजन्ता की गुफाओं में २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूप वाले विशाल भवन) हैं, जिनमें से तेरह में दीवारों, भीतरी छतों और स्तम्भों पर चित्र अंकित हैं। इन गुफाओं में से कुछ तो बहुत पुरानी अर्थात् पहली-दूसरी ईस्वी पूर्व की हैं और कुछ चौथी से लेकर सातवीं सदी तक की एवं उनके चित्र भी इन्हीं तीन सौ वर्षों में बने हैं। वस्तुत:, इन पहाड़ियों में गुफा बनाने का सिलसिला मौर्यों के काल में ही आरम्भ हुआ था। किन्तु, वाद के राजे भी उसमें वृद्धि करते गये। "महाराष्ट्र की रमणीक अजन्ता पहाड़ी में, जिसमें पिछले मौर्यों और सातवाहनों के समय के दो-एक गुहा-मन्दिर थे, वाकाटक राजाओं के समय वैसे अनेक नये और विशाल मन्दिर काटे गये। अजन्ता की दीवारों पर गुप्त-युग में, और बाद में, चित्र भी चित्रित किये गये, जिनमें कुछ आज तक मौजूद हैं। अजन्ता-गुहाओं के ये चित्र प्राचीन जगत् की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से हैं।"[१]

अजन्ता के चित्रों के विषय, मुख्यत:, बौद्ध धर्म के विषय हैं। "उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृ-पोषक-जातक, विश्वान्तर-जातक, षड्दन्त-जातक, रुरु-जातक और महाहंस-जातक, आदि १२ जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास तथा बुद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं।"[२] ने ही बगीचों, जंगलों, रथों, राज-दरबारों, घोड़े, हाथी, हिरण आदि पशुओं, हंस आदि पक्षियों तथा कमल आदि पुष्पों के भी अनेक चित्र हैं। कई स्थान पर बृहत्तर मानवीय आकृतियाँ मिली हैं, जिनमें एक राज-दरबार का दृश्य है। यहाँ राजसभा का ऐश्वर्य तो है ही, हमें राजा को उपादान भेंट करते हुए, दो-तीन ईरानी वस्त्राभूषण एवं आकृतिवाले पुरुष भी मिलते हैं। इस काल में, पश्चिमी भारत का ईरान के

---

[१] इतिहास-प्रवेश।

[२] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा।

साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था और चालुक्यों के काल में कूटनैतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गया था। फलतः, विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि इस दृश्य में ६२६ ई० में आनेवाले उस दूत का दृश्य अंकित हुआ है, जिसे ईरानी बादशाह खुसरो ने पुलकेशी की सेवा में भेजा था। किन्तु इस अनुमान के विपक्ष में कई तर्क हैं। शैलीगत विशेषताओं को देखते हुए यह छठी सदी के प्रारम्भ का होना चाहिये। साथ ही, अजन्ता में अन्यत्र दो-तीन स्थानों पर ईरानी व्यक्तियों का चित्रण केवल विदेशियों को लक्षित करने के लिए हुआ है। अतः, यह सम्भव है कि किसी जातक-कथा से, जिसमें विदेशी व्यापारियों की चर्चा रही हो, यह अंकन प्रस्तुत किया गया हो। यह अटकल सबसे पहले डॉक्टर मोतीचन्द्र ने लगायी थी और, सम्भव है, यह ठीक हो।

पर्सी ब्राउन ने नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्र को प्राचीनतम माना है तथा उनका अनुमान है कि ये गुफाएँ, अधिक-से-अधिक, पहली सदी में बनी होंगी। किन्तु, पहली सदी के होने पर भी, ये चित्र बतलाते हैं कि उनके पीछे कई सदियों की साधना और परम्परा विद्यमान है, जिसके उदाहरण अब नहीं मिलते। इस प्रकार, ब्राउन और ओझाजी के मतों को मिलायें तो अजन्ता के चित्र पहली से लेकर सातवीं सदी तक की भारतीय चित्रकारी के नमूने उपस्थित करते हैं। ब्राउन का यह भी विचार है कि दसवीं गुफा के चित्रों पर किञ्चित् गान्धार-कला (भारतीय और यूनानी कलाओं का मिश्रित रूप जो टिका नहीं) का भी प्रभाव है। परन्तु, अब यह तो निश्चित-सा जान पड़ता है कि जिस समय इस गुफा का चित्रण हुआ, उस समय गान्धार-कला का कोई अस्तित्व नहीं था। पुलकेशी के दरबार वाले चित्र पर वे कुछ ईरानी प्रभाव भी बतलाते हैं। परन्तु, इसमें दो-तीन विदेशी आकृतियों को छोड़, भारतीय परम्परा से कहीं भी पार्थक्य नहीं है।

अजन्ता की गुफाओं में जिस कला के उदाहरण हैं, उसी के उदाहरण सिगिरिया (श्रीलंका) और बाघ (ग्वालियर, मध्यभारत) की गुफाओं में भी मिलते हैं। सिगिरिया की चित्रकारी छठी शती के अन्त की है और बाघ-गुफा के चित्र भी छठी या सातवीं शती में बने होंगे। अजन्ता, सिगिरिया और बाघ में जो चित्र उपलब्ध हैं, उन्हीं में हम भारतीय चित्रकला की परिणति के प्रमाण देखते हैं। किन्तु, भारतीय चित्रकला की पूरी सामग्री इतनी ही नहीं है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ, भारतीय संस्कृति और कला भी भारत से बाहर पहुँची थी। अतएव, सीलोन, जावा, स्यांम, बर्मा, नेपाल, खुतन, तिब्बत, जापान, हिन्द-चीन और चीन में भी, भारतीय चित्रकारी के नमूने उपलब्ध हैं एवं उनके अध्ययन के बिना भारतीय कला का अध्ययन पूरा नहीं कहा जा सकता। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार ने सम्पूर्ण एशिया की आत्मा को एक कर दिया था एवं यह एकता एशिया की विभिन्न संस्कृतियों के मूल में आज भी अनुस्यूत है। बोरोबुदुर (जावा) में भारतीय कला का स्मारक जो स्तूप है, उसमें बुद्धदेव के सम्बन्ध की इतनी अधिक मूर्त्तियाँ हैं कि उन्हें यदि अगल-बगल बिठा दिया जाय तो कतार आठ मील लम्बी हो जायगी। यह कला भारत से जावा गयी थी, किन्तु, आश्चर्य की बात है कि भारतीय

जैसा गौरवोज्ज्वल प्रमाण आज जावा में वर्त्तमान है, वैसा प्रमाण भारत में नहीं मिलता। भारत की प्राचीन चित्रकला के नमूने भी हमें बृहत्तर भारत में संख्या में मिले हैं। ब्रोरोबुदुर के समान ही, कम्बोडिया में **अंगकोर** नामक स्थान जो भारतीय शिल्प का भग्नावशेष है, उससे यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि एक समय कम्बोडिया, चम्पा, अन्नम और तोङ्किन में भारतीय सभ्यता प्राधान्य था। इन भूभागों में केवल भारतीय मूर्त्तियाँ और मन्दिर ही नहीं, बहुत-चित्र भी बने होंगे, जिनके प्रमाण ढूँढ़ने पर वहाँ अवश्य मिलेंगे।

गुप्त-काल के बाद से हमारी चित्रकला का, धीरे-धीरे, ह्रास प्रारम्भ हुआ, जिसके उदाहरण हमें वेरुल (औरंगाबाद) बादामी (अइहोव, वम्बई राज्य), सित्तन-ल (पुदुदु कोट्टा, मैसूर राज्य) एवं दक्षिण के अनेक मन्दिरों से मिल सकते हैं। का अभी तक विस्तृत विवरण और अध्ययन अपेक्षित है। अकेले वेरुल में गुप्त-काल से लेकर १४वीं-१५वीं सदी तक, शृङ्खलित रूप में, चित्रों के पाये की सम्भावना है। चित्रों का यह इतिहास, पर्त-पर-पर्त, कालिख और अन्धकार हुआ है। जहाँ-जहाँ यह आवरण खुलकर गिर गया है, वहाँ-वहाँ से हमें उन सरे दिनों की चित्रकला की झाँकी मिल जाती है। किन्तु, चित्रों का असली र तो अभी भी अलभ्य है। आश्चर्य का विषय है कि वेरुल के चित्रों की किसी सुध नहीं ली। यहाँ के चित्रों का विषय ब्राह्मणत्व है। इन चित्रों में हम देखते अजन्ता की सुकोमल और मृदुल शैली में अब जकड़बन्दी शुरू हो गयी है। आँख में अटक रही है एवं हनु और नाक नुकीली होने लगी हैं। प्रायः, आठवीं सदी रेखाओं में वेग और आकृतियों में सजीवता है। परन्तु, उसके बाद ह्रास और भी बढ़ता है।

लतः, इस बीच दक्षिणी मन्दिरों में हमें जो प्रमाण मिलते हैं, उनमें चित्रकला का श-रूप स्थिर हो जाता है। उत्तरी भारत में इस प्रकार के भित्ति-चित्र केवल पुर के अन्तर्गत मदनपुर नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। पर, यह निःसकोच कहा सकता है कि पालवंशी राजाओं के विहार-बंगाल राज्य एवं नेपाल को छोड़कर, का यह **अपभ्रंश-रूप** सारे देश में व्याप्त हो गया था। इतना ही नहीं, इसका बृहत्तर भारत में भी यत्र-तत्र मिलता है।

इसी परम्परा में हमें, ११वीं शती के अन्त से वे चित्र मिलने लगते हैं, जिन्हें जैन की अधिकता के कारण, **जैन-शैली** अथवा क्षेत्रगत-दृष्टि मे **गुजरात या पश्चिमी** शैली के चित्र कहते हैं। परन्तु, यह नाम ठीक है या नहीं, यह नहीं कहा जा, क्योंकि पश्चिमी भारत में इस शैली का न तो जन्म ही हुआ, न यह वहीं तक रही थी। फलतः, इसके लिए **अपभ्रंश-शैली** से अधिक समुचित नामकरण हो सकता, क्योंकि इस शैली में जो कुछ है, वह अजन्तावाली गुप्तकालीन कला मात्र है, जो मध्यकाल की निश्चित विशेषता थी। यह क्रम '१६वीं शती ना, जब इस शैली में एक बार फिर काफी सजीवता आ गयी।

देश की शिक्षा-संस्कृति पालों के समय में बहुत-कुछ सुरक्षित रही। अतः, काल में यहाँ जो चित्र बने, वे अपेक्षाकृत बहुत ही उत्तम कोटि के थे। उनके विधान, रेखाओं और आकृतियों में अजन्ता की झलक मिलती है। परन्तु, ये मुख्यतः, एकाकृति वाले हैं। इनमें बड़े दृश्यों या घटनाओं का अभाव है। फलतः, यान बौद्ध धर्म की जो गिनी-चुनी आकृतियाँ मिलती हैं, वे परम्परा से आवद्ध हैं, स्वतन्त्र कल्पना का अभाव है। फिर भी, इन चित्रों की मृदुलता दर्शनीय है।

१३वीं सदी के बाद भी इस शैली के छिट-पुट उदाहरण मिल जाते हैं, उनमें पहलेवाली श्री नहीं है। यही दशा इसकी नेपाल में थी। परन्तु, इसके बाद, भी इसका ह्रास प्रारम्भ होता है। परवर्त्ती तीन-चार सदियों तक वहाँ इस शैली चित्र बनते रहे, पर वे अधिकतर निष्प्राण थे।

इस काल में, अजन्ता की परम्परा कहीं जीवित मिलती है तो तिब्बत और तुर्किस्तान में। खुतन (पूर्वी तुर्किस्तान) बहुत काल तक हिन्दू राजाओं के अधीन था तथा ये राजे वहाँ हिन्दू कलाओं का भी प्रचार किये हुए थे। इस सम्बन्ध में जो हुए हैं, उनसे मालूम होता है कि खुतन में यूनानी, भारतीय, ईरानी और चीनी, कलाओं के मिश्रण से एशियाई कला एक नया रूप ले रही थी। इस प्रान्त में भित्ति- के जो उदाहरण मिले हैं वे, अधिकांश में, अजन्ता-कला के अनुकरण हैं और उनसे बात भली-भाँति प्रमाणित होती है कि जिस काल में भारत में भारतीय कला के हरण नहीं मिलते, उस काल में, पड़ोस के देशों में, यह कला कैसे फैल रही थी। परम्परा सातवीं-आठवीं सदियों के बाद तिब्बत में भी जीवित मिलती है। तिब्बत मन्दिरों और विहारों में भित्तियों पर जो चित्र हैं, वे बुद्धदेव के सम्बन्ध के हैं उनका निर्माण अजन्ता-शैली पर हुआ है।

मुस्लिम-आगमन के बाद

जब पठान इस देश में आये, तब कला का यहाँ पूर्ण ह्रास हो चुका था। स्वभा इस अर्द्धसभ्य जाति को चित्रकला से कोई रुचि नहीं थी और देश की आन्तरिक व्यस्तता के साथ-साथ केन्द्रीय राज्याश्रय के अभाव में चित्र-शैली का पुनर्जन्म नहीं सका, जो १६वीं सदी के अन्त में, महामना अकबर के हाथों होनेवाला था। इस पुरानी परम्पराएँ और पुराने रूप अपभ्रष्ट हो चुके थे; पर, साथ ही, उनमें एक सप्राणता आविर्भूत हो रही थी। फलतः, अपभ्रंश-शैली के इस स्थल पर हम भले ही ह्रास पायें, परन्तु, उनमें कहीं-कहीं ऐसी सजीवता है जो उसे लोक-शैलियों निकट ला देती है, मानो, वह एक नयी शैली को जन्म देने के लिए विकल हो हो। इस तरह, राज्याश्रय के अभाव में, चित्र लोक-जीवन के और निकट हो गया।

इस्लाम में मूर्त्ति-पूजा सबसे भयानक शिर्क मानी जाती थी। इससे यह निकल आया कि मूर्त्ति और चित्र-रचना भी शिर्क हैं। १४वीं सदी के लेखक नवी ने लिखा है कि, इस्लाम-धर्म के अनुसार, ईश्वर की सृष्टि का अनुकरण तस्वीरें बनाना गुनाह का काम है। इसलिए, जो लोग भी कपड़े, कालीन,

बरतन पर चित्र बनाते हैं, वे इस्लाम के नियम से गुनहगार हैं। इस निषेध का णाम यह हुआ कि साधारण मुस्लिम-सभ्यता में मूर्त्ति-शिल्प और चित्रकारी को कभी प्रधानता नहीं मिली। मुसलमानों ने चित्रों और मूर्त्तियों का केवल भंजन हीं किया, सामान्य मुस्लिम-जनता ललित कला मात्र से उदासीन रहने लगी। बाद के इस्लाम में जो उदारता आयी, वह ईरान के प्रभाव के कारण। कई वर्षों तक ईरानी प्रभाव को पचाने के बाद, इस्लाम की आरम्भिक कट्टरता बहुत-कम हो गयी और मुसलमान स्वयं शेख और मुल्ला की खिल्ली उड़ाने लगे। इसी ता से प्रेरित मुस्लिम-समाज कलाओं की ओर भी आकृष्ट हुआ एवं चित्र और ये वर्जित नहीं रहे। मुगल-काल तक आकर, भारत में हिन्दुत्व का प्रभाव इस्लाम की उदारता का कारण हुआ। इसके सिवा, जब बादशाह अपनी नियां लिखवाने को उद्यत हुए, तब चित्रकारी का त्याग करना असम्भव हो गया। लों के कला-प्रेम का एक कारण यह भी था कि तैमूर के वंशजों ने ईरान और स्तान में कला की अच्छी उन्नति की थी। तैमूर-वंश का नाम कला के जागरण द्ध माना जाता है। बाबर इसी वंश की सन्तान था। अतएव, उसके वंशजों ला का प्रेम जागा, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

कुरान में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्राणियों के चित्र बनाता है, वह सृष्टि के र्त्ता के काम में दखल देता है। कयामत के दिन भगवान उससे कहेंगे कि तू ने बराबरी करना चाहा था। अतएव, अपने चित्रों में जीवन डालकर अपना पूरा कर। और जब चित्रकार यह काम नहीं कर पायेगा, तब भगवान उसे भेज देंगे।

यों तो चित्रों की ओर सबसे पहले ध्यान हुमायूँ ने ही दिया था, किन्तु, कुरान की शिक्षा का तर्क-सम्मत खंडन अकबर ने किया। उसने कहा कि बहुत-से लोग ने घृणा करते हैं, किन्तु, मैं ऐसे लोगों को नापसन्द करता हूँ। मेरा ख्याल है, र को पहचानने का चित्रकारों का अपना अलग ढंग होता है। चित्रकार जब प्राणियों के चित्र बनाता है, तब अवयवों को तो एक-एक कर वह यथा-स्थान देता है, किन्तु, सबसे अन्त में, वह यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि मूर्त्ति में डालने का काम भगवान ही कर सकते हैं। इस प्रकार, चित्र बनाते-बनाते वह र की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है।"[1]

शैली

जो कला भारत में मुगल-कलम कही जाती है वह, वास्तव में, भारतीय चित्र-ी है। अब यह निश्चित हो गया है कि अकबर से पहले, मुगलों के समय में जो शैली थी, वह ईरानी थी। शेरशाह से हारकर हुमायूँ जब भारत से भागा, कोई दस साल तक वह ईरान के बादशाह तहमास्प का मेहमान रहा था। वहीं ने ईरानी चित्रकला से परिचय प्राप्त किया और जब वह ईरान से भारत लौटा,

---

[1] कोर्ट पेण्टर्स आव् द ग्राण्ड मोगल्स (लेखक—अर्नाल्ड और विनोयन।)

तब पहले-पहल उसी ने अब्दुस्समद और मीर सईद अली नामक दो चित्रकारों को ईरान से भारत बुलाया। ये दोनों चित्रकार भारत में ईरानी शैली के प्रचारक हुए। इनके चित्र मुगल-कलम के चित्र नहीं हैं। मुगल-कलम तो शुद्ध भारतीय क थी और उसके जन्म के लिए अकबर-जैसे भारतीयता-प्रेमी, उदारचेता एवं कल्पनाशी व्यक्ति की आवश्यकता थी। अकबर के ये सभी गुण अकबरी चित्रों में प्रतिफलि मिलते हैं। अकबरी चित्रों में से अधिकांश चित्र भारतीय एवं प्राचीन हिन्दू से सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर, उसके चित्रकारों में, कुछ अपवादों को छोड़कर, स भारतीय हैं, जिनमें हिन्दुओं की संख्या अधिक है। बाकी चित्रकार भारती मुसलमान हैं जो उन प्रदेशों से भी आये थे, जहाँ मध्यकाल में चित्रकला के प्रसि केन्द्र थे। बहुत सम्भव है कि उक्त काल में चित्रकारों की एक अलग ज बन गयी हो, जो शूद्र-वर्ग के अन्दर थी, जैसे अन्य अनेक कारीगर-जातियाँ, रंगरे जुलाहे आदि हैं। इस्लाम के प्रचार के समय ये जातियों की जातियाँ ही मुसलमान हो गयीं। सम्भवतः, तभी, आरम्भिक राजस्थानी शैली में चित्रक के बहुसंख्यक नाम हमें इस्लाम-परक मिलते हैं, जबकि उनकी चित्र-शैली सर्व पारम्परीण थी।

तैमूर-वंशी राजाओं के आश्रय में ईरानी कला ने पन्द्रहवीं सदी में सबसे ऊँ उड़ान ली थी। खुरासान के बादशाह सुलतान हुसेन के राज्य-काल में कमालुद्दी बहज़ाद नामक चित्रकार हुआ, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। बा ने अपनी आत्मकथा में बहज़ाद को दुनिया का सबसे बड़ा चित्रकार कहा है। ज अकबर का ध्यान चित्रकला को प्रोत्साहित करने की ओर गया, उसने बहज़ाद के शिष्यों को भारत बुलाया और उन्हीं कलाकारों ने भारत में मुगल कलम की डाली। अकबर और जहाँगीर के समय अनेक विदेशी चित्रकार यहाँ के द दरबार में थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। अबुल फजल ने आईने-अकबरी ने कलमक फर्रुखशीराज के, अब्दुस्समद और तबरेज के, मीर सईद अली (समद और मी सईद हुमायूँ के लाये हुए थे) के नाम लिखे हैं। जहाँगीर के दरबार में समरकन्द भी चित्रकार आये थे। अकबरी दरबार के चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, मुकुन्द और केशवदास के नाम भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

अकबर के समय में जिस कला का बीज-वपन किया गया, वह जहाँगीर के श में बढ़कर विशाल हो गयी। मुगल-दरबार में चित्रकारी की जो लहर उठी, उ मुगल कुतुबखाना पुस्तकों ही नहीं, चित्रों का भी आगार बन गया। हिन्दुस्तान की सभी बड़ी-बड़ी रियासतों में मुगल-कुतुबखानों के अवशेष मिलते हैं, जिनमें तत्काली चित्रों के नमूने भी उपलब्ध हैं। अकबर ने महाभारत का जो अनुवाद करवाया, उ लिए हजारों चित्र बनवाये गये थे। इसी प्रकार, योग-वाशिष्ठ के फारसी अनुवाद के लिए भी बहुत-से चित्र बनवाये गये। मुगल-कालीन चित्रों के अधिक नमूने हिन्दुस्ता से बाहर चले गये। तब भी, देश के सार्वजनिक और वैयक्तिक संग्रहालयों में

पोथियाँ अब भी मौजूद हैं। जयपुर दरबार के पोथीखाने में सचित्र रम्ज़नामे की सम्पूर्ण प्रति है। पटने की खुदाबख्श लाइब्रेरी में "तारीखे तैमूरी" की प्रति है, जिसमें बहुत-से चित्र हैं। ये दोनों कृतियाँ अकबर की बनवायी हुई हैं।

अकबर के समय पंचतंत्र का फारसी अनुवाद अयारे-दानिश के नाम से अबुल फज़ल ने तैयार किया था। पंचतन्त्र का एक दूसरा अनुवाद अनवार-सुहेली के नाम से भी प्रचलित था। इन दोनों पुस्तकों की भी कई सचित्र प्रतियाँ मिली हैं। मुगल-दरबार में जो चित्र-शैली जनमी थी, वह स्वतन्त्र नहीं रहकर बहुत-कुछ दरबारी हो गयी। दरबारी चित्रकला के सबसे अच्छे नमूने अकबरनामा, बाबरनामा आदि हैं।

अकबरी चित्रों में भारतीयता बहुत अधिक है। परन्तु, कहीं-कहीं, आकृतियों में, वेशभूषाओं में एवं बाहरी नक्काशियों में ईरानी परम्पराएँ चली आयी हैं। कहीं-कहीं तो चीनी तत्व भी वर्त्तमान हैं। अकबर के समय में चित्रों की बड़ी उन्नति हुई, जो उनकी स्पष्ट रेखाओं, मीने-जैसे दबीज रंगों एवं प्रवेगपूर्ण तथा प्रकाण्ड आलेखनों से स्पष्ट है। स्वर्ग, पाताल, दानव-लोक, परी-लोक, तिलिस्म, ऐयारी आदि के बड़े-बड़े दृश्यों के अंकन में जितना अकबरी चित्रकार समर्थ हुआ है, उतना और कोई नहीं। भारतवर्ष में चित्रकला का ऐसा ज्वलन्त रूप बहुत दिनों के बाद देखने में आया।

जहाँगीर यों चित्रों का बड़ा प्रेमी था, किन्तु, उसमें अकबर-जैसी मर्मज्ञता नहीं थी। ईरानी चित्रकारों की संगति से उसके समय में चित्रों में नफासत और बारीकी बहुत बढ़ गयी। जहाँगीर की आत्मकथावाले चित्रों के कुछ दृश्यों को छोड़कर इस काल के चित्र दरबार या बादशाहों से ही सम्बद्ध मिलते हैं। जहाँगीर प्रकृति का भी बड़ा प्रेमी था। फलतः, उसके समय में फूलों और पशु-पक्षियों के भी बड़े ही श्रेष्ठ चित्र बने। इन चित्रों में प्रकृति-निरीक्षण उत्तम कोटि का हुआ है, साथ ही, उनमें आलेखन की सुकुमारता भी है।

शाहजहाँ का ध्यान स्थापत्य की ओर अधिक रहा था, फिर भी, उसके समय के चित्रों में हम मुगल-चित्रों के गौरव की पराकाष्ठा पाते हैं। इस काल में बारीकी और आलेखन की जितनी आराधना हुई, उतनी और कभी नहीं हुई थी। फलतः, इस काल के चित्र मीने-जैसे दीखते हैं। परन्तु, यह सब शाही शान का अंग-मात्र था। उनपर चित्रकार के व्यक्तित्व की कोई छाप नहीं है, मानो, वे आज्ञानुवर्तिता में तैयार हुए हों। इन चित्रों में मात्र दरबार के दृश्यों से दर्शकों का जी ऊबने लगता है, दरबारी नज़रबन्दी के कारण हम भी अपने-आपको शाही प्राचीरों में घिरा पाने लगते हैं। इससे मुक्ति यदि मिली है तो सन्तों के चित्रों में जो मुगल-शैली की पुरानी प्रवृत्ति है।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब का समय आया और मुगल-कला इसी काल में समाप्त हो गयी। डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने सत्य ही कहा है कि मुगल-कला का जन्म, विकास और ह्रास, केवल दो सौ वर्षों में पूरा हो जाता है।[1] शाहजहाँ के

---

[1] देखिये, इण्डियन सोसाइटी आव् ओरियंटल आर्ट, कलकत्ता के समक्ष सन् १९१० ई० में "मोगल आर्ट एण्ड राजपूत-पेण्टिंग" पर दिया गया भाषण।

राज्य-काल की समाप्ति के साथ मुगल-कलम का गौरव घटने लगा। औरंगजेब ललित कलाओं के प्रति उपेक्षा की जो नीति बरती, उससे निराश होकर कलाका दिल्ली छोड़कर देश में इधर-इधर बिखर गये। अवध, बिहार, बंगाल, राजपूता और दक्षिण भारत, जिसे जहाँ आश्रयदाता अमीर मिल गये, वह वहीं जा बसा। छिन्न-भिन्नता का एक परिणाम यह हुआ कि जो कलाकार जहाँ बस गये, वे वहीं स्थानीय विशिष्टताओं को अपनी कृतियों में प्रधानता देने लगे और, इस प्रकार, में भौगोलिक नामों के साथ अनेक शैलियाँ चल पड़ीं।

राजस्थानी-शैली

१५-१६वीं शती में मालवा और राजस्थान ; संस्कृति, शान्ति और सुव्यवस्था केन्द्र थे। फलतः, ऐसा विश्वास करने का कारण है कि १६वीं शती में ही यहाँ नयी शैली का जन्म हुआ, जिसके कुछ निश्चित दृश्य अकबरी हम्ज़ानामा में मिलते १७वीं शती से यह शैली राजस्थान के अनेक केन्द्रों में विकसित हुई, जिनमें मे मुख्य है। विषय की दृष्टि से इस शैली में, मुख्यतः, राग-माला, नायिका-भेद, कृ लीला, बारहमासा आदि कथाचित्र बने हैं। चूँकि यह शैली परम्परावादी एवं आ कारिक और वर्ण-विधान में अपभ्रंश के अत्यन्त निकट है, अतः, इस शैली को हि शैली मानकर इसकी बहुत पूजा हुई है, परन्तु, उसके आरम्भिक चित्रकारों में मुस्लि नाम ही अधिक हैं।

१७वीं शताब्दी के अन्त में इस शैली में आलंकारिकता कम होने लगी एवं इस वर्णविधान भी अपेक्षाकृत कम तीखा हो गया। इस काल में इसके चित्रों की सं असंख्य ही कही जा सकती है। इसी समय इसके अनेक केन्द्रों यथा मेवाड़, बीकाने जोधपुर, बूँदी, आदि का पर्याप्त विकास हुआ।

१८वीं शती के मध्य में जयपुर-केन्द्र ने भी प्रमुखता प्राप्त की और वहाँ बहुत भाव-पूर्ण चित्र बने, जिनमें रंग बहुत ही आकर्षक और कलम सधी हुई है। इ समय किशनगढ़शैली भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची।

१९वीं सदी में राजस्थानी-शैली का ह्रास हो गया, परन्तु, वह किसी-न-कि रूप में आज भी जीवित है।

पहाड़ी कलम

राजपूताने में जैसे चित्र मिलते हैं, बहुत-कुछ वैसे ही चित्र (बल्कि, उनसे भी अधि वेधक) पंजाब की हिमालय की तराइयों में भी मिलते हैं। काँगड़ा-राज्य में बहुताय से मिलने के कारण, इन चित्रों का नाम काँगड़ा-कलम दे दिया गया था। इस क के, प्रायः, सभी नमूने नूरपुर, बसोहली, चम्बा और जम्मू में मिले हैं जो स्थान काँग से बहुत समीप हैं। इस शैली की परिपक्वता के प्रमाण अठारहवीं सदी के अपरार्ध मिलने लगते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि मुगल-कलम के चित्रकार जब दि से हटने लगे, तब उन्हीं में से कुछ लोग तराइयों में चले गये तथा वहाँ राजपूत-क की जो परम्परा पहले से विद्यमान थी, उसमें मुगल-कलम का पुट डालकर उन्हों

हाड़ी नामक एक नयी कलम का विकास किया। उन्नीसवीं सदी में यह कलम तराई के बाहर निकली और अन्य राज्यों में भी वर्द्धन और विकास पाने लगी। लाहौर और मृतसर के सिक्ख राज-दरवारों में पहाड़ी कलम को प्रश्रय मिला था एवं पंजाब के बहुत-से व्यक्तियों के पास इस कलम के चित्र पाये गये हैं। पहाड़ी-कलम राजपूत-कलम की दीर्घजीवनी परम्परा थी।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अजन्ता ने चित्र की जो परम्परा स्थिर की थी, वह मरी नहीं थी, प्रत्युत, लोक-जीवन में घुल-मिलकर जीती चली आ रही थी। वैष्णव-मन्दिरों और राजभवनों में उसी के अनुकरण पर भित्ति-चित्र वनते आ रहे थे। जब अकबर ने ईरान से चित्रकार वुलवाये, तव आरम्भ में तो उनके चित्र भारतीय रहे, किन्तु, धीरे-धीरे ईरान की पुस्तकालेखन और लघुचित्रकारीवाली परम्परा का मेल यहाँ की भित्ति-चित्रवाली परम्परा से हो गया और इसी सामंजस्य से, मुगल-कलम का जन्म हुआ। यह **मुगल-कलम** जव राजपूत-कलम से मिलकर और अधिक भारतीय हो गयी, तव पहाड़ी-कलम का विकास हुआ।

पहाड़ी-शैली में एक ओर **मुगल-शैली** की परिपक्वता और दूसरी ओर भावना-एवं चित्रवस्तु, इन दोनों तत्त्वों के मिलने से एक ऐसी उपलब्धि हुई है, जो भारतीय चित्रों के लम्वे इतिहास में, अजन्ता को छोड़कर, वेजोड़ है। यहाँ चित्रकार उन्मुक्त वातावरण में आ गया है, जहाँ विलास एवं मुगलों के अन्तःपुर के सीमित वातावरण से मुक्ति पाकर उसकी कल्पना अनजान ऊँचाई तक उड़ सकी है।

पहाड़ी चित्रों का विषय अत्यन्त विस्तृत है। इन चित्रों में भारतीय ग्रन्थों में से अनेक ग्रन्थ चित्रित हुए होंगे। पर, पहाड़ी चित्रों का सवसे मनोहर रूप कृष्णलीला के चित्रों में है। यहाँ वाल-सुलभ स्वभाव का जितना शिष्ट रूप चित्रकारों ने अंकित किया है, वह सूर के काव्य की तुलना में किसी प्रकार उन्नीस नहीं ठहरता।

शृङ्गार के कोमल पक्षों का जैसा निरूपण पहाड़ी शैली के अन्तर्गत नायिका-भेद के चित्रों में मिलेगा, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। आलेखन की कोमलता, आकृतियों की मृदुलता, हल्के और आकर्षक वर्ण-विधान, रेखाओं की सजीवता और, सर्वोपरि, बहुत ही सजीव दृश्य, ये यदि एक साथ कहीं मिलते हैं, तो पहाड़ी चित्रों में। इस प्रकार, व्रजभाषा के चरमोत्कर्ष के समानान्तर यदि चित्रों में आन्दोलन था, तो पहाड़ी शैली था। वह यथास्थान वज्रादपि कठोराणि भी है, और मृदूनि कुसुमादपि भी।

अँगरेजों के आने के वाद जब एक स्थान से दूसरे स्थान का सम्पर्क बढ़ने लगा, तव पहाड़ी अथवा काँगड़ा-कलम की व्यक्तिगत विशेषताएँ भी घटने लगीं। फिर कला-कारों के वंशज भी कला-सेवा को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करने लगे। किन्तु, सवसे भयानक वात यह हुई कि सन् १९०५ई० में जो भूकम्प आया, उससे काँगड़ा नगर विध्वस्त हो गया तथा केवल पहाड़ी कलम ही नहीं, उस कलम के बहुत-से कलाकार भी भूकम्प में नष्ट हो गये।

हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की विशेषताएँ

जातियों का जैसा दार्शनिक विश्वास होता है, वैसी ही उनकी कला और वैसे ही उनके कर्म भी होते हैं। हिन्दुओं का विश्वास शरीर पर कम, आत्मा पर अधिक है। गीता ने जिस स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ अथवा कूटस्थ पुरुष का वर्णन किया है, वही भारतवासियों की कल्पना का आदर्श पुरुष है एवं उसी पुरुष के स्वभाव की अनुभूति एवं प्राप्ति को यहाँ के लोग अपना जीवनादर्श मानते हैं। कला के अन्यतम आचार्य डॉक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने लिखा है कि "भारतीय धर्म का सर्वसम्मत सिद्धान्त यह है कि कर्म में अनासक्ति होनी चाहिए। जीवन का यह ध्येय जो शब्दों में वर्णित है, वही यहाँ की मूर्त्तिकला एवं चित्रकला में अभिव्यक्त हुआ है। इन मूर्त्तियों और चित्रों में जब भी कोई देवता या मनुष्य किसी कार्य में रत दिखाया जाता है, तब उसकी आकृति पर अविचलित शान्ति की आभा वर्त्तमान रहती है। चित्र ध्वंसक धर्मपाल का हो अथवा आलिंगन में आबद्ध पुरुष और प्रकृति का अथवा समाधिस्थ बुद्ध का, किन्तु शान्ति की यह मुद्रा सर्वत्र विद्यमान मिलेगी। भारत की मूर्त्तियाँ और भारत के चित्र सर्वत्र ही और, कदाचित्, अज्ञात भाव से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि सभी कार्यों में काम केवल शरीर करता है, आत्मा सदैव गम्भीर, अविचल एवं, अनासक्त रूप से, अलग खड़ी रहती है, मानो, वह द्रष्टा हो, मानो, वह कोई नाटक देख रही है जिस नाटक की अभिनेत्री भी स्वयं वही है।"[1]

लियोनार्दो द विन्शी ने एक स्थान पर कहा है कि "चित्रों में सर्वोत्तम चित्र वही होता है, जो रूप में जीवन डालनेवाले उद्वेगों को अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति दे सके हो।"[2] भारतीय परम्परा में शरीर जड़ और आत्मा चेतन मानी जाती है। अतएव यहाँ के चित्रों और मूर्त्तियों में आत्मा के गुणों की जैसी अभिव्यंजना हुई है, वैसी शरीर के गुणों की नहीं। जीवन के वस्तुनिष्ठ रूप को भारतवासी उपेक्षा की वस्तु मानते रहे हैं एवं उनका सारा ध्यान उसके आत्मनिष्ठ रूप पर केन्द्रित रहा है। हमारी मूर्त्तियों में शरीर के अवयव शोर नहीं करते। वे शान्त भाव से, परस्पर मिले हुए, दिखलाये जाते हैं। यहाँ की मूर्त्तियों का जो असली प्रभाव है, उसे हम एक प्रकार की अनिर्वचनीय निःशब्दता की संज्ञा दे सकते हैं। हमारी अनेक बुद्ध-प्रतिमाओं के मुख पर जो रहस्यपूर्ण प्रसन्नता एवं मुस्कान की आभा मिलती है, वह उन लोगों के लिए स्वाभाविक है जो आत्मनिष्ठ जीवन के विश्वासी हैं। आत्मा के चित्रण की जो परम्परा इस देश में बढ़ी, वह केवल देवताओं की मूर्त्तियों तक ही सीमित नहीं रही, प्रत्युत, उसका प्रतिबिम्ब हम सन्तों, राजाओं, यहाँ तक कि कामिनी नारियों की मूर्त्तियों और चित्रों में भी देखते हैं।

दैवी आदर्शों को मानवीय रूपों में पचाने का यहाँ जो प्रयास हुआ है, उससे यहाँ

---

[1] आर्ट एण्ड स्वदेशी, आनन्दकुमार स्वामी।

[2] That drawing is best which, by its action, best expresses the passion that animates the figure.

मूर्तियों और चित्रों का व्यक्तित्व बहुत-कुछ निर्वैयक्तिक हो उठा है। यह सुरम्य र्वैयक्तिकता भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता है। पाश्चात्य आलोचकों में से ों ने भारतीय मूर्त्तियों और चित्रों पर यह आरोप लगाया है कि उनमें गति और रित्र-चित्रण का अभाव है। इस आरोप का कारण यह है कि ये आलोचक गति और रित्र के जो अर्थ लगाते हैं, भारतीय कलाकारों के सामने उनके वे ही अर्थ नहीं थे। स्तुतः, यहाँ के कलाकार फोटोग्राफर नहीं, सच्चे अर्थों में चित्रकार थे एवं वे उन तियों और चरित्रों का चित्रण करते थे, जो सामान्य जीवन में भले ही उपलब्ध न हे हों, किन्तु, जिन्हें जीवन में उतारने का लक्ष्य यहाँ के सन्तों, दार्शनिकों और कला-रों, सबके सामने मौजूद था। ऐसी आलोचनाओं का कारण यह है कि इस युग में वन की अनुकरणशीलता कला का मुख्य गुण मान ली गयी है एवं विज्ञान और कला के उद्देश्य परस्पर उलझ-से गये हैं।[1] प्रकृति के वस्तु-निष्ठात्मक रूपों का चित्रण ाई कला का ध्येय नहीं रहा है। इसका ध्येय तो ध्वनि, संकेत और विशिष्ट त्वों को प्रमुखता देना है। यह कला केवल उन्हीं तत्त्वों पर जोर देती है, जिन्हें वह वन की मूल-वास्तविकता से सम्बद्ध मानती है। और, इस प्रक्रिया में, अपने श्वासों के निकट पहुँचने के प्रयास में, वह प्रकृति के रूपों को कुछ मोड़-मार कर से अपना काम निकालती है।

लियोनार्दो की एक दूसरी उक्ति यह है कि "अच्छे चित्रकारों को दो वस्तुओं का त्रण करना पड़ता है। एक वस्तु है मनुष्य की देह और दूसरी उसकी आत्मा की कांक्षा। देह का चित्रण, फिर भी, अपेक्षाकृत सरल कार्य है, किन्तु, आत्मा की कांक्षा का चित्रण कठिन होता है, क्योंकि इस निराकार विषय को भी चित्रकार को गों के घुमाव एवं अवयवों की प्रवृत्ति के द्वारा ही चित्रित करना पड़ता है।" और ही वह क्षेत्र है जिसमें भारत का कलाकार दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। लोन में स्थित सुन्दर-मूर्त्ति-स्वामी की आकृति में जो उत्सुकता का भाव है, वह ड़ा ही उत्कट एवं जो आश्चर्य का भाव है, वह अतुलित आनन्द से पूर्ण है। इन वों के मिश्रण से मूर्त्ति में जो सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है, वह अत्यन्त अद्भुत एवं अनि-र्वचनीय है। इसी प्रकार, ध्यानी बुद्ध की मुद्रा में केवल शान्ति ही नहीं है, प्रत्युत, स शान्ति के भीतर एक प्रकार की गति भी विद्यमान है। तथा धर्मपाल (यमराज) के चित्रों और मूर्त्तियों में भी स्थिरता के वातावरण में अनिलावर्त्तों की गति भरी हुई है। यूरोप के लोग मानव-रूप को केवल मुखाकृति में देखते हैं एवं शरीर को उसका हायक मात्र मानते हैं। यहाँ तक कि यूरोप के कलाकार हाथ-जैसे प्रमुख अवयव को भी ठीक से नहीं देख पाते। किन्तु, सच्चे मूर्त्तिकार के लिए मनुष्य केवल मुख ही नहीं होता, वह तो पर्वत के समान एक इकाई होता है, जिसमें मुख भी एक अवयव के स्थान का अधिकारी है।"[2] मुख्य बात यह है कि जो लोग कला में केवल मनुष्य की देह

---

[1] आम् द स्टडी आव् इंडियन आर्ट ; आनन्दकुमार स्वामी।

[2] फेसियल एक्सप्रेशन इन इंडियन स्कलपचर ; आनन्दकुमार स्वामी।

का प्रतिफलन देखना चाहते हैं, उनके लिए भारतीय मूर्त्तियों और चित्रों में
अभाव है। किन्तु, जो चाहते हैं कि कला मनुष्य पर ही नहीं रुके, कुछ उस
की भी झाँकी दिखलाये, जो मनुष्य के दृश्य रूपों से परे हैं, उनके लिए
मूर्त्तियाँ और भारतीय चित्र अजस्र आकर्षण के स्रोत हैं।

अजन्ता और सिगिरिया (सिंहगिरि, सीलोन) में जो चित्र हैं, वे ऊपर के
से पूर्णरूप से युक्त हैं तथा मुगल-काल में राजपूत-कला के जो उदाहरण मिलते
उनकी भाव-धारा भी अजन्ता के उत्स से फूटकर आगे बढ़ती दिखायी देती है।
पूत-कलम के चित्रों की प्रशस्ति में अबुल फजल ने कहा था कि "वस्तुओं के
हमारा जो ज्ञान है, ये चित्र उससे बहुत आगे का संकेत करते हैं। हिन्दुत्व के
और वैराग्य, पवित्रता और योगाचार तथा कोमलता और क्रोध, सबका सम्यक्
निधित्व इन चित्रों में हुआ है।"

ईरानी कला, मुख्यतः, पुस्तकों को सचित्र करने की कला थी, जिसमें
रंगों के साथ बहुत काफी सोने की मिलावट रहती थी। इसके विषय भी सीमित
लड़ाई, मद्यपान और प्रेम के चोंचले, ये ही ईरानी चित्रों के मुख्य विषय थे।
चित्र (पोर्ट्रेचर) अधिक नहीं बने, किन्तु, जो बने, उनके पीछे तैमूरी प्रभाव
चाहिए जो भारतीय कला पर भी पड़ा था। ईरानी कला में सौन्दर्य, सामंजस्य,
मयता और रंगों की चमक, ये सब कुछ हैं, किन्तु, उसके भीतर रागों का उद्वेग
है। ये चित्र हमें सुगन्धित वाटिकाओं में ले जाते हैं एवं साहसपूर्ण जीवन से भी
चित कराते हैं। किन्तु, ईश्वर-प्रेम अथवा नर-नारी के विरह और मिलन से
होनेवाले भावों की अनन्तता उनमें नहीं मिलती। मानवात्मा का जो स्वभाव है,
पशुओं, वृक्षों और पहाड़ों में जो आत्मा छिपी हुई है, उसकी झलक ईरानी चित्रों
कहीं भी नहीं मिलती। इन चित्रों में औपचारिकता अधिक, आदर्शवादिता बहुत
है। बल्कि, दुहराहट और आडम्बर की प्रचुरता में इनका आकर्षण दबकर
जाता है।

ऐसा लगता है कि जब अकबर ने ईरान से चित्रकार बुलवाये, तब, आरम्भ
(हुमायूँ-कालीन परम्परा के प्रभाव के कारण) ईरानी चित्रों की ये विशेषताएँ मुगल-
पर भी चढ़ी रहीं। सभी मुगल-कालीन चित्रों के लिए हिन्द-ईरानी नाम आनन्दकु
स्वामी को पसन्द नहीं है। उनका कहना है कि हिन्द-ईरानी कला (जिसमें भारत
ईरान की कला-प्रवृत्तियों का मिश्रण है) केवल वही है जो सन् १५५०ई० से
सन् १६१०ई० तक बढ़ी। उसके बाद वह भारतीय हो गयी। "मुगल-
सोलहवीं सदी के सर्वोत्तम चित्रों में ही ईरानी प्रभाव सबसे अधिक लक्षित होता
सत्रहवीं सदी में जो चित्र बने, वे अत्यन्त भारतीय हैं।........असली मुगल-
सत्रहवीं सदी की कलम है, उससे पहले की नहीं, क्योंकि उसके पहले उसका जन्म

कास हो रहा था ; और उसके बाद की भी नहीं, क्योंकि सत्रहवीं सदी के बाद उसका पतन आरम्भ हो जाता है।''[1]

ईरान की कला का स्वभाव स्त्रैण था। इसके प्रतिकूल, मध्य एशिया में तैमूरी शासकों के अधीन जो कला विकसित हुई, उसमें उद्दामता का अधिक जोर था। सत्रहवीं सदी में इन दोनों कलाओं के साथ भारतीय कला का मेल भारतवर्ष में हुआ। इन विभिन्न कला-प्रवृत्तियों के योग से भारत में एक नयी कला का जन्म हुआ, जो जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य-काल में उन्नति के शिखर पर पहुँची और उसके बाद, क्रमशः, नीचे आने लगी।

इस कला में व्यक्ति की आकृति की प्रधानता है। इसकी दृष्टि केन्द्रित होकर वर्त्तमान काल पर है तथा उसके मुख्य विषय अमीरों के कारनामे हैं। यह कला जीवन को अन्तर्मुख नहीं करके, खुलकर उसका प्रतिनिधित्व करती है। "वैयक्तिक चरित्रों में गहरी दिलचस्पी, संश्लेषण के स्थान पर विश्लेषण की प्रमुखता तथा सन्तों और महात्माओं की जगह पर राजाओं और दरबारियों से प्रेम,''[2] ये मुगल-कला के कुछ मुख्य लक्षण हैं। मुसलमान मूर्त्तिपूजक नहीं थे, अतएव, इस्लाम के धार्मिक महापुरुषों के चित्र नहीं बनाये जा सकते थे। धर्म की भूमि से अलग होने के कारण इस्लामी युग में वह कला, पूर्ण रूप से, लौकिक हो गयी।

राजपूत और मुगल कलमों के भेद

राजपूत-कलम से मुगल-कलम का मुख्य भेद यह है कि मुगल-कलम का जन्म अनेक कलमों के मिश्रित प्रभाव से हुआ, किन्तु, राजपूत-कलम भारत की राष्ट्रीय कला-प्रवृत्ति मे फूटकर निकली है। फिर भी, विभिन्न प्रभावों के बीच से जनमी हुई मुगल-कला ने एक प्रकार की मौलिकता प्राप्त कर ली और वह, धीरे-धीरे, भारतीय भी हो गयी। मुगल-कला में व्यक्ति-चित्रों की प्रधानता है। राजपूत-कला में ऐसे चित्र बहुत कम हैं। मुगल-कला जीवन को भोग, आनन्द और उल्लास की दृष्टि से देखती है। राजपूत-कलम के लिए जीवन अनन्त साधना का विषय है। मुगल-कलम, आरम्भ से अन्त तक, किताबों के पन्नों की चीज है। राजपूत-कलम किताब के पन्नों पर भित्ति से उतर कर आयी है। सोलहवीं सदी में राजपूत-कलम का जो रूप हम देखते हैं, वह उसके वार्द्धक्य का रूप है। अपने वार्द्धक्य में भी वह मोहक और सूक्ष्म है। किन्तु, यह आभास दिये बिना वह नहीं रह सकती कि यह उसके उतार की ऋतु थी। इसके विपरीत, तत्कालीन मुगल-कला अपने उच्छल यौवन के काल में है, उसमें प्रयोग का भरपूर साहस और विकास की अनन्त सम्भावनाएँ भरी हुई हैं। भारत के दार्शनिक दृष्टिकोण के समान ही, राजपूत-कलम में हम एक प्रकार की अपरिवर्त्तनशीलता की झलक देखते हैं, एक प्रकार की सनातनता की आभा देखते हैं जो बुझकर भी नहीं बुझती और न कभी जोर से ऊपर ही उठती है। मुगल-कलम विवरणात्मक है, साहित्यिक है, वस्तुवादी और लौकिक है। इसके विपरीत, राजपूत-कलम में धार्मिकता भी है और आध्यात्मिकता भी। उसमें आदर्श की वही प्रधानता है जो अजन्ता-कलम का गुण थी।

---

[1] आन् मोगल एण्ड राजपूत पेंटिंग (आर्ट एण्ड स्वदेशी में।)

[2] वही।

मुगल-कलम दरबारियों के लिए थी, राजपूत-कलम जनता की हो चली थी। मुग कलम के विषय हैं आखेट और युद्ध, दरवार और मनोरंजन की कहानियाँ एवं पशु-प और फूल। राजपूत-कलम के विषय रामायण और महाभारत से आये हैं, वैष्णव- और, वाद को, कुछ शैव-धर्म से भी आये हैं। राजपूत-कलम में प्रेम का चित्रण खूब हुआ है, किन्तु, वह प्रेम, सदैव आदर्श का स्पर्श करता है।

राजपूत-कलम की कुछ बुरी कृतियाँ सोलहवीं सदी में भी वनी थीं और अच्छी कृतियाँ उन्नीसवीं सदी में भी बनीं। सच पूछिये तो यह कलम अव भी नहीं हुई है और उसके प्रभाव अर्वाचीन कलाकारों की तूलिकाओं में भी जहाँ- मौजूद हैं।

उम्र की दृष्टि से मुगल-कलम अल्पायु सिद्ध हुई। वह सर्वथा नवीन वस्तु होकर भारतीय चित्रकला की ही एक तरंग थी, जो ईरानी कलाकारों के सहयोग उठी और उठकर फिर मुख्य धारा में विलीन हो गयी। राजपूत-कलम की दुनि जादू की दुनिया है, जिसमें सभी पुरुष वीर और सभी रमणियाँ सुन्दर एवं लज्जा होती हैं एवं जिसके सारे पालतू और जंगली जीव मनुष्य के मित्र होते हैं तथा इस दुनि के तृण-तृण इतने चेतन हैं कि नव वधू के पैरों की आहट उन्हें सुनायी दे जाती है। इसके विपरीत, मुगल-कलम की दुनिया वह दुनिया है, जिसमें हाथी से हाथी, बाघ बाघ और शेर से शेर लड़ते दिखायी देते हैं। मुगल-कलम की चरम-परिणति बादशा एवं सरदारों के व्यक्ति-चित्रों में हुई। राजपूत-कलम ने प्रेम और विरह की अनन्त तथा अदृश्य के अनुसन्धान में अपने को उत्सर्ग कर दिया। मुगल-कलम उस वंश समाप्ति के साथ समाप्त हो गयी, जिसने उसे जन्म दिया था। किन्तु, राजपूत-क अब भी जी रही है।

भौगोलिक दृष्टि से राजपूत कलम के दो क्रीड़ा-क्षेत्र रहे हैं, एक तो हिमालय तराई और दूसरा राजस्थान का मैदान। तराई में इस कला का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चमत काँगड़ा-शैली में अभिव्यक्त हुआ और मैदान में जयपुर की शैली में।

रीतिकाव्य और राजपूत कलम

किन्तु, राजपूत-कलम की दुर्बलता यह है कि विकास की ओर उसके कदम हैं। बहुत दिनों की साधना के कारण अब उसकी सम्भावनाएँ शून्यवत् रह गयी हैं। उस पर आलंकारिकता का भी प्रभाव पड़ा है एवं सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि परम्परा का अच्छा ज्ञान नहीं रहने से चित्र, बहुधा, समझ में कम आते हैं। यह मनुष्य- स्वभाव के साथ एक रहना चाहती है, किन्तु, वास्तविकता की उपेक्षा करके। सच यह है कि राजपूत-कलम हिन्दी की रीतिकालीन कविता का अनुपूरक अंग है। तत्कालीन काव्य का आकर्षण उसके विषय नहीं, कलाकारिता को लेकर है, वैसे इन चित्रों का भी मुख्य आकर्षण उनकी मँजावट में है। कृष्णलीला, नायिका-भेद रासलीला से प्रेरणा रीतिकालीन कवियों को भी मिली और चित्रकारों को भी। चित्रकारों ने एक फाजिल काम यह किया कि उन्होंने राग-रागिनियों के भी चि

डाले। रीतिकालीन कवियों की ओर इन चित्रकारों का बहुत रुजहान था। इन कारों ने केशव की कविताओं पर चित्र बनाये और दतिया-राज्य में अष्टयाम, रों-सतसई और मतिराम के रसराज पर भी अनेक चित्र बनाये गये। स्पष्ट यह ईरानी प्रभाव था। ईरान में पुस्तकों को सचित्र करने की परिपाटी थी। का अनुकरण पहले अकबर के दरबार में हुआ और, बाद को, हिन्दू-नरेशों के यहाँ।

मुगल-कालीन चित्रों के विषय में लिखते हुए कला-मर्मज्ञ श्रीयुत रायकृष्णदासजी कहा है कि "इन चित्रों में हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रंगों की खूबी तथा नोकत एवं अंग-प्रत्यंग की लिखाई, दरबारी अदब-कायदों की जकड़बन्दी, और दबदबे के कारण भाव का सर्वथा अभाव, बल्कि, एक प्रकार के सन्नाटे-सा पाया है जिससे जी ऊबने लगता है।"[1] यह उक्ति बहुत कुछ रीतिकालीन कविता पर लागू की जा सकती है।

रीतिकालीन हिन्दी कविता का एक लक्षण यह भी है कि उसके पिछले वर्षों की आएं रीति के बन्धनों से बहुत-कुछ मुक्त हो जाती हैं एवं उनमें एक नया आनन्द ने लगता है जो परिमार्जित शैली में हृदय की सच्ची अनुभूतियों के लिखने का न्द है। आलम, शेख, बोधा और घनानन्द, इसी आनन्द के कवि हैं। आश्चर्य की है कि जैसे अठारहवीं सदी में इन कवियों ने कविता में फिर से प्राण डाल दिये, ही, इस काल में पहाड़ी-कलम (काँगड़ा-शैली) के चलते, चित्रकला भी सजीव हो ी। और जैसे आलम, बोधा और घनानन्द में जो आकर्षण है, उसका उद्गम सूफी धारा और भारतीय भावधारा का मिलन-विन्दु है, वैसे ही, पहाड़ी-कलम में भी जो मुगल-कलम से आयी है। "पहाड़ी-कलम मुगल-कलम की सद्यः सन्तति है। यही कलम अजन्ता के बाद भारत की सबसे उच्च कलामय उड़ान भी है।[2] घना-द की कविता में जो हार्दिकता और उन्मुक्तता है, वही हार्दिकता और उन्मुक्तता ड़ी-शैली के भी गुण हैं। ये कलाकार जन-जीवन के बहुत समीप थे। उन्होंने के विषयों यर चित्र बनाये। "हिन्दी के प्रमुख और साधारण कवियों से लेकर न की दैनिक चर्या और शबीह तक, ऐसा एक भी विषय नहीं है, जिसे इस शैली के कारों ने छोड़ा हो।"[3]

मुगल और राजपूत कलमों के मेला से जो पहाड़ी कलम निकली, वह खूब काम-रही और उसने भारतीय भावनाओं की अभिव्यक्ति भी सफलता से की। किन्तु, के समय, भारत और यूनान की कलाओं के मेल से जो गान्धार-कला निकली वह टिकाऊ न हो सकी, क्योंकि वह भारत की आत्मा के अनुकूल नहीं थी। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कला के क्षेत्र में भारत का एशिया से तो पूरा मेल है, उसका यही मेल यूरोप के साथ नहीं बैठ सकता। साहित्य में भी, ईरानी का भारतीय भावों से जो मिश्रण हुआ, उसे तो जनता ने उठा लिया है, किन्तु,

---

भारत की चित्रकला। २. वही। ३. वही।

अत्याधुनिक यूरोप की जो विशिष्टताएँ भारतीय कविता में उतारी जा रही हैं, जनता कभी ग्रहण भी करेगी या नहीं, यह सन्दिग्ध वात है।

स्थापत्य या वास्तु-कला पर प्रभाव

हिन्दुओं के यहाँ मन्दिर वनाने की दो शैलियाँ प्रचलित हुईं, एक उत्तर में दूसरी दक्षिण में, यद्यपि, दोनों शैलियाँ, मूलतः, एक ही हैं। उत्तर के हिन्दू-मन्दि भुवनेश्वर (उड़ीसा) खजुराहो (मध्य प्रदेश), वोध गया, आवू और पालीतान (सौरा के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। दक्षिणी शैली के अद्भुत नमूने मदुरा, श्रीरंगम् (त्रि महावलीपुरम् कांजीवरम् (कांची) आदि के मन्दिर हैं। सच पूछिये तो मन्दिर- की जो विशुद्ध सरणी दक्षिण में देखने को मिलती है, वह उत्तर में नहीं है। हि का गढ़ अब दक्षिण भारत ही रह गया है एवं जिसने दक्षिण के मन्दिरों को देखा, उसे इसका आभास दिलाना भी कठिन है कि हिन्दू-मन्दिरों की विशेषताएँ होती थीं। दक्षिण के मन्दिरों की रचना में हिन्दू-दर्शन की प्रतीकात्मक अभि हुई है। ये मन्दिर वाहर से पाँच या सात प्राकारों से घिरे होते हैं और सबके में गर्भ-मन्दिर होता है, जिसमें देवता निवास करते हैं। इस गर्भ-मन्दिर में वा नहीं होते, न उसका आकार ही बड़ा होता है। प्राकार शरीर के वाह्यावयवों रूपक हैं और गर्भ-गृह आत्मा का संस्थान। तुलसीदास ने ज्ञानदीपक (उत्तर के प्रसंग में कहा है :—

> तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा,
> उरगृह बैठि ग्रन्थि निरवारा।

मन्दिरों के गर्भ-गृह इसी उर-गृह के प्रतीक हैं।

किन्तु, हिन्दू-मन्दिरों की गणना भारत में ही समाप्त नहीं हो जाती। जावा, कम्वोडिया, स्याम, वर्मा, तिव्वत, खुतन, तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, और जापान में भी हिन्दू-शैली के मन्दिर वने थे। भारत के अनेक मन्दिर तो मणों के क्रम में ध्वस्त हो गये, किन्तु, वाहर के वहुत-से मन्दिर अव भी विद्यमा और उनके अध्ययन के विना भारतीय वास्तु का अध्ययन अधूरा रह जाता है। और, प्रायः, समस्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर जावा में हैं, यह वात अन्य दे विद्वान् भी मानते हैं।[1]

मन्दिर वनाने का शौक भारतीय राजाओं को वहुत था। सात-सात प्राकारों जो बड़े-बड़े मन्दिर हैं, वे किसी एक राजा के राज्य-काल में नहीं वने थे, प्रत्युत, कई पीढ़ियों का परिश्रम और धन लगा था। मन्दिर वनाने की धुन हिन्दुओं में प्रचण्ड थी कि एक ओर तो उत्तर भारत में मुसलमान मन्दिरों को मटियामेट कर थे, दूसरी ओर, दक्षिण के राजे तव भी नये मन्दिर वनवा रहे थे। अनेक मन्दिर भी हिन्दुओं ने कई वार वनवाये। सोमनाथ का मन्दिर पाँच वार तोड़ा था और पाँच वार, किसी-न-किसी, हिन्दू राजा ने उसे फिर से वनवा दिया।

---

[1] देखिये विल डुराण्ट-कृत आवर ओरियंटल हेरिटेज।

इन मन्दिरों में जो कला और कारीगरी है, उसका सम्यक् वर्णन करना लेखनी के बाहर की बात है। मदुरा और तंजोर के मन्दिरों को देखते-देखते मन किसी दिशा में उड़ने लगता है एवं यह कल्पना दिमाग में किसी तरह नहीं आती कि री इससे बाल भर भी आगे जा सकती है। दक्षिण के गोपुरों में तो गुच्छ की सुन्दरताएं एक साथ झूलती दिखायी देती हैं एवं ऐसा भासता है, मानो, मूर्त्ति-स्थापत्य की सेज पर नाना रूपों में विहार कर रही हो। "बाड़ोली के मन्दिर कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टाड ने लिखा है—यहाँ हुनर का खजाना कर दिया गया है। इसके स्तम्भ, छत और शिखर का एक-एक पत्थर छोटे-मन्दिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता।" भारतीय के प्रसिद्ध विद्वान् मि० फरगुसन लिखते हैं कि आबू के मन्दिरों में, जो संगमर-के बने हुए हैं, अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओं की टाँकी से फीते-जैसी की के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनायी गयी हैं कि उनकी नकल कागज पर में कितने ही समय एवं परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका।"[1]

ब मुसलमान भारत आये, उसके पूर्व ही वे ग्रेनेडा, कैरो, रूसले और बगदाद में ों के अद्भुत निर्माता सिद्ध हो चुके थे। भारत में उन्होंने जो भवन बनवाये, कुछ मस्जिदें, दिल्ली का लाल किला, फतहपुर सीकरी का किला, आगरे का हल तथा सासाराम और दिल्ली के मकबरे बहुत प्रख्यात हैं। अफगान बादशाहों मय भवन-निर्माण में हिन्दू कारीगर ही, विशेष रूप से, रखे जाते थे और, कभी-मन्दिरों के पाये और बन्दनवार भी तोड़कर उनमें लगा दिये जाते थे। इसलिए, निर्माणों का रूप वर्णसंकर-जैसा लगता है। फरगुसन ने लिखा है कि अजमेर की मस्जिद का नक्शा आबू के जैन मन्दिर पर से लिया गया था। कभी-कभी भी हुआ कि हिन्दू-मन्दिरों को ही मुसलमानों ने मस्जिदों में परिणत कर दिया। नगरी की यज्ञशाला का यही हाल हुआ है। कहते हैं, कुतुब-मीनार में हिन्दू-की जो छाप है, वह इस कारण कि उसमें २७ मन्दिरों के खण्डित अंश लगाये थे। दिल्ली के पास कूवतुल-इस्लाम नामक मस्जिद ठीक उसी जगह पर बनायी , जहाँ पहले जैन मन्दिर था और उसके निर्माण में मन्दिर के अनेक खण्डित अंश यों लगा दिये गये।

वकर्मा और जौहरी का मिलन

स्थापत्य में भी समन्वय का आरम्भ अकबर ने ही किया। उसके फतहपुर सीकरी किले में जो विराटता है, वह हिन्दू-वास्तु की स्वाभाविक विराटता का प्रभाव है। र के समय में मुगल-कला ने अपनी प्रगति की राह पकड़ी, जहाँगीर के समय वह और शाहजहाँ के समय में वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। बाहर के पारखी इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि ताजमहल ईरान, मिस्र या स्पेन में नहीं

---

[1] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।

बन कर, भारत में क्यों बना। वस्तुस्थिति यह है कि ताजमहल का निर्माण
मान भारत में ही कर सकते थे, क्योंकि वास्तु की जैसी सूक्ष्म और जितनी
परम्परा भारतवर्ष में थी, वैसी संसार में और कहीं नहीं थी।

भारतीय वास्तु में प्राणवत्ता, पौरुष और वैराट्य था। ईरानी कला के
नारीत्व और सूक्ष्मता का जब उसके साथ मिश्रण हुआ, तब इस मिश्रण से एक नयी
का जन्म हो गया जो अत्यन्त मनोहर और अपूर्व थी। ताज में केवल वास्तु ही नहीं
उसके साथ मूर्त्तिकारी और चित्रकारी भी लगी हुई है। भवन के रूप में ताज
हुई प्रतिमा के समान है एवं संगमरमर के फलक पर उसे हम चित्र भी कह सकते

मदुरा, तंजोर, भुवनेश्वर और बोध गया में हिन्दू-वास्तु का जो पौरुष,
और वैराट्य साकार है, फतहपुर सीकरी, दिल्ली और आगरे में वही ईरानी
और प्रगीतमयता को अपनी गोद में उठाये हुए है। कहते हैं, मुगल निर्माता
तो विश्वकर्मा की तरह करते थे, किन्तु, समाप्ति उनकी जौहरियों की तरह होती
लेकिन, यह विश्वकर्मा भारत का था, केवल जौहरी को ही हम ईरानी कह सकते
अतएव, इस कहावत को बदल कर ऐसे रखना चाहिये कि विश्वकर्मा के समान
निर्माण करने की क्षमता हिन्दुओं में थी और जौहरियों के समान समाप्त करने
मुसलमान प्रवीण थे। मुगल-स्थापत्य में हम जो चमत्कार देखते हैं, वह इसी
और जौहरी के मिलन का चमत्कार है।

हिन्दू-वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पड़ता है; मुस्लिम-
का तफसीली बारीकी के कारण। एक में शक्ति की शोभा है, दूसरे में सौन्दर्य
सम्मोहन। हिन्दू-निर्माताओं में राग था, उद्वेग और उद्दामता थी तथा उनकी
का स्रोत कभी सूखता नहीं था। मुस्लिम-निर्माताओं में रुचि थी, कला से आनन्द
की उमंग थी और उद्दामता को वे नियन्त्रण में रख सकते थे। हिन्दू मन्दिरों
दीवारों पर इतनी रचनाकारी कर देते थे कि सारा मन्दिर ही मूर्त्तिकला का
बन जाता था। दीवारों को सजाने का चाव मुसलमानों में भी था, किन्तु, इस
को उन्होंने ज्यामिति के अनुपात में लता और पुष्पों के खचन से पूरा किया।

हिन्दू-वास्तु में पौरुष और प्रताप का तेज है। मुस्लिम-स्थापत्य से रंजकता
लहर उठती है। किन्तु, विराटता रंजकता की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी होती है
इसीलिए, भुवनेश्वर, तंजोर और बोरोबुदुर (जावा) के मन्दिरों के पार्श्व में
वैसा ही लगता है जैसे नाटकों की बगल में संगीत[1], जैसे वाल्मीकि के पार्श्व में
दास, जैसे तुलसी के पार्श्व में बिहारी या घनानन्द।

ऐसा लगता है कि चित्रकला में मुगल-गरिमा जिस प्रकार निखरी, उससे
वह स्थापत्य में निखरी है। साहित्य, चित्र और स्थापत्य, प्रायः, प्रत्येक क्षेत्र में
का उत्तराधिकार बहुत-कुछ महाकाव्य-कल्प था। मुस्लिम-प्रभाव ने उसे लिरिक
की ओर मोड़ा। उर्दू में कोई सर्वविदित मसनवी नहीं लिखी गयी, यह
इस्लामी संस्कृति की प्रगीतमयता का प्रमाण है। इसी प्रकार, पहाड़ी-कलम जो
कलम की सन्तति है, प्रगीतात्मक रही है। एवं मुस्लिम-वास्तु की स्त्रैण माधुरी
क्या कहना? ताजमहल भारतीय स्थापत्य का अद्भुत प्रगीत है।

---

[1] विल डुराण्ट : आवर ओरियण्टल हेरिटेज।

प्रकरण १०

साहित्य और भाषा पर प्रभाव

ाध्यात्मिक काव्य

अपनी छोटी-सी पुस्तक "बँगला-काव्य की भूमिका" में प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने स्थापना रखी है कि धर्म-निरपेक्ष-काव्य की रचना बंगाल में इस्लामी प्रभाव के आरम्भ हुई। उनका कहना है कि "दरबार में अरब और फारस की कहानियों चलन ने ही सामाजिक काव्य-रचना के लिए सामग्री जुटायी और उनका सांसारिक अनाध्यात्मिक रूप भी दरबार की पेचीदा जिन्दगी की परछाई है।" बंगाल के न-शासकों ने रामायण और महाभारत का अनुवाद संस्कृत से बँगला में करवाया। इसपर से हुमायूँ कबीर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रामायण और महाभारत मुसलमानों की दिलचस्पी धर्म के कारण नहीं, केवल कथा को लेकर थी। उनका मान, शायद, यह है कि जब मुसलमानों ने रामायण और महाभारत का महत्त्व धर्म रण नहीं, केवल कथा के कारण माना, तब उससे कवियों को यह प्रेरणा प्राप्त कि कविता का एक क्षेत्र अनाध्यात्मिक कथानक भी हो सकता है।[1] ऐसी कविता उदाहरण के रूप में नाम कबीर साहब ने "मनसामंगल" और "चण्डीमंगल" काव्य लिये हैं।

मनसामंगल और चण्डीमंगल, ठीक-ठीक, अनाध्यात्मिक काव्य हैं या नहीं, इस में सन्देह प्रोफेसर कवीर को भी है। किन्तु, इस सन्देह को वे यह कहकर टाल हैं कि "मनसामंगल और चण्डीमंगल का प्रधान उपादान सामाजिकता ही है।" का यह भी ख्याल है कि "चण्डी की कृपा से धनपति की प्राण-रक्षा की जो कहानी उससे आरव्योपन्यास (अरेबियन नाइट्स) की राक्षस-परी की कहानी का मूलगत फर्क नहीं है।"

प्रोफेसर कबीर के चिन्तन की दिशा यह है कि जब इस्लाम बंगाल पहुँचा, उस "बंगाल का मानसिक गठन संसार-विमुख और त्याग-धर्मी था।" इसके विपरीत, म का दृष्टिकोण संन्यास-विरोधी और इहलौकिक रहा था। बंगाल के कवियों पर म के इसी संन्यास-विमुख इहलौकिक दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा और "इस्लाम के

---

[1] "लेकिन, पठान सुलतानों के लिए रामायण-महाभारत का मूल्य सामाजिक धर्म-प्रतिष्ठा की बजाय कथा के ही लिहाज से ज्यादा है, समाज को समझने के लिए ही उनकी जरूरत पड़ी। फारसी और अरबी साहित्य की कथा-रचना से भी उनका सजीव तथा सजग परिचय था, इसीलिए, मुसलमानी शासन-काल में ही बँगला कविता में मनुष्य का सामाजिक और सहज सांसारिक रूप पहले-पहल प्रकाशित हुआ।"—बँगला काव्य की भूमिका (पृष्ठ २३।)

इस संघात से पश्चिम बंगाल के हिन्दुओं में जगी वैष्णव-कविता, पूर्व बंगाल में 'मनसा-मंगल'। वैष्णव-काव्य की साधना मानव-धर्म से ऊपर अति मानव के में रही और 'मनसा-मंगल' की साधना थी लोकातीत को समाज-जीवन के सम्बन्ध में प्रकाशित करना।''

बँगला-साहित्य के प्रसंग में यह उक्ति कहाँ तक ठीक है, यह बात वे बतला जिन्होंने मनसा-मंगल और चण्डीकाव्य की परम्पराओं का अनुसन्धान किया है। किन्तु, हम समझते हैं कि अनाध्यात्मिक काव्य की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। ऐसी कविता का सब से प्राचीन दृष्टान्त राजा हाल की 'गाथा-सप्तशती' जिसकी रचना, कदाचित्, ईसा के जन्म के आस-पास हुई थी। मनसा-मंगल और च काव्य को शुद्ध अनाध्यात्मिक काव्य का नमूना हम मान भी नहीं सकते। कि अनाध्यात्मिक काव्य तो गाथा-सप्तशती ही है जिसमें हम, पहले-पहल, स्फुट पदों ऐसे भाव पाते हैं जिनका परलोक से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो पूरी कलात्मकता साथ जन-साधारण के प्रेम, विरह और सांसारिक आनन्द को चित्रित करते हैं।

हाल की सप्तशती का भारतीय कवियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा एवं उसके अनु पर संस्कृत में भी रचनाएँ की जाने लगीं। अमरुक-शतक और गोवर्धनाचार्य 'आर्यासप्तशती' इसके प्रमाण हैं। हाल की गाथा-सप्तशती प्राकृत में है। कि प्राकृत में विरचित ये गाथाएँ नैसर्गिक शृङ्गार के घात-प्रतिघातों को जिस सहजता व्यक्त करती हैं, उस सहजता को संस्कृत में अक्षुण्ण रखने में आचार्य गोवर्धन को क नाई अनुभूत हुई। उन्होंने स्वीकार किया है कि मेरी कठिनाई यह है कि मैं नीचे पानी को ऊपर ले जाना चाहता हूँ, किन्तु, पानी ठीक से ऊपर को चढ़ नहीं पाता। पद्य भारतीय साहित्य के लिए बिलकुल नवीन थे। गाथा-सप्तशती, अमरुक-शतक औ आर्या-सप्तशती के कवियों ने परलोक की चिन्ता से छुट्टी पा ली थी। वे दैनि गार्हस्थ्य-जीवन के अत्यन्त समीप थे।

जब इस्लाम भारतवर्ष पहुँचा, उसके पूर्व ही ऐहिक काव्य की यह परम्परा भारत में फैल चुकी थी और संस्कृत में ऐसे लाखों स्फुट पदों की रचना की जा चुकी थी, जिनमें धर्म और परलोक की चिन्ता नहीं थी, जीवन के भोग्य रूपों का ही बखान था। ऐसे पद संस्कृत के सुभाषित-संकलनों में अब भी संचित मिलते हैं। पदों के भीतर, छिपे-छिपे, एक प्रकार की भावुकता भी पलती आ रही थी जो कियों की अदाओं पर न्योछावर होती थी, जो प्रेम के ऐहिक रूपों पर कुरबान थी, विरह के दाह से मुरझाने लगती थी एवं मिलन की वर्षा में भींग कर, क्षण मात्र

---

१. ''द वेस्टर्न इनफ्लुएन्सेज आन् बेंगाली लिटरेचर'' में डॉक्टर प्रियरंजन सेन ने लिखा है कि विद्यासुन्दर में हीरा और कामिनी-कुमार में सोनामुखी की कथाएँ हैं, उनके विकास के पीछे यूसुफ-जुलेखा और लैला-मजनूँ की कथाओं का प्रभाव है।

ती हो जाती थी । हिन्दी-साहित्य की गवाही यह है कि इस्लाम का प्रभाव भारतीय हित्य के इसी भावुक पक्ष पर पड़ा ।

और यह स्वाभाविक भी था । हिन्दू और मुस्लिम स्वभाव का विश्लेषण करते किसी ने कहा है कि औसत हिन्दू ज्ञानी और औसत मुसलमान कवि होता है । दि कोई व्यक्ति चिन्तन की ऊँचाइयों तक उड़ना चाहे तो मैत्री उसे किसी हिन्दू ज्ञान से करनी चाहिये । लेकिन, अगर उसे खेलने-कूदने और तैरने का शौक हो तो ती किसी मुस्लिम नौजवान से अच्छी रहेगी । वैसे भी, अत्यन्त प्राचीन होने के रण हिन्दू-संस्कृति भावुक से अधिक चिन्तनशील थी । किन्तु, वय में नवीन होने के रण इस्लाम का पूरा झुकाव भावुकता की ओर था ।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय साहित्य के भावुकता वाले पक्ष पर ही क्यों ड़ा, इसका एक दूसरा कारण यह भी मानना चाहिये कि यही वह क्षेत्र था जहाँ धर्म ी बाधा नहीं थी । हिन्दी में धार्मिक काव्य की रचना करनेवाले मुसलमान कवि म हुए हैं । जो हुए भी, उनका प्रभाव साहित्य की प्रमुख धारा ने ग्रहण नहीं किया । यसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि सूफी कवियों की परम्परा उन्हीं लोगों तक मित रह गयी । जब यह परम्परा जीवित थी, तब भी, उस परम्परा ने एक भी न्दू कवि उत्पन्न नहीं किया । इसी प्रकार, कबीर और दादू को जो शिष्य मिले, वे नातन धर्मावलम्बी-समाज में स्थान नहीं बना सके, न शिष्ट साहित्य उनमें से अधिकांश को अपना श्रेष्ठ कवि ही मानता है। किन्तु, रहीम, रसखान, रसनिधि, रसलीन, लम और शेख तथा मुबारक, ये हिन्दी की अत्यन्त शिष्ट धारा के कवि हैं और न्दी की काव्य-परम्परा पर उनका प्रभाव भी माना जाता है । ये सभी कवि धर्म-पेक्ष कलाकार थे और रीतिकालीन हिन्दी कवियों के उस विशाल समुदाय में वे सी भाँति खप जाते हैं जिस समुदाय का उद्देश्य मनुष्य का सुधार नहीं, केवल सौन्दर्य र प्रेम का आख्यान था ।

मुस्लिम-युगीन भारत में धर्म-निरपेक्ष काव्य के श्रेष्ठतम उदाहरण बँगला के मंगल और चण्डीमंगल नहीं, हिन्दी की रीतिकालीन कविताएँ हैं जिनका धर्म कोई सम्बन्ध नहीं है तथा जिनके रचयिताओं में हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही यों के प्रतिभाशाली कवियों के उज्ज्वल नाम हैं । पश्चिमोत्तर भारत के बारे में मर हुमायूं कबीर का यह कहना नितान्त अशुद्ध है कि "दिल्ली-दरबार में फारसी बाढ़ से देशभाषा को पनपने का मौका नहीं मिला ।" हिन्दी भाषा ने अपने सम्पूर्ण हास में जो सर्वश्रेष्ठ-कवि उत्पन्न किये, वे, सब-के-सब, मुस्लिम-शासन-काल में ही ए थे । कबीर, जायसी, विद्यापति और दादूदयाल पठान-युग में उत्पन्न हुए थे तथा दास, तुलसीदास, केशवदास, मीरा बाई, रहीम, रसखान, देव, पद्माकर, घनानन्द उनके सैकड़ों अनुयायियों का समय मुगलों का शासन-काल था । हिन्दी-भाषा र के समग्र साहित्य के समक्ष अपनी जिस समृद्धि का दावा करती है, सारी-की-सारी समृद्धि उसने पठानों और मुगलों के समय में ही अर्जित की थी ।

प्रोफ़ेसर कवीर की यह मान्यता भी विलकुल अशुद्ध है कि नवावी युग में भारत की “देश-भाषाओं की तुलना में बँगला का काव्य-विकास सर्वोत्तम था। भारत की दूसरी भाषा में, शायद, काव्य-साधना को इतनी सफलता नहीं मिली थी।” अज्ञान के कारण अच्छे चिन्तक भी हास्यास्पद भूलें कर वैठते हैं। कवीर साहव की उक्ति ऐसी ही भूल का दृष्टान्त है। मुस्लिम-काल में आधुनिक भारतीय भाषाओं जो साहित्य सृजन हुआ, उसका सर्वोच्च शिखर हिन्दी-भाषा में खड़ा हुआ बँगला काव्य का शिखर ऊँचाई पर तव पहुँचा, जब वंगाल में माइकेल मधुसूदन और विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर उत्पन्न हुए। किन्तु, ये वातें लोगों की समझ शायद, तव आयेंगी जब आज का भाषा-विषयक द्वन्द्व शमित हो जायगा और तथ्यों की परीक्षा किये विना किसी भी भाषा की ओर से कोई वड़ा दावा नहीं

श्री राहुल सांकृत्यायन की “हिन्दी-काव्यधारा” के अनुसार हिन्दी के सव से मुसलमान कवि अमीर खुसरो नहीं, वल्कि, अब्दुर्रहमान हुए हैं। अब्दुर्रहमान के निवासी और जाति के जुलाहे थे। राहुलजी ने इनका समय १०१०ई० माना इनकी कविताएँ, वस्तुतः, अपभ्रंश में हैं, किन्तु, उनकी भावधारा ऐहिकता-परक एवं नर-नारियों का मिलन और विरह ही उनका मुख्य विषय है। अरवी और के शब्द तो उन्होंने नहीं रखे हैं, किन्तु, विचार से वे सांसारिकता के ही समर्थक सम्भव है, यह प्रेरणा उन्हें इस्लाम से भी मिली हो, किन्तु, मूलतः, प्रभाव उन पर भारतीय परम्परा का था जिसके अधीन गाथा और आर्या-सप्तशतियों की रचना थी। इसी प्रकार, अमीर खुसरो की हिन्दी-कविताओं का भी इस्लाम अथवा धर्म से कोई सरोकार नहीं है। उनकी क्रीड़ा-स्थली धर्म-निरपेक्षता की भूमि है।

दर्द की नयी अदाएँ, रूपकों की नयी छटा

रीतिकाल के, सारे-के-सारे, कवि संस्कृत के प्रभाव में थे। संस्कृत में जो, ढेर ढेर, सरस, अनाध्यात्मिक श्लोक लिखे गये थे, उन्हीं से प्रेरणा लेकर हिन्दी के ने भी असंख्य दोहों, सवैयों और कवित्तों की रचना की। किन्तु इन्हीं कवियों विशेषतः, उनके मुस्लिम-सहकर्मियों में हम ऐसी भंगिमा देखते हैं, जो फारसी के की सूचना देती है।

रसखान, मुबारक, आलम और शेख की कविताओं में जो ताजगी, जो और वेधकता मिलती है, वह उनके पूर्वज अथवा समकालीन कवियों का सामान्य नहीं है। विशेषतः, आलम और मुबारक में एक विचित्र सम्मोहन है जो संस्कृत हिन्दी की परम्परा में होता हुआ भी अद्भुत और नवीन है। कहते हैं, आलम से मुसलमान हुए थे, किन्तु, उनके विख्यात सवैये[1] में विरह की जो टीस है, दर्द की जो अदा है, वह उनके समकालीन कवि-बन्धुओं के लिए किञ्चित् नवीन रही अवश्य ही, इस नवीनता को हम इस्लामीय भावुकता का प्रभाव कहेंगे। इसी

---

[1] जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल काँकरी वैठ चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं। [शेष

मुबारक के दोहे में काफ की जो उपमा अलक से दी गयी है, वह इसलिए कि मुबारक मुसलमान थे और काफ के नक्शे में अलक का चित्र उन्हें दिखायी दे सकता था।[1]

संस्कृत और हिन्दी कविता में जुगुप्सा-व्यंजक रूपकों के प्रयोग की परम्परा नहीं थी। यह परम्परा फारसी में थी और फारसी से ही उतर कर वह उर्दू कविता में सर्वत्र फैल गयी। छुरी, कटार, कातिल, मकतल और खून के प्रतीकों द्वारा प्रेम की अनुभूतियों का वर्णन फारसीवाले करते थे। लेकिन, यह परम्परा उर्दू वालों को इतनी अच्छी लगी कि आज भी वह उनके साथ है।

चमन सैयाद ने सींचा यहाँ तक खूने-बुलबुल से,
कि आखिर रंग बन कर फूट निकला आरिजे-गुल से। —अज्ञात
गले पै छुरी क्यों नहीं फेर देते,
असीरों को बेबालो-पर करनेवाले ? —यगाना चंगेज़ी
बवक्ते-कत्ल मकतल में कोई हमदम न था अपना,
निगह कुछ देर तक लड़ती रही शमशीरे-कातिल से। —हफ़ीज़ जालन्धरी
हमीं को कत्ल करते हैं, हमीं से पूछते हैं वो,
शहीदे-नाज़, बतलाओ, मेरी तलवार कैसी है ? —अज्ञात

लगता है, उर्दू के जन्म से पूर्व ही यह प्रभाव सीधे फारसी से उतर कर हिन्दी में आ गया। और संयोग की बात यह कि इस परम्परा के प्रवर्त्तकों में भी आदि नाम मुसलमान कवियों के ही मिलते हैं। रहीम का एक दोहा मिलता है,

जुकिहारी जोबन लिये, हाट फिरै रस देत,
आपन मांस चखाइ के, रकत आन को लेत।

प्रेम के आदान-प्रदान का वर्णन "मांस चखाने" और "रक्त पीने" के रूपकों में ना भारत के कवि नहीं जानते थे। हिन्दी में यह नयी राह रहीम ने फारसी के सर में आकर तैयार की।

इसी प्रकार, रसखान के **"कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवार,**
नेजा, भाला, तीर कोउ, कहत अनोखी ढार।"

इस दोहे में भी पं० विश्वनाथ मिश्र फारसी का प्रभाव मानते हैं, यद्यपि, नयन-न का रूपक संस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं में चलता आया था।

भारतीय साहित्य की ऐहिक धारा मुस्लिम कवियों को अनुकूल मालूम हुई थी, का एक प्रमाण यह भी है कि हिन्दी में, संस्कृत के अनुकरण पर, नायिका-भेद की ली पुस्तक रहीम ने ही लिखी। विशेषता की बात यह है कि रहीम ने "बरवा-का" में नायिका-भेद का जो क्रम रखा, बाद के हिन्दी आचार्यों ने भी, अधिकांश

---

[1] का शेष] आलम जौन-सी कुन्जन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा बसते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।
अलक मुबारक तिय बदन लटकि परी यों साफ,
खुशनवीस मुंशी मदन लिख्यौ काँच पर काफ।

में, उसीं क्रम को स्वीकार किया। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिन्दी में नायक-नायिकाओं की शाखा-प्रशाखाओं का जो अगम विस्तार हुआ, उसमें अधिक-से-अधि नायिकाओं की सृष्टि एक मुसलमान कवि ने ही की। केशवदास ने नायिकाओं के ३६० भेद कहे थे, देव ने ३८४, किन्तु, सैयद गुलाम नबी "रसलीन" ने उन्हें १३ तक पहुँचा दिया[1]। किन्तु, नायिका-भेद की रचना करने की प्रेरणा इन कवियों को अरबी और फारसी से नहीं मिली थी। अरबी और फारसी में यह परम्परा थी ही नहीं। रहीम और रसलीन ने नायिका-भेद का वर्णन शुद्ध संस्कृत-हिन्दी की परम्प में किया है। देखने की बात केवल यह है कि हिन्दी के मुसलमान कवियों ने भारती साहित्य की उस शाखा की सेवा अधिक की जो ऐहिक और अनाध्यात्मिक थी।

प्रेम-पीड़ा की नयी भंगिमा

हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रेम का आलम्बन ईश्वर का साकार रूप है। अतए भक्त कवि कृष्ण और राधा के लौकिक रूप का वर्णन करके अपनी सौन्दर्य-तृषा न प्रेम-भाव का भरपूर आख्यान कर देते थे। भक्त कवियों का प्रेम प्रेम के लिए न सदैव परमेश्वर के लिए उमड़ता था। किन्तु, सूफी-काव्य में प्रेम, अपने-आप में, स्व मूल्य बन गया। प्रेम की सार्थकता यह नहीं रही कि उसका लक्ष्य ईश्वर है। प्रे केवल प्रेम होने से ही सार्थक और मूल्यवान् माना जाने लगा। इसका कारण य था कि सूफी कवियों के यहाँ प्रेम का आलम्बन निराकार ईश्वर था। अतएव, उस प्रे को दीप्त करने का कोई सुस्पष्ट आधार इन कवियों को सुलभ नहीं था। इसलिए (आलम्बन को अदृश्य पाकर अथवा उसे आकार देने का कोई आधार नहीं देख प्रेम-भाव की महत्ता और उसकी तीव्रता का प्रतिपादन करने लगे। इसी तीव्रता लाने के लिए इन कवियों ने आहों से बननेवाले बादलों की कल्पना की, विरह में हृ के फटने और सूर्य के अधिक उत्तप्त हो उठने का मज़मून बाँधा एवं वे यह कहने कि प्रेम के मार्ग पर वही चल सकता है, जो शीश की दक्षिणा चुका सके, जो मस्तक को काटकर उसपर पाँव रख सके, जो घर फूँककर तमाशा देखने को तैयार है

जैसे भक्ति-आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव कबीर दास के समय से पड़ने ल वैसे ही, साहित्य में भी इस्लामी भावों का प्रवेश, सब से पहले, कबीर में ही दिखा देता है। प्रेम केवल ईश्वर-भक्ति का ही साधन नहीं, वह अपने-आप में भी कोई स्व मूल्य है, इस अनुभूति की पहली कविता हिन्दी में कबीर की ही मिलती है।

> प्रेम न बारी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय,
> राजा-परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय।
> यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं,
> सीस काटि भुइयाँ धरो तब पैठो घर माहिं।
> सीस काटि भुइयाँ धरो, ता पर राखो पाँव,
> दास कबीरा यों कहै, ऐसा हो तो आव।

---

[1] देखिये, रसलीन-कृत अनंगदर्पण।

मैं घर जारा आपना, लिया मुरैरा हाथ,
अब घर जारौं ताहि का जो चलै हमारे साथ।
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय,
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।

कबीर ने प्रेम को केवल स्वतंत्र मूल्य ही नहीं माना, उनकी अपनी प्रेम-पीड़ा की अनुभूति में भी एक नयी भंगिमा दिखायी देती है, एक नयी तड़प मिलती है, जो न्दी के लिए, बहुत दूर तक, नयी चीज थी।

अँखियन तो झाँइँ पड़ीं, पन्थ निहार-निहार,
जिह्वा तो छाला पड़ा, नाम पुकार-पुकार।
बिरह-भुअंगम तन डसा, किया करेजे घाव,
बिरहिन अंग न मोड़िया, जित चाहो तित खाव।
सब रग ताँत रबाब तन, ब्रिरह बजावै नित्त,
और न कोई सुनि सकै, कै साइँ कै चित्त।

"प्रेम-पीर" की यही नयी भंगिमा हम मीरा बाई में भी देखते हैं। अवश्य ही, की यह नयी अदा, विरह-वेदना का यह नया रूप उन्हें कबीर की ही परम्परा से ला होगा। किन्तु, दूर पर, कबीर और मीरा की इन बेचैनियों के पीछे, कहीं-न-हीं, फारस के सूफियों की वेदना का हाथ था इस अनुमान का खंडन नहीं किया सकता।

हे री, मैं तो दरद की मारी दीवानी रे,
मेरा दरद न जाने कोय।
काढ़ि करेजो मैं धरूँ रे, कागा, तू ले जाइ।
ज्याँ देसाँ मेरा पिउ बसे रे, वे देखैं, तू खाइ।
घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री, म्हारी व्यथा न बूझै कोइ।

इन पंक्तियों में विरह का जो रूप है, उसकी परम्परा न तो मेघदूत में मिलेगी, न स, श्रीहर्ष और भवभूति में। यहाँ तक कि विरह की इस वेदना का आभास हाल गोवर्धनाचार्य की सप्तशतियों में भी नहीं है। सम्भव है, दर्द की यह तर्ज लोकगीतों ठकर साहित्य के धरातल पर पहुँची हो, किन्तु, तब भी यह विदेशियों के ही साथ देश में पहुँची होगी।

पं० विश्वनाथ मिश्र ने भी प्रेम के इस अतिरेक को विदेशियों का प्रभाव माना है। न्तु, वे इस प्रभाव को वहीं प्रत्यक्ष देखते हैं, जहाँ "भूँज सरागह्नि वह नित मांसू" यसी)' "सीस उतारे भुइँ धरे" (कबीर) अथवा "काढ़ि करेजो मैं धरूँ रे" (मीराबाई) जुगुप्सा-व्यंजक पंक्तियाँ आती हैं।[१] यह ठीक है किन्तु, इस्लामी प्रभाव की सारी वहीं खत्म नहीं हो जातीं। वस्तुतः, इस काल में आकुल भावुकता का जहाँ भी आख्यान मिलता है, वहाँ फारसी के सूफी कवियों की व्याकुलता अवश्य आ जाती है।

---

[१] बिहारी की वाग्विभूति।

प्रेम की जो बेचैनी कबीर दास और मीराबाई में है, वही दर्द, शुद्ध ऐहिक धरातल पर, बोधा में भी बोलता है, घनानन्द में भी टीस जगाता है। हिन्दी में रोमानी आन्दोलन का आरम्भ छायावाद से माना जाता है, किन्तु सच पूछिये तो रोमानी भावों का जागरण बोधा और घनानन्द में ही आरम्भ हो गया था। हिन्दी में सूफी-कविता का रस जब भली भाँति भींग चुका और रीति-काव्य से लोग ऊबने-से लगे, तभी बोधा और घनानन्द में कविता एक नयी भंगिमा के साथ प्रकट हुई। इसकी सब से बड़ी विशेषता उस नवीनता का ग्रहण था जो कबीर और मीरा में झलक दिखाकर छिप गयी थी अथवा जिसकी हल्की-सी झाँकी जब-तब हिन्दी के मुसलमान कवियों में दिखाई पड़ती थी। बोधा में इस्लामी भावुकता का प्रत्यक्ष तेज है और यही तेज उनकी कविता का मुख्य आकर्षण भी है। वे ठीक रोमानी प्रेमी की तरह प्रेम की कठिनाई से घबराये हुए हैं और उन्हें यह भी क्षोभ है कि उनकी पीड़ा के समझनेवाले लोग उनके आस-पास नहीं हैं। फ़ारसी का जो असर उर्दू-गजलों पर पड़ा, बहुत कुछ कहीं असर हम बोधा की कविताओं में भी देखते हैं।

यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है।

× ×

लोक की भीति डेरात जो मीत तो प्रीति के पैंरे परे जनि कोऊ।

× ×

हम कौन सों पीर कहैं अपनी, दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

× ×

कहते ही बने, सहते ही बने, मन ही मन पीर पिरैबो करे।

घनानन्द के समकालीन मीर और दर्द रहे होंगे। कितने संयोग की बात है कि जब मीर यह लिख रहे थे कि

वसीयत मीर ने मुझको यही की,
कि सब कुछ होना तो, आशिक न होना।

तब घनानन्द के मुख से यह पंक्ति निकल रही थी कि

देह दहै, न रहै सुधि गेह की, भूलिहूँ नेह को नाँव न लीजै।

कविता में जब रोमानी भावदशा प्रकट होती है, तब कवियों का एक लक्षण यह होता है कि वे अपने आपको सब से अधिक प्यार करने लगते हैं और यह संकेत देने लगते हैं कि उनकी वैयक्तिक पीड़ाओं ने ही कविता का रूप ले लिया है। यह लक्षण मीर और घनानन्द, दोनों में मिलता है।

मीर कहते हैं,

मुझको शायर न कहो "मीर" कि साहब मैंने,
दर्दो-ग़म कितने किये जमा तो दीवान किया।

और घनानन्द का कहना है कि

लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

इस्लामीय भावुकता और फारसी भाषा का थोड़ा-बहुत प्रभाव रीति-काल के अनेक कवियों पर देखा जा सकता है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक कवि की प्रेरणा संस्कृत से आती है, केवल रचना के समय कुछ थोड़ा समकालीन प्रभाव उन पर पड़ जाता था। इस्लामी हुकूमत के मजबूत हो जाने पर मुस्लिम दरबारों और हिन्दू-रजवाड़ों में जो विलासिता फैली, जो चाक-चिक्य और जगमगाहट उत्पन्न हुई, उसकी परछाईं बिहारीलाल के दोहों में स्पष्ट दिखायी देती है। बिहारीलाल तथा अन्य रीतिकारों में विरह-वर्णन का जो रूप मिलता है, उससे मिलता-जुलता रूप तत्कालीन उर्दू कवियों के भी विरह-वर्णन में है। उदाहरणार्थ, जब बिहारीलाल यह लिख रहे थे कि

औंधाई सीसी सुलखि विरह-ज्वाल-बिललात,
बिच ही सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुयौ न गात।

तब उनके समकालीन उर्दू शायर आबरू पूछ रहे थे,

क्या सबब तेरे बदन के गर्म होने का सजन?
आशिकों में कौन जलता था, बदन जिसके लगा?

विरह-जनित ताप का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन संस्कृत में बहुत दिनों से होता आया था। संस्कृत से ही यह परम्परा हिन्दी में आयी। पता नहीं, फारसी में यह परम्परा कहाँ तक बढ़ी थी। यदि ईरानी कविता में इस अत्युक्ति की परम्परा कमजोर रही है तो मानना यही पड़ेगा कि भारत के फारसी और उर्दू के कवियों ने इस विषय में अतिशयता की शिक्षा संस्कृत और हिन्दी से ही ग्रहण की होगी। लेकिन, अत्युक्ति की परम्परा संस्कृत और फारसी, दोनों ही भाषाओं में थी। सम्भव है, हिन्दी और उर्दू में यह संस्कृत और फारसी, दोनों ही भापाओं से पुष्ट हुई हो।

फारसी और उर्दू में पौराणिक प्रसंग भी भारत के नहीं, अरब और ईरान के होते थे। लेकिन, हिन्दी के किसी भी कवि ने इन प्रसंगों को स्वीकार नहीं किया। केवल रसनिधि (जो मुसलमान थे) का एक दोहा मिलता है, जिसमें लैला और मजनूँ का प्रसंग है।

कोऊ मजनूँ-गोर-ढिग, लेहु न लैला नाम,
दरदवन्त को नेकु तो लेन देहु बिसराम।

रसनिधि के ही एक दूसरे दोहे में हम "गरेबाँ चाक" का मुहावरा और कज्जाक (अरबी में अर्थ होता है डाकू) शब्द का भी प्रयोग देखते हैं।

जेंहि मग दौरत निर्दयी तेरे नैन कजाक,
तेहि मग फिरत सनेहिया किये गरेबाँ चाक।

मरने थें जग डरै

मृत्यु को काम्य मानने का भाव भी भारतीय साहित्य में कबीर से पहले नहीं मिलता है। यह देश निवृत्तिवादी था। यहाँ के दर्शनाचार्य लोक को असत्य और परलोक को सत्य बताते थे। लेकिन, इस दर्शन का सहारा लेकर कबीर से पहले के किसी भी भारतीय कवि ने यह नहीं कहा था कि चूँकि परलोक सत्य और लोक

असत्य है, इसलिए, साधक को चाहिये कि वह, शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्यु को प्राप्त हो जाय।

मध्यकाल में भारत में भक्ति का जो विशाल आन्दोलन उठा, संन्यास और वैराग्य पर उसकी श्रद्धा अपार थी, किन्तु, भक्त कवि गार्हस्थ्य का विरोध नहीं सिखाते थे। उलटे, राधा और कृष्ण के प्रेम का वे जैसा वर्णन करते थे, उससे गार्हस्थ्य की महिमा बढ़ती थी और नर-नारी सम्बन्ध किसी उच्च धरातल पर पहुँचने की प्रेरणा पाता था। ये कवि मृत्यु तो क्या, स्वयं मोक्ष को भी काम्य नहीं समझते थे। मुक्ति के विरुद्ध इन कवियों का तर्क यह था कि जीव यदि ब्रह्म में विलीन ही गया तो भगवान की सेवा करने का उसे अवसर कहाँ मिलेगा ? भक्त कवि मानते थे कि जैसी लीला भगवान ने मथुरा और गोकुल में की थी, वैसी ही लीला वे अपने परम धाम "गोलोक" में, शाश्वत रूप से, करते रहते हैं। अतएव, भक्तों की अभिलाषा रहती थी कि मरने के बाद हम गोलोक पहुँचें और वहाँ, मोक्ष से दूर रहकर, अनन्त काल तक भगवान की सेवा करते रहें। कृष्ण के भक्त जिस लोक को गोलोक कहते थे, राम के भक्त वैसे ही लोक को साकेत समझते थे और दोनों प्रकार के भक्त मुक्ति न माँगकर भगवान की सनातन सेवा के अधिकार की याचना करते थे। "देवा, तेरो भक्ति न छाड़ौं, मुक्ति न माँगौं, तव जस सुनौं-सुनावौं", यह कामना राम और कृष्ण, दोनों सम्प्रदायों के भक्तों की थी। रामाश्रयी वैष्णवों के परम अग्रणी सन्त गोसाईं तुलसीदासजी ने काक-भुशुण्डी के मुख से कहलवाया है,

अस विचारि हरि भगत सयाने
मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।

और प्रसिद्ध कृष्णाश्रयी भक्त कवि परमानन्द दास कहते हैं।

कहा करौं बैठहिं जाय ?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी, ग्वाल, न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

भक्त कवियों के मन में, भीतर-भीतर, अभिलाषा साकेत या गोलोक की भले ही रही हो, किन्तु, बाहर वे जो कुछ कहते थे, उससे जीवन के प्रति लोगों की आस्था बढ़ती थी, जनता के बीच लोक को परलोक से श्रेष्ठ समझने का भाव उत्पन्न होता था तथा मनुष्य प्रकृति के दृश्य रूपों को प्यार करना सीखता था।

इसके विपरीत, सूफियों का दर्शन यह था कि जीव ब्रह्म से विछुड़ कर जीव हुआ है। जब से जीव ब्रह्म से अलग हुआ, तभी से वह वियोग में है। इस वियोग की समाप्ति तब होगी, जब जीव शरीर से निकल कर स्वतन्त्र हो जायगा। जीव की स्थिति विरह की स्थिति है, यह दार्शनिक सिद्धान्त था। जब इस विरह की वेदनाओं का वर्णन कल्पना की भाषा में किया जाने लगा, साधक इस विरह की समाप्ति के लिए बेचैन हो उठे और उसके अनेक मार्गों में से एक मार्ग उन्हें मृत्यु में भी दिखायी दें

ता। कबीर ने यह बात पूरी सुस्पष्टता से कही है।[1]

जिन मरने थैं जग डरै, सो मेरो आनन्द,
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरण परमानन्द।

मृत्यु भय की वस्तु नहीं, वह स्पृहणीय है, वह काम्य है, इस भाव का प्रचलन नीय साहित्य में सूफी-परम्परा के प्रभाव से बढ़ा है। कबीर के बाद मध्यकाल में न्दी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं में इस भाव की आवृत्ति और कहीं हुई है या ों, यह हम नहीं बता सकते। किन्तु, आधुनिक युग में इस भाव की अभिव्यक्ति हम न्दी और बंगला, दोनों ही भाषाओं में पाते हैं। आधुनिक भारत के सब से बड़े कवि न्द्रनाथ ने मृत्यु की मोहकता का वर्णन किया है तथा उसे आराध्य के समान ंक और सुन्दर बताया है।

मरण रे तुहुँ मम श्याम समान।
मेघवरण तुझ, मेघ जटा-जुट,
रक्त-कमल-कर, रक्त-अधर-पुट,
ताप-विमोचन करुण कोर तव,
मृत्यु-अमृत करे दान।

रवि बाबू की "खेया" में भी एक कविता है, जिससे मृत्यु के प्रति उनका प्रेम ट होता है, यद्यपि, मृत्यु के रूप में भी भगवान ही आते हैं, इस आरोप के कारण, ह मृत्यु-प्रेम सार्थक हो गया है।

आँधारे मुख ढाकिले स्वामी,
तोमारे तबू चिनिबो आमी,
मरण-रूपे आसिले प्रभू,
चरण धरि मरिबो हे।

रवीन्द्रनाथ जिस वातावरण में पले थे, उसमें सूफी-संस्कार मौजूद था। ब्राह्म ज में सूफी कविताओं का काफी चलन था। राममोहन राय और देवेन्द्रनाथ ठाकुर ज़ आदि फारसी कवियों की ग़ज़लें बड़ी ही श्रद्धा से पढ़ते थे। ये लोग स्नान- न के समय वेद-मंत्रों के साथ फारसी की ग़ज़लें भी गाया करते थे। ब्राह्म समाज सरे नेता केशवचन्द्र सेन भी हाफ़िज़ के अच्छे प्रेमी और मर्मज्ञ थे।[2]

किन्तु, मृत्यु को काम्य मानने का जो भाव रवीन्द्रनाथ में कुछ-थोड़ा झिलमिल

---

[1] कबीर इस सम्भावना में भी विश्वास करते हैं कि विरह-समाप्ति का एकमात्र मार्ग मृत्यु ही नहीं है, मिलन का सुख जीवन-मुक्त को भी मिलता है।

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न मराइ,
मूवा पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराइ?

कबीर के शिष्य दादूदयाल ने भी कहा है,

मूवा पीछे मुकुति बतावै, दादू जग भरमावै।

[2] द वेस्टर्न इनफ्लुएंसेज आन् बेंगाली लिटरेचर।

दीखता है, वह हिन्दी-कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा में अत्यन्त स्पष्ट है। सूफियों ने जो यह सिद्धान्त चलाया था कि मृत्यु एक माध्यम है जिससे हमारा विकास होता है, उस सिद्धान्त की मनोरम एवं अत्यन्त सुस्पष्ट कविताएँ भारत में महादेवीजी ने लिखी हैं।

अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास,
सृष्टि का है यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान।[1]

× ×

विसर्जन ही है कर्णाधार, वही पहुँचा देगा उस पार।[2]

× ×

रहने दो हे देव, अरे, यह मेरा मिटने का अधिकार।[3]

× ×

इस असीम तम में मिल कर मुझको पल भर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव, आज मेरा दीपक बुझ जाने दो।[4]

जो भाव हम कबीर, रवीन्द्र और महादेवी में देखते हैं, वह उर्दू-कवियों में भी काफी सुस्पष्ट है। निश्चय ही, उर्दू-समेत भारत की अनेक भाषाओं में यह भाव ईरान के सूफी कवियों से आया होगा।

मर्ग इक मान्दगी का वक्फ़ा है, यानी आगे चलेंगे दम लेकर। —मीर

क़ैदे-हयातो-बन्दे-ग़म, अस्ल में, दोनों एक हैं,
मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाये क्यों ? —ग़ालिब

कहा पतंग ने ये दारे-शमअ पर चढ़ कर,
अजब मजा है जो मर ले किसी के सर चढ़ कर। —ज़ौक़

फ़कीरों से सुना है हमने हातिम,
मज़ा जीने का मर जाने में देखा। —हातिम

भक्तों का बहुरियावाद

गीता में जिस भक्ति का प्रतिपादन है, उसमें परमेश्वर के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध जोड़ने का उपदेश नहीं है। आलवार भक्त भी अपने को प्रभु का दास ही समझते थे। केवल ओन्दाल ने कृष्ण को अपना पति माना था। रामानुजाचार्य ने भी विष्णु के साथ सेव्य-सेवक-भाव के सम्बन्ध का ही उपदेश दिया था। वल्लभाचार्य भी अपने को राधा और कृष्ण का दास ही समझते थे। अतएव यह, समझ में नहीं आता कि आगे चलकर भक्तों ने भगवान के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध कैसे जोड़ लिया? आश्चर्य नहीं कि इसके पीछे भी सूफी-साधना का कहीं कोई हाथ हो।

धर्म के साथ मादन भावों का कुछ थोड़ा संयोग भारत में भी था और भारत से बाहर के ईसाइयों में भी। सॉलोमन के गीत एक ओर तो रहस्यवाद के गीत समझे

---

[1] आधुनिक हिन्दी कवि।
[2] वही।
[3] वही
[4] नीहार।

हैं, दूसरी ओर वे नर-नारी मिलन का भी वर्णन करते हैं। भारत में ब्रह्मानन्द उपमा कामानन्द से दी जाती थी। मादन भावों के उद्रेक के कारण, एक समय, में धर्म-साधना अत्यन्त व्याकुल हो उठी थी, इसका वर्णन हम दूसरे अध्याय के मार्गी प्रकरण में कर आये हैं। फिर सहजयान ने नर और नारी को कृष्ण और का प्रतीक मान लिया और साधक-साधिका का शारीरिक मिलन भी राधा-कृष्ण मिलन का प्रतीक माना जाने लगा। इन सारी बातों का परिणाम यह हुआ कि भाव धर्म के वृन्त में अथवा उसके काफी समीप आ गये। जब इतनी बातें हो थीं, तब भारत में ईरान का सूफी-मत प्रचलित हुआ। अतएव, भक्त और भगवान बीच पति और पत्नी-भाव की स्थापना में उसे अधिक कठिनाई नहीं हुई।

बहुत कुछ सहज-यानियों के ही समान, सूफी साधक भी इश्क़-मजाज़ी को इश्क़-का सोपान समझते थे। ये परमात्मा को परम सौन्दर्य (अर्थात् प्रेमिका) के में भजते थे। प्रेम का यह नाता कबीर दास ने भी ग्रहण किया। किन्तु, परमात्मा उन्होंने पति और अपने को उनकी "बहुरिया" माना[1] जिसका कारण यह था कि परम्परा में प्रेम की प्रथम अभिव्यक्ति नारी ही करती आयी थी, फारसी की नर नहीं। कबीर के बाद मीराबाई ने भी श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया भगतिन ओन्दाल ने माना था।[2] किन्तु, ओन्दाल और मीराबाई नारी थीं। परमात्मा को उन्होंने यदि पति माना तो इसमें कोई हेत्वाभास नहीं था। न का दोष हम ईरान के मर्द सूफ़ियों पर लगायेंगे जो परमात्मा को अपनी के रूप में भजते थे। हेत्वाभास का दोष तभी होगा जब नारी परमात्मा को प्रेयसी माने और पुरुष अपना पति। किन्तु, भागवत-पुराण की प्रेमा-भक्ति और यानियों की साधना से सेवित परम्परा पर सूफ़ियों के मादन भावों का कुछ ऐसा पड़ा कि सन्त-महात्माओं में से अनेक परमात्मा से पति-पत्नी का सम्बन्ध जोड़। चैतन्य महाप्रभु ने अपने को ही राधा मान लिया तथा माधुर्य-भाव से भगवान भजनेवाले अनेक भारतीय सन्तों ने यह घोषणा कर दी कि पुरुष तो एक कृष्ण हैं, सारी आत्माएँ उनकी राधा लगती हैं। यह भाव जब कृष्ण के सम्बन्ध में हो गया, तब रामाश्रयी भक्तों ने भी, अपनी माधुर्य की पिपासा मिटाने के, अपने यहाँ सखी-सम्प्रदाय का प्रचलन कर दिया।

कबीर ने परमात्मा को अपना पति मानकर विरह की बेचैनियों एवं काल्पनिक के आनन्द का वर्णन ऐसे मार्मिक ढंग से किया है कि बाकी भक्तों पर उसका पड़े बिना नहीं रह सकता था।

> **चूड़ी पटकौं पलँग से, चोली लावौं आगि,**
> **जा कारन यह तन धरा, ना सूती गर लागि।**

---

[1] राम मोर साईं, मैं राम की बहुरिया।

[2] कहते हैं, फारस की सूफी भगतिन रबिया का भी भगवान से ऐसा ही सम्बन्ध था।

सोवौं तो सुपने मिले, जागौं तो मन माहिं,
लोचन राता, सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं।
नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय,
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय।
ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरति रहे पिय माहिं,
ऐसे जन जगमें रहैं, हरि को भूलत नाहिं।
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय,
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना होय जाय।

और इसी परम्परा के व्रती दादूदयाल भी थे। उनका भी कहना है,

पुरिख हमारा एक है, हम नारी बहु अंग
जे-जे जैसी ताहि सों, खेले तिस ही रंग।

और गुरु नानक भी परमात्मा के साथ इस सम्बन्ध में विश्वास करते थे।

भनति नानकु समन का पिउ एको सोई,
जिस नो आदर करे सो सोहागण होई।

सांस्कृतिक समन्वय का कार्य इसी अदृश्य गति से चलता है। एक समन्वय चीं भी पैदा करती है, जब वह अनेक अनाजों के कणों को एक जगह जमा कर देती है। किन्तु, यह समन्वय असली समन्वय का पर्याय नहीं होता। सच्चा समन्वय मधुमक्खी का काम है, जो रस तो अनेक फूलों से लाती है, किन्तु, मधु के स्वाद से सभी फूलों की अलग-अलग पहचान नहीं की जा सकती। भगवद्गीता, पांचरात्र, आलवारों की साधना, भागवत-पुराण और रामानुज के सिद्धान्तों से कबीर और चैतन्य का "बहुरियावाद" बहुत दूर पड़ता है। किन्तु, वह उनके समीप भी है, क्योंकि प्रेम और माधुर्य का, कुछ-न-कुछ, पुट पहले की भी भक्ति-परम्परा में था। उस परम्परा को सूफियों के प्रभाव ने और भी तेज कर दिया।

भाषा पर प्रभाव

फारसी और अरबी भाषाओं का, बहुत जोर का प्रभाव, सिन्ध, कश्मीर और पंजाब में पड़ा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सिन्धी, कश्मीरी और पंजाबी भाषाएं विशुद्ध आर्य-परिवार की भाषाएँ हैं और संस्कृत तथा प्राकृत और अपभ्रंश के साथ उनका वही सम्बन्ध है जो हिन्दी, बँगला, मराठी आदि भाषाओं का माना जाता है। किन्तु, सिन्धी, पंजाबी और कश्मीरी में अरबी और फारसी के इतने अधिक शब्द घुस पड़े कि आर्य-भाषाओं की स्वाभाविक संस्कृत-निष्ठता इन भाषाओं से बहुत दूर हो गयी। जब से हिन्दी भारत की राज-भाषा घोषित की गयी है, सारा भारतवर्ष चाहता है कि राजभाषा हिन्दी संस्कृत-निष्ठ हो। किन्तु, सिन्ध, कश्मीर और पंजाब के लोग हिन्दी में अधिक प्रचलन अरबी और फारसी के शब्दों का चाहते हैं, क्योंकि अरबी और फारसी शब्दों के साथ उनका परिचय बहुत अच्छा है। और तो और, अरबी और फारसी का प्रभाव इन भाषाओं के व्याकरण पर भी पड़ा है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि

उर्दू भी हिन्दी ही है, किन्तु, हिन्दी से भिन्न वह इसलिए समझी जाती है कि उसकी लिपि फारसी है और अपने गठन में उसने अरबी-फारसी व्याकरणों के भी कुछ नियम ग्रहण कर लिये हैं।

अरबी और फारसी शब्दों का थोड़ा-बहुत प्रवेश मराठी और गुजराती में भी हुआ, लेकिन, इन भाषाओं ने अरबी-फारसी के केवल शब्द ही लिये। उनका व्याकरण गुजराती और मराठी में उतना ही अग्राह्य रहा जितना अग्राह्य वह हिन्दी में रहा है। किन्तु, बँगला-भाषा ने अरबी-फारसी शब्दों के लिए कोई खास उत्साह नहीं दिखाया। बँगला में अरबी-फारसी के शब्द, कदाचित्, उतने भी नहीं हैं जितने गुजराती और मराठी भाषाओं में पाये जाते हैं। कारण यह हुआ कि जो मुसलमान बंगाल पहुँचे उनका सम्बन्ध दिल्ली और आगरे से बहुत कम रह गया। अतएव, फारसी उनके लिए आदर की वस्तु तो रही, किन्तु, दैनिक कार्य-कलाप अथवा वार्तालाप में उसका प्रयोग असम्भव हो गया। एक कारण यह भी हुआ कि बंगाल में झुण्ड के झुण्ड हिन्दू एक साथ मुसलमान हुए थे। अतएव, उनकी भाषा-विषयक स्वाधीनता अक्षुण्ण रह गयी। एक तो बंगाल के शासक भारत में इस्लाम के केन्द्र से दूर थे। उनके लिए यह शक्य नहीं था कि वे फारसी और अरबी से अपना नजदीकी सम्बन्ध बनाये रखें। दूसरे, बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू से मुसलमान होनेवाले बंगालियों ने अपनी भाषा को इस्लामी संस्कृति की भी भाषा बना दिया। इसका एक सुपरिणाम यह है कि बंगाल में भाषा को लेकर कोई साम्प्रदायिक द्वन्द्व नहीं है।

परन्तु, मुसलमानों की राजधानी हिन्दी-भाषी भूभाग में थी, अतएव, अरबी और फारसी शब्दों का जितना अधिक प्रचलन देश के इस भाग में हुआ, उतना कहीं और नहीं हो सका। अकबर के समय में आकर जब फारसी भारत की राजभाषा हो गयी, तब फारसी उन सभी हिन्दुओं को सीखनी पड़ी जो राजकाज में सम्मिलित होना अथवा मुसलमानी दरबारों में इज्जत पाना चाहते थे। और मुसलमानी दरबार ही नहीं, अधिकांश हिन्दू-रजवाड़ों के यहाँ भी फारसी का ही चलन था। अतएव, जो भी व्यक्ति इन रजवाड़ों में नौकरी करना चाहता, उसे फारसी सीखे बिना और कोई चारा नहीं था। फारसी का समाज पर ऐसा प्रभुत्व छा गया था कि अभी उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अच्छे-अच्छे हिन्दू रईस अपने बच्चों को फारसी जरूर पढ़ाते थे, क्योंकि समझा यह जाता था कि फारसी पढ़े बिना आदमी तमीज़दार और सुसभ्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में अचरज की बात यह नहीं हुई कि हिन्दी-भाषा में अरबी और फारसी के बहुत अधिक शब्द प्रवेश पा गये। आश्चर्य इस बात पर होना चाहिये, कि, ऐसे घमासान में, हिन्दी ने अपनी संस्कृतनिष्ठ प्रकृति की रक्षा कैसे की। अवश्य ही, हिन्दी-भाषी संसार मुस्लिभ-युगीन उन सन्तों, साधकों एवं समर्थ कवियों के ऋण-भार से कभी भी मुक्त नहीं होगा, जिन्होंने हिन्दी को अरबी और फारसी के समुद्र में डूबने से बचा लिया।

फिर भी, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि हिन्दी के तत्कालीन कवि इस बात से अवगत थे कि हिन्दी पर कोई विदेशी भाषा आक्रमण कर रही है और हिन्दी को उसके प्रहारों से बचा रहे हैं। सूरदास, तुलसीदास, केशव, बिहारी और मतिराम तथा उनके अन्य सहधर्मी मुस्लिम शासन के न तो विरोधी थे, न मुसलमानों से उन्हें कोई असन्तोष था। इसी प्रकार, उन्हें फारसी भाषा से भी घृणा नहीं थी। किन्तु, एक बात वे निश्चित रूप से जानते थे कि जिस भाषा में हम लिख रहे हैं, वह फारसी नहीं, इसी देश की भाषा है। इस भाषा को संस्कृत से भिन्न तो वे समझते थे, किन्तु, संस्कृत की परम्परा से अलग जाने का उनमें कोई भाव नहीं था। हिन्दी का हिन्दी, हिन्दुई, हिन्दवी या रेख्ता नाम या तो ये कवि जानते ही नहीं थे, अथवा ये नाम उन्हें नापसन्द थे। जिस भाषा में वे लिख रहे थे, उसे और कोई नाम न देकर उन्होंने केवल भाखा कहा है[1]।

जिन दिनों सूर, तुलसी और आचार्य केशवदास हुए अथवा जिस समय दक्खिनी हिन्दी के मुस्लिम कवि उर्दू का आरम्भ कर रहे थे, उन दिनों शब्दों के बहिष्कार की ओर ध्यान न तो हिन्दुओं का गया था, न मुसलमानों का। दक्खिनी हिन्दी के आरम्भिक मुस्लिम कवि छन्द तो फारसी के ही रखते थे, किन्तु, उनके अत्यधिक शब्द हिन्दी भाषा से ही आते थे। इसी प्रकार, हिन्दी के कवि, यद्यपि, यह जानते थे कि उनकी भाषा संस्कृत के समीप है, फिर भी, अरबी-फारसी शब्दों से बिलकुल बचकर लिखने की उनकी बान नहीं थी। पृथ्वीराज-रासो नामक महाकाव्य के रचयिता चन्द बरदाई लाहौर के थे, जहाँ मुस्लिम-राज्य पृथ्वीराज के कोई दो सौ वर्ष पहले से ही मौजूद था। चन्दबरदाई ने अपने महाकाव्य में अरबी और फारसी शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया है कि देखकर आश्चर्य होता है।[2] अथवा आश्चर्य की इसमें क्या

---

[1] संसकिरत है कूप-जल, भाखा बहता नीर। —कबीरदास।

पराकिरत मधि ऊपजे, संसकिरत सब वेद,
अब समझावै कौन करि पाया भाषा-भेद। —रज्जब।

आदि अन्त जस गाथा अही,
कह चौपाई भाखा कही। —जायसी।

भाषा-भणित मोरि मति थोरी,
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी। —तुलसीदास।

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास,
भाषा कवि भौ मन्दमति तेहि कुल केशवदास। —केशवदास।

[2] देखिये, 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' में उद्धृत पृथ्वीराज-रासो का अंश। चन्द-बरदाई ने दावा किया है कि उनके काव्य में पुराण ही नहीं, कुरान का भी प्रतिपादन किया गया है।

उक्ति धर्म विशालस्य राजीनीति नवं रसं।
षट् भाषा पुराणं च कुराणं कथितं मया। —समय १, रूपक ३८।

पृथ्वीराज का कवि और इस्लाम के प्रति यह आदर का भाव, यही हिन्दू-धर्म था।

नहीं है। यह उस ऐतिहासिक स्थिति का परिणाम था जिसके कारण पंजावी, और कश्मीरी भाषाओं में अरवी तथा फारसी शब्दों का अत्यधिक प्राचुर्य ता।

कवियों की भाषा-नीति

अरवी-फारसी शब्दों का प्रयोग कवीर और उनके अनुयायियों ने काफी किया, , जायसी में हम ऐसे शब्दों की संख्या अपेक्षया कुछ कम पाते हैं। रसखान की ओं और रहीम की हिन्दी-कविताओं में यह संख्या और भी न्यून है। जिस कवि भाव होते हैं, शब्द भी उसके सामने वैसे ही आते हैं। जिसे हिन्दू और मुसल-, दोनों को सम्बोधित करना था, उसने शब्द भी दोनों की भाषाओं से लिये। , जिसका उद्देश्य केवल सूक्ति गढ़ना अथवा सौन्दर्य का विधान था, उसे अरवी- की जरूरत वहुत कम पड़ी। लेकिन, हिन्दी-कवियों की दृष्टि साम्प्रदायिक थी नहीं, इसका अन्तिम प्रमाण गोसाईं तुलसीदास की रामायण में खोजा जा सकता । रामायण हिन्दू-संस्कृति का महाग्रन्थ है। इस महाकाव्य में लगभग छह हजार के प्रगाढ़ हिन्दू-चिन्तन का सार समोया हुआ है और इस ग्रन्थ का सम्मान भी ही है जैसा सम्मान वाइविल अथवा कुरान का देखा जाता है। किन्तु, ऐसे काव्य में भी हम अरवी और फारसी शब्दों के निःसंकोच प्रयोग अनेक स्थलों ते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि गोसाईंजी में भाषा को लेकर साम्प्रदायिकता तक नहीं थी।[1] यह ठीक है कि अरवी-फारसी के शब्द गोसाईंजी ने वहुत लिये हैं, किन्तु, उतने शब्दों से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि अरवी-फारसी से उन्हें घृणा नहीं थी।

तुलसीदास जिस भाषा में लिख रहे थे, वह अत्यन्त समर्थ और सक्षम भाषा थी। , यह सोचना नितान्त भूल है कि अरवी और फारसी के शब्द उन्होंने इसलिए किये कि हिन्दी में उनके पर्याय नहीं थे। तुलसीदास चाहते तो अरवी-फारसी का वहिष्कार, वड़ी आसानी से, कर सकते थे। किन्तु, वहिष्कार की नीति भी विधायक कलाकार की नीति नहीं होती। इसीलिए, अरवी और फारसी के चलित शब्द तुलसी की कल्पना के सामने उपस्थित हुए, महाकवि ने उनकी स्वीकार कर ली। अरवी और फारसी के सान्निध्य से हिन्दी में एक नयी

गनी गरीब ग्रामनर नागर।
साहिब सीतानाथ सों सेवक तुलसीदास।
वर लायक दुलहिन जग नाहीं।
वहु जिनस प्रेत-पिशाच जोगि जमात वरनत नहिं बने।
वन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सव सक को कही।
चारु बजारु विचित्र अँबारी।
कुम्भकरन कपि फौज विडारी।
राम धनुष तोरव सक नाहीं। इत्यादि।

शक्ति उत्पन्न हो रही थी, एक नया प्रवाह आ रहा था। भाषा के इस नवीन को तुलसीदास ने अपनी रचना में स्थान दिया, इससे उनकी भाषा-मर्मज्ञता की सूचना मिलती है।

भाषा की शक्ति कठिन नहीं, आसान शब्दों के प्रयोग से निखरती है। भाषा सौन्दर्य तब बढ़ता है, जब लेखक उन सभी शब्दों को सहानुभूति से देखता है जो की जीभ पर चढ़े हुए हैं। कोई भी शब्द केवल इसीलिए ग्राह्य नहीं होता कि संस्कृत-भाण्डार का है, न शब्दों का अनादर केवल इसलिए उचित है कि वे अरबी फारसी भण्डार से आये हैं। जो भी शब्द प्रचलित भाषा में चल रहे हैं, जो भी सुगम, सुन्दर और अर्थपूर्ण हैं, साहित्यिक भाषा भी उन्हीं शब्दों को लेकर काम है, यह विचार आज भी समीचीन समझा जाता है और मध्यकाल के लेखक और भी उसे उचित समझते थे। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों की भाषा-नीति क्या थी, अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख कविवर भिखारी दास (जन्म सन् १६९८ई०) ने किया है, काव्यशास्त्र के सम्मानित आचार्य थे।

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
मिले संस्कृत-पारस्यो, पै अति सुगम जु होय।

अर्थात् विद्वानों की दृष्टि में ब्रजभाषा अत्यन्त मनोरम भाषा है और संस्कृत फारसी के शब्द भी उसमें रखे जा सकते हैं यदि वे काफी आसान हों।

अन्यत्र भिखारीदासजी ने अपने इस मत की पुष्टि यह कहकर भी की है कवियों के अग्रणी नेता तुलसीदास और कवि गंग हैं क्योंकि उनकी भाषा में भाषाओं के शब्द पाये जाते हैं।

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन को सरदार,
जिनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।

खिचड़ी भाषा नकली भी हो सकती है और स्वाभाविक भी। नकली वह होती है, जब हम खिचड़ी भाषा लिखने का जान-बूझ कर प्रयास करते हैं। विक वह तब बनती है, जब साहित्य में अनेक भाषाओं के शब्द सहज गति से अपनी जगहों पर बैठ जाते हैं। ऐसी खिचड़ी अथवा मिश्रित भाषा की बड़ाई दास भी करते थे और उनके समय के अन्य लोग भी, हिन्दी में किसी कवि का और दोहा प्रचलित है जिससे इस बात की पुष्टि होती है।

अन्तरवेदी नागरी, गौड़ी पारस देस,
अरु अरबी जामें मिले, मिश्रित भाषा-भेस।

हिन्दी में अरबी और फारसी शब्द

हिन्दी से अरबी का तो कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है, किन्तु, फारसी की मौसेरी बहन लगती है। जेन्दावेस्ता की भाषा और वैदिक संस्कृत कभी एक भाषा थीं। जेन्दावेस्ता की भाषा से आगे चलकर फारसी उत्पन्न हुई और संस्कृत की परम्परा से हिन्दी का विकास हुआ है। आज भी फारसी और

शब्दों में आश्चर्यजनक समानता देखी जा सकती है।[1]

हिन्दी में अरबी और फारसी के कितने शब्द हैं, इसकी गिनती नहीं की जा सकती। ता की बात यह है कि हिन्दी के पास आज अरबी और फारसी के कुछ ऐसे भी हैं जिनके तत्सम या देशज पर्याय हैं ही नहीं। सम्भव है, इनके पर्याय पहले रहे और बाद को अरबी और फारसी शब्दों ने उन्हें पराजित करके मैदान से निकाल हो। अथवा यह भी सम्भव है कि जिन चीजों के ये नाम हैं, वे चीजें इस देश में मानों के साथ आयी थीं या उनके बाद पहुँची हैं। तब भी, पायजामा, इजारबन्द, र, शाल, दोशाला, पुलाव और अचार, इनका चलन भारतवर्ष में मुस्लिम-आगमन ले भी था; लेकिन, इन चीजों को यहाँ के लोग क्या कहते थे, अब इसका नहीं है। आभूषणों में हमेल, बाजूबन्द, जञ्जीर और पाजेब पहले भी पहने जाते और इनके संस्कृत नाम पुस्तकों में मिलते भी हैं, किन्तु, इन गहनों के संस्कृत नाम सुनायी भी नहीं देते। तकिये को संस्कृतवाले उपधान कहते थे, किन्तु, उपधान में बाहर चला गया। अब तकिया ही मौजूद है। इसी प्रकार, हुक्का, नैचा, न, बन्दूक, तख्ता, बादाम (सं० वाताम), मुनक्का, बेदाना, खूबानी, अंजीर, सेब, र, जलेबी, बालूशाही, मुरब्बा, गुलाब, तश्तरी, चमचा, शीशी, शीशा, दलाल, न, सराफ, लिहाफ, तोशक, चादर, तबियत, मिजाज, बर्फ, दवात, चश्मा, सन्दूक, लगाम, जीन, तंग, रकाब, जहाज, पर्दा, दालान, रुख, मल्लाह, रसद और कारी- ये सभी शब्द अरबी या फारसी के हैं। अगर ये शब्द हिन्दी से निकाल दिये जायँ उनकी जगह लेनेवाले हिन्दी में और शब्द नहीं मिलेंगे। कुछ शब्द ऐसे जरूर हैं के संस्कृत पर्याय भी हैं, किन्तु, जनता इन संस्कृत पर्यायों के बदले विदेशी शब्दों को पसन्द करती है। कबूतर और कपोत, चेहरा और आकृति, मजदूर और श्रमिक, ही और मसि, दवात और मसिपात्र, कलम और लेखनी, गुलाब और पाटल तथा और नवीन में से जनभाषा में प्रचलन उन्हीं शब्दों का है, जो विदेशी हैं।

अरबी और फारसी के विशेषणों और संज्ञा-वाचक शब्दों को हिन्दी ने बड़ी ही ना से स्वीकार किया। परहेज हिन्दी ने केवल यह बरता है कि अपने व्याकरण अरबी और फारसी का उसने कोई भी प्रभाव पड़ने नहीं दिया। अरबी और फारसी ओं के भी बहुवचन हिन्दी में हिन्दी-व्याकरण के ही अनुसार बनाये जाते हैं। ता की एक प्रथा यह भी है कि अरबी-फारसी शब्दों के साथ संस्कृत की विभक्तियाँ

---

[1] पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने "हिन्दी पर फारसी का प्रभाव" नामक पुस्तक में ऐसे शब्दों की काफी बड़ी तालिका दी है। उनमें से कुछ शब्द ये हैं :—श्वसुर, श्र। पृष्ठ, पुश्त। अस्ति, अस्त। गो, गाव। आप, आब। अश्व, अस्प। र्करा, शकर। हस्त, दस्त। बाहु, बाजू। पाद, पा। गोधूम, गन्दुम। तारा, ारा। पंच, पंज। चत्वार, चहार। सप्त, हफ़्त। हर्म्य, हरम। चक्षु, चश्म। क्र, चर्ख। अहिफेन, अफयून। तृष्णा, तिश्ना। भ्रू, अब्रू। सायं, शाम। ीर, शीर। मेघ, मेग़। कर्पूर, काफूर। मुष्टि, मुश्त। इत्यादि।

हिन्दीवाले नहीं लगाते ।

लेकिन, केवल संज्ञा और विशेषण ही नहीं, अरबी-फारसी के बहुत-से शब्द कि
विशेषण के भी क्षेत्र में हैं, जिन्हें अगर हटा दिया जाय तो हिन्दी की लोच में क
आ जायेगी । जल्द, बिलकुल, यानी, बेशक, अलबत्ता, जरूर-जरूर, हर्गिज, क
करीब, वगैरह, फौरन, मसलन, शायद, खैर, वाकई, राजीखुशी, बदले, लायक, बा
खातिर, खैर, वास्ते, तरफ, बाद, सिवा, सिवाय, मगर, अलावा, लेकिन, या, ब
बावजूद, बशर्ते, अगर, अगर्चे, चूंकि, बल्कि, ताकि, गोयाकि, व आदि शब्द[1] ऐ
जो अरबी और फारसी के होने पर भी हिन्दी भाषा के अंग हैं। इन्हें हिन्
निकालने की कोशिश हिन्दी को कमजोर बनाने की ही कोशिश होगी ।

□□

---

[1] "हिन्दी पर फारसी का प्रभाव" से उधृत ।

प्रकरण ११

उर्दू का जन्म

ड़ी बोली में साहित्य-रचना

महमूद ग़ज़नवी, मुहम्मद ग़ौरी और बाबर, इन तीन मुस्लिम-विजेताओं में से कोई खानदान से, ईरानी नहीं था। किन्तु, ईरानी या फ़ारसी भाषा ही इस्लाम की भाषा की थी एवं भारत में भी जो मुसलमान आये, उनकी अपनी भाषा फ़ारसी ही थी। रम्भ में भारत के मुसलमान या तो फ़ारसी में कविता करते थे या फिर खुसरो, नी, रहीम और रसखान की तरह, ब्रजभाषा और अवधी में। किन्तु, खुसरो की ली-कविताओं से एक नयी चेतना जगी कि जो बोली दिल्ली और आगरे के पास जाती थी, उसमें साहित्य का सर्जन सम्भव है।

जब हम खड़ी बोली के इतिहास को उठाते हैं, तब, निश्चित रूप से, हमें मानना ता है कि इस भाषा का प्राचीनतम लिखित साहित्य खुसरो का ही है। इसलिए, रो खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू, दोनों के जनक माने जाते हैं। किन्तु, खुसरो ने न खड़ी बोली में ही कविता नहीं लिखी। उनके गीत और दोहे ब्रजभाषा अथवा काल की काव्य-भाषा में मिलते हैं। ठेठ खड़ी बोली अथवा बोलचाल की भाषा की मुकरनियों, पहेलियों और दो-सुख़नों में ही प्राप्त होती है।[1]

इससे दो अनुमान निकलते हैं। एक तो यह कि खुसरो के समय में ब्रजभाषा का मिश्रित रूप काव्य की भाषा हो चला था। दूसरा यह कि सामान्य जनता की खड़ी बोली थी, जिसमें खुसरो ने बच्चों, स्त्रियों एवं जन-साधारण के मनोरंजन लिए पहेलियाँ और मुकरनियाँ कहीं। खुसरो की मृत्यु के कोई २८ वर्ष पूर्व नरपति ह ने वीसलदेव-रासो और कोई सौ वर्ष पूर्व, चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज-रासो लिखा। किन्तु, इन काव्यों की भाषा अपभ्रंश से पीड़ित हैं। लगता है, नरपति नाल्ह र चन्दबरदाई उस भाषा में कविता कर रहे थे, जो परम्परा से काव्य की भाषा नी जा रही थी। तत्कालीन जनभाषा में काव्य रचने की बात उन्हें नहीं सूझी। रो की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने समय की जनभाषा को पकड़ा। उनकी यों की ही नहीं, कविता की भाषा भी बहुत साफ है।

खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एकरंग।

जो भाषा नरपति नाल्ह को नहीं दिखायी पड़ी, वह खुसरो के ध्यान पर कैसे चढ़ ी, इसका कारण यह हो सकता है कि खुसरो परदेशी होने के कारण यहाँ के साहित्य

---

[1] देखिये, हिन्दी-साहित्य का इतिहास; रामचन्द्र शुक्ल। किन्तु, इतिहासकार डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी यह सोचते हैं कि ये मुकरनियाँ खुसरो की हैं या नहीं, यह विषय सन्दिग्ध माना जाना चाहिये।

से इतने प्रभावित नहीं रहे होंगे कि उसकी परम्परा उनपर आतंक जमाती। मुख्य भाव तो वे फ़ारसी में लिखते थे। हाँ, जनता के मनोरंजन के लिए कुछ उन्होंने यहाँ की भाषा में भी कह दीं। और जनता के हृदय तक पहुँचने के उन्होंने जनता की बोली का आश्रय लिया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में खुसरो बहुत बड़ी क्रान्ति की और, सत्य ही, वे हिन्दी और उर्दू के प्रवर्त्तक कहलाने के हैं। जिस खड़ी बोली में खुसरो ने मुकरनियाँ कही हैं, वह तत्कालीन जनभाषा खुसरो का आविष्कार नहीं। इसका एक प्रमाण तो यह है कि प्रचलित जनभाषा हेय मानकर परम्परा से आती हुई काव्य-भाषा में लिखनेवाले कवियों की भाषा में यह जनभाषा, जब-तब, झलक मार देती थी जिसका प्रमाण हेमचन्द्र (खुसरो से सौ वर्ष पूर्व) की यह बहुधा उद्धृत पंक्ति है :—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु।

दूसरा प्रमाण यह है कि खुसरो से कोई सत्तर साल बाद होनेवाले महाराष्ट्र के कवि नामदेव की रचनाओं में हम खड़ी बोली का बहुत-कुछ सुस्पष्ट रूप पाते हैं :—

माई न होती, बाप न होते, कर्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया।

खुसरो की खड़ी बोली की अपेक्षा नामदेव की खड़ी बोली का रूप ईषत् हीन प्रचलित बोली का रूप वही रहा होगा, जिसके नमूने हमें खुसरो में मिलते हैं। की भाषा के विकार का कारण कुछ तो सधुक्कड़ी प्रवृत्ति है और कुछ यह बात जन्म-स्थान की दृष्टि से, नामदेव खड़ी बोली के क्षेत्र से दूर पड़ते थे।

खड़ी बोली पर उर्दू वालों का कभी भी एकाधिपत्य नहीं था, यह सिद्ध लिए हिन्दी के विद्वान हेमचन्द्र से लेकर खुसरो, कबीर, दादूदयाल, मलूकदास, पति, पद्माकर, नागरीदास, ग्वाल और सीतल तक के उदाहरण बटोर कर यह कि यद्यपि, हिन्दी-कविता की मुख्य भाषा अवधी या ब्रजभाषा ही थी, फिर भी, बोली से हिन्दी-कवि अपरिचित नहीं थे तथा वे, समय-समय पर उसका भी कर लेते थे।[1] किन्तु, इतना कह देने से इस बात का खण्डन नहीं होता कि

---

[1] भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कन्तु। —हैमचन्द्र (११५५
अरथ तो इसका बूझेगा, मुँह देखो तो सूझेगा। —खुसरो (१२५०
मन मेरी सुई, तन मेरा धागा, खेचर जी के चरण पर नामा सिम्पी लागा।
—नामदेव (१३५०

मुझको क्या तू ढूंढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में। —कबीर (१४५०
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढ़ा उसने पाया। —नानक (१५००
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और। —दादूदयाल (१६००
अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम,
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम। —मलूकदास (१६८५
[शेष पृष्ठ ४५३

को साहित्य की भाषा मुसलमानों ने ही बनाया। हिन्दी वाले अपभ्रंश का प्रभाव हुए एक खास परम्परा में चल रहे थे और इस परम्परा का जो मेल अवधी और भाषा से बैठता था, वह मेल खड़ी बोली से नहीं बैठता था। इस परम्परा से अनअथवा अप्रभावित रहने के कारण, खड़ी बोली की ओर ध्यान मुसलमान कवियों ही गया, क्योंकि यही वह भाषा थी जिसमें राजधानी के आसपास के लोग बात थे और यही वह भाषा थी जिससे उनकी नजदीकी जान-पहचान हो सकती थी। जयचन्द्र विद्यालंकार ने लिखा है कि "पंचाल (रुहेलखण्ड और कन्नौज) और (ब्रज) की बोलियों में से कोई एक सदा से भारत की राष्ट्र-भाषा बनती रही क्योंकि ये बोलियाँ तमाम आर्यावर्त्ती भाषाओं की केन्द्रवर्त्ती हैं।"[1] मुसलमानों के के समय इस प्रान्त में खड़ी बोली का प्रचार था। यही खड़ी बोली पहले मानों के द्वारा गृहीत हुई, क्योंकि मुसलमानों को यहाँ की भाषा की जरूरत थी, राजधानी के पास की भाषा आसानी से उनकी जबानपर चढ़ गयी और फिर बाद सारे भारत में समझी जाने लगी। आरम्भ के मुस्लिम शासक द्विभाषी थे। एक वे फ़ारसी बोलते थे। दूसरे, भारतीय भाषा के रूप में उन्होंने खड़ी बोली को कार किया एवं शासकों के द्वारा गृहीत हो जाने पर, खड़ी बोली का चलन, यकतानुसार, सारे देश में होने लगा।

यद्यपि, खड़ी बोली इसी देश के एक प्रान्त-विशेष के हिन्दुओं की ही बोली थी, मुसलमान शासकों और साहित्यिकों के द्वारा पहले अपनाये जाने के कारण,

---

४५२ का]

हूँ मैं मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख
दिल भरपूर रहे कहने जवाब से।
रे की न ताब, जान होत है कबाब, बोल,
यातो का आब, बोल मुख महताब से। —कुलपति (१६७० ई०)

आया इश्क लपेट में लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरैं सब्र पेट। —नागरीदास (१७५० ई०)

गुलगुली गिलमे गलीचा है, गुणीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला है। —पद्माकर (१८२० ई०)

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो "ग्वाल कवि"
खाव-पियो, देल-लेव, यही रहि जाना है।
आये परवाना पर चलै ना वहाना यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है। —ग्वाल (१८२० ई०)

कर छुए गुलाब दिखाता है, जो चौसर गूँथा बेली का।
पल बीच चम्पई रंग हुआ मुस्कान कुन्द रद केली का।
दृग स्याह मरीचि लपेटे ही रँग हुआ सोसनी सेली का।
जानी, यह तद्‌गुण भूषण है, पचरंगा हार चमेली का। —सीतल (१८००ई०)

[1] इतिहास-प्रवेश।

हिन्दू उसे, विशेष रूप से, मुसलमानों की भाषा समझने लगे। यही कारण था कि ज भी कोई हिन्दी-कवि खड़ी बोली लिखता था, तब उसके साथ अरबी और फारसी के दो-एक शब्द अवश्य मिला देता था।

यदि अपभ्रंश-काव्य को बाद देकर देखें, तो अवधी और ब्रजभाषा में साहित्य-रचना पीछे आरम्भ हुई; पहले वह खड़ी बोली में ही लिखी जाने लगी थी। अमी खुसरो का काव्य-काल तेरहवीं सदी में पड़ता है, जब कि "अवधी के प्रथम सन्त कवि कबीर १५वीं सदी में हुए। ब्रज में साहित्य-निर्माण, पन्द्रहवीं सदी के अन्त में, ज वल्लभाचार्य ब्रजमंडल में आकर रहने लगे, तब से आरम्भ होता है। मैथिली के ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य का वर्णरत्नाकर १४वीं सदी के आरम्भ का है। डिंग का पृथ्वीराज-रासो पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द का कहा जाता है, पर, इस ग्र का वर्त्तमान उपलब्ध रूप उस समय का नहीं है, और १६वीं सदी का हो सकता है।"[1]

उर्दू के आरम्भिक कवि

पंडित रामनरेश त्रिपाठी[2] और डॉक्टर बाबूराम सक्सेना[3] के मतानुसार उर्दू के पहले शायर वली हुए हैं। किन्तु, इधर के शोधों से अब यह माना जाने लगा है कि वली, यद्यपि, आरम्भ के बड़े कवि थे, किन्तु, दक्खिन में उनसे भी पहले दो-चार कवि हो चुके थे, जो फारसी छंदों में कविता लिखते थे।[4] श्री गोयलीयजी ने वली से पूर्व इब्राहीम आदिलशाह (१५७९-१६२६ ई०), मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०-१६१२ई०) सुलतान मुहम्मद कुतुबशाह (१६११-१६२५ ई०), सुलतान अब्दुल कुतुबशाह (१६२६-१६७४ ई०) एवं अबुल हसन तानाशाह को उर्दू का आदि कवि माना है। ये सभी कवि दक्षिण के मुस्लिम-राज्यों के राजे थे। स्वयं वली भी (१६६८-१७४४ ई०) औरं-गाबाद (दक्खिन) के रहने वाले थे। इस प्रकार, तथ्य यह निकलता है कि उर्दू का जन्म दिल्ली और आगरे में नहीं, प्रत्युत, दक्खिनी भारत में हुआ।

उर्दू का जन्म दक्षिण में क्यों हुआ?

उर्दू भाषा हिन्दू-मुस्लिम-एकता की भाषा के रूप में उत्पन्न हुई। यदि मुसलमान हिन्दुओं से अपनी पृथक्ता बनाये रखने का आग्रह करते, तो उन्हें यहाँ की देश-भाषाओं में लिखने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, यह सम्भव नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की भिन्नता इस बात पर आश्रित थी कि विदेशी मुसलमान कितनी अधिक संख्या में भारत आते हैं। किन्तु, यह संख्या कभी भी बहुत बड़ी नहीं हुई। तब भी, दिल्ली और आगरे में फारसी के श्रोता मिल जाते थे; कुछ तो इस कारण कि दिल्ली और आगरा इस्लामी संस्कृति के गढ़ थे और कुछ इस कारण कि बाहर से

---

[1] दक्खिनी हिन्दी; डॉ० बाबूराम सक्सेना।

[2] कविता-कौमुदी (चौथा भाग)।

[3] ए हिस्ट्री आव् उर्दू लिटरेचर।

[4] शेरो-सुख़न (अयोध्याप्रसाद गोयलीय) और पं० राहुल सांकृत्यायन के निबन्ध।

वाले मुसलमान, विशेषतः, इन्हीं केन्द्रों में ठहरते थे। अतएव, दिल्ली और आगरे मुस्लिम कवि या तो अवधी और ब्रजभाषा में लिखते थे अथवा शुद्ध फारसी में। परन्तु, दक्षिण में यह बात नहीं थी। असली मुसलमान सीमित संख्या में ही गये थे। बाकी मुसलमान वहाँ वे थे जो हिन्दू-वंशों से आये थे। यहाँ विदेशी मुसलमान भी कम पहुँचे, अतएव, इस्लाम की सांस्कृतिक कट्टरता, यहाँ अपेक्षाकृत धिक ढीली थी। दिल्ली और आगरे की खड़ी बोली इन्हीं मुसलमानों के साथ दक्षिण गयी और यही बोली वहाँ की राजभाषा हो गयी। फिर, राजभाषा होने के कारण, ड़ी बोली को दक्षिण के और लोग भी सीखने लगे।

दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य उत्तर की अपेक्षा कुछ अधिक पनपा, इस बात के उदाहरण हैं। अकबर से पूर्व ही, फिरोजशाह बहमनी ने दो हिन्दू महिलाओं से वाह किया था जिनमें से एक विजयनगर के राजा देवराय (प्रथम) की पुत्री थी। जापुर के यूसुफ आदिलशाह ने मराठा सरदार मुकुन्दराव की बहन से ब्याह किया एवं इस दम्पति की कन्याएँ पड़ोस के दक्खिनी शाही खानदानों में ब्याही गयी थीं, नमें से एक की उत्तराधिकारिणी सुप्रसिद्ध चाँद बीबी हुई। हिन्दू से मुसलमान होने ले लोग मंत्री, सरदार और राजा हो जाने पर भी, हिन्दुओं के यहाँ शादी-ब्याह रते रहे, इसके भी अनेक प्रमाण हैं। राजकाज में भी हिन्दुओं को ऊँचा पद देने में हाँ के मुसलमान राजाओं ने कोताही नहीं की। गोलकुण्डा के कुतुबशाही राजे हिन्दू त्री रखते थे। इसी प्रकार, यूसुफ आदिलशाह भी विश्वास के पदों पर हिन्दुओं की युक्ति उन्मुक्त भाव से करता था। बीजापुर का इब्राहीम आदिलशाह हिन्दुओं के ति इतना उदार था कि इसी गुण के कारण उसकी मुस्लिम प्रजा भी उसे "जगद्गुरु" हती थी। हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम की भावना इस भाग में इतनी सुदृढ़ थी कि कृष्णदेव- जब विजयनगर के राजा हुए, तब वे भी अपनी सेना में काफी मुसलमानों को ते थे।[1]

दिल्ली से दूर, दक्षिण में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के विकास का कारण यह था कि वहाँ स्लिम-शासन का सूत्रपात ही हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य से हुआ था। बहमन-वंश का प्रथम स्लिम शासक गंगू नामक ब्राह्मण के प्रति इतना श्रद्धालु और विनम्र था कि जब न् १३४७ई० में वह बादशाह बना, तब कृतज्ञता-स्वरूप गंगू ब्राह्मण की स्मृति को मर रखने के लिए वह अपने नाम के आगे गंगू बिरहमन लिखने लगा जिसका भ्रंश बहमन हो गया।[2] बहमन-वंश की बादशाहत के विनाश के बाद, बीजापुर,

---

[1] टेक्स्ट बुक आव् माडर्न इंडियन हिस्ट्री ; सरकार और दत्त।

[2] दौलताबाद पर अधिकार सन् १३४७ ई० में जाफर खाँ ने किया था। उसी ने बहमनी-वंश की नींव डाली। फरिश्ता ने लिखा है कि गंगू नामक एक ब्राह्मण ज्योतिषी दिल्ली में जाफर का सहायक रहा था। उसी के नाम पर जाफर ने बहमनी नाम चलाया था। अब लोग कहते हैं कि जाफर अपना सम्बन्ध ईरान के राजा बहमन शाह से जोड़ता था, इसीलिए, अपने खानदान का नाम उसने बहमनी रखा।

गोलकुण्डा और अहमदनगर, तीन छोटे-छोटे राज्य कायम हुए। किन्तु, इन राज्यों में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की बहमनी-परम्परा पूर्ण रूप से बनी रही। इन सारी बातों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर खूब निकट आ गये।

साम्प्रदायिक सद्भावना के इसी वातावरण में दक्षिण के मुस्लिम कवियों ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखनी शुरू कीं जिनके छन्द तो फारसी के, लेकिन, अधिकांश शब्द इसी देश के थे। आगरे और दिल्ली के मुस्लिम कवि, काव्य-रचना में, या तो विशुद्ध भारतीय रहे (जैसे कबीर, जायसी, उसमान, रहीम, रसखान, शेख, आलम, रसलीन, रसनिधि आदि) अथवा खालिस ईरानी। दक्षिण के मुसलमानों ने एक नया रास्ता निकाला जो ईरान की रागिनी को भारत की भाषा में अदा करने का रास्ता था। दक्षिण में वे अगर फारसी में लिखते तो उन्हें श्रोता मुश्किल से मिलते और अगर अवधी और ब्रजभाषा में लिखते तो उन भाषाओं का भी वहाँ चलन नहीं था। मुस्लिम-विजेताओं के साथ दक्षिण में आगरे और दिल्ली की ही बोली पहुँची थी। अतएव, उसी बोली में काव्य लिखने की बात मुस्लिम कवियों को उचित और आसान दिखायी पड़ी। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भारतीय मुसलमानों की मानसिकता कम-से-कम, तीन रूपों में दिखायी पड़ी। जो लोग अरबी-ईरानी संस्कृति से तनिक भी दूर जाना नहीं चाहते थे, उन्होंने अपनी सारी रचनाएँ फारसी में कीं। जिन मुसलमानों का विचार यह था कि भारतीय मुसलमानों का भाग्य भारत की बाकी जनता के भाग्य से मिलकर ही विकास पा सकता है, उनकी समस्त अथवा अधिकांश रचनाएँ अवधी, ब्रजभाषा या खड़ी बोली में मिलती हैं। लेकिन, बहुत-से लोग ऐसे भी थे जो फारसी, अवधी और ब्रजभाषा, तीनों को अनुपयुक्त समझते थे। फारसी को इसलिए कि उसके श्रोताओं की संख्या न्यून थी और औरंगजेब के बाद वह और भी न्यून हो गयी ; तथा अवधी और ब्रजभाषा को इसलिए कि उसमें लिखी गयी कविताओं पर अरब और ईरान का रंग नहीं चढ़ पाता था। इसी तीसरे प्रकार के मुसलमानों ने खड़ी बोली का ईरानीकरण आरम्भ किया जिससे उर्दू का जन्म हुआ है।

फारसी भाषा में अब जो छन्द चलते हैं वे फारसी में अरबी से लिये गये थे। ये ही छन्द दक्षिण के कवियों ने फारसी से लेकर खड़ी बोली में उतार दिये। लेकिन फारसी छन्द जिस आसानी से खड़ी बोली में फिट हो गये, उसी आसानी से अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सका। खड़ी बोली में जो कविताएँ सुलतान कुतुब अलीशाह ने लिखी हैं, उनमें फारसी और अरबी के शब्द बहुत थोड़े हैं।

तुज याद में जग मोहिया, है जग उपर तेरा मया।
जो जग मँगे :सो तूँ दिया, तूँ ही जगत का है दया।
चन्द्रमुख तुज, लाल लब है, दसन जूँ तेरे तारे हैं।
कहो यह चाँद काँ का है, किस आसमा थे उतारे हैं।[1]—कुली कुतुबशाह

---

[1] दक्खिनी हिन्दी।

दक्खिन के अन्य कवियों की भी भाषा यही है।

पिउ मूरत देखो सीने में, जब जागो तब रहूँ सपने में।
ला दीपक बिरहा अपने में, तन जाये झकझक जीने में।

—अली आदिलशाह

नहीं मुझसे पीत लगाये मन लेता रे।
अल्ला मुझे आशिक अपना तूं कैता रे।

—बुर्हानुद्दीन जानम

स्वयं वली की कविताओं में जो भाषा मिलती है, वह भी बहुत कुछ यही भाषा है।

बिरागी जो कहाते हैं उसे घर बार करना क्या ?
हुई जोगिन जो कोइ पी की उसे संसार करना क्या ?
जो पीवै पिर्त का पानी उसे क्या काम पानी सों ?
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आहार करना क्या ?

मतरूकात या बहिष्कार की नीति

जिन दिनों खड़ी बोली में दक्खिन के मुसलमान कवि यह साधना कर रहे थे, उन दिनों, वहाँ के राजे स्वतंत्र थे एवं दिल्ली का उनपर कोई बड़ा प्रभाव नहीं था। हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भाव वहाँ काफी मज़बूत था एवं साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नहीं थी। किन्तु, उन्हीं दिनों, उत्तर में औरंगजेब गद्दी पर आया और बाबर से लेकर शाहजहाँ तक एकता का जो पट बुना जा चुका था, उसके तानों-बानों को वह अलग करने में लग गया। सन् १६८६ई० में उसने दक्षिण के राज्यों पर अधिकार किया और औरंगाबाद को उसने अपना केन्द्र बनाया। अब आगरे और दिल्ली के मुसलमान दक्खिन अधिक जाने लगे एवं बीजापुर और गोलकुण्डा के शायर भी अब ज्यादातर, औरंगाबाद में ही रहने लगे। यहीं से उत्तर की साम्प्रदायिकता दक्षिण पहुँची और उसका प्रभाव कविता पर भी पड़ने लगा।

वली दो बार दिल्ली आये थे। एक बार सन् १६९०ई० में औरंगजेब के शासन-काल में और दूसरी बार सन् १७२४ई० में उसके मरने के बाद। दिल्ली में वली के काव्य-संग्रह का बड़ा आदर हुआ। दिल्ली में उन दिनों जो मुसलमान कवि फारसी में कविता कर रहे थे, उन्हें यथेष्ट पाठक नहीं मिलते थे। वलीके प्रयोग को देखकर उन्हें पता चला कि हिन्दी में भी वे भाव प्रभावपूर्ण ढंग से कहे जा सकते हैं जिनकी अभिव्यक्ति के लिए दिल्ली और आगरे के कवि फारसी का आश्रय ले रहे थे, यद्यपि, फारसी में लिखने और समझनेवालों की संख्या दिनों-दिन घटती जा रही थी। दिल्ली में तो शाह गुलशन ने (जो फारसी के शायर थे और वयोवृद्ध एवं समादरणीय व्यक्ति थे) वली को सलाह दी कि अपनी कविताओं में फारसी शब्द रखो तो इन कविताओं का रंग और भी निखर जाय[2] वली पर इस परामर्श का पूरा असर हुआ और बाद को

---

[1] दक्खिनी हिन्दी।

[2] देखिये, शेरो-सुख़न।

उन्होंने जी कविताएँ लिखीं, उनमें फारसी की प्रधानता हो चली। फिर भी, वली की पिछली गजलों में भी, हिन्दी का थोड़ा-बहुत रंग मौजूद ही रहा—

लिया है जब सूँ मोहन ने तरीका खुदनुमाई का।
चढ़ा है आरसी पर तब से रंग हैरत-फिजाई का।

उत्तरी भारत में उर्दू कवियों में 'फाइज' सबसे प्राचीन माने जाते हैं। ये वली के समकालीन थे और, वली की ही तरह, उनकी कविताओं में भी हिन्दी के शब्द मौजूद मिलते हैं। शेरो-सुख़न में इनकी जो थोड़ी-सी पंक्तियाँ उद्धृत हैं, उनमें नयन, भवाँ, पलक, सजीले, मुख, छब, राम-राम, केवल, कली, चम्पा, अनूप, रूप, सरूप, ये सभी शब्द आये हैं। ऐसा लगता है कि वली को हिन्दी-शब्दों का बहिष्कार करने का जो परामर्श दिल्ली में दिया गया था, वह अप्राकृतिक था और खुद दिल्ली के शायर भी जब तक हिन्दी शब्दों को दूर रखने के लिए लाठी लेकर तैयार नहीं हो जाते, तब तक हिंन्दी शब्दों को रोकना उनके लिए कठिन होता था। उर्दू हिन्दू-मुस्लिम-सामासिक-संस्कृति की भाषा बनकर आ रही थी और फारसी छन्दों को देशज शब्दों से तैयार करने की ओर उसका स्वाभाविक झुकाव था। लेकिन, दिल्ली के शायर फारसी पर फिदा थे। उनकी श्रुति-चेतना कविता में देशज शब्दों का प्रयोग सह नहीं सकती थी। यह समय भी अकबर का नहीं, औरंगजेब का था। अतएव, शायरों को यह सूझा ही नहीं कि उर्दू को उसके स्वाभाविक विकास के मार्ग पर जाने देना चाहिये। मन से वे ईरानी बने रहना चाहते थे, इसलिए, उर्दू को ईरानी भावनाओं, मनोदशाओं एवं विचारों का माध्यम बनाने के प्रयास में उन्होंने चुन-चुन कर हिन्दी-शब्दों को उर्दू गजलों से निकालना शुरू किया और तब तक दम नहीं लिया जब तक हिन्दी के सारे शब्द दूर नहीं हो गये। "दक्खिनी हिन्दी के कवियों में संस्कृत और हिन्दी के बहुत अधिक शब्द मिलते हैं, जिन्हें आगे चलकर कम-से-कम करते-करते अन्त में, व्याकरण को ही हिन्दी रहने दिया गया।"[1] "कुछ थोड़े-से मुसलमान शायरों और शाहजादों ने हिन्दी में से हिन्दवी-पन और हिन्दी के शब्द निकाल-निकाल कर अरबी-फारसी के तत्सम और अप्रचलित शब्दों की भरमार कर एक नयी बनावटी जबान उर्दू बना ली।"[2] उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को निकाल कर हुआ। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब तक खड़ी बोली में हिन्दी और संस्कृत के शब्द बने रहे, तब तक उसका प्रचलित नाम भी हिन्दी, हिन्दवी अथवा रेख्ता ही रहा। किन्तु, जब इस भाषा पर फारसी और अरबी का पूरा प्रभुत्व हो गया, तब से वह उर्दू कहलाने लगी।[3] वली

---

[1] राहुल सांकृत्यायन; नया समाज, अप्रेल १९५१ ई०।

[2] साहित्य-चिन्तन: डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा।

[3] राष्ट्रवीणा के अप्रेल, १९६२ ई० वाले अंक में पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि तुर्किस्तान के लोग खानाबदोश की तरह साल भर घूमते-फिरते रहते थे। इनकी घर-गिरस्ती छकड़ों पर लदी चलती थी। ये जहाँ डेरा डाल

[शेष पृष्ठ ४५९ पर]

ह की भाषा के विषय में लिखते हुए सुनीति बाबू ने कहा कि "तब की भाषा पश्चा-
लीन उर्दू की तरह फारसी से बिलकुल लदी हुई नहीं थी। फारसी के शब्द अपेक्षा-
कम संख्या में मिलाये जाते थे। एक पंक्ति में कहीं-कहीं छितरे हुए (रेख्ता)
थे। इसलिए, आधुनिक उर्दू-हिन्दुस्तानी पद्य की भाषा का आद्य रूप 'रेख्ता'
लाता था।"

डॉक्टर बाबूराम सक्सेना ने लिखा है[1] कि वली की भाषा में जो "भाषा" के शब्द
, उनमें से अनेक ऊटपटाँग और असुन्दर थे तथा कला की कृतियों में वे खपाये नहीं
सकते थे। इसलिए, उर्दू के कवि, पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनका बहिष्कार करते गये और
में, उन्होंने अपनी पसन्द की एक भाषा खड़ी कर ली। फिर उन्होंने यह भी कहा
कि "भाषा" के सभी शब्दों का निकालना अच्छा नहीं हुआ। किन्तु, सोचने की बात
ये शब्द क्यों निकाले गये? कला की कौन वह प्रवृत्ति थी जो भाषा के शब्दों से
कर घबराने लगती थी? जब तक भारतीय भावों का आख्यान कवियों का
रहा, वे (जायसी, कबीर, रहीम, रसखान आदि) भाषा के शब्दों का आदर करते
। किन्तु, जभी यह ध्येय प्रमुखता पाने लगा कि भाषा हिन्दुस्तान की और भाव
के होने चाहियें, तभी भारतीय शब्दों का स्थान अरबी और फारसी के शब्द लेने
। यदि उर्दू का जन्म अकबर के समय हुआ होता तो बहिष्कार की नीति मुसल-
कवियों को सूझती ही नहीं। मतरूकात की नीति पर चलने की प्रेरणा उन्हें इस-
मिली कि जब उर्दू का जन्म हो रहा था, तब इस देश की राजनीति साम्प्रदायिक
थी और उस राजनीति का प्रभाव साहित्य पर भी जोरों से पड़ा।

एक दूसरा कारण यह भी हुआ कि उर्दू के विकास का काल, संयोग से, मुगल-
मा के ह्रास के समय पड़ गया। जब उर्दू का निर्माण हो रहा था, उस समय देश
ल्तनत टूटकर खंड-खंड होती जा रही थी। राजे विलासी और दरबारी पातकी
थे। कवियों का जनता से तो कोई सम्बन्ध था ही नहीं, वे सन्त-सुधारकों के
लन से भी दूर थे। ऐसे कवियों में जीवन की सीधी सच्ची प्रेरणाएँ उठें यह
भव बात है। परिणाम यह हुआ कि फारसी के जो भाव इन कवियों ने देखे थे,

---

पृष्ठ ४५८ का]

ते, उसे उर्दू कहते थे। जब ये डेरे या छावनियाँ बड़ी हो जातीं, तब वे उर्दू कह-
लाती थीं। मुगलों के समय भारतीय सेना में तुर्कों की संख्या बहुत अधिक
रहती थी। ये जो भाषा बोलते थे, वह थी तो भारत की ही भाषा, लेकिन,
उसमें ये अपने शब्द मिला दिया करते थे। ये ही लोग पुराने अभ्यास के कारण
अपने डेरों को उर्दू कहने लगे। इसी से, उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा का नाम उर्दू हो
गया। इसी कारण मुसलमानी हिन्दी का नाम उर्दू पड़ गया और जिस हिन्दी
शब्द का व्यवहार हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों की भाषा के लिए होता था,
वह केवल हिन्दुओं की हिन्दी के लिए रह गया।

[1] ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर।

उन्हीं के अनुकरण पर, वे उर्दू को सजाने लगे और सारा उर्दू-साहित्य भारतीय जीव से दूर, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रेरणाओं से रहित, फारसी का नि जूठन-मात्र हो गया। वली से लेकर गालिब तक (तत्कालीन हिन्दी कवियों के समान) उर्दू का कोई भी कवि ऐसा नहीं हुआ जिसमें अन्याय का विरोध करने की उमंग रही हो अथवा जो कभी यह देखने की भी चिन्ता करे कि जिस समाज में व पल रहा है, उसका हाल क्या है। इनकी कविताओं में प्रेम और विरह के जो बखान हैं, सभी झूठे हैं, सभी ख्याली हैं। सच्चा स्वर अगर है तो निराशा का सभी कवियों में खुशनुमा और रंगीन दिखायी देता है। धार्मिक या सामाजिक चेतन के अधिक-से-अधिक पास, इस काल में केवल अनीस और दबीर पहुँचते हैं जिन मर्सियों में, और नहीं तो, इस्लाम की गरिमा को कुछ ताजा कर देने की शक्ति अक्ष है। या फिर उर्दू-कविता का सामाजिक पक्ष नज़ीर अकबराबादी की रचनाओं में उभ उठा। जैसे बीसवीं सदी में महाकवि अकबर ने सम्राट् अकबर के हिन्दू-मुस्लिम-एक के स्वर को ताजा किया, वैसे ही, अठारहवीं सदी के अन्त में महाकवि नज़ीर ने इ एकता की लता को निश्छलता से सींचा। इसलिए, इन दोनों कवियों को केव मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी अपने प्यारे कवि मानते हैं।

काव्य में जब भी शैली प्रधान हो उठती है और भाव गौण हो जाते हैं, त कविता जन-जीवन से दूर होने लगती है। यह कहना, शायद, सत्य ही है कि उर्दू कवि कला के शौक में ही भारत से निकल कर ईरान चले गये। फिर तो उर्दू स्टैंडर्ड इतना विचित्र हो उठा कि नज़ीर अकबराबादी-जैसे कवि भी श्रेष्ठ कवियों पंक्ति से बहिष्कृत माने जाने लगे। उर्दू के आलोचक इसका कारण यह बताते हैं कि नज़ीर उर्दू-ए-मुअल्ला के मालिक नहीं हैं, यानी उन्होंने फ़सीह और टकसाली उर्दू नहीं लिखी है। लेकिन, बहुत-से लोग यह मानते हैं कि उर्दू के अदीबों ने नज़ीर अकबर-वादी का उचित सम्मान इसलिए नहीं किया कि उनके अधिकांश विषय भारतीय हैं और भारतीय शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने धड़ल्ले से किया है। "मौलाना हाली और नज़ीर, दोनों का एक पाप तो यह था कि वे दिल्ली में पैदा नहीं हुए थे और दूसरा यह कि उनकी जबान में हिन्दी के अलफ़ाज़ भी होते थे, यद्यपि, यह किसी ने स्वीकार नहीं किया है, तथापि मौ० हाली ने नज़ीर की चर्चा में गुप्त रूप से यह बात कह डाला है। अनीस के बारे में लिखते हुए मौ० हाली ने कहा है, 'अगरचे नज़ीर अकबरा-बादी ने शायद, मीर अनीस से ज्यादा अलफ़ाज़ इस्तेमाल किये हैं, मगर, उनकी जबान को अहले-जबान कम मानते हैं।' इसमें नज़ीर का क्या कसूर ? यह उर्दू शोअरा के तअस्सुब के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?" (अ०प्र०वा०)।

खड़ी बोली में से इस देश के शब्दों का निकाला जाना अच्छा नहीं हुआ। इससे एक तो उर्दू नकली भाषा बन गयी। दूसरे, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की जो सेवा इस भाषा के द्वारा हो सकती थी, वह केवल इसी कारण न हो सकी कि कवियों ने इस भाषा का रुख अरब और ईरान की ओर फेर दिया। इस स्थिति पर विलाप करते हुए मौलाना

म्मद हुसैन आजाद ने लिखा है कि "उर्दू में फ़ारसी का रंग बहुत तेज़ी से आया। ह रंग अगर उसी क़दर आता कि जितना चेहरे पर उबटने का रंग या आँखों में ता तो ख़ुशनुमाई और बीनाई (नेत्र-ज्योति) दोनों को मुफ़ीद होता। मगर, अफ़-न कि फ़ारसी की शिद्दत (अधिकता) ने हमारे क़ूवते-बयान और आँखों को सख़्त सान पहुँचाया। और ज़बान (भाषा) को खाली बातों से फ़क़त तवह्हुमात का राब (खोखला रूप) बना दिया। नतीजा यह हुआ कि भाषा और उर्दू में जमीन-समान का फर्क हो गया।"[1]

कभी-कभी मन में यह विचार आता है कि क्या उर्दू के कवियों ने हिन्दुत्व से अलग हने को ही उर्दू को फारसी शब्दों से भर दिया? क्या, सचमुच ही, उर्दू का ईरानी-रण औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति का परिणाम था? किन्तु, सच बात यह है कि ऐसा कहने का सुदृढ़ और सुनिश्चित आधार नहीं है। उर्दू, आरम्भ से ही, ईरानी पि में लिखी जाती थी। लिपि-साम्य होने के कारण, वह अरबी और फारसी ी तरह, विशेष रूप से, मुस्लिम-संस्कृति की भाषा मानी जाने लगी और इसी पि-साम्य के चलते, उर्दू के कवियों का ध्यान हिन्दी की अपेक्षा फारसी और अरबी ब्दों की ओर अधिक जाने लगा। फारसी शब्दों के "इस प्रकार के अधिकाधिक मावेश से एक तो लेखक के धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता ा और दूसरे, लेखक को अपने 'मुसलमानी-भाषा' के पांडित्य-प्रदर्शन का अवसर लता था। इस प्रकार, हिन्दुओं की भाषा हिन्दवी को, उत्तर भारतीय मुसलमानों ी इच्छा एवं झुकाव के अनुरूप, मुसलमानी स्वरूप दे दिया गया।"[2]

डॉक्टर अब्दुल हक़ साहब ने लिखा है कि "अगर उर्दू को अदबी निश्व-नुमा हित्यिक विकास) दकन में हासिल न हुई होती तो बहुत मुमकिन था कि बजाय रसी अरूज़ के हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआ-ब-ए-गंगो-जमुन में आसपास हिन्दी थी र मुल्क की आम जबान थी।" लेकिन, दक्खिन के उर्दू-कवि वली को दोआब ही शायरों ने समझाया था कि अपनी ग़ज़लों में अरबी और फ़ारसी के शब्द धिक रखो।

न्दी से उर्दू या उर्दू से हिन्दी?

जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी उर्दू से निकली है, उन्हें यह भी कहना चाहिए हिन्दुस्तान अरब और ईरान के पेट में था। वहीं से कढ़कर वह हिमालय और द-महासागर के बीच फैला है। "हिन्दी से उर्दू बनी है, उर्दू से हिन्दी नहीं। हिन्दी अरबी, फारसी, तुर्की शब्द बढ़ा देने और फारसी मुहावरे चला देने से उर्दू का जन्म आ है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी के बिना उर्दू एक पग नहीं धर सकती और उर्दू बिना हिन्दी के महाग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।" (अ०प्र० वाजपेयी)।

यह मत केवल हिन्दी के ही विद्वानों का नहीं है, बल्कि, उर्दू के भी निष्पक्ष विद्वान मानते हैं कि उर्दू का जन्म हिन्दी से हुआ है एवं हिन्दी की सहायता के बिना उर्दू

---

[1] रो-सुख़न में "आबेहयात" से उद्धृत।

[2] डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी।

जी ही नहीं सकती। "वज़-ए-इस्तलाहात" (परिभाषा-निर्माण) नाम की अपनी पुस्तक में उस्मानिया कालेज के भूतपूर्व प्रोफेसर मौलवी वहीदुद्दीन साहब "सलीम" पानी-पती मरहूम ने लिखा है कि उर्दू जिस ज़मीन पर खड़ी है वह ज़मीन हिन्दी की है। "इसी जमीन पर फारसी और अरबी के पौधे लगाये गये हैं। इसी तख्ते पर गैरज़बानों ने (दूसरी भाषाओं ने) आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन यानी हिन्दी निकाल दी जाय तो फिर उर्दू ज़बान का नामोनिशान भी बाक़ी नहीं रहेगा। हिन्दी को हम अपनी जवान के लिए उम्मुल्लिसान (भाषा की जननी) और हयूलाये-अव्वल (मूलतत्त्व) कह सकते हैं। इसके बगैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं है। इसकी मदद के बगैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं रखते, वह उर्दू ज़बान के हामी नहीं हैं, फ़ारसी, अरबी या किसी दूसरी ज़बान के हामी हों तो हों।"[1]

उर्दू और हिन्दी के बीच जो भेद बढ़ा, उसकी जिम्मेवारी उर्दू-कवियों के माथे मढ़ी जानी चाहिये यह मत डॉक्टर अब्दुल हक़ का भी था। उन्होंने लिखा है, "बाद के उर्दू शोअरा (शायरों) पर फ़ारसी का रंग ऐसा ग़ालिब आया कि यह खुसूसियत (विशेषता) उर्दू शायरी से बिलकुल उठ गयी और रफ़्ता-रफ़्ता बहुत-से हिन्दी अलफ़ाज़ (शब्द) ज़बान से ख़ारिज हो गये और **उस्तादी अलफ़ाज़ के मतरूक (परित्यक्त)** करने में रह गयी।"[2]

अचरज की बात है कि इतना होने पर भी, अनेक विद्वान् यह कह बैठते हैं कि बहिष्कार की नीति से हिन्दी का जन्म हुआ है,[3] उर्दू का नहीं। अर्थात् भाषा तो इस देश की हमेशा से फारसी-अरबी-मिश्रित थी, हिन्दीवालों ने ही उसमें फारसी और अरबी शब्दों को चुन-चुन कर बाहर फेंक दिया और एक कृत्रिम भाषा, हिन्दी उत्पन्न कर ली। अवश्य ही, ऐसी बातें इसलिए कही जाती हैं कि हिन्दी और उर्दू की एकता बढ़े। किन्तु, एकता की सेवा भी सचाई से ही की जा सकती है। असत्य के प्रचार से जैसे जीवन के अन्य मूल्य नष्ट होते हैं, वैसे ही, एकता और प्रेम भी।

साधु हिन्दी की परम्परा

हिन्दी उर्दू की तुलना में नयी भाषा नहीं है, न वह उर्दू में से फारसी और अरबी शब्दों को निकालकर बनायी गयी है। बुज़ुर्ग-बिन-शहरयार (अरब) की लिखी किताब "अजायबुल हिन्द" में लिखा है कि "अब्दुल्लाह इराकी ने हिन्द के राजा अलूरा के लिए सन् २७० हिजरी (सन् ८९२ई०) में कुरान का हिन्दी जवान में तर्जुमा किया था।"[4]

---

[1] हिन्दी पर फारसी का प्रभाव।

[2] वही

[3] "Modern High Hindi was developed from Urdu by the ejection of Persian words and substitution of those of Sanskrit origin". (डॉ० बाबूराम सक्सेना-कृत ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर।)

[4] कविता-कौमुदी, चतुर्थ भाग (भूमिका)।

लिंजर के राजा नन्द ने सन् ४१३ हिजरी (१०३५ई०) में सुलतान महमूद की शान हिन्दी में लिखकर शेर भेजा था। हिन्दी के कवि जिस भाषा में कविता लिखते थे, भाषा या भाखा कहलाती थी। लेकिन, बोलचाल की भाषा दूसरी थी। इसी भाषा हिन्दू और मुसलमान बातचीत तथा साधारण लिखा-पढ़ी भी करते थे। इसका चलन ों में कम, नगरों में अधिक था। इसी से यह भाषा नागरी भी कहलाती थी। रम्भ में इस भाषा में भी संस्कृत शब्द ही अधिक चलते थे। संस्कृत शब्दों पर स्लिम बादशाहों का भी प्रेम था, क्योंकि संस्कृत शब्द ही इस देश में अधिक समझे ते थे। साम्प्रदायिकता से पीड़ित बादशाह औरंगजेब भी हिन्दी शब्दों के सौन्दर्य पहचानता था जिसका प्रमाण यह है कि एक बार जब उसके बेटे मुहम्मद आज़म-ह ने उसे कुछ आम भेजे और उनका नामकरण करने का अनुरोध किया, तब औरंगजेब ने उनके नाम 'सुधारस' और 'रसनाविलास' रखे थे।"[1]

डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "मआसिरे-आलमगीरी के अनुसार, ६९०ई० के आरम्भ में जब औरंगजेब दक्खिन में था, तब बड़ी दूर बंगाल से एक लमान प्रवास करता हुआ बादशाह से मिलने कृष्णा नदीवाले प्रदेश में पहुँचा और हाँ पहुँच कर उसने बादशाह से कहा—'आप मुझे अपना मुरीद बना लीजिए।' इस र औरंगजेब ने उसे निम्न देशज पद्य की पंक्तियाँ कह कर फटकारा :—

टोपी लेन्दे, बावरी देन्दे, खरे निलज्ज।
चूहा खान्दा बावली, तू कल बंधे छज्ज॥

र्थात् तुम अपने लम्बे बालों को छोड़कर (फकीर की) टोपी लेना चाहते हो। अरे रे निर्लज्ज! तुम्हारा घर तो चूहा खाये जा रहा है और तुम कल उस पर छप्पर ने की बात करते हो।"

औरंगजेब की साम्प्रदायिकता सिद्ध तथ्य है; फिर भी, उसके मुख से हिन्दी के शब्द निकलते थे, इसका कारण यह था कि औरंगजेब के पूर्व, साम्प्रदायिक भाषा जन्म नहीं हुआ था। वह तब बनी, जब यहाँ की राजनीति दूषित होने लगी।

सच बात यह है कि जब मुसलमान आये, तब यहाँ भाषा दो रूपों में चल रही जिनमें से एक का उदाहरण चन्द, विद्यापति आदि की कविताओं में है और दूसरे खुसरो की पहेलियों और मुकरनियों में। उस समय तक, हिन्दी वालों के यहाँ खड़ी ली काव्य-भाषा के रूप में गृहीत नहीं हुई थी। सारे देश के हिन्दी कवि उस समय ज या अवधी में लिखते थे, जिसमें रहीम, रसखान, मुबारक, आलम और शेख ने भी विताएँ लिखीं।

अकबर ने जिस सामासिक संस्कृति पर जोर दिया, वह ईरानी कम, भारतीय ौलिक थी। यही वह संस्कृति थी, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम-एकता की वास्तविक झलक खायी देती थी। इस संस्कृति के पोषक मुसलमान इस देश की भाषा को अपनी ा मानने लगे थे। "१६वीं सदी के अन्त तक, सभी भारतीय मुसलमान (विदेशी, ज अथवा मिश्रित रक्तवाले) फारसी को एक विदेशी भाषा के रूप में अनुभव करने गे थे और देशज भाषाओं को पूर्णतया स्वीकार कर चुके थे। और जब उन्होंने उत्तरी

---

[1] कविता कौमुदी, चतुर्थ भाग (भूमिका।)

भारत में देश की भाषा में रचना करना आरम्भ किया, तब उन्होंने देशज भाषाओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित ब्रजभाषा को ही चुना।" (डॉ० सुनीतिकुमार)।

मुस्लिम-काल में हिन्दी स्वतन्त्र भाषा के रूप में जीवित थी, इसका एक प्रमाण यह भी है कि मुस्लिम बादशाह अपने कार्यालयों में फारसी-नवीस के साथ हिन्दी-नवीस भी रखते थे। प्रत्युत, राज्य से जन-सम्पर्क की भाषा हिन्दी ही थी और हिसाब-किताब भी हिन्दी में ही रखे जाते थे। फारसी की, राज्य-भाषा के रूप में, घोषणा अकबर ने की और वह भी राजा टोडरमल के आग्रह के कारण।

उन्नीसवीं सदी की समाप्ति के पूर्व तक, उर्दू नाम का चलन साहित्यिक धरातल पर नहीं था। हिंन्दी-क्षेत्रों की भाषा का नाम लोग हिन्दी ही जानते थे जिसके प्रमाण अनेक कवियों की कविताओं में मिलते हैं।[1]

हिन्दी और उर्दू का गद्य

यदि गद्य की बात ली जाय तो भी यह कहने का कोई आधार नहीं है कि उर्दू गद्य का निर्माण और चलन पहले हुआ एवं उस गद्य में से फारसी और अरबी के शब्द हटा-कर हिन्दी भाषा बाद को गढ़ ली गयी। डॉ० रामबाबू सक्सेना के अनुसार, उर्दू-गद्य का प्राचीनतम प्रमुख उदाहरण फ़ज़ली का लिखा हुआ "दह-मजलिस" नामक ग्रन्थ है जिसकी रचना सन् १७३२ ई० में हुई थी। किन्तु, इसे सक्सेना महोदय कोई उत्कृष्ट या साफ गद्य का उदाहरण नहीं मानते। वे केवल यह कहते हैं कि दह-मजलिस ही उर्दू-गद्य का प्राचीन-से-प्राचीन उपलब्ध उदाहरण है।[2] और उनका ऐसा मानना ठीक भी है क्योंकि "दह-मजलिस" पर तुकबाजी सवार है एवं लेखक स्वयं भी मानता है कि उसके पाँव लड़खड़ा रहे हैं।

दह-मजलिस के गद्य का एक उदाहरण कविता-कौमुदी (चतुर्थ भाग) में उद्धृत है जो इस प्रकार है:—

"फिर दिल में गुजरा कि ऐसे काम को अक्ल चाहिये कामिल और मदद खि तरफ की होय शामिल। लिहाजा कोई इस सनअत का न हुआ और अब तक तर्जुमः फारसी ब-इबारते-हिन्दी नस्र न हुआ।"

---

[1] शर्मो-हया दर हिन्दी लाज।
हासिल कहिए बाज खिराज। —खुसरो।
अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि। —जायसी।
मतलब को मेरे यार न समझे तो क्या अजब ?
सब जानते हैं, तुर्क की हिन्दी जबाँ नहीं। —आतिश (मृत्यु १८४५ ई०)

[2] The earliest specimen of note of Urdu prose is DAH-MAJLIS, written by one, Fazli in 1145 A.H. or 1732 A. D. in the reign of Muhammad Shah. Its only value is that it furnishes the earliest specimen of any of Urdu prose now extinct........the style is crude and immature. (ए हिस्टरी आव् उर्दू लिटरेचर।)

ष्ट है कि फ़ज़ली समझ रह थे कि वे हिन्दी ही लिख रहे हैं, क्योंकि उर्दू नाम का न उस समय था ही नहीं।

इस प्रसंग में देखा जाय तो हिन्दी-गद्य की परम्परा वहुत पीछे तक पहुँचती है। न्दी में प्राचीन गद्य के उदाहरण तीन शैलियों में मिलते हैं। एक तो ब्रजभाषावाली शैली , जिसके अन्दर कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थ (१३५०ई०) भी आते हैं। किन्तु, इस शैली पुष्ट प्रमाण पुष्टि-मार्ग के साधक बिट्ठलनाथ और गोकुलनाथ-लिखित, क्रमशः, "शृङ्गाररस-मंडन," "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "दो सौ वावन वैष्णवन की र्ता" आदि हैं। ये ग्रन्थ बोलचाल की ब्रजभाषा में लिखे गये हैं तथा इनमें छिट-ट फ़ारसी के भी शब्द हैं, जो उस समय तक प्रचलित हो गये थे। नाभादासजी का ष्टयाम" (१६००ई० के वाद का), वैकुण्ठमणि शुक्ल का "अगहन-माहात्म्य" और शाख-माहात्म्य" (१६२३ई०) तथा किसी अज्ञात लेखक का "नासिकेतोपाख्यान" १७००ई० के वाद का) ब्रजभाषा गद्य के स्वच्छ उदाहरण माने जाते हैं। इसी शैली सन् १७१०ई० में सूरति मिश्र ने "वैताल-पच्चीसी" लिखी तथा सन् १८०० ई० लगभग लाला हीरालाल ने "आईने अकवरी" का "भाषा-वचनिका" नाम से नुवाद किया। इनके सिवा, काव्यों पर कुछ टीकाएँ भी ब्रजभाषा-गद्य में की गयी , किन्तु, उनका, शैली के विकास की दृष्टि से, कोई खास महत्त्व नहीं है। फोर्ट लियम में अँगरेजों के अधीन हिन्दी-गद्य का काम सँभालनेवाले लल्लूलालजी गद्य की धारा के लेखक हुए हैं और उन्होंने राजनीति (१८०९ई०) तथा माधोविलास ८१७ई०) नाम से जो दो ग्रन्थ लिखे, वे हिन्दी में ब्रजभाषावाली गद्य-धारा के अन्तिम दाहरण हैं। किन्तु, यह धारा लल्लूलालजी तक ही आकर अवरुद्ध हो गयी। आज जिस गद्य का प्रयोग करते हैं, वह खड़ी बोली का गद्य है।

सच पूछिये तो ब्रजभाषा का गद्य कोई सुगठित गद्य नहीं था। यह भाषा काव्य की थी। गद्य की परम्परा के नहीं रहने के कारण, इसका गद्य कभी गठन नहीं पा सका। ब्रजभाषा के ही समान, राजस्थानी गद्य के भी उदाहरण बारहवीं-तेरहवीं शती से मिलने लगते हैं, किन्तु, राजस्थानी का भी गद्य सदैव दुर्वल रहा। इस गद्य में त की समासंयुक्त शैली, अपभ्रंश, खड़ी बोली और ब्रजभाषा, सब का प्रभाव श्रित है और सवने मिलकर इस गद्य की शक्ति को घटाया ही है, वढ़ाया नहीं।

खड़ी बोली में गद्य का आरम्भ अकवर के समय में हो गया था, इसका प्रमाण गंग वि का "चन्द छन्द वरनन की महिमा" है। गंग की गद्य-भाषा उर्दू नहीं हिन्दी है।[1]

---

[1] "सिद्धिश्री १०८ श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकवर साहिजी आम-खास में तख्त ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुरनिश वजाय जुहार करके अपनी-अपनी वैठक पर वैठ जाया करें और अपनी मिसल से। जिनकी वैठक नहीं, सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहें।" —चन्द छन्द वरनन की महिमा से।

ऐसा लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय हिन्दी खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा हो चली थी, यद्यपि, गद्य-निर्माण की ओर लोगों की अभी दृष्टि नहीं थी।

किन्तु, इन उदाहरणों को हम हिन्दी-गद्य के सुनिश्चित आरम्भ का प्रमाण नहीं मानते, यद्यपि, गंग की भाषा में हिन्दी-गद्य का रूप काफी सुस्पष्ट दीखता है। हिन्दी-गद्य का, निश्चित रूप से, सुस्पष्ट प्रमाण हमें रामप्रसाद निरंजनी के "भाषा-योग-वाशिष्ठ" नामक ग्रन्थ में मिलता है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-गद्य का आदि-ग्रन्थ कहा है। रामप्रसाद निरंजनी पटियाले के थे और सन् १७४१ ई० में उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया था। "दह-मजलिस" से, यद्यपि, यह ग्रन्थ दस साल बाद का है, किन्तु, इससे यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है कि "खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया, उससे सर्वथा स्वतन्त्र वह अपने प्रकृत रूप में भी ढाई सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम में आ रही है।" (पं० रामचन्द्र शुक्ल)।

निरंजनीजी की भाषा और आज की प्रचलित हिन्दी में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। "भाषा-योग-वाशिष्ठ" के गद्य का एक सुव्यवस्थित उदाहरण इस प्रकार है :—

"हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है। मलीन वासना को छोड़कर जब तुम स्थित हो तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्म-तत्त्व पाया है, वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्म-तत्त्व को देखो। तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बन्धन में न आओगे।"

यह सच है कि योग-वाशिष्ठ में प्रयुक्त भाषा की प्रांजलता सर्वत्र इस कोटि तक नहीं पहुँचती, किन्तु, आज के-से प्रांजल हिन्दी-गद्य का रूप भाषा-योग-वाशिष्ठ में अनेक स्थलों में वर्त्तमान है। इस बात से हिन्दी गद्य की प्राचीनता सहज ही प्रमाणित हो जाती है। क्या डॉ० बाबूराम सक्सेना अथवा किसी अन्य विद्वान के पास कोई प्रमाण है जिससे यह समझा जाय कि "भाषा-योग-वाशिष्ठ" से पूर्व, उर्दू-गद्य का निर्माण हो गया था और उसमें से फारसी और अरबी शब्दों को निकाल कर वर्तमान साधु-हिन्दी का रूप तैयार किया गया?

फ़ज़ली की "दह-मजलिस", यद्यपि, "भाषा-योग-वाशिष्ठ" से दस साल पुरानी मानी जायगी, किन्तु, उसका गद्य ठीक-ठीक गद्य नहीं है। वह तो गंग के "चन्द छन्द वरनन की महिमा" से भी दुर्बल और अस्तव्यस्त है। असल में, उर्दू काव्य-भाषा के रूप में उठी और कविता में ही उसका परिमार्जन होता रहा। दह-मजलिस में फारसी-मिश्रित गद्य का प्रथम प्रयोग है। इसीलिए, उस पुस्तक की भाषा तुर्की की "रेशमी लूमें" पकड़ कर लँगड़ा-लँगड़ा कर चलती है। इसके विपरीत, भाषा-योग-वाशिष्ठ की भाषा पूर्ण रूप से "शृङ्खलाबद्ध, साधु और व्यवस्थित" है। यह भी ध्यान देने की बात है कि योग-वाशिष्ठ के गद्य में जो प्रौढ़ता है, वह रामप्रसाद निरंजनी की आकस्मिक सृष्टि नहीं रही होगी। ऐसी प्रौढ़ता काफ़ी दिनों के अभ्यास और परिमार्जन से ही उत्पन्न हो

ती है। अतएव, इस अनुमान से भागना असम्भव है कि मुसलमान चाहे जैसी भी लिखते या बोलते रहे हों, किन्तु, हिन्दुओं के यहाँ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की परम्परा र चली आ रही थी। उसी हिन्दी का व्यवस्थित और परिपुष्ट रूप हम योग-ष्ठ में देखते हैं। यदि जनता की रुचि की बात को लें तो वह इतने से ही प्रत्यक्ष कि, प्रकाश में आते ही, योग-वाशिष्ठ का प्रचार गाँवों में उसी व्यापकता से हो गया व्यापकता से राम-चरित-मानस और सुखसागर का प्रचार हुआ था।

इसी प्रकार, सन् १७६१ई० में मध्य-प्रदेश-निवासी पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य-जैन "पद्म-पुराण" का भाषानुवाद किया। इस ग्रन्थ की भाषा योग-वाशिष्ठ की के समान व्यवस्थित तो नहीं है, किन्तु, इससे भी यह बात प्रमाणित होती है कि दुओं के यहाँ खड़ी बोली के जिस रूप का प्रचार था, उसमें व्रजभाषा और अवधी पुट तो रहता था, किन्तु, फारसी और अरबी के शब्द उसमें नहीं चलते थे।

ग्रामों में प्रचलित तीसरे प्राचीन गद्य-ग्रन्थ "सुखसागर" की रचना मुंशी सदासुख-"नियाज़" ने की थी, जो दिल्ली के रहनेवाले थे तथा जिनका जन्म सन् १७४६ई० तथा मृत्यु सन् १८२४ई० में हुई। सुखसागर की भाषा भी योग-वाशिष्ठ की के समान ही संस्कृतनिष्ठ एवं व्यवस्था-युक्त है। यथा :—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि, ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने भला माने।"

सुखसागर की रचना अठारहवीं सदी के अन्त में हुई और उन्नीसवीं सदी के से ही उसका गाँवों में प्रचार होने लगा। क्या कोई कह सकता है कि सुख-र की भाषा उर्दू-गद्य में अरबी-फारसी शब्दों को हटाकर गढ़ी हुई कृत्रिम भाषा और अगर है तो उर्दू का वह गद्य कहाँ है जिसके अनुकरण पर सुखसागर के का निर्माण हुआ ?

दह-मजलिस में, यद्यपि, उर्दू-गद्य का प्रथम प्रयोग है, किन्तु, सभी विद्वान मानते कि यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। अर्थात् दह-मजलिस से उर्दू-गद्य का आरम्भ नहीं जाता है। उर्दू-गद्य का वास्तविक आरम्भ फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना (१८००ई०) के बाद से होता है, जब गिलक्राइस्ट अपने यहाँ मौलवी रखकर उर्दू किताबें लिखवाने लगे। किन्तु, "भाषा-योग-वाशिष्ठ", "पद्मपुराण" और "सुख-र", हिन्दी-गद्य के इन तीन पृथुल एवं बहु-प्रचलित ग्रन्थों की रचना उससे बहुत पूर्व चुकी थी। यह सत्य है कि हिन्दी-गद्य की पुस्तकें लिखवाने को भी फोर्ट विलियम में पं० लल्लूलाल (गुजराती) और पं० सदल मिश्र (बिहारी) की नियुक्ति की थी, किन्तु, लल्लूलाल ने ब्रजभाषा-सेवित गद्य का निर्माण किया जो शैली में आगे चली नहीं। हाँ पं० सदल मिश्र की गद्य-शैली हिन्दी में स्वीकृत

अवश्य हुई और वह इसलिए कि सदल मिश्र के आदर्श रामप्रसाद निरंजनी थे। क्या कोई यह भी कह सकता है कि फोर्ट विलियम में लल्लूलाल और सदल मिश्र गद्य में से अरबी और फारसी शब्दों को छाँटकर एक नयी भाषा निकालने के काम नियुक्त किये गये थे ?

फारसी-मिश्रित भाषा (उर्दू या हिन्दुस्तानी) को अँगरेज जरूर चलाना थे, किन्तु, इसके भी प्रमाण हैं कि उनके अफसर बार-बार यह शिकायत करते थे यह भाषा जनता नहीं समझती है। फिर भी, अँगरेज अपने हठ पर डटे रहे राजनैतिक कारणों से यह आवश्यक था। शासकों की देखादेखी मिशनरियों ने आरम्भ में, फारसी-मिश्रित भाषा में अपना प्रचार आरम्भ किया, किन्तु, जब देखा कि अपढ़ जनता इस भाषा को खाक नहीं समझती है, तब वे भी अपनी पुस्तिकाओं में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का प्रयोग करने लगे। क्या इन उदाहरणों से प्रमाणित होता है कि इस देश की भाषा अरबी-फारसी-मिश्रित थी और साधु बाद को जबर्दस्ती बनायी गयी ?

यदि फोर्ट विलियम के बादवाले दौर को लें, तब भी, यही दिखायी देता है कि के लेखक रामप्रसाद निरंजनी की शैली को आगे लिये जा रहे हैं। स्वामी (१८२४ से १८८३ई०), पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी (कार्यकाल सन् १८५३-१८८ नवीनचन्द्र राय (कार्यकाल सन् १८६३-१८८०ई०) एवं राजा लक्ष्मण (सन् १८२६-१८६९ई०) संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के लेखक थे और यह हिन्दी उद्योगपूर्वक गढ़ी नहीं थी, प्रत्युत, उन्हें वह पूर्व पुरुषों से—रामप्रसाद निरंजनी, राम और सदासुखलाल तथा सदल मिश्र, आदि से—सहज उत्तराधिकार के रूप में हुई थी। इस बीच, राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५ई०) ही एक मात्र ऐसे निकले, जिन्होंने फारसी और अरबी शब्दों को अपनी भाषा में जबर्दस्ती ठूंस कर को गौरवान्वित[1] एवं अपने महाप्रभुओं को प्रसन्न करना चाहा। किन्तु, उनकी विफल हो गयी। सारे देश ने तो उन्हें धिक्कारा ही, इंग्लैण्ड से पिनकाट नामक अँगरेज हिन्दी-भक्त ने भी भारतेन्दु को पत्र लिखा कि "राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर बीस बरस हुए, उसने सोचा कि अँगरेज साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती उन बातों को प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए, बड़े चाव उस काव्य को और अपनी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर, उर्दू के प्रचलित में बड़ा उद्योग किया। राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सब रो भारी बात है।

वास्तव में, यह कहने का कोई आधार नहीं है कि हिन्दी का गद्य नया और का गद्य अपेक्षाकृत प्राचीन है, सच्ची बात यह है कि जिस भाषा को अब उर्दू कहते वह मुसलमानों के बीच शायरी में पोषित हो रही थी, किन्तु, उसके प्रभावों से

---

[1] राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का विश्वास था कि जो भाषा कचहरियों में है, वही "फैशनेबिल" भाषा है एवं उसके शब्दों को अपनाये बिना आदमी का पात्र नहीं हो सकता।

संस्कृत-निष्ठ हिन्दी का विकास हिन्दुओं के यहाँ स्वयमेव होता आ रहा था। हम जिस हिन्दी का व्यवहार करते हैं, उसकी अविच्छिन्न धारा कोई ढाई सौ से बहती आ रही है। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, सदल मिश्र, नी दयानन्द और लक्ष्मण सिंह, ये इस धारा के मुख्य प्रकाश-स्तम्भ हैं। इनमें से नी के भी सामने उर्दू का प्रांजल गद्य मौजूद नहीं था, जिसमें से अरबी-फारसी के दों को निकाल कर उन्हें नयी भाषा गढ़नी पड़ती।

वाद का समाधान

उम्र के लिहाज से नयी भाषा हिन्दी नहीं, उर्दू है। मतरूकात की नीति से भी नहीं, उर्दू का निर्माण हुआ है। हिन्दी और उर्दू के बीच पैदा होनेवाली भिन्नता ऐतिहासिक कारण जो भी रहे हों, किन्तु, आज उर्दू, मुख्यत:, इस्लामी भावनाओं भाषा है, जैसे हिन्दी को लोग हिन्दू-भावनाओं की भाषा मानते हैं। भावों की से दोनों भाषाओं के बीच कुछ थोड़ी एकता राष्ट्रीय कविताओं को लेकर बढ़ी थी कुछ महात्मा गाँधी के प्रयत्नों से जो दोनों भाषाओं को एक करना चाहते थे। जी के समय में लोग यह समझते थे कि हिन्दी और उर्दू का विलय अगर हिन्दुस्तानी र दिया जाय तो भारत की भाषागत समस्या का समाधान प्राप्त हो जायगा। न्तु, अब वह बात नहीं है। स्वाधीन भारत ने हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार लिया है और बँगला, असमी, उड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, मराठी गुजराती भाषाओं की ओर से माँग यह है कि राष्ट्रीय हिन्दी को सुगम तो होना हिये, किन्तु, वह संस्कृतनिष्ठ नहीं हुई, तो सारे देश में उसका प्रचलन कठिन हो गा। इसके विपरीत, उर्दू, पंजाबी, कश्मीरी और सिन्धी भाषाओं की माँग है कि में अरबी और फारसी के शब्द अधिक रहने चाहियें। जो मूल हिन्दी-भाषी लोग प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का बहिष्कार करने के पक्ष में नहीं हैं। किन्तु, सारे के सामने हिन्दी-भाषियों की नहीं चलेगी। सम्भावना यह है कि अरबी-फारसी के बहु- त शब्द हिन्दी में चलते रहेंगे, किन्तु, सिन्धी, पंजाबी कश्मीरी और उर्दू भाषाएँ, वालों को बहुत-से ऐसे शब्द सीखने ही पड़ेंगे जिनका उन्हें अभी ज्ञान नहीं है। , असंख्य नये शब्दों का ज्ञान उन्हें भी प्राप्त करना है जो हिन्दी, बँगला, मराठी, , गुजराती, उड़िया अथवा कोई द्राविड़ भाषा बोलते हैं।

उर्दू भारतीय संस्कृति के उस एक अंश का प्रतिनिधित्व करने में दक्ष है का विकास बारहवीं सदी के बाद हुआ है। लेकिन, भारतवर्ष, कम से कम, छह र वर्ष पुराना देश है। भारत के सम्पूर्ण इतिहास का प्रतिनिधित्व वे भाषाएँ कर हैं, जिनके तार संस्कृत से अनुस्यूत हों। हिन्दी अपने राष्ट्रभाषा-पद को तभी कर सकती है जब वह भारत के सम्पूर्ण इतिहास, उसकी समग्र संस्कृति निधित्व कर सके। इस समग्र संस्कृति में वह संस्कार भी सम्मिलित है जिसका बारहवीं सदी के बाद हुआ है। इसीलिए, संविधान ने शर्त लगा दी है कि भाषा हिन्दी में हिन्दुस्तानी के भी रूप, शैली और अभिव्यंजना का समावेश चाहिये।

□□□

प्रकरण १२

सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप

तन से भारतीय; मन से ईरानी

पठानों और मुगलों का भारत में आगमन व्यापार करने अथवा उपनिवेश क वाले विदेशियों के रूप में नहीं हुआ था। वे यहाँ बसने को आये थे। अतएव, वे इस देश में बस गये, उन्होंने इसे अपना ही देश मान लिया। भारत को अपना पहले की भी कुछ विदेशी जातियों ने माना था, किन्तु, उनके और मुसलमानों के एक भारी भेद था। शक और हूण भारत में कभी वह राजनैतिक प्रबलता प्राप्त कर सके थे, जो प्रबलता मुसलमानों ने प्राप्त की। इस देश पर मुसलमानों का रा प्रायः, छह सौ वर्षों तक रहा था। इसलिए, यद्यपि, शक और हूण, धीरे-धीरे, हि में समा गये, किन्तु, मुसलमान हिन्दुत्व से अलग बने रहे। एक तो वे देश के शा थे और शासितों के झुण्ड में उनके विलीन होने की बात ही नहीं उठती थी। हिन्दुत्व की पाचन-शक्ति भी अब बहुत खराब हो चुकी थी। इससे भी वह मुसल को अपने भीतर नहीं पचा सका। यदि बहुसंख्यक हिन्दू मुसलमान हो गये होते शायद, हिन्दुओं और मुसलमानों का अन्तर बहुत न्यून हो गया होता। किन्तु, सुलतानों के बहुत उत्साह दिखाने पर भी अधिक हिन्दू मुसलमान नहीं हुए। परि यह हुआ कि भारत हिन्दुओं का देश रह गया और मुसलमान अल्पसंख्यकों के से आगे नहीं बढ़े। लेकिन, मुसलमानी सलतनत के समय ये अल्पसंख्यक लो बहुसंख्यकों के भाग्य का निर्णय करते थे।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व, भारत में एक प्रकार की सांस्कृतिक एकता थी। धर्म, रीति-रिवाज, भाषाएँ और संस्कृतियाँ तो तब भी अनेक थीं, किन्तु, लोगों के हिन्दू होने के कारण, ये विविधताएँ एक ही भाषा की अनेक बोलियों के एक-दूसरे के समीप थीं, एक-दूसरी से गुँथी हुई थीं। किन्तु, मुस्लिम-धर्म के आग से भारत में संस्कृति की दो धाराएँ बहने लगीं। ये दोनों धाराएँ समानान्तर ह चलती हैं। एकाध जगह वे एक-दूसरी का स्पर्श भी करती हैं, किन्तु, मिलकर वे नहीं हो पातीं।

जब तक मुगल-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर अवस्थित रहा, बहुसंख्यक हि अल्पसंख्यक मुसलमानों की अधीनता में जीते रहे और देश में हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्ध बारे में वह चिन्ता नहीं उठी, जो उन्नीसवीं सदी के बाद उठनेवाली थी। कि जभी मुसलमानों के हाथ से सलतनत निकलने लगी, उनमें एक प्रकार की घबराह भाव जगने लगा। पठान और तुर्क न तो अरबी थे, न ईरानी; लेकिन, मुसल मात्र की दृष्टि में अरब और ईरान ही इस्लाम के असली देश थे। भारत के मुस

मन से सपना अरब और ईरान का ही देखते थे। हिन्दुस्तान उनके शरीर का घर था, आत्मा का घर अरब और ईरान था। सौदा ने अपने मन की यह पीड़ा निःसंकोच भाव से लिख दी है।

गर हो कशिशे-शाहे-खुरासान तो "सौदा"
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर।

मुसलमानी शासन के समय अरब और ईरान से नये मुसलमान यहाँ आते रहते थे और उनकी इज्जत इस देश में उन लोगों से अधिक होती थी जिनके बाप-दादे ईरानी नहीं, प्रत्युत, भारतीय थे। इस्लाम-धर्म की भाषा और संस्कृति अरबी और ईरानी थी, अतएव, मुसलमान होते ही अरब और ईरान की ओर देखने लगना हर व्यक्ति अपना धर्म समझता था। संस्कृति और तहजीब के क्षेत्र में, उन दिनों एशिया में ईरान का लगभग वैसा ही आदरणीय स्थान था, जैसा स्थान अब यूरोप में फ्रांस का है। कुछ इस कारण भी, संसार भर के मुसलमान ईरान से अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा लेते थे।

हिन्दुत्व का प्रभाव

हिन्दू और मुसलमान घुल-मिलकर एक तो नहीं हो सके, फिर भी, दोनों जातियों की बहुत-सी बातें एक हो गयीं। प्रहार और बचाव के काम शिक्षितों एवं पंडितों में ही चला करते हैं। बाकी जनता आपस में मित्रता का नाता आसानी से पैदा कर लेती है। वह नाता हिन्दू और मुस्लिम जनता के बीच, स्वभावतः ही, जुड़ गया तथा शहरों की अपेक्षा गाँवों के लोग इस एकता के तार में, अधिक स्वाभाविकता से, बँध गये। दुर्भाग्य की बात यह रही कि शिष्ट और सुसंस्कृत मुसलमान गाँवों में कम, नगरों में बहुत अधिक रहते थे। सच पूछिये तो मुस्लिम-संस्कृति के केन्द्र भारत के नगर ही थे। अतएव, गाँवों की एकता का प्रभाव नगरों पर नहीं पड़ सका।

हिन्दुओं के बीच अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ बहुत अधिक प्रचलित थीं। इनके प्रभाव से मुस्लिम-समाज में भी कुछ रूढ़ियाँ उत्पन्न हो गयीं और हिन्दुओं की देखादेखी मुसलमान जनता भी ग़ाज़ी मियाँ, पाँच पीर, पीर बदर, ख्वाजा ख़िज़िर आदि कल्पित देवताओं की पूजा करने लगी। मुसलमानों के ये पीर, अवसर, ग्राम-देवता बन बैठे और हिन्दू-मुस्लिम, सब दरगाह पर माथा टेकने लगे। दशहरा और रथ-यात्रा-उत्सवों के अनुकरण पर मुहर्रम में ताजिये निकाले जाने लगे एवं ताजियों में हिन्दू और मुसलमान, बिना किसी भेद-भाव के, सम्मिलित होने लगे। ताजियों के पीछे चूँकि हजरत अली के बेटे हजरत इमाम हुसेन की याद थी और हजरत अली बल के आगार थे, इसलिए ताजियों की संरक्षकता गाँवों के नामी पहलवान करते थे जिनमें बहुधा हिन्दू पहलवानों की भी गिनती होती थी। अखाड़ों में जैसे हिन्दू "जय महावीर" का नारा लगाते थे, वैसे ही, ताजियों के जुलूसों में सभी हिन्दू उल्लास के साथ "या अली" पुकारते थे। हिन्दू मुसलमान का छुआ हुआ नहीं खाते थे, फिर भी, दोनों जातियों का सामाजिक रिश्ता मजबूत होने लगा और एक घर से दूसरे घर में मिठाइयों के उपहार भी भेजे जाने लगे।

हिन्दुओं के बहुत-से रिवाज ऊँचे तबकों के मुसलमानों में, आप-से-आप, चल पड़े। नजर लगने से बचने के लिए न्योछावर उतारने की परिपाटी बादशाहों की भी हवेलियों में थी। शाहजादे भी यात्रा पर निकलने से पहले बाँहों पर मंत्र-सिद्ध यंत्र बँधवाते थे। मुहम्मद तुगलक लड़ाइयों पर जाने से पहले हिन्दू योगियों से आशीर्वाद माँगा करता था। बहुत-से शेख और मुस्लिम पीर, हिन्दू-मठों की नकल पर, गद्दियाँ भी स्थापित करते थे।

कहते हैं, राजपूतों की देखादेखी कुछ मुसलमानों ने भी जौहर की प्रथा अपना ली थी। भटनेर के सूबेदार कमालुद्दीन ने, तैमूर से लड़ने जाने के पहले, अपने फौजियों की पत्नियों को आग में कूद जाने का आदेश दिया था।

जहाँगीर जब कश्मीर गया, तब वहाँ उसने कुछ ऐसे मुस्लिम राजे भी देखे, जो सती-प्रथा को मानते थे तथा जिनका शादी-विवाह हिन्दू-घरानों में होता था।

छत्र-चमर, हीरे-मोती, जड़ाऊ खड्ग, कीमती राजसी पोशाक और सजे हुए हाथी और घोड़े, ये विशेषताएँ हिन्दू राज-दरबारों की थीं। इस्लाम की परम्परा सादगी और मितव्ययिता की परम्परा थी। किन्तु, मुसलमान जब भारत पर राज करने लगे, तब उन्होंने भी इन आडम्बरों को अपना लिया; केवल अपना ही नहीं लिया, उनमें बहुत-से इजाफे भी कर दिये। इसी प्रकार, पान खाने की आदत मुसलमानों ने हिन्दुओं से ली थी, लेकिन, पीछे चलकर पान चबाने में भी हिन्दुओं को उन्होंने मात दे दिया। कहते हैं, १४वीं सदी में पान खाने का रिवाज हिजाज़ और यमन तक फैल गया था।

फलों से अचार तैयार करने की प्रथा भारत की प्रथा थी। वह मुसलमानों के यहाँ भी चल पड़ी। भारत के मोहन-भोग का प्रभाव पुलाव पर पड़ा। भारतीय मुसलमानों का पुलाव और कोरमा वही नहीं रहा जो ईरान और खुरासान में था।

चीरा और पाग मुसलमानों ने हिन्दुस्तानियों से लिया और, बदले में, कसे-चुस्त पायजामे राजपूतनियों ने मुस्लिम-नारियों से लिये। इस्लाम की परम्परा रेशम, मलमल और कीमती जेवरों के विरुद्ध थी, लेकिन, भारत में बस जाने पर मुसलमानों ने इन्हें भी अपना लिया।

हिन्दुस्तान समृद्ध देश है, उसके तौर-तरीके और सामाजिक आचार आकर्षक हैं; उनकी बातें भारत के बाहर भी खूब प्रचलित थीं। अतएव, जब मुसलमान हिन्दुस्तान आये, वे बड़ी ही शीघ्रता के साथ यहाँ के तौर-तरीके सीखने लगे। इब्न-बतूता ने अपनी किताब में सुलतान मुहम्मद तुगलक की बेटी के विवाह का भी वर्णन लिखा है। उससे मालूम होता है कि मुसलमानों पर हिन्दू-प्रभाव उस समय भी बहुत काफी पड़ चुका था।

रमल फेंककर सगुन विचारने की प्रथा अरब में भी थी, किन्तु, यह प्रथा इस्लाम में अच्छी नहीं समझी जाती थी। भारत में बसने के बाद मुसलमान हिन्दुओं के ही समान सगुन में विश्वास करने लगे।

मुस्लिम अमीरों के अन्धविश्वास में कुछ नफ़ासत भी आने लगी। हुमायूं और

अकबर हर रोज पोशाक उस रंग की पहनते थे जो उस दिन के स्वामी-ग्रह का रंग होता था। सौभाग्यवती मुस्लिम स्त्रियाँ भी माँग में सिन्दूर लगाने तथा नाक में नथ और हाथ में शंख की चूड़ियाँ पहनने लगीं। विवाह के अवसर पर सोहागपुरा ले चलने की प्रथा भी मुसलमानों के यहाँ हिन्दुओं की देखादेखी चली है। हिन्दू जैसे श्राद्ध करते हैं, कुछ उसी प्रकार मुसलमान भी मृत व्यक्तियों के नाम पर भोज करने और खैरात बाँटने लगे। हिन्दुओं की जाति-प्रथा ने भी मुस्लिम-समाज को प्रभावित किया और मुसलमान भी शरीफ़ और रज़ील ज़ातों का भेद करने लगे एवं जुलाहों और धुनियों के साथ शरीफ़ ज़ात वालों को खाने-पीने में आपत्ति होने लगी। बिहार में छोटी जात के मुसलमान भी छठ का व्रत (सूर्य-पूजा) रखने लगे और बंगाल में वे शीतला-माता की पूजा करने लगे। सच पूछिये तो हिन्दुत्व के दर्शन-पक्ष का प्रभाव इस्लाम पर उतना ही रहा, जितना सूफी-मत पर पड़ चुका था। बाकी बातों में हिन्दू-समाज की रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों का ही प्रभाव मुस्लिम-समाज पर पड़ा और वह इस कारण कि मुसलमान, प्रायः, छोटे हिन्दू ही हुए थे जो बड़े हिन्दुओं के नैतिक रोब-दाब में थे। ये बेचारे इस्लाम में दीक्षित होने पर भी अपने पैतृक समाज की कुरीतियों को नहीं छोड़ सके।

मुगल-काल आते-आते शबे-बरात का पर्व सारे भारत के मुसलमानों में मनाया जाने लगा। यह, शायद, शिवरात्रि था अनुकरण था क्योंकि शिवरात्रि उस समय बड़ी ही धूम-धाम से मनायी जाती थी। ताजिये का रिवाज भी भारत छोड़कर और किसी देश में नहीं है। यह कदाचित्, रथयात्रा के अनुकरण पर निकला था।

हिन्दुओं ने मुसलमानों को जातिवाद का जहर पिलाया, बदले में, मुसलमानों ने हिन्दुओं को पर्दे का शाप दिया। हिन्दुओं की देखादेखी, मुसलमानों में भी ऊँच-नीच का भेद चलने लगा एवं यह प्रथा प्रचलित हो गयी कि सैयद शेख की बेटी ले सकता है, किन्तु, शेख सैयद की बेटी से ब्याह नहीं कर सकता। पर्दे का चलन प्राचीन विश्व की कई जातियों में था। महाभारत में द्रौपदी की कथा से पर्दे की थोड़ी-बहुत झलक जरूर मिलती है और यह प्रथा सिद्ध-साधुओं के युग में भी थी। किन्तु, इसकी कट्टरता मुसलमानों के समय में बढ़ी, क्योंकि एक तो मुसलमानों में पर्दे का रिवाज था (रज़िया बेगम दरबार में भी पर्दे में बैठती थी); हिन्दू गृहस्थ अपनी बहू-बेटियों को भय से भी छिपाकर रखना चाहते थे। हिन्दुओं में पर्दे की प्रथा पठानों के कारण बढ़ी और पठान मुगलों के आने के बाद पर्दे को और भी कड़ा करने लगे।[1]

---

[1] The purdah system, in all probability, was unknown in ancient India. Its general adoption is subsequent to the advent of Muslims in India........The Hindus adopted Purdah as a protective measure. The tendency to imitate the ruling class was another factor.

(द पोज़ीशन आव् वीमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन : डॉक्टर अल्तेकर)

स्नान की आदत मुसलमानों ने हिन्दुओं से ली। अरब के लोग पानी के अभाव में स्नान कम करते थे। पीछे हर देश में मुसलमान नहीं नहाने अथवा कम नहाने को अपना कर्त्तव्य मानने लगे। लेकिन, भारत में स्नान-जनित आनन्द से वे काफी प्रभावित हुए। मुगलों के समय में तो मुसलमानों में नहाना इतना लोकप्रिय हो गया कि बड़े-बड़े शहरों में स्नानागार के रोजगार वैसे ही चलने लगे जैसे आज होटल चलते हैं। एक आगरा शहर में ही कोई आठ सौ हम्माम थे।

ऊँचे तबकों के हिन्दुओं ने मुसलमानी खान-पान और पोशाकें, खुशी-खुशी, अपना लीं। बाकी तबकों में भी, हिन्दुओं की पगड़ी मुसलमानों ने और मुसलमानों की अचकन हिन्दुओं ने अपनायी। बिरियानी पकाने का रिवाज भारत में मध्य-पूर्वी एशिया से आया और हुक्के का रिवाज यहाँ इसलिए चला कि पुर्तगाली लोगों ने, मुसलमानों के समय में ही, भारत में तम्वाकू का प्रचार किया था। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समान रीति-रिवाज और आदतें प्रचलित हैं, उनकी काफी लम्वी सूची राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, "खंडित भारत" में दी है।

मुसलमानों के भीतर कई सम्प्रदाय हैं, जिनका उद्भव और विकास हिन्दू-प्रभावों के कारण हुआ है। इनमें से एक सम्प्रदाय का नाम इस्माईलिया है। खोजा लोग इसी सम्प्रदाय के हैं। खोजा-सम्प्रदाय के कई विश्वास ऐसे हैं जिनमें हिन्दुत्व के वैष्णव-मत और इस्लाम के शिया-पन्थ का मिश्रण दिखायी देता है। इस सम्प्रदाय की एक मान्यता यह भी है कि हजरत अली विष्णु के दसवें अवतार थे। (टामस-कृत म्युचुअल इनफ्लुएन्सेज आव् मोहम्मडन्स एण्ड हिन्दूज़ इन इण्डिया)। खोजा लोगों की मस्जिदें अलग होती हैं। सामान्यत:, वे साधारण मस्जिदों में नमाज़ पढ़ने नहीं जाते हैं। इसी प्रकार अली-इलाहिया सम्प्रदाय के मुसलमान आत्मा के आवागमन में विश्वास करते हैं।

अहिंसा और मुसलमान

मांस-भक्षण और भोग-लौलुप्य भारत में कम नहीं हैं। फिर भी शाकाहार, अहिंसा और गरीबी में सन्तुष्ट रहने का भाव, ये तीन गुण, विशेष रूप से, भारतीय माने जाते हैं। यदि यह जानना हो कि किसी विदेशी पर भारत का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है, तो देखना यह चाहिये कि उस आदमी ने मांस खाना कुछ कम किया है या नहीं, वह पहले की अपेक्षा अब अधिक जीवों को मारता है या कम जीवों को और गरीबी के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है।

भारतीय अहिंसा का प्रभाव, सबसे पहले, इस्लाम के सर्वोत्तम मानवों, यानी, सूफियों पर पड़ा। बल्कि, यह प्रभाव इस्लाम पर अरब में ही पड़ने लगा था। जब इस्लाम भारत में फैलने लगा, मुस्लिम साधु और फकीर, अधिक-से-अधिक, शाकाहार की ओर मुड़ने लगे। उनकी देखा-देखी मांसाहार का कुछ थोड़ा त्याग गृहस्थ भी करने लगे। किन्तु, अहिंसा का प्रभाव हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर पर सबसे अधिक था। हुमायूँ जब फारस से लौटकर दुबारा भारत-विजय के काम में लगा, तब कई

महीनों तक उसने मांस खाना और शराब पीना छोड़ दिया था। उसका निश्चित मत था कि भक्ति और मांसाहार, ये दो काम साथ-साथ नहीं चल सकते और जो व्यक्ति ईश्वर का भक्त है, उसे गोमांस तो हरगिज नहीं खाना चाहिये। अकबर, सामान्यतः, मांस खाना पसन्द नहीं करता था। शुक्रवार और रविवार तथा हिन्दू-मास की प्रतिपदा तिथि को वह नियमपूर्वक निरामिष भोजन करता था। इसके सिवा, वर्ष के दो खास महीनों में वह किसी भी दिन मांस नहीं खाता था। इन दो महीनों में एक वह था जो अकबर का जन्म-मास पड़ता था। पीछे चलकर तो अकबर ने मांस खाना बिलकुल ही छोड़ दिया था—यहाँ तक कि वह प्याज और लहसुन से भी परहेज करने लगा था। जहाँगीर मांस का प्रेमी था, लेकिन, वह भी गुरुवार और रविवार को मांस-मछली नहीं खाता था।[१]

स्त्रियों की स्थिति

नारियों को दबाकर रखने की थोड़ी-बहुत प्रथा एशिया के सभी देशों में थी। किन्तु, तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस विषय में हिन्दू मुसलमानों की अपेक्षा कुछ अधिक उदार थे। इसलिए, मुसलमान जब भारत आये, तब इससे नारी-जाति की उन्नति नहीं हुई, कुछ अकल्याण ही हुआ। हिन्दू नारियाँ उतनी दबी हुई नहीं थीं जितनी दबी वे उत्तर भारत में दिखायी देती हैं। कम-से-कम वे उतनी स्वतन्त्र अवश्य थीं जितनी उनकी दक्षिण-देश-वासिनी बहनें हमेशा से रही हैं। यह इसलिए कि इस्लाम का प्रभाव उत्तर में अधिक, दक्षिण में बहुत कम पड़ा है।

मुसलमान नारियों के विषय में, किस दृष्टि के कायल थे, यह इस्लाम के सब से बड़े दर्शनाचार्य अल-ग़ज़ाली (मृत्यु १११७ई०) की उक्तियों से प्रत्यक्ष हो जाता है। अल-ग़ज़ाली ने लिखा है, "औरतों से राय लेना ठीक है, लेकिन, आचरण हमेशा उसके विपरीत करना चाहिये....नबी ने कहा है, औरत की रचना छाती की टेढ़ी हड्डी से की गयी थी। इसलिए, तुम औरत को अगर झुकाना चाहोगे तो वह टूट जायगी और स्वतंत्र छोड़ोगे तो वह और भी टेढ़ी हो जायगी। इसलिए, उचित है कि उसके साथ नर्मी से पेश आओ।"

पर्दा-प्रथा का कठोर समर्थन करते हुए अल-ग़ज़ाली ने लिखा है कि "जहाँ तक सम्भव हो, औरतों को घर से बाहर जाने देना नहीं चाहिये, न उन्हें छत पर जाने, न दरवाजे के पास खड़ा होने देना चाहिये।"

अल-ग़ज़ाली ने यह भी लिखा है कि औरतें न तो अजनबियों को देखें, न उन्हें अपने-आपको देखने का मौका दें क्योंकि सारी शरारतों की जड़ निगाह में होती है।

पतियों की दासता करने की जो शिक्षा भारतीय रमणियों को अपने धर्म से मिली थी, वही शिक्षा उन्हें इस्लाम से भी प्राप्त हुई। अल-ग़ज़ाली कहते हैं, "स्वयं नबी ने कहा है, ईश्वर के बाद यदि किसी और को पूजना आवश्यक ही हो तो औरतों को पूजा अपने शौहरों की करनी चाहिये।"[२]

---

१. पी०एन० चोपरा-कृत "सोसाइटी एण्ड कलचर इन मोगल एज।"
२. डी०एम० डोनाल्डसन-कृत "स्टडीज इन मुस्लिम-एथिक्स।"

शिक्षा और भाषा की स्थिति

भारत में शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी और माँ-बाप बच्चों को इसलिए नहीं पढ़ाते थे कि पढ़-लिखकर वे नौकरी करेंगे और धन कमायेंगे। कागज, किताब और शिक्षा-विभाग के अभाव के कारण शिक्षित व्यक्ति की योग्यता इस कसौटी पर परखी जाती थी कि उसने किस गुरु के पास बैठकर विद्या पढ़ी है। हिन्दू पाठशालाओं में पढ़ते थे और मुसलमान मदरसों में। कभी-कभी मुस्लिम छात्र भी ज्योतिष और गणित सीखने के उद्देश्य से पाठशालाओं में पढ़ा करते थे। जब तक फारसी राजभाषा नहीं बनायी गयी, तब तक मदरसों में हिन्दू बच्चे बहुत कम जाते थे। अकबर के राज्यारोहण तक सरकारी हिसाब हिन्दी में रखा जाता था। मुगलों के समय जैसे हिन्दू-शिक्षा के मुख्य केन्द्र काशी, नदिया और मिथिला में थे, वैसे ही, इस्लामी शिक्षा के केन्द्र आगरा, दिल्ली, जौनपुर और लाहौर में थे।

हिन्दुओं के बीच साधु हिन्दी की परम्परा मुसलमानों के समय भी चालू थी एवं ग्रन्थों की टीका, सन्तों और पंडितों के उपदेश तथा ग्रन्थ-रचना के काम इसी संस्कृत-निष्ठ-भाषा में चलते थे। मुसलमानों के समय संस्कृत-टोल भी काफी थे। फिर भी, राजकीय कारणों से एवं दरबारदारी और नौकरी के प्रभाव से फारसी की इज्जत बहुत बढ़ी हुई थी तथा हिन्दू भी उसके रोब में थे। मुस्लिम-काल में, प्रायः, हर भले आदमी का विश्वास था कि फारसी सीखे बिना बच्चों में "तमीज" नहीं आती है। इसलिए, खाने-पीने से अच्छे लोग अपने दरवाजों पर मौलवी रखा करते थे। बहुत जगहों पर तो यह रिवाज था कि संस्कृत के साथ-साथ बच्चों को फारसी भी पढ़ायी जाती थी।

फारसी का यही प्रभाव आगे चलकर उत्तर भारत में एकता का बाधक हुआ। अँगरेजों के आने के समय, इस देश की राज-भाषा फारसी थी, अतएव, यह स्वाभाविक था कि अँगरेज भी फारसी को ही चलायें। किन्तु, जब अँगरेजों ने अँगरेजी को यहाँ की राज-भाषा बना दिया, तब भी वे (अब केवल मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए) फारसी और उर्दू के पक्षपाती बने रहे। इधर हिन्दुओं ने उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक जागरण के समय, अपनी खोयी हुई सांस्कृतिक सत्ता पुनः प्राप्त कर ली थी और वे उसी साधु हिन्दी को सर्वत्र चलाने की माँग करने लगे जिसे मुस्लिम-काल में खुलकर फैलाने की राह नहीं मिली थी। इससे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें मुसलमान कहने लगे कि हिन्दी नकली भाषा है तथा, वास्तव में, भारत की भाषा फारसी-मिश्रित उर्दू ही हो सकती है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मतभेद के कारण अनेक हैं, लेकिन, अभी यह स्पष्ट दीखता है कि सबसे बड़ा मतभेद भाषा को ही लेकर है। अँगरेजों ने जब फारसी को हटाकर भारत की राजभाषा का पद अँगरेजी को दिया, तब भी कचहरियों में उन्होंने उर्दू को रहने दिया जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। इसपर उत्तर भारत के हिन्दुओं ने आन्दोलन उठाया कि फारसी लिपि का ज्ञान जनता को नहीं है, न जनता अरबी और फारसी के शब्द ही समझती है, अतएव, फारसी के साथ-साथ नागरी लिपि को भी

कचहरियों में स्थान मिलना चाहिये। यह माँग इतनी अकाट्य थी कि अँगरेज उसकी उपेक्षा नहीं कर सके और नागरी लिपि को भी कचहरियों में स्थान उन्होंने दे दिया। लेकिन, नागरी में भी भाषा उन्होंने वही रखी जो फारसी लिपि में लिखी जाती थी। अँगरेजों के इस फैसले से मुसलमानों को घोर निराशा हुई। कचहरियों में फारसी लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि भी चले, इतनी-सी बात भी उन्हें गवारा नहीं हुई। यह चोट मुसलमानों के हृदय में इतनी गहरी होकर लगी कि आज तक उसका दर्द खटक रहा है। सन् १९३७ई० में कांग्रेस ने जो सरकारें बनायीं, उनपर भी मुसलमानों ने उर्दू के साथ गैर-इन्साफी का दोष लगाया। सर सैयद अहमद हिन्दुओं से अलग क्यों हो गये, इसका रहस्य समझाते हुए डॉक्टर आबिद हुसेन ने, अभी हाल में, लिखा है[1] कि जब कचहरियों में हिन्दुओं के दबाव से उर्दू की जगह पर साहित्यिक हिन्दी चला दी गयी तब सर सैयद का हृदय फट गया। लेकिन, यह बिलकुल गलत बात है। कचहरियों में हिन्दी उर्दू को हटाकर नहीं लायी गयी थी, बल्कि, उर्दू के साथ हिन्दी का भी चलन जारी किया गया था। और नागरी अक्षरों में जो हिन्दी कचहरियों में लिखी जाती थी, वह ठीक वही भाषा थी जो फारसी लिपि में मुसलमानों की सुविधा के लिए, लिखी जाती थी। साहित्यिक तो नहीं, हाँ, दफ्तरों में कठिन हिन्दी का प्रवेश इधर दस-बारह साल के भीतर हुआ है।

अन्य आदान-प्रदान

इस्लाम का प्रभाव अमीरों की पोशाक और खान-पान पर भी पड़ा तथा रहन-सहन एवं लिबास में ऊँचे तबकों के हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई फर्क नहीं रह गया। मुगल अमीरों ने बहुत-सी बातें हिन्दुओं की अपना लीं। इसी प्रकार, हिन्दू अमीर भी बहुत-सी बातों में मुसलमानी ढंग अपनाने लगे।

संगीत इस्लाम में वर्जित था, किन्तु, सूफी तब भी संगीत के बड़े प्रेमी थे बल्कि यह कहना चाहिये कि सूफियों के यहाँ संगीत साधना का एक अंग समझा जाता था। भारतीय एवं ईरानी संगीत के मिलन से नयी-नयी चीजें निकल पड़ीं। ख्याल का आविष्कार जौनपुर के नवाब सुलतान हुसेन शर्क़ी ने किया था एवं कौव्वाली, कदाचित्, अमीर खुसरो की ईजाद है। कौव्वाली का आरम्भ और प्रचार धार्मिक संगीत के रूप में हुआ, यद्यपि, मस्जिदों में कौव्वाली भी नहीं पहुँच सकी। बाजों में रबाब, सरोद, दिलरुबा और ताऊस ऐसे हैं जो, शायद, मुसलमानों के लाये हुए हैं अथवा इनके ये नाम मुसलमानों के दिये हुए हैं। अमीर खुसरो के बारे में कहा जाता है कि वीणा को देखकर सितार का आविष्कार उन्हीं ने किया था तथा मृदंग पर से तबले भी उन्हीं ने निकाले थे। बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह ने संगीत पर "नौरस" नाम की किताब लिखी थी। संगीत में हिन्दू और मुसलमान परस्पर जितने समीप हुए, उतने समीप वे और कहीं नहीं आये।

कई धातुओं से रसायन बनाने का रिवाज मुस्लिम-आगमन के बाद विकसित हुआ।

---

[1] द नेशनल कलचर आव् इंडिया।

कागज बनाना और कलई करना भी यहाँ मुसलमानों ने आरम्भ किया। पत्थर, चाँदी और सोने पर मीनाकारी के काम, जामदानी, कलाबत्तू, जरदोजी, किमखाव और जामेवार भी मुस्लिम-काल में ही चले।

गणित, ज्योतिष और वैद्यक में हिन्दू बहुत उन्नति किये हुए थे। इन विद्याओं का ज्ञान इस्लाम के भारत-आगमन के पूर्व ही, अरब पहुँच चुका था। अरबवाले, बाद को कुछ ज्ञान यूनान से भी लाये एवं इन दोनों को मिलाकर उन्होंने भी इन विद्याओं में अच्छी प्रगति की थी। जब मुसलमान भारत आये उनका यह सामासिक ज्ञान भारत को भी प्राप्त हुआ। ज्योतिष के कुछ पारिभाषिक शब्द, इस प्रकार, इस्लाम की देन हैं। हमारी देशान्तर और अक्षांश रेखाएँ गिनने की प्रणाली भी मुसलमानों से ली हुई है। वर्षफल बनाने की ताजिक-पद्धति भी यहाँ मुसलमानों के आगमन के बाद चालू हुई। ज्योतिष की अरबी पद्धति के आने के बाद ही, महाराज जयसिंह ने हिन्दू-पञ्चाङ्ग का सुधार किया और जयपुर, मथुरा, दिल्ली तथा काशी में वेधशालाएँ बनवायीं।

ज्योतिष पर विदेशी प्रभाव इसलिए पड़ा कि भारत में इस विद्या का व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। राजाओं और धनियों को बराबर ग्रह-शान्ति करवाने अथवा अपना भविष्य जँचवाने की उत्सुकता रहती थी। और इस उत्सुकता का अनुकूल लाभ पंडितों को प्राप्त होता था। इसलिए, राजे जब जिस भाषा के प्रेमी हुए, तब वहाँ के ज्योतिषियों ने उस भाषा का थोड़ा-बहुत सहारा लिया। यूनानियों के आगमन के बाद भारतीय ज्योतिष में रोमकशास्त्र लिखा गया जिसके नाम में ही रोमन या यूनानी शब्द मौजूद है। कहते हैं, होरा-चक्र की पद्धति भी यूनान से ही यहाँ आयी थी। जब शासन मुसलमानों का हुआ, तब अरब का प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर पड़ना स्वाभाविक हो गया। ताजिक-शास्त्र वर्ष-फल, मास-फल आदि बताने की अरबी पद्धति है। इस शास्त्र के बीस-पच्चीस ग्रन्थ अपने यहाँ लिखे गये। इसी प्रकार, अरबों के बीच रमल फेंक कर सगुन विचारने की जो प्रथा थी, वह भी भारत पहुँची और रमल-शास्त्र पर भी यहाँ काफी पुस्तकें लिखी गयीं। ताजिक-शास्त्र की पुस्तकों में जो श्लोक मिलते हैं, उनमें अरबी और फारसी शब्दों का प्रयोग खुल कर किया गया है।

स्यादिक्कबालः इशराफयोगः

× × ×

खल्लासरम् रद्दमुथोदुफालिः
कुत्थम् तदुत्थोथदिवीरनामा।[1]

—इत्यादि

यूनानी सम्पर्क के समय होरा, कौर्प्य, जूक, लेय, हेलि आदि दर्जनों यूनानी शब्द थे जिनका रूप संस्कृतवत् हो गया था। मुस्लिम-सम्पर्क से कितने ही अरबी और फारसी के शब्द संस्कृत में समा गये। एक श्लोक में तारीख शब्द का ऐसा प्रयोग है, मानो, वह पाणिनि का ही शब्द हो।

सिद्धों के समय से भारत में जो निराकारवादी सम्प्रदाय पनपते आ रहे थे, उनके

---

[1] पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत "हमारी साहित्यिक समस्या" से।

न-से सदस्य तो मुसलमान हो गये और बहुत ऐसी जगहों पर रह गये जो हिन्दुत्व र इस्लाम, दोनों से नजदीक थीं। बंगाल के बाउल ऐसे ही सम्प्रदायों के यादगार । अजमेर में कुछ लोग अपने को हुसेनी ब्राह्मण कहते हैं। ये न तो कट्टर हिन्दू हैं, कट्टर मुसलमान। राजपूताने और आगरा जिले के मलकाना राजपूत मुसलमान हैं, र, वे हिन्दू के समान रहते हैं, राम-नाम जपते हैं और दरगाहों पर भी जाते हैं। रात के खोजा-सम्प्रदाय पर वैष्णव-धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा था। वल्लभाचार्यी वों के समान, खोजा लोग भी अपने को गुरु का परम दास मानते हैं एवं गुरु को साक्षात् कृष्ण का अवतार समझते हैं। इनके बहुत-से रीति-रिवाज हिन्दुओं के-से । किन्तु, इधर वे भी कट्टरता की ओर लौट रहे हैं। बंगाल के बाउल घरों में मुसलमानों की तरह रहते हैं, किन्तु, वे न तो कट्टर हिन्दू हैं, न कट्टर मुसलमान।

हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य में जो वृद्धि मुगल-काल में हुई, वह अब भी शेष है। आगरे मलकाना राजपूत मियाँ ठाकुर कहलाना पसन्द करते हैं। क्षिति बाबू ने लिखा है अजमेर के पास कुछ ब्राह्मण हैं जो हुसेनी ब्राह्मण कहलाते हैं। कच्छ के मेमो लोग व को पूजते हैं एवं मामाशाह को ब्रह्म का अवतार मानते हैं। बिहार में भी कुछ णों की पदवी खाँ है। उत्तर प्रदेश में कुछ ऐसे भी मुसलमान हैं जो राजपूत मान, तेली मुसलमान और ब्राह्मण मुसलमान कहलाते हैं।

गाल में हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के बीच जो मिश्रण हुआ, उसका एक प्रमाण पीर" की पूजा भी मानी जा सकती है। यह पूजा हुसेन शाह के समय प्रवर्त्तित गी एवं सत्यनारायण की पूजा इसका मूल स्रोत थी। विशेषता यह हुई कि सत्य का पूजन करने एवं उनका माहात्म्य सुनने को हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही यों के लोग जमा होते थे! बंगाल में रमाई पंडित ने एक शून्य-पुराण भी लिखा वीं सदी) जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणों से सतधर्मी जब बहुत पीड़ित होने लगे उनकी रक्षा के लिए धर्म ने ही मुसलमानी रूप धारण किया और सभी देवता मा पहन-पहन कर ब्राह्मणों को मारने को आ गये।

हिन्दू-धर्म की विशेषता यह है कि वह बाहर से आयी हुई संस्कृतियों से मिलकर और नवीन हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर, इस्लाम से हिन्दुत्व का मिलन अंशों में मंगलकारी हुआ। इस्लाम के आगमन के बाद, भारत की राष्ट्रीय में वृद्धि हुई एवं जनता को मुगलों के समय सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता के आश्रय में और सुव्यवस्था का सुख मिला। साम्पत्तिक दृष्टि से भी, मुगलों का राज्य-काल के लिए सुवर्ण-काल के समान रहा। सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का और महत्त्व है। हमारी सारी आधुनिक देश-भाषाएँ इसी काल में उठकर खड़ी हुई जिस प्राचीन साहित्य का अभिमान ये भाषाएँ करती हैं, उसका अधिकांश इसी काल लिखा गया। भारत की मृतप्राय कला इसी युग में आकर पुनरुज्जीवित हुई। , सबसे बड़ी बात यह हुई कि बुद्धदेव ने बृहत् मानवता का जो आन्दोलन चलाया , वह इस काल के सन्तों और सुधारकों के प्रचार से और भी पुष्ट हो गया। ब्राह्मण

हमेशा से समाज में विशिष्ट अधिकारों का उपभोग करते आये थे और किसी भी ने उनके अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं किया था। अतएव, पठान काल में जब का कर उनपर भी लगा दिया गया, तब समाज को इस बात का कुछ अधिक हुआ कि ब्राह्मण और अब्राह्मण में भेद नहीं है।

मुगलों के पतन के समय, ऊँचे तबकों के लोग विलासी, अकर्मण्य और अवश्य हो गये थे, किन्तु, निर्गुनियाँ सन्तों की परम्परा तब भी अपना काम करती और निचले तबकों की जनता के सामने जीवन का पवित्र आदर्श तब भी कायम रामलीला, रासलीला और उसमें सम्मिलित होनेवाली जनता अन्ध-विश्वासी भले हो, किन्तु, अमीरों के दरबारों में जो पतनशीलता आ गयी थी, उससे निम्न का वर्ग बेदाग बच गया। इस काल में लालदासी, नारायणदासी और सतनामी जनता को जाग्रत रखने का काम करते रहे। धरनीदास, चरणदास और उनकी सहजोबाई और दयाबाई, ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। १९वीं सदी में परम्परा के सन्त दूलनदास, भीखादास और पलटूदास हुए। इनके चेले गृहस्थ साधारणतः, सदाचारी होते थे। इनकी बानियों में चिन्तन की गहराई नाम को भी है। ये केवल बानियों के द्वारा नैतिक मूल्यों का प्रचार करते थे। फिर भी, के लिए इन्होंने जनता में सात्विक तृषा को जगाये रखा तथा, इस प्रकार, आगे सन्तों—दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस—के लिए इन्होंने जमीन तैयार रखी।

मुसलमानों की राज्य-सत्ता ज्यों-ज्यों हिलती गयी, त्यों-त्यों उनका स्वभाव कोमल होता गया एवं हिन्दुओं के हृदय का भय भी निकलता गया। इससे, इस में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की भावना, जनता के धरातल पर, आप-से-आप पुष्ट गयी। राज्य-सत्ता से अलग रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान, आपस में, इस काल जितना समीप आये उतना पहले कभी नहीं आये थे।

किन्तु, इस काल में ऊपरवाले तबकों के हिन्दुओं और मुसलमानों में सँड़ाँध गयी थी एवं दिनोंदिन वे खोखले होते जा रहे थे। एक ओर वे विलास में दूसरी ओर, देश की छाती पर यूरोप की दो-तीन जातियाँ हड़कम्प मचा रही मुसलमानों के आगमन के समय हिन्दुओं की जैसी दयनीय स्थिति थी, मुगल-राज्य समाप्ति के समय, मुसलमान भी बहुत-कुछ वैसी ही स्थिति में आ गये थे। इश्क और गजलों के खुमार से देश तन्द्रा में झूम रहा था कि इतने में पलासी के में क्लाइव की तोपें गरज उठीं। यह गर्जन, असल में, एक नये युग की पुकार जिसका विवरण हम आगे के अध्याय में पढ़ेंगे।

चतुर्थ अध्याय

भारतीय संस्कृति और यूरोप

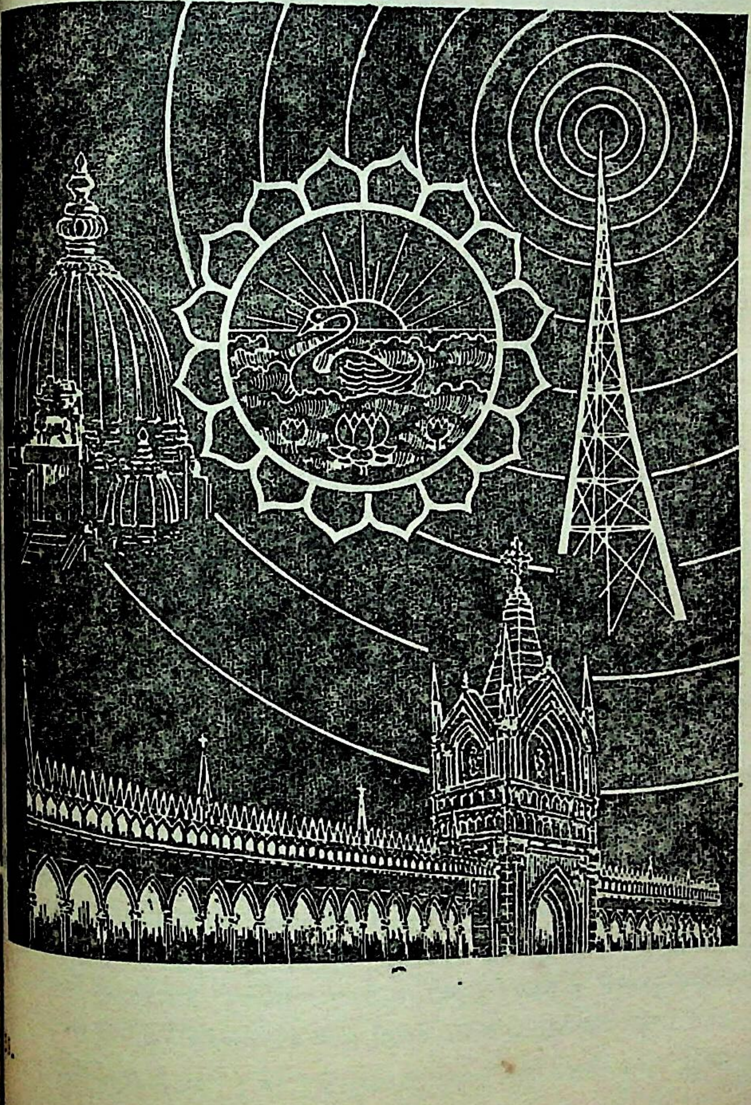

प्रकरण १

भारत में यूरोप का आगमन

गाल

बहुत प्राचीन काल में भी, रोम और भारत एक-दूसरे से अपरिचित नहीं थे। न्दर के समय (ई०पू० चौथी सदी) यूरोप में भारत का नाम काफी प्रसिद्ध था। जानते थे कि भारत धन और ज्ञान, दोनों का आगार है। इसी प्रसिद्धि ने सिकन्दर भारत की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी थी। सिकन्दर की चढ़ाई के बाद तो भारत र यूरोप का सम्बन्ध और भी गहरा हो गया। दोनों देशों के विद्वान् दोनों देशों में ने-जाते थे और दोनों देशों के बीच व्यापार सीधे होता था। उस समय दर्जनों नी शब्द भारत पहुँचे और संस्कृत भाषा में गृहीत हो गये। आज 'केन्द्र' शब्द को कर किसी को भ्रम भी नहीं होता है कि यह विदेशी शब्द होगा। किन्तु, तथ्य है कि यह, मूलतः, यूनानी शब्द (केंटर) से निकल कर संस्कृत में आ मिला है। प्रकार, हमारे ज्योतिष के रोमक-शास्त्र और पौलिश-शास्त्र भी यूनान के ज्योतिष ये हैं। किन्तु, जब यूरोप और भारत के बीच के देशों में मुस्लिम-साम्राज्य त हो गया, तब रोम और भारत के बीच का सीधा सम्बन्ध टूट गया एवं व्यापार मामले में अरब के मूर और दूसरे मुसलमान भारत और यूरोप के बीचवान हो गये। का माल भारतीय एवं अरबी व्यापारियों के द्वारा अरब और मिस्र तक जाने और इटली तथा वेनिस के व्यापारी मिस्र से यूरोप तक का व्यापार करने लगे। में रूढ़ियाँ बढ़ने लगीं और यह माना जाने लगा कि जिन देशों में आर्य नहीं , वहाँ जाना पाप है। इस प्रकार, भारतवासियों की सांस्कारिक जकड़बन्दी का उनके व्यापार पर भी पड़ा और वे सारी दुनिया को भूलकर केवल अपने देश दमी रह गये।

इस बीच, यूरोपवाले भी भारत का भौगोलिक पता भूल गये, यद्यपि, यह बात भली-भाँति याद थी कि यूरोप से पूर्व, भारत नाम का कोई देश है, जहाँ कोई जाय तो वह सोने से अपनी नाव भर कर लौट सकता है। सन् १४९२ई० में म्बस नामक स्पेन का व्यापारी भारत का पता लगाने को समुद्र की राह से निकला, भटकता-भटकता अमेरिका पहुँच गया। कुछ साल तक यूरोप अमेरिका को ही मानता रहा, किन्तु, कुछ लोगों को यह शंका बनी रही कि असली भारत का पता नहीं लगा है। तब सन् १४९८ई० में पुर्तगाल का एक नाविक, वास्को-डि- , अपनी नावों का बेड़ा लिये, सचमुच ही, भारत आ पहुँचा और कालीकट में के किनारे उसकी नाव २७ या २८ मई को लगी। कहते हैं, वास्को-डि-गामा मार्ग-प्रदर्शक कोई अरबी मुसलमान था[1], जिसने उसे सीधे भारतवर्ष पहुँचा दिया।

स्वामी ने (इंडिया फ्राम द डान) में लिखा है कि यह मार्ग-प्रदर्शक गुजराती था।

पहली शती में, भारत के व्यापारी इटली केवल १६ सप्ताहों में पहुँच जाते थे, कि
वास्को-डि-गामा को लिस्बन से भारत पहुँचने में कोई ग्यारह महीने लगे थे। काली
में वास्को-डि-गामा से जमोरिन ने जब यह पूछा कि 'कहाँ आये हो ?' तब उसने क
'ईसाइयों और मसालों की खोज में।' सत्य ही, यूरोपवाले भारत की ओर दो का
से प्रवृत्त हो रहे थे। एक तो ईसाइयत का प्रचार करने को, दूसरे व्यापार द्वारा
बटोरने को।

कालीकट का राजा वास्को-डि-गामा से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ।
पुर्तगाल के राजा को पत्र लिखा कि अब से हम और तुम मित्र हैं और हम दोनों
देशों के बीच खुलकर व्यापार चलना चाहिये। लेकिन, पुर्तगाल के राजा ने,
में, कालीकट को अपना उपनिवेश मान लिया और यह हुक्म देकर पुर्तगाल से
बड़ा-सा बेड़ा भारत भेज दिया कि उस देश में ईसाइयत का प्रचार करो और,
जरूरत हो, वहाँ युद्ध भी।

मालाबार-तट के सरदार व्यापार चाहते थे, इसलिए, उन्हें पुर्तगालियों का
अच्छा लगा, किन्तु, गुजरात के सुलतान महमूद वेगड़ा को नवागन्तुकों के आगमन
खतरे की घंटी सुनायी पड़ी। विशेषतः, उसे यह चिन्ता हुई कि इन पुर्तगालियों
हिन्द-महासागर पर आधिपत्य न मिल जाय। अतएव, उसने समुद्र में उनके
कई लड़ाइयाँ लड़ीं। लेकिन, अन्ततोगत्वा, इन लड़ाइयों का कोई परिणाम नहीं नि
और पुर्तगाली लोग गोआ में अपना किला बनाने में (सन् १५१०ई०) सफल हो

भारतवर्ष की कमजोरी यह थी कि इस देश के राजे नावों और जहाजों के
को नहीं जानते थे। सच तो यह है कि समुद्र भी राज्य का अंग होता है, इस बात
यहाँ के राजाओं का ध्यान ही नहीं था। अतएव, पुर्तगाली लोग पानी पर
अधिकार बढ़ाते गये और बहुत शीघ्र इस अवस्था में पहुँच गये कि उनका हुक्म
बिना समुद्र में कोई अपनी नाव ही नहीं भेज सकता था। कहते हैं, अकबर को
अपनी नाव लाल सागर की ओर भेजने के पूर्व पुर्तगालियों से परवाना लेना पड़ता

पुर्तगालियों को यह विजय कैसे मिली, कैसे वे इस्लाम के द्वारा शासित दे
अपनी सत्ता बनाने में सफल हो गये, इसका मुख्य कारण यह था कि दक्षिण भारत
हिन्दू राजे मुसलमानी सत्ता के खिलाफ थे। जब उन्होंने देखा पुर्तगाली भी इस्
के दुश्मन हैं, तब वे खुलकर या भीतर-भीतर पुर्तगालियों की सहायता करने
विजयनगर के हिन्दू राजाओं से तो पुर्तगालियों की प्रगाढ़ मैत्री थी। हिन्दू राजे
अधिक प्रसन्न इस बात से थे कि पुर्तगालियों के हाथों उन्हें शस्त्रास्त्र मिलते थे
पुर्तगालियों को खुशी इस बात की थी कि ये हिन्दू भी इस्लाम के वैसे ही विरोधी
जैसे स्वयं पुर्तगाल के लोग। इस्लाम के विरुद्ध पुर्तगाली लोग एशिया में भी
प्रकार पड़े हुए थे जैसे यूरोप में। क्रूसेड या धर्म-युद्ध की भावना ने सभी यूरो
लोगों को इस्लाम का द्रोही बना दिया था। एशिया में आने पर भी, पुर्तगाली इस
को जोरसे निभाना चाहते थे। जब पुर्तगाली लोग मलाया पहुँचे, उन दिनों, वहाँ इस्

नया-नया ही पहुँचा था और सभी द्वीपों में हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच संघर्ष रहा था। पुर्तगालियों ने इस संघर्ष से पूरा लाभ उठाया। मलाया में अपने आद-ों को प्रोत्साहित करते हुए अलबूकर्क ने कहा था, "मलाया में हमें परमात्मा की सेवा करनी है। हमें मूरों (मुसलमानों) को निकाल कर इस देश से बाहर फेंक है और मुहम्मद के सम्प्रदाय की आग को इस तरह बुझा देना है कि वह फिर जले। यदि ये लोग इन द्वीपों से निकल गये तो फिर सारे यूरोप को मसाला ने का काम पुर्तगाल करेगा।" धर्म-प्रचार का काम और मसालों का व्यापार, लियों की दृष्टि में, दोनों उद्देश्य एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ थीं।

जमीन पर पुर्तगालियों का अधिकार केवल बन्दरगाहों तक सीमित रहा। ये रगाह कभी तो उन्होंने बल से लिये और कभी हिन्दू राजाओं से सौदा करके। जहाँ-जहाँ वे रहे, वहाँ उनकी आत्मतंत्रता अक्षुण्ण रही, वहाँ उनका अपना चलता रहा और वहाँ के लोगों पर उन्होंने पुर्तगाली धर्म और तरीके लादने कर दिये। यूरोप में इस्लाम और ईसाइयत के बीच काफी दुश्मनी थी, इसलिए, गालियों ने यहाँ भी, मुसलमानों के प्रति दुश्मनी का भाव बनाये रखा। किन्तु, दुओं के भी वे मित्र नहीं हुए। सन् १५४५ई० में गोआ के गवर्नर ने कहा था कि देश में हम एक हाथ में क्रॉस (ईसाइयों का धर्म-चिह्न) और दूसरे में तलवार लिये आये हैं। पुर्तगाल वालों का यह बर्बर अहंकार आज भी गोआ के वाइसराय-गेट मूर्तिमान है, जहाँ एक पुर्तगाली साधु एक भारतवासी की छाती पर खड़ा होकर वार से भारतवर्ष की ओर इंगित कर रहा है।

पुर्तगाली गवर्नर अलबूकर्क (१५०९ से १५१५ई० तक) कुछ भला आदमी जरूर किन्तु, वह पुर्तगाली अन्याय का अवरोध नहीं कर सका। पुर्तगाली राज्य स्वेच्छा-यों का राज्य था, अन्यायियों का राज्य था एवं हिन्दुओं और मुसलमानों के सामने ने इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं छोड़ा था कि चाहे तो वे क्रिस्तान हो जायँ या पुर्तगाल के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी बितायँ। भारतवासियों की बहू-यों पर गोरे जुल्म तो करते ही थे, किन्तु, यदि कोई गृहस्थ उनपर हाथ छोड़ता बिना किसी जाँच-पड़ताल के उसके हाथ काट लिये जाते थे। सन् १५६०ई० में गालियों ने अपने कब्जे के नगरों और गाँवों में इनक्विज़िशन की प्रथा जारी की, के अनुसार, पुर्तगाल या ईसाइयत की हल्की भी आलोचना करनेवाला व्यक्ति तार कर लिया जाता था और उसे क्रूर-से-क्रूर सजाएँ दी जाती थीं। यही नहीं, व्यक्तियों को वे पुर्तगाल भेज देते थे, जहाँ उनकी किस्मतों का आखिरी फैसला क्विजिटर जेनरल के हाथों होता था। किस्मत का आखिरी फैसला यह था कि राधी जीवित ही आग में झोंक कर जला दिया जाय।

ईसाइयत का आगमन[1] भारत के दक्षिणी तट पर दूसरी या तीसरी सदी में ही

---

[1] कहते हैं, इंगलैण्डवालों को यह पता था कि मद्रास के मयलापुर में सन्त टामस का गिरजाघर है और राजा अल्फ्रेड ने उस गिरजे में उपहार चढ़ाने को कोई दूत भी भारत भेजा था।

हो चुका था, किन्तु, उसके प्रति भारतवासियों का कोई द्वेष नहीं था। पुर्तगालियों ने ईसाइयत को जिस रूप में उपस्थित किया, उससे भारतवासियों को इस धर्म के प्रति भयानक घृणा हो गयी और अठारहवीं सदी के अपरार्द्ध तक पुर्तगाल के अधिकार में जो बस्तियाँ थीं, उन्हें छोड़कर बहुत-से लोग अन्यत्र भाग गये।

पुर्तगालवालों की कोठियाँ पूर्वी भारत में भी थीं, जहाँ उनका प्रधान केन्द्र हु था। अतएव, पुर्तगालियों के जुल्मों के नमूने देश के विभिन्न भागों में दिखलायी प लगे। भारत के राजे पुर्तगालियों को दंडित करना तो चाहते थे, किन्तु, इन मक्का लोगों को दंड पूरा कभी मिल नहीं पाता था। वे डाके डालते थे, दिन-दहाड़े मचाते थे और भारतवासियों की इज्जत पर धावा करते थे। 'माडर्न इंडिया एण्ड वेस्ट' में **मनूची** नामक यूरोपीय यात्री का यह मत उद्धृत है कि चटगाँव के पास पु गालियों ने ऐसे-ऐसे जुल्म किये कि उन्हें देखकर ग्लानि से मनुष्य का मस्तक झुक जा है। आदमी को गुलाम बनाकर बेचने की उन्हें चाट लग गयी थी। औरत, मर्द बच्चे—यहाँ तक कि दूध पीते बच्चे को भी वे माँ की छाती से छीनकर बाजार बेच देते थे। **मनूची** लिखता है कि "ऐसे लोगों को ईसाई तो क्या, मनुष्य कहना गुनाह है।" आखिर, शाहजहाँ को एक बार क्रोध आया और उसने बंगाल में हजार पुर्तगालियों को कत्ल करवा डाला और पाँच हजार को जेलों में वन्द कर दि सन् १६३२ई० में हुगली और बंगाल में पुर्तगालियों का ऐसा दमन हुआ कि वे बंग में फिर कभी मस्तक नहीं उठा सके।

हालैण्ड का आगमन

इसी समय के आसपास भारत-समुद्र में हालैण्ड के नाविकों ने प्रवेश किया प्रवेश करते ही वे इस समुद्र पर छा गये। उन्होंने पुर्तगालियों को खदेड़ कर स्थानों से निकाल बाहर किया। सन् १६४८ई० में हालैण्ड और पुर्तगाल के बीच सन्धि हुई उसके अनुसार गोआ, दमन और दिउ के सिवा, सभी स्थानों से पुर्तगाल निकल गये और उनपर अधिकार डच जाति का हो गया। किन्तु, हालैण्डवाले भार में ठहरे नहीं। वे मसालों के व्यापार के लिए भारत आये थे और मसाले जावा, सुमा बोर्नियो आदि द्वीपों में अधिक थे। अतएव, डच लोग भारत से खिसक कर मला की ओर चले गये, जहाँ उन्होंने इण्डोनेशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया इण्डोनेशिया से हालैण्डवाले तब निकले, जब अँगरेज भारत से निकलने पर मजबूर हुए।

पुर्तगाल का सांस्कृतिक प्रभाव

पुर्तगालवाले सिमट कर तीन ही जगहों पर रहे, किन्तु, उन्होंने जो संस्कार फैला था, वह सारे भारत में फैल गया। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक, वे ही एकमात्र यूरोपी थे जो भारत में स्वच्छन्द विहार कर रहे थे। देश के प्रत्येक कोने में उनके अड्डे व्यापार के क्रम में वे सारे भारत में आते-जाते थे और समुद्र का मालिक होने के कार उनका कुछ रोब भी था। वे लोग अँगरेजों की आदत के विपरीत, भारत की स्त्रि से विवाह-सम्बन्ध भी करते थे। अतएव, उनकी सन्तानों से एक नयी जाति भारत

उत्पन्न हुई, जिसका समावेश यूरेशियन-सम्प्रदाय में हुआ। किन्तु, भारतीय संस्कृति को उनकी सबसे बड़ी देन नये-नये शब्दों के रूप में थी। उनकी भाषा कुछ तो हिन्दुस्तानी नौकरों और कुछ व्यापारियों में फैली थी, किन्तु, यही टूटी-फूटी किस्म की पुर्तगाली उन दिनों, भारत और यूरोप के सम्बन्ध की मुख्य भाषा हो चली थी। पुर्तगालियों के बाद जो डच, फ्रांसीसी और अँगरेज यहाँ आये, उन्हें बाध्य होकर पुर्तगाली सीखनी और बोलनी पड़ती थी, क्योंकि यही वह यूरोपीय भाषा थी जिसे कुछ भारतवासी समझ लेते थे। यह परम्परा काफी दिनों तक चलती रही। लार्ड क्लाइव कोई भी भारतीय भाषा नहीं जानता था, किन्तु, पुर्तगाली थोड़ी-बहुत उसे भी आती थी। अतएव, वह भी भारतीयों के साथ, स्थान-स्थान पर, पुर्तगाली में ही बातें करता था। इसी समय पुर्तगाली भाषा के सैंकड़ों शब्द भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा गये। हिन्दी में तो ये शब्द इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि अब उन्हें कोई अलग ही नहीं कर सकता। कमरा, नीलाम, पादरी, मारतौल, मेज, कुंजी, कमीज, अलमारी, गिरजा, पाउँ (रोटी), तु, ये और ऐसे अन्य अनेक शब्द पुर्तगाली भण्डार के हैं।

पुर्तगाल की दूसरी देन हुक्का और तम्बाकू है। यूरोप के लोग तम्बाकू की खेती अमेरिका से अपने देश में लाये थे। वहाँ से पुर्तगालियों ने उसे भारतवर्ष पहुँचाया। कहते हैं, तम्बाकू भारत में आते ही, सभी तबकों के लोगों में आसानी से फैल गयी और घर आनेवाले अतिथि को हुक्का या चिलम पिलाना स्वागत का सबसे सुलभ एवं प्रिय साधन हो उठा। तम्बाकू के इस व्यापक प्रचार से शाहजहाँ को घबराहट हुई थी। उसने फरमान निकाल कर लोगों को समझाना चाहा कि तम्बाकू बुरी चीज है; क्योंकि इसका परिणाम मनुष्य के शरीर और मन के लिए अनिष्टकारी होता है। किन्तु, बादशाह की बात पर भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया और बहुत-से लोग अनेक रूपों में इस नयी वस्तु का उपयोग करने लगे।

पुर्तगाल की और भी अनेक देनें हैं। अनानास, पपीता और अमरूद, ये पुर्तगालवालों के लाये हुए फल हैं। कोबी (गोभी) की खेती भी यहाँ पुर्तगालवालों ने चलायी और आलू भी उन्होंने ही दिया है। कलमी आम का विकास, विशेषतः, बम्बई के अलफांसों का विकास पुर्तगालियों ने किया था। भारत के फल-फूल और पौधों का पहला विवरण यूरोपीय भाषा में पुर्तगालवालों ने लिखा। भारत में पहला छापाखाना भी गोआ में ही खुला था।

सिफिलिस या उपदंश की बीमारी भारतवर्ष में नहीं थी। यह रोग यूरोप से भारत में आया और इसके लानेवाले पुर्तगाल के ही लोग थे। कहते हैं, उपदंश का रोग यूरोप में भी नहीं था। यूरोप में वह अमेरिका से पहुँचा और वहाँ से सारे विश्व में फैला है। शौन फिडेल[1] ने लिखा है कि यूरोपवालों ने नवीन विश्व (अमेरिका) से केवल मकई और तम्बाकू, टोमैटो और केला, आलू और कोको तथा वनीला और कोचिनियल ही

---

[1] A Cultural History Of The Modern Age, जिल्द-१।

नहीं लिये, बल्कि, सोना और सिफलिस भी। प्लेग की बीमारी भी भारत में यूरोपवालों की ही लायी हुई है।

पुर्तगाली लोग व्यापार भी चाहते थे, राज्य और रियासत भी तथा अपने धर्म प्रचार भी। यहाँ की स्त्रियों से विवाह करके उन्होंने एक नयी जाति भी खड़ी की किन्तु, डचों के सामने व्यापार ही प्रधान था। वे राज्य नहीं चाहते थे अथवा चाह भी थे तो उतना ही, जिससे व्यापार के अड्डे सुरक्षित रहें। यहाँ की स्त्रियों से विवा करने की नीति भी उन्हें पसन्द नहीं आयी और वे वहुत-कुछ उसी ढंग से अलग जैसे उनके बाद अँगरेज रहते थे। हाँ, एक बात हुई कि उन्होंने यह भाव स्पष्ट दिया कि व्यापार भी तभी निभ सकता है जब कि व्यापार के अड्डे किलों के समान उनमें सेनाओं की टुकड़ियाँ रखी जायँ और, सम्भव हो तो, आसपास के गाँव भी अधीन रहें। इस नीति का पूरा लाभ अँगरेजों ने उठाया। भारत में अँगरेजी कैसे-कैसे बढ़ा, इसकी व्याख्या करते हुए इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने था, "आरम्भ की यूरोपीय जाति ने व्यापार के अड्डे बनाये, अड्डे बढ़ते-बढ़ते कि गये, किले बढ़कर जिलों में परिवर्तित हुए और जिलों से फिर प्रान्तों का विकास हुआ।

फ्रांस का आगमन

डचों के बाद फ्रांसीसी लोग आये, किन्तु, उनका भारतीय संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ओमैले ने लिखा है[1] कि फ्रांसीसियों ने जो नीति बरती, उसका फायदा अँगरेजों ने ही उठाया। भारतीय राजाओं से सन्धि-सम्बन्ध बढ़ाने का काम पहल फ्रांसीसियों ने किया था। भारतीयों को यूरोपीय ढंग की सैनिक शिक्षा भी पहले उन्होंने ही दी थी और उन्होंने ही इन सैनिकों के सहारे बन्दरगाह से देश के भीतर घुसने का पहले-पहल साहस किया था। किन्तु, फ्रांसीसी शक्ति डोल रही। सन् १७४१ ई० में डुप्ले ने पाण्डिचेरी में फ्रांसीसी राज्य स्थापित कि किन्तु, बीस ही वर्ष बाद, मद्रास में फ्रांसीसियों की शक्ति चौपट हो गयी। तब फ्रांसीसी सेनापति यहाँ के राजाओं के काम करते रहे। उन दिनों का जो विवर मिलता है, उससे मालूम होता है कि फ्रांसीसी अफसर और सैनिक भारतवासियों साथ अच्छा व्यवहार करते थे एवं जनता के बीच वे बदनाम नहीं थे।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के दिनों में फ्रांसीसी लोग एक बार फिर भारत में दिखायी दिये। मैसूर के सुलतान टीपू ने क्रान्तिकारी फ्रांस से सन्धि की और सिरं पट्टम में उसने **स्वतन्त्रता के वृक्ष** का रोपण किया। हैदराबाद के निजाम का सेनाप उन दिनों फ्रांसीसी योद्धा रेमाण्ड था। क्रान्ति के जो-जो चिह्न फ्रांस में चलते उनका प्रचलन रेमाण्ड ने हैदराबाद में भी किया था। अतः, कहा जा सकता है फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से, एक तरह का, प्रतीकात्मक सम्बन्ध भारतवर्ष का भी

पुर्तगालवाले पन्द्रहवीं सदी के अन्त में आये थे। सत्रहवीं सदी में हालैण्डवालों आकर उन्हें अपदस्थ कर दिया। अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी और अँगरेज आये और

---

[1] माडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट

न्होंने डचों को पीछे ढकेल दिया। इस प्रकार, भारत की जमीन पर तीन-चार यूरोपीय जातियों का संघर्ष चलता रहा। मजे की बात यह रही कि यह संघर्ष इस बात को लेकर छिड़ा था कि कौन भारतवासियों को 'सभ्य' बनाता है और कौन इस 'सेवा' की 'दक्षिणा' वसूल करता है।

अँगरेजों का आगमन

अँगरेज जाति का कौन आदमी पहले-पहल भारत आया था, इसका ठीक पता नहीं है, लेकिन, जो अँगरेज पहले-पहल भारत में आ बसा, उसका नाम टामस स्टीफेन्स था और वह ईसाइयत का प्रचार करने के उद्देश्य से सन् १५७९ई० में गोआ आया था। स्टीफेन्स ने इस देश में चालीस वर्ष तक रहकर ईसाइयत की सेवा की।

तब महारानी एलिजावेथ का पत्र लेकर तीन अँगरेज भारत आये और सम्राट् अकबर के दरबार में उपस्थित हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना सन् १६००ई० में हुई एवं १६०८ ई० में जहाँगीर ने कम्पनी को सूरत में तम्बाकू की कोठी खोलने की अनुमति प्रदान की। तभी से तम्बाकू का भारत में एक नाम "सुरती" प्रचलित हुआ।

अँगरेज भारत में, मुख्यतः, व्यापार के लिए आये थे, अतएव, आरम्भ में राज्य-स्थापना अथवा धर्म-प्रचार की ओर उनका ध्यान नहीं था। फिर, भी कुछ यात्रियों ने भारत का जो विवरण यूरोप में उपस्थित किया, उससे वहाँ के लोग दंग रह गये। यूरोपवालों के मन में भारत सोना-चाँदी, हीरा-जवाहर और रेशम तथा किमखाव से सज्जित देश हो उठा। मिल्टन की कविताओं में भारत तथा पूर्वी देशों का जहाँ भी उल्लेख आया है, वहाँ रेशम और जवाहर की जगमगाहट खूब दिखायी देती है। १७वीं सदी का भारत मुगलों का भारत था, जो सोने से चमचमा रहा था। इस भारत की सुनहरी झाँकी ड्राइडन के नाटक 'औरंगजेब' में भी आयी है। यूरोप में भारत की धनधान्य-पूर्णता का प्रचार फ्रांस के दो भारत-यात्रियों, टवर्नियर और बर्नियर ने भी किया, जिससे सारा यूरोप भारत आकर सोना लूटने को बेकरार हो उठा।

गुजरात के सूबेदार बहादुरशाह से हुमायूँ की जो लड़ाई हुई थी, उसमें पुर्तगालियों ने बहादुरशाह का साथ दिया था, जिसके पुरस्कार-स्वरूप शाह ने पुर्तगालवालों को मुम्बई और बसई के द्वीप दे दिये थे। सन् १६६१ई० में यही मुम्बई द्वीप इंगलैण्ड के राजा को दहेज में प्राप्त हुआ।

बंगाल के एक सूबेदार ने एक अँगरेज डाक्टर के इलाज से खुश होकर सन् १६५१ ई० में अँगरेजों को हुगली में कोठी बनाने की अनुमति दे दी। सन् १६७९ई० में औरंगजेब ने उन्हें हुगली नदी में जहाज चलाने का अधिकार भी दे दिया।

सन् १६९०ई० में अँगरेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम का निर्माण किया। अब उनके भीतर राज्य स्थापित करने का लोभ जगने लगा, यद्यपि, औरंगजेब के जीते-जी उनका यह मनसूबा पूरा नहीं हो सकता था। किन्तु, औरंगजेब के बाद देश की केन्द्रीय सत्ता कमजोर होने लगी और राजे आपस में लड़ाइयाँ लड़ने लगे।

तब बहती गंगा में पाँव पखारने की घड़ी अँगरेजों को साफ दिखायी पड़ी और उन्होंने इससे लाभ उठाने में एक क्षण भी विलम्ब नहीं किया। भारत में लड़ाइयाँ तो अँगरेजों ने पहले भी लड़ी थीं, किन्तु, देश में उनकी धाक बिठानेवाली विजय उन्हें पलासी के मैदान में मिली (१७५७ ई०) और बक्सर की लड़ाई उन्होंने सन् १७६४ई० में जीती जिसमें अवध के नबाव शुजाउद्दौला और बादशाह शाह आलम ने मीर कासिम का साथ दिया था। इस लड़ाई में भारतवासियों की पराजय का अर्थ था समस्त भारतीय शक्तियों की पराजय। हारे हुए नवाब और बादशाह से इलाहाबाद में क्लाइव ने अपनी शर्तें मंजूर करवायीं (१७६५ई०) और, इस प्रकार, मनमाने ढंग पर उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। भारत में अँगरेजी शासन का वास्तविक आरम्भ यहीं से होता है।

भारत असंगठित था। भारत वैर-फूट से पीड़ित था। भारत सैनिक और सामुद्रिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था और भारत के मुसलमान राजे विलासी और कमजोर थे। फिर भी, अँगरेज भारत को उस सरलता से अपने अधीन नहीं ला सके जिस सरलता से मुसलमान विजयी हुए थे। भारत-विजय में अँगरेजों को सौ साल लग गये। यहीं के रुपयों और यहीं के आदमियों को लेकर अँगरेजों ने भारत में छोटी-बड़ी १११ लड़ाइयाँ लड़ीं। तब कहीं जाकर भारत उनके अधीन हुआ।

सन् १८५७ई० तक भारत में ईस्ट इण्डियां कम्पनी का राज्य रहा। तब गदर के रूप में भारत ने अचानक महाक्रान्ति कर दी। यह क्रान्ति दबा दी गयी, किन्तु उसके बाद भारत का भार अँगरेजी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया और यह भार उसके कन्धों से ९० साल बाद उतरा, जब सन् १९४७ई० में भारत स्वाधीन हुआ एवं अँगरेज अफसर, सैनिक और व्यापारी, शान्ति के साथ, अपने देश को लौट गये।

जब तक भारत गुलाम रहा, अँगरेज यही कहते रहे कि हम भारत में अपने लिए नहीं हैं। असल में, भारत में हम सभ्यता का विस्तार कर रहे हैं, वहाँ के लोगों को आपसी मार-काट में पड़ने से बचा रहे हैं। किन्तु, जैसा कि अमेरीकी दार्शनिक श्री विल डुराण्ट ने लिखा है, "भारत-विजय का काम धर्म और सभ्यता के सिद्धान्त से नहीं, डारविन और नीत्शे के सिद्धान्त से जायज था। जिस जाति में अपना शासन आप चलाने की शक्ति नहीं रहती, जो जाति अपने धन-जन का आप विकास नहीं कर सकती और जिस देश का एक प्रान्त दूसरे प्रान्त को तथा एक जाति दूसरी जाति को बराबरी का दर्जा देने को खुद तैयार नहीं होती, वह जाति और देश उन लोगों का गुलाम होकर रहता है, जिन्हें लोभ की बीमारी और शक्तिमत्ता का रोग है।"

ईसाइयत के प्रचारक

पुर्तगाली लोग जुल्मी और अविचारी तो थे, पर जनता से उनका सम्पर्क जरूर था। बाद के यूरोपीय लोगों की कमजोरी यह रही कि वे यहाँ की जनता से कभी भी एकाकार नहीं हुए। एकाकार होने की बात तो दूर रही, अँगरेज भारत में जहाँ भी रहे, इंग्लैण्ड में रहे। उन्होंने कभी यह सोचा ही नहीं कि जिस देश में वे बस रहे हैं वहाँ के लोगों से हिलना-मिलना भी उचित है।

यूरोपीय जाति की इस कमी को ईसाइयत के प्रचारकों (मिशनरियों) ने पूरा या। भारत में धर्म-प्रचार करनेवाले मिशनरी-संघों में तीन के नाम बहुत उल्लेखनीय जाते हैं। सबसे पहले सोलहवीं सदी में **पुर्तगाली मिशन** आया ; तब सत्रहवीं दी में (१६०६ई०) **इटलीवालों** का दल पहुँचा और, अन्त में, अठारहवीं सदी से नमार्क के मिशनरी भी भारत में धर्म-प्रचार करने लगे। बहुत दिनों तक इनका चार-क्षेत्र भारत के दक्षिणी भाग में सीमित रहा, जहाँ पहले से ही ईसाइयत का ड़ा-बहुत प्रचार था। किन्तु, वहाँ भी धर्म-परिवर्तन करनेवाले हिन्दू मिशनरियों को ठिनाई से मिलते थे। पुर्तगाली मिशन के प्रधान, फ्रांसिस जेवियर ने काफी दिनों क प्रयास किया, किन्तु, जब उसे धर्म बदलनेवाले लोग यहाँ नहीं मिले, तब वह यह हकर जापान चला गया कि **"इस देश में तो ईसा की शरण में जाने के उपदेश को** मृत्यु **की शरण में जाने का उपदेश मानते हैं।"**

भारतवासियों को धर्म के तत्त्व किताबों में कम, धार्मिक मनुष्यों के व्यक्तित्व में धिक दिखायी देते हैं। किन्तु, पुर्तगालियों और कुछ मिशनरियों के जो भयानक रूप न्होंने देखे थे, उससे भारतवासी घबरा उठे और ईसाइयत से उन्हें चिढ़-सी हो गयी। नामक एक अँगरेज ने जब कुछ हिन्दुओं से ईसाई बन जाने को कहा, तब वे लोग उठे, "ईसाई लोग बुरे होते हैं, वे शराब पीते हैं ; दूसरों को पीटते और गालियाँ ते हैं।" एक दूसरे पादरी से किसी हिन्दू दूकानदार ने कहा था, "क्या मैं भी ईसाई कि तुम्हें धोखा दूँगा ?"[1]

स्पष्ट ही, भारतवासियों ने ईसाइयत के विषय में ऐसा मत लोभ और क्रूरता में यूरोपीय लोगों को देखकर बनाया था। अन्त में, पादरियों ने आजिज आकर त्व की सीधी राह पकड़ी। उन्होंने अत्यन्त सरल और साधु जीवन बिताने के मित्त ब्राह्मणों का बाना धारण किया ; वे **छुआछूत को मानने लगे** और ईसाई हिन्दू, दोनों ही, सम्प्रदायों में जाति की प्रथा का भी पालन करवाने लगे। अचरज है कि ऐसा करने की अनुमति उन्हें खुद पोप ने दी थी। इस आडम्बर से ईसाइयत प्रचार तो कुछ बढ़ा, किन्तु, वह स्थायी नहीं हुआ। अतएव, सन् १७५९ई० में ने इस नकली तरीके को रोक दिया।

अकबर ईसाई धर्म का भी प्रेमी था, अतएव, उसने ईसाइयत के प्रचार में रोड़ा अटकाया। जहाँगीर के समय में भी ईसाइयत का प्रचार चलता रहा, बल्कि, उसके मय में तो ईसाइयों ने आगरे में एक कालेज और एक गिरजाघर भी बनवा लिया। न्हीं दिनों, ईसाई प्रचारक बंगाल में भी काम करने लगे।

ईसाइयों ने बहुत शीघ्र धर्म-प्रचार के लिए स्कूल और विद्यालय खोलने शुरू कर ये और वे यहाँ की भाषाएँ सीखकर ईसाइयत का साहित्य भी देश में फैलाने लगे। बाइबिल का अनुवाद उन्होंने तमिल में किया एवं तमिल में मिशनरी-कवियों ने प्रार्थना गीत भी लिखे। **टामस स्टीफेंस** (जो १५७९ई० में गोआ आया था) ने मराठी और

---

[1] माडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट।

कोंकणी पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया एवं कोंकणी में उसने एक ईसा-पुराण लिखा, जिसका उन दिनों, यथेष्ट आदर हुआ था। मराठी भाषा की स्टीफेन्स ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसकी उपमा उसने फूलों में जूही, पक्षियों में मोर और सुगन्धों में मुश्क से दी है।

तमिल-साहित्य में बेश्ची ने बड़ा नाम किया। वह मदुरा मिशन में १७०७ ई० में आया था और सन् १७४२ ई० में तमिल का अपने समय का सर्वश्रेष्ठ पण्डित कहला-कर मरा।

जो काम दक्षिण की भाषाओं में, मदुरा आदि स्थानों में हो रहा था, वही काम सिरामपुर (बंगाल) के मिशन में हिन्दी, बँगला और उर्दू के लिए किया जाने लगा। सिरामपुर में मिशनरियों ने छापेखाने खोले, अखबार और पुस्तकें निकालीं एवं गद्य में उन्होंने ढेर-का-ढेर साहित्य तैयार किया। वस्तुतः, उत्तरी भारत में धर्म-प्रचार की राजधानी ईसाइयों ने सिरामपुर में ही स्थापित की।

मनुष्य, सामान्यतः, यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उसका कोई भी धर्म-बन्धु अपने धर्म को छोड़ कर किसी अन्य धर्म को स्वीकार करे। इस दृष्टि से ईसाइयत का प्रचार भारत में भी लोकप्रिय नहीं हुआ है। किन्तु, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भारत की नयी भाषाओं की जो सेवा की, वह भूलने की चीज नहीं है। आवश्यकता तो उनकी अपनी थी कि यहाँ की भाषाओं को सीख कर लोगों को अपनी बात समझायें, किन्तु यह कार्य उन्होंने बड़े मनोयोग से किया। प्रायः, प्रत्येक भाषा के उन्होंने प्रारम्भिक व्याकरण लिखे ; प्रायः, प्रत्येक भाषा के अक्षरों के उन्होंने टाइप ढलवाये और, प्रायः, प्रत्येक भाषा के गद्य को उन्होंने आगे बढ़ाया। हिन्दी का गद्य, यद्यपि, पहले से ही आ रहा था, किन्तु यहाँ भी ईसाई धर्म-प्रचारकों की एक सेवा प्रत्यक्ष है। अँगरेजों ने राजनैतिक कारणों से यह चाहा था कि नागरी में भी उर्दू ही चलायी जाय, जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते थे। उनके अफसर बार-बार यह शिकायत करते थे कि उर्दू-भाषा यहाँ की जनता नहीं समझती, किन्तु, शासक अपनी जिद पर अड़े थे। मगर, प्रचारकों को तो भाषा लादनी नहीं थी। जब उन्होंने देखा कि नागरी में लिखी फारसी-मिश्रित हिन्दी से उनका काम नहीं चलता है, तब वे अपनी पुस्तकों में खुलकर संस्कृत-निष्ठ अथवा साधु-हिन्दी का प्रयोग करने लगे, जिसकी परम्परा हिन्दुओं के यहाँ बहुत पहले से चली आ रही थी और जिसमें भाषा-योग-वासिष्ठ एवं पद्म-पुराण-जैसे ग्रन्थ लिखे जा चुके थे।

बनियाँ राज

अँगरेजों की राजधानी कलकत्ते में थी। वे राजा नहीं, व्यापारी थे और समुद्र के किनारे राजधानी रखने से उनके व्यापार को लाभ था। किन्तु, धीरे-धीरे, जब उनमें राजमद उभरा, उन्होंने मुगलों की नकल करनी चाही। ताजमहल का जवाब लिखने को अँगरेजों ने कलकत्ते में विक्टोरिया-मेमोरियल बनवाया और सन् १९१२ ई० में वे राजधानी को कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले गये। उस समय महाकवि

अकबर इलाहाबादी ने एक शेर लिखा था जो बड़ा ही अर्थपूर्ण था।

कदम अँगरेज कलकत्ते से अब दिल्ली में धरते हैं।
तिजारत देख ली, देखें, हुकूमत कैसी करते हैं।

मगर, हुकूमत अँगरेजों का उद्देश्य नहीं थी। हुकूमत वे इसलिए कर रहे थे कि इससे उनकी तिजारत को फायदा था। जब तिजारत को फायदा नहीं रहा, वे हुकूमत छोड़कर चले गये।

भारत में अँगरेजों का आरम्भिक आवास व्यापार के केन्द्र थे, जिनमें कारखाने थे, दुकानें थीं और गोदाम थे। इन आवासों में से, प्रायः, सब-के-सब या तो समुद्र के किनारे पड़ते थे या किनारे से बहुत समीप। पश्चिम में उनके आवास सूरत, अहमदाबाद और कालीकट में थे तथा पूर्व में उनके केन्द्र मद्रास, मछलीपट्टम, गंजाम, बालासोर और कलकत्ते में। केवल बम्बई ऐसा द्वीप था जो चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाल से दहेज में मिला था। राजा ने सन् १६८१ई० में बम्बई को भी कम्पनी के हवाले कर दिया।

लेकिन, व्यापार के केन्द्र बढ़ते-बढ़ते राज्य क्यों बन गये, इसके कारण अनेक थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि देश की राज्य-व्यवस्था कड़ी नहीं थी। यहाँ की केन्द्रीय सत्ता कमजोर थी और अपने राज्य की सीमा के बादवाले भाग में जनता का क्या हाल है, इसपर यहाँ के राजाओं की दृष्टि नहीं थी। जब-जब राज्यहीनता की अवस्था उत्पन्न हुई, व्यापारियों को अपने हित में, वहाँ का राज्य-भार सँभालना पड़ा। भारत में यह परम्परा तो पुर्तगालियों के ही समय से आ रही थी कि जहाँ व्यापार का केन्द्र हो, वहाँ कानून भी अपने देश के चलें। अँगरेज भी उसी राह पर चले और शान्ति-व्यवस्था कायम रखकर व्यापार करने के लिए उन्हें कुछ फौज भी रखनी पड़ी, तथा कुछ पुलिस और मैजिस्ट्रेट भी। इस प्रकार, अँगरेजी राज्य का विकास यहाँ व्यापार की रक्षा और विकास की दृष्टि से किया गया, जिसका प्रभाव अँगरेजी ढंग के राज्य-संगठन पर अब तक विद्यमान है। लार्ड वेलेस्ली (१७९८-१८०५) ने इस बात की शिकायत की थी कि "भारत पर राज्य राजधानी से नहीं, बल्कि, पैसा गिननेवाले काउण्टर से चलाया जा रहा है। यहाँ राज्य राजे नहीं, बल्कि, वे लोग चला रहे हैं जो मलमल और नील की खुदरा बिक्री का काम करते हैं।"

अँगरेजी राज्य की इण्डियन-सिविल-सर्विस-जैसी प्रतिष्ठित संस्था भी व्यापार के पेट से जनमी थी। पब्लिक स्कूल से निकला हुआ कोई अँगरेज लड़का जो कम्पनी के मालिकों का कृपा-पात्र होता था, कम्पनी के दफ्तर में काम करने को भारत भेज दिया जाता था। यहाँ कम्पनी उसे, सबसे अधिक, हिसाब-किताब का काम सिखलाती थी। ये ही लोग आगे चलकर इण्डियन सिविल सर्विस के आरम्भिक सदस्य हुए। ये लड़के पहले किरानी (Writer) होते थे, पीछे फ़ैक्टर (फैक्ट्री से) और तब वे जूनियर सौदागर बना दिये जाते थे। कम्पनी के प्रधान कार्यालय में जो मुख्य अफसर होता था, उसे प्रेसिडेंट कहते थे। उसी के नाम पर, आगे चलकर, मद्रास, बंगाल और बम्बई के प्रान्त प्रेसीडेंसी कहलाने लगे। राइटर (किरानी) के नाम के कारण ही, पश्चिमी

बंगाल का सेक्रेटेरियट अभी तक **राइटर्स बिल्डिंग** कहलाता है। लेकिन व्यापार के सामने नौकरी क्या चीज है? व्यापारी को जो लाभ होता है, वह क्या किसी को नौकर को दिया जा सकता है? किन्तु, कम्पनी के राज्य में यही हुआ। जो छोटे सौदागर आइ०सी०एस० बनाये जाने लगे, उनकी क्षतिपूर्त्ति के लिए तरह-तरह से उनकी आमदनी बढ़ाने की शर्तें रखी गयीं। उनका वेतन तो बहुत अधिक रखा ही गया, यहाँ तक कि गवर्नर-जनरल का वार्षिक वेतन २० हजार पौण्ड, प्रेसिडेंसी के गवर्नर का वेतन १० हजार पौंड और कौंसिलर का वेतन ६ हजार पौंड रख दिया गया। वेतन की इस भयानक दर पर सारा संसार आश्चर्य प्रकट करता है। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, विधान-परिषद् में जब यह बात उठी कि आइ०सी०एस० के अफसरों का वेतन घटाया जाना चाहिये, तब सरदार पटेल बिगड़ उठे और उन्होंने कहा कि ऐसा करोगे तो मैं सरकार छोड़कर वाहर चला जाऊँगा। दुःख है कि आइ०सी०एस० वालों को खुद भी यह नहीं सूझता कि वे वेतन में स्वेच्छा से उचित कटौती कर दें। ईस्ट इण्ड़िया कम्पनी अपने सौदागर अफसरों को जो वेतन देती थी, गरीब भारतवर्ष को अपने अफसरों को वही वेतन देना पड़ रहा है।

कम्पनी-राज्य की एक दूसरी विशेषता यह थी कि चूँकि कम्पनी का प्रधान दफ्तर इंग्लैण्ड में था, इसलिए, रिपोर्ट, नोट और मिनट (विवरण) लिखने की अफसरों को वहुत जरूरत पड़ती थी। अफसर यहाँ की भाषा नहीं समझते थे, यहाँ की अवस्था का उन्हें काफी ज्ञान नहीं था, इसलिए, रिपोर्टों पर भरोसा करना जरूरी समझा जाने लगा और जो अफसर वढ़िया-से-वढ़िया रिपोर्ट लिख सके, वही श्रेष्ठ माना जाने लगा। इस प्रकार, शासन की सारी योग्यता सिमट कर कलम में आ गयी और राज-काज में कर्म से अधिक वाणी (लिखित) के आदर की परम्परा चल पड़ी। आज भी वे अफसर बुरे नहीं समझे जाते, जिनसे वास्तविक काम तो कम होता है, किन्तु, जो लिखने में होशियार हैं। मेकॉले ने कहा था कि पूर्व की ओर जानेवाले अँगरेज राजनीतिज्ञ के लिए यह आवश्यक है कि वह खूब लिख सके, जैसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले राजमंत्रियों के लिए यह जरूरी है कि वे सभाओं में गरज सकें।

व्यापार की वृद्धि और करों की वसूली, ये ही दो उद्देश्य थे, जिनके लिए कम्पनी इस देश पर राज्य कर रही थी। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण रहा कि अँगरेजी राज में सबसे क्रियाशील और शक्तिशाली अफसर का नाम ही **कलक्टर** (तहसीलदार) पड़ गया।

अँगरेजी राज्य का देशी रजवाड़ों से जो सम्बन्ध था, वह भी व्यापार पर आधारित था। अवध की वेगमों के वारे में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में थेरिडॉन ने जो भाषण दिया था, उसमें उसने **"नीलाम की डाक बोलनेवाले राजदूत"** **"व्यापार करनेवाले सेनापति"**, **"एफीडेविट के जरिये क्रान्ति करनेवाले क्रान्तिकारी"** और **"गिरफ्तारी के काम पर निकलनेवाली सेनाओं"** की काफी निन्दा की थी। उसने यह भी कहा था कि हैंडनोट की वसूली के लिए हिन्दुस्तान के नगरों पर घेरा डाला जाता है और बादशाह गद्दी से इसलिए उतार दिये जाते हैं कि उनके पास अँगरेजों के कुछ पैसे बाकी हैं।

□□□

प्रकरण २

शिक्षा में क्रान्ति

क्षा की भारतीय परम्परा

जब इस देश में अँगरेजी राज फैलने लगा, उस समय ऐसा नहीं था कि यहाँ शिक्षा प्रचार न रहा हो। मुस्लिम-राज्यकाल में फारसी उत्तर भारत में काफी लित हो गयी थी और फारसी के मदरसे उत्तर भारत के, प्रायः, सभी नगरों में कर रहे थे। जगह-जगह धनी-मानी लोग अपने घरों पर भी मौलवी रखा करते जो फारसी पढाते थे। इसके सिवा, सारे देश में संस्कृत-टोल और पाठशालाएँ भी करती थीं। यही नहीं, नगरों और गाँवों में रहनेवाले प्रत्येक पण्डित का घर मोटी पाठशाला होता था। तत्कालीन संस्कृत-विद्यालय आज की तरह सुसंगठित नहीं थे, किन्तु, उनकी संख्या काफी अच्छी थी। और प्राथमिक पाठशालाओं की तो बहुत अधिक थी, जिनमें पढ़-लिखकर लोग व्यावहारिक काम-काज में लग थे। इनके सिवा, उच्च विद्यालय भी थे, जिनका उद्देश्य न्याय, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष् तथा आयुर्वेद की उच्च शिक्षा देना था। तत्कालीन स्थिति पर ऐडम (Adam) की जो रिपोर्ट निकली थी, उसमें कहा गया था बंगाल-विहार में हर चार सौ व्यक्तियों पर एक स्कूल था। सन् १८२१ ई० में के गवर्नर सर टामस मनरो ने जो जाँच करवायी थी, उससे यह पता चला था मद्रास की सवा करोड़ जनसंख्या में से कोई दो लाख लोग विद्यालयों में पढ़ रहे श्री एम०आर० परांजपे ने लिखा है कि उस समय मद्रास के प्रत्येक गाँव में स्कूल था।

किन्तु, भारत की यह शिक्षा-पद्धति जीर्ण-शीर्ण, गतानुगतिक और निष्प्राण थी। पुरानी पोथियों में लिखी हुई थीं, लोग उन्हें ही पढ़ते जा रहे थे। नयी बातें अथवा नया ज्ञान खोज निकालने की प्रवृत्ति विद्वानों में थी ही नहीं। व्याकरण, दर्शन और ज्योतिष् के सिवा यदि कोई और पाठ्यक्रम था तो वह अत्यन्त गणित का था। इतिहास, भूगोल, ज्यामिति और स्वास्थ्य-विज्ञान तक का इस देश से उठ गया था। पुराणों में जो कुछ लिखा हुआ था अथवा बाप-दादों रंजित कथाओं के रूप में जो कुछ सुनने को मिल जाता था, वहीं तक छात्रों इतिहास-विषयक शिक्षा थी और धार्मिक शिक्षा के नाम पर मुसलमानों के यहाँ और हिन्दुओं के यहाँ स्तोत्र रटवाने की परिपाटी थी। कविता और काव्य-का देश में अच्छा प्रचार था, किन्तु, अन्य आवश्यक विद्याएँ अत्यन्त सीमित में थीं।

मुगलों के समय में शासन की भाषा फारसी रही थी। वही फारसी धीरे-धीरे की भी राजभाषा बन गयी। फारसी पढ़े-लिखे लोग आसानी से मिल जाते

थे, इसलिए, आरम्भ में, कम्पनी को स्कूल खोलने की फिक्र ही नहीं हुई। कम्पनी- जनता को शिक्षित करने का दायित्व उठाना नहीं चाहता था, न जनता ही तब स्कूलों की माँग करने की अवस्था में थी। अतएव, काफी लम्बे समय तक शिक्षा ओर अँगरेजी शासन का ध्यान नहीं गया।

अँगरेजी का पाँव फैलाना

फिर भी, अँगरेजों के भारत में आ जाने से अँगरेजी भाषा थोड़ा-बहुत पाँव फै लगी थी और इस काम में उसके सहायक कुछ तो कम्पनी के कर्मचारी थे, कुछ मानी, उदार भारतीय लोग और सबसे अधिक ईसाई धर्म-प्रचारक। कम्पनी के चारी भारतवासियों को अँगरेजी सिखाना इसलिए चाहते थे कि उनके अपने का आसानी हो, धर्म-प्रचारक इसलिए कि अँगरेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति आसानी से क्रि बनाया जा सकता था[1] और भारतीय अमीर इस भाव से प्रेरित थे कि अँगरेजी लिखे बाबुओं का अँगरेजों के यहाँ सम्मान था। किन्तु, कम्पनी-शासन इस प्रवृत्ति प्रोत्साहन देना नहीं चाहता था। इसका एक कारण तो यह था कि अँगरेज इस में अपने राज की जड़ जमाना चाहते थे, अपने देश की सभ्यता फैलाना नहीं। अभी तक उन्होंने यह तय नहीं किया था कि भारतवर्ष को अँगरेजी सिखाना होगा या नहीं।

तब सन् १७८१ई० में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में एक मदरसा खोला, जि एक मौलवी और चालीस मुस्लिम छात्र थे और जिसका उद्देश्य मुसलमानों को शिक्षा देना था। भारतवर्ष में शिक्षा का यही पहला काम था, जिसे कम्पनी सरका अपने कन्धे पर लिया। इसके ठीक दस वर्ष बाद, सन् १७९१ ई० में बनारस के जोनाथन डंकन के कहने पर लार्ड कार्नवालिस ने बनारस में हिन्दुओं के लिए भी संस्कृत कालेज की स्थापना की जो शिक्षा के क्षेत्र में कम्पनी-सरकार का दूसरा कहा जा सकता है।

भारतवासियों को अँगरेजी की शिक्षा दी जाय, यह विचार पहले-पहल सर ग्रांट के मस्तिष्क में सन् १७९२ई० में आया और उन्होंने कम्पनी के डायरेक्टरों बोर्ड के समक्ष यह प्रस्ताव सन् १७९३ई० में रखा। किन्तु, इस प्रस्ताव पर उन गम्भीरता से विचार करने को बोर्ड का कोई भी सदस्य तैयार नहीं हुआ। सिरा मिशन के धर्म-प्रचारक बड़े उत्साह में थे। उनके संसर्ग मे आनेवाले हिन्दुओं में कुछ लोग अँगरेजी सीख गये थे और, खास कर, ऐसे ही लोग आरम्भ में क्रिस्तान

---

१. पाश्चात्य सम्पर्क के बाद भारत में जो पहले मेधावी गणितज्ञ निकले, उनका रामचन्द्र था। वे दिल्ली में रहते थे, किन्तु, क्रिस्तान थे। सुप्रसिद्ध कव तोरू दत्त क्रिस्तान थीं, उनके पिता गोविन्दचन्द्र दत्त भी क्रिस्तान थे। बंगा अँगरेजी के जो पहले विद्वान हुए, उनका नाम साहेबचन्द्र बनर्जी था। वे क्रिस्तान थे और माइकेल मधुसूदन दत्त के धर्म-परिवर्तन की बात तो प्रसिद्ध है

। इससे प्रोत्साहित होकर ईसाई धर्म-प्रचारक अँगरेजी शिक्षा के पक्ष में आ गये थे। न्तु, ठीक इसी कारण से कम्पनी के डायरेक्टर डरते भी थे। पुर्तगालियों ने भारत ईसाइयत का प्रचार करके जो दुर्नाम कमाया था, वह अँगरेजों के लिए सबक हो था। अतएव, वे इस गलती को दुहराना नहीं चाहते थे। १८०८ ई० में डायरेक्टरों कम्पनी को सुनिश्चित आदेश दे दिया था कि भारतवासियों के धर्म में हस्तक्षेप बिल-न नहीं किया जाना चाहिये। फिर भी, ये ईसाई धर्म-प्रचारक बाज नहीं आये और ईसाइयत का प्रचार करते ही गये।

सच पूछिये तो धर्म-प्रचारक के लिए केवल अँगरेजी ही नहीं, देश-भाषाओं की भी षा आवश्यक थी। ईसाई-धर्म-प्रचारक अपना मौखिक उपदेश और लिखित साहित्य, नों ही हिन्दुओं के बीच बिखेरने लगे थे। अतएव, यह आवश्यक था कि जनता में क्षा का प्रचार हो जिससे वह लिखित साहित्य से प्रभावित की जा सके। धर्म-प्रचार ले में ही मिशनरी स्कूलों की भी जरूरत समझी गयी, क्योंकि छात्रों के धार्मिक श्वास में सीधे हस्तक्षेप नहीं करने पर भी स्कूलों में उन्हें, अन्य बीसियों प्रकार से, भावित किया जा सकता था। सिरामपुर मिशनवालों ने अपना छापाखाना ही नहीं, ब का कारखाना भी कर रखा था और उन्होंने बाइबिल का अनुवाद इस देश की ीन भाषाओं में प्रकाशित कर दिया था। इन अनुवादों का सदुपयोग तभी सम्भव जब देश-भाषाओं के स्कूल खुलते और खास ढंग की स्कूली पुस्तकें तैयार की जातीं।

कलकत्ते के मदरसे और काशी के संस्कृत कालेज के बाद, कम्पनी-सरकार ने कई तक शिक्षा की दिशा में तीसरा कदम नहीं उठाया। कलकत्ते में सन् १८०१ई० में फोर्ट विलियम कालेज खुला, वह तो सिर्फ कम्पनी के नये अफसरों को देश-भाषाओं शिक्षा देने को था। इसी प्रकार, सन् १८२०ई० में धर्म-प्रचारकों ने कलकत्ते में अपनी संस्था खोली, जिसका नाम बिशप कालेज था। बंगाल में इस समय तक लोग उत्पन्न हो गये थे जो अँगरेजी भाषा की महिमा जानते थे। स्पष्ट ही, ऐसे गों में राममोहन राय अग्रणी थे। इनके उद्योग से काशी में एक स्कूल खुला, जिसमें रेजी के साथ-साथ हिन्दी, फारसी और बँगला पढ़ाने का भी प्रबन्ध था। राजा मोहन राय बराबर कम्पनी-सरकार के सामने यह आन्दोलन कर रहे थे कि भारत अँगरेजी शिक्षा का आरम्भ अविलम्ब किया जाना चाहिये, किन्तु, सरकार तब तक इस के लिए तैयार नहीं थी। अतएव, अपने दो मित्रों की सहायता से (जिनमें से एक स्टर डेविड हेयर नामक घड़ीसाज और दूसरे सर हाइड ईस्ट, चीफ जस्टिस थे) मोहन राय ने सन् १८१६ई० में कलकत्ते में हिन्दू महाविद्यालय की स्थापना की, आगे चलकर प्रेसिडेन्सी कालेज कहलाने लगा। इस कालेज की स्थापना इस प्रकार कि राममोहन राय के आग्रह से सर हाइड ईस्ट ने कलकत्ते के कुछ सम्भ्रान्त सज्जनों अपने घर पर बुलाया और उनके समक्ष यह बात रखी कि हिन्दू युवकों की शिक्षा लिए कलकत्ते में एक कालेज का खोला जाना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्ताव को सभी नों ने सहर्ष स्वीकार किया और कोई पचास हजार रुपये का वचन भी तत्क्षण ही

प्राप्त हो गया। किन्तु, जब लोगों को यह ज्ञात हुआ कि इस योजना के पीछे मोहन राय का हाथ है, तब वे सब-के-सब उलट गये और उन्होंने राय के साथ करने से बिलकुल इनकार कर दिया। किन्तु, राममोहन राय ने इस अवसर पर ही धैर्य का परिचय दिया और दूरदर्शितापूर्वक उन्होंने समिति से अपना नाम ले लिया। इस प्रकार, उनकी बुद्धिमत्ता के फलस्वरूप, इस कालेज की स्थापना सकी। राममोहन राय फारसी और अरबी के प्रगाढ़ विद्वान् तो थे ही, उनका सहन और खान-पान भी मुसलमानों के समान था और मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध खुलकर प्रचार भी किया था। परिणाम यह हुआ कि उनके ही धर्म के लोग बहिष्कार कर बैठे।

शिक्षा की दिशा में ये, लगभग, गैर-सरकारी प्रयत्न थे। सरकारी प्रयत्न वास्तविक आरम्भ तो सन् १८१३ई० के ईस्ट इण्डिया ऐक्ट में हुआ, जिसमें पहल, कानूनी तौर पर, यह बात दर्ज की गयी कि भारत में शिक्षा के काम पर प्रति वर्ष सरकारी कोष से एक लाख रुपये खर्च किये जा सकते हैं। किन्तु, इस की रकम भी शिक्षा-प्रसार के नाम पर कलकत्ता बुक सोसाइटी और कलकत्ता सोसाइटी को दे दी गयी। असल में, एक लाख रुपये भी सरकार ने इसलिए कि उनसे भारतीय विद्याओं की रक्षा और उन्नति की जा सके। अभी तक सरकार यह बात स्वीकार नहीं की थी कि भारतवासियों को अँगरेजी पढ़ाने का काम किया जाय। अतएव, राजा राममोहन राय के इस हठ के बावजूद कि संस्कृत की शिक्षा फैलाने से प्रकाश नहीं आयगा, सरकार ने एक कालेज (सन् १८२४ई०) तथा दूसरा दिल्ली में (सन् १८२५ई०) इस उद्देश्य से खोल कि इन संस्थाओं के द्वारा भारत की तीन प्राचीन भाषाओं (संस्कृत, अरबी फारसी) की शिक्षा दी जा सके। सरकार के इस कृत्य की राममोहन राय ने घोर से आलोचना की और लार्ड एमहर्स्ट को पत्र लिखकर उन्होंने यह कहा कि की पार्लमेंट के सदस्य यह चाहते ही नहीं कि भारत में ज्ञान का प्रकाश फैले, वे अँगरेजी के बदले भारत की प्राचीन भाषाओं का इतना पिष्टपेषण नहीं राममोहन राय दूरदर्शी पुरुष थे। वे समझ गये थे कि भारत का भविष्य शिल्प, इतिहास, राजनीति और पाश्चात्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में है। बात उन्हें दिखलायी नहीं पड़ी, वह यह थी कि पाश्चात्य विद्याओं का ज्ञान जिस के साथ भारतीय भाषाओं द्वारा फैलाया जा सकता था, उस तेजी के साथ वह के द्वारा नहीं फैल सकता था। राममोहन राय पाश्चात्य विद्याओं के प्रचार का मात्र साधन अँगरेजी को मानते थे। अतएव, वे सुगठित ढंग से अँगरेजी के लिए बेचैन हो उठे। यहीं से शिक्षा के क्षेत्र में प्राच्यवादियों और अँगरेजी के के बीच द्वन्द्व आरम्भ हुआ।

शिक्षा के लिए जितना सुचिन्तित प्रयास बंगाल में किया गया, उतना नहीं। मद्रास में टूटी-फूटी अँगरेजी का ज्ञान बहुत-से लोगों को आप-से-आप हो

था, क्योंकि वहाँ अँगरेजी कितने ही भारतवासियों के बीच स्थानीय बोली के समान लने लगी थी। बम्बई में अरबी, फारसी और संस्कृत का स्थान सुदृढ़ नहीं था। धर के लोग देश-भाषा के पक्ष में थे और देश-भाषाओं की शिक्षा के क्रम में अँगरेजी आप-से-आप आ गयी थी। प्राच्य और पाश्चात्य का झगड़ा, मुख्यतः, कलकत्ते में ही ला और वहीं लार्ड मेकाँले के परामर्श से लार्ड विलियम बेंटिक ने अपनी सन् १८३५ई० वाली घोषणा में यह एलान किया कि भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होगी। यह बड़े ही महत्त्व की घोषणा थी, क्योंकि इसीके कारण, भारत का मानसिक कायाकल्प पूर्ण हुआ। इस घोषणा के अनुसार, प्रत्येक जिले में एक जिला स्कूल खोलने का काम तुरन्त आरम्भ हो गया और उनकी देखा-देखी और भी स्कूल खुलने लगे। कहते हैं, यह ज्ञान की अपूर्व जागृति का समय था। हिन्दू कालेज से निकले ए नौजवान जगह-जगह स्कूल खोल कर लोगों को अँगरेजी की शिक्षा देने लगे और लोक अँगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति को सरकारी नौकरी से मिलनेवाली प्रतिष्ठा और सुविधा का उपभोग करते देखकर बहुत-से छात्र अँगरेजी शिक्षा की ओर दौड़ पड़े। अँगरेजी शिक्षा, सहसा, इतनी लोकप्रिय हो उठी कि उत्सुक छात्रों के लिए स्कूलों और स्कूली किताबों का प्रबन्ध करना सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए असम्भव हो गया।

सन् १८३५ई० के बाद, अँगरेजी शिक्षा का जोर बेतरह बढ़ने लगा और जनता, के उत्साह को देख कर सरकार भी शिक्षा-विषयक व्यय में वृद्धि करने लगी, यद्यपि, भीतर-ही-भीतर, सरकार यह जानती थी कि शिक्षा का जो प्रबन्ध किया जा रहा था, उसका लाभ केवल उच्च वर्गवालों को ही पहुँचनेवाला था। सरकार की यह आशा थी कि ऊँचे वर्गवालों में जब ज्ञान पहुँच जायगा, तब उसका बहुत-सा अंश देश-भाषाओं के द्वारा सामान्य जनता में भी प्रसरित हो जायगा। किन्तु, शिक्षा-विशेषज्ञों की यह आशा पूरी नहीं हुई और अँगरेजी का माध्यम होने के कारण, शिक्षित भारतीयों का ज्ञान अशिक्षित समुदाय के बीच नहीं पहुँच सका। इस ज्ञान का जो भी अंश जनता को प्राप्त हुआ, वह राष्ट्रीय आन्दोलनों के बाद, जब अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग जनता के पास जाने लगे।

जिस वर्ष भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ, ठीक उसी वर्ष कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में यूनिवर्सिटियाँ भी कायम की गयीं। आगे चल कर, सन् १८८२ई० में, लाहौर में पंजाब यूनिवर्सिटी बनी और सन् १८८७ई० में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। फिर तो, देश में स्कूलों और कालेजों की धूम मच गयी—यहाँ तक कि सन् १८८२ई० में इन संस्थाओं में अँगरेजी पढ़नेवाले भारतीय नवयुवकों की संख्या २०-२५ लाख तक पहुँच गयी।

मिशनरियों की आशा

आरम्भ में अँगरेज क्यों रुके रहे, बाद में उन्होंने संस्कृत और फारसी को क्यों बढ़ाया और फिर वे कैसे अँगरेजी की अनिवार्यता पर आ गये, इन बातों को लेकर

काफी आलोचना चलती है। एक मत यह है कि शिक्षा-प्रचार के पीछे ईसाई धर्म-प्रचारकों का जो इतना बड़ा समर्थन रहा, उसका कारण यह था कि वे भारतीयों के बीच अपने ढंग की शिक्षा-पद्धति चला कर इस देश भर को क्रिस्तान बनाना चाह थे। आदिम जातियों के बीच उनका प्रवेश शिक्षा के सहारे हुआ था और शिक्षा के सहारे ही उन्होंने इन जातियों के लोगों को अपने धर्म में भी दीक्षित किया था। कु उच्च वंशीय बंगाली हिन्दू भी शिक्षा के जाल में ही खिसकते-खिसकते क्रिस्तान हो र थे। अतएव, धर्म-प्रचारकों को बहुत बड़ी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही सारे हिन्दू-समाज को ईसाई बनाने में समर्थ हो जायँगे। सरदार के०एम० पनिक्क का भी अनुमान है कि अँगरेजी को भारत में शिक्षा का माध्यम बनानेवाले अधिकारि के मन में यही आशा थी।[1] सरदार पनिक्कर के अनुमान का थोड़ा-सा समर्थ मोनियर विलियम्स की बातों से भी होता है। उन्होंने **संस्कृत इंगलिश-डिक्शनरी** नाम अपने महाग्रन्थ की भूमिका (१८९९ई०) में लिखा है कि मेरे गुरु कर्नल वोडेन की अन्तिम इच्छा थी कि "**ईसाइयत के धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में** किया जा **चाहिये, जिससे हमारे देशवासी भारतीयों को ईसाइयत में दीक्षित करने के** कार्य **प्रगति कर सकें।**" मोनियर विलियम्स ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुए ही बृहत् कोष तैयार किया, जिससे ईसाई धर्म-ग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद काम में सहायता हो और धर्म-प्रचारकों को यह पता चल सके कि "हमारे पू साम्राज्य के लोगों की धार्मिक आवश्यताएँ क्या हैं?"[2]

एक दूसरा अनुमान यह है कि अँगरेजी की शिक्षा भारत में इस उद्देश्य से चला गयी थी कि **यहाँ के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग तन से भारतीय, किन्तु, मन से अँगरेज जायँ**, जिससे अँगरेजों का विरोध करने की उनकी इच्छा ही नहीं हो। किन्तु, दो से एक आशा भी पूरी नहीं हुई। अँगरेजी के सम्पर्क से हिन्दू-धर्म में जागृति की ऐसी लहर उठी कि हिन्दुत्व का रोग ही दूर हो गया और अँगरेजी पढ़ने के कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता की उमंग उठी, जिससे वे अपने अधिकारों की माँग करने ल अँगरेजी भाषा और भारत में चलनेवाले अँगरेजी शासन में कभी सामंजस्य उत नहीं हुआ। अँगरेजी भाषा के द्वारा भारतीय छात्रों को वे विचार सिखाये जाते थे स्वतन्त्रता के विचार थे, जो क्रान्ति के विचार थे, जो गौरव, वीरता और बलिदान विचार थे। किन्तु, इन विचारों से प्रेरित भारतीय जब अपने मस्तक को ऊपर उठा चाहते थे, तब उनपर दमन की लाठी चलायी जाती थी। सन् १९२०ई० के बाद

---

१. It is true that the authors of the scheme had hoped that as result of infiltration, Hindu Society which was then considere to be in the process of dissolution, would disappear and th population of India would be saved for Christ. (Asia and Western Dominance).

२. Sanskrit-English Dictionary. लेखक Monier Williams.

भारत के कालेजों में बोथाम, कारलाइल और मिल-जैसे उत्तेजक विचारकों के लेख छात्रों के लिए निर्धारित कम किये जाने लगे और बी०ए० की कक्षाओं में उन्हें शैली-सौन्दर्य का लोभ दिखा कर "ट्रैवेल्स विद ए डंकी" (आर०एल० स्टीवेन्सन) जैसी तृतीय श्रेणी की पुस्तकें पढ़ायी जाने लगीं, किन्तु, इससे कुछ बिगड़ा नहीं। इन विचारकों की पुस्तकें भारत भर में उपलब्ध थीं और अँगरेजी जाननेवाला कोई भी व्यक्ति उन्हें कहीं से भी पढ़ सकता था। वास्तव में, पाश्चात्य विचारों को इस देश में फैला कर अँगरेज शासक उनके प्रभावों को रोक नहीं सकते थे। डाडवेल ने एक वाक्य खूब लिखा है कि "हमने विद्रोह का साहित्य पढ़ा कर प्रशासकों की जाति खड़ी करनी चाही।"[1]

अँगरेजी के गुण और दोष

जब से भारत में राष्ट्रीयता का आविर्भाव हुआ, लोग अँगरेजी शिक्षा के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहने लगे हैं। इस शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह बताया जाता है कि इसके कारण भारत के शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच एक खाई-सी खुद गयी और जो भी आदमी ग्रेजुएट हुआ, वह अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन गया। इसी प्रकार का अपरिचय अँगरेजी शिक्षावालों का उन लोगों के भी साथ है जो केवल हिन्दी, संस्कृत, फारसी, बँगला, तमिल या और देश-भाषाएँ पढ़कर शिक्षित हुए हैं। एक दूसरा दोष यह है कि अँगरेजी सीखने के लिए जो श्रम किया जाता है, वह तो फिर भी सार्थक है, क्योंकि हम एक नयी भाषा सीख लेते हैं, किन्तु, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र और अन्य सारी विद्याओं का अँगरेजी में सिखाया जाना अनावश्यक बोझ है। यदि देश-भाषाओं के द्वारा हम विविध विद्याओं की शिक्षा देते तो युवकों के मस्तिष्क पर उतना बड़ा बोझ नहीं पड़ता, जितना अँगरेज़ी के माध्यम मे सीखने में पड़ता है। यह भी हुआ कि भाषा की साधना में सदैव लीन रहने के कारण, छात्रों का सारा मन साहित्यिक हो उठा, ज्ञान-संचय की विशेषता की ओर उनका ध्यान जोर से खींचा नहीं जा सका। आज तक हमारे छात्र केवल इसी चिन्ता से त्रस्त रहे हैं कि शुद्ध-शुद्ध अँगरेजी लिखने की योग्यता वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं। भाषा की योग्यता से अलग जो ज्ञान के अनेक क्षेत्र हैं, उनमें विचरण करने का अवकाश छात्रों को मिलता ही नहीं है। एक यह दोष भी बताया जाता है कि विदेशी भाषा के साथ जो विदेशी मनोदशा, विदेशी चिन्तन-पद्धति और विदेशी संस्कृति आयी, उसे भारत के भीतर पचाने के क्रम में दो-तीन पीढ़ियों का समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया।

किन्तु, इस शिक्षा से, हानि की तुलना में, लाभ कुछ अधिक हुआ है, इसे अस्वीकार करने का प्रयास व्यर्थ है। वस्तुतः, वर्त्तमान भारत का जन्म ही अँगरेजी-शिक्षा-पद्धति की गोद में हुआ। जब अँगरेज आये, भारत का बहुत ही बुरा हाल था। भारतवासी अपने इतिहास को भूल चुके थे; वे बाहर का तो क्या, अपने देश का भी भूगोल ठीक

---

[1] We tried to raise a race of administrators on the literature of revolt.

(A Sketch of the History of India—1858-1918.)

से नहीं जानते थे। वैयक्तिकता का विष जो भारत में बहुत दिनों से चला आ रहा था, इस काल में आकर और भी बढ़ गया था। समाज और देश के प्रति भी हमारा कोई कर्त्तव्य है, इस बात को लोग बिल्कुल ही भूल बैठे थे। इस अवस्था के बीच, पहले-पहल अँगरेजी शिक्षा के द्वारा ही वह दल आविर्भूत हुआ, जिसका उद्देश्य सामाजिक था, जो केवल अपने को ही नहीं, अपने देश और समाज को भी पहचानने की इच्छा रखता था। समाज और देश के प्रति जो नवीन चेतना जगी, उसी के भीतर से हमारी सारी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियों का जन्म हुआ है। सामाजिक चेतना ही वह गुण है जो आज के औसत भारतवासी को प्राचीन अथवा मध्ययुगीन भारतवासी से विभक्त करता है और यह चेतना भारत को यूरोपीय सम्पर्क से मिली है। यह ठीक है कि भारतीय जनता को अशिक्षा एवं अन्धविश्वास की जकड़बन्दी से छुड़ाने अथवा उसके भीतर प्रगतिशील विचारों को प्रेरित करने का काम अंगरेज शासकों ने नहीं किया, किन्तु, नयी विद्या के प्रचार से ये सारे कार्य आप-से-आप हो गये। नयी शिक्षा का एक अन्य श्रेष्ठतम परिणाम यह हुआ कि अँगरेजी के भीतर से यूरोप के तेजपूर्ण विचारों का सेवन करते-करते शिक्षित भारतवर्ष की मानसिक एकता में वृद्धि हुई। संस्कृत के सार्वदेशिक भाषा होने के कारण, पहले भी सारा भारत एक था, किन्तु, संस्कृत का भारत में जितना अन्तःप्रान्तीय प्रचार था, उससे कुछ अधिक प्रचार अब अँगरेजी का हो गया। अतएव, भारत की भौगोलिक एकता अब कुछ और प्रबल हो गयी एवं देश-भाषाओं की विभिन्न दीवारें जो एक भाषा-क्षेत्र को दूसरे भाषा-क्षेत्र से अलग किये हुए थीं, स्वयमेव छोटी हो गयीं। फारसी के जरिये जो भाषागत एकता उत्पन्न हुई थी, वह दक्षिण तो पहुँची ही नहीं थी, उत्तर में भी वह बहुत कमजोर थी। किन्तु, अँगरेजी के सार्वदेशक प्रचलन के कारण देश की एकता बहुत ही पुष्ट हो गयी। आज भी हमारी एकता का सबसे बड़ा आधार अँगरेजी भाषा ही है जिसमें हमारी सरकार और संसद् के अधिकतर काम चल रहे हैं। देश ने यह निश्चय किया है कि जिस राष्ट्रीय एकता को आज अँगरेजी सँभाले हुए है, वह बोझ हिन्दी उठा ले और जनता अपनी देश-भाषाओं में ही अपना काम करे, किन्तु, ऐसा लगता है कि यह कार्य, शनैः-शनैः ही, पूरा होगा।

सबसे बड़ी बात यह हुई कि जब अँगरेजी भाषा भारत में अपना पाँव फैला रही थी, ठीक उसी समय, यूरोप में स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और उदार भावनाओं के जोरदार आन्दोलन चल रहे थे। अठारहवीं सदी में यूरोप में क्रान्तिकारी विचारों के जो नेता उत्पन्न हुए, अनेक हलचलों और क्रान्तियों के बाद, उन्नीसवीं सदी में आकर उनके विचारों ने दर्शन का रूप ले लिया और वे यूरोप को आन्दोलित करने लगे। विचारों का यह आन्दोलन सहस्र धाराओं में चल रहा था एवं कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, दर्शन, भाषण और शास्त्रार्थ तथा राजनैतिक दलों एवं सरकारों के संगठनों में से, सब-के-सब, इन विचारों से, ओत-प्रोत हो रहे थे। फ्रांसीसी क्रान्ति का "स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व" वाला महान् उद्घोष अब पिघलकर उदारता-

वाद में ढल गया था। खुद इंग्लैण्ड में उस समय कानूनी सुधारों को लेकर घमासान आन्दोलन चल रहा था। राज्य वही अच्छा है जिसमें अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो, ये और ऐसे अनेक अन्य विचार इंग्लैण्ड में भी गृहीत होते जा रहे थे। इन सारे विचारों और आन्दोलनों का उत्तराधिकार भारत को, आप-से-आप, प्राप्त हो गया, क्योंकि अँगरेजी भाषा के द्वारा इस देश के चिन्तक यूरोपीय विचारों के गहन सम्पर्क में थे। भारतवर्ष में अँगरेजी की पुस्तकें और समाचार-पत्र धड़ल्ले से आ रहे थे, अतएव, यूरोप में चलनेवाले वैचारिक आन्दोलनों के साथ भारत अनायास सम्बद्ध हो गया एवं जिन भावनाओं की चोट से यूरोप के मस्तिष्क की शिराएँ थरथरा रही थीं, उन भावनाओं की चोट भारत को भी महसूस होने लगी। यूरोप की वैचारिक क्रान्तियों में उस समय भारत ने अपना योगदान, विचारक की हैसियत से भले ही न दिया हो, किन्तु, उनका प्रभाव ग्रहण करने में यह देश यूरोप से पीछे नहीं रहा।

कम्पनी सरकार की शिक्षा-नीति

कम्पनी सरकार भारतवासियों की शिक्षा की जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थी। सरकार कई प्रकार की कठिनाइयों से डरती थी। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि अगर सारी जनता को शिक्षित करने का कार्यक्रम बनाया जाय तो इस विशाल कार्य के लिए धन कहाँ से आयेगा? दूसरी कठिनाई यह थी कि जनता को शिक्षित करना है तो यह शिक्षा किन-किन भाषाओं में दी जा सकती है। तीसरी कठिनाई यह थी कि यूरोपीय विद्याओं का ज्ञान अगर भारत में बिखेरना है तो ये विद्याएँ भारतीय भाषाओं में उतारी कैसे जायँ? एक चौथी कठिनाई इस बात को लेकर थी कि अगर यूरोपीय ज्ञान भारतीयों को दिया गया तो वे स्वराज्य की माँग करेंगे और कम्पनी-शासन के सामने मुसीबत खड़ी हो जायगी।

कम्पनी का चार्टर हर बीस साल के बाद बदला जाता था। सन् १७९३ई० में जब कम्पनी को नया चार्टर दिया जाने लगा, तब चार्ल्स ग्राण्ट (१७४६-१८२३) ने बहुत कोशिश की कि कम्पनी की जिम्मेवारियों में शिक्षा भी सम्मिलित कर दी जाय। लेकिन, उस समय, उसे कामयाबी नहीं मिली। परन्तु, उसी के उद्योग से सन् १८१३ई० वाले चार्टर में कम्पनी को शिक्षा की जिम्मेवारी दे दी गयी और इस मद में उस समय केवल एक लाख रुपये रखे गये। बीस वर्ष बाद, जब १८३३ई० में कम्पनी को नया चार्टर दिया जाने लगा, तब यह रकम बढ़ा कर दस लाख कर दी गयी।

चार्ल्स ग्राण्ट के विचार भारतवासियों के बारे में बहुत बुरे थे। भारतवासियों को वह मूर्ख, धर्म-आचार-विहीन तथा पतनशील समझता था। सबसे पहले उसी ने इस विचार को प्रोत्साहन दिया कि भारतवासियों के सुधार का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें अँगरेजी पढ़ायी जाय। उसका कहना था कि जब विदेशियों को शिक्षित करना होता है, तब शिक्षा उन्हीं की भाषा में दी जाती है, यह ठीक है। लेकिन, भारत का

हाल दूसरा है। वहाँ बहुत-से लोग खुद ही अँगरेजी सीख रहे हैं। यह भी कि विजेता अगर विजित समाज को अपने रंग में रँगना चाहे तो इसका सबसे सुगम उपाय यह है कि वह उसे अपनी भाषा सिखा दे। मुसलमानों ने अपने शासन-काल में हिन्दुओं को फारसी पढ़ायी थी। नतीजा यह हुआ कि हिन्दू उन्हें अपने से श्रेष्ठ मानने लगे। यही नीति अँगरेजों को भी अपनानी चाहिए। ग्राण्ट ने ब्रिटिश सरकार को सबसे बड़ा लोभ यह दिखाया कि अँगरेजी के जरिये हिन्दुओं को ईसाइयत का पूरा ज्ञान हो जायगा और ईसाइयत पर लट्टू होकर वे आसानी से क्रिस्तान हो जायेंगे।

सन् १८१३ई० से लेकर सन् १८५४ई० तक शिक्षा की सारी नीति कम्पनी के अफसरों और मिशनरियों के अधीन थी। इस काल में मुख्य प्रश्न दो थे। पहला यह कि शिक्षा का माध्यम क्या हो? और दूसरा यह कि शिक्षा के तरीके क्या हों? सन् १८५४ई० के पूर्व तक कम्पनी ने जन-शिक्षा की जवाबदेही की बात ही नहीं चलायी, क्योंकि जन-शिक्षा का कार्यक्रम तभी पूरा हो सकता था, जब शिक्षा के माध्यम भारतीय भाषाएँ बनायी जातीं। इसलिए, अँगरेजों ने भारत की नहीं, अपनी सुविधा की राह पकड़ी और एक नयी नीति का आविष्कार किया, जिसे वे फैल कर नीचे पहुँचने का सिद्धान्त (Downward filtration theory) कहते थे। इस नीति का अर्थ यह था कि चूँकि सब को शिक्षित करना असम्भव है, इसलिए, केवल ऊपर के तबकों को पढ़ा दो। शिक्षा, आप-से-आप, नीचे की सतह तक फैल जायेगी। इसमें अँगरेजों का एक भाव यह भी था कि कम्पनी-शासन के स्थापित होने से जिनका स्वत्व छिना है, वे ऊपर के ही तबकों के लोग हैं। वे अँगरेजी पढ़ कर नौकरी और इज्जत पा गये तो समाज में खलबली नहीं मचेगी।

शिक्षा के माध्यम का प्रश्न

जिन दिनों कम्पनी-सरकार इस द्वन्द्व में पड़ी थी कि भारतवासियों को शिक्षा किस माध्यम से दी जाय, उन दिनों भारत के शासकों में तीन प्रकार के मत प्रचलित थे। हेस्टिंग्स और मिण्टो संस्कृत, फारसी और अरबी के पक्षपाती थे। उस समय के वरिष्ठ अफसरों में से, प्रायः, सभी लोग इसी मत के थे। उनका विचार था कि इन्हीं भाषाओं को जनता की शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिये और इन्हीं भाषाओं के द्वारा यूरोपीय विद्याओं का प्रचार सारे देश में किया जाना चाहियं।

हेस्टिंग्स और मिण्टो से अलग मनरो और एलफिंस्टन थे, जिनका विचार यह था कि संस्कृत, अरबी और फारसी के द्वारा भारतवासियों की शिक्षा व्यापक नहीं बनायी जा सकती। उनकी शिक्षा का माध्यम आधुनिक भाषाएँ ही हो सकती हैं। यदि यूरोप के नये ज्ञान को हमें भारतीय जनता तक ले जाना है तो यह कार्य केवल उन भाषाओं के जरिये किया जा सकता है जो जनता की चालू भाषाएँ हैं।

तीसरा दल चार्ल्स ग्राण्ट के अनुयायियों का था जो यह मानता था कि नवीन विद्याएँ भारतवासियों को अँगरेजी के ही माध्यम से दी जा सकती हैं। इस दल में प्रबलता मिशनरियों की थी और नये सिविलियन भी इसी मत को मानते थे।

यह दल काफी कमजोर था, किन्तु, जब मेकॉले आया, उसने इसी पक्ष को सबल बना दिया।

एक ही समय में अनेक प्रयोग

विचित्र बात है कि आगे चल कर भारत का जो प्रान्त राष्ट्रीयता का अग्रणी होनेवाला था, भारतीय भाषाओं का सबसे अधिक विरोध उसी ने किया। बंगाल में जो विवाद उठा, वह संस्कृत और अँगरेजी के बीच था। वहाँ उस समय किसी ने यह सोचा ही नहीं कि शिक्षा का माध्यम बँगला और हिन्दी भाषाएँ भी हो सकती हैं। मिशनरी लोग अपना प्रचार **बँगला** और **हिन्दी** भाषाओं में कर रहे थे। तब तक बँगला में बाइबिल-जैसे ग्रन्थ का अनुवाद किया जा चुका था। किन्तु, मेकाले ने जब यह कहा कि भारत के इस भाग की भाषाएँ (यानी बँगला और हिन्दी) बिलकुल रद्दी हैं और उनमें यूरोप की नवीन विद्याओं का अनुवाद भी नहीं किया जा सकता,[1] तब उसके इस आक्षेप का किसी ने भी प्रतिवाद नहीं किया। शोक की बात तो यह है कि मेकॉले के भारतीय सहधर्मी, आज स्वतन्त्रता के १५ वर्ष बाद भी, वही बात कह रहे हैं और हमारे प्रतिवादों का उनपर आज भी कोई प्रभाव पड़ता दिखायी नहीं देता है!

बंगाल में सन् १८२३ई० में "जेनरल कमेटी आव् पब्लिक इंस्ट्रक्शन" नामक संस्था बनायी गयी, जिसने सन् १८२३ई० से लेकर १८३३ई० के बीच कलकत्ते में एक मदरसा और एक संस्कृत कालेज की स्थापना की, बनारस में संस्कृत कालेज खोला तथा आगरे और दिल्ली में भी ओरियण्टल कालेजों की स्थापना की। इस समिति ने संस्कृत और अरबी में पुस्तकें छापीं एवं विद्वानों को संस्कृत और अरबी में अँगरेजी की पुस्तकें अनूदित करने के काम पर नियुक्त किया।

इस समिति का विरोध भारतीयों की ओर से हुआ। विरोधियों में सबसे प्रमुख राजा राममोहन राय थे, जिन्होंने सन् १८२३ई० में कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना का घोर विरोध किया। समिति ने इस विरोध का सामना यह कहकर किया, कि अँगरेजी पढ़ानेवाले शिक्षकों का अभाव होने के कारण संस्कृत और अरबी का माध्यम बदला नहीं जा सकता। किन्तु, इसका कोई परिणाम नहीं निकला। जनमत अँगरेजी के पक्ष में था। मिशनरियों ने जिन्हें अँगरेजी पढ़ा दी थी, वे नौकरी पा गये थे। बाकी लोग भी उन्हीं का अनुकरण करना चाहते थे।

माध्यम भारतीय भाषाएँ हों

अपनी भाषागत कठिनाइयों का जो समाधान भारत आज खोज रहा है, उस समाधान पर सबसे पहले एलफिंस्टन की दृष्टि गयी थी। एलफिंस्टन (Mount Stuart

---

[1] The dialects; commonly spoken by the natives in this part of India contain neither literary nor scientific information and are moreover so poor and rude that until they are enriched from some other quarter, it will not be easy to translate any valuable work in them. —लार्ड मेकॉले

Elphinstone) सन् १८१९ई० से लेकर सन् .१८२७ई० तक बम्बई के गवर्नर थे। सन् १८२४ई० में शिक्षा पर उन्होंने जो मिनट तैयार किया था, उसके दो उद्देश्य थे :—

(१) नैतिक और प्राकृतिक विज्ञानों की पुस्तकें भारत की आधुनिक भाषाओं में तैयार करवायी जायँ और उन्हीं भाषाओं के द्वारा भारत की जनता को शिक्षित किया जाय।

(२) जो लोग एक क्लासिक भाषा के रूप में अँगरेजी सीखना चाहें तथा अँगरेजी सीख कर यूरोपीय ज्ञान के सम्पर्क में सीधे आना चाहें, उनके लाभ के लिए अँगरेजी के स्कूल खास तौर से अलग खोले जायँ।

लेकिन, एलफिस्टन के इस प्रस्ताव को वार्डन (Warden) ने काट डाला जो उस समय एक्जिक्युटिव कौन्सिल का सदस्य था। वह अँगरेजी का हिमायती, जन-शिक्षा का विरोधी और फिलट्रेशन-सिद्धान्त का जनक था। अतएव, एलफिस्टन का प्रस्ताव उसके गले नहीं उतर सका।

ग्राण्ट, वार्डन और मेकाले भारतीय जनता के हितचिन्तक नहीं थे। उनका उद्देश्य भारत को बदल कर उसे नकली इंगलिस्तान बनाना था। लेकिन, एलफिस्टन उन थोड़े-से अँगरेजों में भी श्रेष्ठ थे, जिनका लक्ष्य भारत को आत्मनिर्भरता प्रदान करके उसे अपने पाँवों पर खड़ा होने के योग्य बनाना था। एलफिस्टन ने जन-शिक्षा के निमित्त "बम्बई नेटिव एजुकेशन सोसाइटी" की स्थापना की थी, जिसकी नीति यह थी कि **"भारतीय जनता की मानसिक और नैतिक उन्नति के कार्य में अँगरेजी का स्थान गौण है।"** सोसाइटी ने अँगरेजी स्कूलों का महत्त्व उनके लिए बताया, जिनमें अँगरेजी सीखने की विशेष प्रवृत्ति हो अथवा जिनके पास उसके लिए आवश्यक समय और अवकाश हो। बाकी लोगों के बारे में सोसाइटी का निश्चित मत था कि **"जनता में पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार केवल अँगरेजी के द्वारा होना असम्भव है।**[1]

इस सोसाइटी ने अपनी १८२५-२६ई० की रिपोर्ट में कहा था कि पाश्चात्य साहित्य, दर्शन और विज्ञान की बातें भारतीय छात्रों को सुगमता से तभी प्रदान की जा सकती हैं, जब शिक्षा का माध्यम उनकी अपनी मातृभाषा हो। यदि ये विचार अँगरेजी के माध्यम से दिये जायँगे तो यह कार्य न तो सफल होगा, न सुगम।[2]

जिन प्रश्नों को लेकर स्वाधीन भारत के नेता बार-बार माथापच्ची कर रहे हैं, उन प्रश्नों पर एलफिस्टन के सहयोगियों का भी ध्यान गया था और जो समाधान

---

[१] "....it was of the opinion that western knowledge could never be spread to the people through the medium of English language alone."

[२] "English can never become the most facile and successful medium of communicating to the natives, as a body, the literature, science and morality of Europe."

रतीय भाषाओं के समर्थकों को आज दिखायी देता है, वही समाधान तत्कालीन रत-हितैषी अँगरेजों को भी दिखायी पड़ा था। तत्कालीन बम्बई की शिक्षा-नीति र कैप्टेन कैण्डी (Captain Candy) की एक रिपोर्ट उपलब्ध है। जिसमें ण्डी ने स्पष्ट लिखा है कि "भारत के नैतिक और बौद्धिक विकास के कार्य में ंगरेजी को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देना व्यर्थ है, उसका जरूरत से ज्यादा भरोसा रना भी बेकार है। भारतीयों की शिक्षा के क्रम में अँगरेजी केवल विषय और िचार दे सकती है, वह शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। जिस भाषा के द्वारा नता शिक्षित की जायगी, वह भाषा जनता की मातृभाषा ही हो सकती है, अँगरेजी ौर संस्कृत नहीं। संस्कृत को मैं उस महान् भाण्डार के रूप में देखता हूँ जिससे ाधुनिक भाषाएँ शक्ति और सौन्दर्य ग्रहण कर सकती हैं।[1]

एलफिस्टन की नीति को अगर हम निचोड़ के रूप में रखना चाहें तो वह यह है क (१) ज्ञान की सामग्री हमें अँगरेजी के भाण्डार से लेनी है; (२) जनता तक यह न हमें आधुनिक भाषाओं के द्वारा पहुँचाना है; और आधुनिक भाषाओं की शक्ति ने के निमित्त सहायता हमें प्रमुख रूप से संस्कृत से ग्रहण करनी है।

सन् १८३८ई० में विलियम बेंटिक ने ऐडम (Adam) को बंगाल में शिक्षा-रक्षण के काम पर नियुक्त किया था। ऐडम ने सरकार को जो रिपोर्ट दी थी, उसमें ं कहा गया था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को ही होना चाहिये।[2]

लेकिन, चार्ल्स ग्राण्ट, वार्डन और मेकॉले के कारण एलफिंस्टन की नीति नहीं चल की। यदि वह चल गयी होती तो भारत उस कठिनाई में नहीं फँसता, जिसमें आज िरफ्तार है। दुःख इस बात का है कि **मेकॉले ने एलफिस्टन का पीछा आज भी ं छोड़ा है। मेकॉले के अनुयायी आज भी प्रबल और एलफिस्टन के समर्थक आज ं लाचार हैं।** मेकॉले ने जिस नकली इंगलिस्तान की रचना की थी, वह असली दुस्तान को आज भी दबाये हुए है। और तब भी हम मानते हैं कि भारत धीन है।

राठी में शिक्षा

र्लफिस्टन के समय बम्बई में जिला प्राइमरी स्कूलों की संख्या काफी अधिक हो ी थी। ये स्कूल, असल में, माध्यमिक विद्यालय थे, जिनमें इतिहास, भूगोल, मिति, ट्रिगोनोमेट्री, बीजगणित और दर्शन की पढ़ाई मराठी में की जाती थी। इन ों में मेडिकल कोर्स भी था, जिसकी पढ़ाई मराठी में चलती थी। इन विषयों पर दिनों भारतीय भाषाओं में अनेक पुस्तकें भी लिखी गयी थीं। यदि यह परम्परा

---

[1] "Sanskrit I conceive to be the grand store-house from which strength and beauty must be drawn for the vernacular languages."

[ये उद्धरण सैयद नूरुल्लाह तथा जे० पी० नायक-कृत हिस्ट्री आव् एजुकेशन इन इंडिया से हैं।]

[2] अनाथनाथ वसु-कृत एजुकेशन इन माडर्न इंडिया।

कायम रही होती तो नये शब्दों की खोज को लेकर देश में आज जो विवाद चलता है, वह उठा ही नहीं होता, क्योंकि शब्द अब तक तैयार हो गये होते।

एलफिस्टन ने जो नीति निर्धारित की थी, उसे कार्य का रूप जगन्नाथ शंकर से (१८०३-१८६५ई०) ने दिया। **इन्होंने विचार यूरोप से लिये, भाषा जनता की उठायी और नये शब्दों का निर्माण संस्कृत-भाण्डार से किया।**

हिन्दी में प्रयोग

पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा-संस्था का नियन्त्रण वंगाल से निकल कर प्रान्तीय सरकार के हाथ में सन् १८४३ई० में आया। यहाँ के भी लेफ्टिनेंट गवर्नर थामस (Thomson) बम्बई के गवर्नर एलफिस्टन के ही समान भारतीय जनता के हितैषी थे। उनका भी विचार जनता मात्र को शिक्षित करने का था। अतएव, उनकी शिक्षा-योजना भी मातृभाषा पर ही आधारित थी। वंगाल में सारा जोर शिक्षा का माध्यम अँगरेजी को बनाने पर था। थामसन ने अपने प्रान्त में मातृभाषाओं का पक्ष लिया। पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा-सम्बन्धी एक वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि इस भूभाग में बंगाल की तरह अँगरेज अधिक नहीं हैं। जो हैं भी, उनकी माली हालत अच्छी नहीं है। विदेश से भी यहाँ अँगरेज कम आते हैं और विदेशी उपकरणों का भी यहाँ प्रचलन कम है। अतएव, अँगरेजी के अनुकूल वातावरण का यहाँ अभाव है। उत्तर प्रदेश में उन दिनों, महाराष्ट्र की ही तरह, जन-शिक्षा का कार्य हिन्दी और उर्दू में चलता था तथा इन भाषाओं में विविध विषयों की पुस्तकें भी प्रकाशित होती थीं।

भारत-भक्त अँगरेजों की भाषा-नीति

जब अँगरेज भारत की शिक्षा के माध्यम को लेकर चिन्ता कर रहे थे, उस समय ऐसे भारतवासियों का सर्वथा अभाव था जो भारत की आधुनिक भाषाओं का पक्ष ले सकें। उतने बड़े दूरदर्शी नेता राजा राममोहन राय को भी यह नहीं सूझा कि एक बार वे बँगला और हिन्दी के बारे में भी सोच लें। उस समय आधुनिक भाषाओं की ओर ध्यान कुछ अँगरेजों का ही गया। यह मार्के की बात है कि **जिस अँगरेज ने जनता की भाषाओं के प्रति जितनी ही अधिक भक्ति दिखलायी, जनता का वह उतना ही अधिक प्यारा हो गया।**

एलफिस्टन बम्बई में इतना अधिक लोकप्रिय था कि जब उसने अवकाश ग्रहण किया (१८२७ई०), तब जनता ने दो लाख रु० चन्दा एकत्र करके उसकी स्मृति में एलफिस्टन इंस्टीच्यूट की स्थापना की। इसी प्रकार, जब मद्रास के गवर्नर सर टामस मनरो मरे, तब जनता में हाहाकार मच गया और लोग "टामस मनरो बहादुर, ईस्ट का शुभाकांक्षी और जनता का पिता" कह कर विलाप करने लगे। ब्रिटिश पार्लमेंट की प्रवर-समिति के सामने गवाही देते हुए इसी मनरो ने कहा था कि हिन्दू यूरोपवालों से हीन नहीं हैं।[१]

---

[१] The Hindoos were not inferior to the natives of Europe. If civilization were to become an article of trade between the

[शेष पृष्ठ ५०९ पर]

अंगरेजी और शराब

अलेक्जेंडर डफ (१८०६-१८७८ ई०) भारत में धर्म-प्रचार के लिए आया था, लेकिन, सबसे अधिक प्रचार उसने अँगरेजी का किया। वँगला भाषा वह खाक नहीं जानता था, फिर भी, उसने कह दिया कि इस भाषा में ज्ञान की कोई भी वात नहीं है। और मेकॉले ने भी ऐसी ही अनर्गल वात हिन्दी और वँगला के विषय में कही थी, ं, वह भारत की किसी भी भाषा से परिचित नहीं था। **आज भी मेकॉले के भारतीय अनुयायी भारत की किसी भी भाषा को जाने बिना ही देश की सभी भाषाओं को अयोग्य और अविकसित कह देते हैं।**

भारतीय भाषाएँ वहुत अयोग्य नहीं थीं। उनमें बाइविल के अनुवाद आसानी से किये जा चुके थे। उन दिनों विज्ञान भी अपने वचपन में था। उसका अनुवाद उस समय उतना कठिन नहीं होता, जितना वह आज है। फिर विज्ञान उस समय था ही कितना जो भारतीय भाषाओं में नहीं अमाता? भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाने से भारत की जो हानि हुई है, उसका असली परिमाण आँका नहीं जा सकता। तब भी, देश के कर्णधार अँगरेजी से देश को निकलने देना नहीं चाहते। कॉलि का जादू मेकॉले के शिष्यों के सिर चढ़कर बोल रहा है।

पहले इस देश के लोग शराव नहीं पीते थे। जव सरकार ने आवकारी-विभाग बनाया, तव उस विभाग की कृपा से शराव की लत वहुतों को लग गयी। फिर तो शराव के लोग इतने प्रेमी हो उठे कि अव टैक्स के भार को भी कुछ नहीं समझते और शराववन्दी की वात करनेवालों को अपना शत्रु समझते हैं। यही वात अँगरेजी के वारे में भी हुई है।

सन् १८५४ का डिस्पैच

कम्पनी-सरकार की डाँवाँडोल भाषा-नीति, अन्त में, सन् १८५४ ई० के डिस्पैच में आकर निश्चित हो गयी, जिसे "वुड का एजुकेशन डिस्पैच" भी कहते हैं। इस डिस्पैच में खुल कर यह एलान किया गया था कि सरकार का उद्देश्य भारतीय भाषाओं को हटा कर उनकी जगह पर अँगरेजी को लाना नहीं है। सरकार ने वरावर इस वात का ध्यान रखा है कि काम उन्हीं भाषाओं में किये जाने चाहिये, जिन्हें इस देश की विशाल जनता जानती और समझती है। शासन के काम में, अदालत के काम में और अफसरों तथा जनता के सम्पर्क के काम में सरकार ने, इसीलिए, **फारसी के बदले अंगरेजी नहीं, बल्कि, जनता की भाषाओं को स्थान दिया है।**

इस डिस्पैच के द्वारा सरकार की शिक्षा-नीति यह निरूपित हुई कि जो लोग ऊँची शिक्षा पाना चाहेंगे, उन्हें वह शिक्षा अँगरेजी के माध्यम से दी जायगी, किन्तु जन-साधारण की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रहेगी। साथ ही, यह आशा भी व्यक्त की

[पृष्ठ ५०८ का शेष।]

two countries, I am convinced that England would greatly benefit from the import of Cargo. (नूरुल्ला के ग्रन्थ से।)

गयी कि इस क्रम में भारत की अपनी भाषाओं का भी विकास होगा, उनमें यूरोप की पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित किये जायँगे और मौलिक कृतियों का भी निर्माण होगा। शिक्षा-माध्यम की इस द्वैध नीति का परिणाम यह है कि आज तक भी भारत में शिक्षा का व्यापक प्रसार नहीं हुआ और भारतीय भाषाओं के बारे में देश के अंगरेज शिक्षा-विशेषज्ञ सन् १९६२ई० में भी वही बात कह रहे हैं जो वुड (Wood) ने सन् १८५४ई० में कही थी। एक सौ आठ वर्षों के सुदीर्घ प्रयोग से यह बात अन्धे को भी दिखायी देनी चाहिये कि वुड की नीति से भारतीय भाषाओं का विकास नहीं हो सकता। किन्तु, भारतीय शिक्षा के जो लोग कर्णधार समझे जाते हैं, वे आज भी वुड की नीति को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। यह दृश्य भगवान के ही देखने योग्य है।

शायद, मेकॉले, सचमुच ही, जीत गया है। भारतीय जनता का जो भाग अँगरेजी नहीं जानता अथवा कम जानता है, आज भारतीयता का सबसे अधिक ध्यान उसी समुदाय को है। जो लोग अँगरेजी में माहिर और देश के संचालक और सूत्रधार हैं वे भारत के अतीत को भूलने की मुद्रा में हैं। जिस दिन अँगरेजी भारत की राजभाषा बनायी गयी, उसी दिन यह घोषित हो गया कि अँगरेज भारत के अतीत पर पर्दा डालने को तैयार हैं। और मेकॉले के जादू का यह हाल है कि स्वराज्य के बाद भी भारत के अँगरेजीपरस्त भारतीय इस पर्दे को ऊपर उठाना नहीं चाहते।

भारतीय अतीत का अनुसन्धान

स्कूलों और कालेजों में जो यूरोपीय ज्ञान सिखाया जाने लगा, वह मनुष्य की आँख खोलनेवाला था। किन्तु, इसके साथ ही एक और कार्य हुआ, जिसने भारत-वासियों के भीतर आत्मगौरव को उत्तेजना दी और उनके भीतर यह आत्मविश्वास पैदा कर दिया कि भारत संसार में सबसे महान् देश है, उसकी सभ्यता सबसे पुरानी है और उसके साहित्य और दर्शन की तुलना संसार की किसी भी जाति के दर्शन और साहित्य से नहीं की जा सकती।

इस कार्य का श्रीगणेश सन् १७८४ई० में बँगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से हुआ। भारत के अतीत के अनुसन्धान का कार्य पहले अँगरेजों ने आरम्भ किया और तब भारत के भी अनेक विद्वान् उस मार्ग पर चल कर भारत के प्राचीन इतिहास का पता लगाने लगे। इस सम्मिलित प्रयास का परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते भारत का प्राचीन इतिहास देदीप्यमान हो उठा और सभी भारतवासी अपने इतिहास पर अभिमान करने लगे।

शिक्षा का माध्यम यद्यपि अँगरेजी ही रही, किन्तु, अनुसन्धान के क्रम में संस्कृत की जो महती उपादेयता प्रमाणित हुई, उसके कारण सरकार ने संस्कृत को भी प्रोत्साहित करना आरम्भ किया। संस्कृत को भारतवासी केवल इस दृष्टि से पूजते आये थे कि वह उनके धर्म और कवित्व की भाषा थी। अब वे यह मानने लगे कि संस्कृत के विधिवत् अध्ययन के विना भारत का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता।

का सारा अतीत संस्कृत की गोद में सोया हुआ था। जब भारतवासियों को म हुआ कि अनुसन्धान की क्रियाओं से यह अतीत जगाया जा सकता है, तब त ही यह अतीत खण्डहरों से उठ कर पुस्तकालयों, विद्यालयों और सभा-मण्डपों में खड़ा हुआ।

वीन भारत और नवीन यूरोप

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यूरोप का भारत-आगमन भारतीय ज्ञान के र नहीं, प्रत्युत, मसालों के व्यापार और ईसाइयत के प्रचार के लिए हुआ था। भारत को धन-धान्य से पूर्ण देश समझता था, नवाबों और मुगल बादशाहों का समझता था एवं नवाब और मुगल, ये शब्द यूरोप में धनियों पर किये जानेवाले के पर्याय हो गये थे। यूरोपवालों का विश्वास था कि सभ्यता का आरम्भ और फिलिस्तीन में हुआ है। एवं इन देशों से अधिक पुरातन सभ्यतावाला देश र में और है ही नहीं। भारत को तो यूरोपवाले अर्द्ध सभ्य ही मानते थे।

किन्तु, जब ईसाई धर्म-प्रचारक इस देश में आये, उन्होंने पहले तो यहाँ की देश-एं सीखीं। फिर वे संस्कृत सीखने का भी प्रयत्न करने लगे। कहते हैं, पाण्डिचेरी र्म-प्रचारकों ने यजुर्वेद का कच्चा-पक्का एक फ्रांसीसी अनुवाद L' Ezour Vedam से तैयार किया था, जिसकी प्रति वाल्तेयर ने भी देखी थी।[1] एक अन्य पादरी न् १७३२ई० में संस्कृत का एक व्याकरण तैयार किया था जो सन् १७९०ई० रोम में छपा था। सन् १७४०ई० में एक दूसरे पादरी ने भारत का एक विवरण खा, जिसमें भारत के षड्-दर्शन के परिचय के सिवा जैन और बौद्ध मतों का भी य था। किन्तु, भारतीय जीवन का प्रथम विशद विवरण यूरोपवालों को एबी बे के "हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सिरीमनीज" नामक ग्रन्थ से प्राप्त हुआ, जिसका शन सन् १८१७ई० में हुआ था।

किन्तु, इन विवरणों से यूरोप का मन चमत्कृत नहीं हुआ। यूरोप को चमत्कृत वाले कार्यों का आरम्भ दुपरोन (Anquetil Duperron) के "औपनिखत" क ग्रन्थ से होता है। दुपरोन फ्रांस का नवयुवक विद्वान् था जो १७६०ई० के भारत आया था। यहाँ से वह कोई अस्सी पाण्डुलिपियाँ अपने साथ फ्रांस ले । उनमें से एक पाण्डुलिपि **दाराशिकोह-कृत उपनिषदों के फारसी अनुवाद की** । दुपरोन ने इसी का लातीनी अनुवाद **औपनिखत** (Oupnekhat) के नाम से जिल्दों में प्रकाशित करवाया। जर्मनी के दार्शनिक **आर्थर शापेनहार** को इसी वाद की प्रति मिली थी, जिसे पढ़ कर वह विस्मय-विमुग्ध हो गया था और उप-दों की विचार-धारा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसने कहा था कि **यह अनुपम आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक, र और बड़े ही ज्योतिष्मान् विचार ऊपर उठते है। हमारे चारों ओर भारतीयता वातावरण आप-से-आप खड़ा हो जाता हैं तथा ऐसा प्रतीत होता है, मानो, ये**

---

[1] माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट।

विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी-संस्कारों की जो रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास छाये हुए हैं, वे इन विचारों के स्पर्श मात्र से एक-बारगी घुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का कोई और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है, और मृत्यु-पर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा।"

उपनिषदों के अध्ययन से जर्मनी में विचारों का जागरण कुछ उसी प्रकार आया, जैसे, रिनासाँ के काल में यूनानी प्राचीन साहित्य के सम्पर्क से सारे यूरोप में आ था। **जोहान फिक्टे** और **पाल दूसान** ने भी वेदान्त के सत्य को संसार का सबसे बड़ा सत्य माना। **नीत्शे** को जब **मनुस्मृति** देखने को मिली, तब उसने भी मनुस्मृति को बाइबिल से अनेक गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया।[1]

इस बीच, भारत के अँगरेज शासकों का ध्यान भी संस्कृत की ओर जा रहा था। वारेन हेस्टिंग्स को यह सूझा कि न्याय के क्षेत्र में हिन्दुओं पर शासन उनके धर्म-शास्त्रों के अनुसार किया जाना चाहिये। अतएव, उसने धर्म-शास्त्रों का अनुवाद पहले फारसी में करवाया और फिर अँगरेजी में। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नहीं था। इंग्लैण्ड से आये हुए जजों और वकीलों को संस्कृत की ओर लगाना अनिवार्य हो गया। ये विद्वान् संस्कृत की ओर गये तो थे कचहरी की आवश्यकता से, किन्तु, वहाँ भावों और विचारों का जो अद्भुत पुञ्ज इन्हें दिखायी पड़ा, उससे वे पूर्णरूपेण अभिभूत हो उठे। सन् १८७५ई० में **सर चार्ल्स विलकिन्स** ने **भगवद्गीता** का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया। **सर विलियम जोन्स** ने जो जज थे और सन् १७८४ई० में जिन्होंने **एशियाटिक सोसाइटी** की स्थापना की थी, कालिदास के **शकुन्तला-नाटक** का अनुवाद किया। उन्होंने **ऋतु-संहार** का भी सम्पादन करके उसका एक संस्करण निकलवाया था। १७९४ई० में उन्होंने **मानव-धर्म-शास्त्र** के नाम से मनुस्मृति का प्रकाशन किया। जोन्स संस्कृत भाषा के अद्भुत भक्त थे। एशियाटिक सोसाइटी के १७८६ई० वाले अधिवेशन में उन्होंने यह घोषणा की थी कि **"संस्कृत परम अद्भुत भाषा है। यह यूनानी से अधिक पूर्ण और लातीनी से अधिक सम्पन्न है।"** जोन्स ने ही पहले-पहल यह अनुमान भी लगाया था कि गोथिक और केल्टिक, दोनों परिवारों की भाषाएँ उसी उद्गम से निकली होंगी, जिससे संस्कृत निकली है। इस प्रकार, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का जो महल **फ्रांज़ बाप, मैक्समूलर** और **ग्रिम** ने खड़ा किया, उसकी नींव जोन्स ने ही रखी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत से सम्पर्क के पूर्व यूरोप में किसी को उच्चारण-शास्त्र (फोनेटिक्स) से परिच्चय नहीं था। भारतीय निरुक्त और व्याकरण को देखकर ही यूरोप के विद्वानों ने फोनेटिक्स लिखना आरम्भ किया।

---

[1] "A work which is spiritual and superior beyond comparis which even to name in one breath with the Bible would be sin against the Holy Ghost" नीत्शे ('एनार्किस्ट में।')

लियम जोन्स के बाद सबसे बड़े प्राच्य-विद्या-विशारद कोलब्रुक हुए। उन्होंने र्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और धर्म के बड़े ही विलक्षण अध्ययन किये, जो एशियाटिक रिसर्चेज़ में प्रकाशित हुए। सन् १८०५ई० में वेदों का माणिक विवरण सबसे पहले उन्होंने ही निकाला। कोई आश्चर्य नहीं कि उन इंग्लैण्ड में एक कहावत चल पड़ी थी कि **मेधावी अँगरेज़ अब ब्राह्मण होते जा** है।

ठीक इसी समय एक विलक्षण घटना घटी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक कर्म- अलेक्जेंडर **हैमिल्टन** सन् १८०२ई० में पेरिस में ठहरा हुआ था कि अँगरेजों पोलियन के बीच खटपट शुरू हो गयी और हैमिल्टन कैद हो गया। हैमिल्टन जानता था। अतएव, उसने जेल में लोगों को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया। नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् स्वयं ही थोड़ी-सी संस्कृत सीख चुका था। किसी चेज़ी का सम्पर्क हैमिल्टन से हो गया और उससे चेज़ी ने अच्छी संस्कृत सीख। बाद में, चेज़ी और हैमिल्टन से **श्लीगल** नामक दो जर्मन भाइयों ने संस्कृत सीखी। अन्य फ्रांसीसी विद्वान् **यूजीन बर्नाफ़** ने भी संस्कृत पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। मूलर इसी **बर्नाफ़** का शिष्य था, जिसने सायण के भाष्य पर तीस वर्ष तक काम और, उसके बाद, वेदों पर उसका जो भाष्य प्रकाशित हुआ, उससे यूरोप-समेत के सभी विद्वान् चकित रह गये। लगता है, सायण की आत्मा ही जर्मनी में मूलर बन कर जनमी थी, क्योंकि वेदों के उद्धारकों में जैसा स्थान इस विद्वान् का जाता है, वैसा और किसी का नहीं है।

किन्तु, वेदों का भाष्य करने से भी बढ़ कर, मैक्समूलर ने यह काम किया कि उसने मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की परम्परा आरम्भ की। मक भाषा-विज्ञान से जो तथ्य सामने आया, उससे यूरोप की अज्ञानता दूर हुई न लोगों का मोह फट गया जो यह मानते थे कि फिलस्तीन और यूनान से पुराना कोई देश नहीं है तथा हिब्रू भाषा से प्राचीन और कोई भाषा नहीं हो सकती। के अनुसार यह भी माना जाता था कि यह सृष्टि केवल चार हजार वर्ष है। अतएव, वेदों का काल-निर्णय करने में पाश्चात्य विद्वानों को कठिनाई हुई वे जोर-जवर्दस्ती करके उसे ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व से आगे जाने देने को र नहीं हुए। किन्तु, बीसवीं सदी में जब महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई हुई, तब मा भी टूट गयी और यूरोप के धर्ममूढ़ विद्वान् भी यह मानने लगे कि सृष्टि चार र वर्ष से अधिक पुरानी हो सकती है।

मूलर के कामों से यह बात प्रत्यक्ष हो गयी कि संसार की प्राचीनतम भाषा नहीं, संस्कृत है और विश्व की प्राचीनतम जाति यूनानी और यहूदी नहीं, प्रत्युत, और ईरानी जातियाँ हैं। भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म का जो बखान जर्मन नों ने किया, उससे एक लाभ यह भी हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारक भारत से बाहर वासियों के विषय में जो मिथ्या प्रचार कर रहे थे, उसका खोखलापन चिन्तकों के

विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी-संस्कारों की जो रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास छाये हुए हैं, वे इन विचारों के स्पर्श मात्र से एक-बारगी घुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का कोई और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है, और मृत्यु-पर्यन्त यह आश्वास मेरे साथ रहेगा।"

उपनिषदों के अध्ययन से जर्मनी में विचारों का जागरण कुछ उसी प्रकार आ जैसे, रिनासाँ के काल में यूनानी प्राचीन साहित्य के सम्पर्क से सारे यूरोप में था। **जोहान फिक्टे** और **पाल डूसान** ने भी वेदान्त के सत्य को संसार का सबसे ब सत्य माना। **नीत्शे** को जब **मनुस्मृति** देखने को मिली, तब उसने भी मनुस्मृति बाइबिल से अनेक गुना श्रेष्ठ स्वीकार किया।[1]

इस बीच, भारत के अँगरेज शासकों का ध्यान भी संस्कृत की ओर जा रहा वारेन हेस्टिंग्स को यह सूझा कि न्याय के क्षेत्र में हिन्दुओं पर शासन उनके धर्म-शा के अनुसार किया जाना चाहिये। अतएव, उसने धर्म-शास्त्रों का अनुवाद पहले फा में करवाया और फिर अँगरेजी में। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नहीं था। इंग्लैण्ड आये हुए जजों और वकीलों को संस्कृत की ओर लगाना अनिवार्य हो गया। ये वि संस्कृत की ओर गये तो थे कचहरी की आवश्यकता से, किन्तु, वहाँ भावों और विच का जो अद्भुत पुञ्ज इन्हें दिखायी पड़ा, उससे वे पूर्णरूपेण अभिभूत हो उठे। १८७५ई० में **सर चार्ल्स विलकिन्स** ने **भगवद्गीता** का अँगरेजी अनुवाद प्रका किया। **सर विलियम जोन्स** ने जो जज थे और सन् १७८४ई० में जिन्होंने ए **टिक सोसाइटी** की स्थापना की थी, कालिदास के **शकुन्तला-नाटक** का अनुवाद कि उन्होंने **ऋतु-संहार** का भी सम्पादन करके उसका एक संस्करण निकलवाया था। १७९४ई० में उन्होंने **मानव-धर्म-शास्त्र** के नाम से मनुस्मृति का प्रकाशन कि जोन्स संस्कृत भाषा के अद्भुत भक्त थे। एशियाटिक सोसाइटी के १७८६ई० अधिवेशन में उन्होंने यह घोषणा की थी कि "**संस्कृत परम अद्भुत भाषा है। यूनानी से अधिक पूर्ण और लातीनी से अधिक सम्पन्न है।**" जोन्स ने ही पहले- यह अनुमान भी लगाया था कि गोथिक और केल्टिक, दोनों परिवारों की भाषाएँ उद्गम से निकली होंगी, जिससे संस्कृत निकली है। इस प्रकार, तुलनात्मक भा विज्ञान का जो महल **फ्रांज़ बाप**, **मैक्समूलर** और **ग्रिम** ने खड़ा किया, उसकी जोन्स ने ही रखी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत से सम्पर्क के यूरोप में किसी को उच्चारण-शास्त्र (फोनेटिक्स) से परिचय नहीं था। भारत निरुक्त और व्याकरण को देखकर ही यूरोप के विद्वानों ने फोनेटिक्स लिखना आरम् किया।

---

[1] "A work which is spiritual and superior beyond compariso which even to name in one breath with the Bible would be sin against the Holy Ghost" नीत्शे ('एनार्किस्ट में।')

विलियम जोन्स के बाद सबसे बड़े प्राच्य-विद्या-विशारद कोलब्रुक हुए। उन्होंने धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और धर्म के बड़े ही विलक्षण अध्ययन किये, जो एशियाटिक रिसर्चेज़ में प्रकाशित हुए। सन् १८०५ई० में वेदों का प्रामाणिक विवरण सबसे पहले उन्होंने ही निकाला। कोई आश्चर्य नहीं कि उन इंगलैण्ड में एक कहावत चल पड़ी थी कि **मेधावी अँगरेज़ अब ब्राह्मण होते जा** हैं।

ठीक इसी समय एक विलक्षण घटना घटी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक कर्म- **अलेक्जेंडर हैमिल्टन** सन् १८०२ई० में पेरिस में ठहरा हुआ था कि अँगरेजों नेपोलियन के बीच खटपट शुरू हो गयी और हैमिल्टन कैद हो गया। हैमिल्टन जानता था। अतएव, उसने जेल में लोगों को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया। नामक एक फ्रांसीसी विद्वान् स्वयं ही थोड़ी-सी संस्कृत सीख चुका था। किसी चेज़ी का सम्पर्क हैमिल्टन से हो गया और उससे चेज़ी ने अच्छी संस्कृत सीख बाद में, चेज़ी और हैमिल्टन से **श्लीगल** नामक दो जर्मन भाइयों ने संस्कृत सीखी। अन्य फ्रांसीसी विद्वान् **यूजीन बर्नाफ़** ने भी संस्कृत पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। मूलर इसी **बर्नाफ़** का शिष्य था, जिसने सायण के भाष्य पर तीस वर्ष तक काम और, उसके बाद, वेदों पर उसका जो भाष्य प्रकाशित हुआ, उससे यूरोप-समेत के सभी विद्वान् चकित रह गये। लगता है, सायण की आत्मा ही जर्मनी में मूलर बन कर जनमी थी, क्योंकि वेदों के उद्धारकों में जैसा स्थान इस विद्वान् का जाता है, वैसा और किसी का नहीं है।

किन्तु, वेदों का भाष्य करने से भी बढ़ कर, मैक्समूलर ने यह काम किया कि उसने त्मक भाषा-विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के अध्ययन की परम्परा आरम्भ की। त्मक भाषा-विज्ञान से जो तथ्य सामने आया, उससे यूरोप की अज्ञानता दूर हुई उन लोगों का मोह फट गया जो यह मानते थे कि फिलस्तीन और यूनान से पुराना कोई देश नहीं है तथा हिब्रू भाषा से प्राचीन और कोई भाषा नहीं हो सकती। बिल के अनुसार यह भी माना जाता था कि यह सृष्टि केवल चार हजार वर्ष नी है। अतएव, वेदों का काल-निर्णय करने में पाश्चात्य विद्वानों को कठिनाई हुई वे जोर-जबर्दस्ती करके उसे ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व से आगे जाने देने को र नहीं हुए। किन्तु, बीसवीं सदी में जब महंजोदरो और हरप्पा की खुदाई हुई, तब सीमा भी टूट गयी और यूरोप के धर्ममूढ़ विद्वान् भी यह मानने लगे कि सृष्टि चार र वर्ष से अधिक पुरानी हो सकती है।

मैक्समूलर के कामों से यह बात प्रत्यक्ष हो गयी कि संसार की प्राचीनतम भाषा नहीं, संस्कृत है और विश्व की प्राचीनतम जाति यूनानी और यहूदी नहीं, प्रत्युत, दू और ईरानी जातियाँ हैं। भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म का जो बखान जर्मन नों ने किया, उससे एक लाभ यह भी हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारक भारत से बाहर वासियों के विषय में जो मिथ्या प्रचार कर रहे थे, उसका खोखलापन चिन्तकों के

सामने प्रत्यक्ष होने लगा एवं धीरे-धीरे अँगरेज यह सोच कर गौरव अनुभव करने कि उनके साम्राज्य में भारत-जैसा देश है। मैक्समूलर ने भारत की सेवा अनेक से की। उसने परमहंस रामकृष्ण का जीवन-चरित लिखा, उसने पूर्वी विश्व के ग्रन्थों की ग्रन्थमाला प्रकाशित की और एक पुस्तक केवल इस विषय पर लिखी भारत विश्व को क्या सिखा सकता है।

यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन पर भारतीय प्रभाव

जर्मनी और इंग्लैण्ड में जो रोमांटिक जागरण हुआ, उसके पीछे कुछ भारतीय प्रभाव भी था, ऐसा मानने का सुनिश्चित आधार है। श्लीगल-बन्धुओं जर्मन-भाषा के द्वारा यूरोप में भारतीय ज्ञान का अपरिमित आख्यान किया। उपनिषद्, भगवद्गीता और मनुस्मृति तथा शकुन्तला और ऋतुसंहार को देख जर्मनी के कवि और विद्वान् अभिभूत हो उटे। चूँकि यह साहित्य अनपेक्षित दे आया था, इसलिए, उनका विस्मय और प्रखर था। फिर इस साहित्य में जो भाव विचार थे, वे सर्वथा नवीन क्षितिज से उठते दिखायी देते थे। इन सब का प्रभाव यह हुआ कि इस अछूती सुन्दरता को देख कर जर्मन कवियों का मन किसी टिक लोक में विचरण करने लगा। श्लीगल ने जब भगवद्गीता पढ़ी, तब भगवान की स्तुति में उसके मुख से एक पूरी गद्य-कविता ही फूटी पड़ी कि "गुरु के आदर **ब्राह्मण सभी कर्मों में श्रेष्ठ मानते हैं। अतएव, ओ परम पवित्र पैगम्बर! ओ ईश के व्याख्याता! ओ इस काव्य के कर्त्ता! अथवा सत्यों के बीच तुम्हारा जो भी हो, तुम्हारी वाणी के प्रभाव से मनुष्य का हृदय, ऐसे अकथनीय आनन्द को पर पहुँच जाता है, जो अत्यन्त उच्चता पर अवस्थित तथा सनातन और ईश है। मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ और तुम्हारे चरणों पर अपना अभिनन्दन करता हूँ।"**[1]

भारतीय काव्य की विलक्षणताओं का आख्यान रुकर्ट (Rukert) ने भी किया गेटे ने तो शकुन्तला की प्रशंसा में जो कविता लिखी, उसे अनेक भारतवासी हैं।[2] गेटे के फ़ाउस्ट नाटक में जो प्रोलोग (पूर्वाभास) है, उसका गुम्फन उसने भार

---

[1] श्री राबलिसन के लेख में उद्धृत अंश का अनुवाद (माडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट

[2] Wouldst thou the young year's blossoms
And the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
Enraptured, feasted, fed,
Wouldst thou the earth and Heaven itself,
In one sole name combine?
I name thee, O Sakuntala!
And all at once is said.

—गेटे की जर्मन कविता का अँगरेजी अनुवाद

के सूत्रधारवाले दृश्य के अनुकरण पर किया है। शीलर की "मेरिया स्टूअर्ट" कविता में निर्वासिता रानी बादलों को जो सन्देश देती है, वह कालिदास के से प्रेरित है। ये कुछ स्फुट उदाहरण हैं। कहा जाता है कि श्लीगल से लेकर (Heine) तक जर्मन कविताओं में भारतीय भाव और चित्र सर्वत्र बिखरे हैं।

अचरज की बात है कि समकालीन अँगरेजी कविताओं पर भारतीय प्रभाव के प्रमाण नहीं मिलते, जितने जर्मन भाषा की कविताओं में मिलते हैं। किन्तु, कारण, कदाचित्, यह है कि अँगरेज "अति सामीप्यात् अवज्ञा" के भाव में थे। होने के कारण अँगरेज यह नहीं चाहते थे कि यूरोप में भारत की प्रशंसा हो यूरोप के लोग भारतीय भावों का अनुकरण करें। उन्हें भारत में अपना राज था और कम्पनी के साहब इंग्लैण्डवालों पर यह प्रकट होने देना नहीं चाहते थे भारत कोई महान् देश है। अथवा यह भी सम्भव है कि अँगरेजी कविता नेतृत्व के सचमुच ही, बराबर फ्रांस और जर्मनी की ओर देखती रही हो। फिर भी शेली, और कारलाइल में भारतीय प्रभावों के स्पष्ट लक्षण विद्यमान हैं। कारलाइल वेदान्त का प्रभाव जर्मनी होकर पड़ा था। "ओड ऑन इंटीमेशंस आव् इम्मॉर्टेलिटी" अपनी कविता में वर्डस्वर्थ आत्मा के पूर्व जन्म की ओर संकेत करता है जो, ही, भारतीय प्रभाव है। उसने वनस्पतियों में जो चेतना के होने की बात की है, जैन विचारों की छाया-सी लगती है। शेली की एडोनायज़ (Adonai's) नाम्नी की कल्पना उपनिषदों की कल्पना पर आधारित है एवं उक्त कविता के कितने शुद्ध वेदान्त के भाव हैं।

भारतीय विचारों का यह संक्रामक प्रभाव अमेरिका भी पहुँचा था, यह बात एमर्सन थुरो की रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है। एमर्सन ने ब्रह्म शीर्षक देकर एक पूरी ही लिखी है और भारत नाम की पवित्रता का जो प्रभाव थुरो पर पड़ा था, उसके इस वाक्य से प्रत्यक्ष है कि "वाल्डन का जल गंगा के पवित्र प्रवाह से मिल एकाकार हो गया है।" एक अन्य अमेरिकन कवि जे०जी० ह्वीटियर ने सोम पर लिखी है, जिसका शीर्षक "ब्रुइंग आव् सोम" है।

महारानी विक्टोरिया के युग में अँगरेजी कविता पर भारतीय प्रभाव कम लक्षित आ[1], किन्तु, उसके बाद, आयरलैण्ड के दो कवियों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव सुस्पष्ट है। जार्ज रसल (ए०ई०) ने कई कविताएँ लिखीं—(1. Over Soul, Krishna, 3. The veils of maya, 4. Om और 5. Indian song) जिनमें भारतीय भाव हैं। इसके सिवा, अपने एक पत्र में उन्होंने खुल कर भारतीय धारा की प्रशंसा की है। "जीवनी शक्ति और ज्ञान की उच्चता की दृष्टि से वर्डस्वर्थ, एमर्सन और थुरो, आधुनिकों में ये चार ही चिन्तक श्रेष्ठ हैं। किन्तु,

---

यद्यपि टेनिसन की दो कविताओं (1. Siege of Lucknow तथा 2. Akbar's dream) की याद यहाँ हो आती है।

उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह और उससे बहुत अधिक बातें हमें पूर्वी विश् ग्रन्थों में मिलती हैं। भगवद्गीता और उपनिषदों में प्रत्येक विषय पर ज्ञान ऐसी सम्यक् पूर्णता है कि ऐसा लगता है, मानो, इनके रचयिताओं ने अपने पी सहस्र जीवनों को अत्यन्त समीप से देखा हो और उनके सम्बन्ध में इतने सहज वि से लिखा हो कि उनकी बातों को हमारी आत्मा अनायास स्वीकार कर लेती है

डब्ल्यू०बी० येट्स ने भी कई कविताओं में (1. Anushay and Vij 2. The Indian upon God तथा 3. The Indian to his love) भारतीय रखे हैं। उन्होंने कुछ उपनिषदों के अनुवाद भी निकाले थे, जिस कार्य में श्री भ पुरोहित नामक एक भारतीय विद्वान् उनके सहायक थे। स्कॉटलैण्ड के एक कवि स्टूअर्ट ब्लेकी (१८०९-१८९५ई०) ने भी एक कविता लिखी है, जिसका "त्रिमूर्त्ति" है।

किन्तु, अँगरेजी कविता के क्षेत्र में, भारतीयता का सम्पूर्ण आख्यान कहीं मि है तो वह "लाइट आव् एशिया" में, जिसके रचयिता सर एडविन आर्नाल्ड (१८ १९०४ई०) पूना में डेकन कॉलेज के प्रिंसिपल थे। जिस भक्ति से आर्नाल्ड ने बु पर श्रद्धांजलि चढ़ायी है, वह अत्यन्त विलक्षण और श्रद्धा उपजानेवाली है। बु प्रति भक्ति के भाव से देखें, तो कहना कठिन है कि अश्वघोष बड़े हैं या ए आर्नाल्ड।

वर्त्तमान युग में इलियट में भारतीयता का प्रभाव काफी दिखायी पड़ता है। भारत भी अँगरेजों के अधीन नहीं है। अतएव, सम्भव है, इंग्लैण्ड के विचारक कवि भारतीय भावधाराओं की ओर कुछ वेग से उन्मुख हों।

भारतीय प्रभाव के प्रति शंका

भारत के दूरगामी अतीत पर से पर्दा उठाने का काम अँगरेजों ने ही आरम्भ कि था। किन्तु, भारत के अतीत पर जब सारा संसार चकित होने लगा, तब अँ घबरा कर ठमक गये। लेकिन, अँगरेजों ने सूत्र को जहाँ पर छोड़ा था, जर्मनों ने वहीं से पकड़ लिया। असल में, भारत की कीर्त्ति को विश्वव्यापी बनाने की दिशा सबसे अधिक प्रयास जर्मनी के ही विद्वानों ने किया। जर्मनी के दार्शनिकों में से फिक्टे, हीगेल और शापेनहार ने, जर्मनी के कवियों में से गेटे, शीलर, नोवालिस ब्रण्टेनो ने तथा इतिहासकारों में से हर्डर और श्लीगल ने भारतीय संस्कृति प्रति अपना मुक्त अभिनन्दन व्यक्त किया तथा इस सूचना पर वे आनन्द से पागल उठे कि भारत आदिधर्म की जन्मभूमि है, भारत विश्व-धर्म का जन्मस्थान है, भार की भूमि मनुष्यों की सर्वोत्तम जाति की जन्मदात्री एवं सर्वश्रेष्ठ साहित्य, दर्शन और अध्यात्मशास्त्र की क्रीड़ास्थली है।

यूरोप के जो भी चिन्तक परोक्ष सत्ता के विश्वासी थे, उन्हें भारतीय विचारों अपरिमित प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसके विपरीत, जो लोग प्रत्यक्षवाद (Agnos cism) में विश्वास करते थे, भारत की कोई-कोई बात उन्हें भी अनुकूल दिखा

। डॉक्टर राधाकृष्णन का कहना है कि आगस्ट कामटे का प्रत्यक्ष ज्ञानवाद tivism) बौद्ध दर्शन का वह संस्करण है जो नयी सभ्यता के लिए प्रस्तुत किया है। यह भी कहा जाता है कि शापेनहार को सम्बुद्धि में विश्वास करने की बात उपनिषदों के कारण सूझी थी, क्योंकि उपनिषद् बुद्धि को सर्वत्रगामी नहीं हैं। इसी प्रकार, नीत्शे के विचारों में जो उग्रता है, उसे लोग जरथुस्त्र की देन नमें जो विरल धार्मिकता है, उसे भारत का प्रभाव समझते हैं। भारत का प्रभाव सबसे अधिक गहराई में केवल जर्मनी में पहुँचा और वहीं से वह त्य जगत् के मन पर थोड़ा-बहुत सर्वत्र प्रसरित हुआ है। वैसे, राष्ट्रों के बीच रों के आदान-प्रदान का कार्य हमेशा इसी क्रम से चलता है और विश्वजनीनता के वह अच्छा भी है। फिर भी, भारत के इस प्रभाव को कोई-कोई विद्वान अब से देखने लगे हैं। "द सोल आव् इण्डिया"[1] के लेखक का अनुमान है कि ने भारतीय संस्कृति को अपने मन में स्थान देकर अपने-आपको यहूदी और संस्कारों से मुक्त करने का प्रयास किया है। भारतीय चिन्ताधारा का यूरोप दुपरोन ने किया था। तब से इस चिन्ताधारा का प्रभाव सूक्ष्म रूप से अपना कर रहा है। भारत के भाव और विचार यूरोप के मानस-समुद्र में डूबे हुए हैं। तः, सतह से ऊपर वे कभी नहीं आते। किन्तु, यूरोपीय सभ्यता का समुद्र जब लगेगा, तब पूर्वी विश्व के ये विचार अपना असर दिखाने को प्रकट हो हैं।

ता नहीं, लेखक ने ये बातें किस उद्देश्य से लिखी हैं। किन्तु, यदि ऐसा हुआ र को उससे डरना नहीं चाहिये। जैसे वैरागियों के लिए एक सीमा तक भोग ना पथ्य है, उसी प्रकार, वैराग्य की एक छोटी खुराक से भोगवादियों का भी न ही होगा। □□□

The Soul Of India ; लेखक—Amaury Riencourt.

प्रकरण ३

ईसाई धर्म और भारतीय जनता

संसार के धर्मों में तीन ही बहुत प्राचीन हैं, हिन्दू-धर्म, जरथुस्त्र-धर्म और धर्म । इनमें से पहले दो आर्यों के बीच उत्पन्न हुए और तीसरा धर्म सामी जाति बीच जनमा । विचित्रता की बात यह है कि जैसे प्राचीन हिन्दुत्व (वैदिक धर्म) धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, ईसाई धर्म भी यहूदी धर्म की कुक्षि से उत्पन्न है । दूसरी विचित्रता यह हुई कि भारत में पिता (हिन्दुत्व) ने पुत्र (बौद्ध मत) निर्वासित दिया, किन्तु, फिलस्तीन में पुत्र (ईसाइयत) ने ही पिता (यहूदी-धर्म) अपदस्थ कर दिया ।

एक तरह से देखिये तो यहूदी-धर्म से, ईसाइयत और इस्लाम, दोनों का है । यहूदियों की तरह, ईसा और मुहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे । जाति घोर रूप से मूर्त्तिपूजक थी । मूर्त्तिपूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले **इब्राहीम** ने दिया जो यहूदियों के आदि पैंगम्बर हुए हैं । चूँकि हजरत मूर्त्तिपूजा का विरोध किया और एकेश्वरवाद की प्रथा चलायी, इसलिए, भी उनकी पैंगम्बरी में विश्वास करते हैं । इन्हीं हजरत इब्राहीम के खानदान और मुहम्मद, दोनों हुए हैं । हजरत **दाऊद, ईसा** और **मूसा,** ये तीन पैंगम्बर इब्राहीम के बड़े बेटे हजरत **इसहाक,** के खानदान में हुए और हजरत मुहम्मद के छोटे बेटे **इस्माईल** के वंश में हुए हैं ।

यहूदी-धर्म के दो पैगम्बरों के नाम हजरत **दाऊद** (David) और हजरत (Moses) हैं । बाइबिल दो प्रकार की मिलती है । पुरानी बाइबिल (अथवा टेस्टामेंट) का कुछ भाग हजरत दाऊद का लाया हुआ है और अधिकांश हजरत का । हजरत ईसा ने जो नयी बाइबिल कही, उसका नाम न्यू टेस्टामेंट है । इन बाइबिलों में बहुत-कुछ वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध वेद और उपनिषद् अथवा वेद बौद्ध धर्म में हो सकता है । किन्तु, यहूदी लोग नयी बाइबिल को नहीं मानते । प्रकार, ईसाइयों का विश्वास पुरानी बाइबिल में नहीं है । मुसलमान जनता मूसा और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, लेकिन, इस्लाम यह स्वीकार नहीं कि हजरत ईसा परमात्मा के पुत्र थे । फिर भी, इन पैगम्बरों के प्रति इस्लाम के ही आदरयुक्त भाव हैं । मुसलमान हजरत मूसा को **कलीमुल्लाह** (प्रभु से बातें वाला), हजरत ईसा को **रूहुल्लाह** (प्रभु की आत्मा) और हजरत मुहम्मद **रसूलल्लाह** (प्रभु का दूत) कहते हैं ।

भारत का वैदिक धर्म प्रवृत्तिमार्गी धर्म था । उसमें यज्ञों की प्रधानता पशु-हिंसा निषिद्ध नहीं थी और यज्ञ लोग इसलिए करते थे कि यज्ञों से वृष्टि

अच्छी फसल उपजती थी, देवता प्रसन्न और शत्रु दुर्बल होते थे। किन्तु, पशु-की अति से जब चिन्तकों का जी उकताने लगा, तब उन्होंने, कर्मकांड-प्रचुर धर्म में से उपनिषदों का ज्ञान-मार्ग निकाला और यही ज्ञान-मार्ग बौद्ध धर्म के का भी कारण हुआ। नयी बाइबिल का ईसाई धर्म भी, इसी प्रकार, पुरानी में प्रतिपादित यहूदी-धर्म का सुधरा हुआ रूप है। यहूदी-भाषा (हिब्रू) में को "इलोहा" (अरबी "इलाह") कहते हैं। किन्तु, हजरत मूसा ने यहूदियों उपास्य देव का नामकरण "यहोवा" कर दिया। यह यहोवा शब्द यहूदी-का शब्द नहीं है। वह खाल्दी भाषा के "यवे" (संस्कृत "यल्ह") से निकला जाता है। "यहूदी लोग मूर्त्तिपूजक नहीं हैं। उनके धर्म का मुख्य आचार है कि अग्नि में पशु या अन्य वस्तुओं का हवन करे, ईश्वर के बतलाये हुए नियमों पालन करके यहोवा को सन्तुष्ट करे और उसके द्वारा इस लोक में अपना तथा जाति का कल्याण प्राप्त करे। अर्थात्, संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिक-कर्मकाण्ड के अनुसार, यहूदी-धर्म भी यज्ञमय तथा प्रवृत्ति-प्रधान है। इसके ईसा का अनेक स्थानों पर उपदेश है कि "मुझे (हिंसाकारक) यज्ञ नहीं चाहिये, की कृपा चाहता हूँ।" (मैथ्यू , ९१/३) "ईश्वर तथा द्रव्य, दोनों को लेना सम्भव नहीं।" (मैथ्यू, ६/२४)। "जिसे अमृतत्व की प्राप्ति करनी हो, बाल-बच्चे छोड़ कर मेरा भक्त होना चाहिये।" (मैथ्यू, १९/२१)। और ईसा ने शिष्यों को धर्म-प्रचारार्थ देश-विदेश में भेजा, तब संन्यास-धर्म के इन का पालन करने के लिए उनको उपदेश किया कि "तुम अपने पास सोना-तथा बहुत-से वस्त्र-आभरण भी न रखना।"

राजनीति, समाज और साहित्य के समान धर्म में भी कोई सिद्धान्त अचानक निकल पड़ता। उसकी कुछ-न-कुछ पृष्ठभूमि होती है। वैदिक धर्म से बौद्ध सीधे नहीं निकल सकता था। वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध प्रतिक्रिया पहले उप-में ध्वनित हुई और तब उस प्रतिक्रिया ने बौद्ध क्रान्ति का रूप लिया। इस से देखने पर यह सहसा समझ में नहीं आता कि प्रवृत्तिमय यहूदी-धर्म में से ईसा का संन्यासयुक्त भक्तिमार्ग कैसे निकल पड़ा। इसका समाधान यह कह किया जाता है कि ईसा से कोई दो सौ वर्ष पूर्व, यहूदियों के बीच एसी या एसीन संन्यासियों का एक पन्थ आविर्भूत हुआ था, जिसके सदस्य हिंसात्मक यज्ञ-याग छोड़कर अपना समय किसी शान्त स्थान में बैठ कर ईश्वर-चिन्तन में बिताया थे। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ये लोग उदर-पोषणार्थ "खेती के निरुपद्रवी व्यवसाय किया करते थे। क्वाँरे रहना, मद्य-मांस से परहेज हिंसा न करना, शपथ न खाना, संघ के साथ मठ में रहना और जो किसी को मिल जाय, उसे पूरे संघ की सामाजिक आमदनी समझना आदि उनकी के मुख्य तत्त्व थे।" पंडितों का अनुमान है कि संन्यास की यह प्रेरणा यहूदी-में कहीं बाहर से आयी होगी और इस सम्बन्ध में पाश्चात्य पण्डितों को आभास

होता है कि वह यूनान के दार्शनिक पिथेगोरस के अनुयायियों की देन रही हो किन्तु, इतना कहने से समस्या का पूरा समाधान नहीं होता। यह सच है कि पि गोरस पर भारतीय विचार-धारा का प्रभाव खूब पड़ा था, किन्तु ईसाई धर्म बौद्ध धर्म में समानता इतनी अधिक है कि उसे बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव माने बि चल नहीं सकता। जीवों पर दया तथा सब के साथ मैत्री, करुणा जौर अहिंसा व्यवहार, पाप से घृणा और पापी से प्यार, संन्यास और यती-वृत्ति, साधुओं का में रहना और लम्बा झूल पहनना, ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका प्रवर्त्तन और प्र जैन एवं बौद्ध साधुओं ने किया था। और तो और, जिस क्रॉस को ईसाई शूली का चिह्न जान कर धर्म-भाव से धारण करते हैं, वह **स्वस्तिक-चिह्न** के और कुछ नहीं है। वैदिक तथा बौद्ध धर्मवाले भारतीय, ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही, स्वस्तिक-चिह्न को पवित्र और शुभदायक मानते आये थे। अजव नहीं स्वस्तिक का प्रचार सभी देशों में ईसा के पहले से ही रहा हो। फिर वही चि ईसाई धर्म का चिह्न हो गया।

ईसा और बुद्ध के जीवन में भी विलक्षण समानता है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बुद्ध को मार की चढ़ाइयों का सामना करना पड़ा था। और ईसा को भी शैतान लुभाने के अनेक प्रयत्न किये थे। ईसा ने सिद्धि-प्राप्ति के पूर्व चालीस दिनों उपवास किया था। बुद्ध के विषय में भी कथा है कि नेरंजना-नदी के तट पर सुजा के हाथों खीर खाने के दिन से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति के समय (अर्थात् ४९ दिनों) उन्होंने वायु के सिवा कोई आहार नहीं लिया। बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू का उद्ध किया एवं वेश्या अम्बपाली को संन्यासिनी बनाया। ईसा द्वारा भी शरणागत और वेश्याओं के सद्गति दिये जाने की कथा कही जाती है। वस्तुतः, ईसा बुद्ध के व्यक्तित्व तथा उपदेशों में इतनी अधिक समता है कि लोग यह अनुमान बैठे हैं कि, हो-न-हो, ईसा अपनी साधना के दिनों में भारत आये थे और उन्हों यहाँ के साधुओं की संगति की थी तथा बौद्ध धर्म का विशेष रूप से अध्य किया था।[1]

---

[1] (क) था शिष्य ईसा हिन्दुओं का यह पता भी है चला।
ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला। (भारत भारती)

(ख) "नेपाल के एक बौद्ध मठ के ग्रन्थ में यह स्पष्ट वर्णन है कि उस समय ई हिन्दुस्तान में आया था और वहाँ उसे बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। वह ग्रन्थ निकोलस नोटोविश नाम के एक रूसी के हाथ लग गया था। उन्हों फ्रेंच भाषा में उसका अनुवाद सन् १८९४ई० में प्रकाशित किया है।"
(गीतारहस्य : परिशिष्ट-भाग,

(ग) There was a book written a year or two ago by a Russian gentleman, who claimed to have found out a very curious life of Jesus Christ and in one part of the book he says

[शेष पृष्ठ ५२१ पर।]

किन्तु, यह अनुमान ही अनुमान है। इस बात का निश्चित पता तो अब तक भी नहीं चला है कि ईसा भारत आये थे या नहीं। हाँ, यह सत्य है कि ईसाई धर्म का विकास बुद्ध के प्रयोगों की दिशा में हुआ है और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है, क्योंकि यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस भू-भाग में ईसाई-धर्म उठा, वहाँ ईसा के बहुत पूर्व से ही, बौद्ध-साधुओं का आना-जाना जारी था। आरम्भ में ईसाई धर्म में भी त्याग, संन्यास और साधना का वही महत्त्व था जो भारतीय अथवा एशियाई धर्मों का लक्षण है। किन्तु, जब ईसइयात यूरोप पहुँची, उसके रूप-रंग बदल गये। वह सांसारिकता के बहुत समीप आ गयी। अतएव, ईसाई धर्म के दो रूप देखने में आये। एक तो वह जो एशियाई और मौलिक था। दूसरा वह जो यूरोपीय और सांसारिकता से अति दूर था। भारत में ईसाइयत के इन दोनों रूपों का आगमन हुआ। एशियाई रूप तो, शायद, ईसा के दो-तीन सौ वर्ष बाद ही पहुँच गया था। भारत के ये ईसाई सीरियन ईसाई कहलाते हैं, क्योंकि अपना धर्म उन्होंने सीरिया से लिया था। किन्तु, ईसाइयत का यूरोपीय रूप भारत में पुर्तगालियों के साथ आया।

पुर्तगालियों से पहले, ईसाई धर्म का भारत में यथेष्ट आदर था। दक्षिण के हिन्दू राजे गिरजाघरों की भी सेवा, उसी प्रकार, करते थे जैसे हिन्दू-मन्दिरों की। गिरजाघरों के लिए भूमि का दान दिया जाता था और ईसाई सन्तों की सुविधा और सत्कार के लिए भी दान दिये जाते थे, यह प्रमाणित बात है। ईसाई धर्म के सम्मुख बाधा तब आयी, जब भारतीय जनता ने पुर्तगालियों के दुर्व्यवहार देखे और जब अँगरेज यहाँ के शासक हो गये। जब ईसाइयत शासकों का धर्म हो गयी, भारतीय जनता का चौकन्ना हो जाना विलकुल स्वाभाविक हो गया।

यह ठीक है कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा के पहले भी अँगरेज शासक ईसाई धर्म-प्रचारकों की सहायता खुलकर नहीं करते थे, किन्तु, धर्म-प्रचारक शासक जाति के हैं, इस बात की कोई काट नहीं थी। इसके सिवा, यह बात भी शासकों के मन में अवश्य थी कि धर्म-प्रचारक भारत में अच्छा कार्य कर रहे हैं, अतएव उन्हें सफलता मिलनी चाहिये। धर्म-प्रचारक शासक जाति के थे, इसलिए, जनता पर उनका रोब, आप-से-आप, जम जाता था।

सौभाग्य की बात

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ-काल में भारतीय जनता का अत्यन्त बुरा हाल था। हिन्दुत्व की तो अवस्था ऐसी जर्जर और विषण्ण थी कि वैसी अवस्था उसकी पहले

[पृष्ठ ५२० का शेष।]

that Christ went to the temple of Jagannath to study with the Brahmins, but, became disgusted with their exclusiveness and their idols and so he went to the Lamas of Tibet instead, became perfect and went home."

(विवेकानन्द, द मेसेज आव् इंडिया।)

कभी नहीं हुई थी और, ऐसे समय में, एक ऐसी जाति 'भारत का शासक' हो गयी, जो पुरुषार्थ में प्रवीण, साहस में अग्रणी और लोभ में अतिशय प्रचण्ड थी। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी जो इंग्लैण्ड भारत आया था, वह ट्यूडर या स्टूअर्ट काल का इंग्लैण्ड नहीं था। ट्यूडर और स्टूअर्ट कालीन इंग्लैण्ड में धार्मिक जोश बहुत अधिक था। यदि उन्नीसवीं सदी में भी इंग्लैण्डवालों में वही धर्मोन्माद रहा होता, तो भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम, दो में से एक भी जीवित रहता या नहीं, यह सन्दिग्ध है। किन्तु, सौभाग्य से उन्नीसवीं सदी तक इंग्लैण्डवाले बहुत कुछ सुधर चुके थे। यूरोपीय रिनासां के समय से यूरोप में उदार भावनाओं का जो विकास होता आया था, उन्नीसवीं सदी तक वे यूरोप के चिन्तकों और शिक्षित लोगों के बीच भली-भाँति पच-खप गयी थीं। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का भी सांस्कृतिक प्रभाव लोगों की उदारता को विकसित करनेवाला सिद्ध हुआ। विज्ञान के जो नाना आविष्कार हुए, उनके फलस्वरूप भी, यूरोप में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा और दार्शनिक चिन्तनों के कारण, यूरोप के पण्डितों में यह भाव जगा कि धार्मिक उन्माद ठीक नहीं है। सम्भव है, हमारे धर्म में जितनी गहराई है, दूसरे धर्मों में उससे कुछ अधिक गहराई हो। ये गुण ईसाइयत के विरोधी तो नहीं थे, किन्तु, इतना अवश्य था कि अब यूरोपवाले अपने धर्म के फैलाने के लिए अधिक जोर-जबर्दस्ती नहीं करना चाहते थे। यही कारण है कि इस्लाम के प्रचार के लिए भारत में जो बर्बरता बरती गयी थी, उसका सहस्रांश भी ईसाइयत के प्रचार में दिखायी नहीं पड़ा। अपने धर्म-बन्धुओं के बीच अन्य धर्मों का प्रचार किसी को भी अच्छा नहीं लगता, किन्तु, तब भी ईसाई शासकों और प्रचारकों का शील भारत में कभी भी बहुत निन्दित नहीं हुआ। यही कारण है कि हमारे अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्वान् जब क्रूरता के लिए किसी की निन्दा करते हैं, तब उनके मुख से अ-ईसाई या अन-क्रिश्चियन शब्द निकल जाता है। यह इस बात का पक्का प्रमाण है कि हम भारत-वासी ईसाइयत को आदमी का अच्छा गुण और ईसाई धर्म को, अपनी जगह पर अच्छा धर्म समझते हैं।

ईसाइयत और हिन्दुत्व का संघर्ष

यह भी सोचने की बात है कि भारत में ईसाई-धर्म का लगातार प्रचार सन् १५००ई० से होता आया है। औरंगजेब के बाद से तो, दिनों-दिन, भारत की राजनैतिक स्थिति बिगड़ती ही गयी और ईसाइयों को घटते पानी में मछली मारने का काफी अवसर मिला। किन्तु, इसका लाभ उन्हें बहुत ही कम पहुँचा है। दो सौ साल के अँगरेजी राज्य में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कोई बात उठा नहीं रखी। फिर भी सारे भारत में ईसाइयों की संख्या आज साठ लाख से अधिक नहीं है और इनमें भी प्रायः, सब-के-सब वे ही लोग हैं जो हिन्दुत्व के अन्दर छोटी जातों में गिने जाते थे अथवा जो आदिवासी और वन्य होने के कारण प्रचलित हिन्दू-वृत्त से दूर थे। इस्लाम का प्रचार भी इसी वर्ग के भीतर हुआ था, किन्तु, मुसलमान कुछ अच्छे हिन्दू भी हुए थे। किन्तु, कितने उच्चवंशीय हिन्दू या मुसलमान क्रिस्तान हुए हैं, इस प्रश्न का उत्तर

नगण्य है। भारत में धर्म-परिवर्त्तन, मुख्यतः, उन्हीं लोगों ने किया है जो हिन्दुत्व के भीतर अनादृत और त्रस्त थे, जिनकी सुधि लेनेवाला कोई नहीं था। इतने आलोड़नों और झकोरों की चपेटें खाने के बाद भी हिन्दू-जाति की धर्म-प्राणता ढीली नहीं हुई। और बातों में वह चाहे जिसे भी अपना गुरु मान ले, किन्तु, धर्म के क्षेत्र में वह अब भी अपने को निखिल भूमण्डल का गुरु समझती है।

एबी दुबोय (Abbe Dubois) ने सन् १८१५ई० में धर्म-प्रचार-सम्बन्धी अपना जो अनुभव लिखा, उससे ज्ञात होता है कि तब तक भारत में ईसाइयत को फैलने की राह नहीं मिल रही थी। वह लिखता है कि "मैंने आँसू तो बहुत बहाये, किन्तु, वे सभी पत्थरों पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थे, उनमें से दो-तिहाई धर्म को छोड़कर अपने मूल-वृत्त में वापस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं, उनकी संख्या केवल ३३००० है। साठ साल से हम लोग प्रचार कर रहे हैं, किन्तु, उच्चवर्गीय हिन्दुओं पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। पिछले तीस वर्षों में हमने केवल तीन सौ लोगों का धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमें से दो सौ तो केवल अछूत हैं। हिन्दुओं का धर्म बदलना आसान नहीं है। इनके बीच प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही, सारी जनता विरोध में खड़ी हो जाती है। जिस दिन सरकार इस काम में हाथ डालेगी, उसी दिन उसके राजनैतिक अस्तित्व का लोप हो जायगा।"[1]

किन्तु, हिन्दुत्व का यह अवरोध उस समय था, जब अँगरेजी शासन भारत में ठीक से अपनी जड़ नहीं जमा सका था। जड़ के जमते ही, बातें बदलने लगीं और धर्म-प्रचारकों का आगमन अधिकाधिक संख्या में होने लगा। शासन खुल कर तो उनके साथ नहीं था, किन्तु, वह काफी बचाव के साथ, उन्हें पूरा प्रोत्साहन दे रहा था। अँगरेजों को आशा थी कि भारतवर्ष एक-न-एक दिन अवश्य ईसाई हो जायगा।

धर्म-प्रचारकों पर जो प्रतिबन्ध था, वह सन् १८१३ई० में उठा लिया गया। फिर तो, सारा उत्तरी भारतवर्ष ईसाइयत के प्रहारों के लक्ष्य में आ गया। कैरी, डफ और विलसन के नेतृत्व मे सारा धर्म-प्रचारक-समुदाय हिन्दू-समाज पर टूट पड़ा और, इस बार, वह अपना लक्ष्य उच्च वर्गीय हिन्दुओं को बनाने लगा। अँगरेजी शिक्षा से, कदाचित् उन्हें कुछ विशेष आशा हो चली थी। अतएव, बाइबिल के उपदेश और सड़कों तथा गलियों में भाषण, यह आम बात हो गयी। इसी काल में मिशनरियों ने अनेक कालेजों की स्थापना की। कलकत्ते के बिशप कालेज और डफ कालेज (अब जनरल असेम्बली कालेज,) त्रिचिनापल्ली के विलसन और एस०पी०जी० कालेज, ये सारी संस्थाएँ इसी काल में खुलीं और शिक्षा के माध्यम से ये ईसाई-धर्म का प्रचार करने लगीं।

इस आन्दोलन का प्रभाव ईसाइयों के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ। कहते हैं, सन् १८१५ई० में ईसाइयों की संख्या भारत में कोई दो लाख तक पहुँच गयी थी। शिक्षा के साथ-साथ ईसाई-धर्म जिस प्रकार फैलने लगा था, शायद, उसी को देखकर मेकॉले

---

[1] माडर्न इंडिया एण्ड द वेस्ट।

ने कहा था कि "थोड़ी-सी पाश्चात्य शिक्षा से ही बंगाल में मूर्त्ति पूजनेवाला कोई नहीं रह जायगा।" और ईसाई पादरी, मेकॉले की इस आशा से, पूर्ण रूप से सहमत थे। चर्चों की एक सभा के समक्ष, सन् १८३५ई० में डॉक्टर डफ ने यह घोषणा की थी कि "जिस-जिस दिशा में पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करेगी, उस-उस दिशा में हिन्दुत्व के अंग टूटते जायँगे। और अन्त में जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अंग साबित नहीं रहेगा।" उन्हीं दिनों, लार्ड शाफ्ट्सवरी ने कहा था कि "जो भी हिन्दू, ईसाई परमात्मा का ध्यान करेगा, वह ब्रह्मा और विष्णु को स्वयमेव भूल जायगा।" और सत्य ही, अँगरेजी शिक्षा हिन्दुत्व की प्रचण्डतम शत्रु होती जा रही थी।

हिन्दुत्व में कम्पन

हिन्दुत्व का स्वभाव रहा है कि वह कठिनाइयों के अभाव में सो जाता है और निद्रा उसकी तब टूटती है, जब उसके अंग पर वज्राघात किया जाय। ईसाई लोग, काफी अर्से से, अपना धर्म-प्रचार कर रहे थे, किन्तु, हिन्दुत्व की नींद नहीं टूटी थी। यही देख कर धर्म-प्रचारकों का मनसूवा वढ़ता जा रहा था। किन्तु, धीरे-धीरे, वज्राघात का समय आ गया। अँगरेजी शिक्षा से जो प्रकाश निकला, उससे हिन्दू युवक, सभी दिशाओं से मुड़ कर, केवल पश्चिम की ओर देखने लगे। उन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की, उससे पूरब के संसार में उन्हें केवल दोष-ही-दोष दिखायी देने लगे। और यह बिलकुल स्वाभाविक बात थी। उपनिषदों के युग में और बौद्ध काल में भारत के मनीषियों ने जो सूक्ष्म चिन्तन किया था, जिस प्रकार शंकाओं, प्रश्नों और बौद्धिक समस्याओं का सामना किया था, उसकी कहानी अब किसी को याद नहीं थी। सिद्धों और निर्गुनियाँ सन्तों ने क्रान्ति की जिस मशाल को जीवित रखा था, मुगलकालीन विलास से वह भी बुझ चुकी थी। कबीर के वाद न तो भारत में विचारों का कोई क्रान्तिकारी सन्त जनमा था, न तुलसी और कृष्ण-चैतन्य के वाद, उनके समान कोई भक्त। हिन्दुत्व सिमट कर पौराणिक हो गया था और अन्ध-विश्वास को छोड़ कर उसका कोई और रूप दिखायी नहीं देता था।

इधर, अँगरेजी पढ़ कर जो हिन्दू नवयुवक तैयार हो रहे थे, उनका मस्तिष्क बुद्धिवादी तर्कों से भरा हुआ था। वे मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं मानना चाहते थे। तीर्थों और मन्दिरों के पीछे किसी आध्यात्मिक सत्य का पता उन्हें नहीं चलता था, न वे धर्म के हिन्दू-अनुष्ठानों को बुद्धि से समझ सकते थे। एक तो उनके मन में बुद्धिवाद का जोर था और उनका हृदय उदारता और क्रान्ति के भावों से भरा हुआ था; दूसरे, उनके कान में अनवरत ईसाई धर्म-प्रचारक हिन्दुत्व की निन्दा की वृष्टि कर रहे थे।[१]

---

१. (क) "वह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवताओं के समान नहीं है जो मर-मिटे हैं। रामचन्द्र लक्ष्मण के शोक में सरजू नदी में डूब मरा। कृष्ण प्रभास-तीर्थ के वन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। शिव विष्णु को शिव, जो उसके काले बाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के डर के मारे हिमालय में प्राण तजा। इस रीति से सब देवता, जिनपर तुम मुक्ति की आशा रखते हो, मर-मिटे।"

[शेष पृष्ठ ५२५ पर]

हिन्दू-धर्म पर, चारों ओर से, आलोचना के बाण बरस रहे थे, किन्तु, उनका उत्तर देनेवाला कोई नहीं था। हिन्दू-धर्म का नेता पण्डा और पुरोहित-वर्ग था, जिसकी सबसे बड़ी पूँजी रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास थी। भला, यह वर्ग क्या कह कर निन्दकों को जवाब देता ?

नव-शिक्षित युवक

निदान, हिन्दू-कालेज से निकला हुआ युवकों का पूरा-का-पूरा दल, एकदम, बहक गया और वह बड़ी ही निर्ममता के साथ, ठीक उसी प्रकार, हिन्दुत्व की निन्दा करने लगा, जिस प्रकार से ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये नौजवान प्रतिमा-भंजक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने, सचमुच ही, मूर्त्तियों पर तो हाथ नहीं उठाया, किन्तु, अपने पूर्वजों के धार्मिक और नैतिक असबाबों पर उनकी कोई श्रद्धा नहीं रह गयी। घर-घर में यह विवाद छिड़ गया कि ईश्वर को मानना ठीक है या नहीं। ईश्वर साकार है या निराकार? मन्दिरों में जाना अन्ध-विश्वास और मूर्त्ति की पूजा रूढ़ि की आराधना क्यों नहीं है? जाति की प्रथा दूषित और सारा हिन्दू धर्म ही कलंकित और दोषपूर्ण क्यों नहीं माना जाय ? उनका निश्चित मत हो गया कि पुराण की कथाएँ गप्पों के अम्बार हैं और यज्ञोपवीत, चन्दन, कण्ठी, माला और शिखा, ये फालतू चीजें हैं।

जो नौजवान कुछ अधिक जोशीले थे, उन्होंने कस कर मदिरा-पान करना आरम्भ किया और अपने पिता, चचा और बान्धवों को वे यह दिखलाने लगे कि हम तुम से सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी अधिक उन्मत्त नवयुवक बीसियों प्रकार से अपने बाप-दादों को चिढ़ाने लगे और मन्दिरों में गोमांस अथवा गाय की हड्डी फेंक देना आम बात हो गयी। इस स्थिति पर विलाप करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि बच्चा जभी लड़के को स्कूल भेजा जाता है, पहली बात वह यह सीखता है कि उसका बाप बेवकूफ है। दूसरी बात यह कि उसका दादा दीवाना है, तीसरी बात यह कि उसके सभी गुरु पाखण्डी हैं और चौथी यह कि सारे-के-सारे धर्म-ग्रन्थ झूठे और बेकार हैं।

इन युवकों में से जो अधिक विचारवान् थे, उन्होंने भी घोषणा कर दी कि हिन्दुत्व के नवीन और प्राचीन, वैदिक और पौराणिक, साकारवादी और निराकारवादी, सभी रूप व्यर्थ हैं। पाठ्य-क्रम में धर्म का स्थान नहीं रहने के कारण इन्हें अपने धर्म से तनिक भी परिचय नहीं था। संस्कृत भाषा से वे अनभिज्ञ थे। यदि संस्कृत ये पढ़ते भी

[पृष्ठ ५२४ का शेष ।]

(ख) "मैं बुरा तो हूँ, परन्तु, देवताओं से बुरा तो नहीं हूँ। वरन्, उनसे कहीं भला हूँ। शिव के समान जाति से अनादरित और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाईं कामातुर हो के अपनी कन्या से कुकर्म नहीं किया और विष्णु की नाईं पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की रीति प्रतिज्ञा-भंजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधर्म का उपजायक नहीं हुआ और इन्द्र के समान अपने गुरु की पत्नी को भ्रष्ट नहीं किया।" (श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के "आधुनिक साहित्य," में उद्धृत।)

थे तो काव्य और नाटक के लिए। इसके विपरीत, उन विज्ञान-सम्मत विचारों से वे ओत-प्रोत थे, जिनकी कसौटी पर यूरोप में भी धर्म की आलोचना चल रही थी। फिर, अपने धर्म की ये निन्दा भी काफी सुन रहे थे। परिणाम यह हुआ कि धर्म के मामले में वे बिलकुल शून्य में जा लटके। ये लोग अपने को मुक्त चिन्तक कहते थे। विचारों से वे अँगरेजों की सन्तान हो गये थे, किन्तु, सामाजिक दृष्टि से वे किसी समाज के सदस्य नहीं थे। अपने घर में वे विदेशी थे। अपने गाँव में उनका कोई आत्मीय नहीं था। ये ठीक उसी प्रकार के भारतीय थे, जिनकी कल्पना मेकॉले ने की थी—तन से भारतीय, किन्तु, मन से अँगरेज। ये ही वे शिक्षित युवक थे, जिन्हें देख-कर शासकों और धर्म-प्रचारकों को यह आशा हो चली थी कि भारतवासियों को क्रिस्तान बनाने के लिए किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता नहीं है, उन्हें केवल अँगरेजी पढ़ाना काफी होगा। इनकी वाणी, इनके विचार और इनके व्यवहार से सारा हिन्दू-समाज दुःखी हो उठा और वे हिन्दुत्व के सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे। पर्सिवल ने अपनी "लैण्ड आव् द वेदाज" नामक पुस्तक में तत्कालीन एक समाचार-पत्र का उद्धरण दिया है, जिसमें सम्पादक ने कहा था कि "क्या हिन्दू-कालेज में एक नये ढंग के मनुष्यों की नींव नहीं रखी जा रही है? हिन्दू-कालेज से समाज की धार्मिक भाव-नाओं को जैसी गहरी टेस पहुँची है, क्या उसका शतांश भी मिशनरियों के आन्दोलनों से पहुँची थी?"

जहाँ शून्य होता है, वहीं अवांछित वस्तुएँ अपनी राह बनाती हैं। इन मुक्त चिन्तकों ने जब हिन्दू-धर्म में अपनी जगह छोड़ दी, तब वे क्रिस्तान भी होने लगे। किन्तु, धर्म-परिवर्तन वे इसलिए नहीं करते थे कि ईश्वर में उनका अटल विश्वास था अथवा आत्मा के लिए वे उपयुक्त वातावरण खोज रहे थे। अक्सर, धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य सामाजिक सुविधा होती थी।[1] बहुतों ने इसलिए भी धर्म छोड़ा कि हिन्दू-समाज में जाति की कड़ी प्रथा और पर्दे का रिवाज था। इन दोनों नियन्त्रणों के रहते हुए प्रेम की लीला मनोवांछित ढंग से नहीं चल सकती थी। स्वयं माइकेल का भी धर्म-परिवर्तन

---

[1] "एक बार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त किसी काम से दक्षिणेश्वर आये थे। वे अपने काम को समाप्त करके श्री रामकृष्ण से भेंट करने गये। शास्त्रीजी (नारायण शास्त्री) उस समय वहीं थे। शास्त्रीजी ने माइकेल से ख्रिस्ती-धर्म स्वीकार करने का कारण पूछा। माइकेल बोले, 'मैंने पेट के लिए ऐसा किया।' इस उत्तर को सुन कर शास्त्रीजी क्रोध में आकर बोल उठे, 'क्या इस क्षणभंगुर संसार में पेट की खन्दक को भरने के लिए आपने स्वधर्म का त्याग किया? धिक्कार है ऐसे मनुष्य को। एक दिन मरना तो है ही। यदि अपने धर्म में रहते हुए ही आप मर जाते तो क्या संसार सूना हो जाता?' माइकेल के चले जाने पर शास्त्रीजी ने श्री रामकृष्ण के दरवाजे पर कोयले से लिख दिया, 'पेट के लिए स्वधर्म त्यागनेवालों को धिक्कार है'।" (रामकृष्ण-लीलामृत, प्रथम भाग।)

से अधिक प्रेम के कारण हुआ था। यूरोपीय रोमांटिक कविताएँ और कहानियाँ तथा नाटक पढ़कर युवकों में उद्दाम प्रेम की तृषा जागी और उसकी तृप्ति की राह हिन्दू-समाज में अवरुद्ध देखकर, उनमें से कितने ही लोग ईसाई हो गये। दिमाग में स्वतन्त्र विचारों के तूफान और दिल में जवानी की रंगीन उमंगें, किन्तु, सारा समाज पर्दे की प्रथा से पीड़ित ! निदान, युवकों ने प्रेम के कारण भी अपने धर्म का परित्याग किया।

भारतीय युवकों में जो उच्छृङ्खलता दिखायी पड़ी, वह ईसाई धर्म का परिणाम नहीं थी। धर्म का काम मनुष्यों को उच्छृङ्खल बनाना नहीं, न ईसाई धर्म इस नियम का अपवाद है। उच्छृङ्खलता का कारण यूरोपीय साहित्य में अभिव्यक्त निर्बन्ध विचार थे। उच्छृङ्खलता का कारण यूरोप से गृहीत यह विश्वास था कि, धर्म की ही अथवा व्यवहार की, कोई भी ऐसी बात मानने योग्य नहीं है जो बुद्धि की पकड़ में नहीं जाती है। भारतवर्ष में मुक्त चिन्तन का मार्ग कई सौ वर्ष पहले ही अवरुद्ध हो चुका था। धर्म और समाज, दोनों ही क्षेत्रों में भारतवासी अपने शास्त्र को देखकर चलते थे और शास्त्र के मानी वे सभी पुराण भी थे, जिनमें परस्पर-विरोधी बातें गुँथी हुई थीं। भारतवासियों की बुद्धि इतनी जड़ हो गई थी कि कोई यह सोचता ही नहीं था कि छुआछूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा-विवाह नहीं होने देना नारी-जाति के प्रति अन्याय है, कि शूद्र और नारी को वे ही अधिकार मिलने चाहियें जो उच्च वर्णों के पुरुषों को प्राप्त हैं। समाज में भ्रूण-हत्याएँ चलती थीं, बालिकाओं का वध होता था, जहाँ-तहाँ सती की प्रथा भी कायम थी और लोग छिप कर नीच जाति की स्त्रियों से सम्बन्ध भी करते थे। किन्तु, इन बातों के खिलाफ समाज में कोई नहीं बोलता था। तीर्थों में व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। महन्तों के घर पापाचार के आश्रय थे और मूर्त्तियों को पुजवानेवाले पंडे विलास में डूबे हुए थे। किन्तु, इन बातों को रोकनेवाला कोई नहीं था। मब समझते थे कि इन्हें रोकने से धर्म का अपमान होगा।

यूरोप से जो ज्ञान आया था, उसके प्रकाश में वे लोग समाज की बुराइयों और धर्म की रूढ़ियों को स्पष्ट देखने लगे, जिन्हें अँगरेजी की शिक्षा मिली थी। यूरोप और भारतवर्ष की टकराहट से एक बार फिर वह भाव सोते से जग पड़ा जो बुद्ध के समय जगा था, जो कबीर के समय प्रत्यक्ष हुआ था और लोग, गम्भीरता से धर्म और समाज के ढाँचे पर एक बार फिर उसके, मूल से ही, सोचने लगे। किन्तु, ये चिन्तक सामान्य कोटि के लोग थे। असल में, उन्हें चिन्तक कहना भी नहीं चाहिये। वे शंकाओं से ग्रस्त छोटे-छोटे मनुष्य थे, जिन्हें हिन्दुत्व की हर चीज छूँछी और निस्सार दिखायी देती थी, जो अपने समाज और धर्म की कुरूपताओं से शरमाये हुए थे और जिन्हें इस तथ्य का तनिक भी पता नहीं था कि बुद्धिवाद और उदारता के तत्त्व भी हिन्दुत्व में विद्यमान हैं।

इन नव-शिक्षितों की मनोवृत्ति पराजितों की मनोवृत्ति हो गयी और अपने ईसाई

शिक्षकों, ईसाई दोस्तों एवं अँगरेजी से रौशन दिमागवालों के सामने अपने मस्तक को उठाये रखने के लिए उन्होंने खुल कर अपने धर्म की भर्त्सना आरम्भ कर दी। धर्म-त्याग इनमें से थोड़े ही लोगों ने किया। किन्तु, जो किसी भी कारण से अपने धर्म के भीतर रह गये, वे भी हिन्दुत्व को निर्ममता से झकझोरने लगे। ये भारत में प्रविष्ट यूरोप के नवीन विचारों के आरम्भिक नेता थे और घर, छात्रावास; गाँव, शहर एवं विद्यालयों में इनकी जो बकवास चलती थी, उससे हिन्दुत्व का पक्ष, दिनोंदिन, कम-जोर पड़ता जा रहा था और ईसाई धर्म का मार्ग प्रशस्त होता जाता था।

किन्तु, एक बात हुई जिससे ईसाई धर्म का मार्ग, पूर्णतः, नहीं खुला। और वह बात यह थी कि भारत के नव-शिक्षित युवक हिन्दू-धर्म की निन्दा और ईसाइयत की प्रशंसा चाहे जितनी भी करते हों, किन्तु, स्वयं उनके भीतर धार्मिकता का कोई चिह्न नहीं था। हैट-बूट से सुसज्जित घोर रूप के संसारी मनुष्य थे, जिनके आमिष-भोजन और मदिरापान की कहानियाँ सर्वत्र प्रचलित थीं। भारत में धर्म के साथ एक प्रकार की फकीरी, एक प्रकार का आत्म-त्याग और अपरिग्रह का भाव सदा से वर्त्तमान रहा है। अतएव, इन बकवासी युवकों का भारतीय जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे, वह उनसे घृणा करने लगी।

इस घृणा के शिकार ईसाई धर्म-प्रचारक भी हुए। भारत में इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारों की तुलना करने पर एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि इस देश में इस्लाम का अधिक प्रचार इसलिए भी सम्भव हुआ कि उसके प्रचारक सूफी सन्त थे, जो सांसारिकता से दूर थे, जो अपने शरीर को कष्ट में रखने के अभ्यासी थे, जिनका राज-दरबार से कोई सम्बन्ध नहीं था और जो मुसलमानों के गिरोह के आदमी नहीं थे। इसके विपरीत, ईसाई धर्म-प्रचारकों को यहाँ की जनता ने संन्यासी नहीं समझा। जनता को वे नये शासन की धार्मिक सेना के सिपाही नजर आये। सूफियों और संन्यासियों के जीवन की सरलता और तपश्चर्या यदि ईसाई प्रचारकों के जीवन में रही होती तो, निश्चय ही, उन्हें अधिक सफलता मिली होती और हिन्दुत्व का अधिक विनाश हुआ होता। हिन्दू-जनता बराबर उस आदमी को पूजती है जो इच्छा मात्र से संसार त्याग कर संन्यास ले सके। ईसाई प्रचारकों में इस त्याग का अभाव था और जनता को यह शंका हो गयी थी कि ये प्रचारक, मौका पाते ही, गद्दीनशीन भी हो सकते हैं।

हिन्दुत्व पर आक्रमण का काम इसलिए भी कठिन है कि हिन्दू-धर्म रजिमेंटेशन (जकड़बन्दी) से घृणा करता है। इस धर्म का दार्शनिक पक्ष अधिक-से-अधिक उदारता को मनुष्य का उत्तम गुण मानता है। अपने विचारों के लिए उचित से अधिक आग्रह करना, दूसरों के धर्म, मत या विचार का निर्ममतापूर्वक अनादर करना अथवा अन्ध-विश्वास पर कट्टर होकर खड़ा रहना, ये बातें हिन्दुत्व के खिलाफ हैं और प्रत्येक हिन्दू अपने अन्तर्मन में ऐसा काम करनेवालों का अविश्वास करता है। ईसाई धर्म-प्रचारक प्रचार के उत्साह में आकर इस प्रकार के काम खूब करते थे। अतएव, यहाँ की जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। जिस प्रकार, अँगरेज शासक भारत में रा

हुए भी इंग्लैण्ड में ही बने रहे, उसी प्रकार, ईसाई प्रचारक भी यहाँ की जनता में प्रवेश नहीं पा सके ।

चूँकि ईसाई प्रचारक भारतीय समाज से अलग रहते थे, इसलिए, जनता को यह का अवसर नहीं था कि उनके वैयक्तिक जीवन में कितनी सरलता और कितना है। उनकी प्रशंसा करनेवाले नव-शिक्षित हिन्दुओं ने समाज में अपने आचार प्रमाण दिया, वही आचार ईसाई पादरियों का भी मान लिया गया और, दोनों दोनों, भोगवादी समझे जाकर आँखों से उतार दिये गये। गांगुली नामक एक ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया था और धर्म-प्रचारकों में उसका आदर भी यथेष्ट सन् १८६०ई० में उसने लिखा था कि "ईसाई धर्म के विषय में हिन्दुओं का ख्याल है कि ईसाई होने के लिए यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-से दुर्व्यवहार करे¹, गाय और सूअर का मांस खाये तथा मदिरा का पान करे। भी कि ईसाई होने की दूसरी शर्त यह है कि आदमी भी जानवरों के समान खाने मुँह नहीं धोये और उन सारी चीजों से घृणा करे जो हिन्दुत्व से सम्बद्ध हैं, वे सुन्दर और उपयोगी ही क्यों न हों।"

का एशियाई रूप

भारत में ईसाइयत अँगरेजों के प्रताप के काल में भी उतना नहीं फैल सकी, की आशंका थी और इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि वह भारतीयता का करने में असमर्थ रही। ईसाई धर्म इस देश को यूरोप बनाना चाहता था। १९३१ई० में प्रोफेसर शेषाद्रि ने एक बार कहा था कि भारतीय ईसाई ईसाई होते खाना, हैट पहनना, शराब पीना और भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से आप को अलग रखना आवश्यक समझने लगते हैं। आरम्भ में, स्वयं गाँधीजी समझते थे कि जो आदमी ईसाई बनना चाहता हो, उसे गोमांस खाना, शराब और यूरोपीय लिबास पहनना ही पड़ेगा। केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाजी थे। विचारों में वे सोलह नहीं तो बारह आने क्रिस्तान अवश्य थे। किन्तु, उन्हें इयत का यह पाश्चात्य रूप खटकता था। उन्होंने एक बार कहा था कि यह है कि ईसा हम लोगों के बीच अँगरेज बन कर आये हैं। उनके रंग-ढंग तौर-तरीके अँगरेजी हैं। उनका मिजाज और उनकी आत्मा भी अँगरेजों का और अँगरेजों की आत्मा है। इसीलिए, हिन्दू उनसे बिदकते हैं। यदि आप को हमारे बीच लाना ही चाहते हैं तो उन्हें सुसभ्य यूरोपीय व्यक्ति बना कर मत । बल्कि, उन्हें एशिया के सन्त के रूप में भेजिये, जिसकी सारी पूँजी उसकी और जिसका सारा धन उसकी प्रार्थना में है।"

यह उदाहरण अधिकतर उन लोगों ने उपस्थित किया, जिन्हें इंग्लैण्ड या यूरोप ने का अवसर मिला था। वहाँ से लौटने के बाद ये युवक अपने पिता को नाम करने में शरमाते थे और अगर अपने साथ वे मेम लाते तो माँ-बाप को छोड़ कर अलग घर बसा लेते थे।

स्वयं विवेकानन्दजी महाराज को तत्कालीन शिक्षित युवकों से घोर असन्तोष "तुम बकवास करते हो, आपस में विवाद और झगड़े करते हो तथा उन सभी की खिल्ली उड़ाते हो जो हमारे लिए पवित्र हैं। तुम्हें इसका ध्यान ही नहीं है प्राचीरों के बाहर असंख्य भारतीय जनता उस अमृत की एक बूंद पीने को बेचैन है हमारे प्राचीन शास्त्रों में भरा पड़ा है।"[१] ईसा का यूरोपीय रूप विवेकानन्द को पसन्द नहीं था। अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि "लोग अक्सर यह भूल हैं कि ईसा एशियाई थे। वे चित्रों में ईसा की आँखें नीली और बाल पीले हैं। किन्तु, इससे कुछ आता-जाता नहीं। ईसा तो फिर भी एशियाई ही हैं। में जो उपमाएँ हैं, जो चित्र हैं, जो दृश्य, प्रवृत्ति, काव्य और प्रतीक हैं, वे हैं, पूर्वी विश्व के हैं। बाइबिल का आकाश चमकीला है, उसके वातावरण में उसके भीतर मरु-प्रदेश का सूर्य है, उसके भीतर प्यासा आदमी और जीव हैं। बाइबिल में उन कूपों का उल्लेख है, जिनसे पानी लेने को नर और दूर गाँवों से आते हैं—ये सारे दृश्य एशिया के हैं, यूरोप के नहीं।"[२]

ईसाइयत का हिन्दू-समाज पर ऐसा प्रभाव इसलिए पड़ा कि नव-शिक्षित हिन्दू लिबास और विचार से अँगरेज हो रहे थे एवं भारतीयता की द्योतक प्रत्येक वस्तु से घृणा होने लगी थी। नयी शिक्षा आवश्यक थी, क्योंकि रोजी अब फारसी अँगरेजी पढ़ कर ही कमायी जा सकती थी। किन्तु, अँगरेजी का प्रभाव हिन्दुत्व लिए घातक होता जा रहा था। बाहर मिशनरी थे जो पुस्तकें छाप कर, निकालकर और सड़कों, गलियों, कचहरियों, बाजारों और स्कूलों तथा कालेजों भाषण देकर निर्भीकतापूर्वक हिन्दू-धर्म की धज्जियाँ उड़ा रहे थे। और घरों में शिक्षित हिन्दू युवकों का तेजस्वी समुदाय था जो हिन्दुत्व को सैंकड़ों प्रकार से नित करके अपने समाज की छाती कुरेद रहा था। राजा ईसाई, प्रचारक ईसाई, ईसाई और शिक्षितों पर ईसाइत का दिनोंदिन बढ़ता हुआ व्यापक प्रभाव! धर्म बार फिर महाविपत्ति के घेरे में था और आस्तिकों के मन में भगवान् की यह अस्फुट स्वरों में गूंज रही थी कि

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

□□

---

[१] कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर।

[२] क्राइस्ट, द मेसेंजर।

प्रकरण ४

हिन्दू नवोत्थान

वतार, अपने काल का स्वर

गीता का यह वचन ठीक है कि जब-जब धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान ता है, तब-तब संसार में ऐसी आत्माएँ अवतीर्ण होती हैं, जिन्हें अवतार कहते हैं। अवतार साक्षात् भगवान होते हैं या नहीं, इस विचिकित्सा में पड़ना व्यर्थ है। प्रत्येक जिस ब्रह्म का स्वरूप है, औसत व्यक्तियों से बड़े व्यक्ति भी उसी ब्रह्म के स्वरूप हैं। किन्तु, स्वर्ग में कोई खास चाक नहीं है, जिसपर अवतारों, पैगम्बरों और रकों का निर्माण होता हो। निर्माण उनका इस भूमि पर ही होता है और स्वभाव विचार उनके क्या हों. इसका निर्णय भी उस समाज की आवश्यकताएँ करती हैं, के बीच इन अवतारों का जन्म होता है। सन्त और सुधारक, मुख्यतः, अपने ही की शंकाओं का उत्तर देने को आते हैं। अतएव, एक सुधारक की वाणी दूसरे रक की वाणी से ईषत् भिन्न होती है, क्योंकि समाज की शंकाएँ सदा एक-सी रहतीं। बुद्ध का उपदेश हिंसा के त्याग का उपदेश था, निवृत्ति और संन्यास का श था, क्योंकि जिस समाज में बुद्ध उत्पन्न हुए थे, वह याज्ञिक हिंसा से पीड़ित था लोग प्रवृत्ति के मार्ग पर इतनी दूर तक चले गये थे कि मर कर भी वे स्वर्ग में सुख भोगना चाहते थे जो उन्हें इस संसार में उपलब्ध था। इसी प्रकार, शंकरा-ने निराकार ब्रह्म और मायावाद को प्रमुखता इसलिए दी कि शून्यता के सिद्धान्त अंगीकृत किये बिना वैदिक धर्म बौद्ध-धर्म को पराजित नहीं कर सकता था। फिर नुज, वल्लभ आदि आचार्यों ने साकार ईश्वर पर इसलिए जोर दिया कि जनता कार और निर्गुण की उपासना से सन्तुष्ट नहीं थी, न निराकार ब्रह्म को लेकर भीतर भक्ति का ज्वार उठाया जा सकता था। इसी प्रकार, कबीर और नानक निराकार की ओर इसलिए चले गये कि अब भारत में इस्लाम आ गया था एवं कों ने देखा कि निराकार ब्रह्म की उपासना के द्वारा ही हिन्दुओं और मुसलमानों पारस्परिक दूरी कम की जा सकती है। किन्तु, सूर, तुलसी, मीराबाई और कृष्ण- साकार से, तब भी, इसलिए लिपटे रहे कि साकार भक्ति की धारा दबना नहीं थी, न सनातन-धर्म का वैदिक स्रोत उपेक्षित होने को तैयार था।

त्थान का स्वरूप

न्नीसवीं सदी से पूर्व भारत में जो भी सुधारक सन्त हुए, उनका एक मात्र विषय था, क्योंकि धर्म ही तत्कालीन समाज की मुख्य सांस्कृतिक धारा थी एवं राजनीति समाज की चेतना तब तक उसके वृत्त से बाहर की चीज थी अथवा यह कहना

चाहिये कि राजनैतिक तथा सामाजिक चेतना तब तक उतनी नहीं बढ़ी थी कि धर्म को भी प्रभावित करे। किन्तु, उन्नीसवीं सदी तक आकर समस्या का रूप गया और जो धर्म पहले अपने-आप में ही पूर्ण समझा जाता था, उसकी जाँच सामाजिकता की कसौटी पर की जाने लगी। भारत में यूरोपीय ज्ञान के आगमन बाद भारतीय धर्मों की जो आलोचना चलने लगी थी, उसका भी मुख्य कारण नहीं था कि हिन्दू-धर्म और इस्लाम ईसाइयत के सामने तुच्छ थे अथवा भारतीय की त्रुटियाँ ईसाई धर्म में नहीं थीं। बल्कि, इस आलोचना को प्रेरणा इस बात से रही थी कि ईसाई धर्म चाहे जैसा भी रहा हो, किन्तु, ईसाई समाज हिन्दू और मु समाजों से अधिक जाग्रत, अधिक कर्मठ और अधिक उन्नत एवं उदार था। यूरोप के साथ आनेवाले धर्म से नहीं डरा, बल्कि, भय उसे यूरोप के विज्ञान को कर हुआ, उसकी बुद्धिवादिता, साहस और कर्मठता से हुआ। अतएव, भारत में त्थान का जो आन्दोलन उठा, उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परम्परा और विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत, यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सा बिठाना था।

जब से यूरोप का आधिभौतिक उत्थान हुआ है, संसार में ईसाइयों की संख्या बढ़ी है। गरीब के कान का सच्चा सोना भी सन्देह से देखा जाता है, किन्तु, अ के गले में कोई पीतल भी डाल दे तो लोग उसे पीतल समझने का साहस नहीं क ईसाई धर्म, यों भी, बहुत उत्तम धर्म था। किन्तु, प्रतापी यूरोपीय जातियों का होने के कारण उसका प्रताप और भी चमक उठा और जहाँ भी यूरोप के सैनि और विजेता गये, वहाँ की सभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों ने, अनेक प्रकार के आकर, उनका धर्म स्वीकार कर लिया। केवल भारत ही ऐसा देश निकला, शासकों का धर्म होने पर भी ईसाइयत उतनी प्रगति नहीं कर सकी, जितनी सम्भावना थी। और यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि भारत कोई हाल-साल का नहीं है, न यहाँ की सभ्यता ही हजार-पाँच सौ वर्ष की चीज है। यहाँ की सभ्य कम-से-कम, छह हजार वर्ष प्राचीन है एवं जितना धार्मिक संस्कार अनेक अन्य के लोग जीवन भर साधना करके प्राप्त करते हैं, उतना संस्कार यहाँ के अ व्यक्ति को भी, बहुधा, पैतृक उत्तराधिकार के रूप में, आप-से-आप, प्राप्त हो है। यदि आधिभौतिक चाकचिक्य को लें तो उसका भी भारतीयों के मन पर प्रभाव नहीं पड़ता। वैभव-विलास के अनेक दृश्य यह देश देख चुका है। अनेक यहाँ वैभव के सूर्य उगे और अनेक बार वे अस्त हुए हैं। और प्रत्येक बार भार को यही दिखलायी पड़ा कि यह बाहरी चमक केवल टीम-टाम है। जीवन जिसे रहा है, मनुष्य जिसे प्राप्त करके शान्ति लाभ करता है, वह पदार्थ रुपयों के ढ़ेर नहीं, मनुष्य के शील में छिपा हुआ है। ऐसी अनुभवी जाति कभी आधिभौतिकता शिकंजे में नहीं आ सकती। और यूरोप की अधीनता में पड़ने के बाद भी, भारत शिकंजे में गिरफ्तार नहीं हुआ। हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि आधिभौतिकता टकराहट से भारत की ऊँघती हुए बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गयी और वह इस

अपने घर के सामानों पर नजर दौड़ाने लगी कि जो चीजें लेकर यूरोप भारत ता है, वे हमारे घर में हैं या नहीं। **भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का त्थान था।**

चूंकि भारत पराधीन था और केवल ईसाई पादरी ही नहीं, बल्कि, अँगरेजी पढ़े-भारतीय भी भारत के धर्म और संस्कृति की निन्दा कर रहे थे, इसलिए, यह समझना चाहिये कि भारतीय संस्कृति ने यूरोप को अपने से, सर्वतोभावेन, श्रेष्ठ कर उसके सामने घुटने टेक दिये या वह अपना सब-कुछ भूल कर यूरोप का अनुकरने लगी। यूरोप का अनुकरण तो वे कर रहे थे जो भारतीय धर्म और स्कृति के खिलाफ थे। ये लोग नवोत्थान के नेता नहीं, प्रत्युत, उसकी कुत्सा, आलो-और दण्ड के पात्र थे। नवोत्थान नव-शिक्षित हिन्दुओं के नेतृत्व में नहीं, उनके द्ध आया था और उसका उद्देश्य उन लोगों को भारतीय वृत्त में सुरक्षित रखना जो नयी लहर में बहते हुए परिधि से बाहर जा रहे थे। नवोत्थान उस प्रक्रिया का है, जिससे भारत सँभला, जिससे उसने यूरोप से नैतिक कुश्ती लड़ते समय अपने ते हुए पाँव को स्थिर किया, जिससे उसे यह विश्वास हुआ कि मैं, सचमुच, उतना नहीं हूँ जितना कि नये लोग बता रहे हैं, बल्कि, मेरे पास कुछ ऐसे अनुभव भी हैं, का इन बच्चों को पता नहीं है।

वोत्थान की रीढ़

भारतीय नवोत्थान का एक प्रधान लक्षण अतीत की गहराइयों का अनुसन्धान। यूरोप के पास जो पूँजी थी, उसमें विज्ञान ही एक ऐसा तत्त्व था, जो भारत को न लगा और जिसे भारत ने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। बाकी प्रत्येक दिशा भारत ने अपने अतीत की पूँजी टटोली और अपने प्राचीन ज्ञान को नवीन करके नये मार्ग पर अग्रसर होने लगा। अँगरेजी भाषा में एक शब्द 'रिवाइवलिज्म' है दूषित अर्थ देता है। जो भी व्यक्ति आज के सत्य को अनादृत करके भूतकाल की हुई बातों को दुहराता है, उसे हम पुनर्जागरणवादी या 'रिवाइवलिस्ट' कहते हैं। पुनर्जागरणवादी होना कोई अच्छा काम नहीं है। किन्तु, नवोत्थान में भी अतीत बातें दुहरायी जाती हैं। जब नवोत्थान का समय आता है, जातियों के कुछ पुरातन दुबारा जन्म लेते हैं। यह पुनर्जागरण नहीं, सत्यों का पुनर्जन्म है। बहुत-से सत्य हैं, जो मिटना नहीं जानते, जो कुछ दिनों के लिए प्रच्छन्न तो हो जाते हैं, किन्तु, पाकर जिन्हें मनुष्य फिर से प्राप्त कर लेता है। भारत में ऐसे सत्य वेदान्त के रहे हैं। जब-जब भारत में नवोत्थान हुआ है, तब-तब वेदान्त की भूमिका मनुष्य सामने प्रकाशित हो उठी है। वेदान्त ने बुद्ध का साथ दिया, वेदान्त ने शंकर को या, वेदान्त के आधार पर कबीर और नानक सत्य सिद्ध हुए और उसी वेदान्त नयी व्याख्या करके रामानुज ने भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जब ईसाइयत और भारत पहुँचे और भारत को उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था करनी पड़ी, भारत ने एक बार फिर वेदान्त का सहारा लिया। जिस नवोत्थान का आरम्भ

राममोहन राय, दयानन्द और विवेकानन्द ने किया था, और जिसकी धारा में आज भी तैरते हुए आगे जा रहे हैं, वेदान्त उस आन्दोलन की रीढ़ है।

निवृत्ति का त्याग

नवोत्थान का दूसरा प्रधान लक्षण निवृत्ति का त्याग था। कुश्ती का अखाड़ा केवल धार्मिक रहा होता, तो, सम्भव था कि, भारत इस बार भी निवृत्ति को छोड़ता ; क्योंकि उपनिषदों और बुद्ध के समय से वैराग्य का ज़हर उसकी नसों बराबर उतारा जा रहा था और निवृत्तिवाद भारतीय स्वभाव का अंग हो गया किन्तु, इस बार यूरोप के क्रान्तिकारी विचारों का भागीदार बन जाने के कारण, पराधीनता के दाह को बेचैनी से अनुभव करने लगा और उसे यह ज्ञान होने लगा कि यूरोप की श्रेष्ठता का कारण केवल यही नहीं है कि उसके पास युद्ध के उन्नत शस्त्र हैं, बल्कि, यह भी कि जीवन-विषयक उसका दृष्टिकोण प्रवृत्तिमार्गी वह जीवन से भाग कर अपना सुख नहीं खोजता, प्रत्युत, उसके भीतर पैठ कर रस पाता है। इस्लाम भी हिन्दुत्व की तुलना में प्रवृत्तिमार्गी ही था, किन्तु, ने इस्लाम से प्रवृत्ति की शिक्षा नहीं ली थी, प्रत्युत, इस्लाम का भी सूफी-अंश हिन्दुओं को पसन्द आया था और यह सूफी-अंश उतना ही निवृत्ति-प्रधान था, हिन्दुओं का धर्म समझा जाता है। बल्कि, भारत में रहते-रहते निवृत्तिवाद का अब इस्लाम में भी प्रवेश कर गया था।

किन्तु, अब जो हिन्दुत्व और इस्लाम यूरोप से टकराये तो उन्हें यह सोचने बाध्य होना पड़ा कि निवृत्ति जीवन की सच्ची राह नहीं है। लेकिन, यहाँ भी आभास नहीं मिलता कि प्रवृत्ति को भारतवासियों ने नया दर्शन समझ कर नहीं, स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने वेदान्त और गीता की ही व्याख्या करके यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय वैदिक धर्म का मूल उपदेश नहीं, प्रवृत्ति है। यह हिन्दुत्व की बात है। इस्लाम का विश्लेषण हम अलग से जीवन सत्य है, संसार सपना नहीं हैं, वैराग्य जीवन की पराजय को नहीं कहते हैं कर्माकर्म का विचार ऐसा नहीं होना चाहिये कि मनुष्य के इहलौकिक सुखों का नाश हो जाय, ये और ऐसे उपदेश इस काल के चिन्तकों के मुख से बार-बार देते हैं।

असल में, उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान, भारत में प्रवृत्तिवाद का ही अनुपम था। राममोहन, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक ने प्रवृत्ति पर इतना अधिक जोर दिया कि सारा हिन्दू-दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स-सा दीखने लगा और संन्यास से गार्हस्थ्य को श्रेष्ठ समझने में जो बाधा थी, वह आप-से-आप क्षीण होने लगी। जातियाँ जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनके कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं। हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। अतएव, जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान था, जिसका अस्तित्व नहीं था। निवृत्ति

ता में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे, जहाँ स्वाधीनता और धीनता में कोई भेद नहीं था, अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था और न ई अत्याचार ही ऐसा था, जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण त है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व के भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा हीं हुआ, जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का रोध करने को आये हैं। किन्तु, उन्नीसवीं सदी के बाद से भारतीय साहित्य में न्तिकारी और अनय-विरोधी स्वर बड़े जोर से गूँजने लगे। यह, स्पष्ट ही, गीता और वेदान्त की प्रवृत्तिमार्गी टीका का परिणाम है।

इसीलिए, हमें ऐसा लगता है कि, यद्यपि, भारत में संस्कृति के बड़े-से-बड़े नवोत्थान ए हैं, किन्तु, वर्त्तमान नवोत्थान उन सबसे अधिक शक्तिशाली और श्रेष्ठ है। इसने दिक धर्म की प्रवृत्तिमार्गी धारा को प्रत्यावर्तित किया है। इसने संसार की सत्यता मनुष्य के विश्वास को बढ़ाया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता में वृद्धि की है। इसने शूद्रों को गौरव का मार्ग बताया है और नारियों को सहस्राब्दियों की कारा विमुक्त किया है। इसने भारत के विस्मृत इतिहास को जीवित रूप दिया है तथा, से अधिक, इसने मनुष्यों में सात्विक शंका की प्रवृत्ति स्फुरित कर दी है, जिससे नुष्य किसी भी बात को केवल इसलिए मानने को तैयार नहीं है कि वह शास्त्रों द्वारा नुमोदित है अथवा वह बाप-दादों के समय से चली आ रही है। इस नवोत्थान से रत का कायाकल्प हुआ है, धर्म की रूढ़ियाँ धूलवत् झड़ गयी हैं, मनुष्य की उदारता वृद्धि हुई है और हिन्दू-धर्म संशोधित होकर इस रूप में खड़ा हो गया है जिसे हम वधर्म की भूमिका कह सकते हैं। नवोत्थान ने किन प्रक्रियाओं से अपने को प्रकट या, इसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसके कुछ सांस्कृतिक आन्दोलनों और नेताओं से परिचय प्राप्त करें।

□□□

प्रकरण ५

ब्राह्म-समाज

भारत में ईसाइयत का प्रचार, ईसाइयों के द्वारा भारतीय धर्मों की निन्दा, यूरो के क्रान्तिकारी, बुद्धिवादी विचार और अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं द्वारा हिन्दुत्व भर्त्संना, ये कुछ कारण थे, जिनसे हिन्दुत्व की नींद टूटी। उसकी पहली अंग ब्राह्म-समाज में प्रकट हुई और उसके नवोत्थान के आदि पुरुष राजा राममोहन रा हुए। राममोहन साधक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ और सामाजिक नेता अधिक इसलिए, धर्म के अध्ययन और विश्लेषण से उंन्होंने वह शक्ति निकालनी चाही, जिस हिन्दू क्रिस्तान होने से बच सकते थे; जिससे वे यूरोप के ज्ञान और यूरोप की प को अपना कर अपने खोये हुए अधिकार फिर से प्राप्त कर सकते थे। वे धर्म सुधारक कम, समाज के सुधारक अधिक थे। उन्होंने जो कुछ किया, उसे सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का कार्य कह सकते हैं। भारत की राजनैतिक राष्ट्रीयता सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का विकसित रूप है।

राममोहन राय

राममोहन का जन्म २२ मई सन् १७७२ई० को बंगाल के बर्दवान जिले के रा नगर गाँव में हुआ था। वे जाति के ब्राह्मण थे। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा के बाद अरबी और फारसी पढ़ने को पटने गये और पटने से वे इन भाषाओं के महापं होकर घर लौटे। पटने में इस्लाम और उसके तसव्वुफ-अंश का राममोहन ने अध्ययन किया, उससे प्रतिमा-पूजन के विषय में उनके मन में भयानक शंका उत्पन्न हो गयी, यहाँ तक कि मूर्त्ति-पूजा से उनका विश्वास ही उठ गया। सम्भव है, इसका कारण तो इस्लाम की शिक्षा और कुछ ईसाइयों का प्रचार रहा हो। कहते हैं, सो सत्रह साल की उम्र में, जब वे घर पर पिता के साथ थे, उन्होंने मूर्त्ति-पूजा के खं में फारसी में कोई पुस्तक लिखनी आरम्भ की। यह पुस्तक पूरी हुई या नहीं, इस प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि उसका कोई भी अंश अब तक प्राप्त नहीं हुआ है। कि पिता ने उनके इस प्रयास पर अप्रसन्नता प्रकट की और राममोहन पिता का गृह छोड़ भाग गये। उनकी आत्मकथा से विदित होता है कि घर से भाग कर उन्होंने भारत का भ्रमण किया एवं, इसी क्रम में, उन्होंने तिब्बत जाकर लामाओं के य बौद्ध धर्म का भी अध्ययन किया।

उनके जीवन के आरम्भिक तीस वर्षों का विवरण नहीं मिलता। हाँ, स १८०३ई० में मुर्शिदाबाद से उन्होंने 'तुहफतुल-मुवह्हिदीन' नामक एक पुस्तक फार में निकाली, जिसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। इस पुस्तक में उन्होंने मूर्त्ति-पूजा का खंडन किया था, एकेश्वरवाद की प्रशंसा की थी तथा विश्व-धर्म को आवश्यक बतला

था। इन्हीं दिनों या इससे कुछ पूर्व वे कम्पनी-सरकार की नौकरी में आये और सन् १८०९ई० में रंगपुर के कलक्टर के दीवान हो गये। बाद में, वे किसी नाबालिग जमींदार के मैनेजर नियुक्त किये गये और सन् १८१५ई० में उन्होंने नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया। राममोहन राय अरबी, फारसी और संस्कृत तो जानते ही थे, अँगरेजी सीखना उन्होंने २२ वर्ष की अवस्था में आरम्भ किया। पीछे चल कर उन्होंने हिब्रू और ग्रीक भाषाएँ भी सीख लीं एवं यहूदी और ईसाई बाइबिलों का अध्ययन उन्होंने मूल-भाषाओं में किया।

सुधार के कार्य

जब अँगरेज शासक इस दुविधा में पड़े हुए थे कि भारतीयों की शिक्षा अँगरेजी में हो या संस्कृत और फारसी के द्वारा, तब राममोहन राय ने अँगरेजी का पक्ष लिया। अदूरदर्शिता उनकी यह रही कि उन्होंने इस बात पर विचार ही नहीं किया कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी और बँगला-जैसी आधुनिक भाषाएँ भी हो सकती थीं। जिन दिनों बंगाल में यह द्वन्द्व छिड़ा हुआ था कि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी हो अथवा संस्कृत और फारसी, उन दिनों बम्बई में एलफिंस्टन और पश्चिमोत्तर प्रदेश में थॉमसन यह मान कर चल रहे थे कि भारतीय जनता की शिक्षा उसकी प्रचलित भाषाओं में ही होनी चाहिये, अँगरेजी, संस्कृत, अरबी और फारसी में नहीं। किन्तु, राजधानी उस समय कलकत्ते में थी। अतएव, राजधानी में उठनेवाला विवाद ही सारे देश का विवाद हो गया और निर्णय केवल अँगरेजी एवं भारत की क्लासिक भाषाओं के बीच सीमित कर दिया गया। ऐसी स्थिति में राममोहन राय केवल अँगरेजी का ही पक्ष ले सकते थे और उसी का पक्ष उन्होंने लिया भी।

भारत में प्रचलित सती-प्रथा के उन्मूलन का प्रयास सबसे प्रथम अकबर ने किया था, किन्तु, तब भी यह प्रथा चलती ही आ रही थी। राममोहन की अनुपस्थिति में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया एवं उनकी भावज सती हो गयीं। इस दुर्घटना का राममोहन राय के हृदय पर भयानक आघात लगा तथा उन्होंने सती-प्रथा के विपक्ष में तभी से आन्दोलन आरम्भ किया। सन् १८२९ई० में लार्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करके इसके विरुद्ध कड़ा कानून बना दिया। यह राममोहन राय के ही प्रयत्नों का शुभ परिणाम था। राममोहन राय ने 'संक्षिप्त वेदान्त' नाम से वेदान्त का एक सटीक संग्रह प्रकाशित किया तथा केन, ईश, मुंडक और कठ उपनिषदों का अनुवाद भी। 'हिन्दू-ईश्वरवाद का मण्डन' एवं 'सती-प्रथा पर शास्त्रार्थ' नामक भी उनके निबन्ध मिलते हैं।[1]

ईसाइयत पर विचार

सन् १८२०ई० से सन् १८२३ई० तक उनका विवाद ईसाई पादरियों से भी चला था और, इसी सिलसिले में, उन्होंने ईसाई धर्म पर एक पुस्तक लिखी, जिसका

---

[1] Abridgement of Vedant, Defence of Hindoo Theism तथा Conferences on Sati.

नाम "The precept of Jesus, the guide to peace and happiness" था। इस ग्रन्थ में उन्होंने ईसा की विवेकपूर्ण शिक्षाओं को उनके व्यक्तित्व के चमत्कारवाले अंशों से अलग करके दिखलाया था। इस ग्रन्थ को देखकर सिरामपुर के पादरी नाराज़ हो गये और उसके लेखक को उन्होंने मूर्त्तिपूजक अथवा नास्तिक कह डाला। इसपर राममोहन राय ने 'ईसाई जनता से अपील' शीर्षक के अन्दर तीन लेख लिखे और यह सिद्ध कर दिखाया कि ईसा ईश्वर के पुत्र नहीं थे, न ईसाइयों का ईश्वर-त्रयवाला सिद्धान्त (फ़ादर, सन और होली घोष्ट) ही ठीक है। उन्होंने ईसाइयत के इस सिद्धान्त पर भी शंका की कि पश्चात्ताप करने से मनुष्य सारे पापों से छूट जाता है। इन निबन्धों में राममोहन ने बाइबिल तथा ईसाई पुराणों का ऐसा गहरा ज्ञान प्रदर्शित किया कि ईश्वर-त्रय में विश्वास करनेवाला एक ईसाई पादरी अपना धर्म छोड़ कर एकेश्वर-शाखा (यूनिटेरियन) में चला गया।

ईसाई पादरी हिन्दू-धर्म की जिस प्रकार छीछालेदर कर रहे थे, उससे राममोहन राय अत्यन्त दुःखी थे। इन्हीं निबन्धों में एक जगह वे कहते हैं—"यह स्वाभाविक बात है कि जब एक जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है, तब उसका अपना धर्म चाहे जितना भी हास्यास्पद हो, किन्तु, हँसी वह उनके धर्म की उड़ाया करती है जो उसके पाँव के नीचे आये हुए हैं। उदाहरणार्थ, मुसलमानों ने जब भारत को जीता तब हिन्दुओं के धर्म के प्रति उन्होंने शत्रुता दिखलायी। चंगेज खाँ[1] के अनुयायी स्वयं तो ईश्वरहीन एवं स्वभाव में जंगली जानवरों के समान थे, किन्तु जब वे पश्चिमी भारत में आये, तब उन्होंने वहाँ के लोगों की आस्तिकता एवं परलोक-सम्बन्धी विश्वासों का काफी मजाक उड़ाया। प्राचीन काल के यूनानी और रोमन लोग मूर्त्तिपूजक थे एवं उनके जीवन में पापाचार का भी आधिक्य था। किन्तु, वे अपनी यहूदी-प्रजा के धर्म की खिल्ली उड़ाते थे, क्योंकि यहूदी जनता एकेश्वरवाद में विश्वास करती थी। इसलिए, आज यदि अँगरेज धर्म-प्रचारक, जो विजेता वर्ग के हैं, भारतवासियों के धर्म की भर्त्सना करते हैं अथवा उसका मजाक उड़ाते हैं तो यह कोई असाधारण बात नहीं है।"

विश्ववादी और भारतीय

किन्तु, ईसाइयत की पौराणिक बातों एवं ईसाई धर्म-प्रचारकों के दुष्प्रचारों के वे जितने विरोधी थे, उससे कहीं कठोर आलोचक वे अपने धर्म और समाज के थे। हिन्दू धर्म को रूढ़ियों से मुक्त करके वे उसे एक नया रूप देना चाहते थे। हिन्दू जनता धर्म के विषय में बिल्कुल पौराणिक संस्कारों से भरी हुई थी। इस चट्टान को तोड़ कर वे हिन्दू-हृदय को शुद्ध धर्म के आलोक से भरना चाहते थे। कभी-कभी लोग यह कह बैठते हैं कि राममोहन राय पूरे भारतीय नहीं थे। वे ईसाई पादरियों के प्रहारों से

---

[1] चंगेज खाँ मुसलमान नहीं, भ्रष्ट किस्म का बौद्ध था, यह हम पहले ही कह आये हैं। —लेखक

होकर हिन्दू-धर्म का ईसाई अनुवाद प्रस्तुत करना चाहते थे, जिससे ईसाइयों की आलोचना बन्द हो जाय और हिन्दू जनता क्रिस्तान नहीं बने। यह किंचित् भ्रमपूर्ण मत है। ईसाई आलोचकों का मुँह बन्द करना वे अवश्य चाहते रहे होंगे, किन्तु, उनका यह तो निश्चित मत था कि हिन्दू जनता हिन्दू ही रहे। उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज हिन्दू-धर्म का ईसाई अनुवाद नहीं था। ब्राह्म-समाज को ईसाइयत की ओर केशवचन्द्र सेन ने मोड़ा। राममोहन राय ने हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत, तीनों धर्मों का गहन अध्ययन किया था और तीनों धर्मों पर वे समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। हिन्दुत्व की पवित्रता, इस्लाम की रुचि तथा ईसाइयत की सफाई उन्हें बेहद पसन्द थी।[1] उनका वैयक्तिक रहन-सहन मुसलमानों-जैसा था। एकेश्वरवाद में अटल विश्वास तथा मूर्त्ति-पूजा का विरोध, ये दो बातें हिन्दुत्व में भी थीं और इस्लाम में भी। ईसाई धर्म से, कदाचित्, उन्होंने कुछ भी नहीं लिया। जो कुछ लिया, वह ईसाई देशों के सामाजिक जीवन से, ईसाई देशों के राजनैतिक संगठन और विज्ञान से। प्रतिमा-पूजन का विरोधी और एकेश्वरवादी होने के कारण, हिन्दुत्व में उन्हें अपना आश्रय केवल वेदान्त में मिला। इसलिए, उनकी इस्लाम-प्रियता उनके हिन्दुत्व की विरोधिनी नहीं हुई।

विभिन्न धर्मों का गम्भीर अध्ययन करने से एवं वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न हो जाने के कारण वे विश्ववादी हो गये। फ्रांस के वैदेशिक मंत्री को सन् १८३१ई० में पत्र लिखते हुए उन्होंने कहा था कि, "केवल धर्म से ही नहीं, प्रत्युत, अदूषित सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान से भी यही ज्ञात होता है कि सारी मनुष्य-जाति एक परिवार है तथा जो अनेक जातियाँ और राष्ट्र हैं, वे उसी एक परिवार की शाखाएँ हैं।" उसी पत्र में राममोहन राय ने यह भी लिखा था कि देश-देश के बीच पासपोर्ट की जो पद्धति प्रचलित है, उसे उठा देना चाहिये तथा सभी राष्ट्रों के ऊपर कोई ऐसी संस्था बनायी जानी चाहिये जो राष्ट्र-राष्ट्र के बीच चलनेवाले मतभेदों को नियंत्रित कर सके। सारे संसार में विश्ववाद के सबसे प्रथम व्याख्याता राममोहन राय हुए हैं। राममोहन के पीछे-पीछे भारत में जो राष्ट्रीयता उत्पन्न हुई, उसका रंग राष्ट्रीय भी था और अन्तर्राष्ट्रीय भी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस जाति का दर्शन राममोहन और विवेकानन्द ने रचा, उस जाति के कर्मठ नेता महात्मा गाँधी और उसके कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर हुए।

विज्ञान और वेदान्त का मेल

राममोहन ने शिक्षा-दीक्षा से जो संस्कार अर्जित किया था एवं उनके आगे जो समस्याएँ खड़ी थीं, उन दोनों की प्रेरणा से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के प्राचीनतम सत्यों का यूरोप के नवीन सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य बिठाये बिना भारत

---

[1] कहा जाता है कि भोजन के विषय में भी राममोहन राय का कहना था कि सबसे अच्छा भोजन मुसलमान का है, यदि वह हिन्दू के घर में पके और अँगरेज की मेज पर खाया जाय।

का कल्याण नहीं है। सभी धर्मों के समान ईसाई धर्म में भी पौराणिक बातें थीं, रूढ़ियों, चमत्कार की कहानियों और अन्ध-विश्वासों का ढेर था। किन्तु, जो सैनिक उस धर्म को इस बार भारत ले आये थे, वे अन्ध-विश्वासी नहीं थे, न वे रूढ़ियों के आगे मस्तक झुकाने को तैयार थे। ईसाई धर्म हिन्दुत्व से कई गुना बलवान दीखता था। उसका सामना करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत यूरोप की वैज्ञानिकता को ग्रहण करे और इस वैज्ञानिकता के साथ अपने धर्म को भी संसार के सामने रखे। अतएव, वैज्ञानिकता का वेदान्त से मणिकांचन-संयोग नवोत्थान का प्रधान लक्षण हो गया और राममोहन राय हिन्दुत्व के उस पक्ष का आख्यान करने लगे, जिसमें मूर्त्ति-पूजा नहीं थी, अवतारवाद नहीं था, न जिसमें मन्दिरों और तीर्थों की ही कोई बात थी। राममोहन की विशेषता यह थी कि एक ओर तो वे वेदान्त के स्थान से हिलने को तैयार नहीं थे; दूसरी ओर, वे अपने देशवासियों को अँगरेजी के द्वारा पाश्चात्य विद्याओं में निष्णात बनाना चाहते थे। भारतवासी संस्कृत, अरबी और फारसी पढ़ कर बस मान लें अथवा वे अँगरेजी पढ़ कर क्रिस्तान हो जायँ, इन दोनों खतरों से वे भारतवर्ष को बचाना चाहते थे। किन्तु, उनका यह भी मत था कि हिन्दुत्व का कोई भी ऐसा रूप मान्य नहीं रहना चाहिये जो विज्ञान और बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता हो। उनकी जीवनी-लेखिका मिस कॉलेट ने यह खूब लिखा है कि **"इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिसपर चढ़ कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है।** प्राचीन जाति-प्रथा और नवीन मानवता के बीच जो खाई है, अन्ध-विश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बाँध कर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजनेवाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

ब्राह्म-समाज के जन्म की वेदना

हिन्दुओं के बीच नये धर्म के मन्तव्यों का प्रचार करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने सन् १८१६ई० में कलकत्ते में **वेदान्त कालेज** की स्थापना की। उससे एक वर्ष पूर्व, वे धार्मिक चर्चा के उद्देश्य से **आत्मीय सभा** की स्थापना कर चुके थे। कलकत्ते के तत्कालीन रईसों और पंडितों में से अनेक इस सभा के सदस्य थे। इसके अधिवेशनों में धर्म के रहस्य पर चर्चा और विवाद होता था तथा, अन्त में, सब लोग मंत्रों एवं प्रार्थनाओं का गान करते थे। एक बार इसी सभा के तत्त्वावधान में मद्रास के पंडित सुब्रह्मण्य शास्त्री के साथ राममोहन राय का मूर्त्ति-पूजा के विषय में शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें शास्त्रीजी को राममोहन से हार माननी पड़ी थी। यह सभा सन् १८१९ई० तक ठीक से चली। उसके बाद वह बन्द हो गयी। तब राममोहन राय ने कलकत्ता **यूनिटेरियन सोसाइटी** के नाम से एक अन्य सभा स्थापित की जो, मूल उद्देश्य में, **आत्मीय सभा** का ही अँगरेजी रूप थी। इसके सदस्य कुछ अँगरेज बैरिस्टर थे और

हुए वे लोग भी (द्वारकानाथ टैगोर, प्रसन्नकुमार टैगोर आदि) जो आत्मीय सभा के सदस्य रह चुके थे।

यूनिटेरियन सोसाइटी पर किस दृष्टि से विचार किया जाय, इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता। इसके सदस्य अँगरेज भी थे, अतएव, हिन्दू-धर्म का सुधार इस समिति का मूल उद्देश्य तो नहीं ही रहा होगा। हाँ, यह जानकर कि बंगाल में कुछ हिन्दू ऐसे भी हैं जो ईसाई धर्म के एकेश्वरवादी रूप को भी अपना ही धर्म समझते हैं, ईसाइयों के बीच हिन्दू-धर्म का थोड़ा सुयश अवश्य बढ़ता होगा। अतएव, इस समिति का प्रचारात्मक पक्ष ही प्रधान रहा होगा। किन्तु, इस समिति से राममोहन के हृदय को सन्तोष नहीं हुआ। वे हिन्दू-धर्म में जो सुधार लाना चाहते थे, उसके लिए यह पाश्चात्य समिति बिल्कुल अयोग्य थी। अतएव, राममोहन राय ने एक ऐसी सभा स्थापित करने का विचार किया, जो, शुद्धतः, औपनिषदिक सत्यों पर आधारित हो।

ब्राह्म-समाज का जन्म

तदनुसार २० अगस्त, सन् १८२८ई० को उन्होंने ब्राह्म-समाज की स्थापना कलकत्ते में की। इस समाज का रूप, निर्विवाद रूप से, भारतीय था और भारतीय परम्परा में कहें तो कह सकते हैं कि यह अद्वैतवादी हिन्दुओं की संस्था थी। इस सभा के अधिवेशन में दो तेलुगू ब्राह्मण वेद का पाठ करते थे। वे वेदों का पाठ पर्दे के भीतर से करते थे, जहाँ अब्राह्मणों का प्रवेश निषिद्ध था। उत्सवानन्द उपनिषदों का पाठ करते थे और रामचन्द्र विद्यावागीश उसका अर्थ बँगला में समझाते थे। कभी-कभी राममोहन-रचित उपदेशों का पाठ भी किया जाता था और अधिवेशन की समाप्ति के पूर्व प्रार्थना नियमपूर्वक गायी जाती थी।[1]

यूरोप के सम्पर्क से जैसे भारत में नयी मानवता का जन्म हो रहा था, वैसे ही, हिन्दू-धर्म भी नया रूप ले रहा था। ब्राह्म-समाज इसी अभिनव हिन्दुत्व का एक रूप था। इसने मूर्त्ति-पूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार, एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। किन्तु, ब्राह्म-समाज की इससे भी बड़ी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील और उदार था। राममोहन राय ने समाज के लिए जो भवन खड़ा किया, उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में (सन् १८३०ई०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज में होनेवाली पूजा में किसी भी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नहीं की जायगी, जिसकी थोड़े-से लोग भी पूजा या आराधना करते हों तथा इस समाज में केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायँगे, जिनसे सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती हो। कोई कहना चाहे तो यह कह सकता है कि ऐसे प्रतिबन्ध इसलिए रखे गये थे कि समाज के प्रवर्त्तक का उद्देश्य राजनैतिक और राष्ट्रीय था। क्योंकि एक ओर जहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता

---

[1] शिवनाथ शास्त्री-लिखित हिस्ट्री आव् ब्राह्मो-समाज, जिल्द १।

आवश्यक थी, वहाँ दूसरी ओर ईसाई मत का उस समय डट कर विरोध भी सम्भव नहीं था। किन्तु, इसका दूसरा पक्ष यह है कि नवोत्थान के समय हिन्दू सुधारकों ने जो आत्म-मन्थन किया, उससे उन्हें स्पष्ट भासित होने लगा कि एक धर्म और दूसरे धर्म में विभेद करना मूर्खता है। सभी धर्म समान हैं और संसार के सभी लोग आपस में भाई-बहन होते हैं।

राममोहन की उदार दृष्टि

समाज की स्थापना के केवल दो वर्ष बाद, राममोहन राय विलायत गये, जहाँ से वे फिर लौटे नहीं। २७ सितम्बर, १८३३ई० को ब्रिस्टल में उनका देहान्त हो गया। उनके समस्त कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने के बाद, ऐसा लगता है कि उनका प्रधान विषय धर्म नहीं, समाज था। धार्मिक सुधारों की बात उन्होंने, शायद, इसलिए उठायी थी कि एक ओर उन्हें जहाँ ईसाइयों का सामना करना था, वहाँ, दूसरी ओर, उन्हें हिन्दू-समाज को भी कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध सचेत करना था। फिर भी, वे अधार्मिक नहीं, धार्मिक थे। यह बड़े ही मार्के की बात रही कि जहाँ अठारहवीं सदी का यूरोप अपने नवोत्थान के जोश में आकर धर्म से दूर होता जा रहा था, वहाँ उन्नीसवीं सदी में भारत में जो नवोत्थान हुआ, उसका आधार धर्म था। यह भी ध्यान देने की बात है कि राममोहन ने विश्व-मानवता की जो बात कही, वह कही तो यूरोप में भी जाती थी, किन्तु, यूरोप की विश्व-मानवता संकीर्ण थी। उसमें पूर्वी जगत् के लिए स्थान नहीं था, दुर्बल जातियों की गणना नहीं थी। यूरोप की दृष्टि में विश्व-इतिहास का अर्थ यूरोप और अमेरिका का इतिहास तथा विश्व-मानवता से अभिप्राय यूरोप और अमेरिका की मानवता से था। किन्तु, राममोहन राय की विश्व-मानवता का वृत्त बहुत अधिक विस्तृत था, जिसमें समस्त भूमण्डल की स्वतंत्र, समृद्ध, पराधीन, दलित और निष्पेषित जातियों के लिए एक समान स्थान था। नवोत्थान ने भारत में विश्व-मानवता की जो कल्पना चलायी थी, वह, भारत की स्वाधीनता के बाद, भारत की ही वैदेशिक नीति में आकार लेने लगी है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद, ब्राह्म-समाज के नेतृत्व का भार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कन्धों पर पड़ा। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर सन्त और रहस्यवादी हिन्दू थे, किन्तु, यूरोप से आनेवाले बुद्धिवाद पर उनकी अपार भक्ति थी और हिन्दुत्व के रूढ़िवादी रूप से लज्जित होकर वे भी अपने धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप संसार के सामने रखना चाहते थे। राममोहन राय के भी निश्चित रूप से ऐसे ही भाव थे। किन्तु, उनकी विशेषता यह थी कि वेद और उपनिषदों पर उनका अचल विश्वास था एवं किसी भी अवस्था में वे वेदों पर अविश्वास करने को तैयार नहीं थे। राममोहन राय ने ब्राह्म-समाज की स्थापना इसलिए की थी कि वे हिन्दू-धर्म के मौलिक (बुद्धि-सम्मत) रूप को ईसाइयत की महफिल में प्रतिष्ठा के साथ स्थापित करना चाहते थे।

जिससे ईसाई लोग भी यह जान जायँ कि हिन्दुत्व का मूल रूप ऐसा नहीं है, जिसकी हँसी उड़ायी जा सके। किन्तु, महर्षि देवेन्द्रनाथ के समय में आकर ब्राह्म-समाज अपनी जड़ (हिन्दुत्व) से दूर जाने लगा और केशवचन्द्र के समय में तो वह हिन्दुत्व से इतना गया और ईसाइयत के इतना समीप जा पहुँचा कि लोगों को सात्विक भ्रम हो गया कि यह और कुछ नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू-सामज को एक साथ ईसाइयत में दीक्षित करने का आयोजन मात्र है।

महर्षि देवेन्द्रनाथ की भी अपनी एक सभा थी, जिसका नाम **तत्त्व-बोधिनी सभा** था। इस सभा में भी लोग धार्मिक विचार-विमर्श किया करते थे। सन् १८४२ई० में यह सभा ब्राह्म-समाज में मिला दी गयी और देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सभी अनुयायी ब्राह्म-समाज में सम्मिलित हो गये। इसी समय से ब्राह्म-समाज उनके नेतृत्व में काम करने लगा। देवेन्द्रनाथ ने आरम्भ में ब्रह्मोपासना की जो विधि और स्तोत्र तैयार किया, वह हिन्दुत्व के परम अनुकूल था, क्योंकि उपासना के सारे मन्त्र उपनिषदों और तन्त्र-ग्रन्थों से लिये गये थे। किन्तु, कुछ ही दिनों के बाद ब्राह्म-समाजी पंडित और विद्वान् इस संशय में जा पड़े कि वेद अन्तिम प्रमाण हैं या नहीं। विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि अन्तिम प्रमाण वेदों को भी नहीं माना जा सकता, वेदों के उपदेश भी वहीं तक मान्य हैं, जहाँ तक वे हमारी बुद्धि से मेल खाते हैं।

केशवचन्द्र सेन

केशवचन्द्र सेन ने ब्राह्म-समाज में प्रवेश सन् १८५७ई० में किया, जब उनकी उम्र केवल उन्नीस साल की थी। वे बड़े ही तेजस्वी एवं मेधावी नवयुवक थे तथा, आरम्भ से ही, देवेन्द्रनाथ उनके प्रभाव में आने लगे। अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू नवयुवकों में हिन्दुत्व के खिलाफ जो विद्रोह की आग भड़क रही थी, केशवचन्द्र सेन में भी उसका जोर था। वे यूरोप के धर्म और संस्कृति, दोनों पर आसक्त थे एवं ब्राह्म-समाज को वे आरम्भ से ही अभीप्सित दिशा में मोड़ने लगे। पहले उन्होंने देवेन्द्रनाथ के द्वारा ब्राह्मसमाजियों को यह शिक्षा दी कि हिन्दू-अनुष्ठानों में प्रतिमा-पूजन के संस्कार भरे हुए हैं, अतएव, हमें इन अनुष्ठानों से अलग ही रहना चाहिये। तब वे इस बात पर आये कि जाति-प्रथा गलत चीज है, हम ब्राह्मसमाजियों को इससे भी कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये। परिणाम यह हुआ कि सभी द्विज-सदस्यों ने अपना जनेऊ उतार कर फेंक दिया। इसके वाद, केशवचन्द्र सेन ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया और उनके प्रत्येक सुधार को देवेन्द्रनाथ अनिच्छापूर्वक मानते गये। देवेन्द्रनाथ हिन्दू थे, वे ब्राह्म-समाज को भी हिन्दू-संस्था ही रखना चाहते थे। किन्तु, केशवचन्द्र सेन में सामाजिक क्रान्ति के लिए पूरा उत्साह था। वे, असल में, ईसा के परम भक्त थे और हिन्दू-धर्म को भी वे ईसाइयत की दिशा में ले जाना चाहते थे। अन्त में, गुरु और शिष्य में मतभेद हो गया एवं केशवचन्द्र सेन ने सन् १८६६ई० में अपना समाज अलग कर लिया, जिसका नाम **ब्राह्म-समाज** ही बना रहा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अधिकार में जो समाज रह गया, उसे वे **आदि-ब्राह्म-समाज** कहने लगे। इन दोनों समाजों का

सम्बन्ध इतना कटु हो गया कि जब सन् १८७२ ई० में केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-विवाह-कानून बनवाने लगे, तब आदि-समाजवालों ने उसका घोर विरोध किया।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया से निकलने के बाद, ब्राह्म-समाजी लोग ईसाइयत की ओर निश्चिन्त होकर चलने लगे। बाइबिल और ईसाई पुराणों का अध्ययन समाज के अन्दर उत्साह से किया जाने लगा और ईसा मसीह सभी ब्राह्म-समाजियों के पूज्य पथ-प्रदर्शक हो गये। इस समय, चारों ओर लोग एक ही बात कहते थे कि केशवचन्द्र सेन अब क्रिस्तान होंगे। किन्तु, वे क्रिस्तान हुए नहीं, हाँ, अपने समाज को विश्व-धर्म का व्याख्याता बताने के लिए उन्होंने सभी धर्मों की उपासना आरम्भ की। उनके पथ-प्रदर्शन में समाज का जो प्रार्थना-संग्रह तैयार हुआ, उसमें हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम और चीनी, सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ सम्मिलित थीं। साथ ही, केशवचन्द्र ने वैष्णव-कीर्तन के भी गीत अपनी प्रार्थना में मिला लिये और ढोलक-झाँझ के साथ वे कीर्तन गाते हुए सड़कों पर भी निकलने लगे। किन्तु वैष्णवी कीर्तन उनके ईसा-विषयक प्रेम में कमी नहीं ला सका। मिशनरियों के बीच उनकी काफी इज्जत थी और सन् १८७० ई० में जब वे इंग्लैण्ड गये, तब वहाँ के ईसाइयों ने उनका भव्य स्वागत किया।

सारी बातें, प्रायः, ठीक से ही चल रही थीं कि बीच में एक भयानक काण्ड उपस्थित हो गया। केशव बाबू प्रचण्ड समाज-सुधारक थे। वे हिन्दुओं से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते थे। साथ ही, ब्राह्मसमाजियों के विवाह-सम्बन्ध के लिए उन्होंने जो कानून बनवाया था, उसमें वर-वधू के बालिग होने का प्रतिबन्ध था। किन्तु, कूच-विहार के राजकुमार से जब केशव बाबू की पुत्री के ब्याह का प्रस्ताव आया, तब चारों ओर कानाफूसी चलने लगी कि देखें, अब केशवचन्द्र क्या करते हैं। कूच-बिहार के राजा हिन्दू थे। यह पहली बाधा थी। दूसरी बाधा यह थी कि वर और वधू, दोनों नाबालिग थे। ब्राह्म-समाज की प्रतिष्ठा इस बात में थी कि केशवचन्द्र इस प्रस्ताव को ठुकरा देते। किन्तु, यह उनसे नहीं हो सका। उलटे, अपने अनुयायियों से उन्होंने यह कहा कि ईश्वर का आदेश है कि यह विवाह होना चाहिये। ईश्वर का आदेश तो पूरा हो गया, किन्तु, केशवचन्द्र की प्रतिष्ठा पर भयंकर आँच आ पड़ी और ब्राह्म-समाज एक बार फिर टूट गया। जो समाजी केशवचन्द्र के विरोधी थे, उन्होंने अपने समाज को **साधारण ब्राह्म-समाज** कहना आरम्भ किया और केशवबाबू ने जो सभा अपने साथ रखी उसका नाम उन्होंने **नव-विधान-सभा** कर दिया। नव-विधान अँगरेजी के न्यू डिस्पेंसेशन का अनुवाद था और केशव बाबू का निश्छल मत था कि जैसे प्रथम विधान यहूदी-धर्म और द्वितीय विधान ईसाई धर्म है, उसी प्रकार नव-विधान को ईसाई समाज तृतीय विधान के रूप में स्वीकार कर ले।

शेख ने काबा बना मिस्मार बुतखाना किया।
तब तो इक सूरत भी थी, अब साफ वीराना किया।

ब्राह्म-समाज तक तो, खैर, यह कहा जा सकता था कि यह, अधिक-से-अधिक, सर्व

र्म-समन्वय का प्रयास था ; किन्तु, नव-विधान-सभा ने तो खुल कर अपने को यहूदी ौर ईसाई धर्मों का वारिस ही बना लिया। होम, आरती और कुछ व्रतों के नवीन करण, बस ये ही दो-चार बातें हिन्दू-धर्म की रहीं, नव-विधान में बाकी सारी बातें ाई-धर्म की आ गयीं। यह कहना अधिक अनुचित नहीं है कि ब्राह्म-समाज के न रूप का प्रवर्त्तन केशवचन्द्र सेन ने किया, वह ईसाइयत का ही प्रतिरूप था, केवल नके पूज्य ईसा मसीह नहीं थे।

यूरोपीय संस्कृति, ईसाई धर्म और वैज्ञानिक विचार-धारा से अत्यधिक प्रभावित ने के कारण ही, ब्राह्म-समाज सदैव थोड़े-से लोगों का धर्म रह गया। इसमें, अधिकतर ही लोग सम्मिलित हुए, जिसके पास धन या विद्या अथवा दोनों का प्राचुर्य था। गाल में भी जन-साधारण ने इस धर्म को कभी कोई प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी, ह्म-समाज-आन्दोलन भारतीय संस्कृति के महान् आन्दोलनों में से एक है, क्योंकि रोप से आनेवाले अनेक विचारों ने, आरम्भ में ब्राह्म-समाज के भीतर से ही हिन्दू-र्म में प्रवेश किया। भारतवर्ष यूरोप के साथ अपना समन्वय खोज रहा था। ब्राह्म-माजियों ने प्रयोग करके, मानो, यह घोषणा की कि इस समन्वय का रूप ऐसा होगा। न्तु, स्मरण रहे कि ब्राह्म-समाज यूरोप का भारतीयकरण नहीं, प्रत्युत, भारत के ही रोपीयकरण का प्रयास था।

रमाये हुए शूरमा

फिर भी, याद रखने की बात है कि राममोहन राय का उद्देश्य भारत को यूरोप ना नहीं था। वे तो भारत के प्राचीन सत्यों का समन्वय यूरोप के नवीन अनु-ानों के साथ करना चाहते थे। साथ ही, उनका उद्देश्य ईसाइयत के आक्रमणों से न्दुत्व की रक्षा करना भी था। यह उद्देश्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर में भी स्पष्ट था। जब चन्द्र सरकार ईसाई हो गये, तब कलकत्ते में इस धर्म-परिवर्तन से बड़ी खलबली ी और देवेन्द्रनाथ ने कलकत्ते के सभी नामी हिन्दुओं को अपने यहाँ बुला कर, सब विचारार्थ, यह प्रस्ताव रखा कि ईसाइयत की यह बाढ़ कैसे रोकी जा सकती है। चन्द्र सेन भी, अपने जीवन के अन्तिम काल में, भारतीयता और एशियाईपन की र बहुत अधिक झुक गये थे। किन्तु, एक बात सच है कि ब्राह्म-समाज के सभी नेता त्व की घबराहट के प्रतीक थे। वे हिन्दुत्व की रक्षा उसके सम्पूर्ण रूप में करने से राते थे। निदान, वे हिन्दू-धर्म की उन्हीं बातों को ऊपर ला रहे थे, जो बुद्धिवाद कसौटी पर ठहर सकती थीं, जिनका मजाक उड़ाने में ईसाइयों को दुबिधा हो ती थी। किन्तु, यह बहुत-कुछ शरमाये हुए लोगों का युद्ध था। यह रक्षापरक ई थी। यह बहुत-कुछ कबीर-की-सी उलझन की आवृत्ति थी। कबीर ने राम का म तो लिया था, किन्तु, कौन राम, ऐसा पूछा जाने पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया था मैं दाशरथि-राम का भक्त नहीं हूँ।

> सन्तो, आवै जाय सो माया।
> दसरथ के घर ब्रह्म न जनमे, ई छल माया कीन्हाँ।

ब्राह्म-समाजी विद्वान् भी हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए थे; किन्तु उनकी यह हिम्मत नहीं हुई कि वे हिन्दुत्व के समग्र रूप—पुनर्जन्म, अवतारवाद, तीर्थ, मन्दिर और मूर्त्ति-पूजा आदि—का समर्थन कर सकें। हिन्दुत्व का जो रूप उन्हों लिया, वह ईसाइयत और इस्लाम से अधिक भिन्न नहीं था। ईसाइयत और हिन्दु के युद्ध का यह पहला मोर्चा था, जिसमें हिन्दुत्व कुछ लजाया हुआ और प्रतिपक्षी की प्रबलता से आतंकित था। वे लोग बाद को आये, जिन्होंने हिन्दुत्व के समग्र रूपों का समर्थन वीरता से किया। पहले भी कबीर के बाद तुलसी आये थे और जिस राम क उपासक बनने में कबीर को शर्म लगी थी, उस राम में अपना अटल विश्वास प्रक करते हुए तुलसीदास ने घोषणा की थी कि हाँ, मेरा देवता तो दशरथ का ही पुत्र है

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सु दसरथ अजिर-विहारी।

ब्राह्म-समाजी नेता और स्वामी दयानन्द, इनका भाव बहुत-कुछ कबीर का ही भाव था। यद्यपि, स्वामी दयानन्द पर लज्जित होने का दोष ठीक से नहीं बैठता है; हाँ, तुलसी की वीरता और निश्छलता की आवृत्ति परमहंस रामकृष्ण और स्वा विवेकानन्द में हुई।

मुस्लिम-युग में सिक्ख-धर्म हिन्दू-इस्लाम बनने को उठा था। अँगरेजों के सम ब्राह्म-समाज ने हिन्दू-ईसाइयत बनने की कोशिश की। यह हिन्दुत्व का अँगरेजी अनुवाद था, जैसे सिक्ख-धर्म सनातन धर्म की अरबी व्याख्या बन कर प्रकट हुआ था।

□□□

प्रकरण ६

महाराष्ट्र में नवोत्थान

हंस-समाज और प्रार्थना-समाज

उन्नीसवीं सदी के हिन्दू-नवोत्थान की मूल प्रेरणा सामाजिक थी, यद्यपि, बंगाल में धार्मिक रूप लिया था। किन्तु, महाराष्ट्र में वह आरम्भ से ही सामाजिक रही। १८४९ई० में बम्बई में परमहंस-समाज नामक एक संस्था बनी थी, जिसका उद्देश्य प्रथा का भंजन था। इसके सदस्य छिप कर तथाकथित नन्हीं जातिवालों के हाथ सोई खाते थे और समझते थे कि छिप कर वे क्रान्ति का बीज वपन कर रहे हैं। तु, एक बार जो यह भेद खुला तो ऊँची जातिवालों में खलबली मच गयी। परिणाम हुआ कि यह संस्था समाप्त हो गयी।

तब सन् १८६४ई० में केशवचन्द्र सेन बम्बई गये और वहाँ उन्होंने ब्राह्म-समाज शाखा खोलनी चाही। उनके प्रभाव से बम्बई में ब्राह्म-ममाज की शाखा प्रार्थना-ज के नाम से खुली, जिसके मुख्य उद्देश्य चार थे,—१. जाति-प्रथा का विरोध, विधवा-विवाह का समर्थन, ३. स्त्री-शिक्षा का प्रचार और ४. बाल-विवाह का ेध। हिन्दू-समाज के इन चार दोषों पर बाहरवालों की दृष्टि सीधे पड़ती थी इन दोषों का समर्थन कट्टर लोग भी नहीं कर पाते थे। अतएव, सुधारवादियों ने पहले इन्हीं पर ध्यान दिया। महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज की और भी कई एं खोली गयीं, जिनमें से कुछ संस्थाएँ अपने को ब्राह्म-समाज भी कहती थीं। सभी धर्मों के बीच एकता बिठाने का जो प्रयास बंगाल के ब्राह्म-समाजी करते थे, वैसा ही ध्येय प्रार्थना-समाजियों का भी था। प्रार्थना-समाज की भी प्रार्थनाओं में वेद, उपनिषद्, कुरान, जेन्दावेस्ता और बाइबिल, सभी धर्म-ग्रन्थों से लिये जाते थे समाज के सदस्य सभी धर्मों पर एक समान श्रद्धा रखते थे।

देव गोविन्द रानाडे

जिस प्रकार बंगाल में हिन्दू-नवोत्थान के पहले नेता राजा राममोहन राय हुए, प्रकार, महाराष्ट्र में इस आन्दोलन का श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। ऊँचाई में रानाड़े, प्रायः, राममोहन राय के समकक्ष थे। उनकी मेधा, उनका और उनका पावन चरित्र, सब ने मिल कर उन्हें देश के सर्वोच्च महापुरुषों में दे रखा था एवं महाराष्ट्र में उनकी पूजा होती थी। गोपाल कृष्ण गोखले रानाड़े थे। उन्होंने लिखा है कि "रानाडे ने, प्रायः, तीस वर्ष तक भारतवर्ष के ऊँचे से चारों तथा ऊँची-से-ऊँची आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया था।" प्रोफेसर लिखा है कि कोई बाईस साल तक पूने का सारा इतिहास रानाडे के कृत्यों का हास था।

रानाडे चितपावन ब्राह्मण थे। उनका जन्म सन् १८४२ई० में नासिक जि
हुआ था। वे साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे स
नौकरी में थे एवं, अन्त में, वे हाईकोर्ट के जज भी हुए थे। नौकरी के सिलसिले
जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्होंने लोगों में नया जीवन डाल दिया। उनके हाथों
संस्थाओं का जन्म हुआ। पूने में तो उन्होंने इतनी संस्थाएँ खोलीं कि पूना सार्व
कार्यकर्त्ताओं का तीर्थ ही हो गया।

ईसाइयत और यूरोपीय विचारों के आक्रमणों से वचने के लिए हिन्दुत्व ने
बंगाल में राममोहन राय को उत्पन्न किया था, वैसे ही, महाराष्ट्र में उसने राना
जन्म दिया और राममोहन राय के समान ही, रानाडे भी यूरोप का जवाब
साधनों से देना चाहते थे। वे उत्कट सुधारवादी थे एवं रूढ़ियों को मिटा कर वे
का निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु, उनका समय सुधारों के के
का समय था एवं हिन्दू-कट्टरता सुधारकों से उस समय दबने को तैयार नहीं थी।
वह दुर्भाग्य भी उनके साथ रहा, जिसने बंगाल में केशवचन्द्र का पीछा किया था
यह हुई कि रानाडे की पहली पत्नी का स्वर्गवास हो गया और दूसरा विवाह
विधवा से नहीं करके एक ग्यारह साल की कुमारी बालिका से किया। कहते
विवाह उन्हें अपनी इच्छा और भावना के विरुद्ध, अपने पिता के दुराग्रह के
करना पड़ा था। किन्तु, दण्ड इसका उन्हें भोगना पड़ा और आजीवन वे आलो
ताने नीरव होकर सुनते रहे।

रानाडे, आगरकर और तिलक

यह भी इतिहास का व्यंग्य ही था कि रानाडे जिन सुधारों को समाज में
चाहते थे, उनका विरोध लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को करना पड़ा। जीव
रानाडे और तिलक दो विरोधी शिविरों में विभक्त रहे और जीवन भर राना
तिलक के बाण बरसते रहे।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंडमार्क्स इन लोकमान्यस लाइफ' में श्रीयुत केलक
लिखा है कि "तिलकजी न तो पाषण्डी हैं, न सामाजिक सुधारों के मामले में वे
पीछा करनेवाले मनुष्य हैं। अपने ढंग पर वे भी व्यावहारिक सुधारक हैं। अपनो
को उन्होंने अच्छी शिक्षा दी है और उनका विवाह भी उन्होंने शास्त्र-निर्धारित
के अन्तिम छोर पर ही पहुँच कर किया है। उन्होंने जाति-प्रथा की कट्टरता को
की बात कही है और सामाजिक सुधारों के प्रति उनकी, साधारणतः, सहानुभू
है। फिर भी, वे सुधारवादी दल के विरोधी रहे हैं, जिसका कारण यह है
सुधारक, सुधार के उनके तरीके और सुधार के लिए उनके द्वारा नियत
तिलकजी को पसन्द नहीं हैं।"

किन्तु, इतना होते हुए भी तिलकजी रानाडे के आलोचक रहे। यही नहीं,
आगरकर से भी उनकी नहीं पटी, क्योंकि आगरकर भी क्रान्तिकारी सुधारक
हिन्दुत्व की कट्टरता, कहीं-न-कहीं से, तिलकजी की सहानुभूति पर अपना

थी। सन् १८९१ई० में जब 'एज आव् कान्सेण्ट विल' इम्पीरियल काउन्सिल हुआ, तब उनका तीव्र विरोध तिलकजी ने किया था।

ऐसा लगता है कि तिलकजी अपने समकालीन अन्य सुधारकों से कुछ अधिक हारिक और कालज्ञ थे। उन्नीसवीं सदी की हिन्दू-जनता भयानक रूप से कट्टर । वह जात-पाँत और छुआछूत के मामलों में अत्यन्त सतर्क रहती थी और किसी भी थोड़ी-सी भी छूट देने को तैयार नहीं थी। सन् १८९०ई० में पूने के कोई ब्राह्मण एक मिशनरी के निमंत्रण पर उसके घर गये। वहाँ आतिथेय ने अतिथियों स्वागतार्थ मेज पर चाय और विस्कुट रखवाये। कहते हैं, तिलक और रानाडे ने और विस्कुट का स्पर्श भी नहीं किया। किन्तु, दूसरे ही दिन नगर में कोलाहल गया और धर्म-धुरीण पण्डितों ने इतना वावेला मचाया कि तिलक और रानाडे, को प्रायश्चित्त करना पड़ा।

दूसरी घटना **शारदा-सदन** नामक संस्था को लेकर घटी। यह संस्था **पण्डिता** बाई की कायम की हुई थी। पण्डिता रामा बाई ब्राह्मणी थीं एवं संस्कृत विद्या उनका असाधारण अधिकार था। हिन्दू-समाज में नारियों का जो अत्यन्त निम्न था, उससे रामा वाई बहुत क्षुब्ध थीं एवं देश भर में वे नारी-जागरण का सन्देश घूमती फिरती थीं। वंगाल पहुँच कर उन्होंने एक अब्राह्मण से विवाह कर लिया यद्यपि, वे शीघ्र ही विधवा हो गयीं। उनके इस साहस से महाराष्ट्र की जनता कुपित हो उठी। इसी बीच, रामा वाई इंग्लैण्ड और अमेरिका चली गयीं तथा वे ईसाई बन कर वापस आयीं।

शारदा-सदन उन्होंने वालिकाओं की शिक्षा के लिए खोला था। किन्तु, उनके उग्र ों और आचरणों के कारण बहुत-से लोग उनके खिलाफ हो गये। रानाडे और कर मानते थे कि हिन्दू वालिकाएँ शारदा-सदन में पढ़ें, इसमें कोई दोष नहीं है। तिलकजी का कहना था कि यह संस्था हिन्दू वालिकाओं को ईसाइयत की राह जानेवाली है। अतएव, इसका बहिष्कार होना चाहिये। आरम्भ में, लोग जी की वातों को अनसुनी करते रहे। किन्तु, जब तिलकजी ने अपने पक्ष के प्रमाण प्रकाशित कर दिये, तब रानाडे और आगरकर ने भी शारदा-सदन से सम्बन्ध तोड़ लिया।

महाराष्ट्र में सुधार की हवा जोर से उठी थी, किन्तु, कई कारणों से उसके परिणाम रह गये। कान्सेण्ट विल, शारदा-सदन-काण्ड और मिशनरी के यहाँ चाय और वाली घटनाओं से सुधारकों का आदर घट गया था। उस पर, सन् १८९३- में बम्बई और पूने में जो हिन्दू-मुस्लिम-दंगे हुए, उन्होंने परिस्थिति को और भी दिया। इन्हीं दंगों के बाद तिलकजी ने महाराष्ट्र में गणेश-पूजा और शिवाजी- का प्रवर्त्तन किया, जिससे हिन्दू-राष्ट्रीयता के भाव जोर से लहरा उठे। मुखी भावनाओं की इस बाढ़ के सामने सुधारकों के पाँव उखड़ गये और का नेतृत्व तिलकजी के हाथ में चला गया। श्रीयुत् केलकर ने लिखा है कि

उस समय सुधारकों का दल गणेश-पूजा पर जितनी ही बौखलाहट मचाये हुआ मुसलमानों के अत्याचारों पर वह उतना ही मौन था ।[1] सरकार मुसलमानों के थी । अतएव, जनता ने समझा कि सुधारक सरकार के भय से नहीं बोलते हैं । ही, यह तिलकजी के सुयश और सुधारकों के अपयश के बढ़ने की घड़ी थी ।

तिलक और गोखले

नवोत्थान के क्रम में महाराष्ट्र में विचारों के चार नेता उत्पन्न हुए, जिनमें केवल आगरकर का प्रभाव अपने प्रान्त तक सीमित रहा । बाकी तीन नेताओं—रा गोखले और तिलक—का प्रभाव सारे देश पर पड़ा । रानाडे, प्रधानतः, सुधारक थे, किन्तु, गोखले और तिलक राजनीति के भी अग्रणी नेता हुए हैं । और तिलक की तुलना करते हुए श्रीयुत् पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है[2] कि का विषय शासन और उसमें सुधार था, किन्तु, तिलक सारे राष्ट्र को बदलना थे । गोखले का आदर्श सेवा और प्रेम था, किन्तु, तिलक सेवा और यातनाओं के थे । गोखले विदेशियों पर ज्ञान, तर्क और प्रेम से विजय पाना चाहते थे, तिलक उद्देश्य उन्हें देश से बाहर निकाल देना था । गोखले अपनी बातें बुद्धिजीवियों को चाहते थे ; तिलक का श्रोता जनता का विशाल समुदाय था । गोखले के जौहर न्सिल चैम्बर में खुलते थे, तिलक का तेज ग्रामों के मंडपों में प्रकट होता था । का लक्ष्य स्वायत्त-शासन की प्राप्ति था, तिलक स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध समझते थे । गोखले के भाषणों की भाषा अँगरेजी थी, किन्तु, तिलकजी के भाषण लेख मराठी में होते थे । तिलकजी गोखले से कोई दस साल बड़े थे, यद्यपि, तिलक से पाँच वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधार गये ।

परशुराम और राम

इण्डियन अनरेस्ट (प्रथम प्रकाशित, १९१०ई०)[3] के लेखक ने तिलकजी को तीय विद्रोह का पिता कहा है, किन्तु, हम लोग राममोहन राय के समान उन्हें राष्ट्रीयता का जनक कहते हैं । राष्ट्रीयता के साथ लोगों में एक ओर जहाँ करनेवाली जाति के प्रति घृणा जगती है, वहाँ स्वदेश के लिए गौरव और अभिमान भी उदय होता है । राममोहन राय और रानाडे में इस राष्ट्रीयता का केवल जगा था, उसका अभिमान-पक्ष लोकमान्य तिलक में आकर साकार हुआ । पूर्व के लोगों एवं उनके आरम्भिक समकालीनों में राजनैतिक कर्म की प्रेरणा नहीं यह प्रेरणा भी भारत में तिलकजी ने जगायी । इसीलिए, उनमें केवल स्वदेश-प्रेम नहीं, विदेशियों के विरुद्ध घृणा के भी भाव थे और इसीलिए देश को निर्भयता का पढ़ाने का आदि श्रेय भी तिलक को ही प्राप्त हुआ । श्री डी०एस० शर्मा[4] ने कहा है कि जब तिलक जी का दाय गाँधीजी को मिला, तब एक प्रकार से, राष्ट्री

---

[1] लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव् तिलक ।

[2] कांग्रेस का इतिहास ।

[3] लेखक सर बलेनटाइन शिरोल ।

[4] रिनासाँ ऑव् हिन्दुइज्म ।

के धनुष का भार परशुराम से छूट कर राम के हाथों में आया था। गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने ही यह घोषणा की थी कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने ही यह कहा था कि प्रस्तावों और भाषणों से कुछ होनेवाला नहीं है, हमें ठोस काम करना चाहिये। और गाँधीजी से पूर्व, तिलकजी ने यह भी बताया था कि हमारा ठोस काम असहयोग का रूप ले सकता है। गाँधी-युग में देश में बलिदानों का ताँता लग गया था, किन्तु, इस सरणी का भी आरम्भ लोकमान्य ने अपने बलिदानों से किया था।

प्रार्थना-समाज का रूप

रानाडे, यद्यपि, राजनीति में नहीं उतरे, किन्तु, सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने जो कुछ किया, उससे भारत की राष्ट्रीयता को यथेष्ट उत्तेजना मिली। उनका प्रार्थना-समाज, यद्यपि, बंगाल के ब्राह्म-समाज का ही नूतन संस्करण था, किन्तु, रानाडे नव-विधान की बात नहीं करते थे। प्रार्थना-समाज को हिन्दू-धर्म से अलग ले जाकर उसे एक नये सम्प्रदाय का रूप देना उनका अभीष्ट नहीं था। प्रार्थना-समाज जाति-प्रथा का विरोधी था, जन्मना एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम मानने की प्रथा को वह तोड़ना चाहता था एवं स्त्री-शिक्षा तथा नर-नारी की समानता का वह पोषण करना चाहता था। इस समाज के लोग निराकारवादी थे, यह ठीक है; किन्तु, मूर्त्ति-पूजा एवं परम्परागत अनुष्ठानों के त्याग की शर्त इस समाज में नहीं थी, जैसी अनेक शर्तें बंगाल में ब्राह्म-समाजियों ने लगा रखी थीं। ब्राह्म-समाजी बंगाल में केवल धनी-विद्वान् वर्गों के ही लोग हुए थे, किन्तु, रानाडे चाहते थे कि प्रार्थना-समाज में अशिक्षित जनता का भी प्रवेश हो, यद्यपि, उनका यह अरमान कभी पूरा नहीं हुआ। मध्यकालीन महाराष्ट्र में भक्ति का जो आन्दोलन उठा था, उसी के समान रानाडे प्रार्थना-समाज को भी सर्वत्र ले जाना चाहते थे और इसमें कोई दोष भी नहीं था। ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और जनार्दन पन्त, ये सन्त बहुत उदार रहे थे। उन्होंने मनुष्य की समानता को प्रश्रय दिया था। वे धर्म के बाह्याचारों के आलोचक थे और जाति-प्रथा की कट्टरता का उन्होंने विरोध किया था। इसी भक्ति-आन्दोलन को सामने रख कर रानाडे प्रार्थना-समाज को सर्व-जन-ग्राह्य बनाना चाहते थे। सन् १८९३ई० में लाहौर में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि "हिन्दू-जनता इतनी बुरी नहीं है कि हम उसे सड़ाँध से भरा हुआ बर्बादियों का अम्बार कहें। यह जनता कुछ दूर तक कट्टर अवश्य है, किन्तु, इसी कट्टरता ने उसकी रक्षा भी की है। जो जाति अपने विश्वास और नैतिकता को, अपने आचारों और सामाजिक आचरणों को फैशन के समान आसानी से बदल दे, वह इतिहास में किसी बड़े उद्देश्य की प्राप्ति से वंचित रहेगी। साथ ही, यह भी सच है कि हमारी कट्टरता इतनी भयानक भी नहीं है कि हम नये विचारों और नूतन प्रयोगों को अपने भीतर, धीरे-धीरे, नहीं पचा सकें।"[1]

---

[1] रिलासँ आव् हिन्दुइज्म।

रानाडे बिलकुल ठीक थे। उस समय समाज ने सुधारकों का चाहे जो भी विरोध किया हो, किन्तु, आज तो ऐसा लगता है कि हिन्दू-समाज ने रानाडे और आगरकर, राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन तथा दयानन्द और विवेकानन्द के एक-एक उद्देश्य को अपने हृदय में बिठा लिया है और उनमें से प्रत्येक का हम यथाशक्ति आचरण भी करते जा रहे हैं। किन्तु, यह भी ठीक है कि ब्राह्म-समाज या प्रार्थना-समाज के धार्मिक सिद्धान्तों को इस देश की जनता ने पसन्द नहीं किया।

१९वीं सदी और मध्यकाल

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन और उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक नवोत्थान में थोड़ी-सी समता जरूर है। विशेषतः, ब्राह्म-समाज और आर्य-समाज की निराकारोपासना निर्गुणवादी सन्तों की निराकारोपासना की प्रतिध्वनि के समान लगती है। जाति-प्रथा, मूर्त्ति-पूजा और तीर्थ आदि के विरुद्ध जिस जोर से उन्नीसवीं सदी के नेता बोले उससे, कदाचित्, अधिक जोर से कबीर, दादू आदि बोले थे। उन्नीसवीं सदी का नवोत्थान परम्पराओं और रूढ़ियों का उतना ही विरोधी था, जितना मध्यकालीन नवोत्थान। किन्तु, एक बात थी जिसके कारण ब्राह्म-समाज के पाँव इस देश में नहीं जम पाये और जिसके कारण वह भक्ति-आन्दोलन से भी पूरा मेल नहीं खाता है। ईसाई धर्म के सभी तत्त्वों पर ब्राह्म-समाज ने बहुत अधिक जोर दिया। किन्तु, हिन्दू धर्म की केवल बुराइयाँ ही उसकी दृष्टि में आयीं। अतएव, वह हिन्दुओं की दृष्टि में विनयशील कम, प्रतिमा-भंजक अधिक हो गया। मूर्त्ति-पूजा का खंडन तो, खैर, अलग बात थी, किन्तु, अवतारवाद का खंडन करके उसने मनुष्य को ईश्वर से विच्छिन्न कर डाला और धरती तथा आकाश के बीच फिर वही खाई खोद दी जो बुद्ध के दिनों में खुदी थी।

सच पूछिये तो ब्राह्म-समाज का जन्म ही घबरायी हुई मनोवृत्ति से हुआ था। राममोहन राय नें मोक्ष के लिए व्याकुलता नहीं प्रकट की। वे तो ईसाइयत की चोट से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आये थे। उनका उद्देश्य सामाजिक था एवं ब्राह्म-समाज उसी सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए बनाया गया था। देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र ने, व्यर्थ ही उसे आध्यात्मिक सिद्धि का सोपान बनाना चाहा।

□□□

प्रकरण ७

आर्य-समाज

भिमान का उदय

सत्यार्थ-प्रकाश के एकादश समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने ब्राह्म-समाज और र्थना-समाज के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं :—

"जो कुछ ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाजियों ने ईसाई मत में मिलने से थोड़े नुष्यों को बचाये और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्त्ति-पूजा को हटाया, अन्य जालग्रन्थों के न्दों से भी बचाये इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु, इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न है। ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं। खान-पान, विवाहादि के नियम भी ल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके ले पेट भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अँगरेजों की प्रशंसा भर पेट ते हैं। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत, ऐसा कहते हैं कि बिना गरेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्त्ती लोग सदा से मूर्ख ले आये हैं। वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु, निन्दा करने से भी पृथक् नहीं ते, ब्राह्म-समाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, क और चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।"

केशवचन्द्र और रानाडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दीखते हैं, जैसे गोखले की ना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज, पहले-ल, तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी नन्द में निखरा। ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज के नेता अपने धर्म और समाज में र तो ला रहे थे, किन्तु, उन्हें बराबर यह खेद सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे ह विदेश की नकल है। अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी मा, कहीं-न-कहीं, दबी हुई थी। अतएव, कार्य तो, प्रायः, उनके भी वैसे ही रहे; स्वामी दयानन्द के, किन्तु, आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे दर्प हीं बोल सके। यह दर्प स्वामी दयानन्द में चमका। रूढ़ियों और गतानुगतिकता स कर अपना विनाश करने के कारण उन्होंने भारतवासियों की कड़ी निन्दा की र उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है। इन कारों की गंदी पर्त्तों को तोड़ फेंको। तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है, जिस पर ढ़ होने से तुम फिर से विश्व-विजयी हो सकते हो। किन्तु, इससे भी कड़ी फटकार होंने ईसाइयों पर और मुसलमानों पर भेजी, जो दिन-दहाड़े हिन्दुत्व की निन्दा करते ते थे। ईसाई और मुस्लिम पुराणों में घुस कर उन्होंने इन धर्मों में भी वैसे ही दोष ला दिये जिनके कारण ईसाई और मुसलमान हिन्दुत्व की निन्दा करते थे। इससे

दो बातें निकलीं । एक तो यह कि अपनी निन्दा सुन कर घबरायी हुई हिन्दू-जनता को यह जान कर कुछ सन्तोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं हैं । दूसरी यह कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूलरूप की ओर आकृष्ट हुआ एवं वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गौरव अनुभव करने लगे ।

आक्रामकता की ओर

राममोहन और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था । स्वामी दयानन्द ने आक्रामकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश किया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है । सत्यार्थ-प्रकाश में जहाँ हिन्दुत्व के वैदिक रूप का गहन आख्यान है, वहाँ उसमें ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना पर भी अलग-अलग दो समुल्लास हैं । अब तक हिन्दुत्व की निन्दा करने वाले लोग निश्चिन्त थे कि हिन्दू अपना सुधार भले करता हो, किन्तु, वह हमारी निन्दा करने का उसे साहस नहीं होगा । किन्तु, इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया । यही नहीं, प्रत्युत, जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नहीं आयी थी, उस बात को लेकर स्वामी दयानन्द के शिष्य आगे बढ़े और उन्होंने घोषणा की कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्थामें अपने धर्म में वापस आ सकता है एवं अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दू-धर्म में प्रवेश पा सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, जाग्रत हिन्दुत्व का समर-नाद था । और, सच है, रणारूढ़ हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई नहीं हुआ।

इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि स्वामी दयानन्द की गिनती महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द की सरणी में की जाने लगी । किन्तु, स्वामी दयानन्द मुसलमानों के विरोधी नहीं थे । स्वामीजी का जब स्वर्गवास हुआ, तब सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ ने जो समवेदना और शोक प्रकट किया, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुस्लिम जनता के बीच भी स्वामीजी का यथेष्ट आदर था। स्वामी जी के बाद आर्य-समाज और मुस्लिम-सम्प्रदाय के बीच का सम्बन्ध अच्छा नहीं रहा, यह सत्य है ; किन्तु, स्वामीजी के जीवन-काल में ऐसी बात नहीं थी ।

सच पूछिये तो स्वामीजी केवल इस्लाम के ही आलोचक नहीं थे, वे ईसाइयत और हिन्दुत्व के भी अत्यन्त कड़े आलोचक हुए हैं । सत्यार्थ-प्रकाश के त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत की आलोचना है और चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की । किन्तु, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अंगों की बखिया उधेड़ी गयी है और कबीर, दादू, नानक, बुद्ध तथा चार्वाक एवं जैनों और हिन्दुओं के अनेक पूज्य पौराणिक देवताओं में से एक भी बेदाग नहीं छूटा है । वल्लभाचार्य और कबीर पर तो स्वामी जी इतना बरसे हैं कि उनकी आलोचना पढ़ कर सहनशील लोगों की भी धीरता छूट जाती है । किन्तु, यह सब अवश्यम्भावी था । यूरोप के बुद्धिवाद ने भारत-वर्ष को इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्व के बुद्धि-सम्मत रूप को आगे लाने

बिना कोई भी सुधारक भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता था। स्वामी जी ने बुद्धिवाद की कसौटी बनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर निश्छल भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खंड-खंड हो ही गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैकड़ों कमजोरियाँ लोगों के सामने आ गयीं।

किसी का भी पक्षपात नहीं

चूँकि ईसाइयत और इस्लाम हिन्दुत्व पर आक्रमण कर रहे थे, इसलिए, हिन्दुत्व की ओर से बोलने वाला प्रत्येक व्यक्ति ईसाइयत या इस्लाम अथवा दोनों का द्रोही समझ लिया गया। किन्तु, इस प्रसंग से अलग हटने पर स्वामी दयानन्द विश्व-मानवता के नेता दीखते हैं। उनका उद्देश्य सभी मनुष्यों को उस दिशा में ले जाना था, जिसे वे सत्य की दिशा समझते थे। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश की भूमिका में स्वयं लिखा है कि "जो जो सब मतों में सत्य बातें हैं, वे वे सब में अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं, उन उन का खंडन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रखा है कि जब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रकट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सब साधारण मनुष्यों के सामने रखा है, जिससे सब से सब का विचार होकर परस्पर प्रेमी हो के एक सत्य मतस्थ होवें। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न करके यथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही, दूसरे देशस्थ या मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों के भी वर्त्तना योग्य है। क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मंडन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु, ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं।" अन्यत्र चौदहवें समुल्लास के अन्त में भी स्वामी जी ने कहा है कि "मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु, जो सत्य है, उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसे छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त के प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु, मैं आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में जो अधर्म-युक्त चाल-चलन हैं, उनको स्वीकार नहीं करता और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के विरुद्ध है।"

सुधार नहीं, क्रान्ति

उन्नीसवीं सदी के हिन्दू-नवोत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि जब यूरोपवाले भारतवर्ष में आये, तब यहाँ के धर्म और संस्कृति पर रूढ़ि की पर्त्तें जमी हुई थीं एवं यूरोप के मुकाबले में उठने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्त्तें एकदम उखाड़ फेंकी जायें और हिन्दुत्व का वह रूप प्रकट किया जाय जो निर्मल और बुद्धिगम्य

हो। स्वामी जी के मत से यह हिन्दुत्व वैदिक हिन्दुत्व ही हो सकता था। किन्तु, यह हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओं के नीचे दबा हुआ था। उसपर अनेक स्मृतियों की धूल जम गयी थी एवं वेद के बाद के सहस्रों वर्षों में हिन्दुओं ने जो रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास अर्जित किये थे उनके ढूहों के नीचे यह धर्म दबा पड़ा था। राममोहन राय, रानाडे, केशवचन्द्र और तिलक से भिन्न स्वामी दयानन्द की विशेषता यह रही कि उन्होंने धीरे-धीरे पपड़ियाँ तोड़ने का काम न करके, उन्हें एक ही चोट से साफ कर देने का निश्चय किया। परिवर्त्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब सुधार कहलाता है। किन्तु, वही जब तीव्र वेग से पहुँच जाता है, तब उसे क्रान्ति कहते हैं। दयानन्द के अन्य समकालीन सुधारक केवल सुधारक मात्र थे, किन्तु, दयानन्द क्रान्ति के वेग में आये और उन्होंने निश्छल भाव से यह घोषणा कर दी कि हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में केवल वेद ही मान्य हैं, अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहियें। छह शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं था, अतएव, स्वामी जी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।

वेद को छोड़ कर कोई अन्य धर्म-ग्रन्थ प्रमाण नहीं है, इस सत्य का प्रचार करने के लिएं स्वामीजी ने सारे देश का दौरा करना आरम्भ किया और जहाँ-जहाँ वे गये, प्राचीन परम्परा के पंडित और विद्वान् उनसे हार मानते गये। संस्कृत भाषा का उन्हें अगाध ज्ञान था। संस्कृत में वे धारावाहिक रूप से बोलते थे। साथ ही, वे प्रचंड तार्किक थे। उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्म-ग्रन्थों का भी भलीभाँति मन्थन किया था। अतएव, अकेले ही, उन्होंने तीन-तीन मोर्चों पर संघर्ष आरम्भ कर दिया। दो मोर्चे तो ईसाइयत और इस्लाम के थे, किन्तु तीसरा मोर्चा सनातन धर्मी हिन्दुओं का था, जिनसे जूझने में स्वामीजी को अनेक अपमान, कुत्सा, कलंक और कष्ट झेलने पड़े। उनके प्रचंड शत्रु ईसाई और मुसलमान नहीं, सनातनी हिन्दू ही निकले और, कहते हैं, अन्त में इन्हीं हिन्दुओं के षड्यंत्र से उनका प्राणान्त भी हुआ। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई, न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पंडित और विद्वान्। हिन्दू-नवोत्थान अब पूरे प्रकाश में आ गया था और अनेक समझदार लोग, मन-ही-मन, यह अनुभव करने लगे थे कि, सच ही, पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है।

आर्य-समाज की स्थापना

सन् १८७२ई० में स्वामीजी कलकत्ते पधारे। वहाँ देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ने उनका बड़ा सत्कार किया। ब्राह्मसमाजियों से उनका विचार-विमर्श भी हुआ, किन्तु, ईसाइयत से प्रभावित ब्राह्म-समाजी विद्वान् पुनर्जन्म और वेद की प्रामाणिकता के विषय में स्वामीजी से एकमत नहीं हो सके। कहते हैं कलकत्ते में ही केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को यह सलाह दी कि यदि आप संस्कृत छोड़ कर हिन्दी में

बोलना आरम्भ करें तो देश का असीम उपकार हो सकता है। तभी से स्वामीजी के व्याख्यानों की भाषा हिन्दी हो गयी और हिन्दी-प्रान्तों में उन्हें अगणित अनुयायी मिलने लगे। कलकत्ते से स्वामीजी बम्बई पधारे और वहीं १० अप्रैल सन् १८७५ई० को उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। बम्बई में उनके साथ प्रार्थना समाजवालों ने भी विचार-विमर्श किया। किन्तु, यह समाज तो ब्राह्म-समाज का ही बम्बई-संस्करण था। अतएव, स्वामीजी से इस समाज के लोग भी एकमत नहीं हो सके।

बम्बई से लौट कर स्वामीजी दिल्ली आये। वहाँ उन्होंने सत्यानुसन्धान के लिए ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पंडितों की एक सभा बुलायी। किन्तु, दो दिनों के विचार-विमर्श के बाद भी लोग किसी निष्कर्ष पर नहीं आ सके। दिल्ली से स्वामीजी पंजाब गये। पंजाब में उनके प्रति बहुत उत्साह जाग्रत हुआ और सारे प्रान्त में आर्य-समाज की शाखाएँ खुलने लगीं। तभी से पंजाब आर्यसमाजियों का प्रधान गढ़ रहा है।

थियोसोफी और स्वामी दयानन्द

जब थियोसोफिस्ट लोग भारत आये, तब थोड़े दिन उन लोगों ने भी आर्य-समाज से मिल कर काम किया। किन्तु, थियोसोफिस्टों की भी बहुत-सी बातें स्वामीजी के सिद्धान्तों के विपरीत पड़ती थीं। अतएव, वे लोग भी आर्य-समाज से अलग हो गये। किन्तु, अलग होने पर भी स्वामीजी पर थियोसोफिस्टों की भक्ति ज्यों-की त्यों बनी रही। स्वामीजी के देहावसान के बाद मादाम ब्लेवास्की ने लिखा था कि "जन-समूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमर्मर की मूर्त्ति भी स्वामीजी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। एक बार हमने उन्हें काम करते देखा था। उन्होंने अपने सभी विश्वासी अनुयायियों को यह कह कर अलग हटा दिया कि तुम्हें हमारी रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भीड़ के सामने वे अकेले ही खड़े हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंह के समान वे स्वामीजी पर टूट पड़ने को तैयार थे। किन्तु, स्वामीजी की धीरता, ज्यों-की त्यों, बनी रही।…………यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो[1]।" स्वामीजी की मृत्यु के बाद थियोसोफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था कि "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन ढूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदयों में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।"

आर्य-समाज की विशेषता

कहा जाता है कि जैसे सिक्ख-धर्म सनातन-धर्म का अरबी अनुवाद है, वैसे ही, आर्य-समाज भी इस्लाम की संस्कृत-टीका है। सिक्ख-धर्म के विषय में यह उक्ति कुछ दूर तक सही समझी जा सकती है, किन्तु, आर्य-समाज के विषय में यह कहाँ तक सत्य

---

[1] 'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से उद्धृत।

है, यह बताना कठिन है। स्वामीजी ने ईश्वर, जीव और प्रकृति, तीनों को अनादि माना है, किन्तु, यह तो इस्लाम से अधिक भारतीय योग-दर्शन का मत है। भिन्नता यह है कि स्वामीजी यह नहीं मानते कि भगवान पापियों के पाप को क्षमा करते हैं। बल्कि, भगवान की कृपा के सहारे पाप करने की बात के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की बार-बार आलोचना की है। हाँ, जिन बुराइयों के कारण हिन्दू-धर्म का ह्रास हो रहा था तथा अन्य धर्मों के लोग जिन दुर्वलताओं का लाभ उठा कर हिन्दुओं को ईसाई बना रहे थे, उन बुराइयों को स्वामीजी ने अवश्य दूर किया, जिससे हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में वही दृढ़ता आ गयी जो इस्लाम में थी। स्वामीजी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। आर्य-समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए विधवा-विवाह का भी प्रचलन किया। कन्या-शिक्षा और ब्रह्मचर्य का आर्य-समाज ने इतना अधिक प्रचार किया कि हिन्दी-प्रान्तों में साहित्य के भीतर एक प्रकार की पवित्रतावादी भावना भर गयी और हिन्दी के कवि कामिनी-नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे। पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हों, नारियाँ शिक्षिता और सबला हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें, कोई भी हिन्दू मूर्त्ति-पूजा का नाम न ले, न पुरोहितों, देवताओं और पंडों के फेर में पड़े, वे उपदेश उन सभी प्रान्तों में कोई पचास साल तक गूँजते रहे, जहाँ आर्य-समाज का थोड़ा-बहुत भी प्रचार था।

यह विस्मय की बात है कि स्वामीजी ने संहिताओं को तो प्रमाण माना, किन्तु, उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखायी। वेद से उनका अभिप्राय केवल "चारों वेद (विद्या-धर्म-युक्त, ईश्वरप्रणीत संहिता, मंत्र-भाग) और चारों वेदों के ब्राह्मण, छह अंग, छह उपांग, चार उपवेद और ११२७ वेदों की शाखा"[१] से है। इसी प्रकार, युग-युग से पूजित गीता को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया और कृष्ण, राम आदि को तो परम पुरुष माना ही नहीं। वर्णाश्रम का आधार उन्होंने गुण-कर्म को माना। उन्होंने 'देव' का अर्थ विद्वान्, 'असुर' का अविद्वान्, 'राक्षस' का पापी और 'पिशाच' का अनाचारी माना। पुरुषार्थ को उन्होंने प्रारब्ध से बड़ा बताया तथा सुख-भोग को स्वर्ग तथा दुःख-भोग को नरक कहा। यह हिन्दू-धर्म की बुद्धिवादी टीका थी। यह विज्ञान की कसौटी पर चढ़े हुए हिन्दुत्व का निखार था।

किन्तु, स्वामीजी ने भी देश में एक नूतन अन्ध-विश्वास को जन्म दिया। उनके पूर्व भी वेद हिन्दुओं के पूज्य ग्रन्थ थे और आज भी वे पूज्य हैं। किन्तु, पूज्य होने के मानी यह तो नहीं हैं कि वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। स्वामीजी ने कहा है कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं। पुराणों, शास्त्रों और स्मृतियों के पाश से मुक्त करके जनता को वेदों की ओर ले जाने का यह ढंग प्रशंसनीय अवश्य था, किन्तु, वेदों को सभी ज्ञानों का कोप मान लेने

---

[१] सत्यार्थ प्रकाश ; स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश-प्रकरण।

गों के ज्ञानोन्मेष में बाधा भी पड़ी। आश्चर्य की बात है कि श्री अरविन्द ने ी दयानन्द का समर्थन ही नहीं किया है, प्रत्युत, यह भी शिकायत की है कि ोजी ने वेदों के महत्त्व को घटा कर ही कहा है।"[1]

वाद का एक दुष्परिणाम

उन्नीसवीं सदी के नवोत्थान से एक और बात निकली, जिसका कुफल देश को भी भोगना पड़ रहा है। जब इस्लाम और ईसाइयत से हिन्दुत्व संघर्ष कर रहा , उस समय नेताओं, सुधारकों और पंडितों ने हिन्दुत्व की ओर से जो कुछ प्रमाण , संस्कृत से लेकर दिये और यह ठीक भी था, क्योंकि सारे देश में फैले हुए हिन्दुत्व भाषा संस्कृत थी। पीछे, जो यूरोपीय इतिहासकार भारत के अतीत का इतिहास ार करने लगे, उसमें भी मूल उद्धरण संस्कृत से ही आये। किन्तु, स्वामी दयानन्द ो संस्कृत की सभी सामग्रियों को छोड़ कर केवल वेदों को पकड़ा और उनके सभी ुयायी भी वेदों की दुहाई देने लगे। परिणाम इसका यह हुआ कि वेद और आर्य, त में ये दोनों सर्व प्रमुख हो उठे और इतिहासवालों में भी यह धारणा चल पड़ी भारत की सारी संस्कृति और सभ्यता वेदवालों अर्थात् आर्यों की रचना है। भारत ो अनेक जातियों का समन्वय हुआ था, उसकी ओर उस समय किसी ने देखा भी ीं। हिन्दू केवल उत्तर भारत में ही नहीं बसते थे और न यही कहने का कोई ार था कि हिन्दुत्व की रचना में दक्षिण भारत का कोई योगदान नहीं है। फिर , स्वामीजी ने आर्यावर्त्त की जो सीमा बाँधी है, वह विन्ध्याचल पर समाप्त हो ती है।[2] आर्य-आर्य कहने, वेद-वेद चिल्लाने तथा द्राविड़ भाषाओं में सन्निहित ुत्व के उपकरणों से अनभिज्ञ रहने का ही यह परिणाम है कि आज दक्षिण भारत आर्य-विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। हिन्दू सारे भारत में बसते हैं तथा की नसों में आर्य के साथ द्राविड़ रक्त भी प्रवाहित है। हिन्दुत्व के उपकरण केवल त में ही नहीं, प्रत्युत, संस्कृत के ही समान प्राचीन भाषा तमिल में भी उपलब्ध और दोनों भाषाओं में निहित उपकरणों को एकत्र किये बिना हिन्दुत्व का पूरा चित्र

---

[1] "वेदों में केवल धर्म ही नहीं, विज्ञान भी है, दयानन्द के इस विचार में चौंकने की कोई बात नहीं है। मेरा विचार तो यह है कि वेदों में विज्ञान की ऐसी बातें भी हैं जिनका पता आज के वैज्ञानिकों को नहीं चला है। इस दृष्टि से देखने पर तो यह दीखता है कि दयानन्द ने वेदों में निहित ज्ञान के विषय में अत्युक्ति नहीं, बल्कि, अल्पोक्ति से काम लिया है।"—श्री अरविन्द (दयानन्द, द मैन एण्ड हिज़ वर्क।)

[2] "आर्यावर्त्त देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु, इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है, उसको आर्यावर्त्त कहते और जो इसमें सदा रहते उनको भी आर्य कहते हैं।" (सत्यार्थ-प्रकाश ; स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश।)

नहीं बनाया जा सकता । इस सत्य पर यदि उत्तर के हिन्दू ध्यान देते तो दक्षिण भाइयों को वह कदम उठाना नहीं पड़ता, जिसे वे आज उपेक्षा और क्षोभ से विवश होकर उठा रहे हैं ।

हिन्दुत्व की वीर भुजा

यह दोष चाहे जितना बड़ा हो, किन्तु, आर्य-समाज हिन्दुत्व की खड्गधर साबित हुआ । स्वामीजी के समय से लेकर, अभी हाल तक, इस समाज ने सारे हिन्दी प्रान्त को अपने प्रचार से औंट डाला । आर्य-समाज के प्रभाव में आ कर बहुत हिन्दुओं ने मूर्त्ति-पूजा छोड़ दी, बहुतों ने अपने घर के देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को तोड़ कर बाहर फेंक दिया, बहुतों ने श्राद्ध की पद्धति बन्द कर दी और बहुतों ने पुरोहितों को अपने यहाँ से विदा कर दिया । जो विधिवत् आर्य-समाजी नहीं बने, शास्त्रों और पुराणों में उनका भी विश्वास हिल गया और वे भी, मन-ही-मन, करने लगे कि राम और कृष्ण ईश्वर हैं या नहीं और पाषाणों की पूजा से मनुष्य को कोई लाभ हो सकता है या नहीं । आर्य-समाजियों ने जगह-जगह अपने उद्देश्यानुरूप विद्यालय स्थापित किये, जिनमें संस्कृत की विशेष रूप से पढ़ाई होती है और जहाँ से स्नातक स्वामी दयानन्द के उद्देश्यों के मूर्त्तिमान रूप बन कर बाहर आते हैं। विद्यालयों में कन्या और युवक ब्रह्मचर्य-वास भी करते हैं ।

आगे चल कर आर्य-समाज ने शुद्धि और संगठन का भी प्रचार किया। सन् १९२१ई० में मोपला (मालाबार) मुसलमानों ने भयानक विद्रोह किया और उन्होंने पड़ोस के हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया । आर्य-समाज ने इस विपत्ति के समय संकट के सामने छाती खोली और कोई ढाई हजार भ्रष्ट परिवारों को फिर से हिन्दू बना लिया । इसी काण्ड के बाद आर्य-समाजियों ने राजस्थान के मलकाना-राजपूतों की शुद्धि आरम्भ की, जिससे मुस्लिम-सम्प्रदाय में क्षोभ उत्पन्न हुआ और लोग कहने लगे कि आर्य-समाजी मुसलमानों से शत्रुता कर रहे हैं । किन्तु, शत्रुता की इसमें कोई बात नहीं है । जब अन्य धर्मवालों को यह अधिकार है कि वे चाहे जितने हिन्दुओं को क्रिस्तान या मुसलमान बना सकते हैं, तब धर्म-भ्रष्ट हिन्दुओं को फिर से हिन्दू बना लेने में ऐसा क्या अन्याय है ? किन्तु, आर्य-समाजियों के इस साहस से मुसलमान बहुत घबराये एवं भारतीय एकता का शकट कुछ पीछे की ओर घुड़क गया ।

आर्य-समाजियों ने अपने साहस का दूसरा परिचय सन् १९३७ई० में दिया जब हैदराबाद की निजाम-सरकार ने यह फरमान जारी किया था कि हैदराबाद-राज्य में आर्य-समाज का प्रचार नहीं होने दिया जायगा । इस आज्ञा के विरुद्ध आर्य-समाजियों ने सत्याग्रह का शस्त्र निकाला और, एक-एक करके, कोई बारह हजार आर्यसमाजी सत्याग्रही जेल चले गये ।

ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने में जितनी मुसीबतें आर्य-समाज ने झेली हैं, उतनी किसी और संस्था ने नहीं । सच पूछिये तो उत्तर भारत

हिन्दुओं को जगा कर उन्हें प्रगतिशील करने का सारा श्रेय आर्य-समाज को ही है। पंडित चमूपति ने सत्य ही कहा है कि "आर्य-समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदंड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले, जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी, इन सारे अपमानों के सामने वह दाँत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु, आर्य-समाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुन कर चुप नहीं रह सकता। जरूरत हुई तो धर्म-रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है[1]।"

□□□

---

[1] कलचरल हेरिटेज आव् इंडिया, जिल्द २।

प्रकरण ८

थियोसोफ़िकल सोसाइटी या ब्रह्मविद्या-समाज

थियोसोफ़िकल सोसाइटी का नाम विदेशी है और यह संस्था भी विदेश में जनमी थी। इसके सदस्यों की संख्या भी कभी इतनी नहीं हुई कि इसकी गिनती भा के महान् सांस्कृतिक आन्दोलनों में की जा सके। किन्तु, फिर भी इस संस्था की सभानेत्री **श्रीमती एनी बीसेंट** ने हिन्दुत्व के नवोत्थान एवं भारतीय राष्ट्रीयता विकास के लिए इतना कुछ किया कि उनकी सेवा भुलायी नहीं जा सकती। आज एक दर्शन प्रचलित है, जिसके अनुसार व्यक्ति कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है समूह है। किन्तु, एनी बीसेंट-जैसे व्यक्तियों के विषय में यह दर्शन गलत ठहरता है मानवता का रथ, प्रायः, मन्द-मन्द ही चलता है, यह समूह की गति है। किन्तु, कोई ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके एक ही धक्के से यह रथ बहुत आगे निकल जाता है श्रीमती एनी बीसेंट ऐसा ही व्यक्तित्व रखती थीं और उनके जीवन का सबसे कार्य यह रहा कि उन्होंने ऊँघते-हुए हिन्दुओं में आत्माभिमान भर दिया एवं जब मिशनरी भारत के बाहर भारत के विषय में कुप्रचार करके यहाँ के लोगों को बना रहे थे, तब इस ईसाई महिला ने खुल कर भारत और हिन्दुत्व का पक्ष लिया।

थियोसोफ़ी शब्द दो यूनानी शब्दों के योग से बना है। यूनानी में (Theos) ईश्वर को कहते हैं और सोफ़िया (Sophia) का अर्थ ज्ञान है। अत थियोसोफ़ी का अर्थ ब्रह्मविद्या बताया जाता है।

सोसाइटी का जन्म

इस संस्था का जन्म यों हुआ कि रूस में एक महिला थीं जिनका नाम **पेत्रोवना ब्लेवास्की** था। वे प्रेत-विद्या की जानकार समझी जाती थीं। उन अमेरिका में भी प्रेत-विद्या की चर्चा छिड़ी हुई थी और **कर्नल आलकाट** नाम एक सज्जन इस विद्या से गहरी दिलचस्पी रखते थे। ब्लेवास्की न्यूयार्क गयीं, तब उनका परिचय आलकाट साहब से हुआ और वहीं दोनों ने मिल कर थियोसोफ़ि सोसाइटी की नींव ७ सितम्बर १८७५ई० को रखी। कहा जाता है कि तिब्बत कुछ श्रेष्ठ आत्माएँ थीं, जिनका सम्पर्क श्रीमती ब्लेवास्की से था। इन्हीं आत्माओं पथ-प्रदर्शन में ब्लेवास्की काम करती थीं। अतएव, अपनी संस्था का मुख्य उन्होंने उन अगोचर नियमों का अनुसन्धान और प्रचार रखा, जिनके अधीन यह संचालित होती है।

पीछे चल कर, इस संस्था के उद्देश्य कुछ और विशद एवं विस्तृत हो गये। के परोक्ष नियमों के अनुसन्धान की बात तो रही ही, आगे यह भी जोड़ दिया गया

संस्था के सदस्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे उच्च नैतिकतापूर्ण, पवित्र जीवन व्यतीत करें एवं विज्ञान के साथ जिस आधिभौतिकता की वृद्धि हो रही है, उसका विरोध करें। यह भी कि किसी भी धर्म की कट्टरता को वे प्रश्रय नहीं देंगे। संस्था का एक उद्देश्य यह भी माना गया कि पूर्वी देशों में धर्म और ज्ञान के जो तत्त्व छिपे हुए हैं, उनका सम्यक् प्रचार पाश्चात्य देशों में किया जाना चाहिये। इस प्रकार, वेद, बौद्ध ग्रन्थ, जेन्दावेस्ता और कन्फ्यूशियस के उपदेश, ये सभी साहित्य थियोसोफ़िस्टों के विशेष अध्ययन के विषय बन गये। किन्तु, संस्था का सब से महान् और उपयोगी उद्देश्य यह करार दिया गया कि विश्व-मानवता के आविर्भाव और प्रचार के लिए यह दिखलाया जाय कि धर्म की भिन्नता से एक मनुष्य दूसरे से भिन्न नहीं हो जाता है। सभी मनुष्य एक ही परम-सत्ता से निकले हैं और सभी धर्मों के अच्छे लोग एक समान पवित्र हैं।

आगे चल कर तिब्बत की सन्त आत्माओं ने ब्लेवास्की को यह सन्देश दिया कि तुम अपनी संस्था को ले कर भारत चली जाओ। तदनुसार, ब्लेवास्की और आलकाट, १६ फरवरी, १८७९ई० को बम्बई आ पहुँचे, जहाँ आर्य-समाज ने उसका भव्य स्वागत किया। आते ही, वे लोग ईसाई मिशनरियों के प्रचार के रोकने का उपाय सोचने लगे एवं इस बात पर जोर देने लगे कि भारत की शिक्षा-पद्धति में परिवर्त्तन होना चाहिये तथा यहाँ संस्कृत-विद्या का पठन-पाठन अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से चलना चाहिये। सन् १८८२ई० में थियोसोफ़ी-समाज का प्रधान कार्यालय अडयार (मद्रास) ले जाया गया, जहाँ वह आज तक अवस्थित है। कुछ दिनों के बाद ब्लेवास्की बीमार हो कर इंग्लैण्ड चली गयीं और फिर नहीं लौटीं। इंग्लैण्ड में उन्होंने 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन' नाम पुस्तक प्रकाशित की जिस पर पत्रों में कई प्रकार की आलोचनाएँ निकलीं। इसी पुस्तक को पढ़ कर श्रीमती एनी बीसेंट थियोसोफ़ी-समाज में दीक्षित हुई थीं। कहते हैं ब्लेवास्की ने उनका सम्पर्क तिब्बत की आत्माओं से करा दिया था और उनमें भी अलौकिक शक्तियों का विकास हो गया था।

एनी बीसेंट

श्रीमती एनी बीसेंट १६ नवम्बर सन् १८९३ई० को भारत आयीं जब उनकी अवस्था छियालीस साल की थी। आते ही, वे भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ीं और भारत के साथ-साथ उन्होंने थियोसोफ़ी-समाज का नाम भी बहुत ऊँचा कर दिया। कर्नल आलकाट का देहान्त सन् १९०७ई० में हुआ और तब से ले कर अपनी मृत्यु पर्यन्त (१९३३ई०) थियोसोफ़ी-समाज की सभानेत्री श्रीमती एनी बीसेंट बनी रहीं।

श्रीमती एनी बीसेंट मानती थीं कि पूर्व जन्म में वे हिन्दू थीं। आते ही उन्हें भारतवर्ष ऐसा लगा, मानों, अनेक जन्मों से वे यहाँ जन्म लेती आयी हों। हिन्दू-धर्म को वे विश्व के धर्मों में सब से प्राचीन ही नहीं, सब से श्रेष्ठ भी मानती थीं। यहाँ आते ही, उन्होंने गाउन छोड़ कर साड़ी पहनी और शुद्ध भारतीय खान-पान को अपना

लिया। वे तीर्थों में भी घूमती थीं एवं अमरनाथ तक पैदल ही गयी हुई थीं। हिन्दुत्व की प्रधान गढ़ी काशी उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। बनारस में रह कर उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जिसका विकसित रूप आज का हिन्दू विश्वविद्यालय है। बनारस में ही रहते हुए, उन्होंने गीता का अनुवाद किया, रामायण और महाभारत की संक्षिप्त कथाएँ लिखीं एवं हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति-विषयक अनेक ओजस्वी भाषण दिये।

श्रीमती बीसेंट अँगरेज थीं एवं वे अत्यन्त कुलीन वंश की कन्या थीं। इंग्लैण्ड में वे फ़ेबियन सोसायटी में काम करती थीं जहाँ उनके सहकर्मी **जार्ज बर्नार्ड शॉ** थे। शॉ ने लिखा है कि उस समय इंग्लैण्ड में उनके समान ओजस्वी भाषण देनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था।[1] अँगरेजी भाषा पर उनका असाधारण प्रभुत्व था। उनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक वाक्य उच्च साहित्य का वाक्य होता था। ऐसे बहुत-से लोग अभी इस देश में मौजूद हैं, जिन्हें श्रीमती बीसेंट का भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनमें से कितनों ही का कहना है कि जब वे सभा में बोलने को खड़ी होती थीं, तब ऐसा दीखता था, मानों, स्वयं सरस्वती ही आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आ रही हों। उनके भाषण का विषय हिन्दुत्व होता था। काशी में एक बार उनका भाषण सुन कर एक प्रतिष्ठित पंडित ने उन्हें "**सर्व-शुक्ला-सरस्वती**" की उपाधि दे डाली थी।

एनी बीसेंट की भारत-भक्ति

भारत और हिन्दुत्व को श्रीमती बीसेंट एक-दूसरे का पर्याय मानती थीं। अपने एक भाषण में उन्होंने हिन्दुओं से कहा था कि, "भारत और हिन्दुत्व की रक्षा भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं। हम बाहरी लोग आपकी चाहे जितनी भी प्रशंसा करें, किन्तु, आपका उद्धार आपके ही हाथ है। आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें। हिन्दुत्व के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नहीं है। हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भारत-रूपी वृक्ष सूख जायगा। भारत में प्रश्रय पानेवाले अनेक धर्म हैं, अनेक जातियाँ हैं, किन्तु इनमें से किसी की भी शिरा भारत के अतीत तक नहीं पहुँची है। इनमें से किसी में भी यह दम नहीं है कि भारत को वे एक राष्ट्र के रूप में जीवित रख सकें। इनमें से प्रत्येक भारत से विलीन हो जाय, तब भी भारत भारत ही रहेगा। किन्तु, यदि हिन्दुत्व विलीन हो गया तो क्या शेष रहेगा? तब, शायद, इतना याद रह जायगा कि भारत नामक कभी कोई भौगोलिक देश था। भारत के इतिहास को देखिये, उसके साहित्य, कला और स्मारकों को देखिये, सब पर हिन्दुत्व, स्पष्ट रूप से ख़ुदा हुआ है।"

यह दर्द और उत्साह किसी भारतीय में ही हो सकता था। दर्द इसलिए कि इतने सुन्दर देश को मिशनरी लोग यूरोप में बदनाम कर रहे थे। और उत्साह इसलिए कि

---

[1] शॉ के शब्द हैं—Greatest orator in England and possibly in Europe....

श्रीमती बीसेंट मानती थीं कि हिन्दुत्व के जागरण से ही अखिल विश्व का कल्याण हो सकता है। श्रीमती बीसेंट ने भारत में रह कर तो हिन्दुओं को जगाया ही, वे यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया जा कर वहाँ के लोगों को भी हिन्दू-धर्म की गरिमा का दर्शन कराती थीं और उनके इन प्रयत्नों से भारत के विषय में बाहरवालों की उत्सुकता एवं एक प्रकार की अस्पष्ट भक्ति बढ़ती जा रही थी।

श्रीमती बीसेंट ने उन्नीसवीं सदी के भारत का जो हाल देखा था, वह काफी दर्दनाक था। "लोग आस्तिकता और नास्तिकता के बीच झटके खा रहे थे। आधिभौतिकता की बाढ़ के मारे राष्ट्र का जीवन विश्रृङ्खलित हो गया था। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग हक्स्ले, मिल और स्पेंसर के अनुयायी हो रहे थे, किन्तु, अपने साहित्य का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। वे अपने अतीत से घृणा करते थे, अतः, भविष्य के विषय में उनका कोई विश्वास नहीं था। वे अन्धे हो कर अँगरेजों के तौर-तरीकों की नकल कर रहे थे एवं अपने कला कौशल और शिल्प का विनाश करके अँगरेजी असबाबों से अपना घर सजा रहे थे। राष्ट्रीय जोश का उनमें लेश भी नहीं था। राष्ट्रीय जीवन की गति बताने वाली कोई भी क्रिया कहीं दिखायी भी नहीं पड़ती थी एवं यह सन्दिग्ध था कि भारतीय राष्ट्र के हृदय में कोई धड़कन भी शेष है या नहीं।"

कर्नल आलकाट ने सन् १८७९ई० में भारत-पदार्पण के बाद जो पहला व्याख्यान दिया था, उस पर विचार करते हुए 'अमृत बाजार पत्रिका' की टिप्पणी थी कि "जब रोगी ही ऐंठ कर अकड़ गया हो, तब डॉक्टर की सहायता से क्या होगा? भारत का गौरव और अभिमान मृतप्राय है। भारतीयों से भारत के उद्धार की बात करना वैसा ही व्यर्थ है जैसा समुद्र की सिकता को सिखावन देना[1]।"

अखण्ड हिन्दुत्व का समर्थन

मुर्दनी, पस्तहिम्मती और निराशा की इस खाई को भरने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दुओं के भीतर अपने धर्म के प्रति आस्था और अपने इतिहास के प्रति अभिमान जगाया जाय। आखिर, जिस जाति के पास उपनिषद्, गीता और दर्शन, विचारों और भावों का इतना अपार साहित्य मौजूद रहा हो, उसे किसी से लज्जित होने की क्या आवश्यकता थी? यही कार्य ब्राह्मसमाजी और आर्यसमाजी कर रहे थे। किन्तु, उनके कार्यों में एक त्रुटि थी। इन दोनों समाजों के नेता केवल संशोधित हिन्दुत्व का समर्थन करना चाहते थे। किन्तु, केवल संशोधित हिन्दुत्व से समग्र हिन्दुत्व का त्राण नहीं था। आखिर, इस बात का क्या जवाब था कि ब्राह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों के होते हुए भी सारी जनता पत्थर को पूज रही थी, राम और कृष्ण को अवतार मान रही थी एवं पुराणों और पुरोहितों को छोड़ने को तैयार नहीं थी? ब्राह्मसमाजियों का संशोधित हिन्दुत्व ईसाइयत का भारतीय संस्करण हो गया था। उसी प्रकार, आर्यसमाज भी प्रचलित हिन्दुत्व से ईषत् पृथक् दीखता था। ऐसी अवस्था में,

---

[1] 'रिनासाँ आव् हिन्दुइज्म' से।

श्रीमती एनी बीसेंट और उनके समाज को यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने खण्डित नहीं, अखण्ड हिन्दुत्व का वीरतापूर्ण आख्यान किया। उन्होंने केवल वेद, उपनिषद् और गीता का ही हवाला नहीं दिया, प्रत्युत, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र और महाकाव्य, जब जहाँ जो बात मिली, सब के द्वारा हिन्दुत्व के प्रचलित समग्र रूप का समर्थन करना आरम्भ किया। उनके मुख से पुनर्जन्म, अवतार, देवता, योग और अनुष्ठान तथा चौरासी लाख योनियों की बातें सुन कर ऊँघते हुए हिन्दू भी अकचका कर बैठ गये और उनमें से कितनों का हिलता हुआ विश्वास फिर से स्थिर हो गया। और यह भी नहीं है कि हिन्दुत्व के इन रूपों का समर्थन उन्होंने किसी जोश में आ कर किया हो। सन् १९१४ई० में उन्होंने एक भाषण में कहा था कि **"चालीस वर्षों के सुगम्भीर चिन्तन के बाद मैं यह कह रही हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में हिन्दू-धर्म से बढ़ कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नहीं है।"**

भारत की निन्दा करनेवाले यूरोपियनों और भारतवासियों को जैसा मुँहतोड़ जवाब श्रीमती बीसेंट ने दिया, वैसा किसी और से नहीं दिया जा सका। यूरोप के मिशनरी भारत और, विशेषतः, हिन्दू-धर्म के प्रति भयंकर विष का वमन कर रहे थे। उनका प्रतिविष भी भगवान् ने यूरोप से ही मँगाया। यह एनी बीसेंट और मैक्समूलर-जैसे लोगों की ही निष्पक्षता और उदारता का परिणाम था कि मिशनरियों के दंश में कमी आयी और संसार भारत के सात्विक रूप को पहचानने में समर्थ हुआ। सर वैलेनटाइन शिरोल ने, सत्य ही, लिखा है कि "जब अत्युच्च बौद्धिक शक्तियों एवं अद्भुत वक्तृत्त्व-शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन भारत जा कर भारतवासियों से यह कहें कि उच्चतम ज्ञान की कुंजी यूरोपवालों के नहीं, तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारे दर्शन और तुम्हारी नैतिकता की यूरोपवाले छाया भी नहीं छू सकते, तब इसमें क्या आश्चर्य है कि भारतवासी हमारी सभ्यता से पीठ फेर लें?"[1]

राजनीति के क्षेत्र में

सन् १९१४ई० से श्रीमती एनी बीसेंट भारत की राजनीति में भी भाग लेने लगीं। तिलक जी के द्वारा चलाये हुए **होम रूल** आन्दोलन का पक्ष उन्होंने बड़े ही जोर से लिया। इस अपराध में मद्रास-सरकार ने उन्हें सन् १९१७ई० में नजरबन्द कर डाला। इस पर देश में इतने जोर का वावेला मचा कि नजरबन्दी फौरन उठा ली गयी। इसी अवसर पर देश ने उन्हें भारतीय कांग्रेस का सभापतित्व अर्पित किया जिस पद को उन्होंने बड़े ही गौरव से सँभाला। असल में, एनी बीसेंट और एंड्रूज, ये दो अँगरेज ऐसे हुए हैं, जो हृदय से बिल्कुल भारतीय थे।

तीन-चार साल तक एनी बीसेंट राजनीति में भी भारत की परममन्त्रदात्री रहीं एवं इस सुप्त देश में राजनैतिक चेतना जगाने की दिशा में भी उन्होंने बड़ा काम

---

[1] 'इंडियन अनरेस्ट' से।

ा। किन्तु, गाँधीजी के आगमन के बाद से उनका प्रभाव घटने लगा एवं गाँधीजी तौर-तरीकों को नहीं समझ सकने के कारण, वे देश की राजनीति से पीछे छूट गीं। फिर भी, यह सत्य है कि गाँधीजी के आविर्भाव के लिए जमीन तैयार करने-लों में एक अमर नाम श्रीमती एनी बीसेंट का भी है। अथवा हम गाँधी जी के ही द्धों में कह सकते हैं कि "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनी बीसेंट की सेवाएँ भी वित रहेंगी, जो उन्होंने इस देश के लिए की थीं। उन्होंने भारत को अपनी जन्म-मि मान लिया था। उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उन्होंने भारत के चरणों र चढ़ा दिया था; इसीलिए, भारतवासियों की दृष्टि में वे उतनी प्यारी और ज्या हो गयीं।"

थियोसोफ़िस्ट लोगों की संख्या तो नगण्य रही, किन्तु, उनका साथ देनेवाले लोग त ऊँचे विचारक, चिन्तक और साहित्यकार थे। साथ ही, यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय ी। अतएव, उसके द्वारा भारत के पक्ष में, सारे संसार में अच्छा प्रचार हुआ। योसोफ़िस्टों ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में वैसा ही विश्वास भिव्यक्त किया, जैसा विश्वास हिन्दुओं का है। परिणाम इसका यह हुआ कि बहुत-अभारतीयों के द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार होते देखकर उन भारत-सियों की आँखें खुलीं जो इस्लाम और ईसाइयत के प्रभाव में आ कर हिन्दुत्व को ा से देखने लगे थे।

ं नहीं, धर्म की संजीवनी

थियोसोफ़ी कोई स्वतंत्र धर्म नहीं है। यह सभी धर्मों में समन्वय चाहती है। , मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहूदी आदि जो भी चाहे, अपने धर्म को मानते हुए सोफ़िस्ट हो सकता है। थियोसोफी धर्म नहीं, धर्म का आश्रय है। थियोसोफ़िस्ट े के लिए अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि, आवश्यकता यह ी है कि आदमी अपने धर्म में और भी जोर से विश्वास करे। थियोसोफ़िस्ट होकर मान अच्छा मुसलमान, हिन्दू अच्छा हिन्दू और ईसाई अच्छा ईसाई बने, थियो-ी का यही उद्देश्य है। प्रत्येक धर्म में जो उसका असली तत्त्व है, उसे थियोसोफ़ट े विश्वास का उपकरण मानते हैं। धर्म का मुख्य तत्त्व उसका बाह्याचार नहीं, , वह अंश है, जिससे मनुष्य परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करता है। इस प्रकार पर, मुसलमानों में सूफ़ी, ईसाइयों में नॉस्टिक्स (Gnostics) और हिन्दुओं ह्मवादी वास्तविक थियोसोफ़िस्ट हैं। थियोसोफ़ी वह असली गहराई है जिसमें भी धर्म निकले हैं, अतएव, इस आन्दोलन का ध्येय है कि सभी धर्मों में जो तत्त्व न हैं, उन्हें ले कर सभी धर्मों के बीच एकता स्थापित की जाय।

न्नीसवीं सदी में भारत में तीन धर्म आपस में बुरी तरह टकरा रहे थे। अतएव, समय सभी धर्मों की एकता पर जोर देनेवाले इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का न पधारना अत्यन्त मंगलकारी हुआ। ये धर्म एक तो अब भी नहीं हुए हैं, किन्तु, धर्मों में ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो कट्टरता को मनुष्य का दोष मानते हैं, जो /

सच्चे मन से यह प्रयास कर रहे हैं कि धर्मों का पारस्परिक द्वेष-भाव शमित हो जाय। विश्व-बन्धुत्व, तुलनात्मक धर्म और परलोक-विद्या का सन्धान, थियोसोफ़ी के ये तीन उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट हैं। इनमें से केवल परलोक-विद्या के सन्धान को ही बुद्धिवादी लोग व्यर्थ समझते हैं। बाकी दो उद्देश्य तो ऐसे हैं जिनपर पहुँचे बिना विश्व का कल्याण ही नहीं है। विश्व-बन्धुत्व के लिए प्रयास अब सारे संसार में होने लगा है। लक्ष्य दूर अवश्य है, किन्तु, मनुष्य वहाँ पहुँच कर रहेगा। अधीर होने की कोई बात नहीं है। मनुष्य के विकास का कदम धीमा होता है।

धीमी कितनी गति है ? विकास कितना अदृश्य हो चलता है !
इस महावृक्ष में एक पत्र सदियों के बाद निकलता है।[१]

□□□

---

[१] रश्मिरथी, षष्ठ सर्ग।

प्रकरण ६

धर्म के जीते-जागते स्वरूप परमहंस रामकृष्ण

र्य-समाज और ब्राह्म-समाज की सीमाएँ

स्वामी दयानन्द से परमहंस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वयं रामकृष्ण ास नहीं गये थे, परमहंस ही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये । रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार त है—"दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी-बहुत शक्ति त हो चुकी है। उनका वक्ष-स्थल सदैव आरक्त दिखायी पड़ता था। वे वैखरी स्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण- न के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। 'मैं करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखायी ता है।"[1]

बहुत-से बंगाली ब्राह्मसमाजी विद्वान् परमहंस रामकृष्ण के अनुगत थे। ब्राह्म- जियों के सिरमौर केशवचन्द्र सेन तो परमहंसजी के परम भक्तों में से थे। केशवचन्द्र परमहंस रामकृष्ण के आश्रम में, अक्सर, जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब- केशवचन्द्र सेन के घर या उनके ब्राह्म-मन्दिर में पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण -मन्दिर में पहुँचे तो वहाँ उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहाँ जो कुछ , वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है—"ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा, अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान ।' मैं समझा, अब ये लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या? दो में ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से कहीं ईश्वर की न हो सकती है? उन लोगों के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला—'तुममें से बहुतों को नावस्थित देख कर मुझे कैसा लगा, बताऊँ? वहाँ दक्षिणेश्वर में कई बार झाऊतल्ला ओर वानरों का झुण्ड आता है। वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं। देखने- समझते हैं, 'अहा, कितने अच्छे हैं ये! इनको लन्द-फन्द, छलछिद्र, कुछ भी म नहीं है। ये कितने शान्त हैं!' पर, क्या वे सचमुच शान्त रहते हैं? छिः, राम नाम लो। किसके बगीचे में फल लगे हैं, किसकी बाड़ी में ककड़ी और कुम्हड़ा हाँ इमली है, यही सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर कदम हुप करके कूदते-फाँदते वे क्षणार्द्ध में अदृश्य हो जाते हैं और किसी बगीचे में

---

[1] श्रीरामकृष्ण-लीलामृत ; पहला भाग।

धड़ाधड़ कूद कर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहाँ भी मुझे बहुतों का ध्यान वैसा ही दिखायी दिया।"[1]

आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु, उनकी जो कमजोरियाँ थीं, वे रामकृष्ण को ठीक दिखायी पड़ीं। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह संन्यासी प्रचण्ड तार्किक और उद्भट विद्वान् थे और उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता अत्यन्त प्रमुख थी। ब्राह्म-समाज में तार्किकता अधिक नहीं थी तथा भक्ति और उपासना का भी उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु, ब्राह्मसमाजी लोग अपने को जितना भक्ति-विह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुतः, उतनी भक्ति-विह्वलता उनमें थी नहीं।[2] ब्राह्मसमाजियों की भक्ति ज्ञान की नोंक से उठायी हुई चीज थी। उद्देश्य ब्राह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु, अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में, ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु, किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढँकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः, उनका विश्वास हिन्दू-ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती?

इसके सिवा, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रान्त देख कर राममोहन राय, दयानन्द और केशवचन्द्र में यह उत्साह जगा कि हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जाना चाहिये। किन्तु, जब वे रक्षा को तत्पर हुए, तब उन्हें यह दिखायी पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना, जिसका आख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्त्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता, कुछ भी नहीं हैं। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को ले कर बैठ गये। किन्तु, हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है, जो अपार हिन्दू-जनता के हृदय में घर किये हुए हैं। सच पूछिये तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था। यही कारण हुआ कि, यद्यपि, दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू-विचारों की दिशा में महान् क्रान्ति उपस्थित की, किन्तु, हिन्दू-जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिये तो हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बीसेंट ने किया, क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति और गीता, हिन्दुओं के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं यज्ञ और परलोक, सब की ओर से एक समान उत्साह से बोल रही थीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसोफ़ी और

---

[1] १. श्री रामकृष्ण-लीलामृत; दूसरा भाग।

[2] २. ब्राह्म-समाज से प्रेरित काव्य में भी भक्ति और रहस्यवाद का जो रूप उतरा, उसमें सहजता कम, बौद्धिकता अधिक थी।

समाज सिमट कर धनियों और विद्वानों की महफिल में बैठे रहे, तब आर्यसमाज प्रचार समाज के कुछ विस्तृत क्षेत्रों में भी हुआ। किन्तु, जिसको, सचमुच, जनता युक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनों आन्दोलनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हो ता। हिन्दू और थियोसोफ़ी-पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद रहे थे, किन्तु, जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। ओं का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित वाली जाति नहीं हैं। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत ता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मीटी पोथियाँ रच से धर्म किसी की समझ में आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी ट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य है, तु, जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता-जागता रूप कैसा होता है। का यह जीता-जागता रूप उसे तब दिखायी पड़ा, जब परमहंस रामकृष्ण (१८३६-८६ई०) का आविर्भाव हुआ।

त और सन्त का भेद

दयानन्द, राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों में भिन्न । दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्भट पंडित और ब्राह्मसमाजी नेता अँगरेजी ढंग के न् थे। किन्तु, रामकृष्ण, बहुत-कुछ, अपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहन राय र केशवचन्द्र सेन मैदान में इसलिए आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें लगी थी। किन्तु, रामकृष्ण को किसी भी धर्म के प्रति कोई आक्रोश नहीं । दयानन्द, राममोहन और केशवचन्द्र, संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु, कृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने को आश्रम बाहर नहीं गये, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है। पंडित और सन्त में वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है। किन्तु, अनुभूति समुद्र की अन्तरात्मा में ती है। अनुभूति का एक कण कई टन ज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान् है। परमहंस कृष्ण अनुभूतियों के आगार थे और उनके जीवन को देख कर, एक बार फिर, यह हो गया कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान का द्वार उसके सामने स्वयं हो जाता है तथा सारी विद्याएँ उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू-बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब जी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से ये रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास स्पष्ट यी पड़ने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध सघन हो चुका था, किन्तु, दुर्भाग्यवश, तत्कालीन अँगरेजी साहित्य में नास्तिकता

के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था, उनसे भी यह साहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अँगरेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय सुधारकों के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। १. हिन्दू-धर्म की रूढ़ियाँ एवं अन्धविश्वास, २. ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जानेवाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा ३. अँगरेजी पढ़े-लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढंग और साधन अनिवार्य थे, उनका सन्धान इन सुधारकों ने कर लिया था। किन्तु, धर्म, वास्तव में, कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।

फिलासफी नहीं, दर्शन

तर्क और पांडित्य से धर्म प्रमाणित किया भी नहीं जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पांडित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। विशेषतः, हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पंडितों की नहीं, सन्तों और द्रष्टाओं की रचना है। हम फिलासफी को और कुछ नहीं कह कर 'दर्शन' कहते हैं, क्योंकि हमारे दार्शनिक सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे, प्रत्युत, ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से, उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पांडित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये हैं, जिसने धर्म के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया है।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं है, हैं प्रत्यक्ष अनुभव के विषय हैं और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उन्नीसवीं सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत, भारत के शिक्षित नास्तिकों के प्रसंग में उसका यह भी उद्देश्य था कि धर्म पर से शिक्षितों की हिलती हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनायी जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को ले कर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु, इन विवादों से उभय पक्ष में से एक को भी शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरवादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा ले, किन्तु, ईश्वर-सिद्धि के लिए उसके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते हैं और निरीश्वरवादी पंडित भी चाहे जितने तर्क निकाल कर यह सिद्ध करे कि ईश्वर नहीं है, अतएव, धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये; किन्तु, उसके अन्तर्मन में एक विरल शंका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं है? पश्चिम के एक अभिनव विचारक[1] ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर की परिभाषाएँ लुप्त होती जा रही हैं ; मूर्त्तियाँ डगमगा

---

[1] O. B. Frothingham.

हैं और प्रतीक टूट कर बिखरते जा रहे हैं, किन्तु, तब भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व र उभरना चाहता है, वह बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को ता है।" एक अन्य चिन्तक[1] ने भी कहा है कि "तीन कारणों से मैं नास्तिक नहीं हूँ। ला कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढ़िग्रस्त ता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से ात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का घाटन नहीं कर सकती। किन्तु, सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्घाटन ा जाय।"

सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्घाटित नहीं होते। इसके लिए एक विचित्र प्रकार की अपेक्षित होती है जो पंडित नहीं, सन्त के साथ आती है। सहजानुभूति ज्ञान से क शक्तिशालिनी वस्तु है। विज्ञान की छड़ी ने सृष्टि के रन्ध्र-रन्ध्र में प्रवेश करके को यह बता दिया है कि अब कहीं भी कोई तत्त्व अविश्लिष्ट नहीं है। फिर भी, की यह अनुभूति जब कानों में पड़ती है कि "प्रकृति का पर्दा अत्यन्त झीना और है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस पर्दे के तार-तार से झाँक रही है। अय भाइयो! ईश्वर का अस्तित्व है। प्रकृति के केन्द्र में एक आत्मा बसती है; मनुष्य इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य में ईश्वर और का मिलन हो रहा है।" तब भावुक मनुष्य अगोचर अस्तित्व के इस आभास से बिना नहीं रहता।

नहीं, अनुभूति

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी के मूल-तत्त्व को अपने जीवन में साकार करके, मानों सारे विश्व को यह सन्देश कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। परमहंस का जो उपदेश था, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने हिन्दुत्व भी मार्गों की साधना की। यही नहीं, वे कुछ दिन सच्चे मुसलमान बन कर इस्लाम भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने ईसाइयत का भी अभ्यास किया। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बड़ा अधिक उपयोगी समाधान और कोई हो नहीं सकता। क्रम-क्रम से, वैष्णव, शैव, , तान्त्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बन कर परमहंस रामकृष्ण ने यह कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूल तत्त्व कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को चुन सकता है। शान्ति मार्ग से नहीं, अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

---

[1] J. H. Holmes.

धर्म की साकार प्रतिमा

परमहंस रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे जहाँ से सभी धर्म सत्य और, सब-के-सब, समान दीखते हैं; जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती; जहाँ धर्म अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़ कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे जिसके दो-एक छींटों से ही जन्म-जन्म की तृषा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे एवं पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण, दैवी अवतार की भाँति, आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चल कर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफ़िस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आ कर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सब से नवीन पुष्प बन कर चमके और उन्हें देख कर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगाने वाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।

रामकृष्ण में आ कर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान, धर्म की विविध साधनाएँ एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था। किन्तु, रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धर कर खड़ी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अँग़रेजी जानते थे, न वे संस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओं में भाषण देते थे, न अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूँजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम-स्मरण-मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयों में डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु पर गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना की दीक्षा उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली जो स्वयं उनकी कुटी में आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थीं। इसी प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविन्द राय थे जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाइयत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओं में रम कर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी काली के चरणों में उनका विश्वास अचल रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार, रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक

वस्तु की याचना अपनी माँ से करता है, वैसे ही रामकृष्ण भी हर चीज काली से थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नव युग के मनुष्यों के सामने -पन्थी कहानी-सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वयं पुरी जब दक्षिणेश्वर आये, तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य लक्षण देख कर उन्होंने कहा था, "क्या तू अद्वैत की साधना करेगा ?" रामकृष्ण बोले, "मैं कुछ नहीं । माता से पूछ कर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूँगा।" पुरी ने समझा, इसकी, सचमुच की, कोई माँ होगी। किन्तु, रामकृष्ण जब मन्दिर कर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान् आश्चर्य कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है !

हिन्दू-धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परमहंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। इन्द्रियाँ पूर्णरूप से उनके वश में थीं। रक्त और मांस के तकाजों का उनपर कोई न था। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन में निरत रहते थे। रिक सुख-समृद्धि, यहाँ तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई मूल्य नहीं था।

न से विरक्ति

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व निर्मल यंत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श-मात्र से उसमें विचित्र प्रतिक्रियाएँ होने लगती थीं। रुपये, पैसे, सोने-चाँदी आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व, नरेन्द्रदत्त ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते और द्रव्य के स्पर्श मात्र से पीड़ा होने लगती है, इस बात की जाँच करने के लिए उन्होंने एक दिन, चोरी- . परमहंस जी के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया। रामकृष्ण लौट कर बिस्तर पर बैठे तो उन्हें ऐसा लगा, मानों, बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर, कहीं भी कोई चीज नहीं । निदान, उन्होंने बिस्तर हटा कर नीचे देखा तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक पड़ा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल नरेन्द्र अचरज के मारे गम्भीर थे। उनकी शैतानी को लख गये और बोले, "ठीक है रे ; गुरु की जाँच जी भर लेनी चाहिये।"

द्रव्य के प्रति यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया थ में कपड़ा लपेटे बिना वे काँसे के बरतन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, खान-पान मिट्टी के ही बरतनों में चलने लगा था।

मिनी के प्रति अनासक्ति

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ । गृह-त्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और, सच पूछिये तो, विधिवत् उन्होंने

गृह-त्याग किया भी नहीं था क्योंकि, सिद्धावस्था आने पर भी, वे अपने गाँव गये और वहाँ अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिल कर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिये। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिलीं एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर मठ के नौबतखाने में रहती थीं। उन्हीं के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु, पत्नी के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ, यह सभी विवरणों से विदित होता है। श्री रामकृष्ण-लीलामृत नामक जो रामकृष्ण का जीवन-चरित है, उससे अच्छा जीवन-चरित मैंने और नहीं देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है कि "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी ने (रामकृष्ण की पत्नी ने) उनसे एकाएक पूछा,' मुझको आप कौन समझते हैं?' श्रीरामकृष्ण बोले, "जो माता उस काली-मन्दिर में हैं, वही इस शरीर को जन्म दे कर अभी नौबतखाने में निवास करती हैं और वही यहाँ पर इस समय मेरे पैर दबा रही हैं। तू मुझे, सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखायी देती है।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही, चाहे तो, त्याग का भी पावन यन्त्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु, अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वन्द्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे पुण्य की ओर संकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को सम्बोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन,' इसी को स्त्री-शरीर कहते हैं। सारा संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मान कर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रह कर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु, इसके ग्रहण करने से देहासक्ति में सदा के लिए फँस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख। तुझे यह शरीर चाहिये कि ईश्वर चाहिये? यह शरीर चाहिये तो यह देख, वह यहाँ तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर।' ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्यों ही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करनेवाले थे कि उनका मन कुण्ठित हो कर उन्हें गहरी समाधि लग गयी और रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है, "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती तो हमारे संयम का बाँध टूट कर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है?"

नानक और कबीर, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रह कर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किस की क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है। हाँ, कबीर का एक दोहा चलता है :—

नारी तो हमहुँ करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महाविकार।

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो प्रशंसा ही की है। हाँ, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रह कर ही अध्यात्म के पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था।....अब वह अवस्था नहीं रही। अब को बहुत कुछ सिखा-पढ़ा कर इतना कर लिया है कि स्त्रियों की ओर मयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जान कर देखा करता हूँ। तो भी, यद्यपि, स्त्रियाँ के ही अंश हैं, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।"

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से हाँ तक बचता है, यही वह कसौटी है जिस पर भारतीय महापुरुषों की जाँच आयी है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे। उन्होंने पत्नी को अपने साथ दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया, इससे यह भी प्रकट होता है रियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

नाम अनुभूति

रामकृष्ण के अद्भुद् गुणों से आकृष्ट हो कर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और उन्हें घेरे रहते थे। इनमें से ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शंकालु साधु-सन्तों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु, रामकृष्ण के सामने शंकाओं या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखा कर लोगों को करते थे, न किसी से आस्तिकता-नास्तिकता को ले कर विवाद। उनका उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कह कर अपने आचरणों से थे। फिर आँखों-देखी बात पर शंका होती क्यों?

प्रायः, अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु, साधना के बल से वे उस मूल उत्स पर पहुँच गये से सभी ज्ञान उठ कर ऊपर आते हैं, जहाँ से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का होता है। इसीलिए, उनके उपदेश विद्वान् और अविद्वान्, सभी के लिए ग्राह्य हैं। की समझ में आते हैं एवं जिसमें उड़ने की जितनी शक्ति है, वह उन्हें ले कर दूर तक उड़ सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पड़ती थी, तब बड़े-तार्किक अपने-आप में खो कर मूक हो जाते थे। केशवचन्द्र सेन से एक बार राम-कहा, "केशव! तू अपनी वक्तृता के द्वारा सभी को हिला देता है। मुझे भी तो ता।" केशवचन्द्र इस पर नम्रता से बोले, "मैं क्या लोहार की दुकान में सुई बेचने ? आप ही कहते जाइये। मैं सुनता हूँ। आपके ही श्रीमुख की दो-चार बातें मैं बताता हूँ जिन्हें सुन कर वे गद्गद हो जाते हैं। बस, यही मैं करता हूँ।"

सन्त-पद्धति से उपदेश

उनकी विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियों तथा पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परम्परा से भारतीय सन्तों के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्कों का सहारा कम लेते थे, जो कुछ समझाना होता उसे उपमाओं और दृष्टान्तों से समझाते थे। सन्त सुनी-समझी बातों का आख्यान नहीं करते, वे तो आँखों-देखी बातें कहते हैं, अपनी अनुभूतियों का निचोड़ दूसरों के हृदय में उतारते हैं।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, "कामिनी-कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय, तो देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे उसके भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुल कर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं (वैसे), या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीजें हैं, वैसे ही, देह और आत्मा के बारे में जानो।"

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन में वास्तविक महत्त्व है, इस विचार को समझाने के लिए वे कहते, "जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह प्रतिमा पर से ईश्वर की याद आती है।"

"माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है, तब क्या ईश्वर भी हमारे समान ही मायाबद्ध है?" इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते, "अरे, नहीं रे भाई! वैसा नहीं है।....यही देखो न। सर्प के मुँह में सदा विष रहता है। उसी मुँह से व हरदम खाता-पीता है, पर, वह स्वयं उस विष से नहीं मरता।"

मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, इस शिक्षा को समझाने का उनका ढंग यह था कि मनुष्य, मानों, केवल तकिये के गिलाफ हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं, वैसे ही, मनुष्य भी कोई सुरूप, कोइ कुरूप, कोई साधु, कोई दुष्ट होता है। बस, इतना ही अन्तर है। पर, जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार, सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।"

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते, "जब तुम काम करते होओ तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पाँव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।"

संकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, "अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूँ। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।"

तर्कों से वे बहुत घबराते थे। कहते, "शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है, वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फायदा? बागीचों में तुम आम खाने जाते हो, न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्त्ति-पूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को ले कर यह विवाद क्यों चलता है?"

बुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान को भी वे स्थायी महत्त्व नहीं थे। सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। किन्तु, के परे की अनुभूतिवाली भूमि में सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो रीय कृपा का ही एक मात्र प्रकाश बच जाता है। इसलिए, वे कहा करते थे कि में एक काँटा गड़ जाय तो उसे दूसरे काँटे से निकालना होता है। किन्तु, काँटे के जाने पर तो दोनों काँटों को फेंक ही देना चाहिये।

परिपक्व मनुष्य जाति-भेद को नहीं मानता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते ताड़ और खजूर को देखो न! आरम्भ में वे कितने पत्ते लिये रहते हैं। किन्तु, खूब बढ़ जाने पर क्या होता है? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते हैं और कुछ पत्ते ही शेष रह जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशंसा करते हुए वे बोले, "पक्का विद्वान् कभी अहंकार नहीं दिखाता। आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है।"

विद्वत्ता और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे। सन और नैतिकता से विहीन विद्वानों के लिए उनमें आदर का भाव नहीं था। कहना था कि विद्या की बड़ी शक्ति है। लेकिन, केवल विद्या से क्या होगा? बहुत ऊँचा उड़ता तो है, मगर, आँख उसकी बराबर मुर्दे पर लगी रहती है। विद्वान् समुद्र के समान होता है। परन्तु, वरुणदेव को पता ही नहीं कि भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं। बहुत-से अमीर अपने सभी नौकरों के नाम नहीं जानते, न उन्हें यही पता है कि कौन चीजें कहाँ रखी हैं!

संसार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कटहल छूने के पहले उँगली में तेल लगा लिया करो। मन दूध है और दुनिया दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो। तब जो मक्खन निकलेगा, पानी में नहीं घुलेगा।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नहीं होना चाहिये, इस उपदेश को वे यों रखते थे से क्या मिलता है? भोजनं, वस्त्र और मकान। मगर, इनसे ऊँची चीजें धन मिल सकतीं। इसलिए, जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता।

विनोदप्रियता

विनोदप्रियता रामकृष्ण में कूट-कूट कर भरी थी और उनके विनोद मार्मिक होते बड़े ही आनन्ददायी होते थे। एक बार केशवचन्द्र सेन ब्राह्म-समाज की व्यास-प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना करते-करते उन्होंने एक वाक्य कहा कि हे प्रभो! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो। प्रार्थना के बाद, किसी दूसरे रामकृष्ण ने कहा, "अरे केशव! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की बेकार है। तुम्हारे आँगन में तो साड़ियाँ सूखती हैं। तुम्हारे लिए यही उचित समुद्र में एक डुबकी लगा कर फिर बाहर आ जाओ। नहीं तो इन साड़ियों का गा?"

नरेन्द्रनाथ (आगे चल कर विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे। एक दिन एक पद गाते-गाते बोले, "भजन साधन तार करो रे निरन्तर।" रामकृष्ण एकदम बोल उठे—"छि:, ऐसा मत कह। उसके बदले 'भजन-साधन तार करो रे दिने दुबारे' ऐसा कह! अपने को जो कभी करना ही नहीं है, उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब?"

केशवचन्द्र सेन से वे, अक्सर, मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूंछ झड़ गयी है। जब तक पूंछ नहीं झड़ जाती तब तक मेंढक पानी से बाहर नहीं निकलता। पर जब पूंछ झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और पानी से बाहर भी रह सकता है।" कभी कहते "केशव, तुम वह पक्षी हो जिसकी दुम में पत्थर बँधा है। यह पक्षी समाधि में जा सकता है, मगर, बाल-बच्चे उसे नीचे खींच लेते हैं।"

ब्राह्म-समाज बँट कर दो पक्षों में विभक्त हो गया था, किन्तु, उसके दोनों पक्षों के लोग रामकृष्ण के यहाँ आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचन्द्र अपने कुछ अनुयायियों के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुँचे। ऐसी अचानक भेंट हो जाने से दोनों पक्षवालों को संकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में आते ही वे बोले—"सुनिये! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान शंकर और श्रीरामचन्द्र में कुछ विवाद हो गया और दोनों में युद्ध होने लगा। अब शंकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों में पूर्ववत् मैत्री होने में देरी नहीं लगी। पर, शंकर की सेना के भूत-प्रेतों और राम की सेना के वानर-रीछों की मैत्री नहीं हुई। इसीलिए कहता हूँ कि जो होना था, सो हो गया। अब, कम-से-कम, तुम दोनों के मन में तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर वैर-भावना या वैमनस्य नहीं रहे। और यह भाव यदि रहे तो रहने दो अपने वानर-रीछों और भूत-प्रेतों में।"

ऐसा था वह मनुष्य जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनों में शास्त्रार्थ किये बिना, केवल अपने आचरणों और अपनी अनुभूतियों से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का, केवल वेद-उपनिषद्‌वाला ही नहीं, बल्कि, वह रूप भी सत्य है जिसका आख्यान पुराणों एवं सन्तों की जीवनियों में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नहीं, प्रत्युत, उन्हें अपना बना कर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर रामकृष्ण की श्रद्धा एक समान थी। क्योंकि, बारी-बारी से सब की साधना करके उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

मनीषियों द्वारा अभिनन्दन

रामकृष्ण का नाम उनके जीवन-काल में भी दूर-दूर तक पहुँचा था। किन्तु, उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशों को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि संसार के कोने-कोने में उनका नाम गूँज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर एक जीवन-चरित रोम्याँ रोलाँ ने भी प्रकाशित किया। गाँधीजी का वचन

रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं, न्द्र सेन के समय, ब्राह्म-समाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह समाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्राह्म-समाजी साधक विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है कि "श्री रामकृष्ण के दर्शन होने ं, धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। क जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान ।" आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार की एक और उक्ति है जिसके उद्धरण से यह स्पष्ट ता है कि बुद्धिवादी विद्वानों पर रामकृष्ण के व्यक्तित्व का कैसा प्रभाव था। प्रतापचन्द्र ते हैं कि "उनके और मेरे बीच समानता क्या हैं? मैं यूरोपीयकृत, सुसभ्य, अर्ध-क और तथाकथित सुशिक्षित तार्किक व्यक्ति हूँ जिसकी सारी चिन्ता अपने ही त है। और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्त्तिपूजक एवं निस्सहाय भक्त हैं। भला मैं उनकी सेवा में घंटों क्यों बैठा करूँ—मैं, जिसने डिज़रेली और फ़ाकेट के विचार सुने हैं, जिसने स्टानले और मैक्समूलर की विद्याएँ प्राप्त की हैं, ने यूरोप के बीसियों विद्वानों और धर्म-पुरुषों के विचारों का पान किया है? किन्तु, ल मैं ही नहीं, यहाँ तो मेरे-जैसे दर्जनों लोग हैं जो यही करते हैं।....वे (रामकृष्ण) की पूजा करते हैं, शिव की पूजा करते हैं, काली को पूजते हैं और, साथ ही, न में भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमापूजक हैं, किन्तु, निरंजन और कार की पूर्णता का ज्ञान कराने में भी उनसे बढ़ कर कोई और माध्यम नहीं हो ता। उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला से प्रदीप्त रहता है।"[1] □□□

---

[1] "रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ" (लेखक—स्वामी निर्वेदानन्द) में उद्धृत।

प्रकरण १०

कर्मठ वेदान्त, स्वामी विवेकानन्द

गंगा के भगीरथ

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्भुत यंत्र थे। उनकी दृष्टि समाज या व्यक्ति के सुधार पर नहीं थी, न वे इस्लाम या ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आतुर थे। देश में बौद्धिकता के साथ नास्तिकता का प्रचार बढ़ता जा रहा था, किन्तु, रामकृष्ण को इसकी भी चिन्ता नहीं थी। वस्तुतः, संसार से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सब से सुगम मार्ग उन्हें यह दिखायी पड़ा था कि अपने आपको वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गये थे जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं था, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा सकता था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति, पूर्ण रूप से, जाग्रत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर, आप-से-आप, जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गयीं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिये हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उनकी व्याख्या बन कर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू-धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमण्डलु में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डलु से निकाल कर सारे विश्व में फैला दिया।

तन से राजसी, मन से जिज्ञासु

स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ई० की १२ जनवरी को कलकत्ते में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कालेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी०ए० पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों

विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुषत्व से तेजस्वी लक्षण मानते थे ।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांस-पेशियाँ सुपुष्ट थीं । वे कुश्ती, ग, दौड़, घुड़दौड़ और तैरना, सभी के प्रेमी और सब में भलीभाँति दक्ष थे । वे त के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे । इस प्रकार, विवेकानन्द में वे सभी प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो रामकृष्ण को नहीं मिले थे । रामकृष्ण का शरीर ला और कमजोर था । उनके स्वभाव में भी स्त्रीत्व का अंश अधिक था एवं, म्भ से ही, उनमें सात्विकता बहुत उच्च कोटि की थी । इसके विपरीत, विवेकानन्द शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा, आरम्भ से उनके भीतर राजसिकता के भाव थे । विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब, अपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जब कि नाथ संस्कृत और अँगरेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों विद्याओं में परम निष्णात थे । उनमें सहज वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेक-ता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी । उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति न्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसन्धान में लगी रहती है ; जो भी कथन को प्रमाण नहीं मान कर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना ती है तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़ कर और किसी वस्तु हारा नहीं लेती ।

नरेन्द्रनाथ हर्बर्ट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे । वे शेली के सर्वात्मवाद र्ड्स्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हीगेल के वस्तु-निष्ठात्मक आदर्शवाद पर थे । फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत रों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के न्त-त्रय में बड़े उत्साह से विश्वास करते थे । यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा था, और कहते हैं, अपने छात्र-जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड क के समान बातें करते थे । किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरों में उठा करती है, अवतारों र्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठ कर, यह समझना ती है कि सृष्टि है क्या ? जीव सान्त है या अनन्त ? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे ? के पश्चात् हम कहाँ जायेंगे ? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर नियम काम कर रहा है ? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है ? यही आरम्भ में उन्हें ब्राह्म-समाज की ओर ले गयी और वहाँ से निराश होने पर ज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आयी जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन न्तु, जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से ागता रूप ले कर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं ।

श्रद्धा और बुद्धि का मिलन

रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिनपर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्त्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे जिनके कारण अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः, नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गये, तब, असल में, नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण गया था अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का आलिंगन था। इन दो मूर्त्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों से लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मान कर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं का आदर करना चाहती थी। और दूसरी तर्क से उच्छल थी एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़ कर वह प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्यदर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतार कर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व पूर्व और पश्चिम पश्चिम है, तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलेगा और, ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

निवृत्ति की परम्परा

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिये तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म की राजनीति हैं, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पंडितों की है। पंडित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं; बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मान कर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु, इस दगाबाजी से जन-साधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच उतने नहीं होते जितने पंडितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पंडित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत-कुछ उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के स्रष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्त्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम तथा गउओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय

और विद्वान्, दोनों, एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई वैर नहीं था। तब दों का समय आया और पंडितों ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ मोक्ष है, और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते है कि भोग निरे अनादर नहीं है, यदि वह त्याग के साथ किया जाय (तेन त्यक्तेन भुंजीथा)। किन्तु, और बौद्ध धर्माचार्यों ने संन्यास की इतनी महिमा गायी कि सारा समाज संन्यासियों गया। फिर तो, भारत में सदियों तक निवृत्ति-निवृत्ति की भयानक ध्वनि गूँजती और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ, जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति तिशयता मनुष्य को कायर एवं दरिद्र वना देती है। भक्ति-काल में आकर निवृत्ति हर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु, भक्त पंडित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों थे और, यद्यपि, कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कह रहे थे, अन्तर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त ही है। कवीर, नानक और वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसा कर संसार को सम्मान अवश्य किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। आदि निर्गुणवादियों के उपदेश तो, निश्चित रूप से, निवृत्ति को बढ़ावा देनेवाले दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओं ने उसे, सचमुच ही, मान लिया एवं देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनोंदिन कम होती चली । प्रत्येक हिन्दू, माँ के पेट से ही, इस विश्वास को ले कर आने लगा कि परलोक धना सब से श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। ए, कण्ठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी हीं कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं। यह बात है कि धर्म को अफ़ीम कहने वाला चिन्तक यूरोप में जनमा, जब कि धर्म से अधिक विनाश हिन्दुओं का किया है।

तिक राष्ट्रीयता के पिता

नीसवीं सदी के अँगरेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू अपने धर्म के इन कुपरिणामों को ने लगे थे। एक यह भी कारण था कि धर्म पर से उनकी श्रद्धा हटने लगी थी। , जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के दिखायी पड़े। सब से बड़ा कार्य धर्म की पुनः स्थापना का कार्य था। बुद्धिवादी की श्रद्धा धर्म पर से केवल भारत में ही नहीं, सभी देशों में हिलती जा रही अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव को ग्राह्य हो, जो उसकी इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा हिन्दू-धर्म पर, कम-से-कम, हिन्दुओं की श्रद्धा जमाये रखना था। किन्तु, हिंदू यूरोप

के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार न थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिये। राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशव सेन, दयानन्द, रानाडे, एनी बीसेंट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो-कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिसपर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिये।" अरविन्द का वचन है कि "पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्‌गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनैतिक मानसिकता आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामीजी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किन्तु, राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है, उसका लघु अंग मात्र है। स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं; हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे अधिक है। स्वामीजी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में

िक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जनमी है और स्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

गो-सम्मेलन

न् १८९३ई० में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महा-न हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस न में अवश्य जायँगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन म्मिलित हुए। हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामीजी इस न में जा सके; क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार जैसा न तो कभी पहले हुआ था, न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। ँज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से स्वामीजी की अमेरिका-यात्रा उतनी ही सफल हुई, ो पंडित जवाहरलाल नेहरू की रूस-यात्रा (१९५५ई०) समझी जाती है।

स्वामीजी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस विश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे भारत के अँगरेजी पढ़े-लिखे को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही न किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार श्चिम के उन्नत देशों में किया जाय तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे ृथ्वी पर एक नयी कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण नापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिये। नहीं कि स्वामीजी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन ने को आतुर हो उठे हों।

कागो-सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और ग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मंत्र-मुग्ध और, पहले ही , उनके भक्त हो गये। प्रथम दिन तो स्वामीजी को सबसे अन्त में बोलने का इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या ता नहीं था। किन्तु, उसके बाद, सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, भी उन्होंने प्रति दिन सभा के अन्त में ही दिये, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द हेराल्ड' ने लिखा था कि धर्मों की पार्लमेंट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। भाषण सुन लेने पर, अनायास, यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को के लिए धर्म-प्रचारक भेजने की बात कितनी बेवकूफी की बात है।"

कागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामीजी अमेरिका और इंग्लैण्ड में तीन साल गये और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और

वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू-धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उसपर अकेले स्वामीजी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिम जगत् स्वामीजी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुन कर गद्गद हो रहा है, तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँगरेजी पढ़ कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामीजी के शिष्य बन कर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़ कर वे भी स्थिर होने लगे। इस प्रकार, हिन्दुत्व को लीलने के लिए अँगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के रूप में जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-जैसे विशाल वक्ष से टकरा कर लौट गया। **हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।**

यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा

स्वामीजी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्त्व समझाया, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बना कर रखा, जिससे मनुष्य की अधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवनी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौन्दर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामीजी को बहुत पसन्द आयी थीं। किन्तु, यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे उनकी आँखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिये गये अपने एक भाषण में स्वामीजी ने इन दोषों का ऐसा पर्दा फ़ाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी, स्वामीजी ने अमेरिकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना वन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीवों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनैतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामीजी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुल कर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा और शान्ति के लिए स्वामी जी धर्म को आवश्यक मानते थे, अतएव, यूरोप को धर्म से विमुख होते देख कर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश, उसी प्रकार, अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।

ढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर-उठ कर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण या प्रस्तुत की। "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न स्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" अन्ध-विश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त ाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त जीवन की कामना है, और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द, ये निचले स्तर हीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिये। जहाँ ऊँचा स्तर है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। "जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, त्साह भोजन के समय मनुष्य में नहीं दिखायी देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन विज्ञान होता है। किन्तु, आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और का के निवासियों पर स्वामीजी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियों र्भर नहीं करके आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सचाई, निःस्वार्थता और प्रेम कास करे तथा बाद को अन्य गुणों का।

तको प्रवृत्ति का उपदेश

यूरोप और अमेरिका में भोग की सामग्रियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। इस स्वामीजी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग व के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गये थे। अतएव, भारत-यों को उन्होंने जो उपदेश दिया, वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत, उन्होंने के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा, उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके ने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्म-मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया। गो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामीजी ने ईसाइयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की, "तुम ईसाई लोग मूर्त्तिपूजकों की आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-भेजने को बहुत ही आतुर दीखते हो, किन्तु, इन मूर्त्तिपूजकों को शरीर की की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो? भयानक दुर्भिक्षों के समय भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात

नहीं है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशियावालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रन्थ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामीजी के पास गया और बोला, "स्वामीजी! मुझे गीता समझा दीजिए।" स्वामीजी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक क्षेत्र फुटबॉल का मैदान है। जाओ, घण्टे भर खेल-कूद लो, गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द संसार में घूम कर देख चुके थे कि नयी मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखायी दिये। अतएव, भारत में उनके अधिकांश उपदेश उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गये। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु संन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे, न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग, अनिवार्यतः, शाक-भोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहें और मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि संन्यासियों को मांस-मछली खानी चाहिये या नहीं, स्वामीजी ने कहा, "हाँ, निन्दा का भय माने बिना मांस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीनेवाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह और कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्व की पहचान हैं। इसके विपरीत, तमस का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है।.... कौन भोजन शुद्ध और कौन अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे अथवा इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियों और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शम्पाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्राह्म-तेज इनके समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिये।" "मृत्यु का ध्यान करो। प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आयेगा।....सम्भव हो तो जीवन को छोड़ कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र-शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत करना था। जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामीजी की अहिंसा और भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, धर्मों और आचारों से ता की वृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामीजी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। ए, बुद्ध की अहिंसा की, स्वामीजी ने, कभी भी खुल कर प्रशंसा नहीं की, बल्कि, ार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे "भयानक दुर्बलता ुपा विद्यमान है।" स्वामीजी न तो धर्म-युद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिये। किन्तु, को, कदाचित्, वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे भक्त ने पूछा कि "महाराज! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिये?" स्वामीजी ने तड़ाक से उत्तर दिया, ? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिये, तुम्हारी भुजा में विजय की शक्ति वर्त्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे जिनकी अनुभूतियों से धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं, प्राचीन दर्शन की परतें छूट कर गिर जाती हैं से लगे विचार धुल कर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें अथवा धर्म उन्हें निर्धन गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक क्योंकि वे सब-की-सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं, वह सभी जीवों के योग क नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की में अपने आपको लगा दें। **जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना** नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन में घृत जलाना अमा-नुषिक कर्म है। "संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है।" "मेरे का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है जो परलोक में आनन्द देने के इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में है, जो माँ-बाप से विहीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" नामक सन्थाल को भोजन करा कर उन्होंने कहा था, "तुम साक्षात् नारायण हो। मुझे सन्तोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, "वास्तविक की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" ना, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखानेवाले दर्शनों के स्वामीजी प्रचण्ड थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। "भारत

को एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से, मर चुके हैं।"

मातृजाति के प्रति उदारता

स्वामीजी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक बृहत् मठ भी उन्होंने खड़ा किया था एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीच हो सकता है। "मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसीके सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे कि "ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में, उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया था।

एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज ! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसीलिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामीजी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु वे बोले, "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सब में एक ही आत्मा निवास करती है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु, कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है ? स्मृतियाँ रच कर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़ कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बना कर छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया, तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है। संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक त्रिया-जाति की वेदनाओं और पीड़ाओं का प्रश्न है, स्वामीजी को भारत और यूरोप, दोनों ही महादेश आँसुओं से सिक्त दिखायी पड़े थे। स्वामीजी ने कहा था, विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएँ रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।

ब्राह्मण-रूपी सर्प

स्वामीजी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनैतिक थे। किन्तु, बहुत-से कारण ऐसे

जिनका सम्बन्ध धर्म से था । अतएव, स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख कर करना आरम्भ किया और स्था में उन्होंने कड़ी-से-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं । "शक्ति का केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिये । जब उससे पाप का समर्थन किया है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से 'ब्राह्मण' भारतीय संस्कृति का थातीदार है। अब उसे इस संस्कृति को सब के पास विकीर्ण कर देना चाहिये । उसने इस को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण हो सका । ब्राह्मण ने संस्कृत के भण्डार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए, हजारों साल तक जो भी जातियाँ में आती रहीं, हम उनके गुलाम होते गये । हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की ता रही है । भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के जाने दो । और चूंकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए, प्रायश्चित्त भी पहले उसीको करना है । साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही कर फिर से अपना जहर चूस ले । भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने । यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा ।"

का मंत्र

और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को ले कर है, स्वामीजी ने उससे पैदा होनेवाले खतरों पर भी विचार किया था । इस में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को होता है तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हैं । इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी । एक तो देश में का भेद आप-से-आप समाप्त हो जायगा । दूसरे, सभी वर्णों के लोग ब्राह्मण-को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जायँगे । जी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जायँ; सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत-भाषा के ज्ञान से मिलती है । जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठावाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिये ।

नीय एकता का महत्त्व स्वामीजी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में "अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार बनो । प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के रहे हैं । मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन । मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है । किन्तु, द्रविड़ और आर्य, और अब्राह्मण, इन तुच्छ विवादों में पड़ कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायगी, तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर जायगा । स्मरण रखो कि शक्ति-संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत

का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक-मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु, मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भलीभाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामीजी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर दे कर कहा कि "हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं। किन्तु, यदि कोई विदेशी आ कर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गयी है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़ कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़ कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकाल कर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी हैं। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में हैं। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़ कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

यह अकरणीय है

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भाग कर गुफा में नाक-कान दबा कर प्राणायाम करने की परम्परा की, भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। "आधा मील की खाई तो हमसे पार नहीं की जाती, मगर, हनूमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं। यह होने वाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाय, यह गलत बात है। यह असम्भव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्म-संकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष तथा संध्या समय बैठ कर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है! तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से हो कर तुम्हारे पास चले आयेंगे? क्या यह भी कोई मजाक है? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है, वह है चित्त-शुद्धि और चित्त-शुद्धि कैसे होगी? सबसे पहली पूजा विराट् की होनी चाहिये, उन असंख्य मानवों की, जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिये। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद के बदले, तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु, फिर भी हमारी आँख नहीं खुलती।"

म से विनिमय

ांधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील है कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दुःखी, किन्तु, यूरोप एवं असन्तुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिये अनेक दुर्गतियों को झेलता ा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु, उच्च जीवन की ने, मानो, मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की ौतिकता को ग्रहण करे और, इस प्रकार, ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को नहीं आये। इसी प्रकार, यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा है, उसे जग कर सचेष्ट होना चाहिये। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया ति से आयेगा। स्वामीजी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की कि का धर्म आदान-प्रदान है। “क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिम वालों ों के पास बैठ कर सब-कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल रहेंगे? देना हमें कुछ भी नहीं है? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते ौर भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे है। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गन्दगी ष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। इसलिए, ा को छोड़ कर हमें वाहर निकलना है। पश्चिमवालों से हमें एक विनिमय है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और, वदले में, साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं ौर समानता वहाँ आयेगी कहाँ से, जहाँ एक तो वरावर गुरु बना रहना चाहता दूसरा उसका सनातन शिष्य?”

ंगत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामीजी भ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि संसार पर धीर और न्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नहीं। “हिन्दू-ी महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नहीं है। राज-हत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, आगे होनेवाला है।” हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-ी सर्वांगीण उन्नति में हिन्दुओं को अपना अंशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क ही प्रदान करना होगा।

ीजी के समय में ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राज-क्ति का आगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी

स्वामीजी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटा कर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

भारत को स्वामीजी ने यह भी सुझाया था कि यूरोप में गरीबी और पाप सहगामी माने जाते हैं। किन्तु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सब से बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण

हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छह महीनों तक, विधिवत्, मुसलमान हो कर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु, भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्रायः, सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं के विश्वास से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू-विचार प्रविष्ट हो गये हैं। विख्यात मुगल सम्राट अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माई मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामीजी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौट कर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोच कर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्त्तियों को क्यों भ्रष्ट किया ? किन्तु, आज माता (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोच कर तू क्यों दुःखी होता है ?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामीजी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती हैं, किन्तु, इस्लाम, मुख्यतः, भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पन्थ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्ति-मार्ग से उसका कोई विरोध नहीं था। इसलिए, स्वामीजी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ई० में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था कि **"हंमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिल कर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"**

भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राम-हन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू-धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत थी, वह विश्व-धर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी । मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक ातन्त्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रख कर भी धर्म-च्युत नहीं होने की योग्यता, न्दू-धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं । हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, कारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है र बुद्ध का भी । उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और पौरुषेय भी । विश्वासों यह जो प्रचण्ड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता । हिन्दू जन्म से उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँक कर पहुँचाने में वह श्वास नहीं करता । जब थियोसोफ़िस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब न्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया । और रामकृष्ण ने तो, ी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान हो कर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव ना नितान्त अज्ञता की वात है ।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार ा। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु, देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने विधियाँ अनेक हैं । इसी प्रकार, धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश सके भी अनेक रूप हैं । भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनके विषय में ोजी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल वर्दाश्त करना नहीं है । ये सभी हमारे अपने धर्म हैं, इस भाव से, उन सब को हमें अपना लेना है ।

मिक एकता पर विचार

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय, इसका समाधान नहीं मिलता । प्राचीन में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिये । इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म गोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया । शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका य कर लिया जाय । किन्तु, उस सम्मेलन में स्वामीजो ने अपना जो विचार रखा, सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे । उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, वात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है । इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद से प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा । किन्तु, इतना कहना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और धर्मों का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा कि बन्धु ! तुम्हारी आशा पूरी होगी । क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ ? भगवान करे कि

स्वामीजी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटा कर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

भारत को स्वामीजी ने यह भी सुझाया था कि यूरोप में गरीबी और पाप सहगामी माने जाते हैं। किन्तु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सब से बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण

हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छह महीनों तक, विधिवत्, मुसलमान हो कर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु, भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्रायः, सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं के विश्वास से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू-विचार प्रविष्ट हो गये हैं। विख्यात मुगल सम्राट अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माई मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामीजी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौट कर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोच कर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्त्तियों को क्यों भ्रष्ट किया ? किन्तु, आज माता (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोच कर तू क्यों दुःखी होता है ?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामीजी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती हैं, किन्तु, इस्लाम, मुख्यतः, भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पन्थ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्ति-मार्ग से उसका कोई विरोध नहीं था। इसलिए, स्वामीजी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ई० में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था कि "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिल कर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राम-हन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू-धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत थी, वह विश्व-धर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक तन्त्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रख कर भी धर्म-च्युत नहीं होने की योग्यता, न्दू-धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, कारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है र बुद्ध का भी। उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और पौरुषेय भी। विश्वासों वह जो प्रचण्ड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँक कर पहुँचाने में वह श्वास नहीं करता। जब थियोसोफ़िस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब न्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो, चारी से मुसलमान और क्रिस्तान हो कर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव ना नितान्त अज्ञता की बात है।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार ा। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु, देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार, धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश नके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनके विषय में मीजी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल वर्दाश्त करना नहीं है। ये सभी हमारे अपने धर्म हैं, इस भाव से, उन सब को हमें अपना लेना है।

मिक एकता पर विचार

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिये। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म ोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत चारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका य कर लिया जाय। किन्तु, उस सम्मेलन में स्वामीजी ने अपना जो विचार रखा, से सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद से प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु, इतना कहना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और धर्मों का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा कि बन्धु! तुम्हारी आशा पूरी होगी। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ? भगवान करे कि

ऐसा न हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जायें? ईश्वर न करे कि ऐसा हो। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु, इनमें से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिकता की, पूर्ण रूप से, रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु, जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामीजी व्यक्ति और समाज, दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है, ठीक वैसे ही, जैसे विज्ञान से उठनेवाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर नहीं हो कर उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामीजी का विचार था कि "धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिये था, उस ढंग से वह लागू किया हीं नहीं गया है।" हिन्दुत्व अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु, यदि कभी भी कोई विश्व-धर्म-जैसा धर्म उत्पन्न होनेवाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आवद्ध नहीं होगा; जो, परमात्मा के समान ही, अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर तथा सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा, न मुसलमान, प्रत्युत, वह इन सब के योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"

भारत पर अशेष ऋण

विवेकानन्द ने हिन्दू-धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान् है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिये। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करनेवाली है। अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रियाविमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है। भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं है कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं

ंवा। यह भीमाकार देश, फिर से, अपने पाँवों पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आये, रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंसजी ने कहा था, "जिस एक शक्ति के कर्ष के कारण केशव जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, ओ! मुझे मालूम है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवों की दुर्गति का ारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत ता है। किन्तु, विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह तो हम भी कह सकते वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास ने रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके नियर हुए। □□□

प्रकरण ११

प्रवृत्ति का उत्थान : लोकमान्य तिलक

प्रवृत्ति-निवृति

यूरोपीय सभ्यता और विचारधारा से भारत का जो सम्पर्क हुआ, उसका सब से कल्याणकारी प्रभाव प्रवृत्ति की दिशा में पड़ा। प्रवृत्ति का अर्थ है 'संन्यास न लेकर मरण-पर्यन्त चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म' करते जाना। प्रवृत्तिवादी विश्व को निस्सार नहीं मानता, न उसका यही भाव होता है कि मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य ध्यान और समाधि है। इसके विपरीत, निवृत्ति का मार्ग संन्यास का मार्ग है, कर्म-त्याग का मार्ग है एवं निवृत्तिवादी यह मानता है कि विश्व माया है, सारहीन है, 'कुछ नहीं' में कुछ का भ्रम है; अतएव, मनुष्य का चरम लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह संन्यास लेकर अपने मोक्ष की खोज करे तथा लोक का त्याग करके परलोक को सुधारने की चेष्टा में मग्न हो जाय। यह पिछला दृष्टिकोण भारत का सब से बड़ा शाप प्रमाणित हुआ और इसी दर्शन में आसक्त रहने के कारण भारतवासियों ने लोक की उपेक्षा कर दी। कहावत प्रसिद्ध है कि जब यूरोपवाले जीवन के व्यूह में प्रविष्ट हो कर रस और आनन्द का उपभोग करते रहे, पूर्व के लोग, विशेषतः भारतवासी अँधेरे में भटकते हुए जीवन के अर्थ की खोज करते रहे हैं।

भारत का वैदिक काल जीवन के प्रति आस्था का काल था। वैदिक आर्य मरणोत्तर आरम्भ होनेवाले जीवन की कल्पना में बहुत ग्रस्त नहीं थे। तब, उपनिषदों का युग आया और समाज में संन्यास की भावना फैलने लगी। किन्तु, उपनिषदों के युग में भी प्रवृत्ति का एक आदर्श जनक के व्यक्तित्व में प्रस्फुटित हुआ, जिसका लक्ष्य यह था कि संसार का कोई भी कर्म इतना गर्हित नहीं है कि उसे करते हुए हम मोक्ष से वंचित रह जायँ। योग को भोग में निहित रखो अथवा यह कि सच्चा योग वही है जो भोग के भीतर भी अक्षुण्ण रहता है, यह जनक के जीवन की सब से बड़ी शिक्षा थी। किन्तु, औपनिषदिक विचारधारा से जब बौद्ध और जैन धर्म निकले, तब उन्होंने संन्यास को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला एवं लोकाराधना का महत्त्व उसी परिमाण में न्यून हो गया। तब के भारतवासी कर्मठता को हीन, गार्हस्थ्य को मलिन तथा संन्यास को देदीप्यमान धर्म समझने के आदी हो गये। बौद्ध और जैन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पड़ा और उसीके फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिद्धि के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हजारों वर्ष तक यही सुनते-सुनते कि गार्हस्थ्य हीन एवं संन्यास उच्च धर्म है, भारत के गृहस्थ भी विचारों से संन्यासी हो गये एवं समाज में फैले हुए अविचारों तथा देश पर आनेवाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा वे सदैव मन्दिरों में आरती सजाने तथा प्राणायामपूर्वक मोक्ष खोजने को अपना महत् कर्म समझने लगे।

जीवन-जय का मार्ग

किन्तु, उन्नीसवीं सदी में जो सांस्कृतिक नवोत्थान हुआ, उससे भारतीयों की आँखें खुल गयीं और वे स्पष्ट देखने लगे कि सम्पूर्ण इतिहास में उनका सबसे बड़ा दोष इसी निवृत्ति की उपासना थी। अतएव, इस नवोत्थान के सभी नेताओं ने यह घोषणा की कि प्रवृत्ति का मार्ग जीवन पर विजय का मार्ग है एवं जो भी निवृत्ति की ओर जाता है वह, वास्तव में, पलायनवादी हो कर जीवन से भाग रहा है। वेदान्त को लोग संन्यास का पन्थ मानते आये थे। किन्तु, स्वामी विवेकानन्द के मुख से वही वेदान्त और कर्म-निष्ठा का समर्थक बन कर उतरा तथा हिन्दुत्व का सारा दर्शन उनकी वाणी में प्रवृत्तिवादी हो उठा। किन्तु, इस दिशा में, दर्शन के स्तर पर, सब से बड़ा काम लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने किया, जिनका, गीता-विषयक ग्रन्थ, **कर्मयोगशास्त्र**, अभिनव हिन्दुत्व का सर्वश्रेष्ठ आचार-ग्रन्थ माना जाता है। वास्तव में, राममोहन से लेकर विवेकानन्द तक भारतीय दर्शन में जो विपुल मन्थन हुआ था, कर्मयोगशास्त्र में हम उसका तर्क-सम्मत दार्शनिक रूप देखते हैं। यह ग्रन्थ हिन्दुत्व की उस अवस्था का परिचायक है, जब यूरोपीय संस्कृति की टकराहट से उठनेवाला कम्पन समाप्त हो जाता है एवं हिन्दुत्व नवीन जन्म ग्रहण करके अपने अनुयायियों को नयी परिस्थितियों से लोहा लेने का उपदेश देता है।

स्वामी विवेकानन्द और तिलक समकालीन थे। किन्तु, स्वामीजी, प्रधानतः, धर्म के मनुष्य थे एवं उनका उद्देश्य मनुष्य-मनुष्य को समीप लाकर विश्व-मानव के जन्म को सम्भव बनाना था। अतएव, विश्व-मानवता के जो गुण उन्हें भासित हुए, उन्हें हिन्दुत्व में प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया से ही उन्होंने हिन्दुत्व का सुधार किया। किन्तु, तिलकजी, प्रधानतः, समाज और राजनीति के पुरुष थे तथा विश्ववाद से उन्हें अधिक प्रेम नहीं था। वे हिन्दुओं की पतनशीलता से दुःखी थे। वे पराधीनता से क्षुब्ध थे। वे हिन्दू-जाति की निवृत्ति-भावना से आकुल और उसकी कर्त्तव्य-विमुखता से अधीर थे। अतएव, गीता की व्याख्या के बहाने उन्होंने समस्त हिन्दू-दर्शन को मथ कर उसे नवीन कर दिया तथा हिन्दू-जाति में वह प्रेरणा भर दी, जिससे मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पाता है, जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निश्चयन में दार्शनिक सूक्ष्मताएँ उसके मार्ग का अवरोध नहीं कर सकतीं तथा जिससे वह परिस्थितियों के अनुसार धर्माधर्म का ठीक-ठीक समाधान कर पाता है। हिन्दुओं की पराजयों में से अनेक का कारण यह था कि व्यवहार और धर्म में द्वन्द्व उपस्थित होने पर हिन्दू किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। तिलकजी ने कर्मयोगशास्त्र के द्वारा हिन्दुओं की यह द्विधा दूर कर दी एवं उन्हें इस योग्य बना दिया कि ऐसे द्वन्द्व के समय वे धर्म के व्यावहारिक पक्ष का सहारा ले सकें।

उपनिषद्, वेदान्त और गीता, ये हिंदुओं के प्रधान ग्रन्थ रहे हैं तथा, समय-समय पर, हिन्दुत्व के भीतर जो भी सन्त और सुधारक उत्पन्न हुए, उनमें से कइयों ने इन तीनों पर टीकाएँ लिख कर हिन्दुत्व को उस दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की,

जिधर वे उसे ले जाना चाहते थे। तिलकजी ने इन तीनों में से केवल गीता को लिया, क्योंकि उपनिषदों और वेदान्त के अपेक्षाकृत पीछे छूट जाने पर भी, गीता का, हिन्दुओं के घर-घर में, प्रचार था और उसकी व्याख्या के द्वारा ही तिलकजी हिन्दुओं के भीतर नयी मानसिकता उत्पन्न करना चाहते थे।

गीता पर निवृत्ति के बादल

बौद्ध धर्म के पतन के बाद, भारतवर्ष में, वैदिक धर्म के जो अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए (जैसे अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैत तथा त्रैतवादी) उनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक-आचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर टीकाएँ लिखी थीं। इनमें से शंकराचार्य-कृत टीकाओं का भारत में व्यापक प्रचार हुआ, प्रत्युत, कहना यह चाहिये कि बौद्ध धर्म के लोप के बाद, हिन्दुत्व का जो रूप प्रचलित हुआ वह वही था, जिसका आख्यान शंकराचार्य ने किया था। किन्तु, शंकर भी वैदिक धर्म के प्रवृत्तिमार्गी रूप को जनता के समक्ष नहीं ला सके। उन्होंने श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक धर्म की रक्षा करते हुए जिन दार्शनिक विचारों को उत्थान दिया, वे निवृत्ति के विचार थे। उन्होंने जिस धर्म को जनता के सम्मुख रखा, वह उपनिषदों का संन्यास-धर्म था। स्मृतियों में गृहस्थ के जो कर्त्तव्य बताये गये हैं, उन्हें शंकराचार्य ने आवश्यक तो बताया, किन्तु, उन्होंने यह भी कहा कि "इन कर्मों का आचरण सदैव न करते रहना चाहिये, क्योंकि इनका त्याग करके, अन्त में, संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका कारण यह है कि कर्म और ज्ञान, अन्धकार और प्रकाश के समान, परस्पर-विरोधी हैं, इसलिए, सब कर्मों और वासनाओं से छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती।"

यही निवृत्ति का मार्ग है और इसी को संन्यास-निष्ठा तथा ज्ञान-निष्ठा भी कहते हैं। शंकराचार्य ने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र की टीकाओं में इसी ज्ञान-मार्ग का निरूपण किया तथा गीता पर जो शांकर भाष्य है, वह भी यही शिक्षा देता है कि गीता का मार्ग संन्यास का मार्ग है, संसार-त्याग और कर्म-न्यास का मार्ग है। गीता जब पहले-पहल लिखी गयी थी तब, शायद, वह संन्यास का समर्थन नहीं करती थी। किन्तु, शंकराचार्य ने उसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की उससे सभी के हृदय पर यह बात बैठ गयी कि गीता का उपदेश केवल योग और ज्ञान का उपदेश है तथा उसमें प्रयुक्त योग का अर्थ सांसारिक कर्म नहीं, केवल साधना और समाधि है। तिलकजी का विचार है कि "गीता के प्रवृत्ति-विषयक रूप को निकाल बाहर करके उसे निवृत्ति-मार्ग का साम्प्रदायिक रूप शांकर भाष्य के द्वारा ही मिला है।"

शंकराचार्य के बाद भी गीता पर कई टीकाएँ लिखी गयीं, किन्तु, किसी भी टीका में यह भाव प्रत्यक्ष नहीं हो सका कि गीता प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन देती है अथवा वह कर्म की विरोधिनी नहीं है। रामानुजाचार्य ने प्रस्थानत्रयी की टीका से यह तो सिद्ध किया कि शंकराचार्य का माया-मिथ्यावाद और अद्वैत-सिद्धान्त, दोनों झूठे हैं, किन्तु, गीता में प्रवृत्ति की प्रेरणा अथवा कर्म के लिए स्थान है, इसे वे भी नहीं स्वीकार कर सके। "शांकर सम्प्रदाय के अद्वैत-ज्ञान के बदले विशिष्टाद्वैत और संन्यास के बदले

भक्ति स्थापित करके रामानुजाचार्य ने भेद तो किया, परन्तु, आचार-दृष्टि से उन्होंने भक्ति को ही अन्तिम कर्त्तव्य माना है। इससे वर्णाश्रम-विहित सांसारिक कर्मों का मरण-पर्यन्त किया जाना गौण हो जाता है और यह कहा जा सकता है कि गीता का रामानुजीय तात्पर्य भी, एक प्रकार से, कर्म-संन्यास-विषयक ही है। कारण यह है कि कर्माचरण से चित्तशुद्धि होने के बाद ज्ञान की प्राप्ति होने पर, चतुर्थाश्रम स्वीकार करके ब्रह्मचिन्तन में निमग्न रहना या प्रेमपूर्वक निस्सीम वासुदेव-भक्ति में तत्पर रहना, कर्मयोग की दृष्टि से, एक ही बात है। ये दोनों मार्ग निवृत्ति-विषयक ही हैं।" इसी प्रकार, मध्वाचार्य ने भी अपने गीता-भाष्य में यह बताया कि, यद्यपि, गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है; अन्तिम निष्ठा तो केवल भक्ति है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर कर्म करना और न करना समान हो जाता है। और यही हाल वल्लभाचार्यजी का रहा, क्योंकि उन्होंने भी पुष्टि-मार्ग में परमात्मा के अनुग्रह को ही सब-कुछ माना एवं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" वाले श्लोक से यह अर्थ निकाला कि भगवदनुग्रह प्राप्त होने पर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

गीता की टीकाओं में महात्मा ज्ञानेश्वर-कृत भाष्य (ज्ञानेश्वरी) का भी बड़ा मान है। किन्तु, ज्ञानेश्वर महाराज का भी यही कहना है कि गीता में सांसारिक कर्मों का समर्थन नहीं है। वह, मुख्यतः, योग का ग्रन्थ है और भगवान ने अर्जुन को, सर्वतोभावेन, योगी होने की शिक्षा दी है। ज्ञानेश्वर स्वयं योगी थे, अतएव, योग को उन्होंने 'पन्थराज' कहा है एवं यह माना है कि गीता की सबसे बड़ी शिक्षा योग ही है।

सारांश यह कि हिन्दू-धर्म के जितने भी आचार्य हुए, उनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि गृहस्थ के कर्म भी धार्मिक कर्म हो सकते हैं अथवा यह कि गृहस्थ भी अपने-आपमें पूर्ण मनुष्य है। परम्परा से एक बात देश में चली आ रही थी कि जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष संन्यास से प्राप्त होता है। स्पष्ट ही, यह सिद्धान्त गृहस्थ के पद को नीचे ले जानेवाला सिद्धान्त है। गार्हस्थ्य को लोग बहुत-कुछ अनिवार्य नता के रूप में देखते थे तथा प्रत्येक गृहस्थ के मन में यह भाव रहता था कि कब उसे सुयोग मिले कि वह संन्यासी हो जाय। भक्तों और योगियों ने संन्यास के स्थान पर भक्ति और योग को अवश्य प्रतिष्ठित किया, किन्तु, जहाँ तक सांसारिक कर्मों का सम्बन्ध था, सभी ने उन्हें त्याज्य ही बताया। योगी और संन्यासी तो प्रत्यक्ष ही गृहस्थ-धर्म से दूर थे। रह गये भक्त, सो, उनमें भी कर्मचेष्टा उद्दामता तक नहीं जा सकती थी, क्योंकि भक्त के हृदय में भी यह कामना तो रहती ही है कि बाल-बच्चों की चिन्ता और सांसारिक कर्मों के जाल से आदमी जितना शीघ्र मुक्ति पाये, उसके लिए उतना ही अच्छा होगा। मूल्यों की दृष्टि से देखें तो संन्यास, भक्ति और योग, ये सभी गृहस्थ के मूल्य को गिरानेवाले थे, क्योंकि, सब-के-सब यह मान कर चलते थे कि गार्हस्थ्य निश्चित रूप से त्याज्य है। हाँ, गार्हस्थ्य को छोड़कर व्यक्ति क्या करे, इस सम्बन्ध में उनके अलग-अलग सिद्धान्त अवश्य थे। एक तो गृहस्थों को संन्यासी बनाना

चाहता था, दूसरा योगी और तीसरा भक्त। किन्तु, कोई भी पन्थ कर्मठ गृहस्थ को योगी, संन्यासी अथवा भक्त के समकक्ष मानने को तैयार नहीं था। यह अवस्था, बहुत-कुछ, उपनिषदों के समय से आ रही थी। बौद्धों ने उसकी तीव्रता को और भी बढ़ा दिया था। तथा शंकराचार्य और उनके बाद के वैष्णवाचार्य, यद्यपि यह सोचते होंगे कि निवृत्ति को ग्राह्य बताकर हिन्दुत्व की वे रक्षा कर रहे हैं, किन्तु दर्शन के भीतर जो विष पहुँच गया था, उससे हिन्दुओं की रक्षा इनमें से कोई भी नहीं कर सका। यह कार्य विवेकानन्द और, उनसे भी अधिक, लोकमान्य तिलक के लिए रुका हुआ था तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुत्व के भीतर प्रविष्ट जिस कालकूट को किसी भी तत्त्वचिन्तक की दृष्टि नहीं देख सकी थी, उसे तिलक की आँखों ने देख लिया। तिलकजी ने उसे केवल देखा ही नहीं, प्रत्युत, अपनी प्रखर बुद्धि से उसे उन्होंने दूर भी कर दिया। इसलिए, **हमारा मत है कि गीता एक बार तो भगवान कृष्ण के मुख से कही गयी। किन्तु, दूसरी बार उसका सच्चा आख्यान लोकमान्य ने किया है।** इन दोनों के बीच की अन्य सारी टीकाएँ और व्याख्याएँ गीता के सत्य पर केवल बादल बन कर छाती रही हैं।

सदियों से चली आती हुई परम्पराओं के विरुद्ध 'गीता-रहस्य' में तिलकजी ने सुस्पष्ट घोषणा की कि गीता का उद्देश्य निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति का प्रतिपादन है। "भारतीय युद्ध का आरम्भ होने के पहले जब कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सेनाएँ लड़ाई के लिए सुसज्जित हो गयी थीं और जब एक-दूसरे पर शस्त्र चलने ही वाला था कि इतने में अर्जुन ब्रह्म-ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बतलाने लगा और विमनस्क होकर संन्यास लेने को तैयार हो गया। तभी, उसे क्षात्र-धर्म में प्रवृत्त करने के लिए भगवान ने गीता का उपदेश दिया है। भगवान श्रीकृष्ण का यह उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन संन्यास-दीक्षा लेकर और वैरागी बन कर भीख माँगता फिरे या लँगोटी लगाकर और नीम के पत्ते खाकर मृत्यु-पर्यन्त हिमालय में योगाभ्यास साधता रहे। भगवान का यह भी उद्देश्य नहीं था कि अर्जुन धनुष-बाण को फेंक दे और हाथ में वीणा तथा मृदंग लेकर कुरुक्षेत्र की धर्म-भूमि में उपस्थित भारतीय क्षात्र-समाज के सामने, भगवन्नाम का उच्चारण करता हुआ, वृहन्नला के समान और एक बार अपना नाच दिखावे।" योग और भक्ति में अकर्मण्यता का जो पुट है, उसकी ओर हिन्दू-जाति का ध्यान पहले-पहल तिलकजी ने ही आकृष्ट किया। ऊपर के उद्धरण में योग और भक्ति पर जो सूक्ष्म व्यंग्य हैं, वे तिलक महाराज के इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य

निवृत्तिवादियों ने हिन्दुओं को पग-पग पर अहिंसा बरतने को कहा था, जीवन के आनन्द से मुख फेर लेने का उपदेश दिया था एवं संसार को निस्सार बता कर, उसके कर्माकर्म से तटस्थ रहने की शिक्षा दी थी। परिणाम यह हुआ कि उच्च मानवता की खोज करते-करते हिन्दू सामान्य मानवता भी खो बैठे। अन्याय का प्रतिकार, पराधीनता का उच्छेदन और स्वाभिमान की रक्षा, ये महान् उद्देश्य हैं, किन्तु, अति

र्मिक मनुष्य के लिए ये कर्म रुचिकर नहीं कहे जा सकते। परोपकार के निमित्त त्म-नाश का वरण यदि श्रेष्ठ कर्म है तो फिर धर्म यही है कि हम पर चाहे जो बीते, न्तु, हम हाथ नहीं उठायेंगे। हिन्दू-जाति इस अति-धार्मिकता के महाजाल में फँसी थी। तिलकजी ने पहले-पहल उसके सामने धर्म का व्यावहारिक पक्ष उपस्थित या और उसे यह बात समझायी कि धर्म वही नहीं है जो स्मृतियों में लिखा हुआ प्रत्युत, योग्य उपायों के द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयास एवं अन्याय का विरोध भी का ही अंग है। "किसी की हिंसा मत करो, नीति से चलो, सच बोलो, गुरु और ड़ों का सम्मान करो, चोरी और व्यभिचार मत करो, इत्यादि", सब धर्मों में पाये नेवाली साधारण आज्ञाओं का यदि पालन किया जाय तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के झगड़े पड़ने की क्या आवश्यकता है? परन्तु, इसके विरुद्ध यह भी प्रश्न किया जा सकता कि जब तक इस संसार के सब लोग उक्त आज्ञाओं के अनुसार वर्ताव करने नहीं ते हैं, तब तक सज्जनों को क्या करना चाहिये? क्या ये लोग अपने सदाचार के रण दुष्ट जनों के फन्दे में अपने को फँसा लें? या अपनी रक्षा के लिए 'जैसे को होकर उन लोगों का प्रतिकार करें?[1] यद्यपि उक्त साधारण नियमों को नित्य प्रमाण-भूत मान भी लें, तथापि, कार्य-कर्त्ताओं को अनेक वार ऐसे मौके आते हैं उस समय उक्त साधारण नियमों में से दो या अधिक नियम एकदम लागू होते हैं। समय 'यह करूँ या वह करूँ' इस चिन्ता में पड़ कर मनुष्य पागल-सा हो जाता अहिंसा धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ माना गया है, परन्तु, अब कल्पना कीजिये कि री जान लेने के लिए या हमारी स्त्री या कन्या पर बलात्कार करने के लिए अथवा रे घर में आग लगाने के लिए या हमारा धन छीनने के लिए कोई दुष्ट मनुष्य में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करनेवाला कोई न तो उस समय हमको क्या करना चाहिये? क्या 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर ऐसे तायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय? या यदि वह सीधी तरह नहीं माने तो यथा- उसका शासन किया जाय? मनुजी कहते हैं:—

गुर्वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।

अर्थात् ऐसे आततायी या दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले, किन्तु यह विचार न रे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है। शास्त्रकार कहते हैं नु० ८।३५०) कि ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करनेवाले को नहीं लगता, ततायी मनुष्य अपने ही अधर्म से मारा जाता है। इस जगत् में ऐसे-ऐसे सूक्ष्म जन्तु जिनका अस्तित्व, यद्यपि, नेत्रों से दीख नहीं पड़ता, तथापि तर्क से सिद्ध है। ऐसे न्तु हैं कि हम अपनी आँखों की पलक हिलावें, उतने ही से उन जन्तुओं का नाश हो ता है। ऐसी अवस्था में यदि हम मुख से कहते रहें कि "हिंसा मत करो, हिंसा करो" तो उससे क्या लाभ होगा? अहिंसा धर्म के साथ क्षमा, दया, शान्ति आदि शास्त्रों में कहे गये हैं, परन्तु, सब समय शान्ति से कैसे काम चल सकेगा? सदा

---

[1] शठम् प्रति शाठ्यं इति तिलकः। शठं प्रत्यपि सत्यं इति गान्धिः। (गांधीसूत्रम्।)

शान्त रहनेवाले मनुष्यों के बाल-बच्चों को भी दुष्ट लोग हरण किये बिना नहीं रहेंगे? “न श्रेयः सततं तेजो, न नित्यं श्रेयसी क्षमा। तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता”।[1]

तिलक और गाँधी

गांधी-युग के भारतीयों को तिलकजी का यह कर्माकर्म-विचार अपूर्ण दीखता है। अपूर्ण इसलिए कि कर्त्तव्य की जिस कल्पना का आख्यान तिलकजी ने किया है, वह बहुत दिनो से संसार में आचरित होती रही है और उसी का यह परिणाम है कि संसार में युद्ध आज भी चल रहे हैं। सभी लोग यदि यही सोचें कि मुझे जो आँखें दिखायेगा उसकी आँखें निकाल लूँगा, तो फिर युद्ध की इति हो चुकी! किन्तु, दूसरा प्रश्न यह है कि व्यक्ति तो दूसरों को अपनी आँखें निकाल लेने दे, किन्तु, क्या समाज को भी उसका अनुकरण करना चाहिये? परन्तु, यदि सभी समाज एक-से उन्मत्त रहे तो विश्व में शान्ति कैसे आयेगी? प्रश्न बड़ा विकट है। यह प्राचीन असिव्रत करने के समान है। यह ज्वालाओं में बैठ कर यह दिखाने का प्रयास करना है कि मैं जल नहीं रहा हूँ। गाँधीजी का प्रयोग नष्ट नहीं हुआ। उससे जो परिणाम निकले हैं, उन्हें पाथेय मान कर स्वतंत्र भारत की वैदेशिक नीति चल रही है। शंकाएँ अब भी हैं। किन्तु, यह प्रयोग बड़ी-बड़ी सम्भावनाओं से भी युक्त है। इसके विपरीत, तिलकजी ने जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था, वह भी अभी नष्ट नहीं हुआ है। भारत के बाहर तो आज भी उसी नीति का बोलबाला है।

ये आज की बातें हैं। किन्तु, जिंस समय तिलकजी का आविर्भाव हुआ, उस समय तिलक के ये उपदेश वीरता, निर्भीकता और सचाई के सब से बड़े उपदेश थे। हिन्दू-जाति लोकमान्य को चिर ऋणी रहेगी कि निवृत्ति का आलस्य छुड़ा कर उन्होंने उसे प्रवृत्ति के पथ पर लगा दिया। जातियाँ जैसे दर्शनों में विश्वास करती हैं, उनका स्वभाव भी वैसा ही हो जाता है, उनका आचरण और साहित्य भी वही रूप ले लेता है। यही कारण है कि जब कि हमारा अधिकांश प्राचीन साहित्य हमें जीवन से विमुख करने का काम करता था, आज का सारा-का-सारा भारतीय साहित्य मनुष्यों को जीवन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहा है।

योग का अर्थ

योग शब्द का सामान्य अर्थ भारत में प्राणायाम और हठ-योग किया जाता था। तिलकजी ने ही यह बतलाया कि योग का अर्थ गीता में कर्म है। “योगी और कर्मयोगी, दोनों शब्द गीता में समानार्थक हैं और इनका अर्थ युक्ति से कर्म करनेवाला होता है। बड़े भारी कर्मयोग शब्द का प्रयोग करने के बदले, गीता और महाभारत मे छोटे-से योग शब्द का ही अधिक उपयोग किया गया है। महाभारत में भी योग और ज्ञान, दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है, ‘प्रवृत्तिर्लक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।’ अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित में यह दिखलाने के लिए कि गृहस्थाश्रम में रह कर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है, जनक का उदाहरण दिया है। जनक के दिखलाये हुए मार्ग का नाम योग है। इसलिए, गीता के योग शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि गीता के अनुसार (३।२०) जनक का ही मार्ग उसमें प्रतिपादित किया गया है।”

□□□

---

[1] गीता-रहस्य।

प्रकरण १२

स्वर्ग का भूमीकरण : महायोगी अरविन्द

हिन्दू-नवोत्थान का विवरण अधूरा रह जाय यदि उसमें अरविन्द की साधना का ेख नहीं हो। किन्तु, उनकी साधना का विश्लेषण आसान नहीं है। भौतिक ान के क्षेत्र में आइन्स्टीन के सापेक्षयवाद की व्याख्या जितनी कठोर है, अध्यात्म के में अरविन्द के अतिमानव और अतिमानस की व्याख्या भी उतनी ही दुरूह सिद्ध है। अरविन्द, आरम्भ में, अँगरेजी के कवि और चिन्तक तथा देश के प्रतापी नैतिक नेता थे। कदाचित्, उनकी आध्यात्मिक साधना, तब भी, भीतर-भीतर, रही थी। वे तेजस्वी पत्रकार भी थे और एक समय उनके पत्र **'वन्दे मातरम्'** ने के भीतर उग्र राष्ट्रीयता के उद्बोधन की दिशा में बड़ा ही अद्भुत काम किया था। देश के जो भी बड़े-बूढ़े नेता जीवित हैं, उनके हृदयों में **'वन्दे मातरम्'** से ही क्ति की पहली हिलकोर उठी थी। अरविन्द पर आतंकवादी होने का आरोप सरकार ने उनपर मुकदमा भी चलाया था। किन्तु, उस मुकदमे से वे निर्दोष े। इसी बीच, उनके भीतर आध्यात्मिक प्रेरणाएँ उद्बुद्ध हो उठीं एवं उन्होंने ीति को छोड़ कर आध्यात्मिक साधनाओं में अपने को मग्न कर दिया।

की पृष्ठभूमि

अरविन्द के आविर्भाव का काल भारत में राष्ट्रीयता के आरम्भिक ताप का काल । यूरोप के आगमन और सम्पर्क से हिन्दुत्व में जो कँपकँपी उठी थी, वह अब खत्म चुकी थी एवं कुछ तो पुरातत्त्व की प्रगति से भारत के उज्ज्वल अतीत के साकार उठने के कारण, और कुछ दयानन्द और विवेकानन्द के द्वारा भारतवासियों में भिमान जगाने के प्रयास से, हिन्दू अब यूरोप के सामने मस्तक झुकाने के बदले, से सिर तानने लगे थे। यह वह समय था जब इटली के राष्ट्रीय नेता मेज़िनी के ार भारत में जोर से फैलने लगे थे और भारतवासियों का भी यह विश्वास हो था कि प्रत्येक जाति का कोई-न-कोई सन्देश होता है, जिसे समग्र विश्व को उसे ही चाहिये। मेज़िनी का कहना था कि जातियाँ जब तक पराधीन रहती हैं, का व्यक्तित्व दबा रहता है तथा जो सन्देश उनके पास निहित हैं, उनकी अभिव्यक्ति धीनता के काल में नहीं की जा सकती। इसलिए, आवश्यक है कि जातियाँ परा- नता से मुक्ति पायें और तब विश्व के निमित्त उनके पास जो सन्देश हैं, उन्हें अपने चरणों के द्वारा अभिव्यक्त करें।

भारतवासी जान चुके थे कि यूरोप की शक्ति और समृद्धि, यद्यपि, श्लाघनीय और य है, किन्तु, वह मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय नहीं हो सकती। मनुष्य का सम्पूर्ण ध्येय अपने चौकोर व्यक्तित्व का निर्माण होना चाहिये, जिससे वह बाहर और भीतर

दोनों जगतों में सम्यक् रूप से अपना विकास कर सके। यूरोप में वाह्य-समृद्धि बहुत काफी थी, किन्तु भीतर से वह रिक्त दीख रहा था। अतएव, भारत के विचारकों में यह चेतना जगने लगी की, हो-न-हो, मनुष्य कि पीड़ाओं का समाधान उसके आभ्यन्तर विकास से होगा और मनुष्य को यह आभ्यन्तर विकास केवल भारत दे सकता है। तभी से, भारत के कवि, विचारक और सन्त यह संकेत देते आ रहे हैं कि यूरोप का अनुकरण हमें काफी सावधान रह कर करना है, कहीं ऐसा न हो कि अपने-आपको यूरोपीय बनाने के प्रयास में, भारतवासी उन मूल्यों को ही खो बैठें जो भारत के अपने मूल्य हैं, जिनका प्रयोग भारत में सदियों से होता आया है और जिनकी ओर चंचलता से पीड़ित विश्व अब भी इस आशा से देख रहा है, मानों, इन मूल्यों की स्वीकृति से उसकी पीड़ाएँ शमित हो सकती हों।

विश्ववाद की कल्पना का सूत्रपात भारत में राममोहन राय ने किया था और विवेकानन्द में आकर यह कल्पना प्रत्यक्ष रूप ले चुकी थी। परमहंस रामकृष्ण ने, बारी-बारी से, इस्लाम, ईसाइयत और हिन्दुत्व के अनेक पन्थों की साधना करके यह अनुभव प्राप्त कर लिया था कि सभी धर्म समान हैं तथा सब के द्वारा मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। वस्तुतः, राममोहन से लेकर रामकृष्ण तक हिन्दुत्व ने अपने भीतर जो संशोधन स्वीकार किया, उससे उसकी प्राचीनता की परतें झर गयी थीं और वह विश्व-धर्म की भूमिका बन गया था। भारतीय सुधारकों की विशेषता यह रही कि हिन्दुत्व का सुधार उन्होंने इस दृष्टि से नहीं किया कि उन्हें केवल भारतीय समस्याओं का समाधान करना था, प्रत्युत, इस दृष्टि से कि हिन्दुत्व का नवीन रूप उपस्थित करके वे समग्र विश्व को यह सन्देश देना चाहते थे कि यदि अपनी विविधताओं में सामंजस्य चाहते हो तो इसका मार्ग वह है, जिसे भारत ने अपनाया है तथा यदि आधिभौतिक समृद्धियों के बीच भी तुम्हारे मन को शान्ति नहीं मिलती तो कुछ उस पन्थ पर भी विचार करो, जिसे हजारों वर्ष से भारतवासियों ने जुगा रखा है।

रामकृष्ण और अरविन्द

श्री अरविन्द पर विवेकानन्द और रामकृष्ण, दोनों का प्रभाव था। किन्तु, अपनी समस्त बौद्धिकता को लिये हुए भी, वे विवेकानन्द से अधिक रामकृष्ण के समान थे। सन्त तो विवेकानन्द भी थे, किन्तु, भगवान का भरोसा करने से अधिक वे मनुष्य के भीतर कर्म-भावना को जगाना चाहते थे। किन्तु, अरविन्द में दिव्य शक्ति के भरोसे काम करने का भाव अधिक था। विवेकानन्द की दृष्टि भारत के आधिभौतिक उत्थान पर थी और उन्होंने धर्म को यह कहकर ग्राह्य बनाना चाहा था कि धर्म आधिभौतिक उन्नति का बाधक नहीं है। आरम्भ में, अरविन्द भी, कदाचित्, यही चाहते थे, किन्तु, साधना-मन्दिर में पहुँचते ही उनकी दृष्टि भारत से निकल कर मानव-जाति पर जा पड़ी और वे उन दुर्बलताओं के मूल में पहुँच गये जिनके कारण मनुष्य शोषण करता है, लोभ में आकर दूसरों को दुःख देता है, दूसरों को अपनी अधीनता में रखता है तथा विविध इच्छाओं की अधीनता में रह कर स्वयं भी दुःखी तथा अशान्त रहता है। विश्व-पीड़ाओं का निदान और समाधान घोषित करते हुए

ने कहा कि "यूरोप की कुशल यह मानने में है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य आध्या- है। इसी प्रकार, एशिया का कल्याण यह स्वीकार करने में है कि जीवन और की भौतिक स्थितियाँ सत्य हैं, क्योंकि उनके बिना जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को में परिणत करने का अधिकार नहीं मिल सकता। मनुष्य की चिन्तन-शक्ति के सब से बड़ी समस्या यह है कि वह इस बात का पता लगाये कि मानव-जीवन म्यक् आदर्श क्या हो सकता है तथा भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य स्थापित करने का उपाय क्या है? मनुष्य के भीतर प्राचीन काल सनातन सत्य गूँजता आया है, उसे अभिव्यक्ति मिलनी चाहिये, जिससे वह आधिभौतिक प्रवृत्तियों को प्रभावित कर सके, उनके भीतर अपनी व्याप्तियाँ सके। मनोवैज्ञानिक आत्मानुशासन तथा आत्म-विकास के गम्भीर साधन क्या ते हैं, इनपर मनुष्य को विचार करना है तथा उनके विकास से अपने मानसिक नोवैज्ञानिक जीवन को इस योग्य बनाना है कि उनके द्वारा जीवन के आध्यात्मिक की अभिव्यक्ति हो सके।"

गत् की एक समस्या

विन्द को सारा विश्व रूपान्तरण की अवस्था से गुजरता दिखायी पड़ा। हा कि इस रूपान्तरण के वेग का केन्द्र, यद्यपि, प्रगतिशील यूरोप है, किन्तु भी इस मन्थनशील विचार-समुद्र की ओर बड़ी ही तेजी से खिंचता जा रहा इस क्रम में पुराने विचार और पुरानी संस्थाएँ टूटती जा रही हैं। "कोई भी जाति अब विश्व से अलग नहीं रह सकती। इस युग की प्रधान समस्या यह नुष्य की भावी प्रगति आधुनिक जगत् की आर्थिक एवं आधिभौतिक वृद्धि के में होगी जो पश्चिम का गुण है अथवा उस आध्यात्मिक संस्कृति और ज्ञान के न में जो बुद्धि से ऊँची और आर्थिक विचारों से श्रेष्ठ है।" अरविन्द आधि- ता का तिरस्कार नहीं करते, न यूरोप की समृद्धियों को ही वे दुर्गुण मानते का मत है कि जैसे सारा संसार बदल रहा है, उसी प्रकार, भारत को भी चाहिये। भारत भौतिक समृद्धि से हीन है, यद्यपि, उसके जर्जर शरीर में आध्यात्मिकता का तेज वास करता है। यह देश यदि पश्चिम की शक्तियों करे और अपनी शक्तियों का भी विनाश नहीं होने दे, तो उसके भीतर से स्कृति का उदय होगा, वह अखिल विश्व के लिए कल्याणकारिणी होगी। में वही संस्कृति विश्व की अगली संस्कृति बनेगी।

की अराजकता

द्धि को विकास का आवश्यक सोपान मानते हुए भी अरविन्द उसे शंका से है। आज की बुद्धि मनुष्य के सारे ध्यान को आर्थिक और भौतिक जीवन पर किये हुए है। परिणाम यह है कि मनुष्य एक प्रकार की सुसभ्य बर्बरता के गर्त्त पर आ बैठा है। मनुष्य के भीतर भविष्य की कल्पना मुरझा गयी है, उसके अध्यात्म की झाँकी नहीं रह गयी है, वह अपने आगे के मार्ग को देखने में

असमर्थ हो रहा है। उसकी मानसिक शक्तियों का प्रबल विकास अवश्य हुआ है, किन्तु ये शक्तियाँ मानव के उस अहं की दासी हो रही हैं जो स्वयं अन्धा है, जो स्वयं अन्धी इच्छाओं और वासनाओं के इशारों पर नाच रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के चरणों पर जो अपरिमेय शक्ति रख दी है, उससे मनुष्य का आधिभौतिक जीवन तो एक हो गया है, किन्तु, उसके आभ्यन्तर जीवन की एकता का मार्ग उसे नहीं सूझ रहा है। उलटे, मनुष्य का सारा जीवन इच्छाओं की बेचैनी और विचारों के कोलाहल से पूर्ण है। संसार में सर्वत्र व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सुख, आनन्द और सन्तोष प्राप्त करने के परस्पर-विरोधी अधिकारों को ले कर आपस में टकरा रहे हैं। संसार में तरह-तरह के नारे सुनायी पड़ रहे हैं और लोग प्रत्येक नारे के लिए मरने और मारने को तैयार हैं तथा सब-के-सब इसी भ्रम में उत्साह दिखला रहे हैं, मानों, उनका आदर्श, सब से महान् हो।

अतिमानस की कल्पना

आदर्श और विचारों की इस अराजकता से विश्व को ऊपर ले जाने का जो मार्ग अरविन्द को दिखायी पड़ा है, वह विकास (इवोल्यूशन) की महान् प्रक्रिया का मार्ग है। अरविन्द यह नहीं मानते कि छोटे-मोटे उपदेशों अथवा आचरण के सामान्य नियमों पर जोर देने से मनुष्य सुधर सकता है। उनका विश्वास है, जिस प्रकार जड़ से जीवन और जीवन से मानस की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, मानस से अब अतिमानस का विकास होना चाहिये। मानस अथवा बुद्धि के स्तर पर मनुष्य यथेष्ट समय तक रह चुका। अब विकास की प्रक्रियाओं में उसे एक और नया कदम उठाना चाहिये। यह कदम जिस स्तर पर पड़ने वाला है, उसका नाम अरविन्द **अतिमानस** का स्तर देते हैं, जहाँ पहुँच कर मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना नहीं पड़ेगा कि प्रत्येक अन्य मनुष्य उसका अपना ही अंश है, प्रत्युत, इस सत्य को वह स्वयं अनुभव कर लेगा।

अतिमानस की कल्पना क्या है, यह बात आसानी से समझायी नहीं जा सकती। यह, कदाचित्, वह अवस्था है जब मनुष्य की जानकारी सूचना की स्थिति से ऊपर उठ जायगी, जब मनुष्य तर्कों से किसी बात को समझने के बदले उसे प्रत्यक्ष रूप से जान लेगा, जैसे हम आँखों-देखी चीज को बुद्धि की प्रक्रिया से समझने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। अतिमानस के उदय होने पर मानस समाप्त हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जड़ से निकल कर जीव-कोटि में आया और सोचने की शक्ति पा कर वह जीव-कोटि से भी ऊपर उठ कर मानव-कोटि में आ गया है। फिर भी, जड़ उसके साथ है और जीव तो वह है ही। किन्तु, उसका व्यक्तित्व पशुओं से भिन्न हो गया है, क्योंकि पशु सोच नहीं सकते और मनुष्य सोच सकता है। सोचने की शक्ति ही मानस है और मानस अतिमानस के भी साथ रहेगा। किन्तु, मानस की शक्तियाँ सीमित हैं और मन अज्ञान की दिशा में भी सोचने का आदी रहा है। अतिमानस की सार्थकता यह होगी कि मनुष्य सोचने में गलती नहीं करेगा, प्रत्युत, कहना यह चाहिये कि उसका प्रत्येक ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का रूप ले लेगा जिससे मन को भूल

का अवसर ही नहीं मिलेगा। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए अरविन्द हैं, "व्यक्तियों में सर्वथा नवीन चेतना का संचार करो ; उनके अस्तित्व के समग्र को बदलो जिससे पृथ्वी पर नये जीवन का समारम्भ हो सके।"

नहीं, सम्बुद्धि

स्पष्ट ही, मनुष्य-समाज को इस स्थिति में ले जाने के लिए उन मूल्यों को कस कड़ने की आवश्यकता है, जिनके प्रतीक धर्म और अध्यात्म हैं। धर्महीन बुद्धि की धना से जो फल निकलते हैं, उनका स्वाद संसार काफी ले चुका। इस आराधना र देर तक लगे रहने का परिणाम सर्व-विनाश होगा। अतएव, अरविन्द मनुष्यों मने दो विकल्प रखते हैं। निरे तर्क और बुद्धि पर आश्रित होने का परिणाम देख लिया। अब कुछ उन सम्भावनाओं की भी परीक्षा करो जिनके पास तक आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जगा कर जा सकता है। बुद्धि सीमित है। वह जब सी वस्तु की परीक्षा करती है, उससे अलग रह कर करती है। इससे वस्तुओं भ्यन्तर सम्बन्धों का उसे पता नहीं चलता और मनुष्य अंश को सम्पूर्ण मान कर र जाता है।[1] अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य चाहे तो इस गलती से बच सकता कि ज्ञान के और भी साधन मनुष्य को सुलभ हैं, जिनमें दैवी शक्ति से एकाकार विश्व के आभ्यन्तर अर्थ तक पहुँचने का मार्ग सबसे सही मार्ग है। बुद्धि के अरविन्द की सबसे बड़ी शंका इस बात को लेकर है कि बुद्धि से अर्जित ज्ञान र का ज्ञान होता है। साथ ही, बुद्धि विश्लेषण की पद्धति पर चलती है एवं का संश्लिष्ट ज्ञान उसे प्राप्त नहीं हो पाता। वस्तुओं के विश्लिष्ट एवं विभक्त अरविन्द सत्य नहीं मानते। उन्हें वे अवास्तविक वास्तविकता का नाम देते सलिए, विज्ञान की उपलब्धियों से उन्हें सन्तोष नहीं है। ये सारी उपलब्धियाँ न के दोष से पूर्ण हैं। असल में, सारा जीवन, निखिल ब्रह्माण्ड एक है और इस का ज्ञान अध्यात्म-पोषित सहज ज्ञान या सम्बुद्धि से ही होता है।

ारत पर अरविन्द को अचल भक्ति का भी कारण यही है कि इस देश में जो और सन्त हुए, उनका सत्यान्वेषण का मार्ग बुद्धि नहीं, सम्बुद्धि का मार्ग था, नहीं, संश्लेषण का मार्ग था। उन्होंने जिस सत्य को प्राप्त किया, सभी की गवाही में प्राप्त किया। केवल तर्क और ऊहापोह को वे अपूर्ण मानते थे

---

[1] 'मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नहीं जानता है, जो जानने की कोशिश तो रता है, किन्तु, असल में कुछ जान नहीं पाता। उसे जो कुछ दिखलायी पड़ता वह धूमिल दर्पण में पड़नेवाली धुँधली छाया के समान है। तब भी, इस क्ति का एक उपयोग है कि वह सांसारिक व्यवहार के प्रसंग में सार्वभौम सत्य एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, सार्वभौम सत्य का न उसे परिचय प्राप्त है, न उसका वह पथ-प्रदर्शन ही कर सकती है।"

(लाइफ़ डिवाइन।)

और सत्य की जब तक पूरी अनुभूति उन्हें नहीं हो जाती थी, वे अपने अनुसन्धानों के परिणाम को विश्व में नहीं सुनाते थे।[१]

भोग और वैराग्य से परे

जिस प्रवृत्ति-मार्ग का आख्यान तिलक और विवेकानन्द ने किया, अरविन्द में भी उसका खंडन नहीं मिलता है। जड़वादी कहता है कि दृश्य के परे और कुछ नहीं है, इसलिए, दृश्य जगत् के सुखों का खुल कर भोग करना ही श्रेयस्कर कार्य है। इसके विपरीत, निवृत्ति-मार्गी मानता है कि दृश्य माया है, वह नश्वर और निस्सार है, तथा सच्चे सुख का देश वह है जो मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है; अतएव, उचित यह है कि हम दृश्य के लोभ में न पड़ें तथा जीवन की जो आवश्यकताएँ छोड़ी जा सकती हैं, उन्हें छोड़ते ही चले जायँ। अरविन्द दोनों की सार्थकता मानते हुए भी, मनुष्य को दोनों से आगे जाने का उपदेश देते हैं। सच्चिदानन्द सर्वत्र विद्यमान है। भेद केवल यह है कि निचले स्तर पर (जड़ तत्त्व में) वह सोया हुआ है, अचेतन अथवा अवचेतन का आवरण लिये हुए है। किन्तु, उसकी अवज्ञा भी सच्चिदानन्द की ही अवज्ञा है। जड़वादी और वैरागी, दोनों के मार्ग सीमित और अपूर्ण हैं। जड़वाद आत्मा के विरुद्ध भूत का विद्रोह है। इसी प्रकार, निवृत्ति या वैराग्यवाद भूत के विरुद्ध आत्मा का विद्रोह कहा जा सकता है। सच तो यह है कि आत्मा का स्वतंत्र हो कर फैलने का दावा उतना ही उचित है, जितना भूत या द्रव्य का यह आग्रह कि वह आत्मा की इस उड़ान का साँचा या आधार बनेगा।

ये कुछ स्थूल बातें हैं जो अरविन्द-साहित्य के पाठकों की पकड़ में आसानी से आ जाती हैं। किन्तु, हमारा विचार यह है कि इतने से अरविन्द की वह महत्ता सिद्ध नहीं होती, जिसका अनुमान उनकी भुवन-व्यापिनी कीर्त्ति से होता है। अरविन्द जनसाधारण के सन्त या दार्शनिक नहीं हैं, न सामान्य पाठक उन्हें अपना कवि ही मान सकता है। वे उन विद्वानों, चिन्तकों और दार्शनिकों के विचारक और सन्त थे जो प्रत्येक देश में वहाँ की जनता के वैचारिक नेता समझे जाते हैं, जो मानवता के नवनीत और विश्व-विचारों के स्तम्भ हैं। अतएव, मनुष्य की समस्याओं का उन्होंने कोई-न-कोई ऐसा समाधान अवश्य उपस्थित किया होगा जो अब तक किसी भी सन्त, साधक या उपदेष्टा को दिखायी नहीं पड़ा था।

विज्ञान की सीमा

मनुष्य की समस्याएँ दो प्रकार की हैं। एक समस्या शरीर की है, जिसका समाधान रोटी और वस्त्र तथा अन्य आधिभौतिक सुविधाएँ मानी जा सकती हैं। किन्तु, सब

---

[१] "भारत में सहज ज्ञान का उद्भव पहले हुआ और बौद्धिक शक्तियों का विकास बाद को, जब दर्शन और विज्ञान रचने का समय आया। वैदिक युग की पीठ पर ही भारत में वह युग आया जिसे हम दर्शन और बौद्धिकता के विस्फोट का काल कह सकते हैं। किन्तु, इस युग में भी विचारों के आधार आध्यात्मिक थे एवं जिन आध्यात्मिक सत्यों को लोग पहले सहज ज्ञान से जान चुके थे, उन्हीं से परिचय, अब वे नये ढंग से, बुद्धि द्वारा कर रहे थे।" ('आर्य' से।)

ार से सुखी मनुष्य भी दुःख, दौर्मनस्य, रोग, शोक, जरा और मरण का शिकार ता है। । इस समस्या का समाधान न तो रोटी और वस्त्र, न मोटर और महल हो ते हैं। प्राचीन और मध्यकालीन विश्व शारीरिक समस्याओं से अधिक अपनी त्मिक समस्याओं को प्रमुख मानता था। इसीसे उस समय अध्यात्म-विद्या का सभी ों में विकास हुआ। तब विज्ञान का उत्थान हुआ और मनुष्य मानने लगा कि जो प्रयोगशाला में परखा नहीं जा सकता, डॉक्टर के स्टेथेस्कोप और सर्जन की छुरी हीं छुआ जा सकता, वह या तो सत्य ही नहीं है, अथवा है तो ऐसा है, जिसकी मनुष्य को ध्यान नहीं देना चाहिये। और विज्ञान ज्यों-ज्यों नयी विजय प्राप्त ता गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक मनुष्य उसके भक्त बनते गये, यहाँ तक कि अध्यात्म-यों को भी आवश्यकता अनुभूत होने लगी कि अपनी बातों को वे, जहाँ तक व हो, विज्ञान की भाषा में रखें। किन्तु, विज्ञान की वृद्धि से भी मनुष्य की शाश्वत याएँ दूर नहीं हुईं। वह आज भी दुःखी है। वह आज भी रोग, शोक, जरा और का शिकार होता है तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि पहले जिन सुखों की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, उन सुखों के शैल पर बैठा हुआ मनुष्य भी चंचल, और अशान्त है तथा उतना अशान्त है जितना पहले के युग में, शायद ही कोई, हो। अतएव, चिन्तकों पर यह प्रतिक्रिया हुई कि मनुष्य की समस्याओं का न विज्ञान भी नहीं है, क्योंकि विज्ञान से शरीर चाहे जितना सुखी हो जाय, रिक सन्तोष में वृद्धि नहीं होती, उलटे, दिनों-दिन उसकी मात्रा घटती जाती है।

टि-समष्टि

भौतिकता, विज्ञान और बुद्धिवाद के विरुद्ध, विश्व भर में जो गहन, गम्भीर चिन्ता फूटी है, अरविन्द उसी धारा के ऋषि हैं। संसार विज्ञान को पा कर धर्म से हो गया था। अब उसे दिखलायी पड़ने लगा कि विज्ञान भी यथेष्ट नहीं है। र के सामने यह समस्या नहीं है कि धर्म और विज्ञान में से हम किसे लें और छोड़ दें, प्रत्युत, उसकी समस्या का रूप यह है कि कौन वह उपाय है जिससे वैज्ञानिक तथा विज्ञान धार्मिक बनाया जा सके।

एक बात और है कि जब से संसार में व्यक्ति और समाज को ले कर द्वन्द्व छिड़ा तब से हमारी प्रत्येक समस्या के साथ यह प्रश्न भी उपस्थित होने लगा है कि धान व्यक्ति के लिए खोजा जाय या समष्टि के लिए। प्राचीन और मध्यकालीन में, प्रायः, प्रत्येक देश के लोग वैयक्तिक मुक्ति को मानव-जीवन का सबसे बड़ा मानते थे। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में जाकर मार्क्स ने कहा कि व्यक्ति की मुक्ति कल्पना हास्यास्पद और निरी मूर्खता, निरे स्वार्थ की बात है। मुक्ति, वास्तव में; ज की होनी चाहिये। मार्क्स की इस घोषणा का विश्व के विचारकों पर ऐसा पड़ा कि वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के बदले समूह को प्रधानता देने । किन्तु, समूह तो निराकार होता है। उसके सुख और दुःख की कल्पना कैसे

की जाय ? समूह दुःखी है, इसका सामान्य अर्थ तो यही होता है कि उसमें रहने वाला व्यक्ति दुःखी है। और समाज सुखी है, इसका भी अर्थ इतना ही होता है कि उसमें रहने वाला व्यक्ति सुखी है। अतएव, भारत में एक नया सन्देश मुखरित हुआ। गाँधी जी ने कहा कि समाज की मुक्ति की कल्पना केवल कल्पना ही हो सकती है। वास्तव में, मुक्ति समाज की नहीं, व्यक्ति की ही होती है। हाँ, वैयक्तिक मुक्ति की खोज का उपाय यह नहीं है कि मनुष्य संसार छोड़ कर वन या गुफा में चला जाय, प्रत्युत, यह कि समाज में रह कर वह उसकी सेवा करे और समाज-सेवा का भी अर्थ समाज में बसनेवाले व्यक्तियों की ही सेवा है।

स्वर्ग का भूमीकरण

अरविन्द इन सभी धरातलों से ऊपर उठे हुए हैं। वैयक्तिक मुक्ति की उन्हें परवाह नहीं है, न वे यही मानते हैं कि मुक्ति मृत्यु के उपरान्त ही पायी जा सकती है। केवल वैयक्तिक मुक्ति की आशा में साधना और समाज-सेवा करने में जो नैतिक दोष है, वे उससे भी भलीभाँति परिचित हैं तथा वैयक्तिक मुक्ति के सन्धान को वे जीवन का बहुत बड़ा आदर्श नहीं मानते। बल्कि, उनका विचार है कि मोक्ष के रू में जिस दिव्य जीवन की कल्पना अब तक होती आयी है, वह इसी देह से भोगा जा सकता है, वह इसी पृथ्वी पर उतारा जा सकता है।

समाज-सेवा का उपयोग चाहे जितना बड़ा समझा जाय, अरविन्द उसे भी मनुष्य की समस्या का मौलिक समाधान नहीं मानते। समाज-सेवा दया का कार्य है, इसलिए वह सत्कर्म माना जाता है। किन्तु, समाज-सेवियों की चाहे जितनी बड़ी सेना प्रस्तुत कर ली जाय, व्यक्ति को वे रोग और शोक सताते ही रहेंगे, जिनसे आक्रान्त हो जाने पर उसे समाज-सेवी की आवश्यकता होती है। उत्तम सरकार, उत्तम शासन, शान्ति-रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और मनुष्यों में सद्गुणों का प्रचार, ये सभी अच्छे और आवश्यक कार्य हैं। किन्तु, वे भी मानव की समस्याओं के अन्तिम समाधान नहीं हैं। इन संगठनों का उतना ही महत्त्व है जितना उन पहरेदारों का जो किसी ऐसे गाँव पर पहरा देते हैं, जिसके निवासी स्वेच्छया उपद्रवों से अलग नहीं रह सकते।

अरविन्द मनुष्यों के स्वभाव में आमूल परिवर्तन चाहते हैं और इसके लिए उन्हें संगठन और सदुपदेश बहुत ही अयथेष्ट लगते हैं। कदाचित्, यही कारण है कि जब अन्य धर्माचार्यों और सन्तों के उपदेश अलग से संकलित मिलते हैं, पांडिचेरी से ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं निकली है जिसमें अरविन्द के उपदेश संगृहीत हों। अरविन्द उपदेशक नहीं, अपने ढंग के अवतार थे, जिनका उद्देश्य अपने भीतर शक्ति जगा कर सब को शक्तिसम्पन्न बनाना था, जिनका उद्देश्य मनुष्य की जाति को बदल कर उसे किसी उच्चतर जाति या स्पेसीज़ में पहुँचा देना था।

अरविन्द की शिक्षा छोटे-छोटे उपदेशों में नहीं, प्रत्युत, कठोर-सुदीर्घ साधना में विद्यमान है। जहाँ कपड़ा फट जाय, वहाँ पैवन्द लगाना आवश्यक हो जाता है और, वैसे, पैवन्द लगाना फटेहाल घूमने से अच्छा काम भी है। किन्तु, अरविन्द, कदाचित,

मानते हैं कि मानवता के वस्त्र बिल्कुल चिथड़े-चिथड़े हो गये हैं और आवश्यक है उसे कोई नया परिधान दिया जाय। यह नया परिधान **अतिमानस की अवतारणा** **अतिमानव का विकास** है। अरविन्द की दृष्टि में मानवता की समस्याओं का चित समाधान यह है कि मनुष्य जिस बौद्धिक स्तर पर बैठा हुआ है, उससे ऊपर कर वह एक नयी भूमि पर अवस्थित होने का प्रयास करे जो अतिमानस की है। आज का मनुष्य जितने भी कलुष और अत्याचार करता है, बुद्धि से प्रेरित कर करता है। और आज के सन्तों, सुधारकों और विचारकों का उपदेश भी यही कि मानवीय बुद्धि को निर्मल बनाओ, उसका कलुष धो डालो मनुष्य के कर्म आप आप सुधर जायँगे।

अरविन्द का ऐसा विश्वास नहीं है। वे बुद्धि से बुद्धि का सुधार करने में विश्वास करते। उनके विचार से यह अन्धकार से अन्धकार हटाने के समान असम्भव है। बुद्धि के कलुष तभी दूर होंगे जब मनुष्य अतिमानस का स्वामी होगा। बुद्धि तु सारा अज्ञान भी रहता है, किन्तु, अतिमानस पूर्ण रूप से प्रकाशित स्थिति है। त, मनुष्य यदि अज्ञान से बचना चाहे तो उसे अतिमानस में प्रवेश करना चाहिये। के अन्य चिन्तकों और विचारकों की प्रक्रिया संशोधन और सुधार की प्रक्रिया है। न्द सुधारों से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी आस्था विकास पर है। जड़ से जीवन जीवन से मस्तिष्क, ये तीन कदम मनुष्य उठा चुका है। मस्तिष्क से ऊपर अति-का देश है। जब तक मनुष्य इस देश में पाँव नहीं रखता, उसका कल्याण होगा।

मानव का स्वप्न

अरविन्द मानव को अतिमानव बनाना चाहते हैं। अतिमानव (सुपरमैन), यह सर्वथा नवीन नहीं है। अरविन्द से पूर्व, जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने अतिमानव की ना की थी। किन्तु उसने यह सोचा था कि अतिमानव दबंग मानव ही होगा जो को मार-पीट कर आगे निकल जायगा। और हुआ भी यही कि नीत्शे की कल्पना नुसार ही जर्मनी में हिटलर का जन्म हुआ। एक दूसरी कल्पना उर्दू और फ़ारसी विख्यात भारतीय कवि इक़बाल में भी प्रस्फुटित हुई। इक़बाल की क़ल्पना का मानव भी व्यक्ति ही है, अतिमानवीय समाज की कल्पना इक़बाल ने भी नहीं की इक़बाल कहते हैं कि औरों से अनूठा और भिन्न होना, यही व्यक्तित्व का गुण है। त, विश्व-ब्रह्मांड में सबसे अनूठा व्यक्तित्व ईश्वर का है, अतएव, सबसे बड़ा व्यक्ति वही होगा जो ईश्वर के अधिक-से-अधिक समान होगा। जो व्यक्ति ईश्वर के क-से-अधिक समान हो, इक़बाल उसे ही, अतिमानव कहते हैं और धरती पर का वे राज्य भी चाहते हैं। उनका विचार है कि प्रजा-सत्ता कोई अच्छी वस्तु है। मनुष्य पर सबसे अच्छा शासन अतिमानव का शासन होता है। वह एक मनुष्यों का धर्म-गुरु और उनका राजा भी होता है। अतिमानव का राज्य पृथ्वी परमेश्वर का ही राज्य होगा। बल्कि, अतिमानव अपना शासन परमेश्वर का न (वाइसरिजेंट) बन कर चलायेगा।

अरविन्द की अतिमानव की कल्पना इन दोनों कल्पनाओं से भिन्न है। वे यह नहीं मानते कि एक व्यक्ति अतिमानव होगा तथा बाकी सभी लोग सामान्य मनुष्य वन कर उसकी अधीनता में रहेंगे, बल्कि, उनका विचार है कि अतिमानस से संवलित सभी मनुष्य अतिमनुष्य हो जायँगे। उनका यह भी कथन है कि अतिमानस, सम्भव है, पहले किसी समूह या व्यक्ति में उतरे। किन्तु, उसके वाद वह फैलता ही जाएगा एवं फैलते-फैलते, एक दिन वह अखिल मनुष्य-जाति को अतिमनुष्यों की जाति में वदल देगा।

संश्लिष्ट योग

तो अरविन्द ने घूम-घूम कर उपदेश देने के वदले अपने को आश्रम में क्यों बन्द कर लिया? यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है। किन्तु, उसका उत्तर भी कम समीचीन नहीं है। अपनी साधनाओं के द्वारा अरविन्द को यह दिखलायी पड़ा कि विकास की दो गतियाँ हैं। एक गति तो यह है कि नीचे के धरातल पर के जीव ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। किन्तु, ऊपर के धरातल पर जो चित्-शक्ति है, वह भी नीचे आना चाहती है। अर्थात्, **परमात्मा की कृपा और मनुष्य के प्रयास, इन दोनों के योग के बिना मनुष्य का विकास नहीं होता।** अरविन्द की यह भी मान्यता है कि एक या अनेक व्यक्ति यदि चाहें तो वे अपनी साधना द्वारा चित्-शक्ति को नीचे उतरने को प्रेरित या बाध्य कर सकते हैं। क्योंकि विश्व के सभी मनुष्यों को साधना और तपस्या में लगाना असम्भव है, इसलिए, अरविन्द ने अपने तथा अपने आश्रमवासी शिष्यों के ऊपर यह भार रखा कि वे साधनापूर्वक दिव्य जीवन को पृथ्वी पर अवतरित होने को बाध्य करें। और इस साधना का जो मार्ग उन्होंने निर्धारित किया है, उसका नाम योग है—वह योग नहीं जो हठयोग का पर्याय है, प्रत्युत, वह योग जिसमें कर्म, ज्ञान, और भक्ति तीनों समाहित हैं। अरविन्द संश्लिष्ट-योग के पक्षपाती हैं, जिसमें साधक अपने कर्मों को निर्मल रख कर तथा सत्य का शुद्ध ज्ञान लिये हुए सम्पूर्ण भावावेग से परमात्मा का चिन्तन और ध्यान करता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के इस संश्लेषण से भी यही शिक्षा निकलती है कि अरविन्द भूत (द्रव्य), जीवन, और मस्तिष्क, इन तीनों को दिव्य बना कर इसी जीवन में दिव्य जीवन की अवतारणा करना चाहते थे।

□□□

प्रकरण १३

भूमि का स्वर्गीकरण : महात्मा गाँधी का प्रयोग

महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओं में प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए सम्भव नहीं दीखता। खान-पान, रहन-सहन, भाव-विचार, भाषा और शैली, परिच्छद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म-कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता भारत में जो भी आचार या विचार प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक पर कहीं-न-कहीं गाँधीजी की छाप है। यहाँ तक कि उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं, जिनकी पोशाक नहीं तो खान-पान में, विचार नहीं तो सामाजिक आचार में, महात्मा गाँधी का प्रभाव मौजूद है। आज का भारत गाँधी का भारत है और गाँधी नाम आज के भारत नाम का पूरा पर्याय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। गाँधीजी के इस व्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए यह सरल कार्य नहीं है कि हिन्दू-नवोत्थान की पृष्ठभूमि पर उनका समग्र रूप आँका जा सके। जन्म और विकास तो उनका सांस्कृतिक नवोत्थान के कारण ही हुआ, किन्तु काल को खींचकर वे अपनी दिशा की ओर ले गये। महापुरुषों के संकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता है। किन्तु, चूँकि प्रकरण यहाँ हिन्दू-नवोत्थान की व्याप्तियों के विश्लेषण का उपस्थित है, इसलिए, उसीके पृष्ठाधार पर हम महात्माजी के विचारों और प्रयोगों को समझने की चेष्टा करेंगे।

अहिंसा भारत में ही क्यों ?

संसार का ध्यान गाँधीजी की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ कि उन्होंने पशु-बल के समक्ष आत्म-बल का शस्त्र निकाला, तोपों और मशीनगनों का सामना करने के लिए अहिंसा का आश्रय लिया। किन्तु, सोचने की बात यह है कि अहिंसा का आश्रय उन्होंने लिया क्यों? क्या इसलिए कि अँगरेजों के विरुद्ध हिंसा का आश्रय लेकर वे भारत को स्वाधीन नहीं कर सकते थे? अथवा इसलिए कि मानव-समाज को वे यह शिक्षा देना चाहते थे कि मनुष्य जब तक पाशविक साधनों का प्रयोग करने को बाध्य है, तब तक वह पूरा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता? पहली बात अहिंसा को किंकर्तव्यविमूढ़ एवं निरुपाय व्यक्ति का साधन बताती है, जिसका अर्थ यह होता है कि तोपें जब हमारे पास नहीं हैं, तब सत्याग्रह ही सही। किन्तु, दूसरी बात अहिंसा को मनुष्य के विकास का साधन बनाती है; उसके रूप को निर्मल बनाने का उपाय सिद्ध करती है।

यह सच है कि गाँधीजी के नेतृत्व में जब भारतवासी ब्रिटेन से संघर्ष कर रहे थे, तब उनमें से अधिकांश का यही भाव था कि अहिंसा साधन भर है, जिसका अवलम्ब हमने इसलिए लिया है कि हिंसक साधनों से अँगरेजों का सामना करने की हमें सुविधा

और सुयोग नहीं है। किन्तु, स्वयं गाँधीजी इस विचार को नहीं मानते थे। अहिंसा को गँवा कर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य थी, किन्तु, उससे भी बड़ा ध्येय मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

गाँधीजी का मुख्य उद्देश्य अपने देशवासियों के कष्टों का निवारण नहीं, प्रत्युत, मनुष्य के पाशवीकरण का अवरोध था। घृणा, क्रोध और आवेश, ये पशुओं को भी होते हैं और वे भी अपने प्रतिपक्षी का सामना उन शस्त्रों से करते हैं, जो प्रकृति की ओर से उन्हें मिले हुए हैं। लेकिन, मनुष्य पशु से भिन्न है, अतएव उचित है कि वह अपने आवेगों पर नियंत्रण लगाये और अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के सुलझाने में उन उपायों से काम ले, जो पशुओं के लिए दुर्लभ, किन्तु, मनुष्य के लिए सुलभ हैं।

प्रश्न उठता है कि गाँधीजी ने ऐसा निश्चय क्यों किया? और अहिंसा का यह प्रयोग किसी अन्य देश में आरम्भ न हो कर भारत में ही क्यों आरम्भ हुआ? बहुत-से लोग इस प्रश्न को यह कह कर टाल देंगे कि यह आकस्मिक बात थी। किन्तु, आकस्मिक बात यह थी नहीं। कहते हैं, सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा की कल्पना अमेरिका के चिन्तक थुरो ने भी की थी और इसकी थोड़ी-बहुत झलक रूस के सन्त-साहित्यकार टाल्सटाय को भी मिल चुकी थी। गाँधीजी थुरो और टाल्सटाय, दोनों के विचारों से परिचित थे। यहाँ अपने देश में भी गाँधीजी से पूर्व, अरविन्द सविनय अवज्ञा और असहयोग का सुझाव देश के सामने रख चुके थे[1]। फिर भी, बात रह जाती है कि इसका प्रयोग सबसे पहले भारत ने ही क्यों किया?

उत्तर स्पष्ट है कि आत्म-बल शारीरिक बल से श्रेष्ठ है, इस सत्य को जितना भारतवासी जानते थे, उतना अन्य देशों के लोग नहीं। थुरो, टाल्सटाय अथवा एमर्सन

---

[1] एक बार श्री गोपालकृष्ण गोखले ने अरविन्द के अनुयायी राष्ट्रवादियों पर यह आक्षेप लगाया कि उनके आशय शान्तियुक्त हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। इसके उत्तर में अरविन्द ने अपने एक भाषण में कहा था कि "हम तो जनता से कह चुके हैं कि शान्तिमय उपायों से स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। हमने कहा है कि अपना सहायक आप होकर हम सविनय-अवज्ञा के साधन से स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। सविनय-अवज्ञा के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यह कि कुछ बातों में हम देश की सरकार से तब तक असहयोग करेंगे, जब तक हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हमें प्राप्त नहीं हो जाता। दूसरा यह कि असहयोग के क्रम में यदि हम पर दमन होने लगे तो उसका प्रतिकार हम हिंसा से नहीं करके कष्टसहिष्णुता, सविनय अवरोध और कानूनी तरीकों से करेंगे। अपने नौजवानों से हमने यह तो नहीं कहा है कि जब अत्याचार हों तब तुम प्रतिशोध लो। हमने तो यही कहा है कि दमन की वेदनाओं का सहन करो।"

(श्री रंगनाथ दिवाकर-कृत 'महायोगी' से।)

र रोम्याँ रोलाँ में इस प्रकार की जब भी कोई भावना जगी, तब उसके पीछे रतीय दर्शन की उत्तेजना काम कर रही थी। यह ठीक है कि थुरो और टाल्सटाय विनय अवज्ञा की कल्पना भारत के किसी बहु-प्रचलित उपदेश को सुन कर नहीं होगी, क्योंकि ऐसा कोई उपदेश राजनीति की भाषा में तब तक भारत में भी लित नहीं हुआ था। किन्तु, सविनय अवज्ञा की कल्पना तक जाने का दर्शन इस में विद्यमान था और इस कल्पना तक वही व्यक्ति जा सकता था, जो या तो रतीय विचारधारा से प्रभावित हो, अथवा अनायास उस प्रकार की चिन्तन-पद्धति आ गया हो जो भारत की पद्धति रही है। थुरो एवं टाल्सटाय के सम्बन्ध में दोनों विकल्प सम्भव रहे होंगे। रह गये अरविन्द, सो वे तो भारतीय थे ही।

चिन्तन, वैसा कर्म

एक प्रकार से देखिये तो जिस नवोत्थान के सांस्कृतिक नेता राममोहन और चन्द्र, दयानन्द और एनी बीसेंट, रामकृष्ण और विवेकानन्द तथा अरविन्द और न्द्र हुए, उसके राजनैतिक नेता महात्मा गाँधी ही हो सकते थे। प्रत्येक महापुरुष समय का परिणाम होता है। काल के हृदय में जो अनुभूतियाँ एकत्र होती हैं, की अभिव्यक्ति के लिए समय कवि, सन्त और सुधारक को जन्म देता है। उन्नीसवीं के आरम्भ से भारत जो कुछ भी सोच रहा था, वह इस दिशा में नहीं था कि वासी भी यूरोप का अन्धानुकरण करके इन्द्रियों के वैसे ही दास हो जायँ, जैसे और सम्पन्न देशों के लोग हैं, तथा वे भी शारीरिक बल की अतिवृद्धि करके अपने को स्वाधीन बनायें और अन्य देशों को जीत कर उनपर राज्य करें। हिन्दू-नवोत्थान शिक्षा कुछ और थी। हमारे सभी नेता और सुधारक, यूरोपीय सभ्यता की ताओं अर्थात् उसकी धन-लोलुपता एवं विलास के निमित्त अन्य राष्ट्रों का शोषण की नीति के विरोधी थे। इसके सिवा, विवेकानन्द-जैसे लोग, यूरोप की हिंसा- णता को भी उसकी संस्कृति का दोष मानते थे। इधर, भारत में राममोहन राय कर विवेकानन्द तक विश्व-प्रेम की जो भावना फैली, वह उच्च मानवता को जना देनेवाली थी। नवोत्थान के सभी नेताओं ने प्रेम को मनुष्य का सब से बड़ा एवं परोपकार को उसका सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। शासकों के प्रति घृणा का ट भाव केवल लोकमान्य तिलक में था और उन्हीं में हम हिंसा का भी यत्किञ्चित् र्शन पाते हैं। बाकी सुधारकों में घृणा और विद्वेष नहीं था, न वे हिंसा का उपदेश वाले थे।

वास्तव में, भारतवर्ष में, राष्ट्रीयता भी संस्कृति की कुक्षि से उत्पन्न हुई थी। ले इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ और लोग इस स्वाभिमान से ने लगे कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं तथा यूरोप में आधि- तिक सुखों का चाहे जैसा भी अम्बार लग गया हो, किन्तु, हम उन मूल्यों के उत्तरा- कारी हैं, जिन्हें ऊँची मानवता वरण करती है। इस चेतना के जन्म ले लेने पर के निष्कर्ष-स्वरूप भारत में राजनैतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। यह भी ध्यान

देने की बात है कि भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के उन्नायक धार्मिक व्यक्ति थे। हिन्दुत्व के धार्मिक पक्ष पर विधर्मियों के प्रहार से चौंक कर यह देश जगा था। अतएव, धार्मिक व्यक्ति ही इस जागरण के आदि उन्नायक हुए। यही कारण था कि उनके अनुसन्धानों और उपदेशों से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वह धर्म के स्तर से नीचे नहीं उतरी, न उसने आधिभौतिक उन्नति के प्रस्ताव को उचित से अधिक महत्त्व दिया। हमारे नवोत्थान की सारी प्रक्रिया का क्रम कुछ इस ढंग का रहा है, मानों, भगवान भारत की आध्यात्मिक साधनाओं को फिर से जीवित करके शेष विश्व के सामने कोई समाधान उपस्थित कर रहे हों। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवोत्थान के भीतर से भविष्य की ओर प्रगति करती हुई भारत की प्राचीन परम्परा ने महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और प्रयोग में अपनी परिणति प्राप्त की ।

ऐसा लगता है, मानों, गाँधीजी के जन्म और विकास को सम्भव बनाने के लिए ही राममोहन राय ने सांस्कृतिक जागरण का आरम्भ किया था। लगभग सौ वर्षों तक इस आध्यात्मिक देश ने जो आत्म-मन्थन किया, पराधीनता की ग्लानि को धोने के लिए अपनी श्रेष्ठ शक्तियों का जो चिन्तन और ध्यान किया, गाँधीजी उसी तपस्या के वरदान बन कर प्रकट हुए। नवोत्थान से प्रेरित भारत अपनी भी स्वाधीनता खोज रहा था और विश्व की समस्याओं का समाधान भी। महात्मा गाँधी ने उसकी दोनों कामनाएँ पूर्ण कीं।

नय नहीं, आचार

गाँधीजी न तो दयानन्द और अरविन्द के समान मेधावी पंडित एवं बहुपठित विद्वान् थे, न उनमें विवेकानन्द की तेजस्विता थी। अपने समग्र जीवन में उन्होंने कोई भी ऐसी बात नहीं कही, जो उनके पूर्ववर्त्ती लोगों ने न कही हो।[1] किन्तु, साधनापूर्वक उन्होंने सभी प्राचीन सत्यों को अपने जीवन में उतार कर संसार के सामने यह उदाहरण उपस्थित किया कि जो उपदेश अनन्त काल से दिये जा रहे हैं, वे सचमुच ही, जीवन में उतारे जाने के योग्य हैं। गाँधीजी से पहले के सन्तों और सुधारकों ने पुस्तकीय ज्ञान के बल पर अथवा अनुभवों के आधार पर जितनी भी अच्छी बातें कही थीं, गाँधीजी ने उन सब पर आचरण करके मनुष्यता को चौंका दिया और उसके भीतर इस आशा को जाग्रत कर दिया कि दुर्बल-से-दुर्बल मनुष्य भी चाहे तो मानवता के चरम-शिखर पर पहुँच सकता है। ज्ञानी संसार में बहुत हुए थे। गाँधीजी ने यह बतलाया कि मनुष्य की सार्थकता जानने में नहीं, करने में है।

धर्म सभी क्षेत्रों के लिए

संसार की बातें तो जाने ही दीजिये, अपने इस धर्मप्राण देश में भी लोग यही समझते आये थे कि जीवन की सारी भूमि धर्म की भूमि नहीं है। उपनिषदों के युग

---

[1] नये सिद्धान्तों को जन्म देने का दावा मैं नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग पर सनातन सत्यों को दैनिक जीवन और समस्याओं पर लागू करने का प्रयास किया है।

(हरिजन, २८ मार्च, १९३६ई०।)

तथा बौद्धों और जैनों के उदय-काल में धर्म को वरण करनेवाला व्यक्ति गृहस्थी ड़ कर संन्यास ले लेता था। उस समय समझा यह जाता था कि गृहस्थ और राजा कर्त्तव्य सदा धार्मिक नहीं हो सकते, न उनका धार्मिक होना अनिवार्य है। धर्म तो विशेष प्रकार की साधना है, जिसका सहारा परलोक के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति लिए लिया जाता है। जब भक्ति का काल आया, तब भी धर्म जीवन-व्यापी कर्त्तव्य स्थान न ले सका। जनक-जैसे योगी का आदर्श पुस्तकों में था, किन्तु, वह अपवाद झा जाता था। उपेक्षा और अपवाद के अन्धकार से उस आदर्श का उद्धार गीता-स्य में तिलकजी ने किया, किन्तु, वे उसका प्रयोग सामाजिक धरातल पर नहीं कर । संसार के अन्य देशों में भी, किसी भी समय, किसी भी सन्त या सुधारक ने धर्म समस्त जीवन और समाज के हर पहलू पर लागू करने का प्रयत्न किया था या , यह नहीं कहा जा सकता। विचार, कदाचित्, कइयों के मन में उठे होंगे, किन्तु, ीजी का महत्त्व यह है कि उन्होंने धर्म को जीवनव्यापी बनाने का दुस्साहसी प्रयोग अपने वैयक्तिक जीवन में ही नहीं, अपने पास आये हुए समाज पर किया। विन्द और गाँधी में यही भेद है। अरविन्द ने मानव-समाज की समस्याओं का यह न किया है कि समस्याएँ मनुष्य की बुद्धि से निकली हैं और इनका समाधान यह मानव-समाज मानस के स्तर से उठ कर अतिमानस की अवस्था में पहुँच जाय। , उनकी अतिमानस की कल्पना क्या है, यह समझने में मनुष्य असमर्थ था। अतः, विन्द और उनके शिष्यों ने अतिमानस की अवतारणा का दायित्व अपने ऊपर लेकर स्या आरम्भ कर दी। निदान तो गाँधीजी का भी बहुत-कुछ वही है, जो अरविन्द है। किन्तु, समाधान में दोनों महात्माओं में भेद है। अरविन्द का समाधान यह कि श्रेष्ठ साधक तपस्यापूर्वक अतिमानसी शक्तियों का भूतल पर आह्वान करें, जिससे ष्य की वर्त्तमान स्पेसीज़ (योनि) बदल जाय। गाँधी जी प्रत्येक मनुष्य के भीतर की भावना जगा कर उसकी पीड़ाएँ दूर करना चाहते हैं।

गाँधीजी ने वार-वार कहा था कि मनुष्य का जन्म धर्म की साधना के लिए होता और स्वयं अपने जीवन का उद्देश्य भी वे धर्म की ही उपासना मानते थे। "मेरा श्य धार्मिक है, किन्तु, मानवता से एकाकार हुए बिना मैं धर्म-पालन का मार्ग नहीं ता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना है, क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यों एकाकार होने की सम्भावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक । समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाय, यह सम्भव नहीं है। मनुष्य में क्रियाशीलता है, वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग ता है, उससे मेरा परिचय नहीं है।"

जीवन और समाज के धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) तत्त्वों के बीच बहुत लों से विभाजक रेखा चली आ रही थी। गाँधीजी ने इस रेखा को मिटा दिया। बीर ने जैसे सहज मार्ग का आख्यान करते हुए कहा था, **"जहँ-जहँ डोलूँ सो परि-र्मा, जो-जो करूँ सो पूजा"**, उसी प्रकार, गाँधीजी ने अपने आचरण से यह सिद्ध कर

दिया कि धर्म किसी खास दिन, किसी लग्न-विशेष का कृत्य नहीं है, प्रत्युत, वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य में विद्यमान रह सकता है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम हो सकती है। शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान, व्यापार और उद्योग तथा सामाजिक आन्दोलन, गाँधीजी सबका आध्यात्मीकरण चाहते थे और इन क्षेत्रों में उन्होंने जो भी प्रयोग किये, उन सबमें उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट था। विवेकानन्द और अरविन्द के समान ही, वे भी मानते थे कि केवल आधिभौतिक विजयों और उपलब्धियों पर अवस्थित सभ्यता न तो शान्तिदायिनी हो सकती है, न उसमें स्थायित्व ही आ सकता है। शान्ति और स्थायित्व उसमें तब आयेगा, जब धर्म से वह पूर्णरूपेण व्याप्त हो जाय। जीवन धर्म से वियुक्त होने पर नीचे गिर जाता है और जब धर्म से उसका मेल होता है, वह ऊपर को उठने लगता है। अतएव, गाँधीजी जीवन के धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष तत्त्वों के बीच कोई भेद रहने देना नहीं चाहते थे।

योग और प्राणायाम, पूजा और होम, यज्ञ और तपस्या तथा संसार से अलग रहकर एकान्त साधना के द्वारा वैयक्तिक मुक्ति खोजने की परम्परा सारे संसार में थी। कुछ लोग ऐसे भी हुए जिन्होंने काव्य और संगीत के माध्यम से अपने मोक्ष की खोज की। किन्तु, गाँधीजी से पूर्व किसी को भी यह नहीं सूझा था कि राजनैतिक आन्दोलन एवं समाज-सेवा के कार्य भी वैयक्तिक मुक्ति के साधन हो सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा जनक के जीवन से अवश्य निकाली जा सकती थी। किन्तु, उस शिक्षा को अपने जीवन में चरितार्थ करनेवाला पुरुष नहीं आया था। लोकमान्य तिलक ने भी गीता-रहस्य में जनक-मार्ग को ही गीता का मार्ग बतलाया था। किन्तु, व्यवहार में उस मार्ग को प्रत्यक्ष करने का काम गाँधीजी के लिए रुका हुआ था। जब उन्होंने अपना प्रयोग आरम्भ किया, संसार आश्चर्य से चकित रह गया।

गाँधीजी का यह प्रयोग भारतीय परम्परा के फिर से जी उठने का स्वाभाविक परिणाम था। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द, लोकमान्य और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया था, उसे कार्य में परिणत करनेवाले पुरुष गाँधीजी ही हो सकते थे। उनकी मान्यता थी कि मुक्ति तो व्यक्ति की ही होती है, किन्तु, उसे खोजने का मार्ग कर्मन्यास अथवा वैराग्य नहीं है, प्रत्युत, सबकी मुक्ति के लिए श्रद्धापूर्वक कष्ट सहने से ही व्यक्ति अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। "मैं सत्य का विनम्र सेवक हूँ। मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करने को अधीर हूँ। मैं इसी जीवन में मोक्ष चाहता हूँ। मेरी राष्ट्र-सेवा मेरी आध्यात्मिक साधना है, जिसके द्वारा मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त करना चाहता हूँ। विश्व के नश्वर राज्य की मुझे कामना नहीं। मैं तो उस स्वर्ग-राज्य के लिए साधना में लीन हूँ, जिसे मुक्ति कहते हैं। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए गुफा-सेवन की मुझे आवश्यकता नहीं दीखती। गुफा तो मेरे भीतर भी मौजूद है, यदि उसे मैं जान पाऊँ। गुफावासी योगी भी हवाई महल की कल्पना में फँस सकता है, किन्तु, राजमहल का वासी जनक ऐसी कल्पनाओं से मुक्त है। शरीर गुफा में और

संसार में रहे तो गुफावासी को भी शान्ति नहीं मिल सकती। किन्तु, महलों के चिक्य के भीतर बसनेवाले जनक को ऐसी शान्ति प्राप्त हो सकती है, जिसे वे ही नते हैं, जिन्हें शान्ति मिल चुकी है। मेरे लिए तो मोक्ष का मार्ग स्वदेश एवं निखिल नवता की सेवा का ही मार्ग है। मेरी यात्रा मोक्ष और सनातन शान्ति की ओर है। क्ति तो इस यात्रा का पन्थ है। इसलिए, मेरी दृष्टि में राजनीति धर्म से भिन्न हो सकती। राजनीति को सदैव धर्म की अधीनता में चलना चाहिये। धर्म-हीन नीति मृत्यु-पाश के समान है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"[1]

चाणक्य और मैंकियावेली-जसे पण्डितों की राजनीति गाँधीजी की राजनीति नहीं । चाणक्य और मैकियावेली उस राजनीति के व्याख्याता हैं, जिसमें छल-प्रपंच, था-भाषण और दाँव-पेंच, ये सभी दुर्गुण गुण समझे जाते हैं। राजनीति की शक्ति व्यापक हो उठी है। प्रत्येक देश के असंख्य मानवों का भाग्य आज राजनीति के निर्णीत हो रहा है और यह सारी-की-सारी राजनीति ईर्ष्या, द्वेष, छल-प्रपंच और पर आधारित है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि अपने वैयक्तिक जीवन में झूठ बोलें तो लोग हमारी आलोचना करते हैं किन्तु, राजनीति में राष्ट्रीय या ष्ट्रीय मंच से झूठ बोलनेवाले राजपुरुष का स्वागत तुमुल करतल-ध्वनि से किया है। यह मनुष्यता के घोर पतन का दृष्टान्त है। जब तक राजनीति का यह रूप त है, विश्वैकता की कल्पना कल्पना ही रहेगी और विज्ञान की शक्तियों का प्रयोग की हानि के लिए होता ही जायेगा। इसलिए, गाँधीजी ने धर्म को जीवन-व्यापक र संसार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि राजनीति एवं अर्थ-नीति भी धर्म एवं ण-शास्त्र के ही अंग हैं। राजनीति अर्थ और अधिकार-संचय का साधन नहीं, , मानवता को ऊपर उठाने का मार्ग है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को कर उन्हें सुखी बनाने का साधन है। गाँधीजी की राजनीति छल-प्रपंच का पर्याय कर मनुष्य के धर्माचरण का ही एक रूप है। वह अधिकारों के हथियाने को अपना ध्येय नहीं मानती, प्रत्युत, उसका उद्देश्य मानवीय धरातल को उन्नत बनाना तथा यों के बीच स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व की भावना को उद्दीप्त करना है। राजनीति के मलिन प्रसंगों की स्वामिनी एवं सन्तों और सुधारकों के व्यंग्य की पात्री जाती थी। किन्तु, गाँधीजी ने अपने प्रयोगों के द्वारा उसे मनुष्य को आध्यात्मिक गाम्भीर्य एवं सामाजिक सामंजस्य तक ले जाने का साधन बनाने का किया।

हिंसा

अहिंसा की शिक्षा भारत के लिए पुरानी चीज है। केवल बौद्ध और जैन धर्मों नहीं, अहिंसा की महिमा उनसे पूर्व उपनिषदों में भी गायी गयी थी। अहिंसा की सभ्यता का सार है। वह हिन्दुओं का सनातन धर्म है। वह प्राग्वैदिक और से पूर्व की उपलब्धि है। सच पूछिये तो अहिंसा का उपदेश भारत में इतने

यंग इंडिया, ३ अप्रैल, १९२४ई०।

दिनों से दिया जा रहा है कि शेष विश्व भारत को अहिंसा और निवृत्ति का देश ही मान बैठा है।

किन्तु, इतना होते हुए भी, वर्तमान जगत् में अहिंसा के प्रवर्त्तक महात्मा गाँधी माने जाते हैं। अहिंसा को लेकर गाँधीजी को संसार में जो सुयश प्राप्त हुआ, वह बुद्ध के सुयश से अधिक है, क्योंकि बुद्ध ने यद्यपि, अहिंसा का पालन स्वयं किया तथा शिष्यों से भी करवाया, किन्तु, सन्तों को अहिंसा-व्रत के पालन में वही कठिनाई नहीं होती, जो गृहस्थ को होती है। फिर यह बात भी है कि व्यक्ति के लिए अहिंसा का पालन उतना दुस्साध्य नहीं होता, जितना समष्टि के लिए होता है। अहिंसा परम धर्म के रूप में युगों से पूजित चली आ रही थी। किन्तु, गाँधीजी से पूर्व किसी ने भी, समष्टि के धरातल पर अथवा कोटि-जन-व्यापी महाआन्दोलनों के भीतर से, अहिंसा का प्रयोग नहीं किया था। गाँधीजी ने यह प्रयोग किया और उनके प्रयोग से संसार के असंख्य लोगों में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिंसा की साधना सामूहिक कार्यों में भी चल सकती है।

जिस प्रकार, अरविन्द ने मनुष्य की शक्तियों एवं उसके स्वभाव को विकसित करके उसे अति-मनुष्य बनाने की कल्पना की है, कुछ वैसी ही कल्पना महात्मा गाँधी में भी थी और उनका भी विचार था कि मनुष्य का वैयक्तिक एवं सामूहिक उद्धार इस बात में है कि वह अपने भीतर की पशुता को बिलकुल छोड़ कर उन गुणों की वृद्धि करे, जो उसे पशु से भिन्न करनेवाले हैं। उनका प्रयास मनुष्य की भूलों के प्रक्षालन का प्रयास था। उनका उद्देश्य मनुष्य को इस प्रकार रूपान्तरित कर देना था कि वह किसी भी बात में पशुओं का भागीदार न रहे। और उनका यह क्रान्तिकारी उद्देश्य अहिंसा के प्रयोग में जितना निखरा, उतना और कहीं नहीं। अहिंगा, यह शब्द ही गाँधी-धर्म का निचोड़ है तथा हिंसा से पूरित विश्व में यह एक शब्द गाँधीजी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व करता है, उतना उनके और सारे उपदेश मिल कर भी नहीं कर पाते। और यह ठीक भी है, क्योंकि, गाँधीजी की अहिंसा केवल अनाघात का ही पर्याय नहीं है, प्रत्युत, वह जीवों के प्रति आन्तरिक भक्ति और प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है।

यह अहिंसा सत्य का ही दूसरा रूप है। मनुष्य गलतियाँ इसलिए करता है कि वह अज्ञान की अवस्था में है। अज्ञान से ज्ञान अथवा सत्य तक जाने के लिए विवेक चाहिये, तर्क और विचार चाहिये तथा इसके लिए उस बुद्धि की भी आवश्यकता है जो पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं है, जो अन्धी होकर अपने ही पक्ष का प्रमाण खोजना नहीं चाहती, जो उस निष्कर्ष का भी स्वागत करने को तैयार है, जो उसके विपक्ष में पड़नेवाला है। ऐसी बुद्धि उसी व्यक्ति की हो सकती है, जो आत्म-शुद्धि और आत्म-विश्लेषण की योग्यता से युक्त है। जिसमें नैतिक बल का अभाव है, वह सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकता। विचारों के स्वच्छ हो जाने पर सत्य का प्रेम प्रकट होता है। और जब विचार सत्यवादी हो जाते हैं, तब मनुष्य की वाणी और क्रिया भी

वादिनी हो उठती है। जिस मनुष्य में निखिल मानवता के लिए हार्दिक प्रेम नहीं ा, उसके विचार, वाणी और कार्य, सत्य से परिचालित नहीं होंगे। मनुष्य सत्य लिए बोलता है कि अन्य मनुष्यों के प्रति उसमें आदर और प्रेम है। किसी से प्रेम करना तथा वाणी और क्रिया के द्वारा उसे धोखा भी देना, ये परस्पर विरोधी हैं। जहाँ प्रेम है, सत्य वहीं निवास करता है तथा जहाँ प्रेम और सत्य रहते हैं, क्रिया, निश्चित रूप से, अहिंसामयी हो जाती है।

गाँधीजी की अहिंसा क्रोधी, द्वेषी या असत्य-सेवी व्यक्ति की अहिंसा नहीं है। लिए, वे जीवन भर में एक बार भी उन लोगों से सहमत नहीं हो सके, जो अहिंसा सिद्धान्त नहीं मान कर केवल नीति मानते थे। अहिंसा को गाँधीजी ने उपयोगिता लोभ में आकर ग्रहण नहीं किया था, प्रत्युत, इस भाव से कि वह मनुष्य का एक- धर्म है, जैसे हिंसा पशुओं का स्वाभाविक धर्म समझी जाती है। पशुओं की तरह, बात पर, हूल मारना मनुष्य का धर्म नहीं हो सकता। उसकी गरिमा इस बात कि वह अपने ऊपर ऊँची नैतिकता का नियंत्रण स्वीकार करे, जिसका पशुओं को शी नहीं है। अँगरेजों के विरुद्ध अपने संघर्ष में वे पशु और मनुष्य के संघर्ष का देखते थे। "अँगरेज हमारे संघर्ष को बन्दूकों के धरातल पर ले आना चाहते हैं, बन्दूकें उनके पास हैं, जिन्हें वे चला सकते हैं। किन्तु, हम तो उसी धरातल कर लड़ेंगे, जिस धरातल के शस्त्र हमारे पास हैं और अँगरेजों के पास हैं।"

गाँधीजी के अहिंसा के प्रयोग पर एक समय सारा संसार हँसता था और बड़े-बड़े यह कह कर शंका से सिर हिलाया करते थे कि इतिहास में कभी भी तो अहिंसक नहीं हुई। किन्तु, अहिंसा में जो शक्ति छिपी है, उसे केवल गाँधीजी की दृष्टि सकती थी। "सच्ची अहिंसा भय नहीं, प्रेम से जन्म लेती है, निस्सहायता नहीं, र्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, और हायता का भाव है, उसके समक्ष बड़ी-से-बड़ी शक्तियों को भी झुकना ही ।" चूँकि अहिंसा के पीछे द्वेष और दुर्भावना न होकर प्रतिपक्षी के प्रति भी ही रहता है, इसलिए, गाँधीजी का उपदेश था कि सत्याग्रहियों को इस भाव से ग्रह नहीं करना चाहिये कि उन्हें प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना है, वरन्, इस भाव प्रतिपक्षी के हृदय की कटुता हटा कर उसके भीतर सद्भावना को जन्म देना अहिंसा वह साधन है जिससे संघर्ष के दोनों पक्षों का कल्याण होता है, दोनों के ऊँची मानवता स्फुटित होती है।

गाँधीजी की अहिंसा केवल हनन से विरति का नाम नहीं है। "अहिंसा हृदय की ई से आनी चाहिये, अतएव, यह आवश्यक है कि सत्याग्रही के मन में घृणा, क्रोध प्रतिकार की भावना न रहे। जो भीतर तो इन दुर्भावनाओं को छिपाये हुए है बाहर, केवल भय के मारे, हिंसक प्रहार करने से घबराता है, वह सच्ची अहिंसा पालक नहीं है। उसे तो दम्भी और कायर समझना चाहिये।" अहिंसा, वास्तव में,

शक्तिशाली और वीर का गुण है, कायरों का नहीं । गाँधीजी ने कहा है, "मेरी अहिंसा अत्यन्त क्रियाशील शक्ति है । उसमें कायरता तो क्या, दुर्बलता के लिए भी स्थान नहीं है ।" यही नहीं, प्रत्युत, गाँधीजी तो यह भी कहते हैं कि "जहाँ सारा चुनाव केवल कायरता और हिंसा के बीच सीमित हो, वहाँ मैं हिंसा का समर्थन करूँगा ।"[१]

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण

गाँधीजी के वचन और प्रयोग से जो सिद्धान्त निकलता है, उसके अनुसार हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने में ही नहीं है । उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है । अपने मतवाद पर अहंकारपूर्वक अड़ जाना भी हिंसा ही है । भारत में अहिंसा के सबसे बड़े प्रयोक्ता जैन मुनि हुए हैं, जिन्होंने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नहीं, प्रत्युत, विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया था । किसी भी बात पर यह मान कर अड़ जाना कि यही सत्य है तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं, वह सब का सब झूठ और निराधार है, विचारों की सबसे भयानक हिंसा है । मनुष्यों को इस हिंसा के पाप से बचाने के लिए ही जैन मुनियों ने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निकाला था, जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने जाते हैं तथा हम जब जिस पक्ष को देखते हैं, तब हमें वही पक्ष सत्य जान पड़ता है । अनेकान्तवादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है, उसे यह शिक्षा देता है कि केवल् तुम्हीं ठीक हो, ऐसी बात नहीं है ; शायद, वे लोग भी सत्य ही कह रहे हों जो तुम्हारा विरोध करते हैं । यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है, संसार में जो अनेक मतवाद फैले हुए हैं, उनके भीतर सामंजस्य को जन्म देता है, तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है, उससे विचारकों के मस्तिष्क को मुक्त रखता है ।

अनेकान्तवाद जैन दर्शनों में सोया हुआ था । भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बातें भूल चुके थे ; वैसे ही, अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धान्त भी उनकी आँखों से ओझल हो गया था किन्तु, नवोत्थान के क्रम में जैसे हमारे अनेक अन्य प्राचीन सत्यों ने दुबारा जन्म लिया, वैसे ही, गाँधीजी में आकर अनेकान्तवाद ने भी नव जीवन प्राप्त किया । सम्पूर्ण सत्य क्या है, इसे जानना बड़ा ही कठिन है । तात्त्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है, वह उसी की बातें बोलता है । इसलिए, सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नहीं होता, न वह यही हठ करता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वही सत्य है । अपने ऊपर एक प्रकार का विरल सन्देह, विरोधी और प्रतिपक्षी के मतों के लिए एक प्रकार की श्रद्धा तथा यह भाव कि, कदाचित्, प्रतिपक्षी का मत ही ठीक हो, ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण हैं ।

गाँधीजी पर ये सभी लक्षण घटित होते हैं, क्योंकि उनकी अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी । और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हें समझौतावादी एवं विरोधियों के प्रति श्रद्धालु बना दिया था । जब गाँधीजी "भारत छोड़ो"

---

[१] धीरेन्द्रमोहन दत्त-कृत 'फिलासफी आव् गाँधी' से ।

न्दोलन की योजना बना रहे थे, सुप्रसिद्ध अमेरिकी पत्रकार श्री लुई फ़िशर ने उनसे कि "आपके इस कार्य से युद्ध में बाधा पड़ेगी और अमेरिकी जनता को आपका आन्दोलन पसन्द नहीं आयेगा। अजब नहीं कि लोग आपको मित्र-राष्ट्रों का शत्रु ने लगें।" गाँधी जी यह सुनते ही घबरा उठे। उन्होंने कहा, "फ़िशर, तुम अपने पति से कहो कि वे मुझे आन्दोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो, मुख्यतः, समझौता- मनुष्य हूँ, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ठीक राह पर हूँ।"[1]

चूँकि अनेकान्तवाद से परस्पर-विरोधी बातों के बीच सामंजस्य आता है तथा धियों के प्रति भी आदर की वृद्धि होती है, इसलिए गाँधीजी को यह वाद अत्यन्त था। उन्होंने लिखा है, "मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही हूँ, किन्तु, मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले मैं को सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था। किन्तु, अब मैं मानता हूँ कि अपनी- जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अन्धों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका र्णन किया था, वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी न्त ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्किोण से तथा ईसाई रीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिये। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ, क्योंकि अब मैं अपने को विरो- की दृष्टि से भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा, इन सिद्धान्तों का ही परिणाम है।"[2]

त्य के किसी एक पक्ष पर अड़ जाना तथा वाद-विवाद में आँखें लाल करके लगना, ये लक्षण छोटे लोगों के ही होते हैं जो, कदाचित्, सत्य की राह पर अभी ही नहीं हैं। सत्य के मार्ग पर आया हुआ मनुष्य हठी नहीं होता। गाँधीजी हठी थे। ईसामसीह भी हठी नहीं थे। गाँधीजी के समान ईसामसीह भी अनेकान्त- के प्रेमी रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने भी कहा था, "मेरे पिता के यहाँ अनेक हैं। मैं किसी भी मकान को तोड़ने नहीं आया, प्रत्युत, सबकी रक्षा और मेरा उद्देश्य है।" जब तक संसार के विचारक और शासक स्याद्वादी भाषा योग नहीं सीखते, तब तक न तो संसार के धर्मों में एकता होगी, न विश्व के र और मतवाद एक होंगे। सह-अस्तित्व, सह-जीवन और पंचशील, इन सबका र अनेकान्तवाद ही हो सकता है।

और अरविन्द

गाँधीजी के नाम के साथ महात्मा की उपाधि पहले-पहल रवीन्द्रनाथ ने लगायी। रवि बाबू धर्म के पुरुष तो थे, किन्तु, वैराग्य से उन्हें विरक्ति थी। यही दृष्टि- नवोत्थान के सभी हिन्दू नेताओं का था। नवोत्थान से प्रवृत्तिमार्गी दर्शन को ना मिली थी एवं धर्म की इस नयी व्याख्या में इस बात पर जोर नहीं था कि

---

[1] लुई फ़िशर-कृत 'ए वीक विद गाँधी' से।

[2] हरिजन, २१ जुलाई, १९४६ई०।

संसार असार है, इसलिए, हमें अपनी वैयक्तिक मुक्ति की खोज के लिए जंगलों में भाग जाना चाहिये एवं कामिनी और कंचन का परित्याग करके प्राणायाम और समाधि में लीन हो जाना चाहिये। इसके विपरीत, जनता में यह भाव जगाया जा रहा था कि जीवन सत्य है एवं जीवन के क्षेत्र में जो नाना कर्त्तव्य हमारे सामने आते हैं, उन्हें सम्यक् विधि से सम्पन्न करके ही हम अपनी मुक्ति भी खोज सकते हैं। हाँ, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' वाला औपनिषदिक संदेश फिर से सजीव हो उठा था जिसके परिणामस्वरूप, संस्कृति के नेता यह कह रहे थे कि भारत की कृच्छ्र वैराग्य-साधना और यूरोप का उद्दाम भोगवाद, ये दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। उचित यह है कि हम दोनों के बीच कोई समन्वय स्थापित करें और मध्यम-मार्ग का सहारा लें।

यह तर्क के धरातल की बात थी। व्यावहारिक जीवन में तो यही दिखलायी पड़ा था कि ब्राह्म-समाजियों में से अधिकांश लोग, जन्मना धनिक-वर्ग के होने के कारण, त्याग करने पर भी त्याग के कष्टों को नहीं जान सके। परमहंस रामकृष्ण ने सुखों को त्याग दिया और दयानन्द संन्यास के प्राचीन आदर्श पर ही चलते रहे। हाँ, विवेकानन्द ने संन्यास का नया आदर्श अवश्य स्थापित किया, जिसमें संन्यासी कौमार्य और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी बहुत-कुछ गृहस्थों के ही समान थे, क्योंकि वे ध्यान और समाधि में थोड़ा ही समय लगाते थे; उनका बाकी काम संसार की सेवा करना था जो परोपकारी गृहस्थ भी करते थे। महर्षि अरविन्द में आकर संन्यास ने एक और परिवर्त्तन स्वीकार किया, जिससे गैरिक वसन की अनिवार्यता जाती रही और बाल-बच्चों से अलग भागना धर्म-साधना के लिए अनावश्यक हो गया। खास करके विवेकानन्द के संन्यासी संन्यास लेकर भी समाज से भिन्न नहीं होते। वे अपनी गृहस्थी छोड़ कर सब की गृहस्थी को आसान बनाते हैं। वे एक राह से संसार छोड़ कर दूसरी राह से संसार में लौट आते हैं।

स्पष्ट ही, नवीन हिन्दुत्व किसी लग्न-विशेष अथवा दिन-विशेष का धर्म नहीं रह कर मनुष्य के दिन-दिन, क्षण-क्षण का धर्म होना चाह रहा था। धर्म-साधना अलग और जीवन-साधना अलग, इसमें विरोधाभास था एवं अभिनव हिन्दुत्व इस विरोध को तोड़ कर संसार और धर्म को एकाकार कर देना चाहता था। इसी प्रयास में उसने गृहवासी ब्राह्म-समाजियों और आर्य-समाजियों में किंचित् त्याग की वृत्ति जगायी थी। एवं इसी प्रयास में उसने विवेकानन्द के संन्यासियों को गार्हस्थ्य के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। अरविन्द-आश्रम में जो संन्यासी और गृहस्थ साथ होकर एक ही साधना में प्रवृत्त हुए, उसके पीछे भी अभिनव हिन्दुत्व का यही प्रभाव काम कर रहा था एवं इसी प्रेरणा से गाँधी जी ने समाज-सेवा एवं उच्च नैतिक आचरण को धर्म का एकमात्र आधार मान लिया एवं संन्यासी और गृहस्थ का भेद मिटा कर उन्होंने यह घोषणा की कि धर्म में वैरागी के लिए एक और गृहस्थ के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। अरविन्द और गाँधी में उद्देश्य की समानता है। केवल उनके साधनों में ही भेद है। और साधन-भेद से ही उनके उद्देश्य विभिन्न दिखायी देते हैं। दोनों का मूल उद्देश्य मानव-

भाव को निर्मल बना कर आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सुखद और पवित्र विश्व निर्माण करना है। हाँ, अरविन्द यह कहते हैं कि नया विश्व अस्तित्व में तब येगा, जब मनुष्य मानस की स्थिति से उठ कर अतिमानस की स्थिति में पहुँचेगा। के विपरीत, गाँधीजी का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने-आपको सुधार ले, तो वी स्वयमेव स्वर्ग बन जायगी।

विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी जिस ध्येय को लेकर चले, उसका सामाजिक रूप है कि धर्म को चन्दन, कंठी, माला, पूजा, होम और मन्दिर तक ही सीमित नहीं ना चाहिये। उसे समग्र जीवन को अपनी गोद में उठा लेना है। धर्म की स्थापना यासी और जीवन की साधना गृहस्थ करें, यह उचित स्थिति नहीं है। आदर्श समाज होगा, जिसके संन्यासी भी गृहस्थ और गृहस्थ भी संन्यासी होंगे अथवा दोनों के कोई भेद नहीं रहेगा। धर्म को जीवन-व्यापी बनाने का यह उद्देश्य प्राचीन काल भी झलका था, जिसके प्रमाण जनक हुए हैं। मध्यकालीन भारत में भी वीर-शैव-दाय इसी उद्देश्य को लेकर चला था, जिसका परिणाम यह हुआ कि संन्यास का र्श इस सम्प्रदाय के गृहस्थों का भी आदर्श हो गया।

और वैराग्य

गाँधीजी के प्रयोगों में धर्म को जीवन-व्यापी बनाने की साधना ने और भी प्रगति । गाँधीजी वैरागी के वैरागी और गृहस्थ के गृहस्थ थे। रवि बाबू ने लिखा है कि जी स्वयं वैरागी हैं, किन्तु, गृहस्थों के आनन्द में वे बाधा डालना नहीं चाहते। यं निर्धन और दरिद्र हैं, किन्तु, सबको "सुखी एवं सम्पन्न बनाने की दिशा में वे अधिक क्रियाशील हैं। वे घोर रूप से क्रान्तिकारी हैं, किन्तु, क्रान्ति के पक्ष में वे शक्तियों को जाग्रत करते हैं, उन्हें अपने नियंत्रण में भी रखते हैं। वे एक साथ मापूजक और प्रतिमाभंजक भी हैं। मूर्त्तियों को यथास्थान रखते हुए वे आराधकों उच्च स्तर पर ले जाकर उन्हें प्रतिमाओं के दर्शन करने की शिक्षा देते हैं। वे श्रम के विश्वासी हैं, किन्तु, जाति-प्रथा को चूर्ण किये जा रहे हैं। काम-भावना को भी मनुष्य की नैतिक प्रगति का बाधक मानते हैं, किन्तु, टालसटाय की भाँति वे यं और नारी को सन्देह से नहीं देखते। उनकी मान्यता है कि नारियों के लिए र और कोमलता का भाव पुरुष-चरित्र का सर्वश्रेष्ठ गुण है। गाँधीजी की सबसे विशेषता यह है कि जो सुधार वे दूसरों को सिखाते हैं, उन सुधारों की कीमत वे आप चुका देते हैं। गाँधी जी में सभी महान् गुण हैं, किन्तु, उनका व्यक्तित्व गुणों से भी अधिक महान् है।"

किन्तु, इतना होते हुए भी, गाँधीजी की याद हमारे मनों में उन लोगों की याद देती है, जो जीवन के आनन्द को मनुष्य का शत्रु समझते थे, जो नारी को तपः-की भक्षणी कहते थे और जो यह मानते थे कि शरीर की पुष्टि से आत्मा की ता में वृद्धि होती है।[1] उनका सारा दृष्टिकोण सदाचार-सेवी और पवित्रतावादी

आत्मा जैसे-जैसे पाप से मुक्ति पाती है, शरीर वैसे-ही-वैसे, नीरोग होता जाता

[शेष पृष्ठ ६३० पर।]

था तथा वे काव्य, संगीत, चित्र और मूर्त्ति-कलाओं में से भी केवल उसे ही ग्रहण करते थे, जो सुन्दर होने के अलावे शिव और सत्य भी था। केवल सौन्दर्य और आनन्द उनके दर्शन में ऊँचा तो क्या, उचित स्थान भी नहीं प्राप्त कर सके।

किन्तु, यहाँ यह याद रखना होगा कि पवित्रतावाद और सदाचार-प्रियता गाँधीजी की बहक नहीं थी, बल्कि, ये सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन से निकले थे। सत्य और अहिंसा उनके दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं, किन्तु सत्य और अहिंसा का पालन सभी लोग नहीं कर सकते। इनका सम्यक् पालन करने के लिए षड्विकारों का शमन आवश्यक है। षड्विकारों में भी गाँधीजी काम को अत्यन्त प्रबल मानते थे, क्योंकि लोभ और क्रोध तब तक जीते नहीं जा सकते, जब तक काम वश में न आ जाय। उन्होंने लिखा है कि "ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ जननेन्द्रिय की क्रियाओं का शारीरिक नियंत्रण माना जाता है। किन्तु, इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को कुरूप तथा उसकी साधना को असम्भव बना डाला है। जब तक सभी इन्द्रियाँ नियंत्रित न हो जायँ, तब तक जननेन्द्रिय को नियंत्रित रखना दुस्साध्य कर्म है। इन्द्रियाँ तो परस्पर मिली हुई हैं एवं वे एक-दूसरे पर निर्भर भी करती हैं। अपने निचले धरातल पर मन भी इन्द्रिय ही है। मन पर अधिकार पाये बिना यदि हठयोग से अथवा और किसी प्रकार से जननेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त भी हो जाय तो उस नियंत्रण को मैं अनुपयोगी और निस्सार कहूँगा। वायु का नियंत्रण जितना कठिन है, मन का नियंत्रण उससे भी कठोर है। किन्तु, परमात्मा के प्रति आस्था रहने से मन भी वश में आ जाता है।"[१]

काम-विजय के लिए गाँधीजी ने जिह्वा-विजय को सोपान कहा है।[२] और जिह्वा

[पृष्ठ ६२९ का शेष।]

है। किन्तु, नीरोग शरीर का अर्थ यहाँ शक्तिशाली शरीर नहीं है। शक्तिशाली आत्मा का वास दुर्बल शरीर में ही होता है। आत्मा की शक्ति, ज्यों-ज्यों, बढ़ती है, शरीर का बल, त्यों-त्यों, घटता जाता है। इसलिए, पूर्ण रूप से नीरोग शरीर दुर्बल और क्षीण हो सकता है। शक्तिशाली शरीर में तो, प्रायः, रोग ही बसते हैं। रोग न भी हों, तब भी बली शरीर को रोग की छूत आसानी से लग जाती हैं। किन्तु, नीरोग शरीर को रोगों की छूत नहीं लगती।

(नवजीवन, ५ जून, १९२४ई०।)

[१] देखिये, बोस-कृत 'सेलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी'।

[२] मेरा अनुभव है कि जिसे जिह्वा पर नियंत्रण प्राप्त नहीं है, वह पाशविक वासनाओं पर नियंत्रण नहीं पा सकेगा। जिह्वा को जीतना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन, वासना-विजय जिह्वा-विजय के साथ बँधी हुई है। जिह्वा-विजय का एक उपाय मसालों का त्याग है। इससे भी बड़ा उपाय यह हो सकता है कि हम बराबर मन को समझाते रहें कि भोजन का उद्देश्य शरीर को कायम रखना है, भाँति-भाँति के स्वाद लेना नहीं। वायु को हम शरीर-धारण के लिए ही लेते हैं, स्वाद के निमित्त नहीं। पानी हम केवल प्यास बुझाने को पीते हैं। तो फिर भोजन भी क्षुधा-तृप्ति के भाव से ही किया जाना चाहिये।

(नवजीवन, ५ जून, १९२४ई०।)

पर नियंत्रण कैसे किया जाय, इस उद्देश्य से परिचालित होकर वे जीवन भर भोजन के विषय में भिन्न-भिन्न प्रयोंग करते रहे। प्रश्न उठता है कि क्या गाँधीजी का प्रयोग अथवा उनका विश्वास गलत था ? क्या आनन्द की उपेक्षा, सचमुच ही, जीवन के साथ अत्याचार है ? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते हैं और दोनों के दोनों भारतीय साधना के इतिहास में विद्यमान हैं। बौद्धों और जैनों ने सदियों तक ब्रह्मचर्य और कृच्छ् साधना पर जोर दिया। किन्तु, पाँचवीं सदी के बाद, उनके संयम का बाँध टूट गया एवं बुद्धमार्ग से ही वज्रयान आदि सम्प्रदायों का जन्म हो गया। यह और कुछ नहीं, ब्रह्मचर्य की सुदीर्घ साधना के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया थी कि साधु-महात्मा भी खुल कर नारी को अपनी मुद्रा मानने लगे एवं मैथुन को उन्होंने योग-सिद्धि का सोपान घोषित कर दिया। तब सहजयान आया। उसने भी यही सिद्धान्त रखा कि चित्तरत्न के क्षुब्ध होने से सिद्धि में बाधा पड़ती है, अतएव, इन्द्रियों के साथ जबर्दस्ती मत करो। यह सिद्धान्त बहुत-कुछ वैसा ही दिखता है जैसा कि आज के मनोवैज्ञानिक लोग कहते हैं।

किन्तु, गाँधीजी इस मार्ग को नहीं मानते। उनका भाव यह दीखता है कि यदि मनुष्य को धर्म के मार्ग पर आना है तो उसे इन्द्रिय-निग्रह करना ही होगा, क्योंकि इन्द्रियों से भिन्न मनुष्य कुछ है ही नहीं। इन्द्रियाँ खुल कर हरियाली चरती फिरें और मनुष्य का मन धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहे, यह कल्पना ही परस्पर-विरोधी है। मनुष्य के सामने दो से अधिक विकल्प नहीं हैं। या तो वह इन्द्रियों की दासता स्वीकार कर और जिधर-जिधर इन्द्रियाँ जाने को कहें, उधर-उधर भागता फिरे। अथवा इन्द्रियों को वश में लाकर वह धर्म के पालन में तत्पर हो। इन्द्रियों की उल्लंगता पशु-धर्म है और जो भी व्यक्ति इन्द्रियों को अनियंत्रित रखने का पक्षपाती हैं, उसे यह भी मानना चाहिये कि मनुष्य पशु से भिन्न नहीं है, न पशु से अधिक दूर भागने की उसे चेष्टा ही करनी चाहिये। किन्तु, जो लोग यह मानते हैं कि मनुष्य पशु से भिन्न प्राणी है, उन्हें इन्द्रिय-निग्रह को माने बिना चारा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों को नियंत्रण में रख कर ही मनुष्य पशुता से दूर जा सकता है। इन्द्रियों का उद्दाम नृत्य पशुता का प्रमाण है। इन्द्रियों को घाट में बाँधकर चलाना ही मनुष्यता है, मनुष्य की संस्कृति है।

नर-नारी का पारस्परिक सम्बन्ध सदा से विवाद का विषय रहा है। सच पूछिये तो नारी गृहस्थ-जीवन का प्रतीक है। इसलिए, जब-जब प्रवृत्ति का उत्थान हुआ, नारी और गृहस्थ, दोनों की पद-मर्यादा में वृद्धि हुई। किन्तु, अपने देश में तो वैदिक काल को छोड़ कर, प्रायः, सदैव निवृत्ति का ही बोलबाला रहा। अतएव, नारी की मर्यादा यहाँ सदैव दबी रही। समाज में प्रतिष्ठा उनकी थी जो वैयक्तिक मुक्ति के लिए वैराग्य ले लेते थे। नारी वैरागियों के किसी काम की चीज नहीं थी। अतएव, सभी सन्त उसे पाप की खान बताते गये। बुद्ध और महावीर ने भिक्षुणी होने का अधिकार

देकर नारियों को नरों के समकक्ष अवश्य माना, किन्तु, जिस कारण नारी पाप की खान मानी जाती थी, उसका विलाप भी दोनों धर्मों में मिलता है। नारियों को भिक्षुणी होने का अधिकार देकर बुद्ध ने विलाप किया—"आनन्द! जो धर्म मैंने चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलनेवाला था, किन्तु, अब वह केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि नारियों को मैंने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।" और हुआ भी यही। बुद्ध के पाँच सौ वर्ष बाद ही, महायान सम्प्रदाय निकला (यद्यपि इसका दायित्व केवल भिक्षुणियों पर नहीं था) और बौद्ध-मत धीरे-धीरे हिन्दुत्व के अंक में लौटने लगा।

ठीक इसी समय, जैनों में दिगम्बर-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ, जिसके आचार्यों ने मुनि-धर्म में यह संशोधन उपस्थित कर दिया कि नारियों का भिक्षुणी होना व्यर्थ है, क्योंकि पुरुष-योनि में जनमे बिना उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। कबीर आदि सन्तों ने विवाह करके यह दिखलाना अवश्य चाहा था कि गृहस्थ जीवन धर्म-साधना का बाधक नहीं है, न नारी धर्म की शत्रु है। किन्तु, निवृत्ति-भाव कबीर में भी था। विवाह करके अपना पश्चात्ताप उन्होंने भी लिखा है।

इसके विपरीत, पाश्चात्य जगत् में जनमे हुए उदार विचारों का यह परिणाम हुआ कि नारी अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष करने लगी और नारी के जागते ही पुरुष इस ग्लानि से भर गया कि सम्पूर्ण इतिहास में नारी पर वह अत्याचार ही करता आया है। स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ आर्थिक स्वाधीनता है। नारी जब तक यह स्वाधीनता नहीं प्राप्त करती, उसका यह दावा झूठा है कि वह स्वतंत्र है। किन्तु, पुरुष यह नहीं चाहता कि नारी आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो। पुरुष का कामुक संस्कार इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता कि नारियाँ खेतों में जायँ, कारखानों में काम करें और, इस प्रकार, अपने रंग को मद्धिम एवं अपनी चमड़ी को खुरदुरी बना लें। इसलिए, पुरुष कहता है, "मेरी महीने भर की कमाई तुम्हारे चरणों पर अर्पित है। तुम जिस तरह चाहो, इसे खर्च करो। खेतों और कारखानों में जाने की तुम्हें आवश्यकता क्या है?" और प्रत्येक देश में नारी इस उत्कोच को सहर्ष स्वीकार कर रही है। वह मग्न है यह प्रशस्ति सुन कर कि नारी रूप है, नारी सुधा और चाँदनी है, नारी पुरुष के गले में मन्दार की माला है, उसकी बाँहों में झूलती हुई जूही की लड़ी है।

कवियों और दार्शनिकों ने भी नारी को एक उत्कोच यह कह कर दिया है कि वह पुरुष की प्रेरणा का उत्स है, नारी का प्रेम पाकर मनुष्य बड़े-बड़े काम कर डालता है। यह नारी-समस्या का समाधान नहीं है। नारियाँ यह सुन कर प्रसन्न क्यों होती हैं कि वे पुरुषों के प्रेरणा-स्रोत हैं, उनकी शक्ति और प्रताप के केन्द्र हैं? क्या नारियों का सारा जीवन केवल पुरुषों को प्रेरित करने के लिए है? क्या उनका अपना कोई ध्येय नहीं हो सकता? क्या नरों के समान नारियों को अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास नहीं करना है? और यदि उनका जन्म पुरुष में प्रेरणा भरने को है तो क्या

आत्म-विकास के लिए पुरुषों से वैसी ही प्रेरणा पाने का दावा नहीं कर सकतीं ? ये श्न हैं, जिनका समाधान नारियों को खोजना चाहिये । किन्तु, सदियों के कुसंस्कारों के कारण नारियों का ध्यान इस ओर नहीं जा रहा है । युद्ध रोकने और वस्तुओं का त्पादन बढ़ाने के कामों में नारियों की दिलचस्पी नहीं दीखती । वे पुष्प-प्रदर्शनी आयोजित करती हैं और बन-ठन कर समाज में सुरभि बिखेर कर अपने अस्तित्व की र्थकता को समाप्त मान लेती हैं ।

हमारा विचार है कि नर-नारी के सम्बन्धों पर जैसा निश्चित निदान गाँधीजी और मार्क्स ने दिया है, वैसा और कोई विचारक नहीं दे सका । ये दोनों नेता नर-री को सहज एवं समान दृष्टि से देखते हैं और यह मानते हैं कि जिस क्षेत्र में एक विजय है, उसमें दूसरे को भी विजय मिल सकती है । खेंत और कल-कारखाने, ये नों के क्षेत्र हैं । ज्ञान और विज्ञान, इनपर भी दोनों का समान अधिकार है । ति ने नर और नारी की रचना एक ही तत्त्व से की है । अतएव, एक के लिए जो ज और सम्भाव्य है, वह दूसरे के लिए भी असम्भव नहीं हो सकता । हाँ, मातृत्व ऐसा गुण अवश्य है, जिसके कारण नारी नर से भी श्रेष्ठ हो जाती है ।

गाँधी और मार्क्स में फर्क यह है कि भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स को अपने न पर पहुँचने में कठिनाई नहीं हुई । नर-नारी के बीच जिन कारणों से प्राचीन और सुधारक भय की स्थिति देखते थे, उन कारणों को मार्क्सवादी मानते ही नहीं । ए, विवाह उनकी दृष्टि में अनिवार्य संस्था नहीं है, न ब्रह्मचर्य, पातिव्रत अथवा त्नीव्रत को ही वे जीवन का कोई दुर्लभ गुण मानते हैं ।[1] और, स्पष्ट ही, इन म्परागत मूल्यों से यदि हम आँखें मूँद लें तो मार्क्सवादी समाधान नर-नारी-समस्या पूरा समाधान है ।

किन्तु, गाँधीजी इन मूल्यों से आँखें नहीं मूँद सकते । यदि वे आँखें मूँद लें तो का सारा दर्शन, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की उनकी सारी कल्पना, क्षण भर में, ढह गी । मनुष्य के सुधार का मार्ग सत्य और अहिंसा का मार्ग है और सत्य एवं अहिंसा सम्यक् पालन काम को नियंत्रित किये बिना नहीं हो सकता । गाँधीजी के भीतर न परम्परा के सन्त और आधुनिक विचारक, दोनों विद्यमान हैं । विचारक का ना है कि नर और नारी के सम्बन्ध को स्वाभाविकता प्रदान करो । सन्त को भय कि स्वाभाविकता के प्रचलित अर्थ से तो दोनों काम के दास हो जायँगे और दोनों त्य एवं अहिंसा की भावना दुर्बल पड़ जायगी । इसलिए, गाँधीजी मध्य मार्ग पर ते हैं । उनका कहना है कि नर और नारी, दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे से स्वतंत्र और दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने को जन्म लेते हैं । यदि रूप,

---

[1] साम्यवादी क्रान्ति के आरम्भ में सेक्स को जो स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी थी, अब वह काफी कमजोर है । पातिव्रत और एकपत्नीव्रत पर जो हमले औद्योगिक सभ्यता की ओर से होते हैं, वे तो संसार में सर्वत्र हो रहे हैं । किन्तु, रूस में भी अब काम बन्धन में है । मर्यादाहीन काम को प्रश्रय अब रूसवाले भी नहीं देते ।

सौन्दर्य तथा आधिभौतिक सुखों के लोभ में आकर वे एक दूसरे से मिलते हैं, तो यह ऊँचा मिलन नहीं है।[1] व्याकुलता तो दोनों में आत्म-विकास के लिए ही होनी चाहिये, जिसका साधन समाज-सेवा और स्वार्थ-त्याग है। हाँ, विचारों में एकता अथवा उद्देश्यों में समानता होने के कारण, वे यदि एक दूसरे के समीप आना चाहें तो विवाह भी कर सकते हैं। किन्तु, विवाह के उपरान्त बाल-बच्चे उत्पन्न करना कोई ऊँचा ध्येय नहीं है। एक तो इससे जन-संख्या में अनुचित वृद्धि होती है। दूसरे, बाल-बच्चे की वृद्धि से समाज-सेवी की सेवा की योग्यता न्यून पड़ जाती है। अतएव, नर-नारी को या तो विवाह ही नहीं करना चाहिये अथवा करना अनिवार्य हो तो दोनों का आनन्द बौद्धिक मिलन अथवा आध्यात्मिक समीपता का आनन्द होना चाहिये। बस, इतनी-सी शर्त लगाकर गाँधीजी नर-नारी को स्वतंत्र छोड़ देते हैं और उन्हें परस्पर समकक्ष भी मानते हैं।[2]

गाँधीजी प्रत्येक कर्म का मूल्य इस कसौटी पर आँकते हैं कि उससे मुक्ति में सहायता मिलती है या नहीं। विवाह मुक्ति में सहायक नहीं है, इसलिए वे विवाह को अनावश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मुक्ति से दूर रहने के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा मुक्ति से और अधिक दूर होने के कारण वह विवाह करता है। नर-नारी, दोनों समान हैं और दोनों को चाहिये कि वे अपने मोक्ष के लिए साधना करें। बहुत प्राचीन काल से लोग जो यह कहते आये थे कि नर और नारी परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, उस सिद्धान्त का गाँधीजी और मार्क्स, दोनों ने, प्रयोगों द्वारा खंडन कर दिया है।

धर्म की अनुभूति

राजनीति गाँधीजी को लील तो नहीं सकी, किन्तु, उसने उनके असली रूप पर कुछ झीना परदा अवश्य डाल दिया जो उनके मोक्ष-लाभ के बाद से, शनैः-शनैः उठ रहा है। राष्ट्रों को स्वाधीन करनेवाले अथवा नये राज्य स्थापित करनेवाले महापुरुषों की पंक्ति में बैठा कर हम गाँधीजी को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। राजनीति का

---

[1] कहते हैं, जब कोई युवक और युवती आपस में सन्दिग्ध सम्बन्ध जोड़ बैठते थे, तब गाँधीजी, उसका इलाज करने को, युवती का माथा मुँड़वा देते थे और दोनों को दो विभिन्न दिशाओं में काम पर भेज देते थे। युवती के माथे के बाल उतरवा देने में शायद, उनका यह भाव था कि प्रेमी इस नारी को देखे और समझे कि वह प्रेम-पात्री रह गयी है या नहीं। साज-शृङ्गार, प्रसाधन और बनाव, इन्हें वे नारी के व्यक्तित्व को छिपानेवाला आवरण समझते थे। उनकी इच्छा थी कि पुरुष नारी के उस मूल-व्यक्तित्व को प्यार करना सीखे जो प्रसाधनों के नीचे है, जो यौवन और जरा से अलिप्त और अप्रभावित रहता है। —लेखक।

[2] गाँधीजी प्रत्येक नर को अर्द्धनारीश्वर और प्रत्येक नारी को अर्द्धनरेश्वरी बनाना चाहते थे, ऐसा हमारा अनुमान है। इसीलिए, उनके नर चरखा कातते हैं और उनकी नारियाँ फावड़े चलाने को केवल पुरुष का कार्य नहीं मानतीं। —लेखक।

पात्र अत्यन्त छोटा होता है। उसमें सागर क्या कभी आ सकता है ? गाँधीजी राजनीति के पुरुष नहीं थे। वे धर्म के नेता, मनुष्य के उद्धारक और नये मूल्यों के संस्थापक थे। उनके वास्तविक रूप के विषय में दूसरों को कोई भ्रम रहा हो तो हो सकता है, ांधीजी को स्वयं कोई भ्रम नहीं था। बहुत-से राजनीतिज्ञ हुए हैं जो धर्म के परिधान में छिप कर चलते थे। गाँधीजी शुद्ध धार्मिक मनुष्य थे, जिन्हें राजनीति के वेश में हना पड़ा।

किन्तु, गाँधीजी का धर्म क्या था, इसे हम उसी आसानी से नहीं समझ सकते, स आसानी से कुछ अन्य धर्माचार्यों का धर्म हमारी समझ में आ जाता है। उनका र्म किसी गुरु-मुख से लिया हुआ धर्म नहीं था, न उन्होंने सम्प्रदाय-विशेष के धर्म को पना धर्म माना था। यहाँ तक कि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का भी प्राचीन अर्थ वे ज्यों-का यों ग्रहण न कर सके। "मैं धर्म की किसी भी ऐसी व्याख्या को मानने से इनकार रता हूँ जो, महाविद्वानों की होने पर भी, नैतिक भावना और बुद्धि के विरुद्ध है।" रा धर्म हिन्दू-धर्म नहीं, बल्कि, वह धर्म है जो हिन्दुत्व से भी आगे जाता है, जो न्दुत्व के भीतर के सत्यों पर आधारित है, जो क्षण-क्षण पवित्रता प्रदान करनेवाला जो आत्मा को तब तक बेचैन रखता है, जब तक कि वह परमात्मा से एकाकार न ाय। किसी को भी इस धोखे में नहीं रहना चाहिये कि संस्कृत में जो-कुछ लिखा वं शास्त्रों में जो-कुछ मुद्रित है, उसे आँख मूँद कर मानना ही धर्म है। नैतिकता मूल-सिद्धान्त और सुनियोजित बुद्धि के जो विरुद्ध है, उसे नहीं मानना ही धर्म है, हे वह कितना भी प्राचीन क्यों न हो।"

सांस्कृतिक नवोत्थान के साथ भारत में बुद्धिवाद की जो लहर उठी, उसे गाँधीजी र्वतोभावेन ग्रहण किया। किन्तु, उनका बुद्धिवाद उन्हें यह समझाने में असमर्थ ा कि जो-कुछ दृश्य है, वही सत्य है तथा अदृश्य और अगोचर की ओर विवेकशील ुष्य को ध्यान ही नहीं देना चाहिये। प्रत्युत, उन्होंने अगोचर और अदृश्य को नी प्रेरणा का मूल-स्रोत माना तथा, सभी कठोर परीक्षाओं के अवसर पर, अपनी त्मा के भीतर वे इसी अगोचर और अदृश्य की आवाज सुनकर शान्ति पाते रहे।

गाँधीजी के सभी धार्मिक विचार उनके निजी अनुभवों से निकले थे, इसलिए, नकी भाषा में वही वेधकता और सचाई मिलती है, जो उपनिषदों में दिखायी देती है, ो बुद्ध और ईसा तथा परमहंस रामकृष्ण के उद्गारों में भरी हुई है। पुस्तकीय और र्क-सम्मत ज्ञान में सचाई की वह आग नहीं होती जो अनुभव-जनित ज्ञान में होती है। ाँधीजी ने धार्मिक सत्यों को खोजा नहीं, अपने जीवन में उनकी अनुभूति की थी। सलिए, उनके विचारों में कहीं-कहीं वह विरोधाभास भी है, जो उपनिषदों में मिलता है। उदाहरण के लिए सुस्पष्ट शब्दों में यह बताना बड़ा कठिन है कि गाँधीजी तवादी या अद्वैतवादी थे अथवा उनकी भक्ति साकार या निराकार पर थी। वे पने को वैष्णव कहते थे और राम नाम के जप तथा कीर्त्तन में उनका बड़ा विश्वास ा। यहाँ तक कि, अन्त में आकर, उनका विश्वास हो गया था कि रामधुन से पाप

तो क्या, शारीरिक रोग भी छूट जाते हैं। पराकाष्ठा यह हुई कि हत्यारे की गोलियाँ खाकर जब वे गिरे, तब भी उनके मुख से "हे राम", ये दो शब्द अनायास ही निकल पड़े। बल्कि अनायास तो इसे कहना ही नहीं चाहिये। 'जनम-जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।'[१] किन्तु, अन्त में भी उनके मुख से अपने आराध्य के नाम का निकल सकना, यही बतलाता है कि जीवन भर वे किस तैयारी में रहे थे। गाँधीजी का जीवन महान् था, किन्तु, उनकी मृत्यु उससे भी महान् निकली। ईसा जब शूली पर चढ़ाये गये, तब वे लोग भी अपना हृदय टटोलने को बाध्य हुए जो जीवन भर उनकी उपेक्षा करते आये थे। कुछ ऐसी ही बात गाँधीजी के साथ भी हुई है। उनका सारा जीवन ही ईश्वर के प्रति उनकी गहन आस्था की अभिव्यक्ति था। यदि इसमें कहीं कुछ कोर-कसर रह गयी थी, तो उसे उनकी मृत्यु ने पूरा कर दिया।

किन्तु, जिस राम का नाम गाँधीजी आजीवन जपते रहे तथा जिसका नाम लेते हुए उन्होंने अपने प्राण त्यागे, वह राम कौन था, यह विवाद का विषय है। "मेरे राम, हमारी प्रार्थनाओं के राम ऐतिहासिक राम नहीं हैं। वे दशरथ के पुत्र और अयोध्या के राजा नहीं हैं। वे तो सनातन हैं, वे अजन्मा हैं, वे अद्वितीय हैं। मैं उन्हीं की पूजा करता हूँ। उन्हीं से सहायता और वरदान माँगता हूँ। वे सबके हैं। इसलिए, मैं यह समझ नहीं पाता कि कोई मुसलमान, या अन्य व्यक्ति उनका नाम लेने पर आपत्ति क्यों करता है? ईश्वर को वह राम न माने, यह सम्भव है, किन्तु, राम की जगह वह अल्लाह या खुदा का नाम तो ले ही सकता है।"[२] यह गाँधीजी के राम का एक पक्ष है।

उनके राम-विषयक विश्वास का दूसरा पक्ष तब सामने आया, जब एक जिज्ञासु ने उनसे यह प्रश्न किया कि "कहने को तो आप यह कहते हैं कि आपके राम दाशरथि राम नहीं हैं। फिर ऐसा क्यों है कि आपकी प्रार्थना में सीता-राम और राजा राम शब्द बार-बार आते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में गाँधीजी ने हरिजन में एक टिप्पणी लिखी कि "यह ठीक है कि रामधुन के क्रम में सीताराम और राजा राम शब्द बार-बार आते हैं, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि राम से अधिक शक्तिशाली उसका नाम है।[3] हिन्दू धर्म तो महासिन्धु के समान है, जिसमें असंख्य बहुमूल्य मोती भरे पड़े हैं। इस धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं। हजारों लोग, असन्दिग्ध रूप से, राम और कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं तथा यह विश्वास करते हैं कि वे ईश्वर के अवतार थे। इतिहास, कल्पना और सत्य, हिन्दुत्व में सब मिलकर एकाकार हो गये हैं। इनमें से किसी एक को तोड़ कर अलग करना दुःसाध्य कर्म है। ईश्वर के जितने भी नाम और रूप कहे गये हैं, मैंने निराकार एवं सर्वव्यापी राम को उन सबका प्रतीक मान लिया है। इसलिए, राम को सीतापति अथवा दशरथपुत्र, जो चाहो, कहो, मेरे लिए तो सर्वशक्तिमान् तत्त्व है, जिसका नाम यदि हृदय में अंकित हो जाय तो मानसिक, नैतिक और शारीरिक कष्ट क्षण में दूर हो जाते हैं।"[४]

---

१. तुलसीदास।
२. हरिजन, २८ अप्रैल, १९४६ई०।
३. करौं कहाँ लगि नाम बड़ाई? राम न सकहिं नाम गुनगाई। —तुलसीदास।
४. हरिजन, २ जून, १९४६ई०।

राम को निराकार मानते हुए भी, गाँधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे। शांकर मत शून्यवाद और ज्ञान-मार्ग उन्हें पसन्द नहीं था। शंकर के विपरीत, गाँधीजी का और शरणागति में अटल विश्वास था, एवं शुद्ध अन्तःकरण से वे अपने को सब से, निस्सहाय मान कर केवल निराकार राम की कृपा के भरोसे जीते थे। ये लक्षण द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विश्वासी वैष्णव भक्तों में देखे जाते हैं एवं द्धान्ततः, देखा जाय तो, गाँधीजी इसी प्रकार के भक्त थे। किन्तु, कहीं-कहीं उन्होंने तवादी होने का भी दावा किया है। "मैं अद्वैतवादी हूँ तथा मैं द्वैतवाद का भी र्थन करता हूँ। संसार क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है, अतएव, यह असत्य है, का स्थायी अस्तित्व नहीं है। किन्तु संसार में कोई ऐसा भी तत्त्व है जो परिवर्तित होता। इसलिए, संसार को सत्य भी कह सकते हैं। विश्व सत्य भी है और असत्य यह मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं दीखती। अतएव, कोई मुझे अनेकान्तवादी याद्वादी कहे तो कह सकता है। किन्तु मेरा स्याद्वाद भी पंडितों का नहीं होकर अपना ही है।"[1]

परमात्मा ने सृष्टि बनायी या नहीं, इस सनातन प्रश्न पर भी उनके विचार न्तवादी थे। "मैं उसे रचयिता भी मानता हूँ और रचना से तटस्थ भी। जैनों से मैं ईश्वर की तटस्थता का समर्थन करता हूँ और रामानुज के मंच से उसकी शक्ति का। वास्तव में, हम अज्ञेय को ज्ञेय बनाने का प्रयास कर रहे हैं; ए, हमारी वाणी तुतलाने लगती है, निश्चित रूप से कुछ कहने में वह असमर्थ ती है और हम परस्पर-विरोधी बातें भी बोलने लगते हैं।"[2]

परमात्मा को सर्वात्मवादी साधक फूलों, नदियों, पहाड़ों, लताओं और समुद्रों दि में झिलमिलाते देखता है। रहस्यवादी अपनी समाधि में अदृश्य वास्तविकता र्श पाता है और साकारोपासक भक्त पत्थर की प्रतिमाओं में भी ईश्वर की मूर्त्ति के दर्शन करता है। किन्तु, गाँधीजी ने परमात्मा के दर्शन सदाचार में। "ईश्वर वह अपरिभाषेय पदार्थ है, जिसका अनुभव तो किया जा सकता है, , जिसे हम जान नहीं सकते। मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, नैतिकता और र है। वह जीवन और प्रकाश का उत्स है, किन्तु, वह इनसे भी परे है। ईश्वर की आवाज है। वह नास्तिकों की नास्तिकता भी है। किन्तु, वाणी और तर्क पहुंच के वह परे है। जो उसका स्पर्श चाहता है, उसके लिए वह साकार है। श्रद्धावान् और विश्वासी हैं, उनके लिए वह केवल अस्तित्व मात्र है।"[3]

भक्ति और रहस्यवाद के प्रति इस युग की श्रद्धा नहीं रह गयी है। यद्यपि लोग को अपूर्ण कहने लगे हैं, किन्तु, प्रत्येक वस्तु की परीक्षा बुद्धि से ही करते हैं, मनुष्य के पास अभी और कोई उपाय नहीं है। और बुद्धि रहस्यवाद एवं

---

[1] यंग इण्डिया, २१ जनवरी, १९२६ई०।

[2] यंग इण्डिया, २१ जुलाई, १९४६ई०।

[3] यंग इण्डिया, ३ मार्च, १९२५ई०।

भक्ति को समझ नहीं पाती, वह उन्हें मन्द उन्माद की स्थिति कहकर छुट्टी ले लेती है। ऐसे शंकालु युग के लिए गाँधीजी का सन्देश है कि ईश्वर सदाचार का स्वरूप है; तुम नैतिक धर्म का पालन करो, भगवान तुम्हें, आप-से-आप, प्राप्त हो जायगा। "जो अपने जीवन में प्रमाण खोजता है, उसे अपने भीतर श्रद्धा और जीवित धर्म का पालन करना चाहिये। किन्तु, श्रद्धा और विश्वास भी बाह्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किये जा सकते। अतएव, ऐसे व्यक्ति को सृष्टि के नैतिक शासन में विश्वास करना चाहिये, सत्य और प्रेम के नियमों में आस्था रखनी चाहिये। जो ईश्वर केवल बुद्धि को सन्तुष्ट करता है, वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर का ईश्वरत्व भक्त के हृदय पर शासन करने तथा उसे परिवर्तित करने में है। अपने भक्त के क्षुद्र-से-क्षुद्र कार्यों में भी उसे अपना रूप दिखलाना ही चाहिये।"

गाँधीजी वैष्णव-श्रेणी के भक्त थे और नाम-कीर्त्तन में उनका अटल विश्वास था।[1] किन्तु, धर्म की अभिव्यक्ति वे केवल नाम-कीर्त्तन और ध्यान को ही नहीं मानते थे। भक्त है तो नाम-कीर्त्तन करेगा ही, परमात्मा का ध्यान धरेगा ही। किन्तु, ये साधन अधिक महत्त्व नहीं रखते। गाँधी-मत में धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। जो सदाचारी नहीं है, वह गाँधी-मत से धार्मिक भी नहीं माना जा सकता। "धर्म कहते हैं जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करने को। ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ है प्रेम, सत्य और विवेक को हृदय पर शासन करने देना तथा स्वार्थपरता, दुरिच्छा, अज्ञान और अविवेक तथा काम और क्रोध को दूर करना। धर्म का वास्तविक निचोड़ नैतिकता के पालन में है। धर्म और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न हैं। फिर भी, बोये गये बीज के लिए जल जो महत्त्व रखता है, नैतिकता के लिए धर्म का वही महत्त्व है। किन्तु, नैतिकता के विकास से भी धर्म की वृद्धि होती है। अपने भीतर मैं जितनी ही पवित्रता लाता हूँ, ईश्वर मुझे उतना ही समीप मालूम होता है।"

सदाचार के समान ही, गाँधीजी प्रार्थना में पूरे अस्तित्व से विश्वास करते थे। उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था, कृष्णार्पण और आत्म-निवेदन के भाव से पूर्ण था। "प्रार्थना धर्म का निचोड़ है। प्रार्थना याचना नहीं है। यह तो आत्मा की आकांक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्बलताओं की स्वीकृति है, हृदय के भीतर चलने वाले अनुसन्धानों का नाम है। यह आत्म-शुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमन्त्रण देना है। यह मनुष्यों के दुःख में भागीदार बनने की भी तैयारी है।"[2]

---

[1] मनुष्य चाहे जिस रोग से भी ग्रस्त हो गया हो, हृदय के भीतर से वह राम का नाम ले तो उसके सभी रोग छूट जायँगे। (हरिजन, ३ मार्च, १९४६ ई०।) आप किसी सिद्धान्तवादी से बातें नहीं कर रहे हैं, किन्तु, उससे जिसने, जो कुछ वह कहता है, उसका जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव किया है। अब तो, स्थिति यह है कि जीवन का प्रवाह भले ही रुक जाय, प्रार्थना और जप का प्रवाह नहीं रुक सकता। यह तो आत्मा की सुनिश्चित आवश्यकता है।

(हरिजन, २५ मई, १९३५ई०।)

[2] प्रार्थना, श्रवणों या शब्दों की कसरत नहीं है। यह अर्थहीन मंत्रों का पारायण

[शेष पृष्ठ ६३९ पर।]

वस्तुतः गाँधी-धर्म न तो कोई एक धर्म है, न वह विश्व में प्रचलित धर्मों से भिन्न । सभी धर्म जहाँ से उत्पन्न होते हैं, गाँधीजी उस उत्स के आमने-सामने खड़े थे । सभी धर्म मनुष्य को जहाँ ले जाना चाहते हैं, गाँधीजी उस मंजिल के भी पास । वस्तुतः, गाँधी-धर्म वह धर्म है, जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता में वृद्धि होती । अच्छा गाँधी-मार्गी अच्छा हिन्दू भी है तथा अच्छा मुसलमान भी । ईसाई धर्म-ारकों को लक्ष्य करके एक बार गाँधीजी ने कहा था, "तुम हमें नया धर्म सिखाने इतने आतुर क्यों हो ? हमें अच्छा हिन्दू बनाओ, अच्छे नर-नारी बनाओ, यही है । नाम के परिवर्त्तन से हृदय तो परिवर्त्तित नहीं होगा । शब्दों के बदले यदि बोलना आरम्भ कर दे तो वह श्रेष्ठ है ।"

ाँधीजी ने जैसे बुनियादी शिक्षा की योजना निकाली, वैसे ही, उनका धर्म भी ादी धर्म था । बुनियादी धर्म में आध्यात्मिक स्वीकृति होती है, बौद्धिक समर्थन । उसमें हार्दिक भक्ति के कारण एकरूपता आती है, अनुष्ठानों की एकता के कारण । बुनियादी धर्म वह है जिसमें सभी धर्मों के मूल हैं, जहाँ से सभी नदियों को ा रहा है ।

□□□

---

६२८ का शेष ।]

नहीं है । राम-नाम का जाप चाहे जितना भी करो, यदि उससे आत्मा ान्दोलित नहीं होती, तो वह व्यर्थ है । प्रार्थना में निःशब्द हृदय का होना अच्छा किन्तु, हृदयहीन शब्दों का होना खराब है । भूखा मनुष्य जैसे भोजन से जी र कर आनन्द लेता है, भूखी आत्मा, उसी प्रकार, प्रार्थना से सन्तोष प्राप्त रती है ।

(यंग इण्डिया, २३ जनवरी, १९३०ई० ।)

प्रकरण १४

विश्वदर्शन के प्रवर्त्तक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन

जिस सांस्कृतिक नवोत्थान के सन्त परमहंस रामकृष्ण, कवि रवीन्द्रनाथ और कर्मयोगी महात्मा गाँधी हुए, उसके अप्रतिम दार्शनिक श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन हैं। भारत के मनीषियों का लक्षण रहा है कि वे जब भी भारतीय दर्शन को नया रूप देना अथवा उसकी नयी व्याख्या करना चाहते हैं, तब वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या करते हैं। प्रस्थानत्रयी में भारतवर्ष की श्रेष्ठतम दार्शनिक अनुभूतियाँ संचित हैं। और ये अनुभूतियाँ केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं हैं, उनका सार भारतवासियों के रक्त में मिश्रित हैं, उनके स्वभाव में समाया हुआ है, उनके विचारों और भावों के मूल में प्रतिष्ठित है। धर्म यहाँ वह है जो सन्तों के जीवन में दिखलायी पड़ता है, जैसा कि रामकृष्ण और गाँधी के जीवन में वह, अभी हाल में, दिखलायी पड़ा था। किन्तु, दर्शन हमारा गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में है। श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने प्राचीन दर्शनाचार्यों के समान गीता और प्रमुख उपनिषदों की व्याख्या लिखी है। ब्रह्मसूत्र की स्वतंत्र व्याख्या, यद्यपि, वे नहीं लिख पाये हैं[१], किन्तु ब्रह्म-सूत्र के शांकर भाष्य की व्याख्या से उनके सभी ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं। अतएव, प्रस्थानत्रयी की व्याख्या का कार्य उन्होंने एक प्रकार से पूरा कर दिया है और भारतीय विचारों के इतिहास में वे उस सरणी में गिने जा सकते हैं, जो शंकर और रामानुज की सरणी है।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म सन् १८८८ई० में हुआ था। उनके माता-पिता धर्म-सेवी और ईश्वर-भक्त थे। राधाकृष्णनजी की सारी शिक्षा-दीक्षा ईसाई धर्म-प्रचारक स्कूलों और कालेजों में हुई। आरम्भ में वे लूथर मिशन हाई स्कूल, तिरुपति में पढ़ते थे। फिर वे वेल्लोर के उरही कालेज में गये, और अन्त में, क्रिश्चियन कालेज, मद्रास में उन्होंने अपनी ऊँची शिक्षा समाप्त की। अतएव, कहा जा सकता है कि उनका बचपन और छात्र-जीवन ऐसे वातावरण में बीता जो धर्म का वातावरण था तथा जहाँ अदृश्य शक्ति के अस्तित्व की वात विवाद नहीं, विश्वास की चीज थी। इन्हीं कारणों से श्री राधाकृष्णन को दर्शन की उपलब्धि विज्ञान या इतिहास के द्वारा नहीं होकर धर्म के द्वारा हुई और इन्हीं कारणों से वे आधिभौतिक कोलाहल से भरे हुए काल में भी आत्मा का स्वर बन कर विश्व के समक्ष आये।

राममोहन राय, रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्र, गाँधी, तिलक और अरविन्द के समान, श्री राधाकृष्णन भी उन्नीसवीं सदी में होनेवाले सांस्कृतिक महा-

---

[१] इस ग्रन्थ के प्रथमतः प्रकाशित होने यानी सन् १९५६ई० के कोई चार वर्ष बाद डॉक्टर राधाकृष्णन ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या भी प्रकाशित कर दी।

रण की देन हैं। भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म को चुनौती यूरोप से आयी थी, रेजी पढ़े-लिखे लोगों से आयी थी। अतएव, राममोहन, केशवचन्द्र, एनी बीसेंट, कानन्द और अरविन्द के द्वारा अभिनव हिन्दुत्व की ओर से जो भी तर्क दिये गये उनके श्रोता, मुख्यतः, यूरोपीय विद्वान् अथवा अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतवासी थे। कृष्ण, दयानन्द और तिलक तथा गाँधी, इनके प्रधान श्रोता, भारतवासी अवश्य परन्तु, उनके सन्देश भी विश्व भर के विचारकों के पास पहुँचे। यह बड़ा कार्य । किन्तु, शुद्ध विद्या के क्षेत्र में उससे भी बड़ा कार्य अभी अधूरा पड़ा था। यूरोप च्य विद्या-विशारदों को भारत के अतीत के विषय में जो उत्सुकता जगी थी, के परिणामस्वरूप, भारत का अतीत प्रकाश में आया था और उसी प्रक्रिया में, तवासी भी अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति गौरव अनुभव करने लगे थे। किन्तु, यूरोप भाषा में भारत की समस्त साधना का वृत्तान्त अभी प्रस्तुत नहीं हो पाया था, न वालों को यही ज्ञात हो पाया था कि यूरोपीय विचारों की कसौटी पर भारतीय और दर्शन कहाँ तक खरे उतरते हैं। यह कार्य श्री राधाकृष्णन ने पूरा किया भारत की अभिनव व्याख्या करने के क्रम में, उन्होंने पाश्चात्य जगत् की भी त् व्याख्या कर दी। इस प्रकार, तुलनात्मक दर्शन का जन्म श्री राधाकृष्णन के में हुआ और उन्हीं के ग्रन्थों से प्रत्येक देश के विचारकों में यह भाव जाग्रत कि विश्व-दर्शन की रचना असम्भव नहीं, सम्भव कार्य है।[1]

एक शताब्दी से भी कुछ कम वर्ष हुए होंगे कि पूर्व और पश्चिम के बीच व्याकरण और भाषा-विज्ञान को छोड़ कर एकता का कोई मार्ग नहीं था। किन्तु, तब से एक प्रमुख परिवर्त्तन आया है, जिसकी गति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। पूर्वी विश्व अब यह मानने लगा है कि उसके अपने मूल्यों की रक्षा के लिए भी यह आवश्यक है कि पूर्वी जगत् पश्चिमी विज्ञान पर अधिकार प्राप्त करे। यही नहीं, प्रत्युत, विज्ञान के पीछे जो दार्शनिक मुद्रा होती है, उसे आत्मसात् करने से पूर्व की दार्शनिकता भी अधिक चमकेगी। और पश्चिमी विश्व के भीतर यह भावना जगी है कि पूर्व के पास जो आध्यात्मिक गहराइयाँ हैं, उन्हें ठीक से समझ लेने पर, कदाचित्, पश्चिमी जगत् को प्रतियोगिता की आपा-धापी से त्राण मिल सकता है तथा उसे बाह्य एवं आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो सकती है, जिसका वह कामी तो रहा है, किन्तु, जो उसे प्राप्त नहीं हो सकी है।....आज तक आधा विश्व दूसरे आधे विश्व की अनुभूतियों और अन्तर्दर्शिनी शक्तियों को ग्रहण करने में असमर्थ रहने के कारण, सम्पूर्ण विश्व की अपेक्षा दरिद्र रहा है। किन्तु, अब वह अवस्था समाप्त हो रही है और लोग प्रत्येक संस्कृति की विशिष्टताओं को ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। संसार भर में इस परिस्थिति को लाने का सर्वाधिक श्रेय राधाकृष्णन को है।

(हीरक-जयन्ती पर अर्पित ग्रन्थ "राधाकृष्णन" की भूमिका से।)

मिशनरियों की आलोचनाओं से ठेस

विचारों की जननी शंका है और दर्शन सात्विक सन्देह से जन्म लेता है। प्रचलित मतों के विषय में जब शंका उठने लगती है, तभी विचारकों को सोचने की उत्तेजना मिलती है। दर्शन की मुद्रा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य में शंका करने का साहस हो। राधाकृष्णन ईश्वर-भक्त माता-पिता के पुत्र थे और हिन्दुत्व के प्रति उनमें आरम्भ से ही श्रद्धा का भाव था। किन्तु, हिन्दुत्व पर दार्शनिक ढंग से विचार करने को वे इसलिए बाध्य हुए कि स्कूलों और कालेजों में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उनकी धार्मिक श्रद्धा को ठेस पहुँचायी एवं हिन्दुत्व के विषय में उनके मन में शंका डाल दी। श्री राधाकृष्णन ने अपनी "खण्डित आत्म-कथा" में स्वयं लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारक संस्थाओं के शिक्षकों ने मुझे श्रद्धाहीन बना कर जिज्ञासा की उस प्राथमिक अवस्था में डाल दिया जहाँ से सभी दर्शनों का जन्म होता है। वे लोग दर्शन के शिक्षक, व्याख्याता और टीकाकार थे। वे रह-रह कर ईसाई विचार और जीवन-पद्धति की भी दुहाई देते थे। किन्तु, सही अर्थ में, वे सत्य के प्रेमी या अन्वेषक नहीं थे। भारतीय विचारधारा की कड़ी आलोचनाएँ करके उन्होंने मेरी श्रद्धा को विचलित कर दिया और परम्परा के उन स्तम्भों को हिला डाला, जिनका मैं सहारा लिये हुए था।"[१]

श्रद्धा के विचलित होते ही श्री राधाकृष्णन की शंका जाग्रत हो गयी और उन्होंने देखा कि "यद्यपि, हिन्दुत्व विचारों की स्वतन्त्रता एवं मन के अनुशासन के सिद्धान्तों को तर्क से सिद्ध किये हुए है, तथा यद्यपि, उसकी अन्तर्दर्शिनी दृष्टि मूल ध्येय और विचारों के ढाँचे हमें आज भी पसन्द हैं, तथापि, उसने अपने सुदीर्घ जीवन में अनेक रूढ़ियों एवं मन-गढ़न्त सिद्धान्तों की रचना कर डाली है, जिनसे आत्मा के जीवन का मुक्त प्रसार असम्भव हो गया है। इसके सिवा, हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं, जब संसार भर के विचार हमें उत्तराधिकार के रूप में आप-से-आप प्राप्त हो गये हैं। भाँति-भाँति के दर्शनों और धर्मों का ऐतिहासिक ज्ञान हमारे भीतर संचित हो गया है। हम देखते हैं कि हमसे पूर्व असंख्य लोगों ने सृष्टि एवं परोक्ष सत्ता के विषय में वे ही प्रश्न उठाये हैं, जो हममें उठते हैं और उनमें से प्रत्येक इन प्रश्नों के उन्हीं उत्तरों को अन्तिम मानता है, जो स्वयं मुझे सूझे हैं। अनुमानों की इस असंख्यता को देखते हुए, यदि हम ईमानदार हों तो, हमारे लिए यह मानना कठिन हो जाता है कि सत्य केवल वही है जो हमें दिखायी देता है तथा बाकी लोग असत्य कह रहे हैं। इन अत्यन्त विरोधी अनुमानों का सामना करते ही, हम या तो परम्परा से जा चिपकते हैं अथवा फिर शंकावादी बन जाते हैं। ऐसे हीं विचारों ने हिन्दू-धर्म का आलोचनात्मक अध्ययन करने को मुझे बाध्य कर दिया।"[२]

---

[१] फ्रैगमेंट्स आव् ए कन्फेशन। [२] (क) वही।

[२] (ख) मैं भी हिन्दुत्व का अभिमानी था और मेरा यह अभिमान स्वामी विवेकानन्द के कर्तृत्व और उद्गारों से और भी प्रदीप्त हो उठा था। मिशनरी स्कूलों और

[शेष पृष्ठ ६४३ पर।]

और हिन्दू-धर्म का विधिवत् अध्ययन करते-करते श्री राधाकृष्णन भी उसी र्ष पर पहुँचे, जिसपर विवेकानन्द, गाँधी, रवीन्द्र और अरविन्द पहुँचे थे। तीय धर्म गर्हित नहीं, पुनीत है। धर्म मनुष्य का शत्रु नहीं, मित्र है। धर्म को अपयश प्राप्त हुआ वह इस कारण नहीं कि धर्म में बुराई है, प्रत्युत, इस कारण बुरे मनुष्यों ने धर्म का दुष्प्रयोग किया है। वस्तुतः, यूरोप की आधिभौतिकता के सम्पूर्ण कल्याण का मार्ग नहीं है। कल्याणमय वह तभी हो सकती है, जब साथ धर्म का संयोग हो। "भारतीय ज्ञान केवल भारतीय राष्ट्र के ही पुनरुत्थान लिए आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य-जाति मात्र के पुनः शिक्षण के लिए भी है।"[1]

यह राधाकृष्णन की विचारधारा का एक पक्ष है। किन्तु, वे भारतीय समाज के क मात्र नहीं हैं। सच पूछिये तो भारतीय सुधारक राममोहन, केशवचन्द्र, द, विवेकानन्द और तिलक ही हुए हैं। गाँधी और अरविन्द तथा रवीन्द्रनाथ य भारतीय समाज से अधिक मानव-जाति का सुधार अथवा रूपान्तरण था। ाद की जो भावना गाँधीजी के कर्मयोग, अरविन्द की साधना और रवीन्द्र के ें प्रतिफलित हुई, राधाकृष्णन ने उसका सम्पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया है। और न की रचना करने में उन्हें गाँधी, रवीन्द्र और अरविन्द की अनुभूतियों से भी यथेष्ट मिली है।

धीजी के सदृश राधाकृष्णन भी जीवन के कुछ क्षेत्रों को धार्मिक और कुछ को पेक्ष नहीं मानते। धर्म का प्रवेश वे जीवन के प्रत्येक कार्य में चाहते हैं। उसी जैसे अरविन्द का यह विश्वास था कि मनुष्य का कल्याण आत्मा के धरातल ीन होने में हैं, मानस से परे अतिमानस की स्थिति को प्राप्त करने में है, राधाकृष्णन भी आत्मा के जीवन[2] को मनुष्य का काम्य बताते हैं एवं ज्ञान से

---

४२ का शेष]

लेजों में हिन्दुत्व के प्रति जो बर्ताव किया जाता था, उससे मेरा यह अभिमान लमिला उठा। मैं यह बात मानने को तैयार नहीं था कि जिन हिन्दू योगियों र उपदेष्टाओं ने भारत की प्राचीन संस्कृति को हमारे लिए जुगा रखा है और नकी साधना का परिणाम हमारा समस्त ज्ञान है, स्वयं वे ही अधार्मिक क्ति थे। (माइ सर्च फॉर ट्रथ)

ाई आलोचकों की चुनौती से ही विचलित होकर मैं हिन्दुत्व का विधिवत् ्ययन करके यह पता लगाने को प्रस्तुत हुआ हूँ कि हमारे धर्म का कितना मृत और कितना आज भी जीवित है। (माइ सर्च फार ट्रथ)

र्क्स और उनके अनुयायी जिन ध्येयों को प्राप्त करना चाहते हैं, जिस दुःखदायी ा का शमन चाहते हैं, उसके लिए भी, हमें आध्यात्मिक जागरण की आवता है। अभिनव विश्व में एकता लाने और गति भरने के लिए यह आवश्यक कि इस विश्व की आध्यात्मिक प्रेरणा सुगम्भीर हो। आध्यात्मिकता के आधार ही हम सामाजिक कार्यक्रमों को पूरा कर सकते हैं।

(रिलीजन एण्ड सोसाइटी।)

आगे बढ़ कर सम्यक् ज्ञान अथवा सहज ज्ञान के उपयोग को उसका श्रेष्ठ साधन कहते हैं। और जिस विश्ववाद के स्वप्न हमें रवीन्द्र की रचनाओं में मँडलाते मिलते हैं, उन स्वप्नों को दार्शनिक आकार दे कर राधाकृष्णन ने विश्ववाद की कल्पना को स्थाय बना दिया है।

पूर्व और पश्चिम का मिलन

रवीन्द्रनाथ के विषय में यह, प्रायः, कहा जाता है कि वे केवल भारतीय संस्कृ की उपज नहीं थे, प्रत्युत, उनकी उत्पत्ति के पीछे यूरोपीय ज्ञानधारा का भी हाथ था किन्तु, यह उक्ति रवि बाबू पर जितनी लागू है, उससे अधिक वह श्री राधाकृ पर लागू की जा सकती है। उनका आविर्भाव भारतीय विचारधारा के व्याख्याता रूप में हुआ, किन्तु ; पाश्चात्य विचारधारा का भी उन्होंने थोड़ा आख्यान नहीं कि है। वस्तुतः, उनके उद्भव के पीछे पूर्वी और पश्चिमी, दोनों विश्वों की दार्शनि का हाथ रहा है। उन्होंने भारत की व्याख्या यूरोप के सामने और यूरोप का आख् भारत के समक्ष किया है। किन्तु, इतने से ही उनकी महत्ता की इतिश्री नहीं जाती। इससे आगे बढ़ कर उन्होंने यूरोप और भारत अथवा पूर्व एवं पश्चिम विचारधाराओं के बीच एक समन्वय का सन्धान किया है, एक सामंजस्य का लगाया है एवं दोनों विश्वों की विचारधाराओं को उन्होंने पास-पास ला दिया है।

विश्व की दार्शनिक विचारधारा को उन्होंने एक नया मोड़ दिया है, संसा चिन्तकों को उन्होंने एक नयी उत्तेजना दी है कि पश्चिम जिस उच्च दर्शन का अ करता है, पूर्वी जगत् के पास भी वैसा दर्शन विद्यमान है और विश्व का कल्याण ऐसे सामासिक दर्शन को खड़ा करने में है, जिसमें पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही द के श्रेष्ठ तत्त्व समन्वित हों। संसार के कोलाहल में उन्होंने सांस्कृतिक समन्व माधुरी का संचार किया है जिससे विश्व-दर्शन की उत्पत्ति दिनों-दिन सम्भव होती रही है। विज्ञान के चलते संसार सिकुड़ कर छोटा हो गया है। एक देश का दूसरे देश के लोगों तक अनायास पहुँच रहा है। विचारों की टकराहट से एक चेतना उत्पन्न हुई है कि मनुष्य-जाति एक है, वह एक समान आचरण करती हुई ही दिशा की ओर जा रही है। आदमी पूर्व का हो या पश्चिम का, उसकी शारी आवश्यकताएँ एक हैं, उसकी आत्मिक आवश्यकताएँ परस्पर समान हैं। देशों दीवारें खींच कर हम मनुष्य को मनुष्य से अलग नहीं रख सकते। प्रत्येक देश के म की जिज्ञासा इन दीवारों से ऊपर उठ कर एक ही दिशा की ओर प्रभावित हो है। "सभी मनुष्यों की मनोदशाएँ और रीतियाँ अब एक ही मानवचेतना के अंग मनुष्य का दर्शक मनुष्य है। क्षितिज पर एक नये मानवतावाद का उदय हो चुका इस बार वह भेदभाव से ऊपर उठ कर समग्र मानव-जाति का आलिंगन करेगा। हमें ऐसे आदर्शों एवं ऐसी संस्थाओं को अस्तित्व में लाना है, जिनके भीतर से विश्वा अपनी अभिव्यक्ति कर सके। उनका ध्येय विश्व-जीवन को एक नये साँचे में ढाल

---

१. ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट।

को जीने का एक नया ढंग सिखाना है एवं इस कार्य में वे पूर्वी धर्मों, विशेषत: धर्म और बौद्ध मत के कुछ अमर सत्यों का बड़ा महत्त्व मानते हैं।

आधुनिक भारत राजनैतिक एवं सांस्कृतिक, दोनों ही दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम युद्ध-क्षेत्र रहा है। राधाकृष्णन का जन्म इसी संघर्ष से हुआ है। कुछ लोग इस रण को अतीत का पुनरुज्जीवन (रिवाइवल) कह कर इसकी महत्ता को कम करते किन्तु, यह अतीत का पुनरुज्जीवन मात्र नहीं था। "देखना यह है कि अतीत कर वर्त्तमान की भूमि पर लानेवाले लोग कौन थे? ये वे लोग थे, जिन्होंने शिक्षा पायी थी, जो अँगरेजी के विश्वविद्यालयों से तेजस्वी होकर निकले थे। पाश्चात्य ढंग के पंडितों ने अतीत की नयी व्याख्या करके उसे वर्त्तमान के अनुरूप या। अतएव, भारत में अतीत ने वर्त्तमान को अपना विरोधी नहीं माना, न उसने अपना आधिपत्य ही जमाना चाहा। सांस्कृतिक जागरण के क्रम में भारत के ने भारत के वर्त्तमान के साथ सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित कर लिया। अतीत और वर्त्तमान के बीच का यह समन्वय भारत में पूर्व और पश्चिम का न्वय था। इस समन्वय की अभिव्यक्ति कला, साहित्य आदि में होती आ रही किन्तु, दर्शन के स्तर पर इस समन्वय को मूर्त्तिमान रूप श्री राधाकृष्णन ने किया।"[1]

धाकृष्णन अतीत की उपेक्षा नहीं सिखाते। परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी धनेवाली कड़ियाँ होती हैं। प्रगति उन्हीं विचारों के भीतर से जन्म लेती है, वह कुचलती-सी जान पड़ती है। जीवन की यात्रा अतीत को त्याग कर नहीं। जीवन तो अतीत को मान कर ही चलता है। जीवन अतीत को ले कर की चादर बुनता है और, इसी बुनावट के क्रम में, अतीत का पुनर्जन्म होता है। मुख्य बात यह है कि हम याद भी रखें और नयी रचना भी करते जाएँ। न तो पूर्व की करनी हैं, न पश्चिम की, न तो वर्त्तमान की करनी है, न अतीत अतीत से बिलकुल छिन्न होना किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता, न कोई लौट अतीत में पहुँच ही सकता है। पूर्वी जगत् में पश्चिम का आगमन वापस जाने को बल्कि, यहाँ ठहरने को हुआ है। इसी प्रकार, पूर्व ने पश्चिम को जो आध्यात्मिक ना दी है, वह भी वहाँ की संस्कृति को अनुप्राणित करनेवाली है। राधाकृष्णन न्देश है कि मनुष्य का भावी कल्याण इसमें है कि वह अतीत और वर्त्तमान तथा और पश्चिम के बीच समन्वय का पता लगाये तथा सामंजस्य स्थापित करे। जब एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से नहीं मिल सकते थे, तब तक देश-देश में य दर्शन रचे जाने का थोड़ा-बहुत औचित्य था। किन्तु, अब जब विचारों के न-प्रदान में कोई बाधा नहीं रह गयी है, तब राष्ट्रीय दर्शनों का औचित्य क्या हो ना है? मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक आवश्यकता यदि एक है तो उसका दर्शन एक होना चाहिये। और श्री राधाकृष्णन ने अब तक जो कुछ भी लिखा है, वह विश्व-दर्शन का आख्यान है।

---

[1] पी०टी० राजू ('द फिलासफी आव् सर्वपल्ली राधाकृष्णन' में।)

राधाकृष्णन का जन्म-काल भारत में पूर्व और पश्चिम के विवाद का काल था, किन्तु, राधाकृष्णन इस विवाद में किसी के भी पक्षपाती नहीं हुए। विश्व-मानव की समस्याओं का हाल उन्होंने केवल पुस्तकों से नहीं जाना, बल्कि, अपने विश्व-भ्रमण के क्रम में वे उनसे सीधा परिचय प्राप्त करते गये। अन्ततोगत्वा, वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि दोष यूरोप का नहीं, प्रत्युत, उस दृष्टिकोण का है, जिसकी अधीनता में आकर मनुष्य शरीर के सुख को अपना सर्वस्व मान बैठता है। दोष उस विचारधारा का है, जिसने मनुष्य को अपनी आत्मा की भूमि से उखाड़ कर अलग कर दिया है। अतएव, मनुष्य को आत्मा की ओर उन्मुख करने का कार्य उनका सबसे प्रिय कार्य हो उठा।

दर्शन की उत्पत्ति जीवन से

राधाकृष्णन दर्शन को केवल मानसिक व्यायाम का साधन नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दर्शन भी मनुष्य की समकालीन आवश्यकता से जन्म लेता है और उसका उद्देश्य मनुष्यों की जिज्ञासा का समाधान खोजना तथा उन्हें सन्तुष्ट करना है। इसीलिए राधाकृष्णन ने जो कुछ लिखा है, वह केवल बुद्धि की तुष्टि के लिए नहीं है, प्रत्युत, उससे समकालीन समस्याओं का समाधान भी प्राप्त होता है। वे एक साथ दार्शनिक, कवि और सुधारक हैं। इसीलिए, उनके लेखों से जीवन को गति मिलती है, मन को प्रेरणा एवं धार्मिक भावों को स्फूर्त्ति प्राप्त होती है। उनका दर्शन तर्क से निकल कर तर्क में ही विलीन नहीं होता, प्रत्युत, वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश करता है। वे सोद्देश्य दार्शनिक हैं एवं उनका उद्देश्य मनुष्य मात्र को शान्ति प्रदान करना है। "जो लाखों लाख मनुष्य धार्मिक दृष्टि से विस्थापित हो गये हैं और शरणार्थी की भाँति कला, विज्ञान, फासिस्टवाद, नाजीवाद अथवा मानवतावाद एवं साम्यवाद के अस्थायी शिविरों में आश्रय खोज रहे हैं, उनके भीतर आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्था जगाना मेरा सबसे प्रिय कार्य रहा है। रोग-मुक्ति का प्रथम सोपान विचारों की उस विशृङ्खलता को ठीक से समझना है जिसमें करोड़ों मानव फँसे हुए हैं। शंका और नास्तिकता की प्रवृत्ति को सबसे बड़ी उत्तेजना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वृद्धि से मिली है, टेकनॉलॉजी (उद्योग-विज्ञान) पर आधारित सभ्यता से मिली है। मनुष्य की सामाजिक चेतना जाग्रत हो गयी है और वह बाह्याचारों से ग्रसित कृत्रिम धर्म का विरोध कर रही है।"

विज्ञान पर विचार

राधाकृष्णन ने विज्ञान का अनादर नहीं किया है, किन्तु, उसके जो दोष हैं उनकी उन्होंने खुल कर भर्त्सना की है। मनुष्य का ध्यान ईश्वर, आत्मा और धर्म से हटाने में विज्ञान ने क्या अंशदान दिया है, इसे दिखलाते हुए वे कहते हैं कि बॉयलॉजी (जीव-विज्ञान) का आध्यात्मिक प्रभाव यह हुआ है कि मनुष्य किसी भी कार्य में अपने को स्वाधीन नहीं मानता। उसका विश्वास है कि प्राकृतिक नियमों की अधीनता में जैसे अन्य जीव चलते हैं, मनुष्य भी उसी प्रकार चलता है। परिस्थितियाँ जैसी होंगी, मनुष्य के कार्य भी वैसे ही होते जायँगे। अग्नि से जैसे और जीव तप्त होते हैं, वैसे ही मनुष्य को भी तप्त होना पड़ेगा। वासनाएँ जैसे अन्य जीवों को अपना दास बना लेती

मनुष्य के आगे भी उसके सिवा और कोई चारा नहीं है । इसी प्रकार, मनोविज्ञान मनुष्य को यह शिक्षा दी है कि सज्ञान अवस्था में भी वह स्वाधीन नहीं है । ऊपर न और चेतना की जैसी भी रोशनी फैली हुई हो, मानव-मन में पशुता के आवेग के-त्यों वर्त्तमान हैं और मनुष्य के सारे कार्य इन्हीं आवेगों से परिचालित होते हैं । य वातावरण का वन्दी है । उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जिससे वह वातावरण अवरोध या उससे अपनी रक्षा कर सके । विज्ञान की पृष्ठभूमि पर निर्मित अभिनव -शास्त्र का भी कहना है कि सनातन या नित्य कहलाने योग्य कोई नैतिक मूल्य है । नैतिक मूल्य भी बादलों के समान क्षणभंगुर होते हैं और जो परिस्थितियाँ परिवर्त्तन लाती हैं, उनपर हमारा कोई अधिकार नहीं है । तथा अभिनव ज्ञान की मान्यता है कि जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा अथवा वैज्ञानिक साधनों के म से देखी या परखी नहीं जा सकती, वह सत्य नहीं मानी जानी चाहिये । जिस ज्ञान में विचार आत्मा और परमात्मा को लेकर चलता है, उसे अभिनव तत्त्वज्ञानी ल या अनुमान कहते हैं । कविता और उपन्यास की भाँति धर्म और तत्त्वज्ञान द्या के अंग अवश्य हैं, किन्तु, वे केवल भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं, उनसे ज्ञान ा शान्त नहीं होती । यही नहीं, विज्ञान यह भी कहता है कि एक दिन विश्व ि समाप्त हो जायगी और सब कुछ निर्जीव हो जायगा ।

विज्ञान ने आधिभौतिक सुखों में तो काफी वृद्धि की, किन्तु, मनुष्य के मन को विषण्ण बना डाला । आत्मा, परमात्मा एवं सृष्टि के ध्येय और उद्देश्य को ारणीय बता कर उसने मनुष्य को, मानों, यह शिक्षा दी है कि तुम्हारा काम ना, बढ़ना, कमाना और खर्च करना, सन्तान उत्पादन करके वृद्ध होना और फिर विश्वास को लेकर मर जाना है कि मनुष्य-शरीर भी प्रकृति-परिचालित यंत्र है इस यंत्र की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अतिरिक्त मानव-जीवन का और कोई नहीं है ।

इतना सदोष होते हुए भी, विज्ञान सार्वभौम तत्त्व है । जैसे देश-देश में अनेक धर्म दूसरे से आगे निकल जाने को वेचैन हैं, वैसी प्रतियोगिता विज्ञान में नहीं है । वैज्ञानिक न्धान या आविष्कार चाहे जिस किसी देश में होता हो, सारे विश्व के वैज्ञानिक अपने क्षेत्र की प्रगति मानते हैं । भौगोलिक दृष्टि से भी विज्ञान सार्वभौम विद्या क्योंकि इसका प्रचार सारे विश्व में है । प्रकृति चूँकि एक है, इसलिए, विज्ञान भी ही हो सकता है । सार्वभौम मानव-जाति का आविर्भाव हो, यह विज्ञान की भी ाजिक अभिलाषा है । यही नहीं, प्रत्युत, विज्ञान की सारी शक्तियों के विषय में कृष्णन बड़े ही उत्साह से बोलते हैं । "कृषि और उद्योग में वैज्ञानिक साधनों के ग से जीवन में अद्भुत क्रान्ति उपस्थित हो गयी है । यदि हम चाहें तो अब संसार ुधा, अभाव, दरिद्रता, रोग और अशिक्षा को निकाल बाहर करने में सफल हो े हैं । किन्तु, ये दुर्गुण संसार में यदि आज भी वर्त्तमान हैं तो इसका कारण यह के हम अन्यायपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को कायम

रखने के लिए वैज्ञानिक शक्तियों का दुरुपयोग कर रहे हैं। गलती विज्ञान और टेकनॉलॉजी में नहीं, मनुष्य के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में है। गलती की असली जगह मनुष्य का औद्योगिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण है, उसका शक्ति, सुविधा और विलासिता का सिद्धान्त है।''

राधाकृष्णन इस बात को भी नजर-अन्दाज नहीं करते कि आज का औसत वैज्ञानिक औसत धार्मिक व्यक्ति से अधिक ईमानदार है। यही नहीं, प्रत्युत, आधुनिक विश्व में समाज की प्रगति के, प्रायः, सारे कार्य ऐसे ही लोगों के नेतृत्व में पूरे किये गये हैं, जिनकी दृष्टि धार्मिक रही हो या नहीं, किन्तु, वह वैज्ञानिक अवश्य थी।

राधाकृष्णन मानते हैं कि धार्मिकता आज भी हमारी बाधा नहीं हो सकती। किन्तु, मनुष्य जैसे विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है, वैसे ही, उसने धर्म का भी दुरुपयोग ही किया है, क्योंकि आज की दुनिया में हम सब-के-सब नास्तिक हैं। हमारा ईश्वरीय सत्ता में विश्वास, हमारी पूजा और प्रार्थना, ये सब कृत्रिम आचार हैं। जब हम पूजा करते होते हैं, तब भी हमारा ध्यान पूजा में नहीं होकर कहीं और होता है। हमारा प्रत्येक कर्म इस बात की गवाही देता है कि हम ईश्वर में विश्वास नहीं करते। हम परमात्मा के सामने नहीं झुक कर संसार के सामने झुकते हैं। दुनिया में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो ईश्वर की अपेक्षा हमें अधिक पसन्द न हो। राधाकृष्णन कहते हैं कि यदि हम धार्मिक होने का दावा करते हैं, तो धर्म को हमें अपने जीवन में उतारना चाहिये। यदि जीवन धर्ममय नहीं है, तो फिर धर्म निर्जीव सिद्धान्त मात्र रह जाता है।

धर्म जीवन से एकाकार हो

ऐसा क्यों हो रहा है ? पहली बात तो यह है कि धर्म को हमने गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया। उसकी अनिवार्यता में हमारा विश्वास नहीं है। जिन्होंने धर्म को गम्भीरता से ग्रहण किया भी है, उनका व्यक्तित्व फटा हुआ है और इसी विभक्त व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब वे समग्र विश्व में देखते हैं। वे संसार को दो भागों में बाँटते हैं। विश्व-जीवन का एक भाग वह है जो ईश्वरमय है, जिसमें सभी जीव एक हैं, जिसके अणु-अणु में धर्म का वास है। किन्तु, जो व्यवसाय और जीविका का संसार है, उसे वे ईश्वर से विच्छिन्न मान कर चलते हैं तथा यह समझते हैं कि इस व्यवसायी विश्व में अशान्ति और संघर्ष, विरोध और दुराव तथा छल और प्रपंच, सभी क्षम्य हैं। ऐसे लोग, वस्तुतः, पलायनवादी कहे जायँगे। वे व्यवसाय की दुनिया में जब थक जाते हैं, तभी, केवल विश्राम पाने को धर्म की दुनिया में आते हैं और अपनी वैयक्तिक साधना और अनुमान को धर्म का सम्पूर्ण रूप मान कर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन का ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म सम्पूर्ण जीवन की पद्धति है, वह नश्वर में अविनश्वर तथा अचिर में चिर का अनुसन्धान है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की उपस्थिति में करें और

कार्यों के समय उसे भुला दें। धर्म ज्ञान और विश्वास से अधिक कर्म और ावरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, तो हमारे चरण में इस विश्वास का प्रमाण मिलना ही चाहिये।

विज्ञान के प्रति कटु हुए बिना राधाकृष्णन मनुष्य को इस योग्य बनाना चाहते हैं वह विज्ञान का उपयोग सर्वजन-कल्याण के लिए कर सके। किन्तु, उनका मत है जब तक मनुष्य आत्मा को नहीं पहचानता एवं धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर ष्ठित नहीं करता, तब तक उसमें विज्ञान के कल्याणकारी उपयोग की योग्यता नहीं गी।

विज्ञान को छोड़ें या न छोड़ें, मनुष्य के आगे यह प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि ानिक साधनों के प्रयोग से आदर्श व्यक्ति और आदर्श समाज का निर्माण किस प्रकार या जा सकता है। राधाकृष्णन का निश्चित उत्तर है कि यह कार्य मनुष्य की आध्या-क शक्तियों को जगाये बिना सम्पन्न नहीं किया जा सकता। "हमारे विचारों की ा ईश्वरीय होनी चाहिये। हमारे संकल्पों का आरम्भ ईश्वरीय इच्छा में होना हिये। हमारी भावनाओं को ईश्वरीय आनन्द से एकाकार होना चाहिये। सत्य, और सुन्दर से समन्वित जिस व्यक्तित्व को हम ईश्वर का नाम देते आये हैं, उसका क-से-अधिक सामीप्य प्राप्त करना मानव-जीवन का उद्देश्य है। अपने-आपको रीय सत्ता के स्तर तक ले जाना, यह मनुष्य का श्रेष्ठतम ध्येय है।"

विन्द के प्रसंग में

जिस प्रकार, अरविन्द ने मानव-जाति के अति-मानव-जाति में रूपान्तरण को मनुष्यों मारी समस्याओं का समाधान माना है, उसी प्रकार, राधाकृष्णन भी वैज्ञानिक मनुष्य भीतर धार्मिक मनुष्य को जगा कर संसार में समृद्धि, सौख्य और शान्ति लाना ते हैं। "ईश्वरीय सत्ता के समीप अथवा शान्ति और सामंजस्य की स्थिति विरले ही लोग पहुँचे हैं। किन्तु, ये लोग उस उच्चता के साक्षी हैं जहाँ तक वता गमन कर सकती है तथा ये ही लोग संकेत देते हैं कि मनुष्य को कौन रूप ा चाहिये। ये आध्यात्मिक व्यक्ति मनुष्य की उस नयी जाति का पूर्वाभास दे गये जिसका उदय और आविर्भाव अवश्यम्भावी है। जो उपलब्धि कुछ थोड़े व्यक्तियों के सम्भव है, वह सब के लिए सम्भव होनी चाहिये। यह ध्रुव है कि, कभी-न-कभी मानव-जाति उस ध्येय को प्राप्त करेगी। आज तक हम व्यक्तियों को ईश्वर का तार मानते आये हैं। किन्तु, ईश्वरावतार की अनुभूति जब व्यक्ति में नहीं होकर, समूह में होने लगेगी, तभी नयी मानवता का आविर्भाव होगा, तभी आज की नवता किसी उज्ज्वलतर मानवता में रूपान्तरित होगी, तभी मनुष्य मात्र का पुनर्जन्म गा और तभी संसार की नवीन रचना सम्भव होगी। आध्यात्मिक मनुष्य का आविर्भाव न का अगला सौभाग्य है। यही आध्यात्मिक आदर्श हमारे भीतर रचनात्मक क्तियों का रक्षण करेगा, निष्प्राण बुद्धि से हमें रक्षा और त्राण देगा तथा हमारी नाओं को रचनात्मक रूप दे कर मन, आचरण और आत्मा से हमें एक बना कर व-बन्धुत्व को सम्भव बनायेगा।"

अरविन्द का विश्लेषण यह है कि आदि में केवल भूत या द्रव्य था। उससे जीव की उत्पत्ति हुई और जीव से मस्तिष्क उत्पन्न हुआ। मनुष्य अभी मस्तिष्क के धरातल पर है, किन्तु, यह उसके विकास का अन्तिम सोपान नहीं है। उसे मानस के स्तर से उठ कर अति-मानस की अवस्था में पहुँचना चाहिये। कुछ इसी प्रकार का विश्लेषण श्री राधाकृष्णन का भी है। वे भी कहते हैं कि ''लाखों वर्ष के विकास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह मानने का साहस नहीं होता कि मस्तिष्कधारी जीव अर्थात् चिन्तक-मनुष्य के आविर्भाव के साथ विकास की प्रक्रिया समाप्त हो गयी। उपनिषदों का कथन है कि अभी और भी सोपान हैं, जिनपर मनुष्य को अपना पाँव रखना है। जानवरों में जो चालाकी की प्रवृत्ति थी, वही बढ़ कर मनुष्यों की पूर्व-दर्शिनी दृष्टि हो गयी। अब मनुष्य की आत्म-चेतना को विकसित होकर व्यापक दृष्टि अथवा ज्योतिर्मयी विशाल चेतना में रूपान्तरित होना है। बुद्धि में जो द्वन्द्व और अशान्ति है, उससे आगे बढ़कर हमें सम्पूर्ण सत्य को अधिकृत करना है। सेंट पॉल के अनुसार, आत्मा का श्रेष्ठतम फल आनन्द है। हम इसी आनन्द की स्थिति में पहुँचनेवाले हैं। आज के बौद्धिक मनुष्य और आगामी आध्यात्मिक मनुष्य में वही भेद होगा, जो पशुओं और आज के मनुष्यों में है अथवा जो भेद पौधों और पशुओं के बीच देखा जा सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। हम जो थे, उसी से हमारा आज का रूप विकसित हुआ है। पूर्वजों ने जो कुछ भी अनुभव किया, जो भी संकल्प या आचरण किया, उन सब का परिणाम आज का मनुष्य है। यदि वर्त्तमान मनुष्य के विचार और भाव संकुचित रहते हैं, तो उसके विकास में बाधा पड़ेगी। इसके विपरीत, यदि हम अपने अहं की संकीर्णता का त्याग करते हैं, अपना हृदय सब के लिए उन्मुक्त करते हैं, अपने भीतर के आनन्द और प्रेम को उमड़ कर दूसरों को भिगोने देते हैं, तो इससे हमारे विकास की प्रक्रिया तेज हो जायगी। आध्यात्मिक जीवन मानव-जीवन की अस्वीकृति में नहीं, वरन्, उसकी पूर्णता में है।''[1]

नीत्शे, इक़बाल और अरविन्द जिस अगले मनुष्य को अतिमानव कहते हैं, उसे राधाकृष्णन केवल आध्यात्मिक मनुष्य मानते हैं और इस प्रसंग में वे अरविन्द से अधिक गाँधीजी के समीप पड़ते हैं। वे यह मानते हैं कि षड्विकारों से बच कर धर्म की राह पर चलने की जो शिक्षा परम्परा ने दी है, मनुष्य की प्रगति और उद्धार की वही राह है। विकारों के बन्धन से मुक्त होकर धर्म के मार्ग पर चलना, इसे ही वे आध्यात्मिक धर्म कहते हैं। मनुष्य को धर्म का ज्ञान नहीं है, ऐसा वे नहीं मानते। उनके विलाप का कारण यह है कि मनुष्य धर्म को समझ कर भी उसका आचरण नहीं कर रहा है। ''क्या हम सदैव, इसी प्रकार, ऊँचे ध्येयों को सामने रख कर नीच कर्म करते जायँगे? क्या हमारा यही भाग्य है कि हमारा व्यक्तित्व विभक्त रह जाय? हम सार्वभौम मानवीय संस्कृति के आदर्श को सामने रखते हुए ऐसी गर्हित नीतियों का पालन क्यों करते हैं, जिनसे सार्वभौम बर्बरता का प्रचार होता है? मनुष्य जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा है, उससे तो यही दीखता है कि विनाश से वह बच नहीं सकेगा। उसके

---

[1] फ्रैगमेंट्स आव् ए कनफेशन।

ने केवल दो विकल्प हैं। या तो उसे परिवर्त्तित होना है अथवा वह विनष्ट हो गा। मनुष्य का वर्त्तमान रूप विकास की लिखावट का अन्तिम शब्द नहीं है। द वह परिवर्त्तित नहीं होता, यदि वह नये विश्व से सामंजस्य बिठाने के लिए अपनी ओं तथा अपने-आप को नहीं बदलता, तो वह विनष्ट हो जायगा और उसके स्थान किसी ऐसी जाति (योनि या स्पेसीज़) के जीव उत्पन्न हो जायँगे, जिनमें शरीर की आत्मा प्रधान होगी। यदि मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता, जिसकी अपेक्षा तो इस कार्य के करनेवाले अन्य योनि के जीव उत्पन्न होकर रहेंगे।"[1]

त्मा का धर्म

राधाकृष्णन के दर्शन का सारा लक्ष्य मनुष्य को यह विश्वास दिलाना है कि वह शरीर नहीं, आत्मा भी है, प्रत्युत, शरीर की सबसे बड़ी सार्थकता वे यह मानते उसकी क्रियाओं और चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्ति आत्मा की हो। अतएव, धर्म दर्शन का केन्द्र-विन्दु बन गया है। किन्तु, राधाकृष्णन का उद्देश्य मनुष्य को धर्म की शिक्षा देना नहीं है, जो धर्म-ग्रन्थों में आख्यात है अथवा जिसे ले कर दाय खड़ा किया जाता है अथवा जो धर्मगुरु-विशेष के उद्‌गारों से सीमित होता है। कुरान, बाइबिल, जेन्दावेस्ता और त्रिपिटकों में जो अलग-अलग धार्मिक पन्थ बताये उनमें से कोई भी पन्थ राधाकृष्णन का प्रतिपाद्य नहीं है। वे उस धर्म पर जोर जो इन सभी धर्मों के मूल में निहित है। जिसे लेकर सच्चे ईसाई, सच्चे हिन्दू सच्चे मुसलमान, परस्पर विवाद नहीं करके, धार्मिकता के एक ध्येय के सामने, मान अवनत हो जाते हैं। थियोसोफ़ी जिन गुणों को ऊपर उठा कर सभी धर्मों क करना चाहती थी, वे गुण राधाकृष्णन द्वारा आख्यात धर्म में विद्यमान हैं। ष्ण और अरविन्द ने धर्मों की जिस एकता की अनुभूति की थी, वह राधाकृष्णन र्शन में अनेक तर्कों से प्रतिपादित की गयी है। अपनी पसन्द के इस धर्म को राधा-न आत्मा का धर्म कहते हैं।

यह आत्मा का धर्म क्या है? प्रत्येक धर्म में सत्य का शोध करते-करते हमें जब कुछ नहीं सूझता, तब हम बाइबिल या कुरान अथवा गीता या वेद से एक वाक्य कर कह बैठते हैं कि हम जो कहना चाहते हैं, उसका प्रमाण यह है। यह ढंग वादी धर्म का है, जिसके उज्ज्वलतम उदाहरण ईसाई मत और इस्लाम हैं। न्थों से प्रमाण उद्‌धृत करके सत्य को जबर्दस्ती मनवाने की प्रवृत्ति हिन्दुत्व और मत में भी है, किन्तु, हिन्दुत्व में इस प्रवृत्ति का प्राबल्य नहीं है। अनेक वादों, तान्तरों एवं पन्थों का जन्मदाता होने के कारण, हिन्दुत्व प्रमाणों पर कम भरोसा है। वह, मुख्यतः, मुक्तचिन्तकों का धर्म है। इसलिए, हिन्दुत्व राधाकृष्णन की के धर्म की कल्पना से मिलता-जुलता है। आत्मा के धर्म की आवश्यकता, त, इस कारण अनुभूत हुई कि पैगम्बरों और धर्म-प्रवर्त्तकों की प्रत्येक उक्ति को प्रमाण मान कर चलने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित होती है। जैसे इतिहास,

---

[1] र्ट जर्नल, १९३६ ई०।

विज्ञान आदि विद्याओं में कोई भी बात इसलिए सत्य नहीं मानी जाती कि किसी महाविद्वान् ने उसे कहा है, उसी प्रकार, धर्म में भी कोई बात केवल इसीलिए सत्य नहीं मानी जानी चाहिये कि वह वेद, कुरान या बाइबिल में लिखी हुई है। धर्म का भी एक पक्ष बुद्धि और विचार का विषय है तथा जो बात बुद्धि में नहीं आती हो, उसे नहीं मानना ही धर्म है। अन्धा होकर किसी प्राचीन विचार से चिपके रहने की अपेक्षा शंकालु होकर धार्मिक सत्यों का शोध करने को राधाकृष्णन धार्मिकता का अधिक श्रेष्ठ रूप मानते हैं। उन्होंने कई स्थानों पर बुद्ध के इस वचन को दुहराया है कि मेरे वचनों को इसलिए मत मानो कि उन्हें मैंने कहा है, बल्कि, इसलिए कि वे तुम्हारी बुद्धि से भी मान्य हैं।

इससे यह प्रश्न उठता है कि तब धार्मिक सम्प्रदाय जो यह दावा करते हैं कि उनके धर्म ईश्वर के द्वारा आख्यात या प्रदत्त हैं तथा उनके धर्म-ग्रन्थ ईश्वर ने बनाये हैं, वह बात सत्य है या नहीं। राधाकृष्णन यह नहीं कहते कि धर्म ईश्वर की देन नहीं हैं अथवा धर्म-ग्रन्थों का परोक्ष सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है। निदिध्यासन और समाधि में जाकर ही मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है और ऐसे ही व्यक्तियों की अनुभूतियाँ धर्म-ग्रन्थों का आधार हैं। अतएव, धर्म ग्रन्थों के भीतर ईश्वरीय अनुभूति अवश्य है, क्योंकि समाधि की अवस्था में केवल मनुष्य ही ईश्वर तक नहीं पहुँचता, वरन्, ईश्वर भी मनुष्य के पास पहुँच जाता है। इन अनुभूतियों को सामने रखें तो सभी धर्म सत्य हैं, प्रत्युत, सभी धर्म एक ही धर्म हैं और इसी धर्म को राधाकृष्णन आत्मा का धर्म कहते हैं। इसी प्रकार, इन अनुभूतियों के द्वारा जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वही सनातन दर्शन या 'पिरेनियल फिलासफी' है। यह दर्शन भी किसी एक धर्म की पूँजी नहीं होकर सभी धर्मों में व्याप्त है और राधाकृष्णन इसी दर्शन को ऊपर उठाना चाहते हैं।

बाह्य आचार और अनुष्ठान, ये निचले स्तर की क्रियाएँ हैं। ऊँचा धर्म आचारों और अनुष्ठानों में नहीं वसता। वह मन की एकाग्रता और समाधि में जगता है। वह उस आन्तरिक एकान्त में चमकता है, जहाँ हम ईश्वर से एकाकार होने की चेष्टा करते हैं। धर्म की भाषा औपचारिक प्रार्थना और स्तोत्र नहीं, प्रत्युत, आत्मिक अनुभूति की भाषा होती है। बुद्धि का प्रत्येक क्षेत्र शंका का क्षेत्र है। बुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वयं को काटनेवाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किन्तु, प्रत्येक मनुष्य को, कहीं-न-कहीं, पहुँच कर अपने-आपका विश्वास करना ही पड़ता है। हम जब भी ऊँची मानसिक स्थिति में होते हैं, हमें लगता है, मानों, हम अपने से किसी बड़ी सत्ता के सम्पर्क में आ गये हों; मानों, यह सत्ता ही सबसे बड़ी वास्तविकता हो। मनुष्य के इस आन्तरिक प्रसार को राधाकृष्णन धर्म का सबसे बड़ा लक्षण मानते हैं।

इनट्यूइशन या सम्बुद्धि

किन्तु, धर्म द्वारा वे मनुष्य के भीतर जो अनुभूति जगाना चाहते हैं, मनुष्य को जिस लोक में ले जाना चाहते हैं, उसका साधन बुद्धि नहीं, सहज या सम्यक् ज्ञान है।

मान्य अर्थ में दर्शन बुद्धि पर आश्रित विद्या है, अतएव, राधाकृष्णन दर्शन को भी र्ण मानते हैं। "दर्शन हमें गन्तव्य देश के द्वार तक ले जाता है, किन्तु, उस देश में हमारा प्रवेश नहीं करा सकता। उसके लिए तो आध्यात्मिक दृष्टि अथवा अनुभूति सहारा लेना होगा। संसार के अन्धकार में हम अबोध बच्चों के समान भटक रहे । हमें अपनी प्रकृति का ज्ञान नहीं है। हम मिथ्या भय और मिथ्या आशा से परि-लित हो रहे हैं। इसीलिए, उस प्रकाश की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है, जो हमें नाओं के तिमिर से मुक्त कर सके, जो हमें सत्य का दर्शन करा सके।[1] सत्य का बुद्धि के धरातल से परे, बड़ी गहराई में है। इस गहराई तक हम केवल निदिध्या-और समाधि के द्वारा ही पहुँच सकते हैं।

भौतिकवादियों के यहाँ तर्क और बुद्धि का जितना आदर है, राधाकृष्णन सम्बुद्धि या क् ज्ञान का उतना ही आदर करते हैं। किन्तु, यह सम्बुद्धि या सम्यक् ज्ञान क्या है, लेकर काफी विवाद रहा है। अवश्य ही, राधाकृष्णन इसका प्रयोग उस शक्ति के में करते हैं, जिससे योगियों को अलौकिक बातों का ज्ञान होता है, जिससे निषद् के ऋषियों को सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का पता चला था, जिससे कवियों और ाकारों को जड़ में छिपे हुए चेतन के सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है, जिससे ानवेत्ता आविष्कार और द्रष्टा-पुरुष महत् सत्य के दर्शन करते हैं।

तर्कों का सहारा लिये विना भी मनुष्य एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, सत्य है। पशु विना सोचे-समझे आसन्न संकट को भाँप जाते हैं, यह उनकी सहज त्ति या इंसटिंक्ट है। पैगम्बरों पर सत्य अनायास प्रकट हो जाता है, जिसे दैवी क्षीकरण या रिवीलिशन कहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक शक्ति ती है जो उसे तर्कों के बिना ही सत्य का ज्ञान करा देती है। राधाकृष्णन इस सत्य विश्वासी हैं एवं उनका विचार है कि इस शक्ति को जाग्रत किये बिना मनुष्य उन षों से उद्धार नहीं पा सकता, जो बुद्धि के दोष हैं। इस सहज ज्ञान को सुस्पष्ट करने लिए उन्होंने बहुत लिखा है। किन्तु, वह इतना सुस्पष्ट अब भी नहीं है कि सभी द्धिवादी उसे स्वीकार कर लें। वस्तुतः, सम्बुद्धि या सहज-बुद्धि सामान्य बुद्धि का तिक्रमण करनेवाली शक्ति है, अतएव, उसकी व्याप्तियाँ बुद्धि की भाषा से ठीक से मझी भी नहीं जा सकतीं।

सहज-बुद्धि में बुद्धि का विरोध नहीं है, प्रत्युत, वह बुद्धि के समस्त गुणों को लेती भी बुद्धि से आगे तक जाती है।[2] इसलिए, राधाकृष्णन ने उसका नाम 'सम्यक् ान' रखा है। "सहज ज्ञान विचारों से मुक्त नहीं, प्रत्युत, उनपर प्रबलता से

---

[1] इण्डियन फिलासफी, भाग १।

[2] यद्यपि सहज ज्ञान बुद्धि के परे है, किन्तु, उससे बुद्धि का विरोध नहीं होता। इसका नाम सम्यक् ज्ञान या पूर्ण ज्ञान है। विचारपूर्वक प्रगति करनेवाला ज्ञान तैयारी मात्र है, जिससे हमें सम्यक् अनुभूति प्राप्त करनी है।

(आॅयडियलिस्ट व्यू आॅव् लाइफ़।)

आधारित होता है। वस्तुतः, हमारे सोचने की प्रक्रिया में सम्यक् चिन्तन की प्रक्रिया सम्मिलित रहती है। यह विचार की प्रक्रिया के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने वाली शक्ति है, किन्तु, विचार वस्तु के बाहरी रूप तक ही पहुँच पाते हैं, जब कि सम्यक् ज्ञान की शक्ति उसके भीतर की वास्तविकता को देख लेती है। सम्यक् ज्ञान का स्फुरण बहुत काल के अध्ययन, मनन, विश्लेषण और निदिध्यासन के परिणामस्वरूप होता है, अतएव, उसका रूप संश्लिष्ट होता है तथा वह बुद्धि के उस रूप से श्रेष्ठ होता है, जिसका कार्य केवल विश्लेषण करना है। पूर्ण और अंश के बीच जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ज्ञान और सम्यक् ज्ञान के बीच रहता है।"[1]

कोई शतरंज खेल रहा हो या गणित की समस्या सुलझा रहा हो, किन्तु, जहाँ भी विचारों में केन्द्रित गति काम करती है, वहाँ विचारों का मार्ग-प्रदर्शन सम्यक् ज्ञान ही करता है। "अनुसन्धानों और आविष्कारों के काम केवल तर्क के नियम से नहीं चलते। आविष्कारकों के भीतर विचारों के इतने गहरे आन्दोलन चलते होते हैं कि वे तर्क के नियंत्रण में नहीं रखे जा सकते। हम आविष्कार तो सम्यक् ज्ञान के बल पर करते हैं, हाँ, उसे प्रमाणित करने के समय हमें तर्क से काम लेना पड़ता है।"[2]

सम्यक ज्ञान की स्फुरणा एकाग्र-चिन्तन से होती है, एक ही विषय पर दिन-रात ध्यान लगाये रहने से होती है। "निदिध्यासन (Brooding) सोचने की उस प्रक्रिया का नाम है, जिसमें मनुष्य सम्पूर्ण मस्तिष्क तथा समग्र अस्तित्व से सोचता होता है। सम्यक् चिन्तन संश्लिष्ट चिन्तन है, पूर्ण चिन्तन है। यह चिन्तन की वह प्रक्रिया है जिससे सभी इन्द्रियाँ, सम्पूर्ण बुद्धि, समग्र चेतना, वस्तुतः, सारा अस्तित्व विचारों से संचालित रहता है। शरीर का कोई अवयव नहीं है, जो मन या आत्मा के नियंत्रण से परे हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सारा व्यक्तित्व एक है। उसके अवयव, मन और चित्त उस एक ही व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। बुद्धि से जो विचार तैयार होता है, उस विचार को मनुष्य के अन्तर्मन के भीतर पहुँचना चाहिये, जिससे चिन्तक के चेतन और अचेतन, दोनों ही अंश, उस विचार से अनुप्राणित हो सकें। शब्द और विचार, दोनों को मनुष्य के मांस में मिल जाना है। मानव-मनोविज्ञान का यही परिवर्त्तन, मनुष्य के व्यक्तित्व का यही रूपान्तरण रचनात्मक कहलाता है। रचना मनुष्य की वह मानसिक प्रक्रिया है, जिससे वह अपनी अपरिचित एवं निगूढ़ आत्मा को जानने में समर्थ होता है।"[3]

राधाकृष्णन के समस्त दर्शन का ध्येय मानव-स्वभाव में आध्यात्मिकता को सर्वाधिक महत्त्व देना है। मनुष्य की रचना में हम द्रव्य, जीवन और मस्तिष्क को प्रमुख पाते हैं, किन्तु, मनुष्य इनमें से कोई भी वस्तु नहीं है। वह इन तीनों के योग से भी आगे की चीज है। जब तक मनुष्य के भीतर यह चेतना उत्पन्न नहीं होती कि

---

[1] स्पिरिट ऑव् मैन। [2] ऑयडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ़।

[3] ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट।

और कुछ न हो कर आत्मा है, तब तक, संसार की समस्याओं का सच्चा समाधान नहीं मिलेगा।

त्ति और हिन्दू-धर्म

हिन्दुत्व के विषय में पाश्चात्य जगत् के विद्वान् यह कहते हैं कि उसमें निवृत्ति प्रधानता है। किन्तु, राधाकृष्णन इस आरोप को नहीं मानते। आध्यात्मिक तियाँ केवल संसार-त्याग और वैराग्य से ही नहीं आ जातीं। उन्हें प्राप्त करने र्ग विश्व-सेवा का भी कार्य है। "जिस जीवन में सेवा-भावना, यज्ञ और आत्म- की प्रचुरता है, उसी के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती षों की एकान्त साधना के बाद बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, किन्तु, बुद्ध का जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में ही व्यतीत हुआ। महायान-धर्म का तो त ही है कि मुक्त पुरुष में भी दुःखी मानवता के लिए दया का भाव शेष रहता गाँधीजी धर्म के मनुष्य थे, किन्तु, विश्व को छोड़कर उन्होंने अपनी मुक्ति अन्यत्र खोजी। सेवा की क्रियात्मक भावना आध्यात्मिक जीवन का ही अंश है।"

राधाकृष्णन ने गाँधीजी के सिद्धान्तों और उनके प्रयोगों की काफी प्रशंसा की है। ता की भी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या का समर्थन करते हैं। गीता केवल सिद्धान्तों का न न करके व्यावहारिक धर्म को प्रधानता देती है। गीता के अनुसार, मनुष्य ाजिक और नागरिक कर्त्तव्य ही धर्म के क्रिया-क्षेत्र हैं, धर्म-कार्य के वास्तविक हैं। धर्म वह है जिससे सांसारिक अभ्युदय और आध्यात्मिक उन्नति, दोनों ही होते हैं। "प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयस्हेतुः यः सः धर्मः।" गीता की वह रहस्यवाद नहीं है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के केवल आन्तरिक जीवन से है। जीवन के कर्त्तव्यों और सम्बन्धों को माया या निस्सार मानने के बदले, उन्हें ऐसे अवसरों के रूप में स्वीकार करती है, जिनका उपयोग करके हम त्मिक मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।[1]

किन्तु, कदाचित्, वे गाँधीजी के सदृश यह नहीं मानते कि मुक्ति का एक-मात्र विश्व-सेवा का मार्ग है। विश्व-सेवा का महत्त्व राधाकृष्णन इसलिए स्वीकार हैं कि विश्व अभी दुःखी, त्रस्त एवं शंका तथा कोलाहल से पूर्ण है और, अपने न रूप में, वह आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल नहीं है। अतएव, सम्पूर्ण विश्व ं से एकाकार करने के लिए हमें सेवा-कार्य में संलग्न रहना चाहिये। किन्तु, स्थायी कार्य नहीं है। विश्व यदि ब्रह्म की लीला है तो इसे पवित्र आनन्द से त रखने के लिए धार्मिक व्यक्ति को भी कार्य-निरत रहना ही चाहिये। "यद्यपि का अन्तिम ध्येय ईश्वर के साथ एकत्व की अनुभूति है, फिर भी, यह सत्य है माजिक और सांस्कृतिक जीवन के कुछ ढाँचे मनुष्य के वैयक्तिक विकास के मार्ग क बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अतएव, हमारा कर्त्तव्य है कि हम सामाजिक ों को ऐसा रूप देने तथा उस रूप को कायम रखने का प्रयास करें, जिससे सच्चे

राधाकृष्णन-कृत "द भगवद्गीता"।

अर्थों में मानवीय जीवन के विकास में, कम-से-कम, बाधा पड़ती हो, समाजिक जीवन के जिन प्रलोभनों में आ कर मनुष्य अन्धा और अज्ञानी बन जाता है, दायित्वहीन और क्रूर बन जाता है, उन्हें दूर करके हम व्यक्ति की सच्ची उन्नति का द्वार खोलते हैं। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या वर्ण का हो, ईश्वर की सन्तान है, एवं ईश्वर ने अपनी कल्पना के अनुसार उसकी रचना की है। अतएव, मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यन्त पवित्र वस्तु है। व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपना विकास अपने स्वभावानुसार करता जाय। किन्तु, उस अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी संलग्न है। हम समाज में राजनीति और कानून की जो पद्धति चलाते हैं, उस पद्धति में व्यक्ति के अधिकार की रक्षा और कर्त्तव्य के पालन का पूरा अवकाश रहना चाहिये। हमारे समाज का ढाँचा ऐसा होना चाहिये, जिससे मानवीय आदर्शों की उपलब्धि में सभी व्यक्तियों को सुविधा एवं सुयोग प्राप्त हो।''[1]

राधाकृष्णन धर्म को निष्क्रियता से सम्बद्ध नहीं मानते। धर्म की वास्तविक शिक्षा निष्क्रियता नहीं, प्रत्युत, विश्व को सुन्दर एवं शिव बनाने का अथक प्रयास है। धर्म के विषय में समाज में जो उपेक्षा और उदासीनता आ गयी है, उसका कारण सामान्यतः, यह समझा जाता है कि धर्म-साधना में लगे हुए लोगों ने जीवन का अनादर कर दिया। राधाकृष्णन कहते हैं कि यह अनादर इसलिए नहीं हुआ कि लोग धर्म-साधन में लगे हुए थे, प्रत्युत, इसलिए कि वे धर्म के तत्त्व को छोड़ कर उसके वाह्य उपचार में जा फँसे थे।''

व्यष्टि-समष्टि

व्यक्ति और समाज के बीच राधाकृष्णन ने विलक्षण सामंजस्य का सन्धान किया है। व्यक्ति का ध्येय परमात्मा से एकाकार होना है, किन्तु, इस ध्येय की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को ऐसा समाज चाहिये, जिसमें इस ध्येय का उचित मूल्य समझा जा सके और जो वैयक्तिक मुक्ति खोजनेवालों को अनुकूलता प्रदान कर सके। प्रत्येक व्यक्ति समाज का सदस्य है और समाज में उसे अन्य व्यक्तियों से मिलकर काम करना है। किन्तु, समाज में रहता हुआ भी प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति है। उसकी अपनी भावनाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं। उसकी अपनी प्रवृत्ति और अपने आदर्श होते हैं। उसके अस्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक वह जिससे वह समाज के साथ व्यवहार करता है। दूसरा वह जो उसके एकान्त का पक्ष है, जिसमें वह अपनी गहराइयों से बातें करता है। इसी एकान्त जीवन में ऐसे सपने होते हैं, जो समाज को ज्ञात नहीं होते, ऐसे विचार होते हैं, जिनको भाषा नहीं मिलती और ऐसी शान्ति होती है, जिसे कोई भंग नहीं कर सकता। भारतीय चिन्तकों का उपदेश है कि तुम आत्मवन्त बनो। आत्मवन्त बनना अपने-आप में स्थिर होने का नाम है, समूह की धारा में विलीन होने से अपने-आपको बचाने का नाम है। यह उन लोगों की संगति से बचा रहना है, जो "आत्महन्ता" हैं, जिन्होंने अपनी आत्माओं को निहत या आहत कर रखा है, जो विश्व

---

[1] फ्रैगमेंट्स आव् ए कनफ़ेशन।

पंच में आसक्त होकर अपने-आप से दूर हो गये हैं। बाहर कहीं कोई दुर्लभ र्थ नहीं है कि धर्म के वृक्ष पर चढ़ कर हम उसे प्राप्त कर लें। **धर्म प्राप्त करना** **केवल होना है।** आध्यात्मिक जीवन कोई प्रश्न नहीं है, जिसका हमें हल ना है। यह तो वास्तविकता है, जिसका हमें अनुभव करना है। प्रकाश के धरा-पर अभिनव जन्म ग्रहण करना, यही आध्यात्मिक अनुभूति है।"

स्यवाद

राधाकृष्णन ने जिस आध्यात्मिक धर्म को मनुष्य के लिए विहित बताया है, उसका वे रहस्यवाद को मानते हैं और, इस प्रक्रिया में, वे बुद्धि से ऊपर सहज बुद्धि के को अनिवार्य कहते हैं। जीवन में धार्मिकता का उदय होने से मनन, ध्यान निदिध्यासन के अभ्यास से, बुद्धि संयोजित होकर सहज या सम्यक् बुद्धि बन है और तब उसी के प्रसाद-स्वरूप मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। त्मा का ज्ञान केवल बुद्धि से नहीं होता। यह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य की और कल्पना, हृदय और संकल्प, संक्षेप में, उसका सारा अस्तित्व क्रियाशील हो है। ईश्वर आन्तरिक अनुभूति में प्रत्यक्ष होता है। बाहर हम जिस शक्ति से वस्तुओं को देखते हैं, (ऑवज़र्वेशन) उससे ईश्वर देखा नहीं जा सकता। आत्म-ा ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य को तब होता है, जब वह अपनी इच्छा को की इच्छा में विलीन कर देता है, जब वह संयम और अनुशासन से अपने को पूर्ण रूप से शुद्ध बना डालता है।[1]

ूंकि रहस्यवादी अनुभूति का साधन ज्ञान नहीं, परम या सम्यक् ज्ञान है, इसलिए के बुद्धिवादी रहस्यवाद को शंका से देखते हैं। रहस्यवादी सन्तों को फ्रायड ने पागल (इनटेलेक्चुअल क्रिटीन) कहा है। दूसरे अनेक बुद्धिवादियों का कहना रहस्यवाद सुनहले भावावेश में वस्तुओं को धूमिलता से देखने की प्रवृत्ति है। नव मस्तिष्क के परस्पर-विरोधी विश्वासों को सही बताने का बहाना है। यह गों की विशृङ्खलताओं को गौरव प्रदान करने का उपाय है। राधाकृष्णन कहते बुद्धिवादियों ने जो इतनी बातें कही हैं, रहस्यवाद उनमें से एक भी नहीं है। केवल इस भाव की स्वीकृति है कि सृष्टि के भीतर रहस्यात्मकता विद्यमान है। के साधनों से भी तो अब तक यही विदित हुआ है कि सारी सृष्टि रहस्ययुक्त र रहस्यवाद निन्दनीय कैसे हो जाता है? यदि मनुष्य उतना ही होता जितना से वह दिखायी देता है, तो रहस्य की कोई बात ही नहीं होती। यदि विश्व ही होता, जितना इन्द्रियों और बुद्धि के साधनों से समझा जाता है तो रहस्य की बात नहीं थी।

न्तु, स्थिति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। विज्ञान के स्पर्श से परे और बुद्धि से दूर भी एक वास्तविकता है जो परिवर्त्तित नहीं होती। अपनी बौद्धिक के भीतर से हम अपने-आपको नहीं देख सकते। इस चेतना से हम वहीं तक

---

[1] प्लाइ टू क्रिटिक्स।

देख पाते हैं, जहाँ तक परिवर्त्तन का क्रम चलता है। हम क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहे हैं, बुद्धि इसे देख लेती है। किन्तु, हमारे समस्त परिवर्त्तन के नीचे एक और तत्त्व है जो सनातन है, जो परिवर्तित नहीं होता। यह अचरज का विषय है और इसमें आश्चर्य-मग्न होने की शक्ति ही, किसी और नाम के अभाव में, रहस्यवादी शक्ति कहला रही है। जो इस रहस्य से अपरिचित हैं, रहस्यवाद को वह समझ नहीं पायेगा।

इसीलिए, रहस्यवाद प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को नहीं मानता, क्योंकि, ये सिद्धान्त ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। इसीलिए, रहस्यवाद मूढ़-धर्मों (डॉगमेटिक धर्म के अर्थ में) के विरुद्ध है, क्योंकि ये धर्म दावा करते हैं कि सृष्टि के सभी रहस्य उन्हें ज्ञात हैं। "धर्म का आरम्भ ही इस चेतना से होता है कि हमारा जीवन केवल हमारा ही नहीं है। इसे आधार देनेवाला जीवन कोई और है, जो हमारे सीमित जीवन से कहीं विस्तृत और महान् है। धर्म मनुष्य के इसी बृहद् जीवन के अनुसंधान की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में धर्म किसी भी पन्थ, किसी भी सम्प्रदाय या धर्म-शास्त्र को सत्य का अन्तिम उद्घोष नहीं मान सकता।"[1]

प्राकृतिक विज्ञान और डॉगमेटिक धर्म, दोनों ही रहस्यवादी को अग्राह्य होंगे, क्योंकि दोनों ही रहस्यों का उन्मूलन कर देते हैं। और जोश में आकर वैज्ञानिक भी वैसा ही दुराग्रह दिखला सकता है, जैसा दुराग्रह धर्मवाले दिखाते हैं, जो अविश्लिष्ट है, जो अपरिचित और अज्ञात है, उसके समक्ष चकित होने की योग्यता यदि धर्म में नहीं रही तो धर्म भी तुच्छ है। रहस्यवादी व्यक्ति धर्म के विशेषज्ञ होते हैं, क्योंकि उनका प्रयास ईश्वर को अपने सामने देखने के लिए है। बर्गसाँ (Bergson) ने जिसे 'मुक्त धर्म' को कहा है, वह यही रहस्यवादी धर्म है, जो ईश्वर की वैयक्तिक अनुभूति पर सबसे अधिक जोर देता है, जो रचयित्री शक्ति से सीधा सम्पर्क स्थापित करने को सबसे श्रेष्ठ धर्म बताता है। मुक्त धर्म के विपरीत, मुद्रित अथवा सीमित धर्म वे हैं, जिनमें अनुभूति की जगह आज्ञा की प्रधानता चलती है, जिनमें चिन्तन के बदले प्रमाण का महत्त्व समझा जाता है। वास्तव में, ऐसे धर्म उन बच्चों के लिए हैं जो जीवन से डरे हुए हैं, जिनके प्रबोध के लिए आप्त वाक्यों की उपयोगिता है। "मानवता अपनी उन्नति के भार से ही कुचली जा कर अधमरी हो रही है। इसका त्राण उस मुक्त धर्म के वरण करने में है, जिसके सहारे हम अध्यात्म के स्रोत में प्रवेश पाकर अपनी आत्मा का अवगाहन कर सकते हैं।"

जिस मानवीय विकास का अगला कदम अरविन्द अतिमानस की भूमि को मानते हैं, उसकी प्रक्रिया का अगला सोपान, राधाकृष्णन के अनुसार, रहस्यवाद है। इस स्थल पर यदि गाँधी, अरविन्द और राधाकृष्णन की तुलना करें तो गाँधी का मत यह होगा कि मनुष्य के आचार को सुधारो, जिससे वह विकास की दिशा में और आगे बढ़े। अरविन्द का उपदेश होगा कि मनुष्य को अति-मनुष्य में रूपान्तरित करो। और राधाकृष्णन कहेंगे कि मनुष्य को शरीर के प्रलोभन से मुक्त करके आत्मा की ओर उन्मुख करो, उसे अपनी गहराइयों के साथ एकाकार होने दो।

---

[1] ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट।

ति-निवृत्ति

हिन्दू धर्म, स्वभावतः, निवृत्तिवादी है और अन्य धर्म, स्वभावतः, प्रवृत्तिवादी हैं, त को भी राधाकृष्णन नहीं मानते । उनका विचार है कि हिन्दुत्व में उतनी ही है जितनी अन्य धर्मों में देखी जा सकती है । वस्तुतः, सभी धर्म अतिसांसा-का विरोध करते आये हैं । जब तक मनुष्यों पर धर्म का प्रभाव रहा, समाज में और अन्धविश्वासों के रहते हुए भी, आज की अपेक्षा अधिक शान्ति और था । किन्तु, ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि हुई और धर्म का अनादर बढ़ा, त्यों-त्यों, में अशान्ति की भी वृद्धि होती गयी । हाल में, पश्चिमी जगत् ने विज्ञान और में जो आश्चर्य-जनक उन्नति की है, समाज और राजनीति में जो प्रगति की से वहाँ का धर्म प्रवृत्तिमार्गी कहा जाने लगा है । किन्तु, सभ्यता है क्या ? अथवा श्चात्य सभ्यता ही सभ्यता का एक-मात्र मानदंड है ? क्या पश्चिम की उन्नति पूर्व का पतन धर्म के कारण हुआ है ? क्या पश्चिम और पूर्व के लोग अपने और सामाजिक जीवन में धर्म के पथ-प्रदर्शन में चल रहे हैं ? रोगों और ओं की जो लीला पश्चिम में चल रही है, वह क्या धर्म की देन है ? और क्या र सौ साल पहले पश्चिम और पूर्व के धर्मों में वही भेद था, जो आज दिखायी है ? बात यह है कि कार्यकारी मनुष्य (एक्जिक्यूटिव मैन) वैचारिक (रेफ्लेक्टिव) से बहुत आगे निकल गया है । आवश्यकता इस बात की है कि जीवन के त्मक मूल्य और उसकी गहनता में वृद्धि लायी जाय । संसार को आदर्श नहीं, को काम में लाने का उत्साह चाहिये । विश्ववाद का आदर्श काफी पुराना है । र के कार्यक्रम (एजेण्डा) में बहुत दिनों से पड़ा हुआ है । पर, वह आत्मा है जो शरीर को सजीव करे ? स्वयं धर्म को पुनर्जन्म लेना है । यदि विश्व भर य एक होकर आगे नहीं बढ़ते, तो पृथ्वी पर दूसरा तिमिराच्छन्न युग छा कर ।"[1]

वेकानन्द और तिलकजी इस बात से चिन्तित थे कि धर्म कहीं भारतवासियों को न बना डाले । अतएव, उन्होंने बार-बार यह बतलाने की चेष्टा की कि निवृत्तिवादी नहीं हैं, न धर्म से सांसारिक कर्मों का विरोध ही होता है । यह राधाकृष्णन में भी प्रत्यक्ष है । किन्तु, वे सत्य के दूसरे पक्ष को भी नहीं भूले ! वास्तविक गुण यह है कि वह मनुष्य को सांसारिकता में विलीन होने से है । यदि धर्म अपने इस स्वभाव को छोड़ दे तो आधिभौतिक शक्तियाँ उसका डालेंगी ।[2] "धर्म ने संसार के साथ समझौता कर लिया, यह बुरा हुआ । अधिक प्रवृत्तिमार्गी हो गया है । पहले जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धर्म से सेवित

र्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट ।

ष्य तो अज्ञात है, किन्तु, अतीत यह चेतावनी देता है कि संसार अन्त में उन्हीं शरण जाता है जो अ-संसारी हैं, जो लोक में रहकर भी उसमें आसक्त नहीं ।

(ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट ।)

था, किन्तु, आगे चलकर धर्म ने विभाजन स्वीकार कर लिया। "मैं आत्मा की मुक्ति का साधन हूँ और राजनीति समाज की मुक्ति का दूत, यह मानकर धर्म राजनीति से अलग हो गया। इस प्रकार, धर्म ने सभ्यता को उसके सबसे बड़े शत्रु के हवाले कर दिया है।"[1] कल्याण का मार्ग यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का प्रवेश हो। राजनीति चाहे कितनी भी मलिन हो, किन्तु, आज के युग में अधिक-से-अधिक मनुष्यों से सम्बन्ध बनाये रखने का काम वही कर रही है। अतएव, इस युग में राजनीति धर्म की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन बन सकती है। वस्तुतः, राजनीति के भीतर जब तक धर्म की स्थापना नहीं होगी, संसार को धार्मिक मूल्यों के लाभ दिखायी नहीं देंगे।"[2]

सभ्यता का शाप

मनुष्य का सारा विश्वास इस बात पर केन्द्रित हो गया है कि सत्य वह है, जो प्रमाणित किया जा सके। जो चीज थाही नहीं जा सकती, जो चीज गणित के भीत जाँची नहीं जा सकती, वह असत्य है। हमारी आत्मा की गहराई से जो अस्प आवाज आती है, उसे लोग अवैज्ञानिक कल्पना का नाम देते हैं। धर्म को वे कवित की एक किस्म कहते हैं (संतायना); धर्म को वे पौराणिक अन्धविश्वास कहते हैं (क्रोशे तथा धर्म को वे पतनशील समाज का नशा बतलाते हैं (लेनिन)। इनकी दृष्टि आध्यात्मिक जीवन छल है, प्रवंचना और स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति अपना पैगम्बर आ बन रहा है। परिणाम यह है कि कोई भी किसी दूसरे की बात समझ नहीं पाता हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह बुद्धिवादी पैगम्बरों की दुनिया है; वह स्वार्थ डूबे हुए व्यक्तियों की दुनिया है; वह ऐसी दुनिया है जिसमें औद्योगिकता और पूँजीवाद से निकली हुई एक भयानक आर्थिक पद्धति राज कर रही है; जिसमें तकनीक सफ़लताओं और बाहरी जीतों की धूम है; जिसमें शारीरिक सुविधाओं और पाशवि विलासिता की सामग्रियों की बाढ़ है; जहाँ सार्वजनिक जीवन में भी अनियंत्रि लिप्सा का अनन्त साम्राज्य है, जहाँ पाशविकता और रक्तपात का सहारा लेक तानाशाही फैल रही है, जहाँ नास्तिकता का आदर तथा धर्म और आत्मा की उपेक्ष सबसे बड़ा आचार है; जहाँ कोई भी चीज स्थिर नहीं है; जहाँ कोई भी विचार दृढ़त नहीं रखता और जहाँ मनुष्य के पास भरोसा नाम की कोई भी चीज शेष नहीं है जिन्दगी कार्नीवाल या सरकस का ऐसा रूप ले रही है, जिसका न तो कोई ढाँच दिखायी देता है, न कोई लय, न कोई ताल। मनुष्य के भीतर बसने वाले ईश्वरी रूप की उपेक्षा करने से आदमी बीमार हो गया है, उसकी आत्मा रुग्ण हो गयी है विचार और संकल्प को ताक पर रख कर अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना सन्तोषदायी कार्य नहीं कहा जा सकता। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो जाने पर

---

[1] ईस्टर्न रिलीजन, एण्ड वेस्टर्न थॉट।

[2] विश्वबन्धुत्व के आदर्श को माननेवाले धर्म की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए जितना सफल माध्यम राजनीति हो सकती है, उतना और कुछ नहीं।

(एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार।)

को शान्ति नहीं मिल सकती। तब भी कड़वाहट उसके मन को उद्वेलित करेगी, की शान्ति को भंग करेगी। प्रकृति इतनी पालतू तो बनायी नहीं जा सकती कि ग-पग पर मनुष्य की आज्ञा में चले। जब तक पूर्णता के दर्शन नहीं होते, जब नातनता की झाँकी नहीं मिलती, तब तक मन की शान्ति बहुत दूर की आशा है। सुखों की जननी सुरक्षा की भावना है और यह भावना प्रकृति पर मानवीय त्य से आनेवाली नहीं है। इसके लिए हमें वस्तुओं पर नहीं, अपने-आप पर त्व पाना होगा।[1]

□□□

---

[1] स्पिरिट ऑव मैन।

प्रकरण १५

मुस्लिम-नवोत्थान

इस्लाम का अन्तर्राष्ट्रीय रूप

हिन्दुत्व की तुलना में इस्लाम अन्तर्राष्ट्रीय धर्म है, क्योंकि मुसलमान कुछ-कु सारे संसार में फैले हुए हैं और, सब के बीच, एक प्रकार की धार्मिक एकता का ता अनुस्यूत है। देशों के हिसाब से मुसलमानों की सबसे अधिक संख्या (लगभग ७ करोड़ इण्डोनेशिया में है। पाकिस्तान में उनकी संख्या ६ करोड़ ६० लाख और भारत में करोड़ ३० लाख है। इस प्रकार, विभाजन के बाद भी, भारत तीसरा देश है ज मुसलमानों की संख्या सर्वाधिक है। टर्की में मुसलमान १ करोड़ ७० लाख; मिस्र १ करोड़ ६० लाख, ईरान में १ करोड़ ३० लाख, अफगानिस्तान में १ करोड़, इरा में कोई ४५ लाख और सऊदी अरब में कोई ३५ लाख हैं। किन्तु, उनकी संख्या इत ही नहीं है। मुसलमान चीन (२ करोड़ ५० लाख), स्याम (५ लाख), हिन्दच (४ लाख), श्रीलंका (५ लाख), फिलीपाइन्स (३ लाख), सूडान (२० लाख), फ्रांसी गिनी (२० लाख), पुर्तगाली गिंनी (२ लाख), पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका (१० लाख कुछ कम) और मदागास्कर (७ लाख) में भी है। इसके सिवा, मुसलमान जहाँ-त यूरोप में भी हैं। यूगोस्लाविया में वे १५ लाख, अलबानिया में ७½ लाख, बुलगे में ८ लाख, रूमानिया में २ लाख, यूनान में १½ लाख, फ्रांस में १½ लाख तथा पो में १२ हजार हैं। इस प्रकार की उनकी छिटपुट आबादी संसार के और देशों में है।[1] अनुमान यह है कि सारे संसार में कोई तीस करोड़ मुसलमान बसते हैं।

अठारहवीं सदी के बाद से जैसे एशिया पर यूरोप का आतंक रहा है, कुछ वैसा आतंक मध्यकालीन यूरोप पर एशिया का था और यह आतंक हिन्दुओं, बौद्धों, कनफ्यूशि धर्मावलम्बियों का नहीं, प्रत्युत, इस्लाम के धर्म-योद्धाओं का था। मंगोल-जाति इस्लाम में दीक्षित होते ही मुसलमानों की तलवार एक बार फिर चमक उठी और यूरोप की ओर बढ़ने लगे। "१५वीं सदी के अन्त में पाश्चात्य सभ्यता पश्चिमी केन्द्रीय यूरोप तक ही सीमित थी और वह तूरानी बर्बरों के साथ केवल रक्षापरक लड़ रही थी एवं उस युद्ध का भी कोई अनुकूल परिणाम दिखायी नहीं देता था। मंगोल-तातारों के पैरों के नीचे पड़ा था और तुर्क लोग दक्षिण-पूर्व से आगे बढ़कर यू की छाती पर पाँव रखने की तैयारी में थे। एशिया, उत्तरी अफ्रीका और पूर्वी यू को अपनी अधीनता में रखे हुए, तूरानी बर्बर-समूह इतना अजेय था कि यूरो सभ्यता अपनी रक्षा के लिए दीवार से पीठ लगा कर जूझ रही थी।"[2]

---

[1] द इस्लाम टु-डे—लेखक, ए०जे० आरबेरी तथा मुस्लिम्स इन इण्डिया (प्रका सूचना-विभाग, भारत-सरकार।)

[2] The New World of Islam by Stoddard.

किन्तु, इसी समय, यूरोप में रिनासाँ (नवोत्थान) की लहर उठी और ईसाई विद्वान् ज्ञान की ओर अग्रसर होने लगे। यह ऐसा समय था जब एशियाई देशों के लोग तो ढ़ियों और अन्धविश्वासों में अधिकाधिक जकड़े जा रहे थे, किन्तु, यूरोप के लोग इन स्कारों से छूटने लगे थे। पूर्व में तो धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों का अन्धकार या हुआ था, किन्तु, पश्चिमी क्षितिज पर विज्ञान का बाल-सूर्य उदय हो रहा था। ट ही, पासा पलटने का समय आ गया था। एशिया की इस्लामी तलवार ने यूरोप शारीरिक बल से दबोच रखा था। अब यूरोप बुद्धि के बल से अपनी पराजय का ला चुकानेवाला था। रिनासाँ के फलस्वरूप, यूरोप में ज्ञान की नयी जागृति उठी र लगभग इसी समय कोलम्बस ने अमेरिका तथा वास्को-डि-गामा ने भारत के द्री मार्ग का पता लगा लिया। यहीं से यूरोप के विश्व-नेतृत्व का श्रीगणेश ता है।

विज्ञान ने यूरोप के भीतर ज्ञान के अद्भुत चक्षु खोल दिये एवं कोलम्बस तथा स्को-डि-गामा के अनुसन्धानों ने उसे समुद्र का सम्राट् बना दिया। यूरोप के लोग पार के लिए सारे संसार में फैलने लगे और सारे संसार का धन निचुड़ कर धीरे- यूरोप पहुँचने लगा। धन से सुविधा बढ़ती है और जीवन की सुविधाओं से ज्ञान- ज्ञान, शक्ति और संस्कार, सब की वृद्धि होती है। यूरोप में भी इन गुणों की वृद्धि और उसी परिमाण में एशिया के ये गुण छीजते गये। नतीजा यह हुआ कि लाम की चमकती तलवार भोथी पड़ गयी और बड़े-बड़े वीर और सुलतान यह झ ही न सके कि यूरोप की इस बढ़ती का मुकाबला कैसे किया जाय? जिसके तंक से यूरोप सदियों पीड़ित रहा, उसी के हाथ की तलवार को ज्ञान और वाणिज्य कुंठित करके उसने, मानों, इस सत्य को फिर से प्रमाणित कर दिया कि बल उसीके होता है, जो बुद्धि का स्वामी है तथा जातियाँ जैसे संस्कारों में जीती हैं, उनके व्य भी वैसे ही हो जाते हैं।

उन्नीसवीं सदीं के आते-आते, यूरोप और इस्लामी राज्यों का कोई मुकाबला नहीं गया। कहाँ इस्लाम के एशियाई राज्य, जो अन्धविश्वासों में डूबे हुए और विलासिता विभोर थे! और कहाँ यूरोप का वह रूप जो औद्योगिक क्रान्ति और रिनासाँ के भाव से, पूर्णतः, जागरूक और चैतन्य था, जिसके हाथ में, विज्ञान ने नयी-नयी क्तियाँ धर दी थीं, जो आविष्कारों और अनुसन्धानों के द्वारा प्रकृति के तमाम रहस्यों उधेड़ कर देख रहा था तथा जिसके भीतर यह भावना जग रही थी कि एशिया लोग असभ्यता की अवस्था में हैं तथा यूरोप सब से ऊँचे मानवों का देश है! रिणाम वही हुआ जिसकी आशा की जा सकती थी। एक-एक करके सभी इस्लामी यूरोप की अधीनता में चले गये। इंग्लैण्ड ने भारत और मिस्र को जीत लिया। कॉकेशस के पार जा कर मध्य एशिया का स्वामी बन बैठा। फ्रांस ने उत्तरी का को अधिकृत किया। हालैण्ड ने इण्डोनेशिया को दास बनाया एवं इस्लाम के अधिकृत और भी सारे भू-भाग किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति की राजनैतिक

अथवा आर्थिक अधीनता में चले गये। इस्लाम के प्रति यूरोप का यह द्रोह-भाव प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में होनेवाली सन्धि-वार्त्ता में और भी प्रत्यक्ष हुआ जब सन्धि के शर्तनामे के अनुसार टर्की का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया और संसार में कोई भी ऐसा इस्लामी राज्य नहीं रह गया, जो अपने को स्वाधीन कह सके।

यूरोप के एशिया में आगमन के समय, भारत में हिन्दुओं का जैसा हाल था, सारे संसार में मुसलमानों की उससे अच्छी स्थिति नहीं थी। सच पूछिये तो यूरोप के उत्थान के समय सारा एशिया सोया हुआ था। हिन्दुओं की वह गरिमा शेष हो चुकी थी जिसके कारण उन्होंने दर्शन, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, कला-कौशल और कारीगरी में उतनी उन्नति की थी। चीनियों में वह कार्यशीलता और उत्साह नहीं रह गया था, जिसके कारण प्राचीन विश्व में उन्होंने अनेक वस्तुओं (कागज,बारूद, चीनी बनाने की कला आदि) का आविष्कार किया था। यदि भारतवासियों और चीनियों में पहले वाली जिज्ञासा बनी रही होती, तो वास्को-डि-गामा के भारत आने से पहले ही भारत अथवा चीन के लोग यूरोप पहुँच गये होते।

और इस्लाम भी अपने मूल रूप से हट कर बहुत विकृत हो गया था। "जैसे मुसलमानों की अन्य शक्तियाँ छीज चुकी थीं, वैसे ही, उनका धर्म भी विकृत हो गया था। हज़रत मुहम्मद के कठोर एकेश्वरवाद पर अन्ध-विश्वास एवं रहस्यवाद की मोटी परतें जम चुकी थीं। जनता मूढ़ हो चुकी थी। अब वह मस्जिद जाने को भी उत्सुक नहीं थी। उसकी जगह अब वह जादू, मन्तर, सगुन और इस्तख़ारे में ज्यादा यकीन रखने लगी थी। वह चमत्कार दिखानेवाले फकीरों को अपना धर्म-गुरु मानती थी एवं पीरों और औलियाओं की कब्रों की पूजा करने की ओर उसका अत्यधिक झुकाव था। कुरान के नैतिक नियम तो विद्यमान थे, किन्तु, अब या तो उनकी उपेक्षा की जा रही थी अथवा अवज्ञा। शराब और अफीम का प्रचार, प्रायः, हर एक घर में था। वेश्यावृत्ति का प्रचलन बेतरह बढ़ गया था। मक्का और मदीना-जैसे पवित्र नगरों में भी दुराचार के अड्डे फैल गये थे। नबी ने जिस तीर्थ-यात्रा को जीवन का परम धर्म बतलाया था, वही अब पापाचार का साधन बन गयी। संक्षेप में, इस्लाम के भीतर से उसकी रूह निकल चुकी थी। जो बच गया था, वह प्राणहीन छिलका मात्र था, अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों का कचरा मात्र था। ऐसे समय, यदि मुहम्मद पृथ्वी पर आये होते, तो निश्चय ही, वे अपने अनुयायियों को बुतपरस्त काफिर के सिवा कुछ और नहीं समझते।"[१]

वहाबी आन्दोलन

किन्तु, जब अन्धकार सघन हो रहा था और इस्लामी जनता मूल-धर्म से अलग हट कर रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों में जकड़ी जा रही थी, ठीक उसी समय, इस्लाम का प्राचीन तेज बाहर निकला और इस्लाम के जन्म-स्थान, अरब के रेगिस्तान में, एक धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिससे रूढ़ियों और कुरीतियों को झाड़ गिराने में

---

[१] The New World of Islam by Stoddard.

ाम को बहुत बड़ी सहायता मिली। इतिहास में यह आन्दोलन **वहाबी आन्दोलन** ाम से विख्यात है।

वहाबी आन्दोलन के प्रवर्त्तक **मुहम्मद इब्न-अब्दुल वहाब** थे। जिनका जन्म सन् ०ई० के करीब अरब-देश के **नज्द** प्रान्त में हुआ था। स्टोडार्ड ने लिखा है कि ाम के इस विश्वव्यापी पतन के काल में भी, नज्द ही ऐसा प्रान्त था जहाँ लोग पूर्ण से पतित नहीं हुए थे तथा जहाँ अब भी धर्म का दीपक झिलमिला रहा था। वहाब बचपन से ही विचारशील थे। उन्होंने बचपन में ही हज की यात्रा की था मदीने में काफी साल रहकर उन्होंने इस्लाम के मौलिक साहित्य का अध्ययन किया था। इस्लाम का गम्भीर अध्ययन करते-करते उनका ध्यान तत्कालीन इस्लाम न पर गया और रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध उनके भीतर क क्रोध के भाव भर गये। सन् १७४०ई० तक उन्होंने खुल कर अपने मतों चार नहीं किया, किन्तु, उसके बाद, अपने पिता की मृत्यु होते ही उनके भीतर धार की धारा फूट पड़ी। "जीवन के भीतरी और बाहरी विलासों की उन्होंने ब्दों में निन्दा प्रारम्भ की। पीरों, औलियाओं तथा अन्य मानवों की पूजा एवं ी कब्रों की आराधना के खिलाफ उन्होंने युद्ध-घोषणा कर दी। तसव्वुफ और मत की आलोचना वे इसलिए करने लगे कि सूफी इस्लाम के नियमों का उल्लंघन थे। फकीरों एवं साधुओं की पूजा को वे घृणित पाप बताने लगे। उलमाओं के कुरान की की जाने वाली व्याख्याओं को उन्होंने अमान्य बताया और लोगों से यह कि कुरान का अर्थ तुम्हें सुन्नत के प्रसंग में समझना चाहिये और पंडितों के मतवाद रे में नहीं पड़ना चाहिये। कुरान का, कल्पना से जो अर्थ लगाया जाता था, उसे ने बिल्कुल रोक दिया एवं परम्परा से जों अर्थ मान्य समझा जाता था, उसे ही ने प्रामाणिक ठहराया। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अपने को बदल कर रूप बनाने के लिए इस्लाम ने जो भी प्रयास किये थे, उन्हें वहाब ने एक-बारगी दिया और समाज को उन्होंने लौटा कर उस स्थान पर ले जाना चाहा जो इस्लाम आरम्भिक पवित्रता का स्थान था।"[1]

टर्की के सुलतान मुराद ने तम्बाकू पीने पर रोक लगा रखी थी। एक दूसरे सुलतान फी पीने की मनाही कर रखी थी। ये धार्मिक नहीं, राजकीय फरमान थे। अब्दुल ने रोकों की जो धार्मिक सूची तैयार की, उसमें तम्बाकू और काफी ही नहीं, **संगीत, रेशम, सोना, चाँदी और हीरे** भी आ गये क्योंकि ये सामग्रियाँ भी ासिता की थीं। बुजुर्गों की क़ब्रों की कौन कहे, हज़रत मोहम्मद की क़ब्र पर जा पूजा करने को भी उन्होंने शिर्क करार दिया।[1] सूदखोरी इस्लाम में पाप समझी

Modern Movements in Islam by Julius Germanus.

आगे चल कर वहाबियों ने मुहम्मद साहब की कब्र को भी तोड़ डाला और उसमें सदियों से जो चढ़ावे चढ़े थे, उन्हें लूट लिया। काबे की ज़री कालीन भी वे लूट ले गये। तीर्थ-यात्रियों को तो वे इस कदर लूटने लगे कि थोड़े दिनों के लिए हज की यात्रा ही बन्द हो गयी थी।

जाती थी, किन्तु, इस पाप से फायदा उठानेवाले लोगों की कमी नहीं थी। अब्दुल वहाब इस पाप पर अग्नि के वेग से टूटे और, इस प्रकार, धार्मिक जनता के साथ-साथ वे निर्धन मुसलमानों के भी श्रद्धा-भाजन हो उठे।

सारी गरीब जनता अब्दुल वहाब की पूजा करने लगी। किन्तु, अमीरों का वर्ग भीतर-भीतर उनसे जलने लगा। उलमा और मुल्ले तो सदा धनवानों का साथ देते रहे हैं। जब उन्होंने देखा कि धनिक वर्ग वहाब के विरुद्ध है, तब उलमाओं ने वहाब को काफिर बताना शुरू किया। किन्तु, वहाब कब चूकनेवाले थे ? जनता तो उनके साथ थी। उन्होंने भी उलमाओं को काफिर घोषित कर दिया और उनके विरुद्ध धर्म-युद्ध की घोषणा कर दी।

किन्तु, इन विरोधों के बावजूद उन्होंने अपने धार्मिक आचरण में कभी भी शिथिलता नहीं आने दी। वे केवल उपदेष्टा नहीं थे। वे जो कुछ बोलते थे, वही करते भी थे। कुरान की सारी आज्ञाएँ उन्हें मान्य थीं। वे अपने को खुदा का बन्दा मात्र मानते थे और यह कहना कभी नहीं भूलते थे कि "मेरी बातों पर भी सोच-समझ कर ही विश्वास करो। मैं भी इन्सान हूँ और मेरी बातें भी गलत हो सकती हैं।"

अब्दुल वहाब के आन्दोलन का उद्देश्य इस्लाम के उस रूप को वापस लाना था जिसकी रचना हज़रत मुहम्मद ने की थी और जिसका विकास आरम्भ के चार खलीफों नें किया था। आरम्भिक इस्लाम ईश्वर के सिवा और किसी की पूजा नहीं करता था। उसमें वैराग्य-वृत्ति का अभाव था। उसमें सामाजिक कुरीतियाँ नहीं थीं, न उसमें मुसलमान-मुसलमान में कोई भेद था। अब्दुल वहाब चाहते थे कि नबी और आरम्भ के खलीफों के बाद से इस्लाम में जो रूढ़ियाँ बनती आयी हैं एवं, समय-समय पर, इस्लाम के सिद्धान्तों की जो युगानुरूप नयी-नयी व्याख्याएँ की गयी हैं, वे सारी अमान्य कर दी जायँ और इस्लाम का वही रूप सर्व-प्रचलित किया जाय, जिसका प्रवर्त्तन नबी ने किया था।

यह अतीत की ओर चलने का संकेत था। यह इस्लाम को घसीट कर फिर से सातवीं सदी में ले जाने का आग्रह था। वहावी आन्दोलन की इस प्रवृत्ति पर खीज कर लार्ड क्रोमर ने लिखा है कि "इस्लाम सुधारों का विरोधी है ; यानी सुधरा हुआ इस्लाम, इस्लाम नहीं कोई और चीज है।"[१] इस्लाम के सम्बन्ध में फ्रांसीसी दार्शनिक रेनान (Renan) के भी, प्रायः, ऐसे ही विचार हैं। किन्तु, यह दोष सिर्फ इस्लाम में ही नहीं है। और भी धर्म हैं जो इस दोष से पीड़ित हैं। बात यह है कि कला-कौशल, इतिहास, दर्शन और विज्ञान की उन्नति का मार्ग यह समझा जाता है कि लोग गलत बातों को छोड़ कर सही बातों में विश्वास करें। किन्तु, धर्म के मामले में उन्नति का

---

[२] "Islam cannot be reformed ; that is to say, reformed Islam is no longer Islam, it is something else." (Modern Egypt (vii) by Lord Cromer).

मार्ग कुछ और हो जाता है। जनता की मूढ़ धारणा यह होती है कि इतिहास, दर्शन और विज्ञान में गलतियाँ हो सकती हैं, जिन्हें छोड़कर सही बातों को अपना लेना ठीक है। किन्तु, धर्म का सच्चा रूप तो वही हो सकता है, जिसका आख्यान उसके मूल-प्रवर्तक ने किया है। परिणामतः, रिनासाँ, नवोत्थान या धार्मिक जागरण के समय लोग आँख मूँद कर पीछे की ओर चलने लगते हैं। हिन्दुत्व के जागरण के क्रम में भी यही हुआ। यहाँ भी राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने (विशेषतः स्वामीजी ने) जनता से कहा कि धर्म तुम्हारा वह है, जिसका आख्यान वेदों ने किया है, वह नहीं जिसका वर्णन शास्त्रों और पुराणों में मिलता है। कुछ यही भाव इस्लामी सुधारकों में भी रहा है। अब्दुल वहाब से बहुत पूर्व, प्रायः, चौदहवीं सदी में अरब में **इब्ने-तीमिया** नाम के सुधारक हुए थे। उनका भी यही भाव था और सारी जिन्दगी वे लोगों को इस बात के लिए सजा दिलवाते रहे कि उन्होंने इस्लाम के परम्परागत नियमों का उल्लंघन किया था।

यहाँ भारत में अकबर के धार्मिक सुधारों के विरुद्ध शेख अहमद सरहिन्दी ने जो आन्दोलन चलाया था, उसका आगे आनेवाले वहाबी आन्दोलन से खासा मेल था। फर्क केवल यह रहा कि वहाब साहब के कुछ सुधार गरीबों के हक में अच्छे और अमीरों के हक में खराब थे। इस लक्षण को छोड़ दें तो शेख अहमद सरहिन्दी, इब्ने तीमिया, औरंगजेब, वहाब, हाली और इक़बाल ने इस्लाम के लिए जो कुछ किया, वह लगभग एक ही प्रकार का कार्य था।

जब से नज्द के सऊद-खानदान के सरदार **मुहम्मद** अब्दुल वहाब के शिष्य हुए, वहाबियों का जोर बहुत अधिक बढ़ गया और वे धर्म के साथ राजनैतिक प्रभुता का गठ-बन्धन करके सारे संसार के मुसलमानों को एक छत्र के नीचे लाने का स्वप्न देखने लगे।

अब्दुल वहाब की मृत्यु (सन् १७८७ई०) के बाद, सऊद वहाबी-सम्प्रदाय के नेता हुए। प्रतिष्ठा में उनका राज्य अबूबक्र और हज़रत उमर की खिलाफत की याद दिलाने लगा, क्योंकि मुसलमान उन्हें अपना धार्मिक गुरु भी मानते थे तथा राजनैतिक नेता भी। सऊद का देहान्त सन् १८१४ई० में हुआ। किन्तु, तब तक वहाब-सम्प्रदाय शक्ति और धार्मिक प्रतिष्ठा में इतना उन्नत हो चुका था कि लोग उसे प्राचीन खिलाफत का सहज उत्तराधिकारी मानने लगे थे।

चूँकि वहाबी लोग सऊद-राज्य को खिलाफत का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे, इसलिए, टर्की के सुलतान से उनका विरोध हो गया, क्योंकि खिलाफत का ओहदा अभी टर्की के ही सुलतान के पास था। टर्की का सुलतान जानता था कि वहाबियों में जो धार्मिक उन्माद है, उसके सामने कोई भी मुस्लिम देश घुटने टेक सकता है। अतएव, सुलतान ने अल्बानिया के मुहम्मद अली से सन्धि की और यूरोपीय बन्दूकों के सहारे उसने वहाबियों को मिट्टी चूमने को लाचार कर दिया।

किन्तु, यह वहाबियों की सामरिक पराजय मात्र थी। आध्यात्मिक दृष्टि से वे

तब भी मुसलमानों के धार्मिक नेता बने रहे। इस्लाम को प्राचीन गरिमा पर फिर से प्रतिष्ठित करने का स्वप्न वहाबी लोग, हमेशा, मुसलमानों में फैलाते रहे और मक्का में हज करने को जो भी मुसलमान जाते, उनके जरिये वहाबियों का यह सन्देश असानी से विश्व के कोने-कोने में पहुँचता रहा।

भारत में वहाबी आन्दोलन

मक्का जानेवाले हाजियों के द्वारा ही इस आन्दोलन का सन्देश अरब से भारत पहुँचा। अरब, सीरिया, मिस्र और ईरान में इस्लाम जिस दुरवस्था में जा फँसा था, भारत में उसकी उससे अच्छी अवस्था नहीं थी। हिन्दू-समाज से जो लोग निकल कर इस्लाम में दीक्षित हुए थे, वे अपने साथ हिन्दुओं की बहुत-सी तथाकथित कुरीतियाँ भी ले गये थे। सत पीर और पंज पीर की पूजा मुसलामानों में भी थी, जो हिन्दुओं के सत्यनारायण-पूजन की याद दिलाती थी। मूर्त्ति-पूजकों में हिन्दुओं के समान भारत के मुसलमान भी कब्रों की पूजा करते थे, वहाँ मिन्नतें माँगते और चढ़ावा चढ़ाते थे। गाँवों में मुस्लिम जनता भी चेचक से बचने के लिए शीतला माता की पूजा करती थी एवं सुख-वृद्धि के लोभ से अनेक देवी-देवताओं को पूजती थी। हिन्दुओं का सगुन-विचार, सधवा स्त्रियों का सिन्दूर लगाना तथा नथ और शंख की चूड़ी पहनना एवं दहेज और श्राद्ध, ये सारे आचार, हिन्दुओं के समान, मुसलमानों में भी प्रचलित हो गये थे (तथा अब भी प्रचलित हैं)। यही नहीं, हिन्दुओं की जाति-प्रथा भी मुसलमानों में घुसी और वे भी शरीफ़ और रज़ील ज़ातों में बँट गये। संक्षेप में, उलमा और मुल्ला तथा मुट्ठी भर जागरूक मुसलमान चाहे जैसे भी रहते हों, किन्तु, मुस्लिम जन-साधारण के रस्म-रिवाज, अधिकतर, वे ही थे जो उनके पड़ोसी हिन्दुओं में फैले हुए थे। यह हमारी सामासिक संस्कृति की सामग्री थी, जिसे दोनों जातियों के लोग प्यार से देखते थे। यह ठीक है कि शेख अहमद सरहिन्दी तथा उसके उत्तराधिकारियों ने इन कुरीतियों के खिलाफ मुस्लिम जनता में काफी उत्तेजना फैलायी थी। किन्तु, ये आदतें तब भी चलती रहीं। मगर, अब अरब के वहाबी आन्दोलन से प्रेरणा ले कर भारत के उलमा भी इस्लाम को उन कुरीतियों से मुक्त करने के काम में लग गये। यद्यपि, इस बात का उन्हें तनिक भी ज्ञान नहीं था कि सुधारों के जरिये वे मुसलमानों को हिन्दू-समाज से अलग कर रहे हैं।[१]

सन् १८०४ई० के लगभग हाजी **शरीयतुल्लाह** ने बहादुरपुर (जिला फरीदपुर, बंगाल) में किसान-आन्दोलन का आरम्भ किया। उनके अनुयायी **फ़रायज़ी** कहलाते थे। इन लोगों ने इस्लाम पर पड़े हुए हिन्दू-प्रभावों को गर्हित बतलाया और जनता से कहा कि इन प्रभावों से निकल कर उस मार्ग पर आओ जो शुद्ध कुरान का मार्ग है। उन्होंने यह भी कहा कि भारत पर अब मुसलमानों का राज्य नहीं है, अतएव, यह देश **दारुल-हरब** (शत्रु-देश) हो गया है। इसलिए, मुसलमानों को चाहिये कि वे

---

[१] Lower class Islam emerged from the reform purer, but more communalist.—W. C. Smith (Modern Islam in India).

त देश में जुमे की नमाज़ पढ़ना छोड़ दें। जो लोग इस उपदेश को मानने पर मादा हुए, वे **बेजुमा** कहलाने लगे। शरीयतुल्लाह की मृत्यु के बाद, उनके बेटे ू मियाँ ने उनके उपदेश को जोर-शोर से फैलाया तथा दुधू मियाँ के समय में पूर्वी गाल में **बेजुमा**-सम्प्रदाय की संख्या काफी बड़ी हो गयी।

परन्तु, भारत में वहाबी आन्दोलन के सब से प्रभावशाली नेता रायबरेली के **सैयद** हमद हुए। सन् १८२२ई० में उन्होंने मक्का की तीर्थ-यात्रा की और वहीं वे वहाबी न्दोलन के मूल-प्रवर्त्तकों के सम्पर्क में आये। वहीं उन्होंने यह प्रभाव भी ग्रहण किया विलासिता और आराम-तलबी इस्लाम की शिक्षा के विरुद्ध है एवं यूरोपीय जातियाँ लाम से शत्रुता रखती हैं। सैयद अहमद ने भारत में भी सारे देश की यात्रा की र अपने धर्म-बन्धुओं को बताया कि उनका धर्म कितना रूढ़िपूर्ण हो गया है तथा वे रूढ़ियों को छोड़ कर धर्म के वास्तविक मार्ग पर आ सकते हैं। कुरान और ीस में जिनका उल्लेख नहीं है, उन रीति-रस्मों, आचारों और विश्वासों को उन्होंने लाम-विरोधी माना एवं कुरान और हदीस की नयी व्याख्याओं को भी उन्होंने गलत ा। उनके भाषणों के भीतर से इस्लाम की आरम्भिक पवित्रता और गरिमा, दर्पण भाँति, चमक उठी एवं जनता उन्हें बड़े ही आदर से देखने लगी। उनके उपदेश मुल्लों और अमीरों के विरुद्ध पड़ने लगे और इन दोनों वर्गों के लोगों ने सैयद हमद का भी वैसा ही विरोध किया, जैसा विरोध उन्होंने नज्द में अब्दुल वहाब का या था। किन्तु, इन विरोधों से भारत के वहाबी नहीं दवे। ज्यों-ज्यों, अमीर-उमरा र उलमा उनका विरोध करते थे, त्यों-त्यों, जन-साधारण और अधिक उनके साथ ता जाता था। किन्तु, अन्ततोगत्वा, वहाबियों पर ब्रिटिश सरकार की शनि-दृष्टि ़ गयी। सैयद अहमद ने भी एलान किया था कि भारत पर मुसलमानों का राज्य हीं रहने के कारण यह देश **दारुल-हरब** हो गया है और यहाँ के मुसलमानों को भी हाद का धर्म-सिद्ध अधिकार है। किन्तु, धर्म के भीतर से यह राजनीति झाँक रही ी, इसलिए, वहाबियों की अँगरेजों से ठन गयी और अँगरेज उनका दमन करने लगे, हाँ तक कि थोड़े ही दिनों में भारत का वहाबी-आन्दोलन बिलकुल ठंढा पड़ गया।

भारत में साम्प्रदायिकता के इतिहास की खोज करते-करते लोग वहाबी-आन्दोलन ो भी उसका एक कारण मान लेते हैं। किन्तु, वहाबी-आन्दोलन, ठीक-ठीक, साम्प्रदायिक हीं था। यह ठीक है कि भारत को दारुल-हरब बता कर वहाबियों ने सभी मुसलनों को संगठित होकर इस्लाम की रक्षा के लिए तैयार होने का उपदेश दिया। न्तु, यह बात हिन्दू-विरोधी नहीं कही जा सकती। धर्म-युद्ध का औचित्य भी यह हीं था कि भारत में हिन्दू बसते थे, बल्कि, यह कि इस देश पर अँगरेजों का राज्य ा। सिक्खों और बंगाल के जमींदारों के खिलाफ भी वहाबियों के संघर्ष का कारण र्थिक था, धार्मिक नहीं। "कलकत्ते के पास सन् १८३१ई० में किसानों ने जो द्रोह किया, उसमें उन्होंने पूरी निष्पक्षता के साथ हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही ातियों के जमींदारों पर धावा किया।" "किसी भी इलाके में वहाबियों के पहुँच

जाने से ऐसे सभी वर्गों को खतरा रहता है जिनके पास सम्पत्ति है। पिछले पचास वर्षों से ऐसा हर एक मुल्ला वहाबियों के खिलाफ चिल्लाता रहा है, जिसके पास मस्जिद की बाड़ी में दस एकड़ भी जमीन है। पिछली आधी सदी में मुल्लाओं ने सैकड़ों फतवे देकर बहाबियों की निन्दा की है।"[१]

धार्मिक सहानुभूति के होते हुए भी अमीर मुसलमानों ने वहाबियों का विरोध किया। सैयद अहमद का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, किन्तु, व्यवहार में वहाबी आन्दोलन का आर्थिक पक्ष प्रधान हो गया एवं साम्प्रदायिकता उसमें से कपूर के समान उड़ गयी। और आर्थिक संघर्ष के क्रम में भी इस आन्दोलन ने निचले तबकों के मुसलमानों को निचले तबकों के हिन्दुओं के खिलाफ नहीं उभारा, न उन्हें परस्पर एक होने को कहा। इस आन्दोलन के संचालकों ने, धर्म के नाम पर, गरीब मुसलमानों को अमीर मुसलमानों के साथ एकता स्थापित करने की भी सलाह नहीं दी। हाँ, यह कहा जा सकता है कि धार्मिक चिन्तन की प्रक्रिया में इस आन्दोलन ने साम्प्रदायिकता के उभरने की गुंजाइश छोड़ दी और बहुत-से मुसलमानों के मन को इसने इस प्रकार हिला दिया कि आगामी साम्प्रदायिक आन्दोलनों का प्रभाव उनपर पड़ सकता था।

इस्लाम और अँगरेजी राज

इस्लाम और ईसाई धर्मों में जो समानता है, उसका विवरण अध्याय के आरम्भ में दिया जा चुका है। धर्म में जब कुरीतियाँ बढ़ जाती हैं, तब सुधारकों का जन्म होता है। अरब के अब्दुल वहाब ऐसे ही सुधारक थे। किन्तु, भारत में वहाबी-आन्दोलन इसलिए भी लोकप्रिय हुआ कि यहाँ के इस्लाम में जो कुरीतियाँ आ गयी थीं, उन्हें लेकर ईसाई धर्म-प्रचारक, हिन्दुत्व के साथ-साथ, इस्लाम की भी खिल्ली उड़ा रहे थे। और जैसे राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म-प्रचारकों का मुँह बन्द करने के लिए हिन्दुत्व के सम्पूर्ण नहीं, बल्कि, खण्डित रूप का समर्थन किया, उसी प्रकार, मुस्लिम सुधारकों ने भी ईसाइयों से मोर्चा लेने को जिस इस्लाम का रूप प्रसिद्ध किया, वह परम्परागत इस्लाम नहीं था, बल्कि, उस पर यूरोपीय बुद्धिवाद और मानवतावाद का पूरा प्रभाव था। इस्लाम की आलोचना भी ईसाई प्रचारक यही कह कर कर रहे थे कि यह धर्म मानवतावादी नहीं है; इस धर्म में पर्दे का रिवाज है; यह धर्म स्त्रियों का आदर नहीं करता है और एक पति को कई पत्नियाँ रखने का अधिकार देता है; यह धर्म धर्म के नाम पर युद्ध करने को जायज बतलाता है, जो स्वयं भारी अधर्म है तथा इस धर्म में बहुत-सी ऐसी वातें हैं, जो बुद्धिवाद की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं।

यह आलोचना धर्म की कोई बड़ी आलोचना नहीं थी, किन्तु, ईसाई लोग इस स्थिति में थे कि वे ऐसी आलोचना भी जोर से कर सकें। ईसाइयों की श्रेष्ठता हिन्दू और मुसलमान इसलिए तो माननेवाले थे नहीं कि इस्लाम या हिन्दुत्व ईसाइयत से हीन धर्म थे। हाँ, यह बात जरूर थी कि ईसाई लोग साफ-सुथरे, पढ़े-लिखे, साहसी

---

[१] स्मिथ-कृत 'माडर्न इस्लाम इन इंडिया'।

विचारवान् थे । साथ ही , वे शासक-जाति के सदस्य थे और इस जाति ने निक साधनों के कारण अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी थी । भारत जो यूरोप को र चौंका, उसका कारण यह नहीं था कि यूरोप के पास कोई गम्भीर जीवन-था, बल्कि, इस कारण कि वह साम्राज्यवादी था, औद्योगिक था और उसकी ज्ञानिकता श्रेष्ठ थी ।

कल्पना कीजिये कि जब यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई थी, उस समय यदि के किसान ईसाइयत का प्रचार करने के लिए भारत आते तो यहाँ के किसानों उनका क्या प्रभाव पड़ता ? किन्तु, अब वह बात नहीं थी । ईसाइयत खुद जैसा भी ही हो, किन्तु, उसके अनुयायी सभ्यता में बहुत बढ़े-चढ़े थे और भारतवासियों से न, विद्या, शक्ति और साधन में, सहज ही, ऊँचे हो गये थे । इसलिए, ईसाइयत व और प्रताप भी बढ़ा-चढ़ा था ।

भारत में ईसाइयों ने अधिकतर हिन्दुओं को ही ईसाई बनाया, मुसलमान शिकार बहुत कम मिले । इसका एक कारण तो यह था कि इस्लाम में छोटे और निर्धन पर भी धार्मिक अत्याचार नहीं था, जिससे गरीब मुसलमानों को अपना धर्म ने की जरूरत नहीं हुई । दूसरे, इस्लाम और ईसाइयत के बीच यूरोप में जो संघर्ष रहा था, उसके संस्कार ने भी मुसलमानों को सतर्क रखा । तीसरी बात ी कि जैसे ब्राह्म-समाजियों ने हिन्दुत्व के भीतर से ईसाइयत से मिलते-जुलते एक धर्म की सृष्टि करके पढ़े-लिखे हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाने की कोशिश उसी प्रकार, इस्लाम के सुधारकों ने पुस्तकें रच कर तथा व्याख्यानों के द्वारा यह कर दिखाने का प्रयत्न किया कि इस्लाम और ईसाइयत, प्रायः, एक ही धर्म हैं, कोई बड़ा भेद नहीं है । इसके सिवा, एक कारण यह भी रहा कि मुसलमान जी शिक्षा से बिदके हुए थे और अँगरेजी खान-पान, पोशाक, विद्या और संस्कार, को वे अधार्मिक मानते थे ।

रेज और अँगरेजियत से प्रेम

यूरोपीय विचारधारा, अँगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कार, इनके प्रभाव हिन्दुत्व इस्लाम पर भिन्न-भिन्न रूपों में पड़े । अँगरेजी भाषा का स्वागत पहले हिन्दुओं ने ा। अँगरेजी संस्कार भी पहले उन्होंने ही ग्रहण किया । किन्तु, इसके बाद ही, वे रेजों के विरोधी हो गये और अँगरेजी शिक्षा-दीक्षा तथा सारे अँगरेजी संस्कारों से त में राष्ट्रीयता का आविर्भाव और विकास हुआ । मुसलमानों को, स्वभावतः ही, रेज जाति, अँगरेजी शासन और यूरोपीय संस्कारों से घृणा थी । अतएव, आरम्भ वे उनसे बचने की कोशिश करते रहे । मगर, जब वे अँगरेज, अँगरेजी और अँग-यत की ओर झुके तो फिर ऐसे झुके कि उनमें से बहुतों ने भारत को भुला ही और वे अँगरेजों के परम राज-भक्त होने में ही अपना और अपने धर्म एवं समाज कल्याण देखने लगे । यह परस्पर-विरोधी बात है । किन्तु, यह घटना भी अकारण घटी ।

बात यह हुई कि अँगरेजों ने भारत का शासन मुसलमानों के हाथ से छीना था, अतएव उनकी शंका भी सबसे अधिक मुसलमानों पर ही थी। बाद में, जब वहाबी-आन्दोलन उठा और सैयद के नेतृत्व में मुसलमान अँगरेजों के विरुद्ध संगठित होने तथा भारत को शत्रु-देश (दारुल-हरब) कहने लगे, तब अँगरेजों की शंका और भी पुष्ट हो गयी एवं उन्हें विश्वास हो गया कि इस्लाम राज्य-विरोधी धर्म है और सारे-के-सारे मुसलमान अँगरेजी शासन के खिलाफ हैं। दमन के चक्र द्वारा वहाबी-आन्दोलन तो दबा दिया गया, किन्तु, उसके विद्रोही संस्कार मुस्लिम जनता के हृदय में बने रहे। सन् सत्तावन के गदर के पीछे कुछ वहाबी संस्कारों का भी हाथ था, ऐसा तत्कालीन अँगरेज शासकों और लेखकों का मत था। फिर, गदर के मुख्य अपराधी भी मुसलमान ही माने गये और गदर के बाद कई वर्षों तक मुसलमान सरकार की शनि-दृष्टि के शिकार बने रहे। एक तो अँगरेजी नहीं जानने के कारण योंही मुसलमानों को नौकरियाँ नहीं मिलती थीं, अब उनका सारा सम्प्रदाय ही बागी करार दे दिया गया। अतएव, वे शासन से अलग रखे जाने लगे और सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रभाव घटने लगा।

दूसरी ओर, हिन्दू पढ़-लिखकर काफी तैयार हो चुके थे। सरकारी नौकरियों में उनकी अधिकता थी। शिक्षा-संस्थाओं में उनका प्राधान्य था। वे नये भारत के नामी लेखक, विचारक, नेता और पत्रकार थे। उनके भीतर देश को स्वाधीन करने की उमंग जग चुकी थी और सारा-का-सारा राष्ट्रीय आन्दोलन उनके हाथ में था। ऐसी स्थिति, में मुसलमानों की अवस्था, सचमुच, बेपनाह थी। अँगरेज उन्हें अपना दुश्मन समझते थे और कल के गुलाम हिन्दू आज प्रत्येक क्षेत्र में उनसे आगे निकले जा रहे थे। यूरोपीय विचारों के प्रचार से अब तो यह कोई सोच ही नहीं सकता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हुआ तो बहादुरशाह के खानदान के किसी शहजादे को खोजकर भारतवासी उसे अपना बादशाह चुनेंगे। सब की माँग यही थी कि भारत को प्रजातंत्र के ध्येय की ओर बढ़ना चाहिये और प्रजातंत्र में सत्ता उनके हाथ में होती है जिनका, देश में, बहुमत होता है। मुसलमान, दोनों ओर से, अपने को समाप्त समझने लगे।

यह भारत में इस्लाम के भविष्य की रक्षा की घड़ी थी। यह वह समय था जब मुसलमानों को यह चुनाव करना था कि किस राह पर पाँव धरें कि हमारा भविष्य कल्याणमय रहे। इतिहास की शिक्षा यह थी कि जिसने तुम्हें अपदस्थ किया है, तुम भी उसे अपदस्थ करो। वहाबी-आन्दोलन का संकेत था कि यूरोपीय संस्कारों से इस्लाम की रक्षा की जानी चाहिए। और गदर की भी शिक्षा यही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू मुसलमानों को धोखा नहीं देंगे। किन्तु, इतिहास की इन शिक्षाओं के बावजूद, मुसलमान अपनी हिम्मत हार बैठे और सारी सम्भावनाओं के विपरीत, उन्होंने यह तय किया कि अँगरेजी पढ़कर अँगरेजों के यहाँ नौकरियाँ प्राप्त की जायँ और राष्ट्रीय आन्दोलन से पीठ फेर कर अँगरेजों के प्रति राजभक्ति का सबूत दिया जाय। पहला

ाव तो समयानुसार उचित ही था, क्योंकि सभी भारतवासी वही कर रहे थे। ु, दूसरा प्रस्ताव भविष्य के लिए अमंगलकारी सिद्ध हुआ।

सैयद अहमद खाँ

भारत में राजभक्त मुसलमानों के नेता सर सैयद अहमद खाँ हुए, जिनका जन्म ी के एक सैयद-घराने में सन् १८१७ई० में हुआ था। सच पूछिये तो जैसे राम- राय ने आरम्भ में ही हिन्दुओं को अँगरेजी पढ़ने की सलाह दी थी, वैसे ही ी के मुसलमान भी आरम्भ में अँगरेजी की ओर काफी झुके थे। ज़काउल्लाह ख़ाँ ी के ही थे, जिन्होंने, आरम्भ में ही, अँगरेजी पढ़कर गणित और विज्ञान की ीं पुस्तकें उर्दू में लिखीं। असल में, इस काल के मुसलमान भी अँगरेजी की ा को भलीभाँति समझ गये थे और वे चाहते थे कि अँगरेजी में उपलब्ध नवीन उर्दू के द्वारा भारत में फैला दिया जाय। किन्तु, ज़कउल्लाह-जैसे विद्वानों का ग़दर होते ही समाप्त हो गया। उसके बाद, मुसलमानों के भीतर जिस भावना र कर लिया, वह अँगरेजी भाषा की विरोधिनी थी। हाँ, ग़दर के बाद भी, कई यों में ज़काउल्लाह के तरीकों की याद बनी रही और वे मुसलमानों में अँगरेजी चार करने के लिए छोटे-मोटे उद्योग करते रहे।

कलकत्ते के ख़ानबहादुर लतीफ़ ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होंने सन् १८६३ई० में ृमडन लिटरेरी सोसाइटी" की स्थापना की, जिसके तत्त्वावधान में ऊँचे तबके के मान सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विषयों पर अँगरेजी ढंग से विचार-मय किया करते थे। गदर के बाद, मुसलमानों में जो पस्ती आयी, उसका असर ब लतीफ़ पर स्पष्ट था, क्योंकि वे समझते थे कि अँगरेजी सल्तनत इतनी मजबूत कि वह उखाड़ी नहीं जा सकती तथा अँगरेजी भाषा से इतने लाभ हैं कि उसकी ा भी आत्मघातिनी होगी। लतीफ साहब के उद्योग से उस मदरसे में अँगरेजी का ा हुआ, जिसे लार्ड हेस्टिंग्स ने खोला था। उन्हीं के उद्योग से मुसलमान लड़कों के अनेक स्कूल खोले गये और मुस्लिम-जनता अँगरेजी पढ़नेवाले मुसलमान छात्रों सहायता भी करने लगी। यह आन्दोलन अत्यन्त छोटा और संकीर्ण था, किन्तु, -रूप में यही राज-भक्ति के उस बृहत् आन्दोलन का जनक हुआ, जो आगे चलकर ेवाला था। इसी आन्दोलन के नेताओं ने मुल्लाओं से फतवा लेकर मुसलमानों में घोषणा करवायी कि भारत दारुल-हरब नहीं, दारुल-इस्लाम है और जो लोग के दिन सामूहिक नमाज़ नहीं पढ़ते, वे धर्म-विरुद्ध काम करते हैं, क्योंकि अँगरेज दुर किसी के धर्म में कोई दखल देना नहीं चाहते।

स्पष्ट ही, जिन कारणों ने सर सैयद को राज-भक्ति की ओर प्रेरित किया, उन्हीं णों से लतीफ़ भी राज-भक्ति की ओर गये होंगे। किन्तु, लतीफ़ ने जिस बीज का मात्र किया था, वह सर सैयद के समय बढ़ कर काफी बड़ा वृक्ष बन गया। सर र बड़े ही कर्मठ पुरुष थे। बाधाएँ उनका मार्ग नहीं रोक सकती थीं। उनकी लगन, का अध्यवसाय और उनका अडिग विश्वास बेजोड़ था। किन्तु, उनकी सफलता

का रहस्य इतना ही नहीं था। मुख्य बात तो यह थी कि सारी मुस्लिम-जनता ही एक प्रकार की मानसिक पस्ती में थी और जो समाधान सर सैयद को सूझा था, वह जनता को भी पसन्द था। मुसलमानों को एक ओर तो कुपित शासन से भय था; दूसरी ओर, हिन्दुओं के बहुमत पर उन्हें आशंका थी। यह भी था कि हिन्दू मुसलमानों से नाराज नहीं थे, किन्तु, अँगरेजों का मुसलमानों पर कोप स्पष्ट था। निदान, मुसलमानों ने कुपित शासन को प्रसन्न करने का मार्ग चुना, यद्यपि उस समय उन्हें यह अन्देशा भी नहीं था कि यह मार्ग आगे चल कर उन्हें अपने देशवासियों में बदनाम करेगा।

२१ साल की उम्र में सर सैयद सरकारी नौकरी में दाखिल हुए। उनकी प्रवृत्ति साहित्य की ओर थी और गदर के पूर्व तक उन्होंने साहित्य लिखा भी खूब। उस समय तक उनकी रचनाओं में जो विचार व्यक्त हुए, वे राज-भक्ति के विचार नहीं थे, प्रत्युत, उनकी थोड़ी-बहुत समता वहाबी विचारधारा से ही समझी जाती थी। लेकिन, गदर के बाद, अँगरेजों ने मुसलमानों पर जो अत्याचार आरम्भ किये, उनसे वे बिलकुल घबरा गये और कहते हैं कि भारत में मुसलमानों का कोई भविष्य नहीं देख कर एक बार उनके मन में यह भाव भी जगा था कि भारत से भाग कर वे मिस्र में जा बसें। किन्तु, दूसरे ही क्षण, उन्होंने अपने-आपको सँभाला और यह संकल्प करके वे भारत में ही रह गये कि चाहे जैसे भी हो, अपने धर्म-बन्धुओं को ऊपर उठाने में सारा जीवन लगा दूँगा।

मुसलमानों की उन्नति के उन्हें दो उपाय दिखायी पड़े। एक तो यह कि मुस्लिम जनता में अँगरेजी भाषा और अँगरेजी शासन के प्रति जो विरोध का भाव है, वह बिलकुल दूर कर दिया जाय। दूसरा यह कि अँगरेजी शासन के मन में मुसलमानों पर जगी हुई शंका निर्मूल कर दी जाय। मुस्लिम जनता को यह समझते देर नहीं लगी कि अँगरेजी राज में सब से सुखीलोग वे हैं जो अँगरेजी के जानकार हैं, क्योंकि ये ही लोग अब शासन के अधिकारी और कर्मचारी थे तथा वाणिज्य-व्यवसाय में भी ये ही प्रगति कर रहे थे। अँगरेजों की शंका मिटाने के लिए उन्होंने लेख और किताबें लिखीं, जिनमें उन्होंने यह सिद्ध किया कि गदर के मुख्य अपराधी मुसलमान नहीं थे, और थे भी तो, उन्होंने आवेश में आ कर गलती की थी, जिसके लिए सरकार से उन्हें क्षमा मिलनी चाहिये[1]।

एक दूसरी किताब लिख कर उन्होंने उन मुसलमानों की गिनती गौरव से करवायी जिन्होंने गदर के समय अँगरेजों का साथ दिया था[2]। यही नहीं, वहाबियों की ओर से भी उन्होंने यही दलील दी कि वे अँगरेजों के विरोधी नहीं, सिर्फ सिक्खों के शत्रु थे। मुसलमान विद्रोही हैं, इस बात का खंडन उन्होंने बार-बार किया और बार-बार कहा कि इस्लाम आजादी का तरफदार नहीं हो सकता। अँगरेज मुसलमानों को शंका की दृष्टि से नहीं देखें, बस इतना उद्देश्य था, जिसकी प्राप्ति के लिए वे आजीवन उद्योग करते रहे।

---

[1] असबाबे-बगावते-हिन्द, सन् १८५९ ई०

[2] द लॉयल मोहमडन्स आव् इंडिया, १८६०-६१ ई०

अलीगढ़ में **मोहमडन एँग्लो-ओरियंटल कॉलेज** (जो सन् १८७५ई० में खुला और १९२०ई० में मुस्लिम-यूनिवर्सिटी में परिणत हो गया) की स्थापना करते हुए होंने उसके उद्देश्यों में जहाँ यह बात रखी कि "मुसलमान अपने धर्म की रक्षा करते अँगरेजी पढ़ सकें", वहाँ उसी घोषणा-पत्र में वे यह कहना नहीं भूले कि "इस ा का उद्देश्य मुसलसानों को ब्रिटिश सरकार की सुयोग्य प्रजा बनने के योग्य ना है[1] ।" असल में, सर सैयद ने मध्यवर्गीय मुसलमानों की राज-भक्ति बटोर कर रेजों के चरणों में डाल दी और, बदले में, उन्हें अँगरेजों का प्रिय पात्र बना दिया ।

धर्म के क्षेत्र में भी सर सैयद बहुत बड़े सुधारक थे । जवानी में उनपर वहाबी चारों का जो प्रभाव पड़ा था वह टिक नहीं सका और, अन्त में जा कर, उन्होंने यह य किया कि इस्लाम को अपनी पुरानी परतें तोड़ कर युगानुरूप बनना ही चाहिये । रान शरीफ़ की उन्होंने जो टीका लिखी है वह बहुत अंशों में बुद्धिवादी है । बुद्धिवाद र प्राकृतिकता (रीज़न और नेचर), इन दो कसौटियों पर जो बातें खरी उतरें, उन्हें मानने का उनका उपदेश था । क़ुरान और हदीस में जो चमत्कारपूर्ण अलौकिक हैं, उनके सम्बन्ध में सर सैयद का मत था कि या तो वे अलंकार की भाषा में गयी हैं जिनका बुद्धिगम्य अर्थ लेना चाहिये अथवा उनका अर्थ, आज के मुसल- ों की समझ न आने से, उन्हें निर्विवाद छोड़ देना चाहिये ।

वे पर्दे के विरोधी और स्त्री-शिक्षा के जबर्दस्त हामी थे । स्त्री-शिक्षा में क़ुरान बाधा वे नहीं मानते थे । उनका यह भी दावा था कि क़ुरान जिहाद (धर्म-युद्ध) र गुलामी-प्रथा के औचित्य को नहीं स्वीकार करता है । वस्तुतः, इस्लाम का ात्कार उन्होंने यूरोपीय विचारधारा की पृष्ठ-भूमि पर किया था और यूरोप एवं ाइयत में जो भी अच्छी बातें हैं, उन्हें वे इस्लाम के अनुकूल बताते थे । वे अनेक ों में नवीन युग के नये मनुष्य थे और इस्लाम को प्राचीनता से संलग्न करने वाली ई भी कड़ी उन्हें पसन्द नहीं थी । यूरोप के सामने वे मुसलमान होने के कारण ने को तैयार नहीं थे । अतः, उन्होंने यह दावा रखा कि यूरोपीय कसौटी पर कसने भी इस्लाम उत्तम धर्म सिद्ध होता है ।

खान-पान, रहन-सहन, संगति और संस्कार में भी, अँगरेजी ढंग उन्हें बहुत पसन्द और जो भी नवयुवक अँगरेजियत अपनाता, उसकी वे प्रशंसा करते थे । संक्षेप में, र सैयद ने केवल अँगरेजी शासन को ही स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत, वे चाहते थे कि लमान खुले दिल से अँगरेजियत को भी कबूल कर लें । नयी रोशनी के प्रति अपने रुजहान के कारण उन्हें प्राचीनता के पिष्ट-पेषकों की निन्दा भी सहनी पड़ी[2] ।

"To make the mussalmans of India worthy and useful subjects the British Crown." ("मॉडर्न इस्लाम" में उद्धृत)

सर सैयद के आलोचकों में अकबर इलाहाबादी बड़े ही प्रमुख हुए हैं । वे सर सैयद की अँगरेज-भक्ति के ही विरोधी नहीं, उनके सामाजिक सुधारों के भी द्रोही थे । उनके कितने ही शेर सर सैयद को लक्ष्य करके लिखित दीखते हैं । यथा,

[शेष पृष्ठ ६७६ पर ।]

उनके दल को लोग 'नेचरी' (अँगरेजी के नेचर शब्द से) तथा उन्हें अँगरेजों का भक्त कहा करते थे।

सर सैयद धर्म में अप्राकृतिक नियंत्रण को नहीं मानते थे। इसलिए, ईसाइयत के एक पत्नीव्रत वाले विश्वास को उन्होंने गलत कहा और यह दलील पेश की कि चूँकि मनुष्य का स्वभाव एकाधिक-त्रियागामी है इसलिए, इस्लाम यदि चार पत्नियाँ रखने की आज्ञा देता है, तो यह कोई अप्राकृतिक बात नहीं है।

सर सैयद ने जिस इस्लाम की व्याख्या पेश की, वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार एवं वैज्ञानिक प्रगति के सर्वथा अनुकूल था तथा मानवतावाद, बुद्धिवाद एवं यूरोप की प्रगतिशील विचारधारा से उनका अधिक विरोध नहीं था।

सर सैयद के राजनैतिक सिद्धान्त उनके राज-भक्तिवाले सिद्धान्त के नीचे दबे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ई० में हुआ था और उस समय अँगरेजों की उन पर अकृपा नहीं थी। फिर भी, आरम्भ से ही सर सैयद मुसलमानों को यह सलाह देते रहे कि कांग्रेस में उनका जाना ठीक नहीं है। सन् १८८७ई० की २८ दिसम्बर को कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हो रहा था और उस वर्ष उसके सभापति भी एक मुसलमान सज्जन थे। ठीक उसी दिन, लखनऊ में सर सैयद ने भाषण दिया कि मुसलमानों को राज-भक्ति के पथ पर आरूढ़ रह कर, अधिक-से-अधिक, सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करते रहना चाहिये। मुसलमानों का कांग्रेस में सम्मिलित होना हरगिज ठीक नहीं है। "यदि तुमने अपने ऊपर शंका करने का अवसर नहीं दिया तो सरकार तुम्हारी सारी तकलीफें दूर कर देगी।" कर्नल ग्राहम को उन्होंने एक पत्र लिखा था कि "तथाकथित राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ मैंने एक भारी जिम्मेदारी उठायी है और अभी-अभी 'इण्डियन युनाइटेड पैट्रियाटिक एसोसियेशन' की स्थापना की है"[१] यही नहीं, जब यूनान और टर्की में युद्ध आरम्भ हुआ और "पहले इस्लाम तब और कुछ" (पान-इस्लामिज्म) की भावना भारत में फैलने लगी, तब सर सैयद ने, प्रायः, मृत्यु-शय्या पर से लेख लिख कर भारत के मुसलमानों को चेतावनी दी कि

[पृष्ठ ६७५ का शेष]

ईमान बेचने को तो तैयार हैं हम भी,
लेकिन, ख़रीद हो जो अलीगढ़ के भाव से।
× ×
हज़ार शेख ने डाढ़ी बढ़ायी सन की-सी,
मगर, वो बात कहाँ मालवी मदन की-सी।
× ×
तालीमे-दुख्तराँ से ये उम्मीद है ज़रूर,
नाचे दुल्हन ख़ुशी से ख़ुद अपनी बरात में।
× ×
तुम अँगरेज़ीदाँ हो, वो अँगरेज़दाँ है।

[१] मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया।

ाहर की बातों का असर वे अपने मन पर न आने दें। इसी लेख में उन्होंने यह भी हा कि टर्की का सुलतान विश्व भर के मुसलमानों का खलीफा नहीं है तथा, कारण-ा, यदि अँगरेज टर्की से लड़ाई भी लड़ते हों, तब भी, भारत के मुसलमानों को ंगरेजों के प्रति राज-भक्त रहना ही चाहिये।

सर सैयद में साम्प्रदायिकता थी या नहीं, यह सन्दिग्ध विषय है। वैसे, वे उन्नीसवीं दी के उन भारतीय महापुरुषों में थे जो इन क्षुद्र भावनाओं से बहुत ऊँचे थे, जो ने-अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी एक दूसरे के प्रेमी और विश्वासी थे। राम-हन राय, केशवचन्द्र, विवेकानन्द, रानाडे, गोखले या सर सैयद, इनमें से, शायद, ई भी व्यक्ति साम्प्रदायिक नहीं था। ये सब लोग हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और भिन्न जातियों के बीच प्रेम और सद्भाव रखने के पक्षपाती थे। असल में, तब तक रत छोटे लोगों का देश ही नहीं था। यहाँ के नेता और विद्वान् पड़ोसी के धर्म या ति की निन्दा करने में संकोच का अनुभव करते थे। और यही हाल यहाँ की ता का भी था।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर सर सैयद ने जो श्रद्धांजलि अर्पित की, वह उनके हृदय विशालता की द्योतक थी। अलीगढ़ कॉलेज स्थापित करने के समय उन्होंने हिन्दुओं ी सहायता ग्रहण की थी। वे सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों का पूरा लन चाहते थे। सरकारी क्षेत्रों में मुसलमानों को आगे बढ़ाने का काम वे अवश्य र रहे थे, किन्तु, यह केवल अपने धर्म-बन्धुओं की सेवा थी। उनका ध्येय यह नहीं कि मुसलमान हिन्दुओं से बिलकुल अलग हो जायँ।

किन्तु, जिस राज-भक्ति के द्वारा वे मुसलमानों का कल्याण खोज रहे थे, उसीसे ागे चलकर सम्प्रदायिकता की नयी डालें फूट निकलीं। उदाहरण के लिए, यह दलील यदि अँगरेज भारत से हटेंगे तो यहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच झगड़े शुरू जायँगे, सबसे पहले उन्हीं को सूझी थी। सर सैयद के प्रयत्नों से जब सरकार और स्लिम-समाज के बीच का तनाव कुछ कम हुआ, तब, राष्ट्रीयता के वातावरण में, सलमानों की भी राज-भक्ति कुछ शिथिल पड़ने लगी। ऐसे समय, राज-भक्ति के लते हुए पाये को मजबूत करने के लिए सर सैयद ने मुसलमानों को हिन्दू-आतंक का भय दिखाया। मुसलमानों का तब तक कोई अलग संगठन नहीं था और सर यद भी चाहते थे कि मुसलमान शिक्षा-संस्कृति से आगे बढ़कर राजनीति में न पड़ें। न्तु, गुलाम देश में राजनीति की प्रेरणा से कोई बिरला ही बच पाता है। आखिर मुसलमान भी राजनीति की दिशा में इधर-उधर जाने लगे। ऐसे समय सन् ८८९ई० में सर सैयद ने 'अपर इण्डिया मोहमडन डिफेंस एसोसियेशन' की स्थापना । अनुमान यह होता है कि यह संस्था सर सैयद ने मुसलमानों को कांग्रेस में जाने रोकने के लिए बनायी होगी।

बाज-बाज बातों में सर सैयद के विचार बड़े ही प्रगतिशील थे। यूरोपीय ज्ञान वे प्रेमी तो थे, लेकिन, उनका यह भी विचार था कि यह ज्ञान यदि केवल अँगरेजी द्वारा दिया गया तो वह जनता में नहीं पहुँचेगा। अतएव, सन् १८६७ई० में

उन्होंने उर्दू-यूनिवर्सिटी खोलने की एक योजना तैयार की और उसे सरकार के पास भेजा। लेकिन, वह योजना अस्वीकृत कर दी गयी।

सर सैयद गवर्नर-जनरल की काउंसिल के भी सदस्य हुए थे। दुर्भाग्यवश, राज-भक्ति के जोश में आकर वहाँ भी उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्र बनाने की सलाह दी। यह, स्पष्ट ही, साम्प्रदायिक कृत्य था, जिसके जहर का अन्दाजा सर सैयद को नहीं रहा होगा। और तो और, सन् १८५८ई० में सर सैयद ने अँगरेजों को इसलिए भी फटकारा था कि सेना में अँगरेजों ने हिन्दू और मुस्लिम रेजिमेंट अलग-अलग क्यों नहीं रखे कि हिन्दू बागियों को मुस्लिम और मुस्लिम बागियों को हिन्दू सेना तबाह कर देती। क्यों उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही रेजिमेंट में रखकर उन्हें दोस्त बनने का मौका दिया ?

अचरज की बात है कि एक भारतवासी के मुख से ऐसी बात निकली। यह तो 'बाँटो और राज करो' की नीति का सुझाव था। यह ठीक उसी एकता पर चोट थी जिसे सम्भव बनाने को हिन्दू और मुसलमान, दोनों बेकरार रहे हैं। किन्तु, इस घबराहट का भी कारण था। यह, शायद, उन दिनों की बात है जब सर सैयद भारत छोड़ कर मिस्र चले जाने के भाव से भयभीत रहे होंगे और उस भय से बचने की राह उन्हें एक ही दिखलायी पड़ी, जो राज-भक्ति की राह थी, जो ऐसी-ऐसी विचित्र बातें बोलने की राह थी, जिन्हें सुनकर अँगरेज भी दुविधा में पड़ जायँ।

सर सैयद के सहयोगी

सर सैयद ने मुसलमानों के बीच जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया, उसकी अनुकूल व्याख्या करके उसे आगे बढ़ानेवाले कुछ और लोग भी निकल आये। **चिराग़ अली** ऐसे ही विद्वान् थे। उनके लेख सर सैयद के अखबार **तहज़ीबुल-एख़लाक़** में अक्सर छपते थे। विशेषतः, उनकी चोट ईसाई धर्म-प्रचारकों पर थी जो आये दिन इस्लाम की निन्दा करते रहते थे। चिराग़ अली के बहुत-से निबन्ध अँगरेजी में भी थे। उनका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि इस्लाम शान्ति-प्रिय धर्म है, धर्म-युद्ध या जिहाद की अनुमति कुरान नहीं देता, स्वयं नबी ने भी जितनी लड़ाइयाँ लड़ीं, आत्म-रक्षा के निमित्त लड़ीं और किसी को जबर्दस्ती मुसलमान बनाना उन्हें मंजूर नहीं था। एक पुस्तक[1] में उन्होंने यह भी दिखलाया था कि यूरोप की उन्नति का कारण यह है कि वहाँ के लोग समाज के मामले में धर्म की दुहाई नहीं देते हैं। भारत में भी धर्म का सम्बन्ध सामाजिक आचारों से नहीं रहना चाहिये। यह अत्यन्त क्रान्तिकारी उद्गार था, क्योंकि इस्लाम केवल वैयक्तिक धर्म नहीं है। वह अपने अनुयायियों के सारे जीवन के सामाजिक कर्त्तव्यों का भी दर्शन उपस्थित करता है। फिर भी, चिराग़ अली का मत था कि "धर्म के रूप में इस्लाम सामाजिक पद्धतियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मुसलमानों की नीति और समाज-प्रणाली का उनके धर्म से कोई सरोकार नहीं है।" स्पष्ट ही, यह नव-युग का प्रभाव था। काश कि यह प्रभाव सब को स्वीकार हुआ

---

[1] Proposed Reforms, by Chiragh Ali.

ा! तब, शायद, भारत के टुकड़े नहीं बनते और हिन्दुओं और मुसलमानों की ट्रीय नीति एक हुई होती ।

इस आन्दोलन के दूसरे समर्थक **मुहसिनुलमुल्क सैयद मेहदी अली** हुए । उन्होंने सैयद की राज-भक्ति और उनके शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया । ाम और कुरान की जो नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा रही थीं, उनका उन्होंने दार समर्थन किया एवं सन् १९०६ई० में उन्होंने, अँगरेजों को खुश करने के , यह घोषणा की कि टर्की का सुलतान भारतीय मुसलमानों का ख़लीफ़ा नहीं है । वर्ष, वे आग़ा खाँ-शिष्ट-मंडल के साथ वायसराय की सेवा में इस प्रार्थना के उपस्थित हुए कि भारतीय मुसलमानों के हितों की रक्षा करने के लिए **मुस्लिम** की स्थापना करने की अनुमति दी जाय ।

इस्लाम के नये व्याख्याताओं में प्रोफेसर **सलाहुद्दीन खुदाबख्श** का भी बड़ा है । उनकी दो पुस्तकें, 'द स्पिरिट आव् इस्लाम' और 'थाट्स ऑन द प्रेज़ेण्ट एशन' उन दिनों (सन् १९१०-१२ई०) बड़े ही चाव से पढ़ी गयी थीं । उनका ा था कि "जो धार्मिक और सामाजिक पद्धति हमें आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व हुई थी, वह आज की अवस्था में भी बिना किसी मीन-मेष के मानी जानी हियें, ऐसा दावा करना छद्म का काम है । ठीक से समझने पर क़ुरान आध्यात्मिक -प्रदर्शक मात्र है । वह कुछ आध्यात्मिक आदर्शों को हमारे सामने रखता है । गी की बाकी बातों में मुसलमान अन्य लोगों के समान ही स्वतंत्र हैं ।"

खुदाबख्श ने यह भी लिखा है कि "एक ईश्वर में बिश्वास और मुहम्मद को का दूत मानना" बस, इतना ही इस्लाम का सार है । बाकी सारी बातें ऐसी हैं जो र से आयी हैं, जिनमें से अधिकांश रूढ़ियाँ और परतें हैं । ईसाइयत की खुदाबख्श -भूरि प्रशंसा करते थे और, अक्सर, यह दिखलाने की चेष्टा करते थे कि ईसाइयत र इस्लाम में कोई भेद नहीं है । यह था उनका धार्मिक पक्ष जो बहुत-कुछ सर र के धर्म का ही पर्याय था । सर सैयद के समान ही, वे कट्टर राज-भक्त भी थे कहते थे कि "राजद्रोह और अराजकता के दलन में हमें सरकार की, खुलकर, यता करनी चाहिये ।" कोई आश्चर्य नहीं कि इंग्लैण्डवालों को खुदाबख्श की ावें बहुत पसन्द आयीं और वे उन्हें इस्लाम का प्रामाणिक आचार्य समझने लगे ।

सर सैयद के एक अन्य सहयोगी जौनपुर के **मौलाना करामत अली** थे, जिनका र, बंगाल, उड़ीसा और असम में बड़ा प्रभाव था । इसी प्रकार, ढाका मदरसा के आचार्य **मौलाना ओबेदुल्लाह-अल-ओबेदी** (सुहरावर्दी) सर सैयद के परम भक्त और ोगी थे । इस्लाम की नयी व्याख्या के वे बड़े ही तेजस्वी समर्थक निकले और ाम के जिस संशोधित रूप का प्रचार सर सैयद चाहते थे, उसका ओबेदी ने खूब र किया । सर सैयद के कहने से उन्होंने भी यह फ़तवा दिया कि भारत दारुल- नहीं होकर दारुल-अमन या दारुल-इस्लाम है तथा हर मुसलमान को यह हक है कि, धर्म-ग्रन्थों की आज्ञा के अनुसार, वह अपने धर्म का पालन कर ा है ।

अँगरेजी शिक्षा से प्रेम और अँगरेजी सरकार के प्रति अटल राज-भक्ति, ये सर सैयद के प्राणप्रिय सिद्धान्त थे एवं इनका प्रचार उनके सभी शिष्यों और सहयोगियों ने बड़े ही उत्साह से किया। यही नहीं, बल्कि, अलीगढ़ का मुस्लिम कालेज, ढाका विश्वविद्यालय (स्थापित १९२०ई०), कलकत्ते का इस्लामियां कालेज (स्थापित १९२१ई०) तथा वैसी अन्य अनेक संस्थाएँ सर सैयद के दर्शन का केन्द्र बन गयीं और वहाँ से पढ़कर निकलने वाले अधिकांश नौजवान सर सैयद के सिद्धान्तों के मूर्त्तिमान रूप बन गये।

मौलाना हाली

सर सैयद के सहयोगियों में **मौलाना अलताफ़ हुसेन हाली** का अन्यतम स्थान है। हाली अँगरेजी कम जानते थे, किन्तु, फारसी और उर्दू के वे असाधारण विद्वान् थे। वे एक साथ कवि, इतिहासकार और सफल जीवनी-लेखक भी थे। ईसाइयों की आलोचना से चोट उन्हें भी लगी थी, अतएव, इस्लाम को युगानुकूल रूप देने का आन्दोलन उन्हें भी जी से पसन्द था। अलीगढ़ जिस इस्लामी आन्दोलन का केन्द्र बन गया था, उस आन्दोलन के हाली आजीवन समर्थक रहे एवं इस आन्दोलन को लेकर उन्होंने अनेक कविताएँ भी रचीं। इन कविताओं में **मुसद्दस** नामक उनका काव्य बड़ा प्रसिद्ध हुआ। जातियों में जब नया जीवन उत्पन्न होता है, तब उसकी सबसे अधिक मार्मिक अभिव्यक्ति काव्य में होती है। मुसद्दस जाग्रत इस्लाम का ऐसा ही काव्य था। सर सैयद और उनके सहयोगियों ने भारतीय मुसलमानों के भीतर जो नयी जिन्दगी डाली थी, वह हाली के मुसद्दस में साकार हो उठी और जो विचार तत्कालीन मुस्लिम-विचारकों के दिमाग में उथल-पुथल मचा रहे थे, उन्हें हाली ने अपने काव्य के द्वारा सभी मुसलमानों के दिलों में उतार दिया। इस्लाम नये जमाने का साथ देने को तैयार हो, यह नारा था जो हाली के पूर्वज और समकालीन सुधारक चिल्ला-चिल्लाकर लगाते आये थे, किन्तु, सारी जनता उनका साथ देने को तैयार नहीं थी। हाली ने इसी उपदेश को काव्य के भीतर से प्रदान किया, अतएव, जनता उनके रंग में आसानी से रँग गयी।

किन्तु, हाली के साथ इस्लामी जागरण ने एक नया मोड़ भी पकड़ा। सर सैयद और अन्य सुधारकों के समान हाली ने भी कहा कि मुस्लिम-समाज की अवस्था बिलकुल बिगड़ी हुई है, किन्तु, यह बात उन्होंने इस्लाम की तुलना यूरोप के साथ करके नहीं कही। बल्कि, तुलना के लिए उन्होंने इस्लाम की विगत गरिमा का बखान किया और मुसलमानों को ललकारा कि तुम कितनी ऊँचाई पर थे और अब किस गर्त्त में गिरे हुए हो। हिन्दू-नवोत्थान में भी ठीक यही बात हुई थी। राममोहन राय और केशवचन्द्र तथा रानाडे, ये ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से बहुत कुछ वैसे ही भीत थे, जैसे सर सैयद अहमद। इन सभी सुधारकों ने अपने धर्म और इतिहास के खण्डित अथवा संशोधित रूपों को लेकर ही आलोचकों का सामना किया। किन्तु, हाली का स्थान श्रीमती एनी बीसेंट अथवा कुछ-कुछ विवेकानन्द के समान था, जिन्होंने हिन्दुत्व की महिमा हिन्दुत्व के आधार पर ही बतलायी थी। नवोत्थान के काल में मौलाना

ी पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने मुसलमानों को अपने इतिहास की याद दिलायी और ी हुई परिस्थिति में भी उन्हें मस्तक उठाकर चलने की प्रेरणा प्रदान की।

हाली के समकालीन उपन्यास-लेखक **मौलाना नज़ीर अहमद** ने भी नवोत्थान की ा की। किन्तु, उनके भीतर प्रगति का किञ्चित् विरोध भी ध्वनित हुआ। जैसे ज़ी पढ़े-लिखे हिन्दू नौजवानों पर हिन्दुओं के यहाँ नास्तिकता का आरोप था, ही, अँगरेजीदाँ मुस्लिम नौजवान भी शंका की दृष्टि से देखे जाते थे। नज़ीर द के उपन्यासों में इस शंकालु दृष्टि के प्रमाण मिलते हैं। असल में, नजीर अह- के भीतर से मुस्लिम-समाज का वह अंश बोल रहा था जो प्राचीनता के मोह से नहीं छूटा था तथा जो अँगरेजी शिक्षा-दीक्षा और संस्कार को अभी थोड़ी-बहुत से देख रहा था। उपन्यास लिखने के सिवा, नज़ीर अहमद ने कुरान का उर्दू में अनुवाद भी किया।

ाना शिबली नोमानी

हिन्दू-नवोत्थान का क्रम यह रहा कि हिन्दू पहले तो ईसाई धर्म और यूरोपीय वाद के सामने काँप उठे। फिर, उन्होंने अपने अतीत का ध्यान करके आलोचकों ोर्चा लिया। और, अन्त में, वे अपनी प्राचीन गरिमा पर इतने आसक्त हो उठे मन-ही-मन, वे यूरोप को अपने से हीन समझने लगे। इस्लामी नवोत्थान का भी -कुछ यही क्रम रहा है। सर सैयद और उनके सहयोगी यूरोप के सामने सांस्कृ- पराजय को मान कर चले थे। हाली ने इससे आगे बढ़कर मुसलमानों को अपने हास का ध्यान कराया और मौलाना शिबली ने हाली के इस काम को बहुत आगे दिया। सच पूछिये तो हाली सर सैयद और मौलाना शिबली के बीच की ी थे।

सर सैयद ने यूरोप को इस्लाम से श्रेष्ठ माना था और इसीलिए उनका आग्रह था मुसलमान यूरोप के गुणों को स्वीकार करें और इस्लाम को वह रूप दें जो यूरोप कसौटी पर खरा उतरता हो। मौलाना शिबली ने इस्लाम की जाँच इस्लाम की कसौटी पर की और यह बताया कि हमें बाहर से कुछ नहीं लेना है। इस्लाम की ी विरासत ही इतनी बड़ी है कि उसके उद्धार से मुसलमानों का सब कुछ दुरुस्त जायगा। सर सैयद इस्लाम को मोड़ कर उसे नव-युग का वाहन बनाना चाहते । शिबली का उद्देश्य इस्लाम का संशोधन नहीं, पुनरुद्धार था। सर सैयद मुसल- नों को अपने प्राचीन इतिहास से छिन्न करके उन्हें नयी कौम का रूप देना चाहते जिसकी भाषा अँगरेजी और भाव यूरोपीय होते। शिबली को सर सैयद की यह ति बिलकुल नापसन्द थी और उन्होंने सर सैयद पर यह आरोप लगाया कि वे लाम के पूरे इतिहास से अनभिज्ञ हैं।

शमशुल-उलमा मुहम्मद शिबली नोमानी का जन्म सन् १८५७ई० में और मृत्यु १९१४ई० में हुई। उर्दू-साहित्य में उनका स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। धर्म के प्रबल व्याख्याता, दर्शन के श्रेष्ठ आचार्य, इतिहास के प्रवीण लेखक और रितलेखन में अत्यन्त दक्ष थे। वे कवि भी उच्च कोटि के हुए हैं और उर्दू में आलो-

चना-साहित्य के तो वे जन्मदाता ही समझे जाते हैं। बचपन में उनका विचार कट्टरता की ओर था, इसीलिए, वहाबी आन्दोलन का उन्होंने खण्डन किया था। उन्होंने मदीना जाकर इस्लाम का विधिवत् अध्ययन किया और सर सैयद के सम्पर्क में आने के बाद वे अलीगढ़ कालेज में अरबी और फारसी के प्राध्यापक भी बनाये गये, जिस पद पर उन्होंने कोई सोलह वर्ष तक काम किया। अलीगढ़ में ही उन्होंने यूरोप की विचार-धारा का परिचय पाया और यूरोप के कितने ही गुणों का उन्होंने सत्कार भी किया। किन्तु, बुद्धि को श्रद्धा की अपेक्षा श्रेष्ठ उन्होंने कभी नहीं माना, न उन्होने अधार्मिक ज्ञान की कभी श्रेष्ठता स्वीकार की। वे इस्लाम के खंडित या संशोधित रूप के समर्थक नहीं थे। उन्हें सारा-का-सारा इस्लाम हृदय से स्वीकार था।

'बुद्धि उपयोगी है ; यह जीवन सत्य है ; संसार की उपेक्षा सिखानेवाला धर्म धर्म नहीं है' ; इन बातों को सर सैयद के समान शिबली भी कबूल करते थे। किन्तु, बुद्धि के फेरे में पड़कर धर्म की अलौकिक बातों का खण्डन करने को वे तैयार नहीं थे। फिर भी, जिन महापुरुषों की जीवनियाँ उन्होंने लिखीं, उनमें अमानवीय चमत्कारों को उन्होंने स्थान नहीं दिया, यहाँ तक कि उनकी पुस्तक के नबी भी मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं हैं। जिहाद की उन्होंने निन्दा की। पर्दा-प्रथा को उन्होंने जायज कहा, और साथ ही, स्त्री-शिक्षा को भी उन्होंने अनिवार्य बतलाया। लोग सत्य ही कहते हैं कि शिबली वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन इस्लाम नवीन इस्लाम से आलिंगन करता है।

अलीगढ़वालों की तुलना में शिबली पिछड़े हुए मुसलमान थे। किन्तु, तब भी उलमाओं को वे भयानक दिखायी दिये और उलमाओं ने सदैव उनका विरोध किया। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि सर सैयद के द्वारा प्रवर्त्तित प्रगति को शिबली ने पीछे की ओर मोड़ा। किन्तु, कई बातों में कट्टर होते हुए भी, इस्लाम के जागरण को फैलाने के श्रेय से वे वंचित नहीं किये जा सकते। हाली ने मुसलमानों के भीतर अपने प्राचीन इतिहास में अभिरुचि जगायी थी। मौलाना शिबली ने इस्लाम के सम्पूर्ण इतिहास को मुसलमानों के आगे खोल कर धर दिया। हाली और शिबली ने वह जमीन तैयार की, जिसमें आगे चलकर इक़बाल की कविता लहलहानेवाली थी। शिबली के ग्रन्थों को पढ़कर ही मुसलमानों को अपनी अतीत गरिमा का ज्ञान हुआ और उनके भीतर यह तृषा उत्पन्न हुई कि, किसी प्रकार, वह गरिमा हमें फिर से प्राप्त हो जाय। सच पूछिये तो इक़बाल के काव्य उन्हीं वृक्षों के फल हैं, जिन्हें हाली और शिबली ने उगाया था।

मौलाना शिबली का उद्देश्य इस्लाम की गरिमा का केवल मौखिक बखान नहीं था, प्रत्युत, इस्लाम के प्राचीन अमर सत्यों को वे दुबारा प्रचलित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने नये लेखकों का दल तैयार किया और उन्हें प्रोत्साहन देने को आजमगढ़ में **दारुल-मुसन्निफीन** नामक एक सांस्कृतिक संस्था भी स्थापित की, जिसका प्रचलित नाम अब **शिबली एकेडेमी** हो गया है।

भिमान का उदय

हाली और शिबली ने इस्लामी नवोत्थान का वह पक्ष पूर्ण कर दिया जो प्रत्येक थान में कभी-न-कभी, विकसित होता ही है। सर सैयद ने यह बतलाया था कि ीय संस्कृति की तुलना में इस्लाम हीन है। अतएव, उसे यूरोप के गुण ग्रहण करने ं। हाली और शिबली ने यह इज़ाफ़ा किया कि यूरोप की ओर जाने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस्लाम का अपना ही इतिहास इतना प्रोज्ज्वल है कि उसके मात्र से मुसलमानों की हालत बिलकुल ठीक हो जायगी। किन्तु, विज्ञान और ाद, ये दो यूरोपीय तत्त्व ऐसे थे, जिनकी उपयोगिता से मुँह मोड़ना कठिन था। त, आगे के विचारकों ने यह कहना आरम्भ किया कि इस्लाम को यूरोप से विज्ञान बुद्धिवाद की भी शिक्षा नहीं लेनी है। ये दो तत्त्व भी इस्लाम में, पहले से ही, मान हैं। ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि लोग इस दृष्टि से इस्लाम के इतिहास धर्म-ग्रन्थों का अवलोकन करें। यह बहुत-कुछ वैसी ही बात थी, जैसे आर्य-जियों का यह कहना कि संसार में जितनी भी विद्याएँ प्रचलित हैं, वेदों में उन ा भण्डार है।

से लेखकों में **मौलाना अमीर अली** प्रमुख थे। सन् १८९१ई० में उनकी प्रसिद्ध **स्पिरिट ऑव इस्लाम** प्रकाशित हुई, जिसमें उन्होंने इस्लाम की नयी व्याख्या र यह बतलाना चाहा कि इस्लाम को ईसाइयत या यूरोप से कुछ भी लेना नहीं यूरोप के पास जो भी गुण हैं, वे इस्लाम में पहले से ही मौजूद हैं। ईसाई धर्म-कों नें भारतीय धर्मों की जो, कस के, निन्दा की थी, अब भारत के विद्वान ा जवाब दे रहे थे तथा हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों धर्मों की ओर से यह कहा हा था कि हम यूरोप और ईसाइयत, दोनों से श्रेष्ठ हैं।

र सैयद ने नबी का जो जीवन-चरित प्रकाशित किया था, उसमें उनकी चिन्ता ी कि कैसे नबी उन गुणों से अलग करके दिखलाये जायँ, जिनके कारण यूरोपवाले ी आलोचना करते थे। अमीर अली ने यह दिखलाया कि नबी और इस्लाम की बातों की आलोचना की जाती है, वे बातें बिलकुल सीधी-सादी, स्वाभाविक और य हैं। सर सैयद ने केवल यह सिद्ध करना चाहा था कि यूरोपीय दृष्टि से भी न आदरणीय धर्म है। अमीर अली ने यह आशा प्रकट की कि इस्लाम को ठीक झ लेने पर ईसाई जनता भी इस्लाम को कबूल कर सकती है।

इस्लाम के मध्यकालीन इतिहास में हज़रत मुहम्मद का रूप नबी का रूप था। उनके चमत्कारों और अलौकिक शक्तियों पर ज़ोर दिया गया था। सर सैयद लौकिक पक्ष को छोड़ कर नबी के मानवीय गुणों पर ज़ोर दिया। किन्तु, अमीर ने पैग़म्बर साहब को इस ढंग से चित्रित किया कि वे मनुष्य भी समझे जायँ उनके व्यक्तित्व पर वह भक्ति भी बनी रहे, जो मध्यकाल में प्रचलित थी। अमीर म्बर भी मनुष्य ही हैं, किन्तु, वे कोमल हैं, विचारवान् हैं, उदार और दयालु हैं उनमें वे सभी गुण मौजूद हैं, जो आज की दृष्टि से ऊँची मानवता के लक्षण ाते हैं।

अमीर अली की पुस्तक में इस्लाम की शान्तिप्रियता पर जोर दिया गया है उसमें यह बताया गया है कि इस्लाम ने धर्म के नाम पर जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ वे मुसलमानों पर ज़बर्दस्ती थोपी गयी थीं । अमीर अली की व्याख्या के अनुसा इस्लाम असहनशील नहीं है । वह स्त्रियों का आदर करता है । उसमें प्रजातंत्र समर्थन है । उसमें वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद है । ईसाई धर्म-प्रचारकों ने कहा था इस्लाम में स्त्रियों की स्थिति अनादर-युक्त है । सर सैयद का जवाब था कि इलज़ाम गलत है । किन्तु, अमीर अली ने बतलाया कि कैसे इस्लाम के उदय के पू अरब में औरतें पतित अवस्था में थीं और कैसे इस्लाम ने उन्हें ऊपर उठा दिया।

कुछ युगों में इस्लाम की हालत बहुत बिगड़ गयी थी । इसकी टीका करते हु अमीर अली ने बतलाया कि यह इस्लाम का दोष नहीं था । प्रत्येक धर्म में का पाकर विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । ऐसी विकृतियाँ ईसाइयत में भी उत्पन्न हुई थीं और कई युगों में कई देशों के ईसाई इतने पतित हो गये थे कि उन्हें ईसाई कहन ईसाइयत का अपमान करना है ।

अमीर अली ने इस्लाम का जो चित्र खींचा, वह संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्म का चि था । उसके प्रवर्त्तक संसार के सम्पूर्ण इतिहास के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष थे और मुसलमा संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य । ईसाइयों ने इस्लाम की निन्दा करके मुसलमानों में आत्म हीनता का भाव जगाना चाहा था । परन्तु, प्रतिक्रिया ऐसे जोर की हुई कि मुसलमा अपने को ईसाइयों से भी श्रेष्ठ समझने लगे और ठीक यही भाव हिन्दुओं के भीत भी जाग्रत हुआ ।

इस्लाम की प्रशंसा करते-करते लोग भारत और एशिया मात्र की प्रशंसा कर लगे और, युगों बाद, उन्हें यह सत्य दिखलायी पड़ा कि जब यूरोप असभ्य था, त सभ्यता की शिक्षा उसने अरब और ईरान से ही पायी थी ।[1] इसी मनोदशा मुसलमान चिन्तक यह भी याद करने लगे कि स्वयं भारतीय सभ्यता ने इस्लाम स बहुत कुछ सीखा है ।

□□□

---

[1] यह दावा गलत नहीं था, क्योंकि अरब में भारत और यूनान से जो ज्ञान पहुँचा था, वही यूरोप को स्पेन के माध्यम से मिला जहाँ मुसलमानों का राज्य था और इसी ज्ञान से यूरोप में रिनासाँ की लहर उठी थी ।

प्रकरण १९

सर मुहम्मद इक़बाल

थान के कवि

वीन्द्र और इक़बाल, दोनों भारतीय नवोत्थान के कवि हैं, एक हिन्दू-नवोत्थान र दूसरे मुस्लिम-नवोत्थान के। शुद्ध भारतीय नवोत्थान-जैसा कोई आन्दोलन में नहीं उठा, जिससे अनुमान होता है कि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ मिल भी बिलकुल एक नहीं हुईं। राजनीति के मुख से झूठ बोला जा सकता है। तर्क र्शन भी सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध कर सकते हैं। यहाँ तक कि स की मिथ्या व्याख्याओं से भी असत्य की पुष्टि की जा सकती है। किन्तु, कवि वनी असत्य का समर्थन नहीं कर सकती। कविता कवि के हृदय की अनुभूति है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज के भीतर से आती है। समाज ार प्रतिमा है, जिसकी धड़कन कवि के कलेजे में उठती है, जिसकी शंकाएँ और विश्वास कवि के मुख से उद्‌गीर्ण होते हैं। अतएव, रवीन्द्र और इक़बाल को सिक संस्कृति की उससे अधिक अनुभूति नहीं हुई जो, सचमुच, अस्तित्व में थी, ी अनुभूति केवल राजनीतिज्ञों को ही नहीं, इस देश की जनता को भी रही है।

> हेथाय आर्य हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़-चीन,
> शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन।

सामासिक संस्कृति के पक्ष में रवि वाबू ने इतना ही लिखा है अथवा उन्होंने और छ लिखा है, उसकी दिशा यही है। बाकी, उनकी सारी रचनाओं की पृष्ठभूमि ांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसके नेता राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन अथवा ृष्ण हुए हैं।

इस प्रकार, 'नया शिवालय', 'तरानए-हिन्दी' और 'तस्वीरे-दर्द', ये ही कुछ ाएँ हैं, जिनमें इक़बाल सामासिक संस्कृति के पक्ष में बोलते हैं।[1] बाकी उनकी रचनाएँ इस्लामी जागरण से ओतप्रोत हैं।

और इसके सिवा और होता भी क्या? जब तक यूरोपवाले भारत नहीं आये थे, और मुसलमान कभी तो एक-दूसरे के प्रेमी और कभी एक-दूसरे से अप्रसन्न होकर हे थे। किन्तु, यह शत्रुता उभरती कम थी। बादशाह मुसलमान होते थे। हिन्दू या बन कर जी रहे थे। शासकों की भाषा, शासकों का रहन-सहन और लिबास ुओं ने अपना लिया था और हिन्दुओं की बहुत-सी बातें मुस्लिम-समाज में प्रविष्ट गयी थीं। फिर भी सामासिकता अभी पुष्ट नहीं हुई थी। ऐसा नहीं हो पाया था हिन्दू और मुसलमान, अपनी-अपनी विशिष्टताओं को भूल कर, किसी ऐसी विशिष्टता

---

[1] इस तरह के भाव रवि बाबू की कविताओं में अगणित जगहों पर आये हैं।

की ओर देख पाते, जो समान रूप से दोनों की चीज थी। इतने में, ईसाई ध और यूरोपीय विचार भारत में आ धमके और उन्होंने हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों प चोटें करनी शुरू कर दीं। यदि सम्राट् अकबर की परम्परा टूट न गयी होती, त सम्भव था कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही, यूरोप को एक ही जवाब देते। किन्तु उस परम्परा के दाने बिखर चुके थे और सामासिकता की तलवार बड़ी ही पतली औ कुन्द पड़ गयी थी। इस पतली सामासिक संस्कृति को लेकर यूरोप का सामना करने की हिम्मत और सूझ न तो किसी मुसलमान को हुई, न हिन्दू को। निदान, एक त वेद और उपनिषद् लेकर दौड़ा, दूसरा कुरान और हदीस उठा कर। सन् सत्तावन क गदर के अनुकरण पर संस्कृतियों को भी एक होकर उठना था। किन्तु, राजनीति क समान तेजी और फुर्ती संस्कृति में नहीं होती है। राजनीति में रातों-रात लोग दुश्म या दोस्त बन जाते हैं, किन्तु, इस दोस्ती या दुश्मनी का सांस्कृतिक रूप, वर्षों नहीं सदियों में पुष्ट होता है। निदान, यूरोप के मुकाबले में सांस्कृतिक मोर्चे पर पहुँचते पहुँचते हिन्दू और मुसलमान दो हो गये। विस्मय की बात है कि आक्रामक तो ए था, किन्तु, जो आक्रमण के लक्ष्य थे वे दो शिविरों में बँटे हुए थे और उससे भ अधिक ग्लानि का विषय यह है कि इन दो शिविरों में कोई सलाह-मशविरा न चलता था।

इक़बाल और रवीन्द्र भारतीय संस्कृति की इन्हीं दो धाराओं के कवि हुए हैं औ प्रत्येक ने उस धारा का बड़ा ही विलक्षण आख्यान किया है, जिससे उसका जन्म हुअ था। हिन्दुत्व के कवि होने के कारण, रवीन्द्रनाथ कोमल, अहिंसक और परलोक प्रेमी हैं। और इस्लाम के कवि होने के कारण, इक़बाल दर्पशाली तथा आवेशयुक्त ह एवं वे इहलौकिकता को बढ़ावा देते हैं। दार्शनिक और, कदाचित्, रहस्यवादी भी दोनो ही कवि हैं। किन्तु, इक़बाल ने गद्य और पद्य में ईरानी तसव्वुफ़ पर कठिन प्रहार भी किये हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि रहस्यवाद की प्रेरणा उनमें उनकी इच्छा के विरुद्ध आयी थी।

इक़बाल की कविताओं से, आरम्भ में, भारत की सामासिक संस्कृति को बल मिला था, किन्तु, आगे चल कर उन्होंने बहुत-सी ऐसी चीजें भी लिखीं जिनसे हमारी एकता को व्याघात पहुँचा। 'नया शिवालय' और 'तस्वीरे-दर्द' लिखने वाला कवि राष्ट्रीयता से भाग क्यों खड़ा हुआ, इस प्रश्न पर सोचते-सोचते अनेक विचारक अपना माथा थाम कर बैठ जाते हैं। किन्तु, इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है। सन्त हो या सुधारक, कवि हो या अवतार, वह उन परिस्थितियों से भाग नहीं सकता, जिनमें उसका जन्म या विकास होता है। कवि अपने भाव आकाश से लाता है, ऐसा बेवकूफ लोग ही कहा करते हैं। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है। अतएव, उसके सारे भाव समाज के भाव होते हैं। उसकी सारी शंकाएँ समाज की शंकाएँ होती हैं तथा उसके सभी उत्तर भी समाज को ही लक्ष्य करके दिये जाते हैं।

समाज के हृदय में अनेक भाव ऊँघते रहते हैं, अनेक आशाएँ कुलबुलाती रहती हैं, अनेक उमंगें अपनी राह टटोलती रहती हैं। किन्तु, समाज को इन स्वप्नों, इन आशाओं

इन उमंगों का हमेशा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रहता, न ये भावनाएँ राजनीतिज्ञों एवं ज-शास्त्रियों को दिखलायी देती हैं। किन्तु, कवि इन अदृश्य भावनाओं को सुन है। यही उसकी विशेषता होती है। इसलिए, वह समाज के विकास का अनिवार्य समझा जाता है। जिस समाज में कवि उत्पन्न नहीं होते, वह अन्धों का समाज है, वह बहरे लोगों का समाज होता है, जो अपनी धमनी की आवाज नहीं सुन । प्रत्येक समाज अपने कवि के आगमन की राह देखता है, क्योंकि कवि ही वह है, जिससे समय के ताप की ऊँचाई अथवा निचाई मापी जाती है। जब तक कवि नहीं लेता, तब तक समाज को यह पता नहीं चलता कि उसकी चेतना किस में और किस स्तर तक विकसित हुई है। सौभाग्यशाली है वह समाज जिसे ठीक पर अपना कवि प्राप्त हो जाता है और सौभाग्यशाली है वह कवि जिसका समाज या बहरा नहीं होता। आधुनिक मुस्लिम-समाज को अपना प्रतिनिधि-कवि ठीक पर प्राप्त हो गया और चूँकि वह बहरा समाज नहीं था, इसलिए, उसने अपने से लाभ भी तुरन्त उठा लिये।

सर सैयद के समय से भारतीय इस्लाम के भीतर जो आन्दोलन चल रहे थे, वे बात की दलील थे कि इस्लाम, शीघ्र ही, किसी महाकवि को जन्म देनेवाला है। ा पर हाथ तो मौलाना हाली ने भी डाला, किन्तु, वे इक़बाल की पृष्ठभूमि करके रह गये, यद्यपि, यह सत्य है कि हाली के हुए बिना इक़बाल का होना भव था।[1]

---

[1] उदाहरणार्थ, इस्लाम की गरिमा का पहला आख्यान 'मुसद्दस' में हुआ और इस बात की ओर भी कविता में पहला संकेत हाली का ही मिलता है कि भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व की संगति से विकृति उत्पन्न हुई है। यथा,

वो दीने-हिजाज़ी का वेबाक बेड़ा, निशाँ जिसका अक्साये-आलम में पहुँचा,
मज़ाहिम हुआ कोई ख़तरा न जिसका, न अम्माँ में ठिटका, न कुलज़ुम में झिझका।
किये पै सिपर जिसने सातों समुन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।
वो दीं जिससे तौहीद फैला जहाँ में, हुआ जलवागर हक़ जमीं-आसमाँ में,
रहा शिर्क बाकी न वह्मो-गुमाँ में, वो बदला गया आके हिन्दोस्ताँ में। (मुसद्दस)

हाली कहते हैं, इस्लाम का बेड़ा गंगा में आकर डूब गया। इस्लाम का रूप हिन्दुस्तान में आकर बदल गया। इसी भाव को इकबाल ने और भी मार्मिकता तथा तीखेपन से कहा है। 'जवावे-शिकवा' में इकबाल ने ईश्वर के मुख से मुसलमानों को अनेक फटकारें सुनवायी हैं जिनमें एक यह भी है कि संस्कृति के क्षेत्र में मुसलमान हिन्दू बन गये हैं; भारतीय प्रतिमा (प्रेमिका) के फेरे में पड़ कर वे ब्राह्मण हो गये हैं।

वज़्अ में तुम हो नसारा तो तमद्दुन में हनूद,
ये मुसल्माँ हैं, जिन्हें देख के शरमायें यहूद!
× ×
बुते-हिन्दी की मुहब्बत में बरहमन भी हुए। (जवावे-शिकवा)

इक़बाल को अपने पूर्व-पुरुषों से जो प्रेरणाएँ मिलीं, वे ये थीं कि इस्लाम दुरवस्था में है और उसके पुनरुद्धार के लिए बहुत बड़े प्रयास और बहुत बड़ी कुरबानी की जरूरत है। उद्धार के रास्ते दो बताये गये थे। एक तो यह कि मुसलमान यूरोप से विज्ञान और बुद्धिवाद को ग्रहण करें एवं पारलौकिक चिन्ताओं को छोड़ कर इसी लोक में विजयी होने के लिए साहस और शूरता से काम लें। और दूसरा यह कि इन गुणों को पाने के लिए मुसलमानों को यूरोप की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। इस्लाम का अपना इतिहास ही इतना समृद्ध है कि उसमें से ये सारी शिक्षाएँ निकाली जा सकती हैं। इस पिछली बात को प्रमाणित करने के लिए मौलाना शिबली ने इस्लाम के सारे गरिमायुक्त इतिहास को उर्दू में बिखेर दिया था और जिस युग या समाज ने इक़बाल को जन्म दिया, वह इस इतिहास को पढ़ कर, भीतर-ही-भीतर गौरव और जोश से भरा हुआ था। इस पृष्ठभूमि पर देखने से इक़बाल के सिद्धान्त काफी स्वाभाविक हो जाते हैं और तब यह भी आश्चर्य नहीं होता कि उन्होंने ख़ुदी की अहंकारयुक्त फ़िलासफी क्यों निकाली और क्यों उन्होंने रहस्यवाद का तिरस्कार किया।

सर मुहम्मद इक़बाल का जन्म सन् १८७३ई० में और मृत्यु सन् १९३८ई० में हुई। वे स्यालकोट (पंजाब) के रहनेवाले थे। लाहौर से उन्होंने एम०ए० पास किया था और केम्ब्रिज में उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया तथा म्युनिख से उन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। उनके डॉक्टरेट का विषय ईरानी रहस्यवाद था। १९०८ई० में वे भारत लौटे और लाहौर में उन्होंने अपनी बैरिस्टरी आरम्भ की, किन्तु, समय उनका कविता और दर्शन में ही जाता रहा। सन् १९२२ई० में उन्हें सरकार की ओर से 'सर' का खिताब मिला एवं सन् १९३०ई० में वे मुस्लिम-लीग के सभापति चुने गये। सन् १९२८-२९ई० में मद्रास में उन्होंने इस्लाम पर छ व्याख्यान दिये थे। उन व्याख्यानों से प्रभावित होकर लार्ड इरविन ने उन्हें धर्म और दर्शन पर व्याख्यान देने को आक्सफ़ोर्ड भिजवाया। ये व्याख्यान ही उनके गद्य-लेख हैं। बाकी उन्होंने जो कुछ कहा, कविताओं में ही कहा। इकबाल राउण्ड-टेबिल-कांफ्रेंस में भी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने को बुलाये गये थे।

राष्ट्रीयता का स्वर

आरम्भ में इक़बाल भी उर्दू के अन्य कवियों के समान ग़ज़लें लिखा करते थे और कभी-कभी मुशायरों में भी जाते थे। इस्लाम की जागृति पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी, किन्तु, तब तक उनके विचारों में राष्ट्रीयता भी भरपूर थी। वे हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हामी और भारतीय स्वतंत्रता के समर्थक थे। तब तक मुसलमानों में यह भाव जोर से नहीं फैला था कि इस्लाम की उन्नति और भारत की स्वतंत्रता परस्पर-विरोधी बातें हैं। उनका 'तरानए-हिन्दी' (सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा) और 'नया शिवालय' (सच कह दूं अय बिरहमन, गर तू बुरा न माने) उन्हीं दिनों की रचनाएँ हैं। बल्कि,

उनके 'वाँगे-दरा' की अधिकांश कविताएँ उनके उन्हीं दिनों की यादगार हैं, जब वे विचारों की एकांगिता में नहीं पड़े थे।[1]

वाँगे-दरा के भाव हाली के मुसद्दस की अपेक्षा अधिक भारतीय हैं। हाली ने अपने काव्य में इस्लाम ही इस्लाम लिखा है। इक़बाल के 'वाँगे-दरा' का द्वार अधिक विशाल है। उसमें इस्लाम के साथ सिक्ख-मत और हिन्दुत्व के भी भाव झलक मारते। 'नानक' और 'राम' शीर्षक से लिखी हुई दो कविताएँ 'बाँगे-दरा' के कवि की राष्ट्रीयता के प्रमाण हैं। वैसे, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दृष्टि से विचार करें, तब भी, बाँगे-दरा' राष्ट्रीय काव्य ठहरता है। उसके भीतर ऐसी-ऐसी पंक्तियाँ भरी पड़ी हैं किसी ऐसे हृदय से निकल ही नहीं सकती थीं जिसमें राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैनी रही हो। 'तरान-ए-हिन्दी' को बाद देकर देखें, तब भी 'नया शिवालय' के भाव बड़े तेजस्वी और पवित्र दीखते हैं। ये भाव उस बेचैन कवि के हैं जो हिन्दुओं और मुसलमानों से यह कहना चाहता है कि मन्दिर और मस्जिद को लेकर तुम अलग क्यों होते हो? तुम्हारा आधार तो वह मिट्टी है जिस पर ये दोनों इमारतें खड़ी हैं। यह ही मन्दिर और मस्जिद, दोनों से बढ़ कर पाक और पवित्र है।

मिट्टी की सूरतों में समझा है तू, ख़ुदा है।
ख़ाके-वतन का मुझको हर ज़र्रा देवता है।

इक़बाल के मैदान में आने के समय तक, अँगरेज 'बाँटो और राज्य करो' की नीति पर खुलकर अमल करने लग गये थे और यह बात प्रत्यक्ष हो गयी थी कि यदि हिन्दू और मुसलमान आपस में नहीं मिले तो अँगरेज उनपर राज करते ही जायँगे। और इधर हिन्दू और मुसलमान थे जो आपस में मिल कर एक होने का नाम नहीं थे। इस स्थिति से देशभक्त कवियों को जो चोट लगती थी, वह चोट इक़बाल भी लगी थी।

---

[1] इक़बाल उन दिनों भी इस्लाम के सम्बन्ध में कविताएँ लिखा करते थे। उन्हीं कविताओं से आकृष्ट होकर 'अंजुमने-हिमायते-इस्लाम' नामक संस्था ने उन्हें अपने यहाँ बुला कर उनका सम्मान किया था। किन्तु, वहाँ भी इक़बाल ने अपने भाषण में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की आवश्यकता बतलायी थी। इसी प्रकार, 'सर सैयद की लौहे-तुरबत पर' उन्होंने जो कविता लिखी, उसमें उनका असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट है।

"वा न करना फ़िरक़ाबन्दी के लिए अपनी ज़ुबाँ,
छिपके है बैठा हुआ हंगाम-ए-महशर यहाँ।
वस्ल के सामान पैदा हों तेरी तहरीर से,
देख, कोई दिल न दुख जाये तेरी तक़रीर से।
महफ़िले-नव में पुरानी दास्तानों को न छेड़,
रंग पर जो अब न आएँ उन फ़सानों को न छेड़। ('शेरो-शायरी' से)

वा = खोलना ; हंगाम-ए-महशर = प्रलय का उपद्रव , वस्ल = मेल-मिलाप।

रुलाता है तेरा नज़्ज़ारा अय हिन्दोस्ताँ मुझको,
कि इबरतख़ेज़ है तेरा फ़साना सब फ़सानों में।
दिया रोना मुझे ऐसा कि सब कुछ दे दिया गोया,
लिखा किल्के-अज़ल ने मुझको तेरे नौहाख्वानों में।
निशाने-बर्गे-गुल तक भी न छोड़ इस बाग में गुलचीं,
तेरी क़िस्मत से रज़्म-आराइयाँ हैं बाग़बानों में।
छिपा कर आस्तीं में बिजलियाँ रक्खी हैं गरदूँ ने,
अनादिल बाग़ के ग़ाफ़िल न बैठें आशियानों में।
वतन की फिक्र कर नादाँ, मुसीबत आनेवाली है,
तेरी बर्बादियों के मशवरे हैं आसमानों में। (तस्वीरे-दर्द : बाँगे-दरा)

इस कविता में इक़बाल आगे चल कर हिन्दू-मुस्लिम-एकता को सम्भव बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं और कहते हैं,

हवैदा आज अपने ज़ख्मे-पिनहाँ करके छोड़ूँगा,
लहू रो-रो के गुलशन को परीशाँ करके छोड़ूँगा।
जलाना है मुझे हर शम-ए-दिल को सोज़े-पिनहाँ से,
तेरी तारीक रातों में चिराग़ाँ करके छोड़ूँगा।
पिरोना एक ही तस्बीह में इन बिखरे दानों को,
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ूँगा।

काश कि इक़बाल की यह प्रतिज्ञा पूरी हुई होती ! काश कि जिस अन्धकार में भारतीय एकता के लिए संघर्ष चल रहा था, उसमें इक़बाल अपनी इस लौ को तेज किये रहते ! किन्तु, वह नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ, यह बात या तो इतिहास से स्पष्ट है अथवा अब तक वह लिखी नहीं गयी है। यह कैसे सम्भव हुआ कि एक महाकवि की शिखा ने अपनी दिशा वदल दी ? यह कैसे सम्भव हुआ कि इक़बाल इस राष्ट्रीयता को छोड़ कर केवल मुस्लिम-राष्ट्रीयता के स्वप्न को आकार देने लगे ?

मुस्लिम-राष्ट्रीयता के भाव

कारण, शायद, यह था कि राष्ट्रीयता के विरुद्ध मुस्लिम-समाज में अनेक तर्क फैले हुए थे। सर सैयद का यह उपदेश जीवित था कि मुसलमानों का कल्याण सरकार के साथ और कांग्रेस से अलग रहने में है। किन्तु, इक़बाल सर सैयद की अपेक्षा कहीं बड़े मनुष्य थे। वे सरकार की भक्ति करने की ओर नहीं लपके। बल्कि, भारत से बाहर इस्लामी देशों के साथ ब्रिटेन का जो बुरा बर्ताव था, इक़बाल ने उसे भी सहन नहीं किया। सर सैयद की नीति पर चलने से न तो हिन्दू स्वाधीन होते, न मुसलमान। और इक़बाल स्वाधीनता के प्रेमी थे। इसीलिए, यह बात समझ में नहीं आती है कि स्वाधीनतावादी होते हुए भी उन्होंने अपनी पहली आग को बुझने क्यों दिया और क्यों वे ऐसी बातें बोलने लगे, जिनसे मुसलमानों में वीरता और निर्भयता तो जरूर जगी, किन्तु, उन्हें यह पता नहीं चला कि इस वीरता को लेकर वे क्या करें। वीरता और निर्भयता का सबसे बड़ा उपयोग आजादी की लड़ाई को तेज करने में

ा, किन्तु, आजादी की लड़ाई को सफल बनाने से मुसलमान डरते थे। सम्भवतः, ह भय इक़बाल के भीतर भी पहुँचा और उन्होंने प्रजा-सत्ता पर एक फब्ती कस दी, सके पीछे जर्मन दार्शनिक नीत्शे की प्रतिध्वनि सुनायी देती है।

इस राज़ को इक मर्दे-फ़िरंगी ने किया फ़ाश,
हर चन्द कि दाना इसे खोला नहीं करते।
जमहूरियत इक तर्ज़-हुकूमत है कि जिसमें,

बन्दों को गिना करते हैं, तोला नहीं करते। (बाले-जिबरील)

जब इक़बाल का मन भारतीय राष्ट्रीयता से बिदक गया, उनकी कल्पना एक भिन्न ा में मँडराने लगी। वे तन-मन से इस्लाम के उद्धार में लग गये। चूँकि भारतीय ातन्त्र में मुसलमानों के प्रमुख सत्ताधारी होने की सम्भावना नहीं थी, इक़बाल ने ातन्त्र को नकार दिया। चूँकि मुसलमान सारे विश्व में फैले हुए थे, इसलिए, ने एक ऐसी राष्ट्रीयता की कल्पना कर ली, जिसका आधार देश नहीं, धर्म था। इससे भी आगे बढ़ कर उन्होंने इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म, मुसलमान को सर्वश्रेष्ठ व और इस्लामी बन्धुत्व को राष्ट्रीयता का श्रेष्ठतम रूप मान लिया।[1] इक़बाल ूर्व, सर सैयद, हाली, शिबली और अमीर अली ने इस्लाम के सम्बन्ध में जो कुछ था, उसका निचोड़ इक़बाल की कविता में प्रविष्ट हो गया एवं पिछले समस्त ोलनों का दर्शन इक़बाल के काव्य से, आप-से-आप, तैयार हो गया।[2] इक़बाल स मत-परिवर्तन से सभी प्रगतिशील लोग कराह उठे।[3]

A free and independent Muslim fraternity, having the KABA its centre and knit together by love of ALLAH and devotion to Prophet, such is IQBAL'S ideal. ("असरारे-खुदी' के अँगरेजी अनुवाद 'सीक्रेट्स आव् द सेल्फ' की भूमिका से)। 'रमूज़े-बेखुदी' में इक़बाल ने इस भाव का पूरा विकास किया है, यथा,

The Community
A circle is, whose great circumference
Centres on Mecca's valley ; and by force
And virtue of that same relationship
Stands our Community unshakable.

('रमूज़े-बेख़ुदी' के अँगरेजी अनुवाद, 'मिस्ट्रीज़ आव् सेल्फ़लेसनेस' से)।

He supplied, more or less, respectable intellectual basis for a movement which is, in reality, more emotional than rational.
("मिस्ट्रीज़ आव् सेल्फ़लेसनेस' की भूमिका)

"इक़बाल-जैसे परिष्कृत मस्तिष्क और विशाल हृदयवाले राष्ट्र-कवि को एकाएक सम्प्रदायवाद के दलदल मे फँसते देख लोग कराह उठे :—

हिन्दी होने पर नाज़ जिसे कल तक था, हिजाज़ी बन बैठा,
अपनी महफ़िल का रिन्द पुराना आज नमाज़ी बन बैठा। [शेष पृष्ठ ६९२ पर।]

भारतीय इस्लाम के जागरण में इक़बाल का जो योगदान है, वह अतुल और अपरिमेय है। मुसलमानों की सबसे बड़ी सेवा इक़बाल ने यह की कि उनके हृदय में जो भाव अस्पष्ट थे, उन्हें इक़बाल ने सुस्पष्ट बना दिया। मुसलमान बेचैन जरूर थे, किन्तु, उन्हें इसका पता नहीं था कि वे चाहते क्या हैं। इक़बाल ने उनके दिलों में एक कामना भर दी, उन्हें एक ख्वाहिश दे दी। जब इस्लाम अपने गौरव के काल में था, तब उससे मुसलमानों को साहस और आत्मगौरव की प्रेरणा मिलती थी। इस्लाम उन्हें बाधाओं और विपत्तियों को कुचल कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता था। इक़बाल जिस युग में जनमे, वह अपरिमित अवसरों का काल था। आज मौके बहुत ज्यादा हो गये हैं, किन्तु, उनसे फायदा उठाने में संघर्ष भी अत्यधिक करना पड़ता है। इक़बाल ने चाहा कि इस संघर्ष में पड़ने की प्रेरणा धर्म से मिलनी चाहिये और, तदनुसार, उन्होंने इस्लाम के साहसी एवं संघर्षशील रूप को ताजा कर दिया और मुसलमानों के सामने शूरत्व के आदर्श को चमका कर रख दिया।

इक़बाल का जीवन-दर्शन

कहते हैं, यूरोप में रहते-रहते इक़बाल ने अपना जीवन-दर्शन तैयार कर लिया था और जब वे स्वदेश लौटे, तब उसी दर्शन के आधार पर उन्होंने भारतीय मुसलमानों में नव जीवन भरना आरम्भ किया। यूरोप में उन्होंने तीन बातें देखीं। एक तो यह कि वहाँ के लोग जीवनी-शक्ति से उच्छल और बड़े ही क्रियाशील हैं। भारतवासियों के समान, हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहना उनका स्वभाव नहीं है। धर्म, दर्शन, विचार, परिस्थिति, जहाँ भी कोई बाधा उन्हें दिखायी पड़ती है, वे उस बाधा को निर्मूल कर देते हैं। वे सतत आगे बढ़ने को उद्यत रहते हैं और इसलिए सतत क्रियाशील भी। यूरोप में क्रियाशीलता को इक़बाल ने जीवन के पर्याय के रूप में देखा। यूरोप में इक़बाल को दूसरी प्रमुख बात यह दिखायी पड़ी कि वहाँ के लोगों के सामने अवसरों का ढेर लगा हुआ है और वे उनका उपयोग करके जीवन का ऐसा आनन्द उठा रहे हैं, जिसकी कल्पना भी भारत या एशिया-वासी नहीं कर सकते। एक अवसर से फायदा उठा कर लोग उससे आगे बढ़ जाते हैं और फिर आगे का अवसर हथिया कर उसके भी आगे चले जाते हैं। इससे यूरोप में जीवन निरन्तर कार्य और निरन्तर प्रगति का रूप ले लेता है। तीसरी बात यूरोप के विपक्ष में थी। यूरोप में वैज्ञानिक साधन बहुत हैं और सुख-भोग के रास्ते और साधन भी अनन्त। फिर भी, वहाँ व्यक्ति का हृदय खोखला और उसकी आत्मा रिक्त रहती है; फिर भी, वहाँ व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच छीना-झपटी के दाँव-पेंच चलते रहते हैं। यह बात इक़-

---

[पृष्ठ ६९१ का शेष]

महफ़िल में छुपा है क़ैसे-हज़ीं, दीवाना कोई सहरा में नहीं,
पैग़ामे-जुनूँ जो लाता था, इक़बाल वो अब दुनिया में नहीं।
ऐ मुतरिब ! तेरे तरानों में अगली-सी अब वो बात नहीं,
वो ताज़गीये-तख़यील नहीं, बेसाख्तगीये-जज्बात नहीं।"

—आनन्दनारायण 'मुल्ला', ('शेरो-शायरी' से।)

ाल को बहुत भयानक लगी और वे इस निष्कर्ष पर पहुँच कर भारत लौटे कि आँख ँद कर यूरोप की नकल करने से एशिया का भी विनाश होगा।

इन अनुभवों का इक़बाल के काव्य पर गहरा असर पड़ा। **क्रियाशीलता उनकी विता की साँस बन गयी।** वे जब तक जिये, मनुष्य को कर्मठ बनने की प्रेरणा देते ं, उसे बाधाओं को कुचल कर असम्भव लक्ष्यों को प्राप्त करने को उत्तेजित करते ं।[1] उनका सिद्धान्त यह हो गया कि जीवन सतत क्रियाशीलता का नाम है।[2] ति जीवन का सबसे बड़ा तत्त्व है। कर्म से बढ़कर और कोई दर्शन नहीं हो सकता ा सारी सृष्टि क्रिया और केवल क्रिया से चालित है एवं जहाँ अकर्मण्यता और ति का वास है, वहाँ मृत्यु बसती है। खतरों से घबराने को इक़बाल ने सबसे बड़ी जय समझा और नौजवानों को उन्होंने चुन-चुन कर खतरों से खम ठोंक कर भिड़ने उत्साहित किया।[3] जवानी उत्साह, निर्भयता और कर्मठता को कहते हैं। बुढ़ापा सी, असमर्थता और कायरता का नाम है। अतएव, इक़बाल ने यौवन को वार्द्धक्य गुरु बनाना चाहा[4]। अब तक धर्म की शिक्षा यह रही थी कि मनुष्य झंझटों से रह कर जीवन के पारलौकिक तत्त्वों पर विचार करे। इक़बाल ने धर्म के इस की निन्दा की और वैराग्य तथा समाधि, दोनों को हीन बताया।[5]

इक़बाल का यह प्रवृत्ति-मार्ग इस्लाम का पुराना मार्ग था। निवृत्ति या जीवन-ग की आदतें सूफ़ियों ने डाली थीं। अतएव, इक़बाल सूफ़ी-दर्शन के विरुद्ध हो

सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इश्क़ के इम्तहाँ और भी हैं।
क़नाअत न कर आलमे-रंगो-बू पर,
चमन और भी, आशियाँ और भी हैं।
तू शाहीं है, परवाज़ है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी हैं। (बाले-जिबरील)

ग़ुलामे-बह्र में खोकर सँभल जा,
तड़प जा, पेंच खा-खाकर बदल जा।
नहीं साहिल तेरी क़िस्मत में अय मौज,
उमड़कर जिस तरफ़ चाहे, निकल जा। (बाले-जिबरील)

ितरपसन्द तबीयत को साज़गार नहीं,
वो गुलसिताँ कि जहाँ घात में न हो सैयाद।
मुझे सज़ा के लिए भी नहीं पसन्द वो आग,
कि जिसका शोला न हो तुन्दो-सरकशो-बेबाक।

ख़िरद को ग़ुलामी से आज़ाद कर,
जवानों को बूढ़ों का उस्ताद कर। (बाले-जिबरील)

तेरी निगाह में है मोजज़ात की दुनिया,
मेरी निगाह में है हादसात की दुनिया। (सूफ़ी से ; बाले-जिबरील)

गये। उन्होंने इस बात को बार-बार दुहराया है कि जीवन ध्यान और समाधि नहीं, बल्कि, भोग और आनन्द का विषय है। इक़बाल की सबसे बड़ी देन यह है कि ऊँघते हुए भारतीयों को उन्होंने कर्मठता की ओर प्रेरित किया और वीरतापूर्वक यह उद्घोष किया कि कर्मठता से पुण्य नहीं बढ़ता है, वह स्वयं भारी पुण्य है, यहाँ तक कि अकर्मण्य मुसलमान से कर्मठ काफ़िर भी श्रेष्ठ है।[1] उन्होंने यह भी लिखा कि मुल्ला तो काफ़िर उसे बताते हैं जो ईश्वर को नहीं मानता है। किन्तु, मैं काफ़िर उसे कहता हूँ जो ख़ुद से इनकार करता है, जो जीवन के आनन्द से मुँह फेरता है, जो संघर्ष और कर्मठता से दूर है।

इक़बाल की कविताओं का उद्देश्य मुसलमानों में प्रवृत्ति की लहर उठाना था, उन्हें झकझोर कर कर्म के पथ पर आरूढ़ करना था, उनमें निर्भयता और मर्दानगी जगानी थी। आरम्भिक इस्लाम प्रवृत्ति-मार्गी धर्म था। उसमें जीवन से भाग कर ध्यान और समाधि में समा जाने की प्रेरणा नहीं थी। इस्लाम जीवन के सात्विक भोग की शिक्षा देनेवाला धर्म था। ध्यान और समाधि की बढ़ती इस्लाम में सूफियों ने की। और सूफियों ने ही मुसलमानों को संन्यास एवं वैराग्य की भी शिक्षा दी। अतएव, इक़बाल सूफियों की इस प्रकार की शिक्षा के विरुद्ध हो गये।[2]

कहते हैं, इक़बाल ने अपना दर्शन नीत्शे और वर्गसाँ की पुस्तकों के आधार पर तैयार किया था। नीत्शे भी अफलातून के शान्तिमय विचारों के विरुद्ध था। उसने भी बौद्ध मत और ईसाइयत की इसलिए निन्दा की है कि ये धर्म मनुष्य को अहिंसक और

---

[1] A KAFIR before his idol with wakeful heart is better than the religious man asleep in the harem. (जावेदनामा)

[2] 'असरारे-खुदी' में प्लेटो के निवृत्ति-मार्ग की निन्दा करते हुए इक़बाल कहते हैं, "प्लेटो कहता है कि जीवन का एकमात्र रहस्य मृत्यु है और दीपक का सुयश इसमें है कि वह शीघ्र बुझ जाय। प्लेटो के प्यालों में जो शराब है, उसे पीकर हमें नींद आने लगती है तथा कर्म का दृश्य-जगत् हमारे हाथों से छूट जाता है। प्लेटो मनुष्य के वेश में बकरी और भेड़ है। उसने जिस लोक का चित्रण किया है, वह अफीम के नशे से बेहोश है। प्लेटो ने अपने पंख तो खोले और वह आकाश की ओर उड़ा भी, किन्तु, वहाँ से लौट कर वह अपने नीड़ में नहीं आ सका।"

'असरारे-खुदी' में ही एक कविता इस्लामी साहित्य के सुधार को लक्ष्य करके लिखी गयी है, जिसमें सूफियों और सौन्दर्यवादियों पर गहरी चोट है। "यह कवि तुम्हें विचारों के समुद्र में गर्क करता है और कर्म के विश्व से तुम्हें अपरिचित बना देता है। हमारी (इस्लाम की) आग को इसी की साँसों ने बुझा दिया। इसी की बुलबुल ने गा-गाकर हमारे हृदयों में विष बोया। इसके गुलाबों के ढेर में साँप छिपा है। उसकी चमकती हुई शराब से सावधान रहो।" लोगों का ख्याल है कि यह चोट ईरान के सूफी कवि हाफ़िज़ पर है।

(उद्धरण "असरारे-खुदी" के अँगरेजी अनुवाद "सीक्रेट्स ऑव द सेल्फ़" से)।

कमजोर बनाते हैं, कि ऐसे धर्मों से मनुष्य का पौरुष नष्ट होता है एवं धरती पर महामानव के अवतार की सम्भावना दूर जा पड़ती है। नीत्शे का कहना था कि जब कमजोर लोग मजबूत लोगों के गुलाम हो जाते हैं, तब ये कमजोर लोग ही इस आशा से ईसाइयत जैसे धर्म का आविष्कार करते हैं कि उनके आविष्कार के प्रभाव में आकर शासक भी कमजोर हो जायँ। नीत्शे प्रजातंत्र का भी द्रोही था और कहा करता था कि **दस गधों के जमा होने से एक घोड़े का दिमाग तैयार नहीं हो सकता।** नीत्शे ने युद्ध की भी प्रशंसा की है तथा प्राणियों में जो शक्तिमान् हैं, उन्हें कमजोरों को खाकर आगे बढ़ने के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

नीत्शे के समान, इक़बाल भी जीव-दया और अंहिसा सिखानेवाले दर्शनों के विरुद्ध हो गये और इस्लाम में उन्होंने जो संशोधन किया, उससे जिहाद की कल्पना सार्थक दीखने लगी।[1] उन्होंने एक बात पकड़ी और उसपर वे आग्रहपूर्वक अड़ गये। "मनुष्य में जीवन का जो केन्द्र-बिन्दु है, वही उसकी ख़ुदी या व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व मनुष्य के भीतर की संघर्ष या तनाव की स्थिति को कहते हैं। जब तक मनुष्य के भीतर तनाव की हालत मौजूद है, जब तक संघर्ष करने की उसकी योग्यता शेष है, तभी तक उसका व्यक्तित्व भी कायम है। तनाव के ढीला होते ही शिथिलता आरम्भ हो जाती है। चूँकि तनाव की स्थिति मनुष्य की सबसे बड़ी प्राप्ति है, उसे चाहिये कि आखिरी दम तक अपने भीतर शैथिल्य को न आने दे। जो भी बातें तनाव और संघर्ष को तेज करती हैं, वे ही हमें अमरता प्रदान करनेवाली हैं। व्यक्तित्व की इसी प्रकार की कल्पना से जीवन के मूल्य उत्पन्न होते हैं, उसीसे पाप और पुण्य का भी निर्धारण होता है। पुण्य वह है, जिससे व्यक्तित्व की दृढ़ता बढ़ती है। पाप वह है, जिससे उसका ह्रास होता है। कला, धर्म और आचार, सब की परीक्षा इसी व्यक्तित्व की कसौटी पर की जानी चाहिये। अफलातून की मैंने जो आलोचना की है, वह, असल में, उन सभी धर्मों और दार्शनिक सिद्धान्तों की अलोचना है, जो जीवन नहीं, मृत्यु को मानव-जीवन का आदर्श बतलाते हैं। जीवन की सबसे बड़ी बाधा भूत (मैटर) है और ये धर्म मैटर को जीत कर उसे आत्मसात् करने के बदले मनुष्य को उससे भाग खड़े होने की शिक्षा देते हैं।"

"बौद्ध धर्म, ईरानी रहस्यवाद और उनके समान अन्य सारी आचार-पद्धतियाँ हमारे उद्देश्य के प्रतिकूल हैं। उनसे हमारा काम नहीं चलेगा। फिर भी, उनका थोड़ा-बहुत उपयोग हो सकता है, जैसे काम से थके मनुष्य के लिए कभी-कभी अफीम

---

[1] 'रमूज़े-बेख़ुदी'-में तीर तलवार से कहता है कि "तुम में जो आग है, वह परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का तेज है। तुम्हारी छाया में स्वर्ग विजेताओं की प्रतीक्षा करता है।" उसी पुस्तक की एक दूसरी कविता में इक़बाल कहते हैं, "तलवार धर्म की तेजस्विता के लिए जीती है। वह जब भी म्यान से बाहर निकलती है, केवल धर्म की रक्षा करने के लिए।"

(रमूज़े-बेखुदी के 'द मिस्ट्रीज़ आव् सेल्फ़लेसनेस' नामक अँगरेजी अनुवाद से)

और नशे की भी जरूरत होती है। ऐसे दर्शन, ऐसे विचार और ऐसे कार्य जीवन की धूप में रात की अँधियाली रचते हैं।"[1]

ख़ुदी का सिद्धान्त

इसीसे मिलता-जुलता इक़बाल का 'ख़ुदी' विषयक सिद्धान्त है, जिसे लेकर विद्वानों में काफ़ी माथा-पच्ची रही है और जिसके कारण मुल्लाओं ने इक़बाल का विरोध भी किया था। ख़ुदी से कुछ लोग आत्मा या रूह का अर्थ लेते हैं। अब तक के सभी धर्मों ने आत्मा का गुण विनय और निर्मलता को बताया था, किन्तु, लोग यह देख कर विस्मित रह गये कि इक़बाल इसका प्रयोग अबाध वीरता और अहंकार के अर्थ में करते हैं।

> ख़ुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तक़दीर के पहले
> ख़ुदा बन्दे से ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

किन्तु, इक़बाल की ख़ुदी आत्मा नहीं, मनुष्य के व्यक्तित्व का पर्याय है। इक़बाल आत्मा और शरीर को दो नहीं, एक मानते हैं। अतएव, जो गुण शरीर का है, वही आत्मा का भी होना चाहिए, अथवा जो गुण आत्मा का है, वही शरीर में भी आना चाहिये। अपनी ख़ुदी की फ़िलासफ़ी की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मनुष्य का नैतिक और धार्मिक आदर्श जीवन को स्वीकार करना है, उसे ठुकराना नहीं। और इस आदर्श की प्राप्ति वह व्यक्तित्व के विकास द्वारा करता है। व्यक्तित्व औरों से भिन्न तथा अपने-आपके अधिक-से-अधिक अनुरूप होने को कहते हैं। सबसे अधिक निराला व्यक्तित्व ईश्वर का है। इसलिए, कुरान की आज्ञा है कि अपने भीतर उन गुणों का विकास करो, जो ईश्वरीय हैं। अतएव, मनुष्य जब ईश्वर के समान बनने की कोशिश करता है, तभी उसका व्यक्तित्व औरों के व्यक्तित्व से अधिक भिन्न होने लगता है। ख़ुदी इस व्यक्तित्व के विकास का चरम बिन्दु है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य केवल अपने समान आप रह जाता है। ईश्वर के जो अधिक-से-अधिक समीप है, मनुष्यों में वही अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ और महान् है। और ऐसा नहीं होता कि एक दिन वह ईश्वर में समा जाता है, प्रत्युत, यह कि, काल पाकर, वही ईश्वर को अपने भीतर लीन कर लेता है। सच्चे मनुष्य में केवल भूत (मैटर) ही नहीं समाते, उसके भीतर ईश्वर भी विलीन हो जाता है।[2] जीवन का लक्षण है कि वह प्रत्येक बाधा को आत्मसात् करके

---

[1] 'सीक्रेट्स आव् द सेल्फ़' की भूमिका में उद्धृत इक़बाल का मत।

[2] काफ़िर की यह पहचान कि आफ़ाक़ में गुम है,
मोमिन की यह पहचान कि गुम इसमें हैं आफ़ाक़।
(आफ़ाक़ = दुनिया)
जँचते नहीं कुंजिश्को-हमाम इसकी नजर में,
जिबरीलो-सराफ़ील का सैयाद है मोमिन।
(जिबरील-सराफील; दो देवदूतों के नाम) —(बाले-जिबरील)

गे बढ़ता जाता है। जीवन का दूसरा लक्षण यह है कि वह रोज अपने भीतर नयी-यी इच्छाएँ और नयी-नयी कामनाएँ उत्पन्न करता है और उन्हें प्राप्त करके फिर नयी मना लेकर नये लक्ष्य की ओर बढ़ जाता है। जीवन की सब से बड़ी बाधा प्रकृति किन्तु, प्रकृति, भी बुरी नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसी की बाधा के कारण वन की अन्तर्हित शक्तियों को प्रत्यक्ष करने का व्यक्ति को अवसर मिलता है।"[1]

ख़ुदी और प्रेम का समन्वय करते हुए इक़बाल ने लिखा है कि "ख़ुदी की दृढ़ता क़ से आती है। इस शब्द का प्रयोग मैंने व्यापक अर्थ में किया है। यहाँ इसका अर्थ रों को आत्मलीन या आत्मसात् करना है। इसका सब से ऊँचा रूप मूल्यों और दर्शों का निर्माण तथा उन्हें प्राप्त करने का प्रयास है। प्रेम के कारण प्रेमी और मिका, दोनों अनूठे, दोनों औरों से भिन्न हो जाते हैं। अतएव, जो सब से अनूठा क्तित्व (अर्थात् ईश्वर) है, उसकी अनुभूति का प्रयास प्रेमी के व्यक्तित्व को भी ठा बना देता है। किन्त, प्रेम यदि व्यक्तित्व को बढ़ाता है, तो सवाल (याचना) े कमजोर भी करता है।[2] जो बेटा बाप के धन पर जीना चाहता है, वह सवाली याचक है। ऐसे ही, वे सभी लोग हैं जो दूसरों के विचारों पर जीवित रहना चाहते । अतएव, व्यक्तित्व की रक्षा और विकास का उपाय यह है कि हम याचना करना ड़ दें।"[3]

इक़बाल ख़ुदी के तीन नियम मानते हैं। पहला यह कि साधक धर्म की आज्ञा ने। दूसरा यह कि वह अपने ऊपर नियन्त्रण रखे जो ख़ुदी या आत्मचेतना का सबसे ड़ा प्रमाण है तथा तीसरा यह कि वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि (नायब या इस-रिजेण्ट) बन कर रहे या राज करे।"[4]

जीवन अन्वेषण के बीच है। उसका जन्म अज्ञात इच्छाओं के भीतर से होता है। अपने हृदय में कामनाओं को जिलाये रखो, अन्यथा तुम जिस मिट्टी से निर्मित हुए हो, वह कब्र बन जायगी। (असरारे-खुदी।)

"ईश्वर उसे प्यार करता है, जो अपनी जीविका आप कमाता है। उस व्यक्ति को धिक्कार है जो अपनी रोटी दूसरों की मेज से पाता है। वह मनुष्य धन्य है जो धूप में प्यास से जलने पर भी, खिजर से एक प्याला पानी नहीं माँगता। भीख में मिला हुआ समुद्र भी ज्वालोदधि है। अपने हाथों से संचित थोड़ी-सी शबनम भी उससे श्रेष्ठ और सुस्वादु होती है।" (असरारे-खुदी)

'सीक्रेट्स आव् द सेल्फ़' की भूमिका से।

"जो भी सूरज और सितारों पर हुक्म चलाने का अभिलाषी है, उसे पहले खुद धर्म का हुक्म मानना चाहिये। तारे भी अपने लक्ष्य की ओर, किसी धर्म के सामने मस्तक नत किये हुए, चलते हैं।"

"जो अपने ऊपर हुक्म चलाने की योग्यता से हीन है, वह दूसरों के हुक्म में रहेगा।"

"यदि तुम अपने ऊँट को बस में रख सके, तो सारा संसार तुम्हारे बस में हो जायगा।" (सीक्रेट्स आव् द सेल्फ़)

महामानव की कल्पना

इक़बाल जिसे ईश्वर का वाइस-रिजेंट अथवा प्रतिनिधि या नायब कहते हैं, वह नीत्शे के 'सुपरमैन' का अरबी अनुवाद है। नीत्शे ने ईश्वर का नाम नहीं लिया, इतना फर्क अवश्य दीखता है। किन्तु, बाकी बातों में नीत्शे के सुपरमैन और इक़बाल के वाइस-रिजेंट में कोई भेद नहीं है।[1] इक़बाल कहते हैं, "यह नियाबते-इलाही (Divine Viceregency) पृथ्वी पर मनुष्य के विकास का तीसरा और अन्तिम सोपान है। नायब पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि है। वह ख़ुदी की पूर्णतम प्रतिमा और मानवता की मंजिल है। हममें जो मानसिक अशान्ति और विरोध हैं, वह नायब में जाकर अपना समाधान पा लेते हैं। उसमें उच्च-से-उच्च शक्तियाँ, उच्च-से-उच्च ज्ञान से मिलकर एकाकार रहती हैं। उसके जीवन, विचार और कर्म में, बुद्धि और सहज-बुद्धि में, विरोध नहीं रहता। मानवता के वृक्ष का वह अन्तिम फल होगा एवं मनुष्यता ने आज तक विकास की जो वेदनाएँ सही हैं, वे नायब के अवतार के साथ सार्थक हो जायँगी। मनुष्यों का सच्चा शासक नायब ही होगा, क्योंकि उसका शासन धरती पर परमात्मा का शासन होगा। वह विकास का अन्तिम बिन्दु होगा। विकास के क्रम में हम ज्यों-

---

[1] नीत्शे की कल्पना की भाषा यह है : "मैं तुम्हें महामानव के विषय में समझाता हूँ। मनुष्य वह चीज है जिससे मनुष्य को आगे जाना है। मनुष्य की सीमा पार करने के लिए तुमने क्या किया है? सभी जीवों ने अपने से आगे के जीव तैयार किये और तुम भाटे के वेग में बहकर पीछे जाना चाहते हो? तुम्हें पीछे हटकर पशु बन जाना पसन्द है, किन्तु, तुम मनुष्य से आगे बढ़कर महामनुष्य नहीं बनोगे? बन्दर मनुष्य के आगे क्या है? केवल हँसी की चीज, केवल ग्लानि का पात्र। जो स्थिति बन्दर की मनुष्य के आगे है, वही स्थिति मनुष्य की महामनुष्य के सामने होगी। तुम कीट से बढ़कर मनुष्य हुए हो। किन्तु, अभी भी तुम में कीटों की संख्या कम नहीं है। एक समय तुम मर्कट थे और आज भी मनुष्यों में मर्कटता मर्कटों से भी अधिक है।"

"............इस पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है। अपने संकल्प को जगाकर तुम भी कहो कि पृथ्वी का सारा अर्थ महामानव है।

"............मनुष्य लक्ष्य नहीं, सेतु है। उसका सबसे प्यारा गुण यह है कि वह ऊपर जा रहा है और नीचे आ रहा है .... मैं उन्हें प्यार करता हूँ, जो नीचे जा रहे हैं, जो पृथ्वी को कुर्बानी चढ़ा रहे हैं कि महामानव की पृथ्वी अस्तित्व में आये। मैं उन्हें प्यार करता हूँ जो ज्ञान के लिए जीते हैं, जिससे महामानव का अवतार हो। महामानव के अवतार की कामना, यही उनकी अधोयात्रा है। मैं उसे प्यार करता हूँ जो श्रम कर रहा है, आविष्कार कर रहा है, जिससे महामानव का भवन तैयार हो जिससे महामानव के लिए धरती, पशु और पौधे तैयार हों।"

(नीत्शे-कृत 'दस स्पेक ज़रथुस्त्र' से।)

ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हम नायब के समीप होते जाते हैं। और उसके पास पहुँचने की कोशिश में हम अपने-आपको ऊपर उठाते जाते हैं। मनुष्य के शरीर और मन का म्यक् विकास वह शर्त है, जिसके बिना नायब का जन्म नहीं होगा। आज तो वह र्फ कल्पना है, विचार और आदर्श है। किन्तु, मानवता का विकास होते-होते मनुष्यों ी ऐसी जाति उत्पन्न होगी, जिसके सदस्य बहुत-कुछ अनूठे व्यक्तित्ववाले होंगे और से ही माता-पिता से नायब उत्पन्न होगा। इस प्रकार, पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य ा अर्थ यह है कि यहाँ जो प्रजातंत्र कायम होगा, उसके सदस्य अनूठे व्यक्तित्ववाले ोंगे, जिनका मुखिया वह व्यक्ति होगा, जिसका व्यक्तित्व सबसे अनूठा, सबसे भिन्न ोगा। इस आदर्श जाति की झाँकी नीत्शे ने भी देखी थी, किन्तु, नास्तिक और मीरों का पक्षपाती होने के कारण उसने अपनी कल्पना को कुरूप बना दिया।"[1]

आज की भाषा में, नीत्शे की कल्पना का महामानव फ़ासिस्ट कहा जायगा, किन्तु, क़बाल की कल्पना का महामानव किसी-न-किसी प्रकार का प्रजातन्त्रीय मनुष्य है। हाँ, तना इज़ाफ़ा हम और कर सकते हैं कि वह मुसलमान होगा, क्योंकि पाश्चात्य ढंग ी प्रजा-सत्ता इक़बाल को पसन्द नहीं थी। उन्होंने लिखा है कि "यूरोप का प्रजातन्त्र रोपीय समाज के आर्थिक उद्धार के क्रम में प्रकट हुआ। इसीलिए, उसके भीतर माजवादी और अराजकतावादी आन्दोलनों का आतंक व्याप्त है। किन्तु, नीत्शे इस ण्ड-शासन से घृणा करता है और जन-साधारण के ऊपर कोई भरोसा या विश्वास हीं रख कर वह समस्त उच्च संस्कृति का ध्येय महामानवों की एक खास जाति का द्भव और विकास बताता है। किन्तु, क्या जन-साधारण, सचमुच ही, इतना अपदार्थ ? इस्लामी प्रजातन्त्र का जन्म आर्थिक अवसरों के विकास से नहीं हुआ। इस्लाम प्रजासत्ता या जमहूरियत केवल आध्यात्मिक सिद्धान्त है, जिसका आधार यह भाव कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं, जिनका विकास चरित्र-शेष के पालन से किया जा सकता है। इन्हीं साधारण व्यक्तियों में से इस्लाम ने द्भुत मनुष्य तैयार किये थे, जिनका जीवन और जिनकी शक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ थी। स दृष्टि से क्या इस्लाम का आरम्भिक प्रजातन्त्र नीत्शे के प्रजातन्त्र-विरोधी मतों के ण्डन की दलील नहीं है?"[2]

कवि जैसे संस्कारों में पलता है, उसकी भावना भी वैसी ही हो जाती है। इक़बाल ो पढ़ते हुए, कदम-कदम पर यह अनुभव होने लगता है कि यूरोपीय राष्ट्रों से इस्लाम ा संघर्ष, इंग्लैण्ड द्वारा टर्की की कुसेवा और ईसाइयों द्वारा इस्लाम की आलोचना क़बाल को बराबर याद रही। इसीलिए, वे मौका मिलते ही, यूरोपीय सभ्यता पर क मार बैठते हैं।[3] यह भी अनुमान होता है कि सर सैयद, हाली, चिराग़ अली,

---

[1] 'सीक्रेट्स आव् द सेल्फ़' की भूमिका से।

[2] 'सीक्रेट्स आव् द सेल्फ़' की भूमिका से।

[3] तेरी हरीफ़ है या रब, सियासते-अफ़रंग,
मगर, हैं इसके पुजारी फ़क़त अमीरो-रईस।

[शेष पृष्ठ ७०० पर]

अमीर अली और सबसे बढ़कर मौलाना शिबली ने मुसलमानों में, अपने धर्म और इतिहास के प्रति, जो गौरव जगाया था, उसका संस्कार इक़बाल में अत्यन्त प्रबल था। इसीलिए, वे इस्लाम के सिवा और किसी धर्म की प्रशंसा करने में असमर्थ रहे।[1] साथ ही, भारत में चूँकि प्रजासत्ता मुसलमानों को पूरी अनुकूल नहीं दीखती थी, इसलिए, उन्होंने राष्ट्रीयता और प्रजासत्ता, दोनों में, अपना विश्वास खो दिया। खिसकते-खिसकते वे एक ऐसी जगह जा पहुँचे, जहाँ देश, राज्य, इतिहास तथा शासन की एकता और एक साथ जीने-मरने और संघर्ष करने की बातों का राष्ट्रीयता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु, राष्ट्रीय भाव इक़बाल मुसलमानों में भरना जरूर चाहते थे। अतएव, उन्होंने उपदेश दिया कि विश्व भर में फैले हुए मुसलमान राष्ट्रीयता के एक-सूत्र में आबद्ध किये जा सकते हैं।[2]

किन्तु, तफसील में आने पर यह कल्पना उन्हें भी कठिन जान पड़ी। अतएव, उन्होंने सोचा कि "अभी तो यही सम्भव है कि प्रत्येक मुस्लिम राष्ट्र अपने भीतर डूबकर विचार करे, अपना सारा ध्यान अपने आप पर केन्द्रित करे। फिर, जब ये सब-के-सब, सुदृढ़ और बलवान हो जायँ, तब उन्हें लेकर प्रजातन्त्रों का एक सम्मिलित परिवार खड़ा किया जा सकता है। सच्ची और प्राणवती एकता किसी पर ऊपर से लादी नहीं जा सकती। इसके लिए आवश्यक होगा कि प्रत्येक प्रजातन्त्र की स्वाधीनता बरकरार रहने दी जाय। उनके आपसी तनाव और प्रजातीय (रेशियल) द्वन्द्व परस्पर सामंजस्य में लाये जायँ और उन सब के बीच एकता का वह भाव प्रतिष्ठित रहे, जो समान

[पृष्ठ ६९९ का शेष]

बनाया एक ही इबलीस आग से तू ने,
बनाये ख़ाक से उसने दो सद हज़ार इबलीस।

× ×

तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ञ्जर से आप ही ख़ुदकुशी करेगी।
जो शाख़े-नाज़ुक पे आशियाना बनेगा, नापायदार होगा।

[1] "मेरे बाद और कोई पैगम्बर नहीं होगा, यह ईश्वरीय आज्ञा है।"

"मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर में अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य-जाति में हमसे आगे और कोई नहीं है।" (रमूज़े-बेख़ुदी)

[2] "हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नहीं है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले में महदूद नहीं है। हमारी सुराही की मिट्टी चीनी भी है और हिन्दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्की की भी है और सीरिया की भी। मगर, हमारा दिल न तो हिन्दुस्तान में है, न सीरिया और रूम में। इस्लाम को छोड़कर हम किसी भी पितृ-देश में विश्वास नहीं करते।"

"जानते हो कि मुहम्मद अपनी जन्मभूमि मक्का को छोड़कर मदीना क्यों भाग गये ? हिजरत मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन में स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है, संकीर्णता को छोड़कर विशालता में पहुँचना। शबनम को छोड़कर समुद्र पर विजय पाना।" (रमूज़े-बेख़ुदी)

आध्यात्मिक उमंगों से प्रवाहित होती है। मुझे तो ऐसा दीखता है, मानो, परमेश्वर धीरे-धीरे हम सब को यह बता रहे हैं कि इस्लाम राष्ट्रीयता नहीं है, वह साम्राज्य-ाद भी नहीं है। असल में, वह राष्ट्रों का समूह है जो देशगत सीमाओं को केवल ाम और सुविधा के लिए ही अंगीकार करता है, अपने सदस्यों के सामाजिक क्षितिजों ो सीमित करने को नहीं।"[1]

विफलता-बोध की पीड़ा

यही मनोदशा थी, जिसने उन्हें बाँगे-दरा के वातावरण से बाहर निकाल दिया। ही वह मुद्रा थी जिसमें इक़बाल इस्लाम को भारत से बाहर ले जाने को अपना श्रेष्ठ ुकर्म समझने लगे। और यही वह पीड़ा थी, जिसने उनके भीतर पाकिस्तान की ल्पना प्रस्फुटित की। संयोग की बात कि जब वे सन् १९३०ई० में मुस्लिम लीग के ापति हुए, तब अखिल भारतीय मंच से सबसे पहले उन्हीं के मुख से पाकिस्तान ब्द निकला और उन्होंने ही पाकिस्तान प्राप्त करने का दर्शन भी तैयार किया। लतः, हिन्दुओं से अलग होकर मुसलमानी राज बसाने की माँग करने में मुसलमानों ो जो संकोच होता था, वह जाता रहा।[2]

'मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया' के लेखक ने एक स्थान पर इक़बाल को विफलता-ोध (फ्रस्ट्रेशन) का कवि कहा है और ऊपर के सन्दर्भ में उनकी निराशा प्रत्यक्ष है ी। खिलाफत के टूट जाने पर भी, इक़बाल इस आशा में रहे कि फिर कोई खिलाफत ैयार हो सकती है, जिसके अधीन संसार के तीस करोड़ मुसलमान एक धर्म-सूत्र में ाबद्ध रहेंगे। किन्तु, यह नहीं हुआ। तुर्कों का साम्राज्य खंडित हो गया। खिलाफत दृश्य हो गयी। टर्की ने अपने को धर्म-राज्य मानना छोड़ दिया और अरबी राज्य ट कर कई स्वाधीन एवं अर्द्ध-स्वाधीन राज्यों में बँट गया। यह इस्लाम के विघटन ा दृश्य था, जिसे इक़बाल बर्दाश्त नहीं कर सके। अतएव, इस्लाम का विश्व-राज्य ापित करने को छोड़कर उन्हें मुसलमानों की उन्नति का और कोई उपाय पसन्द हीं आया।

कोई-कोई लेखक इक़बाल पर यह आरोप भी लगाते हैं कि उन्होंने लोगों की ्याशक्ति को उभार कर उसे चंचल तो कर दिया, किन्तु, वे यह बताना भूल गये इस क्रिया-शक्ति का उपयोग किस ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाय। यही ारण है कि हर तरह के आदमी उनका नाम लेकर उछलने लगे और प्रत्येक प्रकार के ंठ आन्दोलन को उनसे समर्थन मिलने लगा। यहाँ विचारणीय यह है कि पाकिस्तान

---

[1] रिकांस्ट्रक्शन आव् रिलीजियस थॉट इन इस्लाम।

[2] पिछले युद्ध के दिनों में आरबेरी ने 'इस्लाम टुडे' नामक एक पुस्तक निकाली, जिसमें सर हसन सुहरावर्दी का एक लेख है। इस लेख में भी लेखक ने कहा है कि पाकिस्तान की माँग भारत के विभाजन की माँग नहीं है। वह विभाजन की माँग तो थी ही, मगर, आरम्भ में, शर्म से अच्छे लोग वैसा नहीं कहते थे।

का नाम लेकर इक़बाल ने भारतीय मुसलमानों को किसी भ्रम में नहीं रखा। किन्तु, यह नाम उन्होंने काव्य में नहीं, राजनीति के मंच से लिया था। कवि के लिए तफ़सील में जाकर नक्शा बनाना सम्भव नहीं होता। वह तो बादल है जो केवल बरस जाता है। यह कैसे सम्भव है कि बादल बरसे भी और अपने पानी को एक खेत में तो जाने दे, किन्तु बाकी खेतों में जाने से उसे रोक रखे? कवि 'डायनमो' है जो शक्ति क्षरित करता है। उस शक्ति का उपयोग किस उद्देश्य के लिए किया जाय, इसका निर्धारण करने वाले लोग और होते हैं।

दलितों के कवि

इक़बाल दलित जाति के कवि थे। इसलिए, उनमें बेचैनी का होना स्वाभाविक था। और चूँकि इस जाति के दलन का सबसे बड़ा कारण उसकी निश्चेष्टता थी, इसलिए, इक़बाल ने सबसे अधिक जोर भी कर्मण्यता पर ही दिया।[1] सुकर्म की प्रशंसा तो सभी करते हैं। इक़बाल ने अकर्मण्य की अपेक्षा उस व्यक्ति को भी श्रेष्ठ समझा जो और नहीं तो, गलतियाँ ही करता रहता है।[2] धर्म के बाह्य आडम्बरों की निन्दा तो सब दिन से होती आयी थी। इक़बाल की विशेषता यह है कि उन्होंने आडम्बरों को पुण्य की विकृति नहीं, सीधे पाप कहा। उनका ध्यान मुसलमानों की गरीबी पर था।[3] उनका ध्यान संसार की पूँजीवादी व्यवस्था पर था, जिसके अधीन अमीर गरीब को लूटते रहते हैं।[4] ऐसी अवस्था में, धर्म यदि गरीबों को सन्तुष्ट रहने को कहे, दुःखों को उनके अपने कर्मों का फल बता कर उन्हें निश्चेष्ट रहने का उपदेश दे, तो धर्म मनुष्य की प्रगति का बाधक बन जाता है। अतएव, इक़बाल ने असन्तोष और

---

[1] ख़ुदा तुझे किसी तूफ़ाँ से आशना कर दे,
कि तेरे बह्र की मौजों में इज्तराब नहीं।
तुझे किताब से मुमकिन नहीं फ़राग़ कि तू,
किताबख्वाँ है, मगर, साहबे-किताब नहीं। (तालिबे-इल्म ; बाले-जिबरील)

[2] तू समझता नहीं अय ज़ाहिदे-नादाँ इसको,
रश्के-सद-सिज्दा है, एक लग़ज़िशे मस्तान-ए-दिल। (बाँगे-दरा)

[3] वो फ़ाक़ाकश कि मौत से डरता नहीं ज़रा,
रूहे-मुहम्मद इसके बदन से निकाल दो।
बुतखाने के दरवाजे पै सोता है बरहमन,
तक़दीर को रोता है, मुसलमाँ तहे-मेहराब। (बाले-जिबरील)

[4] उट्ठो, मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो,
काख़े-उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
जिस खेत से दहक़ाँ को मयस्सर न हो रोज़ी,
उस खेत के हर ख़ोशये-गन्दुम को जला दो। (बाले-जिबरील)

ती को पौरुष का लक्षण बताया, क्योंकि जो सन्तुष्ट है, उसकी क्रिया ढीली और न शिथिल पड़ जाते हैं।[1]

इक़बाल ने अनवरत कर्म, निरन्तर संघर्ष और सतत निर्भय प्रयास का जो दर्शन र किया, वह केवल मुसलमानों ही नहीं, हिन्दुओं तथा अन्य जातियों के लोगों के भी दे की चीज थी। किन्तु चूँकि उन्होंने कर्म की दिशा का संकेत नहीं किया, ही बताया कि हिंसा, उत्पात और व्यर्थ की हलचल कर्म नहीं, कुकर्म है,[2] इसलिए नीतिज्ञों एवं आन्दोलनकारियों को यह अवसर मिल गया कि वे इक़बाल की ठा और उनके दर्शन का मनमाना उपयोग करें। इसीलिए, अक्सर इस बात पर चली जाती है कि, हो-न-हो, इक़बाल के कर्मवादी दर्शन और मुस्लिम लीग की १९४६ई० वाली सीधी कारवाई के बीच कारण-कार्य का सम्वन्ध आन बैठा था।

प पर शंका

मुसलमानों को कर्मनिष्ठ बनाने के साथ-साथ, इक़बाल उन्हें यह उपदेश भी देते कि यूरोप का अन्धानुकरण बुरा है[3]। यूरोप के पास सभी गुण ऐसे नहीं हैं, जिनसे

है वही तेरे ज़माने का इमामे बरहक़,
जो तुझे हाज़िरो-मौजूदा से बेज़ार करे।
मौत के आइने में तुझको दिखा कर रुख़े-दोस्त,
ज़िन्दगी तेरे लिए और भी दुश्वार करे।
दे के एहसासे-ज़ियाँ तेरा लहू गरमा दे,
फ़ख़्र की सान चढ़ा कर तुझे तलवार करे। (बाले-जिबरील)

उदाहरण के लिए, नीचे की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जिनके भाव हिंसा और उत्पात के समर्थक होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते :—

हमामो-कबूतर का भूखा नहीं मैं,
कि है जिन्दगी बाज़ की ज़ाहिदाना।
झपटना, पलटना, पलट कर झपटना,
लहू गर्म रखने का है इक बहाना। (शाहीं : बाले-जिबरील)

जो कबूतर पर झपटने में मज़ा है ऐ पिसर,
वह मज़ा, शायद, कबूतर के लहू में भी नहीं। (नसीहत : बाले-जिबरील)

सोचा भी है अय, मर्दे-मुसल्माँ कभी तू ने,
क्या चीज है फ़ौलाद की शमशीरे-जिगरदार?
इस बैत का यह मिसरये-अव्वल है कि जिसमें,
पोशीदा चले आते हैं तौहीद के असरार। (बाले-जिबरील)

वह आँख कि है सुरमये-अफ़रंग से रौशन,
पुरकारो-सुख़नसाज़ है, नमनाक नहीं है।
योरप की ग़ुलामी पे रज़ामन्द हुआ तू,
मुझको तो गिला तुझ से है, योरप से नहीं है। (बाले-जिबरील)

मुसलमानों का कल्याण हो सकता हो। अँगरेजी पढ़े-लिखे यूरोपीकृत युवकों के लिए उनके पास अच्छे शब्द नहीं थे। उनकी दृष्टि में ऐसे सभी लोग उधार ली हुई साँस पर जीने की कोशिश करनेवाले थे। टर्की ने यूरोप की नकल इतनी दूर तक की कि उसके पास इस्लाम की विरासत नाम मात्र को ही रह गयी। इस स्थिति की इक़बाल पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने एक कविता में लिखा, "तुर्कों के रवाब में कोई नया सुर नहीं है। वे जिसे नया समझ रहे हैं, वह यूरोप का पुराना लिबास है।" इक़बाल का विचार था कि यूरोप का एक पाँव कब्र में लटक चुका है। यह आशा व्यर्थ है कि वह एशिया की रक्षा कर सकेगा।

जिन मूल्यों को लेकर यूरोप खड़ा है, उनके प्रति आलोचना के भाव गाँधी, रवीन्द्र और राधाकृष्णन में भी मिलते हैं। सच पूछिये तो एशिया की आत्मा ही उन मूल्यों में से कइयों के विरुद्ध है। ताकत जितनी बड़ी चीज हो, किन्तु, वह दया और प्रेम से बढ़कर नहीं है। बुद्धि जितनी भी बड़ी शक्ति हो, अनुभूति से वह हीन ही होती है। और ऐसा कहने से बुद्धि या शक्ति का अनादर नहीं होता। एशियावासी तो सिर्फ यह चेतावनी दे रहे हैं कि ताकत और बौद्धिकता की चकाचौंध में आदमी कहीं प्रेम और अनुभूति की महत्ता से दूर न चला जाय। यह दृष्टिकोण इक़बाल में भी बहुत स्पष्ट है। दया, माया, अहिंसा और सहिष्णुता को तो उन्होंने महत्त्व नहीं दिया है, किन्तु, प्रेम की महिमा से वे भलीभाँति परिचित हैं तथा दिमाग के मुकाबले वे बराबर दिल का साथ देते हैं[1]।

इक़बाल तर्क और बुद्धि की अपेक्षा प्रेम और अनुभूति को बहुत बड़ा स्थान देते हैं। यूरोप से उनकी विरक्ति और उदासी का एक कारण यह भी था कि यूरोप में ज्ञान, बुद्धि, तर्क और भौतिक शक्तियाँ बहुत काफी हैं। फिर भी, वहाँ के लोग गरीबों को लूटने में आनन्द लेते हैं। फिर भी, यूरोप में व्यक्ति-व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच संशय और छल-प्रपंच का राज है। फिर भी, यूरोप का धनी और सुशिक्षित वर्ग भीतर से खोखला और अशान्त है। इक़बाल ने इन सब का कारण यह समझा कि यूरोपवालों ने धर्म की अवज्ञा कर दी है और अन्तरात्मा की आवाज को सुनना छोड़ दिया है। प्रेम और अनुभूति की महत्ता वे भूल बैठे हैं। जब तक ये गुण वापस नहीं लाये जाते, मनुष्यता का कल्याण असम्भव है। पूँजीवादी व्यवस्था के वे खिलाफ थे। इक़बाल व्यक्ति का उत्थान चाहते थे, किन्तु, पूँजीवाद के अन्दर व्यक्ति को बढ़ने की राह नहीं मिलती, वह मशीन के पुरजे का अंग बन जाता है। यूरोप की शक्ति उन्हें प्रेमहीन होने के कारण निन्द्य लगी। यूरोप का ज्ञान उन्हें आत्मा-रहित होने के कारण छूँछा दीख पड़ा।

भावात्मक समाजवाद

बाले-जिबरील में दो-एक ऐसी भी कविताएँ हैं, जिनसे इक़बाल का, समाजवाद के प्रति, अटल विश्वास प्रकट होता है। 'आस्पेक्ट्स आव् इक़बाल' नामक पुस्तक की

---

[1] जो अक़्ल का ग़ुलाम हो, वो दिल न कर क़बूल। (बाले-जिबरील)

का में तासीर नामक लेखक ने इक़बाल का यह उद्धरण दिया है कि "यदि मैं किसी म-राज्य का डिक्टेटर होता तो सबसे पहला काम यह करता कि उसे समाजवादी बना डालता।" रूस के बारे में उनका ख्याल था कि वह, अज्ञात रूप से, त्मा का ही काम कर रहा है। उसकी नास्तिकता इस कारण है कि क्रान्ति के वहाँ का ईसाई-संगठन भ्रष्ट हो गया था। इक़बाल को आशा थी कि काल र, धर्म रूस में वापस आयेगा और रूसी लोग मुसलमान हो जायँगे।

किन्तु, साथ ही यह बात भी है कि **'पयामे-मशरिक़'** नामक अपने फ़ारसी काव्य न्होंने लेनिन को कैसर के साथ नरक की अग्नि में जलता दिखलाया है और बाले- रील में उन्होंने लेनिन को परमात्मा के मुख से उपदेश दिलवाये हैं।

किसी ने सत्य ही कहा है कि इक़बाल का समाजवाद भावात्मक था, बुद्धि से इस य को समझने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। उनकी कविताओं से जो र्थ निकलता है, वह यह है कि धर्म और समाज, दोनों दो तत्त्व हैं और अच्छे ज को दोनों के कुछ-कुछ अंश चाहियें। समाजवाद में जो धार्मिकता है तथा धर्म जो सामाजिक पक्ष है, उसपर उनकी दृष्टि कभी गयी ही नहीं।

-इस्लामी राष्ट्रीयता

इक़बाल ने जिस राष्ट्रीयता का आख्यान किया, वह भारत की राष्ट्रीयता नहीं, तीय मुसलमानों की भी राष्ट्रीयता नहीं, विश्व भर के मुसलमानों की राष्ट्रीयता । राष्ट्रीयता के इस रूप को ज्ञापित करने के लिए अँगरेजी में "पान-इस्लाम" चलता है, जिसका आशय यह है कि सारे संसार में मुसलमानों के भीतर एक प्रकार प्रगाढ़ एकता का भाव है। यही भाव मुसलमानों को यह मानने की प्रेरणा देता कि वे और कुछ होने के पहले मुसलमान हैं। यही भाव मुसलमानों को उन देशों अप्रसन्न रखता है, जिन देशों में मुसलमानों का राज्य नहीं है अथवा जिन देशों में अल्पसंख्यक हैं। देशों की सीमाओं के भीतर मुसलमानों का केवल शरीर रहता मन से वे समस्त विश्व के मुसलमानों के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करते इसीलिए, भारत तथा कुछ अन्य देशों में (जैसे एक समय चीन में) बहुमत उनके क्षुब्ध रहा है।[1] स्वदेश और इस्लाम, दोनों के प्रति सात्विक भक्ति का निर्वाह मानों में तभी सम्भव है, जब वह देश किसी भी इस्लामी देश के विरुद्ध नहीं । जहाँ इस प्रकार का विरोध उत्पन्न हुआ कि अल्पसंख्यक मुसलमानों के भीतर प्रकार की भावात्मक पीड़ा आरम्भ हो जाती है, एक प्रकार का द्वन्द्व शुरू हो ता है, जिसका इलाज निकालने में मुसलमान आज तक असमर्थ रहे हैं।

फिर भी, यह पान-इस्लामी भाव कुछ इक़बाल की ही अथवा भारतीय मुसलमानों ही विशेषता नहीं है। यह भाव, प्रायः, सभी मुसलमानी देशों का है और सच तो हज़रत मुहम्मद के अनुयायियों के बीच संगठन और एकता की प्रमुखता,

---

[1] ग़द्दारे-वतन इसको बताते हैं बरहमन,
अँगरेज़ समझता है मुसलमाँ को गदागर। (इक़बाल)

आरम्भ से ही, मानी जाती रही है। मुसलमान भी आपस में झगड़ते हैं, किन्तु, जभी किसी काफिर का सामना हुआ कि उनके आपसी झगड़े अपनी जगह पर छूट जाते हैं और दुश्मन के मुकाबले में, वे सब-के-सब, अनायास, एक हो जाते हैं। मुसलमान-मुसलमान में जैसी एकता होती है, वैसी एकता हिन्दू-हिन्दू अथवा ईसाई-ईसाई के बीच नहीं हो पाती। अपने अनुयायियों पर जैसा कठिन नियंत्रण इस्लाम का है, वैसा और किसी धर्म का नहीं। मागी-धर्म को इस्लाम ने दुनिया से नेस्त-नाबूद कर दिया। ईसाई और हिन्दू-धर्म के अनुयायियों में से भी बहुतों को उसने फोड़ कर अपना बना लिया। किन्तु, यही बात मुसलमानों के बारे में नहीं कही जा सकती। बहुत कम ऐसे मुसलमान होंगे, जो अपना धर्म छोड़कर अन्य धर्मों में गये होंगे।

इस्लामी एकता के कारण

इस्लामी धर्म में, मुसलमानों के बीच एकता रखने की जो शिक्षा है, उसके सिवा भी दो कारण और हैं जिनसे विश्व भर के मुसलमानों की एकता में वृद्धि हुई है। पहली बात तो यह है कि हज़रत मुहम्मद के वाद से, इस्लाम एक ही ख़लीफ़ा के अन्दर एक ही अनुशासन में रहने का अभ्यासी रहा। पहले **ख़िलाफ़त** मक्के में थी और बाद को बग़दाद में। जब मंगोलों ने बग़दाद को तहस-नहस कर दिया, तब कुछ दिनों के लिए मुसलमानों के ऊपर से ख़िलाफ़त की छाया जाती रही। किन्तु, उसके बाद ही, टर्की के सुलतानों ने ख़लीफ़ा की उपाधि धारण कर ली और समस्त विश्व के कट्टर मुसलमान उन्हें अपना धर्म-गुरु मानने लगे, यद्यपि, अरबों में टर्की के ख़लीफ़ाओं के प्रति सच्ची भक्ति कभी नहीं हुई। अब तो, ख़ैर, टर्की ने ख़िलाफ़त को उठा दिया है, किन्तु, सदियों तक ख़िलाफ़त के जरिये मुसलमानों में एकता का जो भाव पुष्ट होता रहा, वह आज भी जीवित है।

एकता का दूसरा प्रधान कारण **हज** है। प्रत्येक मुसलमान की यह कामना रहती है कि वह मरने के पहले, कम-से-कम एक बार, मक्के की यात्रा अवश्य कर ले। मक्के की यात्रा करने मात्र से व्यक्ति **हाजी** कहलाने लगता है और समाज में उसकी इज्जत बढ़ जाती है। प्रति वर्ष, प्रायः, लाखों लोग मक्के में एकत्र होते हैं। वे विश्व के प्रत्येक कोने से आते हैं और, मिलने-जुलने के क्रम में, वे प्रत्येक देश की इस्लामी समस्याओं पर विचार करते हैं। इस तीर्थ-यात्रा से विश्व का इस्लामी सम्मेलन, आप-से-आप, संगठित हो जाता है और, आप-से-आप, लोग एक-दूसरे की कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। इस यात्रा का बड़ा भारी राजनैतिक महत्त्व है, क्योंकि ख़िलाफ़त के टूट जाने के बाद, वही एक साधन है, जिससे मुसलमान अपनी एकता कायम रखे हुए हैं।

भारत में, भ्रमवश, कभी-कभी लोग यह मान बैठते हैं कि मुसलमानों में जो 'पान इस्लामी' राष्ट्रीयता है, वह उनके हिन्दुओं के प्रति द्वेष के कारण है। किन्तु, यह बात गलत है। पान-इस्लामी एकता भारत से निकल कर बाहर नहीं गयी है,

अपितु, वह बाहर से ही भारत में आयी है। हिन्दुओं की अपेक्षा यूरोपवालों की यह शंका कहीं अधिक सत्य है कि मुस्लिम देशों की आपसी एकता इस कारण बढ़ी हैं कि ये सब देश यूरोपीय साम्राज्यवाद से आतङ्कित और पीड़ित रहे हैं। **वहाबी** आन्दोलन के उत्थान का एक कारण तो यह था कि इस्लाम में बहुत से बाहरी प्रभाव आ गये थे, जो मौलिक इस्लाम की दृष्टि से इस्लाम के दोष थे और उन्हें दूर करना आवश्यक था। किन्तु, उससे भी जबर्दस्त कारण यह था कि इस्लामी देश यूरोप की अधीनता में चले गये थे या जा रहे थे, अतएव, यूरोप के साथ तुलना करने पर, मुसलमानों को अपने धार्मिक दोष स्पष्ट दिखायी दिये। इसीसे वहाबी आन्दोलन मुस्लिम राज्यों के राजनैतिक एवं मुस्लिम शासकों के धार्मिक पतन के विरुद्ध पवित्रतावादी आन्दोलन बन कर खड़ा हुआ। जब भारत में सिपाही-विद्रोह हुआ, तब तक तो अल्जीरिया पर फ्रांस का और कॉकेशस पार के मुस्लिम-राज्यों पर रूस का अधिकार स्थापित हो चुका था और सारे भारत पर अँगरेज छा चुके थे। इस स्थिति से संसार भर के मुसलमानों में यह आतङ्क फैल गया कि इस्लाम यूरोप की प्रभुता के नीचे आ रहा है। परिणाम यह हुआ कि संसार भर के मुसलमानों में एक प्रकार की एकता और पारस्परिक सहानुभूति बढ़ने लगी एवं **पान-इस्लामी** आन्दोलन का रुख यूरोप-विरोधी होने लगा।

इस आन्दोलन की यह प्रवृत्ति तब से आज तक बरकरार रही है, जिसके अनेक उदाहरण हम इक़बाल की कविताओं में देख चुके हैं। यूरोपीय आतङ्क के कारण, मुसलमानों में एकता ही सुदृढ़ नहीं हुई, बल्कि, वे बगावत पर भी उतर आये एवं सन् १८७०ई० के आस-पास, संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के मुसलमान, एक साथ छिट-पुट विद्रोह कर उठे। अलजीरिया में **कबायलों** ने बगावत की, उत्तरी अफरीका में **मुल्ले** जिहाद का प्रचार करने लगे तथा सूडान में मेहदी-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो तब तक चलता रहा जब तक लार्ड किचनर ने खरतूम पर कब्जा नहीं किया। अफगानिस्तान में भी धार्मिक जोश सामरिक रूप लेने लगा और भारत में वहाबियों ने क्रान्ति मचा दी। मध्य एशिया में भी मुसलमानों में बगावत फैल गयी एवं **चीन के तुर्किस्तान और उनान**, दोनों ही प्रान्तों के मुसलमान बागी हो उठे; जिन्हें दबाने में चीनी सरकार को काफी कठिनाई हुई।

ईस्ट-इंडीज द्वीप-समूह में हालैण्ड के खिलाफ आन्दोलन आरम्भ हुआ जो अभी हाल में आकर समाप्त हुआ है, जब वहाँ के लोग स्वाधीन हो गये। यह ठीक है कि इन विभिन्न देशीय आन्दोलनों में पारस्परिक सहयोग नहीं था, न वे किसी एक व्यक्ति या संस्था के नेतृत्व में उठे थे, किन्तु, इस्लाम पर पाश्चात्य साम्राज्यवाद के भीतर से जो विपत्ति आयी थी, उसका अनुभव सभी मुसलमानों ने किया और उनकी एकता और सहानुभूति इतनी प्रबल हो उठी कि बिना किसी विश्व-नेतृत्व के प्रत्येक देश में वे आप-से-आप, यूरोप के द्रोही बन बैठे।

इस्लामी देशों में जब जागृति की पहली लहर उठी, तब सभी देशों के मुसलमान यह मानते थे कि यूरोप और ईसाइयत से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि मुसल-

Rashtrapati Sanskrit Sansthan Varanasi Collection

मान दोनों की अच्छी बातों को मान लें। किन्तु, शीघ्र ही, सभी देशों के मुसलमानों में यह भाव फैल गया कि इस्लाम को यूरोप से कुछ भी लेना नहीं है। विज्ञान और बुद्धिवाद की सारी अच्छाइयाँ इस्लाम में मौजूद हैं। यह पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक पक्ष था। यह आन्दोलन यूरोप और ईसाइयत का कैसा विरोधी है, यह पान-इस्लामी आन्दोलन के प्रबल उन्नायक **जमालुद्दीन अफ़ग़ानी** (ईरान, मृत्यु सन् १८९६ई०) के निम्नलिखित विचारों से जाना जा सकता है—

"ईसाई संसार राष्ट्रीयता और प्रजातीयता (रेशियलिज्म) की दृष्टि से आपस में काफी बँटा हुआ है, किन्तु, पूर्वी जगत्, विशेषतः, इस्लाम से शत्रुता करने में सभी एक हैं एवं वे सभी मुस्लिम-राज्यों को विनष्ट कर देना चाहते हैं।

"ईसाइयों और मुसलमानों के बीच जो युद्ध (क्रूसेड) चला था, वह अभी तक जारी है। ईसाई दुनिया अभी भी अपने दिलों में इस्लाम से घृणा करती है। इसके प्रमाण अनेक हैं। ईसाइयों ने जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून चलाया है, उसमें मुस्लिम-राज्यों का वह स्थान नहीं है जो ईसाई राज्यों का है।

"प्रत्येक देश की ईसाई जनता इस्लाम से नफरत करती है। और उसका नतीजा यह है कि सभी देशों में इस्लाम को मटियामेट करने के काम जिद के साथ किये जा रहे हैं।

"ईसाई संसार में मुसलमानों की हर आरज़ू, हर उमंग की हँसी उड़ायी जाती है। अपने देश में ईसाई जिस चीज को राष्ट्रीयता और देशभक्ति कहते हैं, इस्लामी देशों में उसी चीज का नाम वे **धर्मोन्माद** बताते हैं।

"इन सब बातों से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि अपने धर्म और सभ्यता को तथा अपने-आपको विनाश से बचाने के लिए **संसार भर के मुसलमानों को आपस में एक होकर उठना ही चाहिये**। हाँ, इस अभियान में सफल होने के लिए मुसलमानों को यह भी चाहिए कि पश्चिम में उन्नति के जो तरीके तथा ताकत के जो भेद हैं, उन्हें वे (**मुसलमान**) सीख लें[१]।"

पान-इस्लामी राष्ट्रीयता का मूलाधार धर्म है, यह बात मौलाना मुहम्मद अली के भी निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। "पश्चिम में शासन-विज्ञान का सारा सिद्धान्त यह है कि मनुष्यों के विभाजन का स्वाभाविक आधार प्रजातीयता और भूगोल है। किन्तु, पूर्वी देशों में ये विचार सत्य से दूर माने जाते हैं। पूर्वी देशों में मनुष्यों का विभाजन धर्म के आधार पर समझा जाता है। पूर्व में इकाई का रूप राष्ट्र या राज्य नहीं, मिल्लत (धर्मबन्धुता) है। यूरोपवाले समझते हैं कि यह मध्यकालीन प्रवृत्ति है, जिससे होकर गुजरे बिना इस्लाम को आधुनिकता की प्राप्ति नहीं होगी। ये कितने गलत विचार हैं? यूरोपवाले यह समझते ही नहीं कि मुसलमान धर्म को किस दृष्टि से देखते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि इस्लाम केवल धर्म ही नहीं, वह सामाजिक संगठन, संस्कृति और राष्ट्रीयता का भी एक रूप है। इस्लामी बन्धुत्व, देश-भक्ति के ही समान है, यद्यपि दोनों में एक भेद है कि देश-भक्ति के समान यह धर्म-बन्धुत्व, कानून, रीति-रिवाज, प्रजाति, देश या इतिहास की समानता से उद्भूत नहीं होता, बल्कि, जैसा कि हम मानते हैं, वह सीधे परमेश्वर की देन है।"[२]

□□□

---

[१] न्यू वर्ल्ड आव् इस्लाम—लेखक : स्टोडार्ड। [२] वही।

प्रकरण १७

भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान

नवोत्थान के क्रम में भारतीय मुसलमानों के भीतर जो विभिन्न भाव उदित हुए, उनकी दिशा एक नहीं थी। नवोत्थान की एक शिक्षा यह थी कि इस्लाम पीड़ित, विकृत और रूढ़िग्रस्त है, अतएव, यूरोपीय गुणों का अनुकरण करके हमें उसका उद्धार करना चाहिये। नवोत्थान की ही दूसरी शिक्षा यह थी कि अपने उद्धार के लिए हमें परमुखापेक्षी होने अथवा दूसरों का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु, इस्लाम के इतिहास से ही हमें हर तरह की प्रेरणा मिल सकती है। नवोत्थान की तीसरी शिक्षा यह थी कि यूरोप इस्लाम का शत्रु है एवं जहाँ-जहाँ यूरोपीय प्रभाव काम कर रहा हो, वहाँ मुसलमानों को सावधान रहना चाहिये। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान ऐसे प्रत्येक प्रभाव को सन्देह से देखने लगे जो पहले यूनान से और अब यूरोप से आकर इस्लाम को प्रभावित कर रहा था और नवोत्थान से ही प्रेरित मुसलमान सामाजिक संस्कृति के उन अंशों को दूर करने लगे, जिन्हें वे इस्लाम पर हिन्दुत्व का प्रभाव समझते थे। नवोत्थान से प्रेरित मुसलमान विश्व-इस्लाम की रक्षा करने को आतुर होने लगे और उसी प्रेरणा से उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का भी साथ दिया।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी और न हिन्दू-नवोत्थान के ही इससे भिन्न परिणाम निकले थे। खोज करने पर यह बात, आसानी से, जानी जा सकती है कि जिस प्रकार, मुस्लिम राष्ट्रीयता (साम्प्रदायिकता का एक पक्ष) की धारा मुस्लिम नवोत्थान से फूटी है, उसी प्रकार, हिन्दू-राष्ट्रीयता (साम्प्रदायिकता का दूसरा पक्ष) की धारा हिन्दू-नवोत्थान से निःसृत हुई जिसके आरम्भिक रूप स्वामी दयानन्द के धार्मिक आन्दोलन एवं बंकिम बाबू और डी०एल० राय के उपन्यासों और नाटकों में मौजूद थे। नवोत्थान जातियों का ध्यान अतीत की ओर ले जाता है। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि जातियों के जो अमर सत्य होते हैं उनका दुबारा जन्म हो जाता है; दूसरा यह कि जातियाँ इतिहास के मिथ्या-संस्कारों से भी जा चिपकती हैं, जो केवल प्राचीनता का मोह (रिवाइवलिज्म) है। नवोत्थान के क्रम में जैसे हिन्दुत्व और इस्लाम के धार्मिक एवं दार्शनिक सत्य फिर से जी उठे, उसी प्रकार, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अपने-अपने पौराणिक संस्कारों की भी वृद्धि हुई जो उन्हें एक-दूसरे से अलग ले जाने की चेष्टा करते रहे हैं।

जब भारत के सामने, अँगरेजों को हटा कर अपनी स्वतन्त्र सरकार कायम करने का स्वप्न प्रकट हुआ, तब मुस्लिम-नवोत्थान से क्षरित शक्तियाँ दो धाराओं में विभक्त हो गयीं। एक धारा वह थी जो सब कुछ से आँख बन्द करके अँगरेजों को भारत से बाहर निकाल देने को बेचैन थी। दूसरी धारा वह थी जो इस संशय से ग्रसित थी कि अँगरेज गये तो हमारा क्या होगा। इस दूसरी धारा में केवल मुसलमान ही नहीं, बहुत-

से हिन्दू लोग भी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन का एक लक्षण यह था कि उसमें निहित-स्वार्थवाले धनी-मानी लोग कम पड़े। किन्तु, धनियों का सारा वर्ग निश्चेष्ट नहीं था। बहुत-से ऐसे भी धनी थे जो हिन्दू-सभा के साथ थे। अँगरेज हिन्दू-सभा से नहीं चिढ़ते थे, क्योंकि हिन्दू-सभा साम्प्रदायिकता की सहायिका होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन पर लगाम लगाने के काम आ सकती थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि राष्ट्रीयतावादी धारा में हिन्दू अधिक, मुसलमान कम आये। इसके विपरीत, जिस धारा में शंका थी, भय था, दुविधा और सन्देह था, प्रायः, अधिकांश मुसलमान उसीके किनारे बैठे रह गये और यही बड़ा दल, संकट आने पर, भारत-विरोधी हो गया और उसीके दबाव से भारत का विभाजन भी हुआ। अब तो इस दल के लोग भी अपने कृत्य पर पछताते हैं, किन्तु, उस समय उनकी आँखें अन्धी हो गयी थीं।

एकता की राह

कुछ तो नवोत्थानी संस्कार के चलते और कुछ अँगरेजों की चाल से वे, सचमुच ही, हिन्दू-बहुमत से शंकालु और भीत हो उठे थे, एवं उनके तथाकथित लीगी नेताओं ने उन्हें जिस तरफ चलने को कहा, उस तरफ वे आँख मूँद कर चले गये। भारत-विभाजन से ऐसा दीखता है, मानों, शंका, द्विधा और अन्धकार की यह धारा जीत गयी है। किन्तु, जीत अभी मानी नहीं जा सकती। पाकिस्तान में हिन्दू और हिन्दुस्तान में मुसलमान अभी भी मौजूद हैं और भारत की जो हिन्दू-मुस्लिम समस्या थी वह अब भी वर्तमान है, यद्यपि, अब वह एक नहीं, दो देशों में है। और यह भी स्पष्ट दीखता है कि आज भी इस समस्या का समाधान न तो मुस्लिम लीगी नीति से पाया जा सकता है, न उस नीति से जिस पर हिन्दू-सभा, जन-संघ अथवा हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाएँ चल रही हैं।

हमारे जानते हिन्दू-मुस्लिम समस्या का आज भी वही समाधान है जो कांग्रेस ने निकाला था, जो राष्ट्रीय मुसलमानों को सूझा था। यह समाधान है मुसलमानों के भीतर इस भाव को पुष्ट करना कि भारत उनका देश है और भारत के लिए उन्हें उसी प्रकार जीना और मरना चाहिये जिस प्रकार अन्य देशों के लोग अपने देश के लिए जीने और मरने में आगा-पीछा नहीं करते हैं। यह समाधान है मुसलमानों के हृदय की उस शंका को निर्मूल कर देना, जिससे वे हिन्दुओं के बहुमत से भय खाते हैं।

इस समाधान का, स्वभावतः ही, एक दूसरा पक्ष भी है जिसका सम्बन्ध हिन्दुओं से है। जब तक हम अपने इतिहास के दग्ध अंश को नहीं भूलते, हम मुसलमानों को सहज दृष्टि से देखने में असमर्थ रहेंगे। **गजनवी, गोरी, औरंगजेब और जिन्ना के भूत जब तक जीते हैं, हिन्दुओं का हृदय साफ नहीं होगा।** गजनवी, गोरी, औगरंजेब और जिन्ना ही नहीं, **अकबर, दाराशिकोह, बहादुरशाह ,अजमल खाँ, अनसारी और आज़ाद** भी मुसलमान ही थे। अजमल खाँ, अनसारी और आज़ाद की क्षणस्थायी पराजय के सारे कारण मुसलमान ही नहीं, हिन्दू भी हैं। जब चिराग की लौ पतली हो तब जोर की हवा नहीं चलनी चाहिये। अनसारी और आज़ाद की विजय बहुमत की सहिष्णुता से

ी, हिन्दुओं की उदारता और सम्पूर्ण न्याय-बुद्धि से होगी। भारत की धार्मिक एवं तीय एकता की समस्या ऐसी नहीं है, जिसका समाधान वीरता, जोश और निर्भयता ढ़ा जा सके। यह बड़ा ही नाजुक काम है। इसमें मौन हमारी जितनी सहायता ा, उतनी मुखरता नहीं। इसमें धीरज और शान्ति से देश का जितना भला होगा, ा आवेश और अशान्ति से नहीं। कोई एक निर्णय करके उस पर अड़ जाने से ा का प्रश्न नहीं हल होगा। हमें-कदम-कदम पर, समझौते और सामंजस्य की खोज ी है। और यह काम आनन-फानन भी नहीं होगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी, हमें अभी दिनों तक शान्ति बरतनी है, सद्भाव निभाना है, अमृत बोते जाना है, जिससे ू और मुसलमान, पारस्परिक भिन्नता को भूल कर, एक हो जायँ।

रेजों की भेद-नीति

मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने के बहुत सारे काम अँगरेजों ने । गदर के बाद उनकी नीति यह थी कि "हम इस विश्वास से आँख नहीं मूँद ते कि मुस्लिम-जाति, मूलतः हमारी शत्रु है। अतएव, हमें हिन्दुओं को खुश करके अपने पक्ष में रखने की नीति अपनानी चाहिये।"[1] गदर के बाद ही, बम्बई के नर ने कहा था कि "रोमनों की नीति **'बाँटो और राज करो'** की नीति थी। वह त अब हमें भी बरतनी है।"[2] यह नीति काम में आयी और जैसा कि **ग्राहम** ने वा है, "गदर के बाद मुसलमानों पर बादल छा गया। उन दिनों की सारी क्रूरताओं र सभी अत्याचारों की जवाबदेही उन्हीं पर थोप दी गयी।"[3] भारत में साम्प्रदाकता का यही आरम्भ था। और राज्य ने जब एक बार उसे प्रश्रय दिया, तब वह यं भी बढ़ने लगी।

इसी स्थिति से घबरा कर सर सैयद ने मुसलमानों को राज-भक्ति का पाठ पढ़ाना रम्भ किया और इस कार्य में उन्हें सफलता भी बहुत अधिक मिली। सन् १८७०ई० आते-आते अँगरेजों को यह विश्वास हो गया कि अब मुसलमान हमारा साथ नहीं ड़ेंगे। किन्तु, उस समय तक सरकार को यह विश्वास हो चला था कि शिक्षित हिन्दू धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की ओर जा रहा है। अतएव, सरकार की नीति में अब रा परिवर्तन हुआ और वह हिन्दुओं को छोड़कर मुसलमानों की ओर झुकने लगी। अच्छे-अच्छे ओहदे मुसलमानों को दिये जाने लगे और हिन्दू अपनी योग्यता के ोसे छोड़ दिये गये। हिन्दुओं में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय भाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों रेज मुसलमानों की राज-भक्ति को सुदृढ़ रखने के लिए उन्हें अधिक-से-अधिक दे देते गये कि तराजू के दोनों पलड़े ठीक रहें। सर जान स्ट्राची ने लिखा है कि गल-बगल इन दो विरोधी धर्मों का अस्तित्व भारत में हमारी राजनैतिक स्थिति

---

[1] लार्ड एलेनबरी द्वारा प्रेषित डिस्पैच में से; देखिये परुलेकार-लिखित 'द फ्यूचर आव् इस्लाम इन इण्डिया', जिल्द १, पृ० ८७४।

[2] एलफिस्टन की मिनट ता० १४-५-१८५९ ई०।

[3] 'लाइफ़ एण्ड वर्क आव् सर सैयद अहमद खाँ'।

के पक्ष में सबसे बड़ा कारण है। मुसलमानों में जो उच्च वर्ग के लोग हैं, उनसे हमारी शक्ति बढ़ती है, दुर्बलता नहीं। यह वर्ग संख्या में तो अल्प है, किन्तु, उसके हित हमारे हितों से एकाकार हैं।"[1]

हिन्दू-नवोत्थान के क्रम में बंगाल और महाराष्ट्र के नेता तथा श्रीमती एनी बीसेंट एवं स्वामी दयानन्द हिन्दुत्व के सम्बन्ध में जो अद्भुत प्रचार कर रहे थे, उसका प्रभाव मुसलमानों पर आतंककारी हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हिन्दुओं की राष्ट्रीय उन्नति देख कर सर सैयद खुश नहीं थे, इसका उल्लेख उनके प्रसंग में किया जा चुका है, यद्यपि, इसका कारण यह था कि वे राजभक्त थे और सरकार-विरोधी आन्दोलन उन्हें पसन्द नहीं था। हिन्दू-नवोत्थान-विषयक प्रचार मुसलमानों का विरोधी नहीं था, वह केवल हिन्दुत्व के पक्ष का आन्दोलन था, ठीक उसी प्रकार, जैसे सन् १९२०ई० का खिलाफत आन्दोलन हिन्दू-विरोधी नहीं था। फिर भी जैसे, खिलाफत का साथ देने के लिए हिन्दू भाइयों ने कांग्रेस का पीछे मजाक उड़ाया, उस प्रकार की प्रवृत्ति उन्नीसवीं सदी के अन्त में मुसलमानों में भी उदित हुई थी।

तब सन् १९०५ई० में **लार्ड कर्जन** ने बंगाल का, साम्प्रदायिकता के आधार पर, विभाजन कर दिया। यह शैतानियत से भरी हुई चाल थी। पहले बंगाल और फिर सारा देश कर्जन के इस कृत्य से क्षुब्ध और आन्दोलित हो उठा। एवं अँगरेजों के मुस्लिमभक्त इस बात से प्रसन्न हो उठे कि अब अँगरेजों और हिन्दुओं की असली खटपट शुरू हो गयी। **इस आन्दोलन में मुसलमानों ने हिन्दुओं का साथ नहीं दिया, परिणामतः, इस आन्दोलन की भाव-धारा शुद्ध हिन्दू भाव-धारा होती गयी।** इसी आन्दोलन के क्रम में, देश ने स्वदेशी का व्रत लिया, जिसकी टीका अँगरेज़ों ने यह की कि स्वदेशी बनाने और बेचनेवाले लोग तो हिन्दू हैं, अतएव, इस आन्दोलन से लाभ भी हिन्दुओं को ही होंगे। यह भी एक कारण हुआ कि मुसलमान प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को सन्देह से देखने लगे।

मुस्लिम लीग

लेकिन, स्वदेशी आन्दोलन के बाद, सरकार निश्चित रूप से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने की राह पर आ गयी और इस गर्हित कर्म में पहले उसे जो थोड़ा-बहुत संकोच होता था, उसे भी उसने अब ताक पर धर दिया। सन् १९०६ई० में वायसराय ने कुछ मुसलमानों को **मुस्लिम लीग** नामक संस्था स्थापित करने की अनुमति दी[2] तथा **मिंटो-मोर्ले रिफ़ॉर्म** में उसने मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र बनाने का एलान कर दिया। मिण्टो-मोर्ले-रिफ़ॉर्म की घोषणा के साथ यह बात स्पष्ट हो गयी कि मुसलमान अब आसानी से राष्ट्रीयता की राह पर नहीं आयेंगे और उनकी सहायता और असहयोग से अँगरेज भारत में अपनी सत्ता बनाये रहेंगे।

---

[1] 'इंडिया, इट्स, एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस'।

[2] कहते हैं, वायसराय की प्रेरणा से ही यह संस्था कायम हुई थी। (देखिये 'मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया।')

आरम्भ में, मुस्लिम लीग की नीति वही थी जो आदि-अवस्था में कांग्रेस की रही थी। फर्क यह था कि कांग्रेस शुरू से ही जो माँगें करती आ रही थी वह सभी भारत-वासियों के लिए, केवल हिन्दुओं या मुसलमानों के लिए नहीं। किन्तु, मुस्लिम लीग के प्रस्ताव 'नौकरियों में मुसलमानों के वाजिब हिस्सों, काउन्सिल में मुसलमानों के उचित प्रतिनिधित्व' एवं, अन्त में, ब्रिटेन पर भक्ति दिखाने के लिए किये जाते थे। किन्तु, सभी मुसलमानों, विशेषतः, निर्धन वर्ग को अँगरेजों के लिए भक्ति नहीं थी, न वे हिन्दुओं से घृणा करते थे। घृणा का दर्शन तो बुद्धिजीवियों के धरातल पर तैयार किया जा रहा था। जन-साधारण को अभी तक उस दर्शन से कोई सरोकार नहीं था। परिणामतः, हम देखते हैं कि मुस्लिमलीग में उन दिनों कोई दम नहीं था। स्वतन्त्रता-प्रेमी, साहसी और जागरूक मुस्लिम नौजवान लीग को अँगरेजों की हाँ में हाँ भरनेवालों की संस्था समझते थे और जिस व्यक्ति के पास दौलत या ओहदा नहीं था, वह अपने लिए लीग को व्यर्थ समझता था।

मिस्टर जिन्ना लीग में सन् १९१३ में आये। उसके पूर्व वे कांग्रेस में थे। किन्तु, उनके आने से भी कोई बात नहीं बदली। लीग में ऐसे-ऐसे दकियानूस लोग भरे थे कि मिस्टर जिन्ना को भी उन्होंने भयानक क्रान्तिकारी समझा एवं लीग में उनके आगमन से राजभक्तों का सम्प्रदाय घबरा उठा। अँगरेज बहुत चाहते थे कि लीग के भीतर क्रान्तिकारी विचार तो न आने पाये, किन्तु, उसका सुयश अवश्य बढ़े। अँगरेजों की पहली आशा तो पूरी होती गयी, किन्तु, दूसरी आशा पूरी हुई या नहीं, यह सुनिश्चित भाषा में नहीं कहा जा सकता। **सन् १९३१ ई० की गोल-मेज़ कांफ्रेंस के समय मुस्लिम लीग अँगरेजों की दृष्टि में भी भारतीय मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था नहीं थी,** न उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई मुसलमान इंग्लैण्ड बुलाया गया था। मिस्टर जिन्ना कांफ्रेंस में अपनी वैयक्तिक प्रसिद्धि के कारण बुलाये गये थे, क्योंकि दूसरी कांफ्रेंस में जब उनका नाम छूट गया तब सरकार ने इसका यही कारण विज्ञापित किया था कि मिस्टर जिन्ना किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

एकता की तरंग

प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में, भारत में आजादी की माँग जोर से की जाने लगी। श्रीमती एनी बीसेंट और लोकमान्य तिलक ने **होमरूल आन्दोलन** के द्वारा देश में काफी जागृति उत्पन्न कर दी। इस युद्ध में टर्की मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लड़ रहा था। अतएव, इसकी प्रतिक्रिया भारतीय मुसलमानों पर अँगरेजों के प्रतिकूल हुई और अँगरेज भारत में जो चाल चल रहे थे, वह तत्काल मद्धिम पड़ गयी। राजभक्त रोकते रह गये; किन्तु, मुसलमान आजादी की लड़ाई में हिन्दुओं का साथ देने को आगे बढ़ने लगे। इस भावना की फसल सन् १९२०ई० में गाँधीजी ने काटी तथा ख़िलाफ़त और भारतीय स्वराज्य, इस दोनों उद्देश्यों को लेकर हिन्दू और मुसलमान एक हो गये एवं दोनों ने मिलकर सरकार से असहयोग का एलान कर दिया। सन् १८५७ई० के गदर के बाद,

यह दूसरा अवसर था, जब हिन्दू और मुसलमान, कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर, एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हुए थे। किन्तु, असहयोग-आन्दोलन **चौरीचौरा** की दुर्घटना के कारण अचानक अवरुद्ध हो गया। आन्दोलन के सहसा अवरुद्ध हो जाने की प्रतिक्रिया हिन्दुओं में बहुत कुछ वैसी ही हुई जैसी युद्ध की ओर पाँव बढ़ाते हुए सिपाही पर अचानक वापस हो जाने की आज्ञा से हो सकती है। किन्तु, सरकार और राजभक्त मुसलमानों ने बाकी मुसलमानों के कान में यह व्याख्या भर दी कि हिन्दू कभी भी मुस्लिम हितों के लिए अँगरेजों से नहीं लड़ेंगे। साधारणतः, ऐसी कानाफूसी का असर कौम पर नहीं हो सकता, किन्तु, इसके बाद देश में जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घटीं, उनकी पृष्ठ-भूमि पर यह कानाफूसी भी सच मानी जाने लगी।

साम्प्रदायिकता का विस्फोट

असहयोग-आन्दोलन के बाद, देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की ब्राढ़ आ गयी। सन् १९२४ई० में **मोपला-विद्रोह** हुआ जिसका प्रधान कारण आर्थिक था, किन्तु, हिन्दुओं पर उस विद्रोह में जो अत्याचार हुए उनसे यह घटना हिन्दू-मुस्लिम-कलह का नमूना बन गयी। हिन्दू हिन्दुओं को बचाने को दौड़े। मुसलमान यह कहते दौड़े कि मोपले भी माँ-बाप-हीन नहीं हैं। स्मिथ ने सत्य ही लिखा है कि "जब बशीर अहमद को ठगता है तब अहमद सोचता है कि बशीर ठग है। किन्तु, जब मोतीलाल अहमद को धोखा देता है, तब अहमद समझने लगता है कि हिन्दू धोखेबाज हैं।"[1] और यह कहावत हिन्दुओं पर भी लागू होती है। मोपला-गदर के बाद से देश में कहीं-न-कहीं आग लगती ही रही और इस अगलगी को राजभक्त मुसलमान तथा अँगरेज, मजे से, तापते रहे। धीरे-धीरे देश साम्प्रदायिकता के भयानक चक्र में फँस गया। कांग्रेस की ओर से बड़ी-बड़ी कोशिशें हुईं कि किसी प्रकार मुसलमानों से समझौता हो जाय। किन्तु, अँगरेज जिन लोगों को मुस्लिम-समाज के नेता बनाये हुए थे, वे कब चाहते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्पन्न हो ?

अँगरेज भारत में राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए साम्प्रदायिकता का पोषण किस प्रकार करते थे, इस विषय की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने का सरकारी ढंग यह है कि सरकार सभी अथवा अधिक-से-अधिक प्रश्नों पर साम्प्रदायिक दृष्टि से विचार करती है तथा आग्रहपूर्वक यह संकेत देती है कि और लोग भी प्रश्नों पर ठीक इसी प्रकार से विचार करें। साम्प्रदायिकता फैलाने का मुख्य राजनैतिक साधन अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की रचना है, जिससे कि एक जनता अपने को अन्य से भिन्न समझती है तथा साम्प्रदायिक भाषण सुन कर एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते-करते वह पूर्ण रूप से साम्प्रदायिक बन जाती है। फिर तो वह अधिकारों और सुधारों की माँग भी साम्प्रदायिक दृष्टि से ही करने लगती है।[2]

---

[1] 'मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया'।

[2] वही।

साम्प्रदायिकता को उभारने के कुछ और भी तरीके थे। उदाहरण के लिए, जो तअस्सुब के प्रेमी और प्रचारक थे, उन्हें सरकार प्यार करती थी, ओहदे और ाब देती थी, तरक्की और ऊँची तनख्वाहें देती थी। किन्तु, जो लोग हिन्दू-मुस्लिम-ता के हामी और उसके लिए खटनेवाले थे, वे सरकार के शत्रु समझे जाते थे एवं की वाजिब जगह जेल हुआ करती थी। राउण्ड टेबिल कांफ्रेंस में सरकार ने चुन-कर उन्हीं मुसलमानों को बुलाया जो साम्प्रदायिकता से भरे हुए थे। उन दिनों ट्रीय मुसलमानों में बड़े-से-बड़े लोग मौजूद थे। लेकिन, सरकार ने उन्हें तृणवत् य समझा।

हिन्दू साम्प्रदायिकता से बरी थे, यह कहने का हिन्दुओं को कोई अधिकार नहीं। किन्तु, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय एकता में हृदय से वास करने वाले अपार हिन्दुओं के सामने मुट्ठी भर साम्प्रदायिक हिन्दुओं की कोई ात नहीं थी। मगर, साम्प्रदायिकता संक्रामक रोग है। जब एक जाति, भयानक से, साम्प्रदायिक हो उठती है, तब दूसरी जाति भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने ती है और उसके भी भाव शुद्ध नहीं रह पाते। अच्छे-से-अच्छे हिन्दू को भी यदि तक यह समझाया जाय कि मुसलमान तुम से घृणा करते हैं, तो इस जहरीले ात से वह अविचलित नहीं रह सकता। हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता की वृद्धि इसी र हुई है। और जब हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता दिखायी पड़ी, तब मुसलमानों की प्रदायिकता और भी बढ़ गयी एवं दोनों जातियों के बहुत-से लोग परस्पर शत्रु उठे।

सन् १९३०ई० के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी साम्प्रदायिकता बहुत कमजोर पड़ थी। हिन्दुओं के साथ मिल कर मुसलमान इस जोर से उठे थे कि लगता था, इस न में सरकार और उसके पिट्ठू राजभक्त-हिन्दू और राजभक्त-मुसलमान, दोनों, के समान उड़ जायँगे। किन्तु, सरकार बहादुर (?) ने इस आन्दोलन को भी डाला। सत्याग्रह के बाद से लेकर सन् १९३७ई० तक, देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए। बल्कि, सन् १९३७ई० के चुनाव में तो मुस्लिम जनता ने यह स्पष्ट बतला कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था नहीं है।[1] हाँ, चुनाव के कुछ बाद, जब कई प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बन गयीं, तब उस मौके से मुस्लिम ने बहुत लाभ उठाया, और अन्त में, वह मुसलमानों को इस बहकावे का शिकार में समर्थ हो गयी कि हिन्दुओं के बहुमत-राज से मुसलमानों का सम्पूर्ण विनाश ायगा।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर, जब बार-बार यह सम्भव दीखने लगा कि ज्य अब आ रहा है, तब बार-बार अँगरेजों ने घोषणाओं और वक्तव्यों के द्वारा

---

[1] सन् १९३७ई० के साधारण चुनाव में ७३,१९,४४५ मुस्लिम वोट गिराये गये थे जिनमें से मुस्लिम लीग को केवल ३,२१,७७२ वोट मिले थे जो कुल वोट का केवल ४·४ प्रतिशत था।

हिन्दुओं पर यह प्रभाव डाला कि हम तो यहाँ इसलिए बने हुए हैं कि मुसलमान हमें चाहते हैं। इससे साम्प्रदायिक तनाव और बढ़ गया एवं हिन्दुओं के हृदय पर इस कल्पना से चोट लगी कि मुसलमान ही हैं जो हमें गुलाम बनाये हुए हैं। अँगरेजों ने जो विषवृक्ष लगाया था, वह बढ़ कर तब तैयार हुआ जब अँगरेजों की विदाई की घड़ी नजदीक आ गयी। परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य के आगमन के समय, भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की लाशें बिछ गयीं।

मुस्लिम-लीग की बढ़ती

मुस्लिम-लीग आरामतलब अमीरों की संस्था थी। उसके सदस्यों ने भी कोई बलिदान नहीं किया, न जनता ही उससे प्रेम करती थी। फिर भी, इस संस्था ने मुसलमानों को आग में झोंकने का रास्ता निकाल दिया। यह आश्चर्य की बात है। उसके सबसे बड़े मददगार अँगरेज थे और अँगरेजों ने ठान लिया था कि यदि हमें जाना हीं होगा तो हम हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे की जान का दुश्मन बना के जायँगे। यह काम उन्होंने लीगवालों के मेल से कर दिखाया।

लेकिन, कारण केवल इतना ही नहीं था। इसमें कुछ दोष भाग्य का भी था। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने लिखा है कि मुस्लिम-लीग की अचानक बढ़ती का एक कारण यह भी था कि मुस्लिम-समाज के अधिकांश राष्ट्रीय और उदार नेता, प्रायः, थोड़े ही दिनों में चल बसे।[1] मौलाना मुहम्मद अली कांग्रेस को छोड़ चुके थे, किन्तु, भारत में अँगरेजी शासन के वे प्रबल विरोधी थे। वे यदि जीवित रहते तो मिस्टर जिन्ना को आगे आने का मौका नहीं मिलता। गोलमेज-कांफ्रेंस में मौलाना मुहम्मद अली ने अँगरेजों से गरज कर कहा था, "यदि तुम हमें आजादी नहीं देते, तो तुम्हें मेरी कब्र के लिए जमीन इंग्लैण्ड में देनी पड़ेगी।" भगवान ने उनकी बात सुन ली। अँगरेज आजादी तो देना नहीं चाहते थे। भगवान ने तत्क्षण मौलाना को अपने पास बुला लिया। कांग्रेस के दो मुख्य स्तम्भ, हकीम अजमल खाँ और डाक्टर अनसारी थे। ये सभी असमय ही उठ गये। उदार विचार के मुसलमानों में सर मुहम्मद शफ़ी और सर फ़ज्ले हुसैन का भी बड़ा नाम था। देश के दुर्भाग्य से वे भी जाते रहे। इस प्रकार, मैदान को खाली देख कर मिस्टर जिन्ना इंग्लैण्ड से लौट आये[2] और, धीरे-धीरे, वे मुसलमानों के एकछत्र नेता बन बैठे।

हकीम अजमल खाँ और डाक्टर अनसारी तो चल बसे थे, किन्तु, कांग्रेस में तब भी **मौलाना अबुल कलाम आज़ाद** मौजूद थे और कांग्रेस-संगठन में उनका वह स्थान था जो केवल महात्मा गाँधी के ही नीचे था। इस्लामी दर्शन और इस्लामी साहित्य की दृष्टि से देखें तो मौलाना आज़ाद का स्थान बिलकुल बेजोड़ था। उनके समान शुद्ध मुसलमान और इस्लाम का प्रबल व्याख्याता बीसवीं सदी में कोई और हुआ है या नहीं, इसका निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। केवल इस्लाम ही नहीं,

---

[1] मुस्लिम पॉलिटिक्स।

[2] एक समय जिन्ना भारत से निराश होकर बैरिस्टरी करने को इंग्लैण्ड जा बसे थे।

ग्रेजी के माध्यम से उन्होंने समस्त विश्व की संस्कृति, धर्म और इतिहास को समझा । उनकी जिह्वा और लेखनी, दोनों में सरस्वती का वास था एवं हजारों की भीड़ अपनी मुट्ठी में कर लेना उनके लिए सरल कार्य था । साम्प्रदायिकता के तूफान बीच वे पर्वत के समान अचल और अडिग रहे एवं जब जिन्ना के नेतृत्व में करीब-रीब सारा मुस्लिम-समाज कांग्रेस-विरोधी हो रहा था, तब कांग्रेस ने भारतीय धीनता-संग्राम की आखिरी लड़ाई इसी महापुरुष के नेतृत्व में लड़ी । उन दिनों, त्मा गाँधी, मौलाना आज़ाद और जवाहरलाल, ये ही तीन व्यक्ति भारतीय जनीति के वृहत्त्रयी समझे जाते थे ।

किन्तु, जानकार यह मानते हैं कि मौलाना साहब की शक्ति, प्रतिष्ठा, प्रताप और क्तित्व का पूरा उपयोग मुसलमानों के बीच राष्ट्रीयता की धारा को पुष्ट बनाने के ए नहीं किया जा सका । मौलाना, प्रधानतः, विद्या और विचार के प्रेमी थे । तकें छोड़ कर गाँव-गाँव भटकने का काम उनसे कभी नहीं हुआ । हाँ, समिति और चारविमर्श के अवसरों पर उनके ठोस विचारों ने राष्ट्रीयता की अवश्य सहायता । मौलाना स्वयं दर्शन-पक्ष थे । उनका क्रिया-पक्ष बननेवाला मुसलमान उन्हें नहीं ला । यही कारण है कि जब राष्ट्रीयतावादी बड़े-बड़े मुस्लिम नेता उठ गये और न्ना साहब ने गेंद लेकर मैदान में प्रवेश किया, तब बहुत कुछ वह मैदान जिन्ना को ली मिल गया ।

कांग्रेस मुस्लिम-सम्पर्क बढ़ाने की कोशिश में जब आगे बढ़ी, तब तक काफी देर चुकी थी और जिन्ना साहब ने कांग्रेस की उस प्रवृत्ति का भी भयानक विरोध किया। न्तु, फिर भी, यह कहना एकदम गलत है कि कांग्रेस ने सारी लड़ाइयाँ केवल हिन्दुओं लेकर लड़ीं । कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था न तो पहले थी, न अब है । विशेषतः, ब-जब संघर्ष हुआ, कांग्रेसवालों में मुसलमानों की संख्या काफी वृद्धि पर आ गयी । न् १९२०ई० के आन्दोलन में तो मुस्लिम लीगवाले भी कांग्रेस के साथ थे । इसी कार, नमक-सत्याग्रह के दिनों में बहुत काफी मुसलमान आजादी के लिए जेल गये । यही नहीं, बल्कि, सन् १९४२ के विद्रोह में भी काफी विद्रोही मुसलमान थे । र जब सन् १९४६-४७ई० में देश में भयानक साम्प्रदायिक दंगे हुए, तब दंगों की ग बुझानेवालों में भी केवल हिन्दू ही नहीं, बहुत-से मुसलमान भी थे ।

भारत का विभाजन हो जाने के कारण, ऐसा दीखता है, मानों, सारे-के-सारे हिन्दू र मुसलमान उन दिनों आपस में बँट गये थे तथा मुसलमानों में राष्ट्रीयता थी ही हीं । किन्तु, यह निष्कर्ष ठीक नहीं है । भारत का विभाजन क्षणस्थायी आवेगों के रण हुआ और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि मुसलमानों में राष्ट्रीयता नहीं है । ची बात यह है कि जैसे हमारी सामासिक संस्कृति की चादर अभी तक पतली और ीन है, वैसे ही मुसलमानों की राष्ट्रीयता और हिन्दुओं का मुस्लिम-प्रेम भी कुछ-कुछ ग रहा है । किन्तु, राष्ट्रीय भाव मुसलमानों के भीतर हैं, इससे इनकार नहीं किया सकता ।

राष्ट्रवादी मुसलमान

नवोत्थान से प्रेरित मुस्लिम-समाज में अनेक प्रकार के भाव 'जाग्रत हुए थे, किन्तु, इनमें से अधिक भाव ऐसे ही थे, जिनसे स्वतन्त्रता के संघर्ष को प्रेरणा मिलती थी। कुछ मुसलसान तो आजादी की लड़ाई में इसलिए आये कि वे धर्म को नहीं मानते थे। किन्तु, बहुत-से ऐसे भी थे जिन्हें धर्म अत्यन्त प्रिय था, किन्तु, धर्म को जो राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता का बाधक नहीं समझते थे। इस्लाम समता और स्वतंत्रता का धर्म है, इस विचार को माननेवाले उलमाओं ने आजादी की लड़ाई का खुलकर साथ दिया और उनकी नीति का दूसरे मुसलमानों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा एवं वे भी आजादी की लड़ाई में धर्म से ही प्रेरित होकर आये। बहुत-से मुसलमान ऐसे थे जिन्हें पान-इस्लामी दर्शन से प्रेम था। भारतीय स्वतंत्रता का एक पक्ष ऐसा भी था, जिससे यूरोप का विरोध होता था तथा इस्लामी समाज के एक अंश (भारतीय) पर से गुलामी की जंजीर टूटती थी। मुस्लिम लीग की नीति ऐसे मुसलमानों को भी रोक नहीं सकी एवं इन लोगों ने भी खुलकर कांग्रेस का साथ दिया। फ़िर कुछ लोग ऐसे भी थे जो यह नहीं मानते थे कि कांग्रेस केवल हिन्दुओं की संस्था है; क्योंकि उसमें काफी मुसलमान, सिक्ख और ईसाई लोग भी थे। अतः, ऐसे मुसलमान इसलिए कांग्रेस में आ गये कि उनमें सत्कर्म की प्रेरणा थी और सत्कर्म का एकमात्र क्षेत्र-कांग्रेस के हाथ में था।

साहित्य के अन्य रूपों से अधिक, कविता मानव-समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब होती है। मुस्लिम-समाज के पान-इस्लामी अन्तर्द्वन्द्व इक़बाल की कविताओं में खूब प्रतिफलित हुए हैं। किन्तु, भारतीय राष्ट्रीयता के संवेग भी मुस्लिम कवियों की रचनाओं में कम नहीं हैं। भेद यह है कि इक़बाल के द्वारा चित्रित द्वन्द्व तीखे, धुँधले और गोल-मटोल हैं एवं उनकी शिक्षा यह है कि मुसलमानों को विश्व-इस्लाम का एक राज्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये। किन्तु, इस कल्पना में जो अव्यावहारिकता है, उससे कोई भी मुसलमान अपरिचित नहीं है। अतएव इक़बाल की शिक्षा बाजों को दिल्ली से कराची पहुँचा देने के बाद खत्म हो जाती है। बाजों की आगे की उड़ान सिर्फ हवा में डैने फटकारने के समान है। इसके विपरीत, मुस्लिम राष्ट्रीय कवियों की कविताओं में जो भाव उतरे हैं, वे हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने वाले भाव हैं। वे मुसलमानों के हृदय से बहुमत के आतंक को निकाल फेंकनेवाले भाव हैं। ये भाव अत्यन्त सरल और सुस्पष्ट हैं जो मुसलमानों से केवल यह कहते हैं कि भारतवर्ष तुम्हारा देश है तथा इसके लिए जीना और मरना तुम्हारा धर्म होना चाहिये।

मुस्लिम कवियों की राष्ट्रीयता

मुसलमानों के भीतर भारतीय राष्ट्रीयता के जो भाव लहरा रहे थे, उर्दू-कविता में वे, विशेषतः, **अकबर इलाहाबादी, चकबस्त, जोश मलीहाबादी, जमील मज़हरी, साग़र निज़ामी और सीमाब अकबराबादी** की रचनाओं में व्यक्त हुए। सबसे बढ़कर जोश ने अपने खड़े होने के लिए वह जगह चुनी जो इक़बाल के ठीक विरुद्ध पड़ती थी।

विरुद्ध इस अर्थ में कि इक़बाल ने धर्म का भय दिखाकर मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने की कोशिश की थी। जोश ने कहा, यदि धर्म बाधक है तो धर्म को छोड़ दो[1] लेकिन, आजादी की कोशिश छोड़ी नहीं जा सकती। इक़बाल मुसलमानों का ध्यान भारत से हटा कर मक्के की ओर ले गये थे; जोश ने भारत को मुसलमानों का परम आराध्य बताया।[2] 'इस्लाम खतरे में' का नारा इतनी बार उठा था और धर्म की बातें भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में इतनी बार बाधक होकर आयी थीं कि नौजवान अब धर्म से ही घबराने लगे थे। जोश ऐसे नौजवानों के सबसे बड़े प्रतिनिधि हुए। उन्होंने धर्म की खिल्ली उड़ानी शुरू की। पवित्रतावादी विचारों और पुरोहितों (शेख, वाइज, सूफी) का मजाक तो उर्दू कविता में बहुत दिनों से उड़ाया जा रहा है, जोश की विशेषता यह है कि उन्होंने धर्म की निन्दा इसलिए की कि आदमी को आदमी के समीप लाने के बदले धर्म उन्हें एक-दूसरे से दूर ले जाता है। इससे भी बड़ा कारण, शायद, यह था कि धर्म के नाम पर कुछ लोग मुसलमानों को बहकाये हुए थे। इस स्थिति से जोश में जो क्रोध जगा, उसे उन्होंने यह कह कर उतारा कि धर्म सबसे तुच्छ वस्तु है।[3]

कुछ राष्ट्रीय हिन्दुओं और मुसलमानों की स्थिति यह रही कि अपने सामाजिक विचारों का धर्म से मेल नहीं देख कर, वे धर्म के आत्मिक बन्धन से निकल गये। जोश वे मुसलमानों और हिन्दुओं के सफल प्रतिनिधि कवि हैं। भारतीय एकता की समस्या का उनका समाधान यह है कि सभी धर्म उन्मूलित कर दिये जायँ, समाज में पूरी आर्थिक समता स्थापित कर दी जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता को लिये हुए समाज की सेवा करे।

स्पष्ट ही, जोश का समाधान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित समाधान है। मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है एवं रूस में धर्म तिरस्कृत हो गया है। अतएव, जो भारतवासी राष्ट्रीयता को अपना ईमान बना चुके थे, उन्होंने जब यह देखा कि धर्म राष्ट्रीयता में बाधा डाल रहा है, तब उन्हें भी मार्क्स का सहारा पसन्द आ गया और उन्होंने भी न से धर्म को त्याज्य मान लिया। जोश इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुस्लिम-समाज में साम्प्रदायिकता की जो घटा छायी रही, वह जोश की दृष्टि को कभी

तेरे झूठे कुफ्रो-ईमाँ को मिटा डालूँगा मैं,
हड्डियाँ इस कुफ्रो-ईमाँ की चबा डालूँगा मैं।
डाल दूँगा तर्जे-नौ अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूँगा कुफ्रो-ईमाँ को दहकती आग में। (हुब्बे-वतन और मुसलमान।)
तेरे लब पर हैं इराको-शामो-मिस्रो-रूमो-चीं,
लेकिन, अपने ही वतन के नाम से वाक़िफ़ नहीं।
सब से पहले मर्द बन हिन्दोस्ताँ के वास्ते,
हिन्द जाग उठे तो फिर सारे जहाँ के वास्ते। (बेटे के नाम ख़त।)
इस तरह इन्सान और शिद्दत करे इन्सान पर,
तुफ़ है तेरे दीन पर, लानत तेरे ईमान पर। (मक़तले-कानपुर।)

भी मन्द नहीं बना सकी। उन पर पान-इस्लामी भावनाओं का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे शुद्ध अन्तःकरण से राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक और भारत के तरफदार रहे हैं।[१]

उर्दू में जो काम जोश ने किया, बँगला में ठीक वही तो नहीं, किन्तु, कुछ वैसे ही काम **काजी नज़रुल इस्लाम** ने किये। नज़रुल भारतीय विद्रोह की पहली वाणी होकर आये। जोश ने उत्तर भारत में जब क्रान्ति का शंख फूँका, उसके पूर्व ही, बंगाल में नज़रुल की अग्नि-वीणा के स्वर प्रदाह फैला चुके थे। नज़रुल ने एकता-एकता की चीख कम मचायी है। धर्मान्ध लोगों पर उन्होंने प्रहार भी कम ही किये हैं। ईश्वर और देवताओं का मजाक तो उन्होंने भी उड़ाया है, किन्तु, वह केवल क्रान्ति के जोश में आकर। सौम्य मुद्रा में आने पर वे धर्म से अधिक दूर नहीं दीखते। उनकी शिक्षा-दीक्षा हिन्दू-संस्कारों से पूर्ण थी, अतएव, कविताओं में वे हिन्दू आख्यानों, हिन्दू अलंकारों और चित्रों तथा हिन्दू परम्पराओं को ही लेकर चले। यह ठीक वैसा ही हुआ जैसे उर्दू के हिन्दू कवि अरब और ईरान की परम्पराओं को लेकर अपनी बात कहते हैं। उर्दू में अनेक कवि हुए हैं जो भारतीय राष्ट्रीयता और इस्लाम के उत्थान में कोई विरोध नहीं देखते थे। ऐसे दो-एक भाव नज़रुल में भी मिलते हैं[२], किन्तु, उनसे साम्प्रदायिकता नहीं आती। वे तो केवल मुसलमानों को अपने अतीत की याद दिला कर जगाना चाहते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों से जैसे देश की राष्ट्रीय जनता दुःखी थी, उसी प्रकार, हमारे राष्ट्रीय कवि भी दुःखी रहे। यह दुःख **जोश और नज़रुल**, दोनों में प्रत्यक्ष मिलता है। फर्क यह है कि नज़रुल दंगों में देश की शारीरिक जागृति का रूपक देखते हैं और समझते हैं कि इसके बाद देश का मन भी जगेगा।[३] हलाहल जब निकल चुका है, तब कभी अमृत भी बाहर आयेगा। भगवान करे कि कवि की यह वाणी अब भी सफल हो जाय।

---

[१] अब उनके पाकिस्तान जा बसने से इस वाक्य का अर्थ आसानी से समझने योग्य नहीं रहा।

[२] बाजिछे दामामा, बाँध रे अमामा, सिर ऊँच करि मुसलमान।
दावत एसेछे नया जमानार भाँगा केल्लाय उड़े निशान। (नज़रुल)
(दमामा बज रहा है। ओ मुसलमानो! मस्तक ऊँचा करके अमामा बाँधो। नये जमाने का निमन्त्रण आ चुका है। तुम्हें अपने टूटे किले पर पताका फहरानी है।)

[३] मा भैः! मा भैः। एतो दिने बूझि जागिलो भारते प्राण,
सजीव होइया उठियाछे आज श्मशान-गोरस्थान।
खालेद आवार धरियाछे असि, अर्जुन छोड़े बाण,
जेगेछे भारत, धरियाछे लाठी हिन्दू-मुसलमान।
उठिवे अमृत, देरी नाई आर, उठियाछे हलाहल।
(नजरुल-कृत संचिता से)

[शेष पृष्ठ ७२१ पर।]

जमील मज़्हरी धर्म के बन्धन को स्वीकार करते हैं, किन्तु, उनका इस्लाम उनकी ाष्ट्रीयता का बाधक नहीं है। उलटे, वे मुसलमानों को मुसलमान रहते हुए भी, तूर से ांखें फिरा कर हिमालय की उपासना करने का सन्देश देते हैं।[1] उर्दू भाषा पर विदेशीपन ा जो इलज़ाम है, उसे भी जमील सत्य मानते हैं एवं उनका विचार है कि उर्दू भाषा ी भारत माता की बेटी है, अतएव, उसके आभूषण भी भारतीय होने चाहियें।[2]

सागर निज़ामी, वैसे तो मस्ती और सौन्दर्य के कवि हैं, किन्तु, राष्ट्रीयता के भाव नमें बड़े ही जोर से लहराते हैं। जमील और जोश के समान, वे भी भारत को पनी जन्म-भूमि मानते हैं एवं उसके लिए मर मिटने को अपना कर्त्तव्य समझते हैं।[3] ाण ढूंढा जाय तो अख्तर शीरानी और सीमाब की भी कविताओं में राष्ट्रीयता के श्छल भाव सुस्पष्ट हैं।[4] वे भी हिन्दुस्तान को गुलामी से रिहा कराने के लिए ना मस्तक कटाने को तैयार हैं।

पृष्ठ ७२० का शेष।]

(डरो मत ! डरो मत ! बहुत दिनों के बाद भारत में प्राण आया है। श्मशान और कब्र-स्थान, दोनों सजीव हो उठे हैं। खालिद ने फिर तलवार पकड़ी है, अर्जुन फिर वाण छोड़ रहा है। भारत जग उठा है और हिन्दू तथा मुसलमान लाठी लेकर खड़े हैं।....अमृत भी आयेगा। अब विलम्ब नहीं है। हलाहल तो ऊपर आ चुका है।)

बिरादराने नौजवाँ, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
झुके न हिन्द का निशाँ, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
जो अक्ल राह रोक दे तो दामन उसका छोड़ दो।
जो मज़हब आके टोक दे तो उसकी कैद तोड़ दो।
जवाँ हो दरसे-जंग लो, सलामे-मौजे-गंग लो,
नज़र फिरा लो तूर से, बुला रही हैं दूर से,
हिमालया की चोटियाँ, बढ़े चलो, बढ़े चलो। (जमील मज़हरी)

कीजै न जमील उर्दू का सिंगार, अब ईरानी तलमीहों से,
पहनेगी बिदेशी गहने क्यों यह बेटी भारत-माता की ? (जमील मज़हरी)

तेरी हस्ती हिमालय की चोटी बनी, माहो-खुर्शीद की उस पै बिन्दी लगी,
रौशनी शर्क़ से ग़र्ब तक हो गयी, सिजदे में झुक गयी अज़मते-ज़िन्दगी।
अज़मते-ज़िन्दगी की कसम है हमें, तेरी इज़्ज़त पै सर तक कटा देंगे हम।
आंख उठा के जो देखा किसी ने तुझे, छावनी अपनी लाशों से छा देंगे हम।
(साग़र निज़ामी)

वतन और क़ौम की सौ जान से ख़िदमत करेगा यह,
ख़ुदा की और ख़ुदा के हुक्म की इज़्ज़त करेगा यह।
वतन की जंगे-आज़ादी में जिसने सर कटाया है,

[शेष पृष्ठ ७२२ पर।]

मुस्लिम कवियों की नवीनतम पीढ़ी ऐसी आयी है जिस पर मार्क्स का अधिक प्रभाव है, जो अर्थशास्त्र को कला की दृष्टि से देखना चाहती है, जिसका एकता का समाधान बिलकुल वही है जो जोश का समाधान था।[1] ये कवि गाय, बाजा, धर्म, ईमान इनमें से किसी की भी चर्चा नहीं करते अथवा करते भी हैं तो मनुष्यों की मध्यकालीन आदतों का मजाक उड़ाने के लिए। इनका मानसिक क्षितिज खूब विस्तीर्ण एवं हृदय बड़ा ही उदार है।

□□□

[पृष्ठ ७२१ का शेष]

ये उस शैदाये-मिल्लत बाप का पुरजोश बेटा है।
वतन के नाम पर इक रोज़ यह तलवार उठायेगा,
वतन के दुश्मनों को कुंजे-तुरबत में सुलायेगा।
(मेरा नन्हाँ जवाँ होगा ; अख्तर शीरानी

वतन में मुझको जीना है, वतन में मुझको मरना है,
वतन पर ज़िन्दगी को एक दिन क़ुरबान करना है। (सीमाब अकबराबादी

[1] कलेजा फुंक रहा है और ज़ुबाँ कहने से आरी है,
बताऊँ क्या तुम्हें, क्या चीज यह सरमायादारी है?
यह अपने हाथ में तहज़ीब का फ़ानूस लेती है,
मगर, मजदूर के तन से लहू तक चूस लेती है। (मजाज)
एक शहन्शाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़।
(ताजमहल ; साहिर लुधियानवी

उपसंहार

भारत के मूल-निवासी कौन हैं, यह बड़ा ही पेचीदा सवाल है। पश्चिम के बहुतेरे विद्वान् यह मान कर चले हैं कि आदि-मानव का जन्म भारत में नहीं हुआ और इस देश में जो भी लोग बसे, वे बाहर से आकर बसे। उनके मतानुसार नीग्रिटो, औष्ट्रिक, द्राविड़ और आर्य, सभी वंशों के लोग यहाँ बाहर से ही आये थे। हमारी स्थापना यह है कि जैसे, साधारणतः, यह माना जाता है कि आदि-मानव अफ्रीका, मध्य-एशिया अथवा चीन में उत्पन्न हुआ होगा, उसी प्रकार, यह मानने का भी उचित आधार है कि आदि-मानव की उत्पत्ति दक्षिण भारत में अथवा शिवालिक पर्वत के पास हुई होगी। नीग्रिटो और औष्ट्रिक लोग बाहर से यहाँ आये थे अथवा इसी देश से निकल कर वे बाहर गये, यह सन्दिग्ध विषय है। उसी प्रकार, यह बात भी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि द्रविड़ों के आदिपूर्वज बाहर से ही आये थे। बहुत अधिक सम्भावना यह है कि द्रविड़ इस देश के मूल-निवासी हैं और जिसे हम भारत का सनातन धर्म कहते हैं, उसका मूल द्रविड़ों के गहनतम प्राचीन इतिहास में है। जब आर्य आये, उन्होंने यहाँ की संस्कृति में अपने उद्दाम आशावाद का पुट डाला। किन्तु, उपनिषदों का काल आते-आते आर्य स्वयं ही इस देश की सनातन परम्परा में डूब गये और उनके प्रवृत्तिमार्गी विचारों पर भारत की सनातन निवृत्तिवादी भावना का पूरा रंग चढ़ गया।

ऋग्वेद के आशावाद और जैन तथा बौद्ध मतों की निवृत्ति-भावना में स्पष्ट विरोध है। इस दृष्टि से देखने पर जैन एवं बौद्ध साधनाएँ आर्यों के भारतीयकरण की प्रक्रिया दिखायी देती हैं। भारत की सनातन परम्परा लोक को निस्सार और परलोक को सत्य मानने की परम्परा थी। ऋग्वेदकालीन आर्यों की दृष्टि में लोक सत्य था। आर्य जीवन के प्रति उत्साहशील थे। इसीलिए, उनका प्रेम यज्ञ पर था। यज्ञ में हिंसा होती थी, इसलिए, बुद्ध ने यज्ञ और वैदिक धर्म का विरोध किया, यह मान्यता सत्य होने पर भी स्थूल समझी जानी चाहिये। बौद्ध मत के उत्थान का सूक्ष्म कारण यह था कि भारत की निवृत्तिमार्गी भावना वैदिक मत के आशावाद को दबा कर ऊपर आना चाहती थी और, अन्त तक, वह ऊपर आ भी गयी।

जैन मत बौद्ध मत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने अपने लिए जो मार्ग चुना, वह बिलकुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना में से निकला था। और योग, ब्रह्मचार एवं तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से नहीं निकली। इस प्रकार, जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्‌गम है, वहाँ दूसरी ओर वह शैव मार्ग का भी आदि स्रोत है। ऋषभदेव और शिव के व्यक्तित्व में जो समानता है, वह भी यही इंगित करती है कि जैन और शैव साधनाएँ किसी समय एक ही उत्स से फूटी थी।

लेकिन, बुद्ध का चलाया हुआ आन्दोलन क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। जैन साधना का झुकाव धर्म और अध्यात्म की ओर अधिक, सामाजिक परिवर्त्तनों की ओर बहुत कम था। इसीलिए, जैन सम्प्रदाय कभी अलग सम्प्रदाय नहीं बना। वह सदैव हिन्दुत्व के भीतर समाया रहा और सभी जैन हिन्दू ही रहे। किन्तु, बौद्ध मत वर्णाश्रम-धर्म और जाति-प्रथा को बराबर झकझोरता रहा। इसी झकझोर के कारण ब्राह्मण बौद्धों के शत्रु बन गये और, बदले में, बौद्ध धर्म ने बहुत-से हिन्दुओं के मन में वैदिक धर्म और वर्णाश्रम-पद्धति के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर दी। वेद, ब्राह्मण और जाति-प्रथा से चिढ़े हुए ये लोग ही भारत में इस्लाम के आगमन के बाद आसानी से मुसलमान बनाये जा सके, क्योंकि कट्टर हिन्दुत्व के केन्द्र से वे पहले ही दूर चले गये थे।

हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रभाव की कहानी **डॉक्टर ताराचन्द** और प्रोफेसर हुमायूँ **कबीर** ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखी है। किन्तु, यह ठीक नहीं है। कबीर से पहले भारत के धर्म अथवा साहित्य पर इस्लाम का कोई प्रभाव पड़ा था, यह बात किसी भी तर्क अथवा प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती। हिन्दुत्व पर इस्लाम का यत्किञ्चित् प्रभाव कबीर के बाद से पड़ने लगा। लेकिन, हिन्दुत्व पर इस्लाम ने जो प्रभाव डाला, उससे अधिक प्रभाव उसने हिन्दुत्व से स्वयं ग्रहण किया है।

संसार के इतिहास में इस बात के बहुत अधिक प्रमाण मिलते हैं कि किसी सुसंस्कृत देश को जीत कर जब कोई विजेता जाति वहाँ बस जाती है, तब वह वहाँ की संस्कृति को ही अपनी संस्कृति बना लेती है। मुसलमान इस नियम के अपवाद नहीं थे। पठानों के समय एक ओर जहाँ हिन्दुओं के दलन के उदाहरण मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि मुस्लिम कवि और लेखक भारतीय भाषाओं में अपना साहित्य तैयार कर रहे हैं। अमीर खुसरो, कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन, मंझन, ये सभी कवि मुसलमान थे। किन्तु, उन्होंने अपने उद्गार भारतीय भाषाओं में लिखे। हाँ, खुसरो ने अपना मुख्य साहित्य फारसी में लिखा। लेकिन, भारतीय मुसलमानों को खुसरो के ही उदाहरण से यह ज्ञात हुआ कि मुस्लिम-साहित्य की भाषा भारतीय भाषा भी हो सकती है। यह परम्परा मुगलों के समय में भी खूब बढ़ी। रहीम, रसखान, रसनिधि, रसलीन, शेख, मुबारक और ताज, हिन्दी के ये सभी रससिद्ध कवि मुसलमान थे। स्वयं अकबर और शाहजहाँ भी हिन्दी में काव्य रचते थे। यही नहीं, भारतीय शब्दों पर भक्ति औरंगजेब की भी थी। उसके बेटे ने उसके पास जब दो आम भेजे और अनुरोध किया कि इनके नाम रख दीजिये, तब औरंगजेब ने उनमें से एक का नाम "सुधारस" और दूसरे का "रसना-विलास" रखा था। शाही खानदान के युवराजों के कभी-कभी दो नाम रखे जाते थे। शाहजहाँ ने औरंगजेब के दो नाम रखे थे। मुसलमानों के लिए वह औरंगजेब था, किन्तु, हिन्दुओं में उसका नाम नवरंगबिहारी भी चलता था। भूषण ने अनेक स्थलों पर औरंगजेब को नवरंग कहा है।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता की इस धारा को सबसे अधिक शक्ति सम्राट् अकबर से प्राप्त हुई। किन्तु, अकबर के धार्मिक और सामाजिक सुधारों से मुसलमान नाराज हो

गये। उन्होंने समझा, अकबर इस्लाम की धारा को हिन्दुत्व के महासमुद्र में विलीन कर रहा है। मुसलमानों के इस रोष का प्रतिनिधि शेख अहमद सरहिन्दी हुआ जिसने अकबर को काफिर वताया और मुसलमानों को यह उपदेश दिया कि हिन्दुत्व के जो भी प्रभाव तुम पर पड़े हों, उन्हें पोंछ कर फेंक दो। पृथक्ता की जिस भावना की बाढ़ ने सन् १९४७ई० में आकर भारत के दो टुकड़े बना दिये, उस भावना का ोरदार प्रचार शेख अहमद सरहिन्दी ने आरम्भ किया था। बदकिस्मती की बड़ी बात यह हुई कि औरंगजेब का गुरु शेख सैफुद्दीन इसी शेख अहमद सरहिन्दी का ौत्र था। अतएव, शेख सरहिन्दी के दर्शन को कार्य का रूप देने का वीड़ा औरंगजेब ने उठाया और प्रेम के वदले घृणा का प्रचार करके उसने मुगल-राज्य की नींव ही उखाड़ दी।

हिन्दुत्व और इस्लाम ने एक-दूसरे को प्रभावित तो किया, किन्तु, यह प्रभाव सतह के नीचे नहीं पहुँच सका। औसत हिन्दू का लक्षण यह है कि मानसिक धरातल पर वह त्यन्त उदार होता है, किन्तु, आचरण के स्तर पर उसकी संकीर्णता भी भयानक ोती है। इसके प्रतिकूल, सामाजिक आचारों में मुसलमानों की उदारता उदाहरणीय ; किन्तु, मानसिक धरातल पर मुसलमान कट्टर होते हैं। अन्य धर्मों को अपने ही धर्म समान पवित्र मानने में हिन्दुओं को कठिनाई नहीं होती। किन्तु, औसत मुसलमान ह सोच ही नहीं सकता कि अन्य धर्म भी इस्लाम के ही समान पवित्र हैं। दुर्भाग्य ी बात यह हुई कि हिन्दुओं ने सामाजिक आचरण में मुसलमानों की उदारता का नुकरण नहीं किया, न मुसलमानों ने हिन्दुओं से यह सीखने का प्रयास किया कि हमें सरे धर्मों का भी उतना ही सम्मान करना चाहिये, जितना सम्मान हम अपने धर्म करते हैं। यदि मुसलमानों ने यह शिक्षा ली होती तो अकबर का वे विरोध नहीं रते, न औरंगजेब के समय में फिर से मन्दिरों का नाश हुआ होता।

भारत में जब यूरोप का आगमन हुआ, तव ईसाइयत, वुद्धिवाद और विज्ञान से ामना हिन्दुत्व का भी पड़ा और इस्लाम का भी। इस टक्कर में आक्रान्ता एक था, न्तु, आक्रान्त दो थे। फिर भी, हिन्दुओं और मुसलमानों ने यूरोप का सांस्कृतिक ाबला एक हो कर नहीं किया। ईसाइयत और बुद्धिवाद से लड़ने के क्रम में हिन्दू दों और उपनिषदों की ओर भागे तथा मुसलमान कुरान और हदीस की ओर। ीजा यह हुआ कि दोनों धर्मों की वे बातें वहुत प्रमुख हो गयीं जो उन्हें अलग रनेवाली थीं, और वे लक्षण उपेक्षित हो गये जो उन्हें परस्पर समीप ला रहे थे। ीसवीं सदी के नवजागरण से प्रेरित होकर हिन्दू और मुसलमान जागे तो सही, किन, अलग-अलग शिविरों में। नवजागरण ने उन्हें एक करने के बदले परस्पर कुछ र दूर कर दिया। नवजागरण के आरम्भिक हिन्दू लेखक और कवि इस बात से थे कि आखिर को मुसलमानी राज्य भी समाप्त हो गया। और नवजागरण के स्लिम लेखक और कवि इस बात का रोना रो रहे थे कि भारत में इस्लाम के पतन कारण यह है कि उसने इस देश में आकर हिन्दुत्व से प्रभाव ग्रहण किया है।

स्वतन्त्रता-संघर्ष के क्रम में भारत के भीतर सामाजिक और राजनैतिक तनाव इस कदर बढ़ गया कि उसके कारण भारत का विभाजन करना पड़ा। किन्तु, विभाजन के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम-समस्या मौजूद है। इस समस्या का समाधान कैसे निकलेगा, यह बताना आसान नहीं है। कबीर, अकबर और गाँधीजी का हाल हम देख चुके हैं। आज इस समस्या पर सबसे अधिक ध्यान पण्डित जवाहरलाल नेहरू का है। अकबर ने मुस्लिम-आतंक से पीड़ित हिन्दुओं का पक्ष जिस वीरता से लिया था, जवाहरलालजी उसी वीरता के साथ मुसलमानों का पक्ष ले रहे हैं। किन्तु, अकबर की उदारता से जैसे मुसलमान चिढ़ उठे थे, वैसे ही पण्डितजी की उदारता बहुत-से हिन्दुओं की दृष्टि में गलत समझी जा रही है। इतिहास से शिक्षा लेने को न तो हिन्दू तैयार हैं, न मुसलमान। दोनों के दोनों भलीभाँति जानते हैं कि भारत छोड़ कर उनकी और कोई गति नहीं है। दोनों के दोनों यह भी जानते हैं कि एकता को सुदृढ़ किये बिना वे शान्ति और निश्चिन्तता की जिन्दगी नहीं बिता सकते। फिर भी एकता की कीमत चुकाने को कोई भी तैयार नहीं है।

सरकारों का मुख्य काम वर्त्तमान को सँभालना है। उनकी पहली जिम्मेदारी अमन और शान्ति की है। और समाज में शान्ति रखने का काम वे कर भी रही हैं। किन्तु, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का समाधान केवल शान्ति की व्यवस्था से पाया नहीं जा सकता। असल में, नाव जहाँ जाकर अटक गयी है, सरकारों की बाँहें वहाँ तक पहुँच नहीं सकतीं। वहाँ केवल वे लोग जा सकते हैं जो सन्त और सुधी हैं, विचारक और कलाकार हैं। जो लोग जनता की भावनाओं को मोड़ने का काम करते हैं, जो लोग जनता में नया विश्वास और नयी प्रेरणाएँ जगा सकते हैं, वे यदि इस महान कार्य में हाथ लगायें तो, कई पीढ़ियों तक काम करने के बाद, वह चट्टान तोड़ी जा सकती है जो एकता की धारा को आज रोके हुए है।

वह चट्टान क्या है? जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मानसिक धरातल पर औसत हिन्दू उदार होता है। प्रत्येक धर्म को अपने ही धर्म के समान उदार समझने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु, सामाजिक आचार उसके सदोष हैं। मानसिक धरातल पर हिन्दू यह विश्वास करता है कि सारी सृष्टि एक ब्रह्म का स्वरूप है। किन्तु, आचार के धरातल पर वह मनुष्य-मनुष्य में भयानक भेद मानता है। वह समझता है कि कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जिनके साथ बैठ कर खाने-पीने से धर्म भ्रष्ट नहीं होता; किन्तु, बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जिनके साथ खाने-पीने से धर्म नष्ट होता है और जात चली जाती है। यही नहीं, सवर्ण हिन्दू बहुत-से हिन्दुओं को भी अछूत मानता है और यह विश्वास करता है कि अछूत में से कुछ के छूने से कच्ची रसोई अखाद्य हो जाती है और कुछ के छूने से पक्की रसोई भी दूषित हो जाती है; कुछ के स्पर्श से चमड़ी दूषित होती है और कुछ के छूने से हड्डी तक अपवित्र हो जाती है।

हिन्दुओं ने मुसलमानों को अछूत समझा और मुसलमान अपने पड़ोसी के इस अत्याचार को इस भाव से सहते रहे कि यही हिन्दुओं का धर्म है। हिन्दू किसी मुस्लिम

मित्र को अपने चौके में ले जाय, यह बात आज भी अपार साहस की बात समझी जाती है। हिन्दुओं के यहाँ मुसलमान जिन बरतनों में खाते थे, हिन्दू अपने मुसलमान अतिथि के सामने ही उन बरतनों की शुद्धि करवाते थे अथवा उन्हें तोड़ डालते थे। और मुसलमान इन अत्याचारों को केवल इसलिए सहते रहे कि उनमें सामाजिक शील का प्राचुर्य होता है, वे सामाजिक मिलन-जुलन में अपने मित्र का दिल दुखाना नहीं चाहते हैं। लेकिन, बाहर से सह लेने पर भी मुसलमानों का अन्तर्मन हिन्दुओं के ऐसे दुःशील व्यवहारों से कितना मर्माहत होता होगा, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है।

यदि हिन्दुओं ने मुसलमानों को अछूत नहीं समझा होता, यदि हिन्दुओं ने मुसलमानों के साथ वही समानता बरती होती जिसे वे अपने सवर्ण धर्म-बन्धुओं के साथ बरता करते हैं, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का रूप कुछ और होता और दोनों जातियों के लोग, धर्म के धरातल पर अलग रहते हुए भी, समाज और संस्कृति के धरातल पर एक हो गये होते। इसलिए, हमारा, विचार है कि जब तक हिन्दू छुआछूत की प्रथा में विश्वास करता रहेगा, तब तक उसे यह नैतिक साहस ही नहीं होगा कि वह अपने मुस्लिम या ईसाई दोस्त को अपने घर ले जा सके और उसके साथ इज्जत का व्यवहार कर सके। और इसीलिए, जब तक हिन्दू नहीं सुधरता, किसी दूसरे के सुधर जाने से हिन्दू-मुस्लिम-एकता नहीं बढ़ेगी। यह देश हिन्दुओं का है। हिन्दू यहाँ बहुत बड़ी बहुसंख्या में बसते हैं। अतएव, वे यदि दुःशील व्यवहार को धर्म समझते रहे, तो इसकी प्रतिक्रिया अल्पसंख्यकों में जगेगी ही और वे एकता की ओर बढ़ने में त्रास, आशंका, अपमान और सन्देह से बाधित होते रहेंगे। इसलिए, हिन्दू-मुस्लिम-एकता की पहली शर्त यह है कि हिन्दू छुआछूत की भावना का सर्वथा त्याग कर दें।

हिन्दुओं का सामाजिक चरित्र जितना कट्टर है, उतना ही कठोर मुसलमानों का मानसिक विश्वास है। कट्टरता मुसलमानों के आचार में नहीं, उसके धार्मिक विश्वास में होती है। शताब्दियों से मुसलमान अपने धर्मगुरुओं से यह सुनता आया है कि जो देश इस्लामी कानूनों के अनुसार नहीं चलता हो, उसे दारुल-हरब समझो, शत्रुओं का देश समझो और ऐसे देश में प्रच्छन्न विद्रोही बन कर निवास करो। आज भारत में ऐसे मुसलमान हैं या नहीं जो इस देश को दारुल-हरब समझते हैं, यह बताना आसान नहीं है। शायद, थोड़ी-बहुत संख्या में वे आज भी होंगे। किन्तु, उन्नीसवीं सदी में अँगरेजी शासन के खिलाफ यह नारा भारत में भी लगाया गया था। उदारता और बुद्धिवाद ने जैसे हिन्दुओं की छुआछूतवाली भावना को काफी कमजोर कर दिया है। वैसे ही उसका प्रभाव मुसलमानों के भी मन पर पड़ा है और वे भी दारुल-हरब वाले सिद्धान्त के खोखलेपन को थोड़ा-बहुत समझ रहे हैं। किन्तु, धर्म और स्वदेश-प्रेम के बीच एकता बिठाने में मुसलमानों को कठिनाई केवल भारतवर्ष में ही नहीं, कुछ अन्य देशों में भी हुई है और उस कठिनाई के निशान अभी भी बहुत-कुछ शेष हैं। अतएव, हिन्दू-मुस्लिम एकता की दूसरी शर्त यह है कि भारत के मुसलमान अपनी

धर्म-भक्ति और स्वदेश-प्रेम के बीच सामंजस्य बिठायें और इस आशंका को निर्मूल कर दें कि उनकी स्वदेश-भक्ति और धर्म-भक्ति के बीच पूरी एकता नहीं है। अमीर खुसरो ने कहा था कि खुद नबी की आज्ञा है कि तुम्हारा स्वदेश-प्रेम तुम्हारी धर्म-भक्ति में शामिल रहेगा। खुसरो की इस उक्ति की सचाई कई देशों के मुसलमानों में प्रत्यक्ष देखी गयी है। भारत के मुसलमान के आगे भी वही राह है।

किन्तु, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या से भी बड़ी एक और समस्या है, जो पिछले पाँच-सात वर्षों से दिखायी देने लगी है। गोल-मटोल ढंग पर इस समस्या का रूप यह है कि क्या भारत एक रह पायेगा? यह प्रश्न इसलिए पूछा जा रहा है कि भारत में उच्छेदकारी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं और लोग अपने छोटे स्वार्थों के सामने बड़े स्वार्थों की कीमत घटाने की तैयारी में लग गये हैं।

भाषा को लेकर देश के भीतर भयानक द्वन्द्व है। प्रान्तीय धरातल पर इस द्वन्द्व के प्रमाण असम और पंजाब में देखे गये हैं। किन्तु, राष्ट्रीय धरातल पर यह द्वन्द्व हिन्दी और अँगरेजी के बीच है।

इसी प्रकार प्रान्तीयता, जात-पाँत, गोत्रवाद, दलबन्दी और केन्द्रीय नियन्त्रण के विरुद्ध बेचैनी और मन्द विद्रोह के भाव सारे देश में दिखायी दे रहे हैं। इन विच्छेदकारी शक्तियों पर ध्यान कुछ विदेशियों का भी गया है। मिस्टर एस०एस० हरीसन नामक अमेरिकी लेखक ने अपनी सनसनीखेज पुस्तक "इण्डिया, द मोस्ट डैंजरस डिकेड" में इन सारी शक्तियों पर बड़ी ही योग्यता से विचार किया है और कहा है कि "सारी प्रवृत्तियाँ यही बतलाती हैं कि स्वाधीनता का बचना मुहाल है और इस भयानक दशक में सब से अहम सवाल यह हो उठा है कि भारतीय राज्य नामक कोई चीज आखिर बचेगी भी या नहीं।" हरीसन का यह भी विचार है कि यदि भारतीय राज्य विघटित हो गया, तो सारा देश क्षेत्रीय राज्यों में बँट जायगा और तब इस सारे उप-महादेश का नियन्त्रण साम्यवादी करेंगे। एक अन्य लेखक ('सोल आव् इण्डिया' के लेखक रीनकोर्ट) ने यह कल्पना लड़ायी है कि यदि किसी प्रश्न पर भारत की एकता टूट गयी तो उत्तर भारत में पूँजीवाद और दक्षिण भारत में साम्यवाद का बोलबाला होगा, जैसे कोरिया में हुआ है।

ये प्रश्न बड़े भयानक हैं और कोई भी भारतीय इन सवालों को सुन कर विचलित हुए बिना नहीं रह सकता। शायद, इन प्रश्नों पर तटस्थतापूर्वक विचार भी विदेशी लोग ही कर सकते हैं। हम भारतीयों में से हर एक भारत को एक रखना चाहता है। गलत काम हम जरूर करते हैं, लेकिन, गलतियाँ करने के बाद हमें शर्म भी होती है। हम पश्चात्ताप भी करते हैं। पता नहीं, आगे चलकर विजय पश्चात्ताप की होगी अथवा उन संकीर्ण भावनाओं की जो हमसे देश का अहित करवाती हैं। किन्तु, अभी तो यह ठीक है कि सारे भारत की जनता एक रहना चाहती है। तब भी, हम भारतवासी, सचमुच ही, बड़े संकट में गिरफ्तार हैं। पिछले सौ वर्षों से हम यह सोचते आ रहे थे कि जब भारत स्वाधीन होगा, हम भारत की ही किसी भाषा को

अपनी अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनायेंगे। वह भाषा भारत की एकता को पुष्ट बनायेगी; क्योंकि अँगरेजी सीखने की अपेक्षा किसी भारतीय भाषा का सीखना अधिक सुगम कार्य होगा। हर प्रान्त अपनी भाषा में चलेगा और सभी प्रान्तों के आपसी व्यवहार की भाषा हिन्दी होगी। इसी हिन्दी के जरिये हम अखिल भारतीय नेता तैयार करेंगे और इसी हिन्दी के जरिये हमारा राष्ट्रीय मंच भी विस्तृत होगा। किन्तु, अब सन् १९६२ई० में आकर देश अलसा रहा है और लोग यह सोचने लगे हैं कि अँगरेजी ही भली है, क्योंकि वह तटस्थ भाषा है।

तटस्थ होने पर भी अँगरेजी भली नहीं हो सकती। मुख्य कारण यह है कि हिन्दी सिखाने की कोशिश बहुत कम की गयी और अब देश को आलस्य पकड़ रहा है। आलस्य पहले आया और देश ने अँगरेजी की तटस्थता का बहाना बाद को पकड़ा है। किन्तु, यह तो है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित नहीं करके हम संसार के सामने यह बात स्वीकार कर रहे हैं कि हमारा राष्ट्रीय जोश ठंढा हो रहा है। और राष्ट्रीयता की गर्मी घटी तो राष्ट्रीय एकता की शक्ति आप-से-आप क्षीण होगी। हिन्दी वह बैरोमीटर है, जिसमें हम अपनी राष्ट्रीय भावना का उतार और चढ़ाव प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

भारत की एकता और भारत की स्वतन्त्रता एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। अगर एकता खिड़की हो कर चली गयी, तो स्वतन्त्रता सदर दरवाजा खोल कर भाग जायेगी। इसलिए, सभी भारतवासियों का पहला कर्त्तव्य यह है कि वे प्राणपण से अपनी राष्ट्रीय एकता की रक्षा करें। हिन्दुस्तान हिन्दी से कहीं महान् है। वह अपनी समस्त भाषाओं से भी बड़ा और विशाल है। एकता की रक्षा के लिए यदि हमें अपमान सहना पड़े, तो उसे सह लेना चाहिये। एकता की रक्षा के लिए यदि हमें अन्याय सहना पड़े, तो हम अन्याय को भी सहेंगे। यह सब इसलिए सहना है कि भारत की एकता जब पुष्ट और बलवती हो जायगी, तब हमारा अपमान कोई नहीं करेगा; तब देश का एक भाग किसी दूसरे भाग के साथ अन्याय करना भी भूल जायेगा। हमें यह याद रखना है कि हम गरीब हैं और गरीबों के पारिवारिक झगड़े कुरूप हुआ करते हैं। जब हमारी गरीबी दूर हो जायगी, हमारे झगड़े भी खत्म हो जायँगे अथवा वे अगर बने रहे, तब भी, उनमें आज की-सी कटुता नहीं रहेगी।

एकता की रक्षा के साथ-साथ हमारा दूसरा प्रधान कर्त्तव्य यह है कि हम भारत के उस रूप को उभारने की कोशिश करें, जिसे प्रत्यक्ष करने को वह स्वाधीन हुआ है। स्वाधीनता केवल रोटी का पर्याय नहीं है। स्वाधीनता केवल कल-कारखाने स्थापित करने की योग्यता नहीं है। स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आत्मा की वह स्वतन्त्रता, मानस की वह निर्बन्धता है, जिसके कारण राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करता है। जिसके सामने रोटी नहीं है, उस व्यक्ति या समाज के आगे दर्शन परोसना निर्दयता का काम है। भारत कंगाल है। भारत अभावों से ग्रस्त हो कर आज भी तड़प रहा है। उसके शिक्षित नवयुवकों को रोजगार नहीं मिलते। उसके

गाँव पशुओं की जिन्दगी बिता रहे हैं। और सबसे भयानक बात तो यह है कि भारत में जनसंख्या बेतहाशा बढ़ती जा रही है। ये सारे रोग तभी घटेंगे जब देश का आधिभौतिक विकास होगा। इसलिए, कल-कारखानों की महिमा पूरी तरह से गायी नहीं जा सकती। बहुत बड़ी अमीरी का स्वप्न भारत नहीं देखता। किन्तु, जो न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्त्ति रातों-रात हो जाय, यह सब की अभिलाषा है।

किन्तु, आधिभौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति मात्र से भारत का आन्तरिक व्यक्तित्व नहीं उभरता और आधिभौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के हित में यदि भारत के आन्तरिक व्यक्तित्व का दलन आवश्यक समझा गया, तो वैसी योजना का भारतीय जनता साथ नहीं देगी। भारत वह देश नहीं है, जो समृद्धि के लोभ में अपने व्यक्तित्व का त्याग करे। भारत वह देश नहीं है, जो वैज्ञानिक सभ्यता की दीक्षा लेने के बदले अपना इतिहास नीलाम करने को तैयार हो।

भारत कोई नया देश नहीं है। जिस भाषा में उसकी संस्कृति का विकास हुआ, वह संसार की सबसे प्राचीन भाषा है। जो ग्रन्थ भारतीय सभ्यता का आदि-ग्रन्थ समझा जाता है, वही समग्र मानवता का भी प्राचीनतम ग्रन्थ है। विदेशियों के द्वारा बार-बार पद-दलित होने पर भी भारत अपनी संस्कृति से मुँह मोड़ने को तैयार नहीं हुआ। अब जो वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता आ रही है, वह भी भारत से उसके अतीत का प्रेम नहीं छीन सकेगी। सत्य केवल वही नहीं है, जो पिछले दो सौ वर्षों में विकसित हुआ है। उस ज्ञान का भी बहुत-सा अंश सत्य है, जिसका विकास पिछले छह हजार वर्षों में हुआ है। भारत को वह नवीन सत्य भी चाहिये, जो शारीरिक समृद्धि को सम्भव बनाता है, और प्राचीन काल का वह सत्य भी जो शारीरिक समृद्धि के लिए आत्मा के हनन को पाप समझता है।

ये बातें अनेक देशों में बोली जा रही हैं, किन्तु, उन देशों की जनता उन्हें कहाँ तक यथार्थ समझती है, यह आसानी से समझा नहीं जा सकता। किन्तु, भारतीय जनता के समक्ष ये ही बातें यथार्थ हैं। इस देश की जनता को आज भी जितनी तड़प स्वच्छ, शुद्ध और न्यायप्रिय शासन के लिए है, उतनी तड़प सुख और समृद्धि के लिए नहीं है। स्वराज्य के बाद से भी भारतीय जनता ने जितनी दिलचस्पी सांस्कृतिक कार्यों में ली है, उतनी वह विविध योजनाओं में नहीं ले सकी। भारत के प्रधान मन्त्री ने बार-बार कहा कि जहाँ भी कोई कारखाना खुलता हो, वह स्थान हमारे लिए तीर्थ है। किन्तु, जनता तीर्थ आज भी काशी, द्वारका, रामेश्वरम् और जगन्नाथपुरी को ही समझती है। और जनता को यह जानने की भी इच्छा बहुत कम है कि जवाहरलाल देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए क्या कर रहे हैं। इससे अधिक जनता यह जानना चाहती है कि पण्डितजी आस्तिक हैं या नास्तिक तथा परलोक के बारे में उनकी मान्यता क्या है।

जब से विज्ञान का उदय हुआ, संसार के अधिकांश देशों में अतीत और वर्त्तमान के बीच संग्राम-सा छिड़ गया और अधिकांश देशों में आज अतीत पराजित और वर्त्तमान

सत्तासीन है। केवल भारत ही एक देश है जहाँ अतीत आज भी युद्ध कर रहा है। यह संग्राम भारत में पिछले डेढ़ सौ वर्षों से चल रहा है। लेकिन, भारत का अतीत आज भी न तो दुर्बल है, न क्लान्त। भारत का अतीत हमेशा वर्त्तमान को अपनी बाँहों में समेट कर भविष्य की ओर बढ़ने का आदी रहा है। आज भी वह अपने सनातन धर्म की राह पर है। रामकृष्ण और विवेकानन्द, तिलक और अरविन्द, ये सभी महापुरुष अतीत के पक्षधर थे, जो वर्त्तमान को समेट कर भविष्य की ओर बढ़ने की शिक्षा दे गये हैं। महात्मा गाँधी सबसे पहले अतीत की आवाज थे। आचार्य विनोबा भावे अतीत की ऐनक से वर्त्तमान और भविष्य को देख रहे हैं। स्वयं रवीन्द्रनाथ नवीन होते हुए भी प्राचीनता के सबसे बड़े प्रतीक थे। अपनी पहली अमेरिकी यात्रा में उन्होंने अपने आतिथेयों से कहा था, "अफसोस की बात यह है कि तुम यह भी नहीं जानते कि तुम दुःखी हो।" और अपनी एक अन्य अमेरिकी यात्रा में उन्होंने यह कहा था कि "पश्चिमी सभ्यता की आत्मा मशीन से बनी है। यह मशीन बराबर चलती रहती है और बराबर अपनी गति को कायम रखने के लिए वह मनुष्यों का उपयोग इंधन के रूप में करती है।"[1]

भारत के मन को नवीन बनाने की दिशा में सबसे अधिक काम पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया है। जब उनकी राजनैतिक सफलताओं की कहानी धुँधली पड़ जायगी, तब भी, आगे का इतिहासकार यह बराबर लिखेगा कि भारत के मन को झकझोर कर उसे नवीन बनाने की जितनी तड़प जवाहरलाल में थी, उतनी किसी और नेता में नहीं थी। किन्तु, सुस्थिर क्षणों में अतीत की महिमा का ध्यान जवाहरलालजी को भी होता है और वे भी यह महसूस करते हैं कि भारत का अतीत यदि नष्ट हो गया, तो भारत का कोई भी गुण शेष नहीं रहेगा। "मैं अक्सर यह सोच कर हैरान रह जाता हूँ कि हमारी जाति कहीं बुद्ध, महाभारत, रामायण, गीता और उपनिषदों को भूल जाय तो उसका क्या हश्र होगा? हमारी जड़ें उखड़ जायेंगी, हम अपनी उन सारी बुनियादी खूबियों को खो देंगे, जो युगों से हमारे साथ चली आ रही हैं और जिनके कारण दुनिया में हमारी हैसियत बनी हुई है। तब भारत भारत न रह सकेगा।"[2]

राममोहन राय से ले कर विवेकानन्द, गाँधी, विनोबा, राधाकृष्णन और जवाहरलाल तक हमारे सभी नेता और चिन्तक जिस एक बात पर जोर देते आये हैं वह यह है कि भारत की सफलता इस बात में है कि वह पुरातन और नवीन के बीच समन्वय का सन्धान करे। पश्चिमी ज्ञान का जो श्रेष्ठ अंश है, उसका सामंजस्य हम अपने प्राचीन ज्ञान से बिठाना चाहते हैं। एक हाथ में धर्म का कमल और दूसरे में विज्ञान की मशाल, यही वह कल्पना है जिसे चरितार्थ करके भारत अपने ध्येय में सफल हो सकता है। और यही वह कल्पना है जिसके किए सारा संसार किसी रहस्यात्मक आशा से भारत की ओर देख रहा है। पश्चिम ने विज्ञान को पा कर जिस चीज को खो दिया;

---

[1] टैगोर एण्ड अमेरिका; लेखक—जे०एल० डीस।

[2] भारत आज और कल; लेखक—जवाहरलाल नेहरू।

भारत अगर विज्ञान के साथ उस वस्तु को भी कायम रख सके, तो इससे कल्याण केवल भारत का ही नहीं, सारे संसार का हो सकता है। संसार आज भी भारत के अतीत का प्रेमी है, उनके वर्त्तमान का नहीं। संसार आज भी जनक, बुद्ध, अशोक और गाँधी की वन्दना करता है। जवाहरलाल संसार को इसलिए प्यारे नहीं हैं कि वे दरिद्र, अशिक्षित, आलसी और असमर्थ देश के नेता हैं, बल्कि, इसलिए कि वे बुद्ध, अशोक और गाँधी के उत्तराधिकारी बन कर खड़े हुए हैं। भारत की वैदेशिक नीति वही हो सकती थी, जिसकी परिभाषा जवाहरलाल ने तैयार की है। युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर भारत का इतिहास वही कुछ बोल सकता था, जो जवाहरलाल के मुख से सुनायी दे रहा है। तो भारत अपने ध्येय को किस मार्ग से प्राप्त कर सकता है? मार्ग एक नहीं, अनेक हैं। असल में, मार्ग उतने ही हैं जितने भारतवर्ष में मनुष्य बसते हैं। गाँधी-मार्ग कहने को ही एक सुनिश्चित मार्ग है। अन्यथा, जब तक भारत का प्रत्येक व्यक्ति यह नहीं समझता कि उसके अपने वैयक्तिक चरित्र से ही सारे राष्ट्र का चरित्र बनता या उन्नत होता है, तब तक भारत उस ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता, जिसे प्राप्त करने को वह स्वाधीन हुआ है। हर आदमी अगर अपने घर के पास की जमीन को बुहार दे, तो सारा गाँव स्वच्छ हो जायगा। हर हिन्दुस्तानी यदि अपने चरित्र को ऊँचा उठा दे तो सारे भारत का चरित्र उन्नत हो जायगा। भारत की उन्नति का वही मार्ग है, जिसे गाँधीजी बता गये हैं।

लेकिन, गाँधीजी यह भी बता गये हैं कि भारत अपनी बात तब तक नहीं बोल सकेगा, जब तक वह अँगरेजी में शिक्षा ग्रहण करता और अँगरेजी में ही काम करता है। सन् १९२०ई० में जब गाँधीजी की प्रेरणा से राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई, उस समय कई विषयों के पाठ्यग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध नहीं थे। गाँधीजी ने कहा, "शिक्षक बिना ग्रन्थ के पढ़ायें।" जब तक अँगरेजी की नाव हमारे घाट पर बँधी है, हम अपनी भाषाओं की उपेक्षा करते ही जायेंगे। भारत के आध्यात्मिक उद्धार का रास्ता यह है कि अँगरेजी का अवलम्ब छोड़ कर हम अपनी भाषाओं में कूद पड़ें।

अँगरेजी यदि भारत की शिक्षा और शासन का माध्यम बनी रही, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत भारत नहीं हो कर इंग्लैण्ड और अमेरिका का सांस्कृतिक उपनिवेश बना रहेगा। भारत भारत बने, इसकी पहली शर्त यह है कि वह स्कूलों, कालेजों और शासन के दफ्तरों से अँगरेजी को एकबारगी विदा कर दे। यदि यह काम देश के लिए कठिन है तो फिर यह भी कठिन होगा कि भारत अपनी उन अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सके जिन्हें उसने पिछले छह हजार वर्षों में अर्जित किया है अथवा संसार के समक्ष वह अपने उन गुणों का प्रकाश करे, जो उसके व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं।

ज्ञान की भाषा के रूप में अँगरेजी इस देश में हमेशा रखी जा सकती है, क्योंकि बाह्य विश्व की ओर वह हमारे वातायन का काम देती है; नली बन कर वह विश्वज्ञान को हमारी भाषाओं के जलाशयों में पहुँचाती है और सभ्यता की धारा के साथ हमें मिलाये रहती है। किन्तु, शिक्षा और शासन के माध्यम-पद पर से उसे हटाये बिना

हम अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकेंगे। इस महत् कार्य में जो भी विलम्ब होता है, वह इस देश के आध्यात्मिक उद्धार के कार्य में विलम्ब है। यदि अँगरेजी इस देश की राजभाषा बनी रही, तो भारत अपने मूल से छिन्न हो कर नकली इंगलिस्तान बन जायगा। अपने प्राचीन सत्य से वह दूर चला जायगा और उसके पास वे साधन नहीं रहेंगे, जिनसे वह प्राचीन और नवीन सत्यों के बीच समन्वय कर सके।

संसार भारत से जिस चीज की आशा लगाये हुए है, राममोहन से लेकर गाँधी और जवाहरलाल तक सभी नेता जिस कल्पना का पोषण करते आये हैं, और भारत का निकटवर्ती तथा दूरवर्ती इतिहास जिस लक्ष्य की ओर बढ़ता आया है, उसकी सिद्धि और प्राप्ति का केवल एक मार्ग है कि भारत तुरन्त अँगरेजी को छोड़कर अपनी भाषाओं में आ जाय।

कुछ भारत-हितैषी अँगरेज और अमेरिकी विद्वान् भारतवासियों को यह सलाह दे रहे हैं कि तुम्हारा कल्याण इस में है कि तुम अँगरेजी में बने रहो नहीं तो तुम्हारी एकता टूट जायगी। ऐसे परामर्श, शायद, इसलिए दिये जाते हैं कि उनसे भारत की ऊपरी एकता भी बचती है और इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के लोग भारत के मन और भावना का नियन्त्रण भी कर सकते हैं। किन्तु, जिस बात पर से अँगरेजी के भक्तों का ध्यान हट गया है, वह यह है कि भारत में सब कुछ खत्म नहीं हुआ है। अभी बहुत-सी बातें उभरने के क्रम में हैं। देह के धरातल की क्रान्ति, शायद, खत्म हो गयी, किन्तु, मन, विचार और भावना के धरातल पर अभी कितनी ही चीजें धुँधुआ रही हैं। असली क्रान्ति भारत में तो बस अब शुरू हुई है। सन् १९४७ई० में अँगरेज जब भारत से जाने लगे, तब सत्ता और अधिकार उन्होंने उन हिन्दुस्तानियों को सौंपा, जो अँगरेजी जानते थे। अँगरेज अभी भी भारत में काफी व्यापार कर रहे हैं और अँगरेजी जाननेवाले भूरे साहबों से उनकी साँठ-गाँठ भी खूब है। किन्तु, इस वर्ग के खिलाफ जनता में भारी असन्तोष है। जनता और कुछ पाने के पहले अपनी भाषाएँ पाना चाहती है। कल्याण का मार्ग यह है कि अँगरेजी में शासन चलानेवाले लोग यह मान लें कि यह देश, मुख्यतः, उस जनता का है जिसके बच्चे अच्छी अँगरेजी नहीं सीख सकने के कारण सत्ता, अधिकार और अच्छे पदों पर नहीं जा सकते। यदि स्वेच्छया उन्होंने जनता के साथ न्याय नहीं किया तो एक दिन वह भी आनेवाला है जब जनता अँगरेजी और अँगरेजियत में फँसे साहबों की गद्दी छीन लेगी।

प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति, अपने-आप में पूर्ण होती है। उसके सभी अंश, उसके सभी पहलू एक दूसरे पर अवलम्बित और सब-के-सब किसी एक केन्द्र से संलग्न होते हैं। संस्कृतियाँ जब बदलती हैं, तब खान-पान, रहन-सहन, पोशाक और परिच्छद भले ही बदल जायँ, किन्तु, मन उनका नहीं बदलता, सोचने की पद्धति उनकी नहीं बदलती और जीवन को देखनेवाला दृष्टिकोण उनका एक ही रहता है। विशेषतः, भारत-जैसे प्राचीन देश को यदि कोई दबा कर उसे अमेरिका या यूरोप बनाना चाहेगा तो इस दबाव का परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा। कल्याण इसमें है कि शासक उस

दिशा को पहचान लें, जिस दिशा का संकेत भारत के दूर और सन्निकट इतिहास से मिलता है। राममोहन, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, रवीन्द्र और गाँधी को उस दिशा का पूरा ज्ञान था। इसीलिए, जनता ने उन्हें अपना उद्धारक समझा ; इसीलिए, भारत के इतिहास ने उनका साथ दिया। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई उसी दिशा की ओर मुँह करके लड़ी थी। इसीलिए, उसकी विजय हुई। अब यदि हम उस दिशा की ओर से मुँह फेर कर केवल सुविधा के लिए अपनी भाषाओं को छोड़ देंगे, केवल समृद्धि के लोभ में आकर अमेरिका और इंग्लैण्ड की नकल करेंगे, तो निश्चय ही भारत का रहा-सहा व्यक्तित्व भी विनष्ट हो जायगा, जो नाना संघर्षों में भी अब तक शेष रहा है।

यदि जनसंख्या की वृद्धि रोकी जा सकी और कल-कारखानों की योजनाएँ सफल होती रहीं, तो रोटी भारत को भी मिल जायगी, इसमें सन्देह की गुंजाइश हमें नहीं दीखती। किन्तु, यदि भारत का इतिहास सत्य है तो, गरीबी पर लगाम लगते ही, इस देश में एक विचारधारा प्रकट होनेवाली है, जो यह बतायेगी कि मनुष्य का कल्याण इसमें नहीं है कि उसकी आवश्यकताएँ अनन्त हों, बल्कि, इसमें कि उसकी जरूरतें थोड़ी हों ; सर्वोत्तम समाज वह नहीं जिसका लक्ष्य समुचित समृद्धि की उपलब्धि है, बल्कि, वह जो वाजिब गरीबी को अपना ध्येय मानती है। जरूरत की सारी चीजें मनुष्य को तुरन्त चाहियें, लेकिन, फालतू जरूरत या जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नहीं चाहियें। भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की नवीन संस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिए स्वेच्छया अमीरी का त्याग कर सकता हो। व्यापार पर पहरा देने के लिए सारी रात टेलीफोन सुननेवाला सेठ, धन-संचय की चिन्ता में खाद्य-सामग्रियों और दवाइयों में मिलावट करनेवाला सौदागर, अनावश्यक चिन्ताओं और व्यर्थ की दौड़धूप से थके शरीर को शराब से सींचनेवाला अमीर और हर औरत से मुहब्बत बढ़ाने की लालसा से पागल बूढ़ा या नौजवान ये सब-के-सब उस सभ्यता के स्वाभाविक परिणाम हैं, जो विज्ञान की सहायता से उत्पन्न हुई है। विज्ञान को अंगीकार करके भी भारत अगर इन दोषों से बचना चाहता है तो उसका सबसे बड़ा उपाय यह है कि वह अपना ध्यान उचित प्रकार की निर्धनता पर केन्द्रित करे। सन्तोषी नौकरों को मालिक की बहुत ज्यादा खुशामद नहीं करनी पड़ती। विज्ञान भी हमारे वश में तभी रहेगा जब हम यह मान कर चलें कि विज्ञान से हमें अपनी वाजिब जरूरतों की पूर्त्ति में सहायता लेनी है। जो जरूरतें टाली जा सकती हैं उन्हें टाल देना ही श्रेष्ठ है बनिस्बत इसके कि उन नकली जरूरतों को पूरा करने के लिए हम विज्ञान की खुशामद करें अथवा उसकी दासता स्वीकार कर लें।

●●●

अनुक्रमणिका

अंगकोर : दूरपूर्व की हिन्दू राजधानी, —के भग्नावशेष, २२३,—की कला, ४१५

अंगद : दूसरे सिक्ख गुरु : ४०४

अंग्रेजी : भाषा : ३१

अंडमन : ३२, ३३

अइहोवा : ४१५

अकबर : २७५, ३१८-१९, ३३७, ३४४, ३४८, ३५०, ३५१ पा.टि. भी, ३५२, ३५५-५६ पा.टि. भी, ३५८, ३९५, ४२१, ४५५, ४५८-५९, ४६४-६६, ४७५, ६६७, ६८६, ७१०, ७२४-२६, —और ईसाइयत, ४९१ ;—और औरंगजेब, ४००-१ ;—और चित्र-कला, ४१६, ४१९ ;—और सामासिक संस्कृति, ४६३ ;—और स्थापत्य, ४२९;—का एकता-प्रयास और असफलता, ३९१-४०१,—हिन्दी सोरठा, ३५२ पा.टि.,—की उदारता, ३४६ ; —के पूर्व चित्र शैली ईरानी, ४१७, —काल की असुविधा हिन्दुओं को अंग्रेजी राज़ में भी, ३९६-९७ ;—काल में फारसी राजभाषा, ४४५ ;—द्वारा कुरान के कला-निषेध का खण्डन, ४१७ ;—द्वारा जैन धर्म की सहायता, १५९ ;—द्वारा समुद्र में नाव भेजने के लिए पुर्तगालियों से परवाना, ४८४ ; —धर्म बदलने वालों से घृणा, ३९३ ; —पक्का इस्लामी, ३९४ ;—पर हिन्दू प्रभाव, ४७३

अकबर इलाहाबादी : २७६, ४६०, ४९३, ६७५ पा.टि., ७१८

'अकबरनामा' : ४१९

अक्का : उत्तर असम के किरात : ५३

अगस्त्य : ६४, ६७, २२२,—उत्तर दक्षिण के सेतु,—आश्रम,—ऋग्वेदोल्लिखित,—ने समुद्र पिया,—दक्षिण-दिगीश,—तारा : ६५ ;—के समय समस्त भारत की एक संस्कृति, ६७ ; —का दक्षिण से नाता : ६४-६७

'अगस्त्यम्' : व्याकरण : ६५

'अगहन-माहात्म्य' : ४६५

अग्नि : ६०

'अजायबुल हिन्द' : ४६२

अजित केस-कम्बल : १७४ ;—का जड़वाद, १३६

अछूत : कम-अधिक ; ७९,—मानने का कारण हिंसा, बौद्ध जैन प्रभाव, ८०

'अत्रि-संहिता' :—जन्म से ब्राह्मण, संस्कार से द्विज : ८५

अत्तार, फ़रीदुद्दीन : ३०७

'अथर्ववेद' : ५३, ५८, ६१, १२०, ३४४, ५९३

'अथर्ववेद-संहिता' : ६१

'अद्भुत-कोष' : 'हिन्दू' की वीरतामयी परिभाषा : ११३

'अद्भुत रामायण' : १०६

'अध्यात्म रामायण' : १०६, ३८३

'अनङ्ग दर्पण' : ४३६ पा. टि.

'अनर्घ राघव' : रामकथा-प्रसङ्ग : १०६

'अनवार सुहेली' : ४१९

अनसारी, डॉक्टर : ७१०, ७१६

'अनहैप्पी इण्डिया' : २१७

'अनामकं जातकं' : १८३

अनाम : ३५ पा.टि. भी, ५१

'अनासक्ति-योग' : २०२

अनीस : ३५३, ४६०

अनुलोम विवाह : ७वीं सदी ई० तक अनिन्दित, ७७ ;—और प्रतिलोम से जातियाँ बढ़ीं, ७८, ८१ ;—और प्रतिलोम से २०९ जातियाँ : ८१ ;—उत्तर पौराणिक युग में निन्दा, महाभारत-काल में खूब प्रचलित : ८२

अन्तर्जातीय विवाह : ८१-८३

अन्ध विश्वास : आग्नेय-तत्त्व : १०८

अप्पय दीक्षित : ६९

अफ़लातून (प्लेटो) : २१२, २१४, ३०३, ३०५, ६९४ ;—पर भारतीय प्रभाव : २१०-१२
अफ्रीका : २७-२९, ३८, ८१
अफ़ीफ़ : ३२९
अबुल अरा : ३०१-२
अबुलकलाम आज़ाद, मौलाना : ७१०, ७१६-१७
अबुल फ़ज़ल : ४१८-१९,—अकबर का समर्थक : ३९२
अबुल हसन तानाशाह : ४५४
अबोर : उत्तर असम के किरात : ५३
अब्दुस्समद (ईरानी चित्रकार) : ४१८
अब्दुर्रहमान (पहला हिन्दी-कवि) : ४३४
अब्दुल वहाब, मुहम्मद इब्न : ६६५-६७, ६६९-७०
अब्दुल हक़ : ४६१-६२
अब्दुल हकीम, डॉ. ख़लीफ़ा :—सूफ़ी-विश्वास: ३०८,—की 'इक़बाल ऐज़ ए थिङ्कर' : ३०६ पा.टि.
अब्दुल्लाह इराक़ी : ४६२
अब्द्रुस्सफ़री : को अकबर का पत्र : ३९२
'अभिधर्म कोष' : ३६२
'अमरकोष' : ९७
'अमरुकशतक' : ४२९
अमीर अली : ६८३-८४, ६९१, ७००
अमीर खुसरो : देखिये "खुसरो"
'अमृत बाज़ार पत्रिका' : ५६५
अमेरिका : ८०, ८१;—में गोरों द्वारा कालों की हत्या : ८१
अम्बट्ठसुत्त : १४५
अम्बष्ठ माणवक : १४५
अम्बेदकर, डॉ. : ७३, ७४, ७७;—के अनुसार आर्यों का रङ्ग दासों से अभिन्न : ७३,—के अनुसार शूद्र भी द्विजत्व के अधिकारी ७७,
'अयारे-दानिश' : ४१९
अयोध्या : १०३-५, —रामकथा में प्रसिद्ध, मोक्षदा नगरी : ८९
अरविन्द, महर्षि : ८७ पा.टि., ५५९, पा.टि. भी, ५८६, ६०७-१६, ६१८ पा.टि., ६१९-२२, ६२४, ६२९; ६४९-५१, ७३१;—अतिमानव का स्वप्न, ६१५-१६;—और गाँधी जी, ६२७-२९; —और रामकृष्ण तथा विवेकानन्द, ६०८-९;—और संश्लिष्ट योग, ६१६; —की अतिमानस की कल्पना, ६१०-११;—के प्रसङ्ग में राधाकृष्णन, ६४९-५१,
अरस्तू : दासों के विषय में : ७७
'अरेबियन नाइट्स' : ४३१;—पर भारतीय प्रभाव, २१४
अर्जुन : ८१, १०५;—महाभारत में किरात-वेशी शिव से युद्ध, ५३;—नर-ऋषि, ९८;—धार्मिक-नेता, ९९
अर्जुन (चित्रकार) : ४१२
'अर्थशास्त्र' : ६४,—में मन्नार की खाड़ी (द. भा.) के ताम्रपर्णिक मोती, ६४;—में असमय संन्यासियों और संन्यास-प्रेरकों के लिए दण्ड-व्यवस्था, १८० पा.टि.,
'अर्धकथानक' : ४०० पा.टि.,
'अर्ली हिस्ट्री आव वैष्णविज्म इन साउथ इण्डिया' : ३७६ पा.टि., ३७७ पा.टि.;
अल-अमर्ना : ४९
अल-असारी : २१३
अल-किन्दी : २१३
अल-नदाम : २१३
अलबूक़र्क़ : ४८५
अलबैरूनी : ११५, २१३, २७४; ३१८, ३२२, ३२५;—आक्रामक सेना के साथ, हिन्दुओं का प्रशंसक : ११५
अली आदिलशाह : ४५७
अली इलाहिया सम्प्रदाय : ४१४
अलूरा : ४६२
'अल्लोपनिषद्' : १२२, २९२
अवतारवाद :—ब्राह्मण-ग्रन्थों में, १०४
'अवेस्ता' : ३५ पा.टि., ११२;—पारसी-जाति का प्राचीनतम ग्रन्थ : ५४,—का ऋग्वेद से साम्य : ५४-५५
अशअरी : ३६३
अशोक : ६४, ६७, १६६, १८७, २०२-३, २११, २१४, ३७०, ७३२;—का

राज्य मैसूर तक : ६४,—के अभिलेख, ५३;—के समय तक बौद्ध-धर्म अट्ठारह निकाय-विभक्त, १८९
श्वघोष : १७२पा.टि., १९५, २२४, ५१६,६०६;—द्वारा गोपाल-कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख; १००
श्वपति : १०२, १४५
श्वमेध : ७४, ९०;—का घोड़ा यजुर्वेद में 'गणपति,' ९५
श्विनीकुमार :४९,६०,७४,१४६;—देवताओं के वैद्य, पर शूद्र, सोम के अधिकारी नहीं, ७४
ष्टयाम : ४२७,४६५
ष्टाध्यायी': १२१
संग : ३६१;—की 'प्रज्ञापारमिता' :२४१
सबाबे-बग़ावते-हिन्द' : ६७४ पा.टि.
सभ्य जन : के देवी-देवता पशु-पक्षियों, प्रेत-पिशाचों जैसे; क्रूरकर्मा, नाग, शीतला, विनायक आदि ; ९६
सम : ३०,३२,३३,३४,५३,५४; उत्तर–के अक्का आदि किरात ;५३;—के वैष्णव, १०१
समी भाषा : ३१
'असरारे-ख़ुदी' : ६९१ पा.टि, ६९४ पा.टि., ६९७ पा.टि.
असुर : ३५—का अर्थ 'अवेस्ता'में देवता, ३५ ;—देवों से प्राचीन, ५९;—शैव,९४
अहमद,शेख़सरहिन्दी: (देखिये'सरहिन्दी')
अहमद, (सर) सैयद, (देखिये 'ख़ाँ (सर) सैयद अहमद' ।)
अहमद (हिन्दी कवि) : ३५३
अहिमंन : ५६
अहिंसा : ७०,९८, १०३,११४,१४१, १४२,१४३,१४४, १४५, १४६, १५२-५३,१८३-८४, २५८, ४७४-७५,६२३-२६ ;—और अकबर, ३९२-९३ ;—और क्षत्रिय जाति, १४४-४६ ;—और मुसलमान, ४७४-७५ ;—और श्रीकृष्ण, १४२ ;—का चरम जैनधर्म का अनेकान्तवाद, १५२-५३ ;—का प्रचार पू.भारत में बुद्धपूर्व, १४३-४४ ;—की परम्परा, १४१-४३ ;—के प्रतिपादन के लिए बौद्ध-साहित्य में पौराणिक-कथाएँ, १८३-८४ ;—जैन धर्माचरण में, १५२, १५३,१५४-—द्रविड़ों की देन,७०;—प्राग्वैदिक, बीज वेदों में, १०३, १४१ ;—बुद्ध के पूर्व तपस्वियों का धर्म, १४३ ;—हिन्दू का प्रधान लक्षण, ११४
४७.
अहुर : ३५ पा.टि., ५४, ५५ ;—मज़्द, ५१, ५६
आइन्स्टीन : ६०७
'आईने-अकबरी' : ४१८, ४६५
आग्नेय (औष्ट्रिक) : ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३७, १०८,१०९, १११ ;—जाति की प्रधानता प्राचीनतम, ३७ ;—की देन : १०८,—अंश रामायण में, १०९,—भाषाएँ भारत से दक्षिणी चीन तक, १०८ ; नया शब्द, १११, (देखिये 'औष्ट्रिक' भी ।)
आगम : ५८,५९,६१, ३६८, ३७५-७६, ३८३ ;—जैन और बौद्ध धर्मों के प्रेरक, ६१ ;—प्राग्वैदिक विधान,५८ ;—से ही निगम,—शिव-शक्ति-विष्णु-मुख से,—की परिणति भक्ति में, ५९
आगरकर : ५५०, ५५२,—और रानाडे तथा तिलक, ५४८-५०
आचार्य अकलङ्क : जैन : २५७
आज़ाद, मुहम्मद हुसैन, : २७४, ३१९, ३२०, ४६१
आज़ाद, मौलाना अबुलकलाम, : ७१०, ७१६, ७१७
आणमन्दि : हनूमान : १०४
आतिश : —हिन्दी ज़ुबाँ : ४६४ पा.टि.
आत्मा : १३४,१५१,१७९ ;—इस्लाम में,२९३;—जैन धर्म में,१५१;—के विषय में बुद्ध और उपनिषत्कारों के भाव भिन्न, १७०,१७१ ;—बौद्ध-धर्म में, १७१-७४
आत्मीय सभा : ५४०
आत्रेय वरदराज उदालि, (कृत रामायण पर 'विवेक तिलक') : ६८
आदित्य (पण्डित) : ३४४
आदि-ब्राह्म-समाज : ५४३
आदि-नीग्रो : २८

आदि-मानव (मनुष्य) : २७

आदिवासी : ३०,–बिहारी : ३१

'आदि-रामायण' : १०३ ;—का परिवर्द्धन कुशी-लव द्वारा, १०५,–पर शैव-प्रभाव नहीं, १०६

'आधुनिक हिन्दी कवि' : ४४२ पा.टि.

'ऑन द स्टडी ऑव् इण्डियन आर्ट' (आनन्दकुमार स्वामी) : ४२३पा.टि.

आनन्द (बौद्ध):१७७,१८१,१८९,६३२

आनन्दतीर्थ : ३७१, ३८८

'आनन्द भाष्य' : ३८२, ३८३

'आनन्द रामायण' : १०६

आपस्तम्ब : श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रकार, गोदावरी तटवासी; ६४,६८

'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र':७७, ८३;—आर्थिक कठिनाई में भी दासों-मजदूरों का वेतन पहले, ७७;—पति-पत्नी दोनों धन के स्वामी, ८३

'आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र' : ६८

आबरू :—की कविता, ४३९

'आबे-हयात' : ४६१

आभीर : २८,३२,८०,८८,१११,११५;–की देन श्रीकृष्ण की बाललीला,१०१

आयङ्गर, कृष्णस्वामी : ४०,६४;–तमिलनाडु में बौद्धों को प्रश्रय नहीं;६४

आयङ्गर, श्री पी.टी.श्रीनिवास, : प्राचीन आर्यों को दक्षिण का ज्ञान; ३९,४०

'आयडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ़' : ६५३ पा.टि.; ६५४ पा.टि.,

आयरलैंड : ३१

आयोनिया : ३३०,—से यूनान : २०९

आरबेरी,प्रो.ए.जे., : ('द मिस्ट्रीज़ ऑव् सेल्फ़लेसनेस') :४००पा.टि.,('द इस्लाम टुडे' और 'मुस्लिम्स इन इण्डिया') : ६६२ पा.टि.

आराकान : ५४

आर्थर वैले : २२६

आर्नाल्ड, सर एडविन : ५१६

आर्य : २८,२९,३०,३१,३२,३३,३४,३५,३६,३७,३८,३९,४३,४४,४५,४६,४७,४८,४९,५०,५१,५४,५५,५६,५८,५९,६०,६१,६२,६३,६४,६६,६७, ६९,७०,७१,७२,७३,७४,७५,७६, ७८, ७९,८१,८२,८६,८७,८८,८९,९१,९२, ९३, ९४,९५,९६,९७,१०४, १०७, १०९, ११०,१११, ११२,११४, ११५, ११६, १८६,२०९-१०, २८९;—अँगरेज़ी में सर्वप्रथम मैक्समूलर द्वारा प्रयुक्त, ४३;—अवसाद-मग्न, प्राग्वैदिक संस्कृति में पचे, ७२; —आरम्भ में भावुक, ९१; —भारतीयकृत, ११०;—आर्येतर विवाह, पूजा में रुचि, यज्ञ में नहीं, अतः नारी शूद्रवत्, ८२;—आर्येतर समन्वय राम-कथा से, १०६-७;—ऋत के जानकार, एक शक्ति के आराधक, ७१;—और उ.ध्रुव, ४९;—और द्रविड़-भाषाएँ, ६६-६९;—और द्रविड़-भाषाभेद, ३८;—और द्रविड़-साहित्य की एक प्रकृति, ६९;—और द्रविड़ स्वभाव, ६९-७३;—और पारसियों में एक दूसरे के देव-वाचक दानव-अर्थ में, ५५;—और पारसी दोनों के पूज्य, ५५;—और सप्त-सैन्धव, ३९, ४५, ९६;—कर्मकाण्डी, आशावादी, निवृत्तिग्रस्त, ७०;—का उद्देश्य अन्य जातियों से बचना नहीं, संस्कृति-प्रचार, ८८;—का जिन बातों पर आग्रह था, वे पोथियों तक सीमित, प्रचलित आर्येतर, ८६;—का द्रविड़ों से साम्य, ३५,६६;—का धार्मिक कृत्य होम त्यक्त, पूजा प्रचलित, ७२;—का मूल-स्थान; ४५-५०;—की ईरानी और भारतीय शाखाओं में भेद, ५४;—की एशियाई-यूरोपीय शाखाओं का भाषा-भेद, ४६;—की द्रविड़ों से भिन्नता, २०६;—की देन कर्मकाण्ड, उत्साह, ७२;—की रक्त-शुद्धता नहीं बच सकी; ८२,८३;—की रचना पुराणों में कम, ८८;—की रुद्र-सम्बन्धी दार्शनिक भावना का विकास शिव में, शिष्टों के लिए, सामान्य-जन के भयावह भूतेश, ९७;—की व्युत्पत्ति, ५०;—के आगमन के बाद के देवता, ६०, ९६;—के पुरोहित द्रविड़; ७९;—के पूर्व सभ्यता का विकास, १०७;

—के प्रधान देवता, ८७;—के बराबर वैदिक-संस्कृति में द्रविड़-अंश; ६६; —के भारत आने का काल, ४७;—के भारत पर आक्रमण का प्रमाण ऋग्वेद में नहीं, ६३;—के मूल निवास के तीन नाम, ४५;—के यहाँ गणेश अनार्यों से; ९६;—के साथ स्त्रियाँ कम, ८२,—के हिन्द-जर्मन, हिन्द-यूरोपीय, हिन्द-ईरानी नाम, ४८;—चिन्तन थोड़े ही लोगों में, १११;—ज़ेन्द-भाषी, ५१;—दक्षिण धीरे-धीरे पहुँचे,६४;—दर्शन का विकास धार्मिक कवियों द्वारा, १३२;—द्रविड़ भेद निराधार,३७,६६,७०,८९;—द्रविड़ संघर्ष स्त्रियों के द्वारा मिटा, ८८;—द्रविड़ समन्वय वैदिक-काल में ही आरम्भ;६६;—द्रविड़-सम्बन्ध,६३-७३; —द्वारा स्वीकृत जाति-प्रथा एकतार्थ, सांस्कृतिक समन्वय का प्रथम पद,७८, ७९,८६;—द्वारा सभ्यता का विकास, ७०;—धर्म,१०७,१६५;—धर्म और ज़रथुस्त्र-मत,२७४;—नगरों के निर्माता नहीं, भञ्जक,—सभ्यता ग्रामीण और लौह-नगर,६२;—नाम,४३-४४,११२;—नाम सङ्कीर्ण,११२;—ने अपने से भिन्न लोगों को मारा नहीं,जाति की विशाल-दीर्घा में जगह दी,८२;—ने विघ्नेश को विघ्नहर किया,९६;—ने संस्कृति लादी नहीं,८६;—ने सभी संस्कृतियों का मिश्रण बनाया,१०७,११५;—पर तमिल प्रभाव,६६-६७;—परिवार की भाषाएँ उत्तर-भारत में,४४४;—पूर्व भारतीयों से गृहीत पूजन-उत्सव,११०;—प्रकृति-पूजक,८७;—प्रवृत्ति-मार्गी, ६९-७३;—प्रार्थनाएँ,७१-७२;—भारत आने से पहले मौजी और घुमक्कड़,७०;—भारत से ईरान और यूरोप नहीं गये,४७;—भारतीय,३१;—भाषा,३१,३२,३४,४२, ४४,४६,४९;—भाषा के भौगोलिक विस्तार का कारण,—रूस से लिथुएनिया तक,४९;—यज्ञवाद भोग का पर्याय,७१;-'वडवर'(उत्तरवाले): ६३;-वैदिक-युग में मोक्षकामी नहीं,७१;—संस्कृति चेर-देश में,६४;—सङ्घर्ष की परिवर्तित-प्रतिध्वनि वेद में,५१;—सभ्यता,३२,३७;—सभ्यता सामी-क्षेत्र में,४९;—सभ्यता में शिल्पी शूद्र,६३; —सभ्यता सीखने से समाज में उन्नति, ७९;—समाज के आर्येतर सदस्यों में वेद-विरक्ति, प्राग्वैदिक-आग्रह, ८४;—साहित्य, ९७;—साहित्य में द्रविड़ादि तथा बाद की भी जातियों की दन्त-कथाएँ,८८;—में भावुकता-तरङ्ग,७०; —साहित्य में वैष्णव-धर्म के सभी तत्त्व नहीं,९७

आर्यभट्ट : २१५, २१६

आर्य समाज :४०३,५५३-६१,५६३,५६५; —आक्रामक हिन्दुत्व, ५५४-५५; —इस्लाम का संस्कृत अनुवाद, ४०३, ५५७;—और निज़ाम सरकार,५६०; —और शिक्षा, ५६०;—की विशेषता, —५५७-५९;—की स्थापना,५५६-५७; —हिन्दुत्व का स्वाभिमान, ५५३-५४; —हिन्दुत्व की वीर भुजा, ५६०-६१

आर्यावर्त्त :—समस्त भारत नहीं, ११२; —नहीं, हिन्दुस्त(थ)ान, ११२, ११४

'आर्या सप्तशती' : ४३२, ४३४

आलकाट, कर्नल : ५६३, ५६५

आलपाइन : ४१, ४३

आलम (कवि) :३४३,३४६,३५३,४२७, ४३३,४३४,४५६,४६३

'आलवक-सुत्त' : १८२ पा.टि.

आलवार :—भक्त, राधाभक्ति के प्रचारक, १०१;—सन्त : ३५५, ३५७, ३७६, ३७७-७९, ३८०, ३८२, ३८७, ३८८, ४४२, ४४४;—सन्तों के मुक्त संस्कार रामानुज द्वारा वर्णाश्रमबद्ध, ३८१

आलार कालाम : १४८ पा.टि.

'आवर ओरियण्टल हेरिटेज' : २१४पा. टि.,२१५ पा.टि.,३२४पा.टि.,४२८ पा. टि., ४३०पा.टि.

'आवर हेरिटेज' : ३५६,३६१पा.टि.

'आश्वलायन-गृह्य-सूत्र' : ९३

'आश्वलायन-श्रौत-सूत्र' : ६८

आस्ट्रेलिया : ३२,८०,८१

आस्तीक : ८१

'आस्पेक्ट्स ऑव् इक़बाल' : ७०४

इंड, इंडिया इंद, इंदो, : ११२

'इंडिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस' : ७१२पा.टि.

'इंडिया द मोस्ट डैञ्जरस डिकेड' : ७२८

'इंडिया फ़ॉम द डान' : ३३

'इंडो-एशियन कलचर,' (जनवरी, १९५४ ई.) : ३७ पा.टि.,—(अप्रैल, '५४) ३० पा.टि.

'इन्फ्लुएंसेज़ ऑव् इस्लाम ऑन इंडियन-कल्चर' : ३५५

इक़बाल : ३०१, ३०५पा.टि., ३०९, ३१०पा.टि.,६१५,६५०,६६७, ६८२, ६८५-७०८,७१८;—इस्लाम पर, २९० पा.टि.,—इस्लाम का मूल रूप माननेवाले, ३९४;—और पान-इस्लामी राष्ट्रीयता, ७०५-६;—का ख़ुदी का सिद्धान्त, ६९६-९७;—का जीवन-दर्शन, ६९२-९६;—का भावात्मक समाजवाद, ७०४-५,—की महामानव की कल्पना, ६१५, ६९८, ७०१;—दलितों के कवि, ७०२-३;—दर्प, आवेश, इहलौकिकता को बढ़ाने वाले; दार्शनिक, रहस्यवादी, ६८६;—द्वारा औरंगज़ेब की प्रशंसा, ४००;—द्वारा पाकिस्तान की कल्पना, ४०१, ७०१;—'बाँगे-दरा,'६८९,६९०;—'बाले-जिबरील,' ३००पा.टि., ६९१, ६९३पा.टि, ६९६पा.टि.,७०२-३पा.टि., ७०५पा.टि.;—में राष्ट्रीयता का स्वर, ६८८-९२

इक्ष्वाकु : १०२,—वंशी राजाओं के सूतों ने राम-कथा-काव्य रचे, १०५

इटली : ३१, ११२

'इतिहास प्रवेश' : ४५पा.टि., ८०पा.टि., २०८पा.टि.,३९२पा.टि., ४१३ पा.टि., ४५३पा.टि., (देखिये "जयचन्द्र विद्यालङ्कार" भी ।)

इत्सिङ्ग : २१९, २२१, २२५

इथोपियन : २९

'इन्तु' : चीनी-शब्द, से हिन्दू : ११४

इन्दु-सरोवर : ११४

इन्द्र : ४९,६०,६२,७१,७४,९३,९५,९७, ९८;—अपराजेय, उद्योगी के सहायक, श्रमहीन के मित्र नहीं, ७१;—का पुरन्दर नाम, ६२;—पत्नी : सीता, १०२;—ही विकसित होकर 'राम', १०२

इन्द्र द्वितीय, राष्ट्रकूट-नरेश : ६९

इन्द्रभूति ('ज्ञानसिद्धि') : २४८

इब्ने-बतूता : ३२९, ३३०, ४७२

इब्ने-सीना : ३०२

इब्ने-तीमिया : ३९४, ६६७

इब्राहीम (हज़रत) : ५१८

इब्राहीम आदिलशाह : ४५४, ४५५,४७७

इब्रहीम, हाजी, : ३४४

इमेलाइट : ३६ पा.टि.

इम्पेडोकल्स : २१०

इलियट,टी.एस., :२०८;—पर भारतीय प्रभाव, ५१६

इलियट, सर चार्ल्स ('हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म') : ५७ पा.टि., ३५५,—तसव्वुफ़ पर भारतीय प्रभाव, ३०७, पा. टि. भी ।

इस्माईलिया सम्प्रदाय : ४७४

इस्लाम : १०६,११२,११५,१३९,२७१-३११,५२२,५३२, ५३४, ५५७, ५८२, ६०८,६५१,६६९, ६७८, ६८६, ६९१, ६९२,६९९,७०१,७०४,७०७,७०९;—अप्रभावित रहने को सचेष्ट, पर भारत में कुछ बदला,११५;—अर्थात् शान्ति में प्रवेश,२८८;—ईश्वरवादी या एकेश्वरवादी, अद्वैतवादी नहीं, ३५९-६०;—और अँगरेज़ी राज, ६७०-७१;—और ईरान,५६,२७६;—ईरानी संस्कृति का पर्याय,५६;—और ईसाइयत के 'भगवान' 'शैतान' ज़रथुस्त्र-धर्म की देन, ५६;—और कलाएँ, ४१६-१७;—और कुछ मनोरञ्जक बातें, २८५-८८,—और नाथ-पन्थी,२६३-६४;—और भक्ति-आन्दोलन, ३७०,३७२-३९०,४३६;—और भक्तों का बहुरियावाद, ४४२-४४;—और भारत,२७१-४८०;—और भारतीय भाषाएँ, ४४४-४७;—

और भारतीय साहित्य का भावुकता-पक्ष, ४३३-४२;—और मूर्त्ति-पूजा, २९४,४१६;—और यहूदी धर्म, ५१८;—और योग,३७०;—और रामानुज, ३७९;—और राममोहन राय, ३७९;—और वीर शैव, ३६७-६९;—और शङ्कराचार्य, ३५९-६१;—और सिक्खधर्म,२९६,४०२-४;—का आरम्भिक रूप,२७७-८१;—का ईश्वर,२९८;—का कट्टरपन, ३५५;—का कला और शिल्प पर प्रभाव, ४११-३०;—का क्षिप्र-प्रसार,२६२,२७५-७७,२८०,३२०-२३;—का लक्ष्य व्यक्ति नहीं, समाज, २९४;—का स्वरूप परिवर्त्तन,२८२-८५;—का हिन्दुत्व पर प्रभाव,३५५-७१;—की आलोचना 'सत्यार्थ प्रकाश' में, ५५४;—के नेता तुर्क,२८५;—के प्रति विवेकानन्द का दृष्टिकोण,५९६-९७;—के भारत में प्रसार के लिए भूमि बौद्धों की बनायी, २६२-६४;—के मूल-ग्रन्थ,२८८;—के मूल रूप से सूफ़ीमत भिन्न,३१०-११, ३३२-३३;—के सम्प्रदाय, हिन्दुत्व का प्रभाव; ४७४;—के सर्वोत्तम मानव, सूफ़ी, ४७४;—के हिन्दुत्व पर प्रभाव का अतिरञ्जन, ३५५-५९;—द्वारा सभी धर्मों का आदर,२९१;—पर हिन्दू-प्रभाव,३३२;—परिस्थितिवश राजनैतिक,२७९,२९६;—प्रेम और अहिंसा का धर्म,२८८;—पुण्य की लहर,पर अस्थायी, २८०;—पूर्व अरब,२७७;—भौगोलिक एकता,राजनीति,मुक्तः-चिन्तन और धार्मिक-जागृति, ३६८-७१;—में आत्मा,२९३;—में कर्मफल,२९२-९३;—में मरणोत्तर जीवन,२९१-९३;—मुग़लकाल में हिन्दू प्रभाववश,उदार, ४१७;—में स्वर्ग-नर्क,२९२;—से भ्रमवश सम्बद्ध नाम,५६;—से विद्रोह,२९७-३०३

इस्लाम टु-डे, द'; : ६६२ पा.टि., ७०१ पा.टि.

ईरानी : ११६,—संस्कृति : में चार जातियाँ, ५५,—पर मुस्लिम हमला,५६;—लोगों का उच्चारण-दोष, ११२,११४;—साम्राज्य : ५६;—पर सिकन्दर की चढ़ाई, ५६;—में भारत के भाग,—के अंश भारत में, ५६-५७

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर : ५७९

'ईसप्स फ़ेब्ल्स' : २१४

ईसा मसीह : १०६,१९४,२०९,२८९-९०, ५१८-१९,५२४ पा.टि., ५४५,५५३, ६२७,६३५;—और बुद्ध, ५२०-२१,—का एशियाई रूप, ५२९-३०;— की आराधना भी प्रियतम-रूप में, ३०५

ईसाइयत(ईसाईधर्म,-मत) : १०६, १३९, १९६, २६५, २७७, ३०५,३१०,३५९, ४८९,५३२,५३६-३९,५७२-७३, ५८२, ५८८,६०८,६५१, ६७०, ६८६, ६९४, ७०६;—और इस्लाम के 'भगवान-शैतान' ज़रथुस्त्र-धर्म की देन, ५६;—और तसव्वुफ़, २९८;—और दिग्भ्रष्ट हिन्दू युवक, ५२५-२९;—और ब्राह्म-समाज,५४२-४६;—और बौद्ध-धर्म, ५१९-२१;—और भारतीय जनता,५२२-३०,—और राममोहन, ५३६-३८,—का प्रचार भारत में, ४८४,४९०-९२, ५२७-२९;—का प्रभाव अकबर पर, ३९२; —का प्रचार पुर्तगाल का लक्ष्य, ४८४;—की अँगरेजी-प्रचार से अपेक्षा, ४९६, ५२३-३०;--की आलोचना 'सत्यार्थ प्रकाश' में, ५५४;—की इस्लाम से दुश्मनी, ४८४-८५;—के ग्रन्थ और बौद्ध-जातक, २१२;—के प्रचार के मार्ग में रुकावटें, ५२७-३०; —पर बौद्ध-प्रभाव, २०९;—पर बौद्ध-हिन्दू प्रभाव, ३०६ पा.टि., ५२०;—बनाम हिन्दुत्व, ३८५-८६,५२०पा.टि.,५२२-२४;--भारत में तीसरी सदी में,४८५; —यूरोपीय रूप में, ५३०;—में ईश्वर,१३९,२९८;—में मादन-भाव,४४२-४३,—से इस्लाम का मतभेद २८९-९०,—से वैर पुर्तगालियों के कारण, ४८५-८६,—से हिन्दुत्व की टक्कर,३८५

ईसाई : ८९,—आरम्भ में आकर हिन्दुत्व में विलीन :११६;—धर्मप्रचारक : और

अँगरेज़ी,४९६;—और भारत,५११;—और भारतीय भाषाएँ, ४९०-९१;—के प्रति अँगरेज़ शासकों का रुख़,५२१, ५२३;—के शिक्षा-कार्य; ४९६,४९७, ४९८,४९९,५००,५०१
‘ईसा-पुराण’ : ४९२
ईस्ट इण्डिया कम्पनी : ४९४;—और फ़ारसी,४९५;—और शिक्षा,४९८,४९९, ५००,५०१,५०२;—का चार्टर,४९८; —की स्थापना : ४८९;—से राज्य छिना, ४९०
ईस्टर-द्वीप : ३३
ईस्ट, सर हाइड, : ४९७
‘ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट’ : ६४४पा.टि.,६५४ पा.टि.,६५८ पा.टि., ६५९पा.टि.,६६०पा.टि.
उग्र : द्विज पिता, शूद्रा-माता जन्य : ८१
उड़िया : ३१
उत्तर उदवाद (बम्बई):पारसी-मन्दिर :५६
उत्तर-प्रदेश : ३०
‘उत्तर पुराण’ : १८४
‘उत्तर भारत की सन्त परम्परा’ (परशुराम चतुर्वेदी) :९८,२४१पा.टि., २४९पा.टि., ३११पा.टि.;४०३पा.टि.,४०४पा.टि.
उत्तर (भारत) : मूल आर्य (वैदिक) देश, ६३,८९;—आरम्भ में ही हिन्दुत्व का नेतृत्व,८९;—का दक्षिण से अतिप्राचीन सम्बन्ध,६४;—की जनता दक्षिण के तीर्थों की ओर, ८९;—में कार्त्तिकेय केवल पौराणिक चरित्र,दक्षिण में सोत्साह पूज्य : ९५;—में केवल शिव-उमा, ९४;—में बौद्ध प्राबल्य, दक्षिण में हिन्दू धर्म पवित्रतापूर्वक रक्षित, ११२
‘उत्तररामचरित’ : रामकथा प्रसङ्ग :१०६; —में चित्रकला : ४१२
उत्तरी ध्रुव : २७, ४९
उत्तरी बङ्गाल : ३०
उत्सवानन्द : ५४१
उदयन, राजा : ८२
उदयनाचार्य : २१६
उद्योतकर : २५६, २५७
उदालि : आत्रेय वरदराज :(कृत रामायण पर ‘विवेक तिलक’) : ६८
‘उपनिषद्’ : ६१,८८,९७,११९,१२०, १२२-२३,१२८,१३२,१४५-४७, १६३, १६५,१७०,१७५,१७९,१८६-८७,१९५-९७,२००-४,२०९,२५७-५८,३४४,३६०, ३६५,३७५-७६,३७९-८०,३९८, ५१४, ५१६,५१७,५१९,५२४,५३४,५४१-४३, ५४७,५५८,५६५-६६, ५८४-८५,५९१, ६००-२,६०४,६२०,६३५,६४०, ६५०, ६५३,६५३,६८६,७२५;— ‘आरण्यकों’ के अङ्ग; १२१;—और अभिनव अफ़लातूनी-मत, ३०३;—और कर्मफलवाद, १३०;—और जैन धर्म,१७२;—और ताओ धर्म, २२६,—और निवृत्ति : ७२, १३४-३५;—और प्लाटिनस का दर्शन, २१२;—और बौद्ध तथा जैन धर्म, १३३-३४;—और बौद्ध धर्म, २६६-७७; —और भक्ति-भावना,९८-९९;—और वैष्णव धर्म, ९७-९९;—का अर्थ,१२३; —उपनिषदों का प्रभाव, १३४-३५;— —शेली की ‘एडनोय’ में,५१५;—काल, २५८;—का यूनान पर प्रभाव,२१०-११,—का विरोधाभास और अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैतवाद के बीज, १३०-३१,—की विशेषताएँ,१२८-३२; —की शॉपेनहार द्वारा प्रशंसा, ५११-१२;—के प्रणेता,१३१-३३,—में निर्वाण, १७१;—में ब्राह्मणों की उच्चता को चुनौती, १३४, १४१;—में वैदिक धर्म की अपूर्णता,१२१,१३७,१४०;—में शून्यवाद,३६१;—में सृष्टि, १२८-२९; —में स्याद्वाद के बीज,१६०;—युग में यज्ञ-विरोधी तरंगें : ९८
उपाध्याय,डॉक्टर भगवतशरण : १४५
उमा :६०,६४;—उपनिषदों में परमेश्वरी, ८७;—और शिव उ.भारत में,९४
उरली : ३३
उर्दू : ३१,५३,२७२,३३४,३५१, ३५८, ४३९,४५१,४५३-५७,४६९, ४७६-७७, ४९२;—का जन्म दक्खिन में क्यों; ४५३-५७;—का जन्म,४५१-६९;—का वर्त्तमान रूप संस्कृत-बहिष्कार का फल;

४५६-६१;— कविता को अरब-ईरान से क्यों प्रेरणा, २७२;—के आरम्भिक कवि, ४५४;— मुस्लिम-भावनाओं की भाषा,४६९;— हिन्दी से, ४६१-६२,४६४-६९;— हिन्दू-मुस्लिम एकता की भाषा, ४५४;—हिन्दी भेद,दोष कवियों का,४६२
उलूपी : ८१
उवात : आचार्य : ३७१
उस्मान (हिन्दी कवि) :३४९,३५१,३८८, ४३३, ४५६
ऊषा : ६०, ८७, ९१;—सूक्त, ऋग्वेद का, ४८
'ऋग्विधान' : ५९
'ऋग्वेद' :३१,४९,५८,६०,६३, ६५,७३, ७४,७८,८६,९१,१०३,१०४,१०५,१२४, ४११,७२३;—और 'गाथा',५५;– और 'ज़ेन्दावेस्ता',५१;—का 'ऊषा-सूक्त',४८; —का रचनाकाल,५१-५२;—काल में शूद्र तिरस्कृत नहीं,७४;—की बातें अब हिन्दुत्व में गौण, आर्येतर प्रभाव प्रधान, ८६;—के अनुसार आर्य-देश, ४८;—के थोड़े से देवता कैसे तैंतीस करोड़ हो गये, ८७-८८;—के रचयिताओं में शूद्र, ७४;—केवल आर्यों का,८८;—में आर्यों के भारत पर आक्रमण का प्रमाण नहीं,६३;—में उल्लिखित अगस्त्य और लोपामुद्रा,६५;—में कुछ आजीवन ब्रह्मचारिणियाँ, ८३;—में जाति और धन्धे अटल नहीं, जाति-परिवर्त्तन सामान्य, शिल्प का सम्मान;७६;—में तीन ही वर्ण, चौथा नहीं; ७४;—में नारियाँ पति-कुल की साम्राज्ञी,८३;—में विवाह वर-वधू की इच्छा से,८३;—में विवाह-पूर्व प्रेम,स्वयंवर, वरपक्ष द्वारा दहेज; ८३;—में पणियों के गाय चुराने की कथा से सीता-हरण का योग,१०३;—में भारतीय-प्रजा 'विश',७३;—में रुद्र-शिव,८७, ९१;—में रुद्र का अर्थ लाल,९७;—में वामन का त्रिविक्रम-रूप,१०५;— में विष्णु सूर्यार्थक,९७;—में वृषाकपि : हनूमान,१०४;—में वैश्य नहीं,७३
'ऋग्वेद-संहिता' :६१,७४;—में बाद को बढ़ाये पुरुष-सूक्त में ही शूद्र,७४
ऋचीक : ७५
'ऋतु संहार' : ५१२,५१४
ऋभुगण : देवता : ऋग्वेद में काष्ठ-धातु-शिल्पी, ७६
ऋषभदेव : ६२,६७,१४०,१४६,१४७, १५८,७२३;—अनेकान्तवाद के प्रवर्त्तक, १४६;—एक अवतार,१४०,१४७;— और शिव की कल्पना, ६२,७२३;— की कन्या ब्राह्मी के नाम पर लिपि, ६७;—जैन-धर्म के आदि तीर्थङ्कर, योग और वैराग्य के भी आदि-पुरुष,वेदोल्लिखित, किन्तु वेदपूर्व ; ६२,१४७,— लिपियों के आविष्कारक,६७;—वेदपूर्व अहिंसा परम्परा में,१४७
ऋषि : मन्त्रद्रष्टा,गृहस्थ,सामिषभोजी, वैदिक;६१;—और 'मुनि' में भेद,६२; —गण की शिव-स्वीकृति के प्रति अनिच्छा,९४;—(यों) द्वारा कथाओं को नये रूप दिये गये, ८८;—द्वारा शिव को शाप,९१;—लोग रुद्र को चोर-डाकुओं-व्रात्यों का अधिपति कहते थे, ९३
एंटियोकस, प्रथम,— से बिन्दुसार ने शराब मँगायी : २११
एकनाथ : ५५१
एजियन : ४१,९३
'एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार' : ६६० पा.टि.
'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' : ४२ पा.टि.
एनीबीसेण्ट:५६२,५६३-६४, ५७१,५८६, ६१९,६४१ —की भारत-भक्ति,५६४-६५;—द्वारा अखण्ड हिन्दुत्व का समर्थन, ५६५-६६;—राजनीति में,५६६-६७; —सर्वशुक्ला सरस्वती,५६४
एप : २८
'ए पेजेण्ट ऑव् एशिया' (केनेथ सॉण्डर्स) : ३९३पा.टि.
एमर्सन : ५१५,५७३,६१८
एमहर्स्ट, लार्ड : ४९८
एम्पथिल,लार्ड,:२१७
एलफ़िन्सटन : ५३७,७११पा.टि.;—द्वारा

देशभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने पर ज़ोर;५०४,५०५,५०६,५०७, ५०८
'ए वीक विद गाँधी' (लुई फ़िशर) : ६२७ पा.टि.
'एशिया एण्ड वेस्टर्न डोमिनेन्स':५०० पा.टि.
एशिया, पश्चिमी : २७;—मध्य, २७, ४५;—में हाथी नहीं, ९३
एशियाटिक सोसाइटी : ५१२
ऐकान्तिक धर्म : ९८,—अपनाकर प्रचारित, वासुदेव कृष्ण द्वारा, ९८
ऐडम : ५०७;—की रिपोर्ट, शिक्षा पर, ४९५
'ऐत्तरेय उपनिषद्' : १२१
'ऐत्तरेय ब्राह्मण' :—के देवता, १२४;—में शूद्र यथाकामप्रेष्य वध्य : ७७
ऐलुष, कवष, : ऋग्वेद के शूद्र मन्त्रद्रष्टा, ७४
ओन्दाल, भगतिन : मीरा से अलिपूर्व, स्वयं को राधा : १०१, ४४३
ओमेले ('मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट') : ४८८
ओरंग-उत्तान : २८
ओराँव : ३१, ३५
'ओरायन' : ४९
'ओरिजिन एण्ड स्प्रेड ऑव् द तमिल्स' (आचार्य वी.आर. श्री रामचन्द्र दीक्षितर) : ४३ पा.टि.
ओलन्देज़ (डच) : ३१
औद्योगिक कला-शिल्प :—से दूरी भारत के लिए अनिष्टकर : ७६
'औपनिखत' : ५११
औरङ्गज़ेब : ३२०,३३२पा.टि ,३५१, ३५२, ३५५,३९६, ३९८, ४५६,४६१, ४८९,५२२,६६७,७१०;—और अकबर, ४००-१,—और गुरुगोविन्द सिंह,४०७;—और गुरु तेग़बहादुर, ४०६;—और मुग़ल-कला,४१९-२०;—और सिक्ख, ४०५-७;—और हिन्दू-मुस्लिम-एकता का ह्रास तथा उर्दू से संस्कृत शब्दों का बहिष्कार, ४५७-५८;—का हिन्दी-नाम नवरङ्ग बिहारी, ७२४;—की धर्मान्धता और भारत की एकता, ३९९-४०१,—की सेना में हिन्दू, ३४५;—को हिन्दी-शब्द-लालित्य-अभिज्ञान, ४६३;—द्वारा सूफ़ियों पर अत्याचार, ३१०, ७२४;—में पाकिस्तान का पूर्वाभास, ३९८
औष्ट्रिक् : २८,३०-३५,३९,७८,७९,८८, ९२,९७,११५,१८६,७२३;—का आगमन और भारतीय संस्कृति को अवदान : ३१-३३;—का फैलाव : ३१-३२;—की देन सर्प-भूत-पिशाचादि-पूजा : ८७;—देवता शिव बने : ९७; (देखिये 'आग्नेय' भी।)
कच्छ, अवतार : मूलतः आग्नेय : १०९ (देखिये—'कूर्म','कश्यप' भी)
'कठोपनिषद्': १२२,१४०,१७५
'कण्ट्रिब्यूशन ऑव् साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर' (कृष्णस्वामी आयङ्गर) : ६४ पा.टि.
'कथा-सरित्सागर' : २१९
'कन्नड़ इङ्गलिश डिक्शनरी' (एफ़.किटेल) : ६६,६६-६७पा.टि.; ३६९ पा टि.
कन्नड़ी: ३१
'कन्नड़ी तोरावे रामायण' : १०६
कन्फ्यूशियस : १३७,१६७पा.टि., २२४-२८;५६३;—का धर्म, २२४-२८;—बनाम बौद्धमत, २२४-२७
कन्याकुमारी : ६८
कन्हपा : के पद, ३८९ पा.टि.
कपिल मुनि : १४८,—का सांख्य, १४८
कबीर : ११४,१९९,२०९,२५१-५३,२६३, २७८,३३३,३३७-३९,३४१,३४२,३४६, ३४७,३४९,३५१,३६३,३६४,३६६,३६७, ३७०,३७१,३७५,३७६,३८३,३८४,३८५, ३८६,३८९,३९०,३९१,४०२,४३३,४३५-३६,४३८,४३९,४४१पा.टि. भी, ४४२, ४४३-४४,४४७,४५२पा.टि., ४५४,४५६ ४५९,५२४,५३१,५३३,५४५,५४६,५५२, ५५४,५७६,५८५,६२१,६३२,७२४,७२५,—और इस्लाम,३८६, ४३५-३६,—और बहुरियावाद,४४३-४४,—और रामानन्द, ३८३,३८४;—और सहजयान, २५१-५३;-का मृत्यु-प्रेम,४४१-४२;—की धारा सिद्ध

धारा का विकास-मात्र, ३९०;—के राम, ३८४;—के रहस्यवाद पर सूफ़ी-प्रभाव नहीं, ३८९;—तुलसी की दृष्टि में, ३४९;—द्वारा धर्म में संसार-प्रतिष्ठित, २५१-५२;—पन्थ को बिहार में बौद्धधर्म से सहारा, २६३;—प्रवृत्ति-मार्गी, २५१-५२
कबीर, प्रो० हुमायूँ : ३७३;—'आवर हेरीटेज' में तसव्वुफ़ : ३०६-७;—की ग़लत स्थापनाएँ, ४३३-३४;—द्वारा शङ्कर पर इस्लामी प्रभाव का आरोप, ३६१-६२
कमालुद्दीन :—और जौहर : ४७२
कम्बन ('तमिल रामायण') : १०६
कम्बोज, हिन्द-चीन का राज्य : २२२, २२३
कम्बोडिया : उ.भारत के समान,—में संस्कृतज्ञ, २२३
'करटक-दमनक कथा': २१३, ३३५
करन : वैश्य-क्षत्रिय पिता, शूद्रा-वैश्या माता से समुत्पन्न : ८१;—आर्य-वृत्त बाह्य, झल्ल-मल्ल के साथ मनुस्मृति में व्रात्य-क्षत्रियों में परिगणित, ८२;—कर्णी : ८२
कर्ण : ७६
कर्मकाण्ड : आर्यों की देन समाप्तप्राय, ७६
कर्मफलवाद : १६८, ३०३;—इस्लाम में, २९२-९३;—उपनिषदों में, १३०, १३३, १३४;—और बौद्ध धर्म, १७९—की पुष्टि ऋत के सिद्धान्त से, १३३
'कर्मयोगशास्त्र': ६०१
करामत अली, मौलाना : ६७९
'कलीला-व-दमना': २१३, ३३५
'कल्चरल हिस्ट्री ऑव् द मॉडर्न एज, ए': ४८७ पा.टि.
'कल्पसूत्र': ५२, १२२
कल्हण : २८२
कवष ऐलुष : ऋग्वेद के शूद्र-मन्त्रद्रष्टा, ७४
कवि : असत्य नहीं, ६८५;—हीन समाज, अन्धा-बहरा ; ६८७
'कविता-कौमुदी': ४५४ पा टि., ४६३ पा.टि.
कश्मीर : ३०, ३३;—के लद्दाख़ी किरात, ५३;—में रामकथा, १०६
कश्मीरी : ३१
'कश्मीरी रामायण' : १८६
कश्यप अवतार : मूलतः आग्नेय, १०९
कश्यप मातङ्ग : प्रथम भारतीय विद्वान जो चीन गये : २२४
काङ्गड़ा (पहाड़ी) क़लम : चित्रकला की : ४२०-२१
काङ्ग-सङ्ग-हुई : १८३
कांग्रेस :—का इतिहास : ५५० पा.टि.—का सभापतित्व : ५६६;—की सरकार १९३७ में; ४७७
काञ्ची : मोक्षदा नगरी : ८९
कॉकेशियन : २९;—कॉकेशस, २९
काडार (जाति) : ३३
काडवेल, डॉ. आर., : ६६ (देखिये 'काल्डवेल' भी।)
काणे, महामहोपाध्याय वी.पी.; ('धर्मशास्त्रों का इतिहास'): अनुलोम-प्रतिलोम से उत्पन्न जातियों की गणना; ८१;—के अनुसार ई.पू.५०० में मूर्त्तिपूजन, १३४, —शूद्र-दास-दस्यु : ७६
काण्ट: ३०१ पा.टि.
कात्यायन : १४५
'कात्यायान-श्रौत-सूत्र': ७४
क़ादिर (हिन्दी-कवि): ३४६
क़ादिरिया सूफ़ी-सम्प्रदाय : ३११
काम-योग : २४५
'कामसूत्र': में चित्रकला का उल्लेख : ४१२
कामाख्या : मन्दिर, वाममार्गी शाक्तधर्म का मुख्य पीठ,—की स्थापना : ५४
कामिनीकुमार : ४३२
कॉम्टे, ऑगस्ट;—पर बुद्ध प्रभावः ५१७
'कॉमपेरेटिव ग्रामर ऑव् ड्रेवेडियन लैंग्वेजेज़,' : ६७ पा.टि.
कारलाइल : ५०१, ५१५
कालचक्रयान : २३१, २४२
काला पहाड़ : ३२१
'कालिकापुराण' : ११२
कालिदास : ६८ पा.टि.; १८५, २०३, २०४, २०८, २०९, २२४, ३५०, ३५९, ४३०, ५१५;—द्वारा गोप-कृष्ण का उल्लेख : १००
कॉलेट, मिस, (राजा राममोहन राय की जीवनी-लेखिका) : ५४०
कार्त्तिकेय : ६७, ९४, ९५;—की गाथाएँ,

दक्षिण में; ९४;—कृष्ण यजुर्वेद में, ६७;—पर अनुसन्धान नहीं;—ही कुमार, स्कन्द, षडानन, सुब्रह्मण्यम,—द्रविड़-नरेश मुरुकन; ९५
काल्डवेल, डॉ.आर.,: ४२,६६,६७पा.टि.
कावषेय : दासीपुत्र, किन्तु यज्ञों के आध्यात्मिक मर्मज्ञ; ७४
कावेरी: ८९;—गङ्गा से, ६५
'काव्य-मीमांसा': १२०
काशी : मोक्षदा,८९;—का राजा पौण्ड्रक : ९४
किंवदन्ति;—आग्नेय भाण्डार से, पुराणों में, १०८;—पहले गाँवों में प्रसार, फिर साहित्य में प्रवेश, १०९
किटेल : ३६९, पा.टि. भी;—की 'कन्नड़ इंगलिश डिक्शनरी' में तमिल भाण्डार के संस्कृत शब्द, ६६ और ६६-६७ पा.टि.
'किताब सिन्दबाद': २१३
'किताबुल-बुद': २१३
'किताबुल-हिन्द': २७४
किपलिङ्ग : ५८४
किरन्ती : नेपाल के, किरात : ५३
किरात : ३०-३१,३२,३५, पा.टि., ५३, ५४, ५९, ७५, १०९, १११, ११२,—आर्यवृत्त में प्रविष्ट, ५३;—काश्मीर के लद्दाख़ी, दारजिलिङ्ग के लेपचा, त्रिपुरा और मणिपुर के क्षत्रिय, उ.असम के अक्का, मीरी, अबोर और मिश्मी; ५३;—का उल्लेख अथर्व तथा यजुर्वेद में, ५३;—का भारत-आगमन अनिश्चित, ५३;—की सबसे बड़ी देन, शाक्त-मत, ५४;—क्षेत्र में वैष्णव-धर्म की कृष्ण-चैतन्याश्रयी शाखा का प्रचार : ५४;—द्वारा नागा और कुकी जन में हिन्दू-संस्कृति, ५४;—द्वारा बर्मा तथा हिन्द-चीन में हिन्दू और बौद्ध संस्कृतियों का प्रचार, ५४;—नेपाल के नेवार और किरन्ती, ५३;—नेवारों द्वारा पालयुगीन भारतीय कला का तिब्वत आदि में प्रचार, ५४;—मूल अभिजन, पूर्वी चीन, ५३;—वंशी हिन्दू नृत्यादि कला-रसिक, ५४;—समाज में नारियाँ,५४;—हिन्दू राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत, मुस्लिम आक्रान्ताओं से अन्त तक युद्ध, ५४
'किरातार्जुनीयम्': ६८
किशनगढ़ चित्रशैली : ४२०
किष्किन्धा : १०४, १०५
कीथ, सर आर्थर,: ४३
'कीर्त्तिलता': ३४७
कुकी : ५४
कुतुबन : ३४०,३४२,३४९,३५१, ३८८, ४३३,७२४
'कुन्दमाला' ('मुकुन्दमाला'): राम-कथा प्रसङ्ग : १०६
कुबलाखाँ :—बौद्ध : २२७
कुमार : कार्त्तिकेय : ९५
कुमारजीव : २२४, २२५
कुमारपाल : १५९
कुमारी अन्तरीप : ११४
कुमिल्ला : ५४
'कुरल, : १६१
'क़ुरान' : २७५,२७८,२८८,२९१,२९२, २९३, २९४, २९५, ३०५, ३२९, ३४५, ३४८,३६०, ३६४, ३७०, ४०३, ४४७, ५४७, ६५१, ६६४, ६६५, ६६९, ६७५, २९२-६७८, ६७९, ६८६,७२५;—और गीता, ९३,३६४-६५;—और चित्रकला, ४१६-१७;—की शिक्षा, २८९-९१;—में भी ख़ुदा और बन्दे के बीच प्रेम-सम्बन्ध, ३०४
कुरु-ब्राह्मण : ८२
कुलपति : ४५२,४५३ पा.टि.
कुलशेखर : ४९,३७७,३८३
कुली क़ुतुबशाह : ४५६
कुशीलव : काव्य-अभिनयोपजीवी,रामायण में लोकप्रिय अंशवर्द्धक, १०५
कुहू : अमावस्या : आग्नेय : १०८
क़ूवतुल-इस्लाम : ४२९
'कूर्मपुराण' : ९२ पा.टि.—में भक्ति के प्रमाण: ३७२
कूर्मावतार : १०४ [देखिए 'कश्यप' और 'कच्छ' भी' ।]
'कृत्तिवासी रामायण'(बँगला) :१०६,१८६
कृत्या : शिवजटा से श्रीकृष्णजी को मारने

निकली :९४

कृष्ण, श्री, : ५७,६१,८१,९७,९८,९९, १००,१०१,१०५, १२५, १४३, १४६, १६४, २०५, २२१, २४६,३५९,३६४, ३७५,३८२,४३६, ४४०, ४४२, ४४३, ५५८,५६५,६०४,६३६;—आरम्भ में दुष्टदलन रूप प्रधान, 'गोपाल' सर्वप्रथम अश्वघोष में, छान्दोग्योपनिषद् में भी चर्चा; १००;—ई.पू. २०० में अवतार माने गये, ९९;—ऐतिहासिक पुरुष : ९९;—और अहिंसक यज्ञ, १४२;—कथा से अधिक रामकथा एकता में सहायक, ८९;—का गोपाल रूप प्राचीन आर्य-साहित्य में नहीं, ९७;—का चरम महत्त्व सांस्कृतिक समन्वय, ६१;—का बाणासुर तथा पौण्ड्रक से युद्ध और कृत्या-हनन;९४;—का बौद्धीकरण,१८३;—की वाल-लीला आभीर जाति से, राधा भी दक्षिण के किसी आर्येतर-समाज की, १०१;—की श्लीगल द्वारा स्तुति, ५१४;—गोपाल-रास-लीला, चीर-हरण आदि की कथाएँ बाद के भ्रान्त कवियों की; प्राचीन साहित्य-शिल्प में प्रमाण नहीं;९९;—जैन भी माने गये,१४२;—द्वारा इन्द्र-पूजा का विरोध, ९८;—द्वारा वर्ण-व्यवस्था पर सन्तोष, ७८;—नाम अतिप्राचीन :९९;—पहले ही विष्णु माने गये, १०४;—फ़सल-वनस्पति के देवता, ग़लत : ९९;—भक्ति-काव्य में मुस्लिम अंश,३५३-५४;—वासुदेव मत में भी गोपाल नहीं, ९८;—हल्के मनुष्य नहीं, देश-धर्म के महान् नेता ; ९९

कृष्णद्वैपायन व्यास : देखिये 'व्यास'।

कृष्णपुर : में तीसरी सदी में कृष्णपूजा :९९

'कृष्ण यजुर्वेद' : ६७;—दक्षिण में; ६७;—में कार्त्तिकेयादि की चर्चा वैदिकेतर धारा से, ६७;—शुक्ल से प्राचीन, ६८;—द्रविड़ देश के ऋषियों द्वारा, ६८

कृष्णस्वामी आयङ्गर : देखें "आयङ्गर"

कृष्णाचार्य : २५६

'केन' (उपनिषद्) : १२१, १२२

केरल : ६८-६९;—को परशुराम ने समुद्र से निकाला, ६४

केलकर : ५४९

केल्ट : ३१

केल्टिक : ४८

'केवट्टसुत्त' : १८२

केशवदास (देखिये "दास, केशव")

कैकेय, अश्वपति : १४५, १४६

कैकेयी : ८२, १०२

कैण्डी, कैप्टेन : ५०७

कैरी : ५२३

कोंकण : समुद्र से निकला ; ६४

'कोर्ट पेण्टर्स ऑव् द ग्रैण्ड मोग़ल्स' (आर्नाल्ड और विनोयन) :४१७पा.टि.

कोल : ३३,३४,३५,१०९,११२;—भारत में ईशान कोण से, ४२

कोलब्रुक : ७४, ५१३

कोसम्बी, धर्मानन्द : ३५पा.टि.,१८७, २६६;—कृत 'भगवान बुद्ध' :३५पा.टि., –कृत 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' : २५९पा.टि.,२६०पा.टि.,—'व्यभिचारी गोपाल', वासुदेव का अवनतिकालीन रूपान्तर, ९९ ;–शिव-पूजापर मत :९३

कौटिल्य : १८०पा.टि.

कौशल्या : ८२

कौशेय : १४५

क्याव मिण्ट, जस्टिस : एशियाई महा-सम्मेलन के वर्मी नेता, : २२७

क्योंझर (उड़ीसा) : ३४

'क्राइस्ट द मेसेञ्जर' : ५३०पा.टि.

क्रेटान : ४१

क्रोशे : ६६०

क्लिमेण्ट : २१२

क्लेन : २९५

क्षत्रिय,—और अहिंसा :१४४-४६,—त्रिपुरा और मणिपुर के, किरात,५३;—ब्राह्मण-सङ्घर्ष :१४५-४६

क्षेमेन्द्र : १८५

'खण्डित आत्मकथा' : ६४२

'खण्डित भारत' : ४७४

खड़ीबोली : ३५२,३५३,४५६,४६०;—इसी देश की भाषा,४५३;—का गद्य

४६४-६८;—के आदिसृजक ख़ुसरो, ३३४;—के ईरानीकरण से उर्दू,४५६; —में ब्रजभाषादि से पूर्व काव्य-रचना, ४५४;—में साहित्य-रचना, ४५१-५४
‘खण्डरों का वैभव’ : (मुनिकान्त सागर) : १४६पा.टि.
खमेर शिलालेख :में भारतीय विषय :२२३
खरोष्ठीलिपि :फ़ारसी-अरबी से साम्य :५३
ख़ाँ, इंशाउल्लाह : २७२
ख़ाँ, ज़काउल्लाह : ६७३
ख़ाँ, जाफ़र (बहमनी-राजवंश-संस्थापक) : ४५५पा.टि.
ख़ाँ, वज़ीर : ४०७
ख़ाँ, सर सैयद अहमद : ४९७, ६७३-८४, ६८७, ६९०, ६९१, ७१२;—के सहयोगी, ६७८-८०;—द्वारा दयानन्द का आदर, ५५४
ख़ाँ, हकीम अजमल : ७१६
ख़िलाफ़त : ३२५;—का अन्त, २९८
ख़ुसरू परवेज़ : ईरानी-राजा : ५६
ख़ुसरो, अमीर :३९,२७४,२७५,३३२-३६,३४३,३४६,३५१,३५३,४५४,४६३, ४६४पा.टि.,७२४;—की भारतभक्ति, ३३२-३६;—भारत का प्रथम राष्ट्रीय मुसलमान, ३३३;—में खड़ीबोली की सम्भावनाएँ : ४५१-५२
ख़ुसरो (मुग़ल शहज़ादा) : ४०५
‘खेट-कौतुक-जातकम्’ (रहीम) : ३५३
ख़ैयाम, उमर : ३०१
ख़ोजा सम्प्रदाय :४७४,४७९;–कीमान्यता, अली विष्णु के अवतार,—के विश्वास हिन्दू-शीया प्रभावयुक्त, ४७४
खोतान में रामकथा : १०६
‘खोतानी रामायण’ : १८३,१८६
गंग (कवि) : ३५३,४४८,४६५,४६६
गंगा : ८९,—शब्द नदीवाचक, आग्नेय : १०८;—से कावेरी, ६५
गंगू :–के नाम पर वहमनी-राजवंश :४५५
गंगू सोइयाँ : ४०७पा.टि.
ग़ज़नवी, महमूद : ११५,२८२,२८३, २८५, २८६, ३११, ३१७, ३१८,३२२, ४५१,७१०;—इस्लाम का सेवक नहीं ; २८२,२८५,२८६;—का वंश ठिकाना, २८३;—की चढ़ाई, ३१३-१४;—की सेना में हिन्दू, २८७ ;—के आक्रमण से हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध बिगड़े : २८२; –प्रथम प्रबल मुस्लिम आक्रान्ता : ११५
ग़ज़ाली : ३०१,३०२,३६३;—इस्लाम के व्यास, ३००; तसव्वुफ़ के जन्मदाता, २९९,३००; पर्दा पर, ४७५
गणेश : ९४-९६,२०५,२२२;—आर्येतर, ९५;—उत्तर में केवल दुकानोंपर, किन्तु दक्षिण में विशाल मूर्त्तियाँ सोत्साह पूजित, ९४;—उत्तर में ब्रह्मचारी, महाराष्ट्र में शारदा-पति; ९५, —का नाम बुद्ध या महावीर ने नहीं लिया, ९५;—की ॐमयी व्याख्या ज्ञानेश्वरजी द्वारा सातवीं सदी में, ९५;—की कल्पना भारतीय, ९५;—की पूजा, ५४९;—को आर्यों ने जनता की तुष्टि के लिए अपनाया, ९६;—ग़ाज़ी हो गये; २६४, पा.टि.भी;—पर उपनिषद्, ९६;—पहले भयावह विघ्नेश, बाद में विघ्नहर, ९५;—पाँचवीं-छठी विक्रमी सदी में चिह्न, ९५;—पुराण तथा तन्त्र में, ९५;—बौद्धों द्वारा विदेशों में प्रचारित, ९६;—विनायक, ९६;—वेदव्यास जी के लिपिक, ५२पा.टि.
गांगुली (क्रिस्तान) :५२९
गाँधी जी : ७८,१९६,१९८,२०२,३२१ पा.टि., ३३७, ३४०, ३५५, ३९६,४०० पा.टि.,५५०,५५१, ५६७, ५८०, ५९५, ५९९, ६१४,६१७-३९,६४०,६४३,६५५, ६५८, ७०४, ७२६, ७३१, ७३३, ७३४; —आधुनिक हिन्दुत्व के सबसे बड़े प्रतिनिधि, १५९;—और अनेकान्तवादी दृष्टिकोण, ६२६-२७;—और अरविन्द, ६२६-२९;—और तिलक, ६०६;—और धर्म की अनुभूति, ६३३-३९;—और बुद्ध, १६९;—और भारतीय संस्कृति, ६१७;—और मार्क्स में भेद, १९३-९४;—और हिन्दी, ४६९,७३२;—की अहिंसा, ६२३-२६;

—के सच्चे पूर्वपुरुष शान्तिदेव, १९३; —द्वारा वर्णाश्रम का समर्थन, ७८,—पर जैन प्रभाव, १५९, १६१, १९३-९४
'गाथा' : पाँच पारसी धर्मग्रन्थ, ३५
'गाथा सप्तशती' : ६८,१००पा.टि., ४३२, ४३४
गाधि : ७५
ग़ालिब : ४४२,४६०
गान्धारकला : ४२७;—का प्रभाव अजन्ता पर, ४१४;—का विकास, २११
गिब्ब, एच.ए.आर.;२७८ पा.टि.भी.;२७९
गिब्बन : २८
'गीत गोविन्द' :१०१पा.टि.;१६४पा.टि., ३८८
'गीता' ('श्रीमद्भगवद्गीता') :६१,७८, १०५,१४०, १६३, १७५, १७७, १९४, २००-२, २०६,२०९,२५३,३६१,३६४, ३६६,३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७८, ३७९, ३८०, ४२२, ४४२, ५३४,५५८, ५६५,५६६, ५७०, ५९०, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४,६४०,६५१,६५५,७३१;—और क़ुरान,२५२,३६४-६५;—और जवाहरलाल,७३१;—और प्रवृत्ति,२०२, २५३,५३४;—और बौद्ध धर्म,२००-२; —और भक्ति,३६६,३७२,३७५-७६, ४४२;—और रसल,५१५-१६;—और राम,१०५;—और श्लीगल,५१४;—का अँगरेज़ी अनुवाद,५१२;—को तिलक ने नयी दिशा दी,३६१;—बुद्धपूर्व,२०० पा.टि.;—में चार वर्णों की व्यवस्था पर सन्तोष,७८;—में धार्मिक धाराओं का समन्वय,३७५;—में निगम-आगम-मिलन, ३७५-७६
'गीता भाष्य' :६०३
'गीता रहस्य' :५२०पा.टि.,६०४,६०६ पा.टि.,६२२
गुजराती : ३१
गुणभद्र ('रामकथा'कार) : १८४
गुणरत्न (जैन-टीकाकार) : १४९
गुणवर्मा (कश्मीर-नरेश) : २२०
गुणाढ्य ('बृहत्कथा'कार) : ६९
गुण्डर्ट,डॉ.एच., : ६७पा.टि.
गुप्त : राजवंश :— के ह्रास-काल में वासुदेव व्यभिचारी गोपाल में परिणत : ९९
गुरखाली : ३१
गुलबदन बेगम (हुमायूँ की बहन) : ३२०
गुहा,बी.एस. ('रेस अफ़ीनिटीज़ ऑव् द पीपुल ऑव् इंडिया') : ४३
गुह्यसमाज : २४२;—द्वारा बौद्धधर्म में विकार, २४१-४२
'गृह्यसूत्र' : १२२;—उपनिषत्काल में, १३४;—में द्रविड़-भाषा के मुहावरों का सूत्र,६८;—वैखानस-सम्प्रदाय का,६८
गेटे : ५१४,५१६;—के 'फ़ाउस्ट' पर भारतीय-प्रभाव, ५१४-१५
गैलिक : ३१
गोकुल जाट :औरङ्गज़ेब का विद्रोही,४००
गोखले :५४७,५५३,६१८पा.टि.,६७७,—और तिलक, ५५०
गोडसे :३९६,४०१
गोथिक : ४८
गोद्रावरी : ४०,८९
गोपाल कृष्ण : ९७,२०५
गोयलीय, अयोध्याप्रसाद : ४५४,पा.टि.भी
गोरिल्ला : २७-२८
गोवर्धनाचार्य ('आर्या सप्तशती'कार) : ४२३, ४३७
'गोविन्द रामायण' :४०५
गोविन्दाचार्य (शङ्कर के गुरु) १९६,३६०
गौरी (देवी) : ६७
ग़ौरी, शहाबुद्दीन मुहम्मद, : ८०,२८२, २८५,२८६,३११,४५१,७१०;—इस्लाम का प्रतिनिधि नहीं : २८२,२८५;—का आक्रमण और हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध : २८२;—की सेना वाले हिन्दुओं में शामिल :८०
गौड़पादाचार्य (अद्वैताचार्य) : १९६, २४८,२६६,३६०
गौड़, सर हरिसिंह : १९६
'ग्रन्थ साहिब' : ४०४
ग्राण्ट, चार्ल्स : ५०४,५०६,५०७ ; —अँगरेज़ी-माध्यम के समर्थक : ५०४
ग्राम : —आर्य-सभ्यता ग्रामीण,६२;—और जाति-प्रथा का टिकना, ६३;

—देव-देवी की पूजा पहले निषिद्ध, फिर स्वीकृत, ११० ; —में पेशा बदलना कठिन, ६३
ग्रिम (भाषा-वैज्ञानिक) : ५१२
ग्रियर्सन, डॉक्टर : ४२
ग्वाल (कवि) : ४५२,४५३पा.टि.
'ग्लिम्पसेज़ ऑव् मेडियवल इण्डियन कल्चर' : ३३४ पा.टि.
घनानन्द : ४२७,४३०,४३३,४३८;—से हिन्दी में रोमानी आन्दोलन आरम्भ : ४३८
घुमक्कड़ जातियाँ : ३४
घोर आङ्गिरस : १४२,१४३
चंगेज़ खाँ : २१२,२२७,२८४,२८५, ५३८पा.टि.; —का आक्रमण, २८४, २८५;—द्वारा सर्वप्रथम युद्ध में बारूद का प्रयोग : २८४; —बौद्ध ;२२७, २८४ पा.टि.,२८५,५३८पा.टि.;–मुसलमान नहीं,२८४ पा.टि.
चकबस्त : ७१८
चक्रवर्त्ती, सन्त इन्द्र सिंह : ४०५
चक्रवर्त्ती-पद : —की लालसा प्रत्येक भारतीय शासक को, ९०
चटगाँव : ५४
चटर्जी, सुनीति कुमार : ३०पा.टि.,३२, ३३,३५ पा.टि., ६७,८६,९३,९८,१०८, ४५९,४६१पा.टि.,४६४;—के अनुसार आधी से अधिक हिन्दू संस्कृति आर्येतर, ८६;—'गङ्गा' आग्नेय : १०८; —तमिल-संस्कृत सम्बन्ध,६७ ; —'दास' का अर्थ,३५पा.टि. ; —वैष्णव-धर्म का विकास,९८; —शिव-शक्ति पूजा का उद्गम, ९३
'चण्डी चरित्र' : ४०५
'चण्डी मङ्गल' : ४३१,४३२,४३३
चतुर्वेदी, परशुराम : कृत् 'उत्तर भारत की सन्त परम्परा' में वैष्णव-धर्म का विकास : ९८,९९
'चन्द छन्द बरनन की महिमा' : ४६६
चन्द बरदाई : ४४६,४५१,४५४,४६३; —की धार्मिक उदारता : ४४६पा.टि.
चन्द्रकीर्त्ति (बौद्ध) : २४८,२५७
चन्द्रभागा (नदी) :–तीर पर सूर्यमन्दिर : ५७
चमनलाल : २००
चमूपति : ५६१
चम्पा (भागलपुर) : —हिन्द-चीन में राज्य : २२३
चरक : २१३,२१६
'चरक संहिता' : २१३
चाँदबीबी : ४५५
चाटुर्ज्या, डॉक्टर सुनीतिकुमार, : (देखिये 'चटर्जी')
चाणक्य : ६२३
'चाणक्य नीति' : २१३
'चातुर्याम-संवर-संवाद' : १४३
चातुर्वर्ण्य : ५५,७३,७६;—अनिन्द्य;गाँधी, गीता, दयानन्द द्वारा समर्थित, ७६; —पर विलाप बहुत-सी जातियाँ बन खड़ी होने से, ७६
चान्द्र-तिथि : आग्नेय : १०८
चामुण्डा : —आदि कराल रूप : ८७
चार्टर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का,–ऐक्ट, —और शिक्षा. सन् १७९३, १८१३ और १८३३ के, : ५०३
चार्वाक् : १४०,१४७,१५४,२४३,५५४; —का पन्थ, १५४,—के अनुयायी, २४३ ; —दर्शन : भोगप्रधान, १४७; —वेद-निन्दक, १४०
चावल की खेती : आग्नेय : १०८
चित्रकला : —की काङ्गड़ा (पहाड़ी) क़लम : ४२०-२१; —की मुग़ल-शैली, ४१७-२०; —की मुस्लिम-क़लम की विशेषताएँ : ४२४-२५ ; —की राजपूत और मुग़ल क़लम का भेद, ४२५-२६; —की राजपूत-क़लम और रीति-काव्य, ४२६-२८, —की राजस्थानी क़लम, ४१८,४२०; —की हिन्दू-क़लम की विशेषताएँ : ४२२-२५; —मुस्लिम-उपरान्त : ४१६-१७; —मुस्लिमपूर्व : ४११-१६; —वैदिक-काव्य में, ४११
चित्रकूट : रामकथा से सम्बद्ध : १०३
चित्राङ्गदा : किरात-राजकुमारी : ५३
चिम्पन्ज़ी : २७

चिराग़ अली : ६७८, ६९९

चिश्तिया सूफ़ी-सम्प्रदाय : ३११

चीन : २७,३०,५३; पूर्वी—किरातों का मूल अभिजन, ५३; —में मानव पहले, २७

चीनी : ७५; —'इन्तु' से हिन्दू : ११४

'चूल मालुंक्य-सुत्तन्त' : १६६

चेज़ी (फ्रांसीसी संस्कृतज्ञ) : ५१३

चेर देश : —में परशुराम-काल में आर्य संस्कृति : ६४

चैतन्य महाप्रभु : ३६७,३७१,३८६,३८८, ४४३,५२४,५३१,५५३

चौण्ड्र : ७५

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' : ४६५

'चौरासी सिद्ध' : २३०

च्यवन, महर्षि,—ने शूद्र अश्विनीकुमारों को, इन्द्र से वैर ठानकर सोमपान कराया, ७४

छन्द : ५८

'छान्दोग्य-उपनिषद्' : ७४,१००,१२१, १२२-२३,१४१,१४२,३७४,—में श्री कृष्ण का प्राचीनतम उल्लेख, १००;—में ब्राह्मण-आडम्बर विरोध, १४१ पा. टि. भी।

जगतराम (कवि) : ३४६

जगन (चित्रकार) : ३४६

जगन्नाथ, पण्डितराज : ६९

जनक : १०२,११४,१४३,१४४,१४५, १४६,१७७,१८१, २५३, ६०६, ६२१, ७३२;—और कबीर, २५३

जनकपुर : ८९

जनविज्ञान : २९

जन्मेजय : ८१,१४५

'ज़फ़रनामा' : ४०४

जबलुत्तारिक़ : २८५

जमदग्नि ऋषि : ६५

जमाल (हिन्दी कवि) : ३४६,३५३

जमील मज़हरी (उर्दू शायर): ७१८,७२१ पा.टि. भी।

जयचन्द्र विद्यालङ्कार ('इतिहास-प्रवेश') : ३१,३२,५२,८०, २०८, ३१२, ३१३, ३१५,३१८,३२३,३२५,४५३;—का मत ऋग्वेद-रचनाकाल पर, ५२

जयदेव (कवि) : ३५०,३८२

जयपुर : ३४

'जय सोमनाथ' : ३१३,३१४

जरत्कारु (ऋषि) : ८१,८२

ज़रथुस्त्र : ५५,५६,५७,१३७ पा.टि.भी; २२७,२७४,२८९,३०५, ३०७, ३१०, ३९२,५१७,५१८;—अग्नि परमात्मा से लाये :५६;—और आर्य-धर्म,२७४; —का अकबर द्वारा आदर,३९२;—का इस्लाम द्वारा विरोध,२८९;—का काल, १३७पा.टि.भी;—का चीन से लोप,२२७;–की इस्लाम और ईसाइयत को देन, ५६;—धर्म, ५६,३१०,५१७, ५१८;–धर्म और तसव्वुफ़ :३०५,३०७

जरशब्द (जरशस्त) : ज़रथुस्त्र : ५७

जरहम बिन ताई (अरबी कवि) : २७२

जर्मन (भाषा) : ३१

जलालुद्दीन (चंगेज़ का प्रतिद्वन्द्वी) : २८४

जलालुद्दीन (हिन्दी कवि) : ३५३

'जवाबे-शिकवा' : ६८७ पा.टि.

जहाँआरा (मुग़ल शहज़ादी) : ३२०

जहाँगीर : ३२०,३४६,३४७,३४८,३९५, ३९६,३९७,४०५, ४१८, ४१९, ४२९, ४६६,४७२,४७४,४७५,४८९,४९१;—और शेख़ सरहिन्दी : ३९५;—और स्थापत्य, ४२९,—का अत्याचार, गुरु अर्जुनदेव पर, ४०५;—का प्रकृति और चित्रकला से प्रेम, ४१८-१९;—काल में एकता की धीमी लौ, ३९६-९७;—की अनुमति से सूरत में तम्बाकू की पुर्तगाली कोठी, ४८९;—के समय ईसाइयों ने आगरे में कॉलेज खोला, ४९१

'जातक कथाएँ' : ८८,१०२,१०९,१४५, १८३,१९५,२१४, ४११, ४१३;—की पशु-पक्षियों वाली कहानियाँ आग्नेय भाण्डार की, १०९;—पुराणों जैसी, ८८;—लोककथा से साहित्य, १०९

जाति (प्रथा) :७८-८१;—आरम्भ में अकठोर, परिवर्त्तनीय, ७५;—ईरान और यूनान में भी; ५५, ७३;—ऊँची से

नीची, नीची से ऊँची, ८०;—का आधार पेशे ही नहीं, संस्कृति के स्तर भी, ७९;—की वचसा निन्दा, कर्मणा नहीं, ७८;—को बौद्ध चुनौती के बीज वैदिकों में ही, ८६;—द्वारा आर्य, आर्येतर जातियों से बचना नहीं, सब को एक करना चाहते थे, ७९;—नवागन्तुकों को पचाकर एकता लाने के लिए, ७८-७९;—पर व्यासजी का मत, ८६;—में कठोरता दसवीं सदी ईस्वी में, ८०;—में सभ्यता ग्रहण कर लेने पर उन्नति, ७९;—रूढ़ ग्रामीणता-वश, ६३;—से दो सौ छियासी जातियाँ बनीं, ८१;—हिन्दू समाज का अभिशाप, ७८
'जानकीहरण' : ६८,—रामकथा-प्रसङ्ग : १०६
जानम, बुर्हानुद्दीन : ४५७
जाबाला : ७६
'जाबालि-वृत्तान्त' : क्षेपक : १०३
जायसी : २७५,३११,३४२,३४३,३४६, ३४९,३५०,३५१, ३७५, ३८८, ३९०, ४३३,४४६पा.टि , ४४७, ४५१, ४५६, ४५९,४६४ पा.टि., ७२४
'जायसी ग्रन्थावली' : ३३३ पा.टि.
'जावेदनामा' इक़बाल : ६९४ पा.टि.
जाह्नवी देवी (रानी) : १०१
जिन्ना : ४०१,७१०,७१६
ज़ियाउद्दीन : का सुहरावर्दिया सूफ़ी-सम्प्रदाय : ३११
ज़ीनो (यूनानी दार्शनिक) : २१०
जीलानी, शेख़ अब्दुल क़ादिर,—का क़ादिरिया सूफ़ी सम्प्रदाय : ३११
जीवगोस्वामी :—की आज्ञा से श्रीकृष्ण के पास राधा की मूर्त्ति स्थापित, १०१
जेठ-जेठानी : रिश्ते : १०९
ज़ेनोफ़ेन : २१०
'ज़ेन्दावेस्ता': ४६,५१,४४८,५४७,५६३, ६५१;—की भाषा ऋग्वेद के समान, ५१,४४८; (देखिये 'अवेस्ता' भी।)
'ज़ेन्द' :—में असुर देववाचक;—मित्र, वरुण, अग्नि आदि की सत्ता, इन्द्र विरोध; ५१
ज़ेवियर, फ्रांसिस, :४९१
ज़ेरूसलेम : ८९
जैकोबी, ऋग्वेद का रचना-काल, : ५२
जैन : ३५,९३,१३८;—ग्रन्थों में राम-लक्ष्मण तिरसठ महापुरुषों में;१०२,१०६
जैन धर्म (दर्शन) :१०६,१२७,१३७-६२, १४८,१४९,१५१, १५३, १९१, १९७, २५८,३२७,५११,६००,७२३;—अन्धविश्वास विरोधी,१८७;—और अकबर, ३९२,—और अहिंसा, १५२-५३,६२३;—और गाँधीजी, १९३;—और गीता, २००-२;—और चित्र, स्थापत्य तथा मूर्त्तिकलाएँ; १६२,४१५,४२०;—और जीवन से पलायन, २५३;—और पिथेगोरस-दर्शन, २७०;—और पुराण, १८२,१८३,१८४;—और बौद्ध धर्म, १५४,१५५,१५६,१५७-५८; —और रामचरित्, १०२,१०६,१८३;—और वैदिक धर्म में बड़ा भेद नहीं, १४८;—का अनेकान्तवाद, १५१-५२;—का अस्पृश्यता में हाथ,८०;—का इतिहास, १५८-५९;—का त्रिरत्न, १५६;—का मूल आगमों में, ६१;—का वैदिक धर्म पर प्रभाव, १५९-६२;—का हिन्दू धर्म पर प्रभाव, १९७;—की अकबर द्वारा सहायता, १५९;—की अनुश्रुति, १४६;—की अहिंसा वेदों से निकली,१४७;—की दो शाखाएँ,१५८;—की प्राचीनता, १४६-४७;—की विशेषताएँ,१४६-४८;—के आदि-तीर्थङ्कर, ६२;—के उदय का कारण, ७१,१३७-४६;—के पुराण, १८४;—के प्रमुख प्रमेय, १४९;—के बाहर न जाने और देश में टिकने के कारण, १४५;—के योग में प्रयोग, समाधि-ध्यान का महत्त्व, १७६;—गृहस्थों का भी धर्म, १५८;—जवानी का संन्यास और खेती से विमुख होने की प्रवृत्ति, ७२;—धर्माचरण में वैदिक धर्म के निकट, १५७;—पर उपनिषदों का प्रभाव, १७२;—पर शैवों के प्रहार, २६०-६२;—मठ पिछले मुग़लों के समय

निष्प्रभाव, १५७;—महंजोदरो में,१४७;—में आचरण के सिद्धान्त, १५४-५७;—में मोक्ष, १५१,१७२; —में मोक्ष और नारी, १८१;—में योग की परम्परा, ६२,१४७;—में राम, आठवें बलदेव;१०६,१८३,१८४;--में साकारोपासना की खिड़की खुली, १८८;—में सृष्टि,१५७;—में सिद्ध,परमात्मा कोटि में, १५०;—लिङ्गपूजा का प्रेरक, ८७
ज़ैबुन्निसा (मुग़ल शहज़ादी) : ३२०, ३५२;—का 'नैनविलास', ३५२ पा. टि.;—का हिन्दी दोहा, ३५२ पा. टि.
जोगीमारा (म०प्र०) गुफा की चित्रकारी : ४१३
जोड,सी.ई.एम.,:—द्वारा भारतीय संस्कृति के समन्वय-प्रक्ष की प्रशंसा : ११६
जोन्स, सर विलियम, : ५१२,५१३;—की भाषा सम्बन्धी-स्थापना, ४८
जोश मलीहावादी : ३४० पा.टि.,७२०, ७२१
जोशी, डॉक्टर लक्ष्मण शास्त्री, ('वैदिक संस्कृति का विकास') : ५८पा टि., ६३ पा.टि., ७३ पा टि. ७५ पा.टि., ७६ पा. टि., ७७ पा. टि,, ८३ पा. पा.टि.,१३३ पा.टि.,—जाति प्रथा पर मत. ७३,७५,७६,७७,८३
ज्ञान और भक्ति : प्राग्वैदिक, ७२
'ज्ञानसिद्धि' : २४७
ज्ञानदेव : ५५१
ज्ञानेश्वर, सन्त, : ६०३,—द्वारा गणेश की ॐमयी व्याख्या, ९५
'ज्ञानेश्वरी' : गीता की टीका : ६०३
ज्योतिष् : ४९,२१४-१६,३५३; —पर विदेशी प्रभाव, ४७८
ज्योतिरीश्वर, कविशेखराचार्य, : ४५४
झल्ल-मल्ल : व्रात्य-क्षत्रियों में : ८२
टङ्क (आचार्य) : ३७९
टवर्नियर (वर्नियर) : फ्रांसीसी यात्री : ४८९
टॉमस ('म्युचुअल इनफ्लुएंसेज़ ऑव् मोहमडंस एण्ड हिन्दूज़ इन इण्डिया') : ४७४
टॉल्सटॉय : द्वारा सविनय अवज्ञा की कल्पना, ६१८,६१९
टीपू : फ्रांस से सन्धि एवं स्वतन्त्रता-वृक्ष-रोपण : ४८८
टेरी : ४९१
'टैगोर एण्ड अमेरिका' : ७३१ पा.टि.
टैगोर, द्वारकानाथ : ५४१
टैगोर, प्रसन्न कुमार, : ५४१
टोडरमल : ४६४
ट्रम्प, सिक्ख-धर्म ग्रन्थों के अँगरेज़ी अनुवादक : ४१०
'ट्रैवेल्स विद ए डङ्की' (आर एल. स्टीवेंसन) : ५०१
ठाकुर, देवेन्द्रनाथ,:४४१,५४२-४३,५४५, ५५२,५५६
ठाकुर, मगन, (आराकान के वज़ीर) : ३४२
ठाकुर, रवीन्द्रनाथ, : २४८,४३४,४४१, ४४२,५८६,५९५, ६१९, ६२७, ६४४, ६८५,६८६,७०३,७३१,७३४; —का आदर्श-मानव, २४८;—द्वारा मृत्यु का मोहक रूप चित्रित, ४४१;—पर सूफ़ी प्रभाव, ४४१
डङ्कन, जोनाथन (बनारस का रेज़िडेण्ट): ४९६
डफ़, अलेक्ज़ेण्डर : ५०९,५२३
डलहौज़ी : सिक्ख-विरोधी-नीति : ४१०
डॉडवेल : ११६,५०१;—द्वारा भारतीय समन्वय-भावना की प्रशसा, ११६
डायसेन, डॉक्टर, : १४६
डारविन : २८,४९०
डिज़रेली : ५८१
डुप्ले : ४८८
डुराण्ट, विल : (दार्शनिक, कृत 'आवर ओरियण्टल हेरिटेज') : १७१,२१४, २१५ पा.टि., ३२४ पा टि., ४२८ पा.टि., ४३० पा.टि., ४९०;—के अनुसार भारत पर मुस्लिम आक्रमण जाति-पाँति भेद के कारण सफल,३२४;—का मत ताजमहल पर, ४३०;—का मत, अँगरेज़ों की भारत-विजय पर, ४९०

डेन : ३१
डेरियस (ईरानी राजा : दारा),के शिला-लेख में "हिन्दू" : ११२
डेविस, एफ़. हैडलॉण्ड, ('द पर्शियन मिस्टिक्स') : ३०४ पा. टि.
डैमेक्स (सीरियाई राजदूत, पाटलिपुत्र में) : २११
ड्राइडन (कवि) : ४८९
'ड्रैवेडियन एलिमेण्ट्स इन इण्डियन कल्चर' (डॉक्टर गिलबर्ट स्लेटर): ४१ पा.टि.
तंज़ोर : ३४
तंत्र : ९५,२३१,२३४-३५,२३७; ---का दर्शन पक्ष, २३१;--का विकास महायानोत्तर सन्तों द्वारा, २४०;—का व्यावहारिक पक्ष, २३४-३५;—की गुह्यता का कारण, २४१;—के बौद्ध धर्म में प्रवेश का कारण, २४१;—ग्रन्थ गुप्त काल के लगभग रचित, ९५;—में गणेश, ९५;—में वाममार्गी कृत्यों का धार्मिक स्वरूप, १८१ पा.टि.;—सभी देवों की सहचरियों का जन्मदाता, २३१-३२,—साधना-परम्परा, २४०-४१
तत्त्व-बोधिनी-सभा : ५४३
'तत्त्व संग्रह' : २६५,२६६
तमिल . ३१,४४,६३,६४,६५, ६६, ६७, ६८,६९.७०,७२,७३,१०४;—अर्वाचीन भाषाओं में प्राचीनतम, ६९,७०;—आणमन्दि=हनूमान, १०४;–उच्चारण नियम, ६७; —किरुत्तिनन=कृष्ण, ६७;—नाडु वैदिक-मत का गढ़, ६५;—परम्परानुसार उ. द. सम्बन्ध अति प्राचीन, अगस्त्यपूर्व,—देश जङ्गल,६४;—'पूजा' संस्कृत 'होम' की जगह, ७२, ७३;—प्रभाव संस्कृत पर, ६६;—में 'वडवर' उत्तरवाले, आर्यों के लिए, ६३;—में शिव-उमा विवाह और धरती का सन्तुलन, ६४;—वेद में नहीं, ६५;—'विन'=विष्णु,६८;—संस्कृत शिव से उत्पन्न, ६५;—सङ्गम-साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थकार, ४४;—साहित्य के अनुसार आर्य विन्ध्य से उत्तर, संस्कृत भाषी, ६३; —'सिवन'=शिव,—'सेम्बु'=शम्भु, ६८
'तमिल-प्रबन्धम्' : ३७८, ३७९, ३८०, ३८१,३८२,३८७; —भक्ति-आन्दोलन का मूल-ग्रन्थ, नाथमुनि द्वारा सङ्कलित; ३७७,३७८,३८७
'तमिल रामायण' (कम्बन) : १०६
तसव्वुफ़ : २९८-३११,३३१,३३६-३७; ३४२-४३, ३८४,४०२,५३६,६६५;—का कारण इस्लाम की थकावट, ३०३;—का प्रभाव राममोहन पर, ५३६;—का भारतीयकरण, ३४२-४३;—के विकास में भारतीय प्रभाव,३०३-७;—के विकास में यूनानी प्रभाव, ३०३-७
'तसव्वुफ़'(चन्द्रबली पाण्डेय): ३०५ पा.टि.
'तहज़ीबुल-एख़लाक़' : ६७८
तहमास्प (ईरानी बादशाह) : ३२०,४१७
तक्षशिला में ईरानी छात्र : ५६
'ताओ-ते-किङ्' : २२६
ताओ-धर्म : २२७
ताज (कवयित्री) : ३५३,३५४,७२४
ताजमहल : ४२९-३०
ताजिक शास्त्र : ४७८
तानसेन : ३५३
ताम्रपर्णिक मोती : मन्नार की खड़ी के, 'अर्थशास्त्रोल्लिखित', : ६४
ताराचन्द, डॉ., :३५६पा.टि.भी, ३५९,३६० ३६३, ३६४,३७३,७२४;—कृत'हिस्ट्री ऑव् द फ्रीडम मूवमेण्ट' : ३९५पा.टि.-—के अनुसार सूफ़ीमत के पाँच उद्गम, ३०५–६;–कोआलवार सन्तों पर इस्लामी-प्रभाव का भ्रम, : ३६६;—को शङ्कराचार्य पर इस्लामी प्रभाव का धोखा, ३५९-३६६;—को साकारोपासना में भी इस्लामी प्रभाव दिखा,३६३;—वीर शैवों पर मत.३६८;—हिन्दुत्व पर इस्लामी प्रभाव के अतिरञ्जक,३५९-६६
'तारीख़-तैमूरी': ४१९
तिथि-गणना (चान्द्र) : आग्नेय : १०८
तिब्बत : ३०,५३;—में रामकथा,१०६
तिब्बत-चीनी : ३१
तिब्बत-बर्मी : ३२,४२

तिरहुत : उ. बिहार के गौर वर्ण जन, किरातवंशी : ५३
तिरुवल्लुर : ३४
'तिरुमरइ' : शैवगीतों का ग्यारह जिल्दों में सङ्कलन,३८७
तिर्यक् कन्या : ८२
तिलक,लोकमान्य बालगंगाधर,: ४९,५२, १०८,३६१,५१९, ५२० पा.टि, ५३४, ५४८,५४९,५५०,५५१,५५३,५५६, ६०१,६०२,६०४,६०५,६०६,६१२,६१९, ६२२,६५९,७३१,७३४;—और गाँधी, परशुराम और राम,५५०-५१;—और गीता : ३६१,५३४,६०१,६०२, ६०४;—और गोखले,५५०;—और रानाडे तथा आगरकर,५४८-४९;—और शङ्कर, ३६१;—का मत वेद-रचना काल पर, ५२;—कृत 'ओरायन' : ४९;—द्वारा हिन्दूधर्म परिभाषित, १०८;—भारतीय राष्ट्रीयता के जनक,५४९-५१
तिलक : ग़ज़नवी-सेना का अधिकारी : २८७
तिलोपा : २५५
तीर्थ : भारतीय एकता के कारण,९०;—समस्त भारत में,८९
तुकाराम,सन्त, : ३७१,५५१
तुरकावषेय : १४५
तुर्क : मुस्लिमपूर्व : २८,३२,४७,१११, ११५,११६
तुर्क : मुस्लिम : २८२,२८३,२८५,२८६, ३२०,३४७,४०३,४५९पा टि.,४७०;—इस्लाम के नेता, २८५; इस्लाम में—प्रवेश और इसका बदल उठना,२८२-८३;—का मूल,२८३
तुलसी : १६८,१९१पा.टि.,१९९, २०९, ३१५, ३४२, ३४४, ३४७-५०, ३४८ पा.टि.भी,३५२,३७१,३७९,३८०,३८१ पा.टि., ३८३, ३८४,३८५,३८६,४३०, ४३३, ४४६पा.टि.भी, ४४७,पा.टि.भी, ४४८,५२४,५३१,५४६,६३६पा.टि.,—असाम्प्रदायिक, ३४७-५०;—चौपाइयाँ, ३८०-८१पा.टि.भी;—दोहे, ३८१पा.टि;—द्वारा अरबी-फ़ारसी शब्द प्रयुक्त, ४४७;—में सच्चा हिन्दूधर्म,३८५
'तुहफ़तुल फ़िलासफ़ा' : ३००
'तुहफ़तुल-मुवह् हिदीन' : ५३६
तृणधूमाग्नि : ६५
तेग़ बहादुर,नवें सिक्ख गुरु : ४०४;—का हिन्दुत्व के लिए त्याग,४०६
तेलुगु : ३१
'तेलुगु द्विपाद रामायण': १०६,१८६
'तैत्तिरीय ब्राह्मण' : में तीन ही वर्ण : ७४,—में वराहावतार,१०४
'तैत्तिरीय संहिता : ९३,—द्वारा शूद्रों को वेद-यज्ञ निषेध : ७७
तैमूरलङ्ग : २८४,२८६,४१७,४२५,४७२;—का आक्रमण,२८६-८७;—के वंशज और कलाएँ;४१७,४२५
तैमूरी रिनासाँ : २८४
तोतापुरी,महात्मा : ५७५
'तोरावे रामायण' (कन्नड़) : १०६
तोरूदत्त (कवयित्री) : ४९६ पा.टि.
तौहीदे-इलाही : ३९१-९७;—का विरोधी सरहिन्दी,३९४-९५;—के विरुद्ध आन्दोलन और इसकी पराजय,३९४-९७
त्युतनी : ३१
त्रिपाठी,रामनरेश ('कविता कौमुदी'): ४५४
त्रिपाठी, डॉ. रामप्रसाद (इतिहासकार) : ४५१ पा.टि.
'त्रिपिटक' : १८३,६५१;—का चीनी अंश, १८३
'त्रिपुरदहन' : ६९
त्रिवेदी, पण्डित रामगोविन्द ('हिन्दी ऋग्वेद') : ५२,१२६ पा.टि.,:—ऋग्वेद का रचनाकाल,५२
'त्सा-पौ-त्सग-किङ्ग' (चीनी 'त्रिपिटक' के अन्तर्गत) : १८३
'थॉट्स ऑन द प्रेजेण्ट सिचुएशन' : ६७९
थॉमसन : ५०८,५३७
थियोसोफ़िकल सोसाइटी : ५६२-६८,—का जन्म,५६२-६३
थियोसोफ़ी : और दयानन्द,५५७;—धर्म की सञ्जीवनी,५६७-६८
थुरो :५१५,५२०,६१८,६१९;—द्वारा सविनय-अवज्ञा की कल्पना,६१८
थेरिडॉन : ४९४

दण्डी : ६८ पा. टि.
'दक्खिनी हिन्दी' : ४५४ पा.टि.,४५६ पा. टि.
दक्षिण (भारत): ६३,६४,६८,८९,९०,९५, १०१,११२;—अगस्त्य का बसाया,६४; —का इतिहास भी आर्यों से आरम्भ, ६७;—का उत्तर से सम्बन्ध अति प्राचीन, ६४; —के देवता 'मुरुकन' कार्त्तिकेय के रूप में सोत्साह पूजित,९५, —की भाषाएँ भी संस्कृत से विकसित, ६७;—के शरणागत धर्मप्राणजन,विदेशी आक्रमणकाल में, ११२;—के हिन्दू उत्तरी तीर्थों के लिए उत्सुक,८९;—द्रविड़ देश,—द्वारा हिन्दुत्व का नेतृत्व, ८९;—में गणेश-कार्त्तिकेय की वीरता व्यञ्जक मूर्तियाँ,९४;—में पूरा शिव-परिवार पूजित,९४;—में भी मोक्षदा नगरियाँ,८९;—में भी विशिष्ट भाषा संस्कृत,६७;—में हिन्दुत्व की पवित्रता रक्षित,११२;—में ही राधाभक्ति का जन्म,१०१
दत्त, अविनाशचन्द्र, : ५२,७६;—ऋग्वेद का रचनाकाल,५२;—का मत,शूद्र,दास, दस्यु विषयक,७६;—ब्राह्मणत्व का अधिकारी हर कोई,७६
दत्त, गोविन्दचन्द्र : ४९६ पा.टि.
दत्त, तोरू (कवयित्री) : ४९६ पा. टि.
दत्त, धीरेन्द्रमोहन, : ६२६
दत्त, नरेन्द्रनाथ,: ५८२,५८३,५८४ (देखिये 'विवेकानन्द' भी।)
दत्त, माइकेल मधुसूदन, : ४३४,४९६ पा.टि.,५२६ पा. टि.;—का धर्म परिवर्त्तन पेट के लिए,५२६ पा.टि.
दबीर : ४६०
दयानन्द : ७८,१५५,३२२ पा.टि.,४६८, ४६९,४८०,५३४,५४६,५५२,५५३-६१, ५७१,५८६, ६०७, ६१९, ६२०, ६२८, ६४०,७३४;—और थियोसोफ़ी,५५७;—की दृष्टि में ब्राह्म-समाज और प्रार्थना-समाज, ५५३;—द्वारा किसी भी धर्म के प्रतिपक्षपात नहीं,५५५;—द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन, ७८;—मुस्लिम जनता के बीच समादृत,५५४;—राम कृष्ण की दृष्टि में, ५६९;—विश्व मानवता के नेता,५५५-५६;—सुधारक कम, क्रान्तिकारी अधिक,५५५-५६
दयाबाई : ४८०
दयाराम : ४०२ पा. टि.
'दरबारे-अकबरी' : ३२०
'दरिया-ए-लताफ़त' : २७२
दर्द : ४३८
दर्शन : ८८,—नास्तिक भी,१०७
'दशमग्रन्थ' : ४०४
दशरथ : १०२
'दशरथ कथानम्' : १८३
'दशरथ जातक' : १८३,१८४
'दशावतार चरितम्' : १८५
दसवन्त (अकबरी दरबार के चित्रकार): ४१८
'दस स्पेक ज़रथुस्त्र' (नीत्शे) :६९८पा.टि.
दस्यु : ४५,५१,७५ पा.टि.
'दह़ मजलिस' (प्राचीनतम उर्दू गद्य-ग्रन्थ): ४६४,४६६,४६७
दाक्षिणात्य : संस्कृत-साहित्य में द्रविड़ों के लिए : ६३
दाङ्ग नगोक चान : २२४
दादू : १९९,३३८,३३९,३४४,३४९,३५०, ३६३, ३६७, ३७०, ३७१, ३८४,३८९, ४३३,४४१ पा. टि.,४५२ पा.टि. भी, ५५२,५५४
दारजिलिङ्ग के 'लेपचा' किरात : ५३
दारा शिकोह : २७५,३११,३४४,३४६, ३६६ पा. टि.,३९६, ३९७, ३९८,४००, ४०१,५११,७१०;—की मृत्यु ज़हर की जीत,४०१;—को हिन्दुओं का भी पूर्ण साहाय्य अप्राप्त, ३९८;—पराजित पीयूष, ३९७-९८;—में अकबरी उदारवाद की पूर्णता,३९६
दास : ३५,३६,५१,७६,७७;—भारत में अरस्तू की कल्पना से सर्वथा भिन्न,७७
दास,अमर, : तीसरे सिक्ख गुरु : ४०४
दास,कबीर : देखिये 'कबीर'
दास,कुमार(महाकवि, 'जानकी हरण') :६८
दास,कुम्भन, : ३५०,३८४

दास, केशव, (कवि) : ४२७,४३३,४३६, ४४६ पा.टि. भी ।
दास,केशव (चित्रकार) : ४१८
दास,चण्डी, : २४७,३९०;—वैष्णव सहजयान के महाकवि,२४७
दास,चरण, : ४८०
दास,तुलसी, : देखिये 'तुलसी' ।
दास,दूलन, : ४८०
दास,धरनी, : ३३८,४८०
दास,धर्म, : ४०७
दास,नागरी, : ४५२,४५३ पा.टि.
दास,नाभा, : ३८३,३८४,४६५
दास,परमानन्द, : ४४०
दास,पलटू, : ३४०,४८०
दास,भगवान, (कवि) : ३४६
दास,भगवान (जहाँगीर के श्वसुर) : ३२०
दास,भिखारी, : का भाषा विषयक विचार : ४४८
दास,भीखा, : ४८०
दास,मलूक, : ३३८,३४०,३४१, ३८४, ४५२ पा.टि. भी ।
दास,राम, : चौथे सिक्ख गुरु : ४०४
दास,राम; समर्थस्वामी, (मराठा सन्त) : ३८४,५५१
दास, रायकृष्ण, (कला-मर्मज्ञ) :४२७पा.टि.भी
दास,श्यामल, ('वीरविनोद') : ३१९पा.टि. भी ।
दास,सुन्दर, (सन्त): ३३८,३४०,३४६,३८४
दासगुप्त,दर्शनाचार्य सुरेन्द्रनाथ,२००पा.टि., ३६१
दास्ताने-(अमीर)-हमज़ा' : ३३३
दिङ् नाग : २६५
दिवाकर,रङ्गनाथ रामचन्द्र, : ३६८,६१८ पा.टि.
दीक्षित, भट्टोजि : ६९
दीक्षितर,आचार्य वी. आर. श्रीरामचन्द्र, : ४०,४१,४२,४३,४४,९७;— के अनुसार द्रविड़ नाम-गाम,४०;— के मत से दक्षिण भारत द्रविड़ों का मूलस्थान,४१; —द्रविड़ स्थानान्तरण,४०-४३;— भारतीय भाषाएँ यूरोपीय भाषाओं से अधिक परस्पर समान,४४;— शिव के रुद्र नाम का अर्थ,९७
दीने-इलाही : ३९१-९३; देखिये 'तौहीदे-इलाही', भी ।
'दीर्घ निकाय' : १४५,१६७,१८२
दुपरोन,ऐनक्वेतिल, : ('औपनिखत') : ५११,५१७
दुबोय,एबी, : ('हिन्दू मैनर्स,कस्टम्स एण्ड सिरीमनीज़') : ५११,—प्रचार विफलता पर विलाप,५२३
दुर्गा : १०२
दुधू मियाँ : ६६९
दुष्यन्त : ८२
देव : ५५;–ईरानी में असुरार्थक,५५;— से प्राचीन असुर,५९
देव,आचार्य नरेन्द्र, : ('बौद्ध दर्शन') :१४१
देव, (कवि) : ४३३,४३६
देव,गुरु अर्जुन; पाँचवें सिक्ख गुरु : ४०४, ४०५;—पर अत्याचार,४०५
देव,सन्त नाम, :३३७ पा. टि.,३७१,३८९; —और खड़ी बोली,४५२
देवकी : ८१
देवर-देवरानी के रिश्ते : १०९
'देवल स्मृति' : ३२२
देवापि : १४५
देवासुर संग्राम :—का भूगोल,५०-५१, —के भारत से बाहर होने की सम्भावना,५०;—में आर्यों के विरुद्ध आर्य अथवा महंजोदरो वाले,५१
'देवी भागवत' : में भक्ति के प्रमाण : ३७२
देश भाषाएँ : रामचरित पर उत्तम काव्य : १०६
'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' : ४६५
दौलत राम : ४६७,४६८,४६९
द्रविड़ : २८, ३०,३१,३४,३५,३६,३७, ३८,३९,४१,४२,४३,४४,५१, ६३-६६, ६७,६९,७०,७३,७८,७९,८६, ८७,८८, ९३,९४,९५,९७,१०४,१०९,१११,११२ ११५,११६,२०६,३६७,५९३,७२३;— आणमन्दि— हनूमान, १०४;—आर्यों से एकाकार, ८८;—ऋषि पुरोहित, ४४ , — एजियन समुद्र के पास, ९३;—और;

आर्य-साहित्य की एक ही प्रकृति, ६९;—और मुण्डारी में असाम्य, ४२;—और शिव-भावना का विकास,८७,९४;—का आगमन, ३४-३७;—का आर्यों के सम्बन्ध, ६३-६६;—का आर्यों से साम्य, ३६,६६,७०;–मूलस्थान दक्षिण-भारत मानना ही ठीक, ४१;—का शास्त्र-पुराणों की रचना में योग, ४४, ८८;—की आर्यों से भिन्नता, २०६;—की भाषा, ३५,३७,४२,६९,७०;—के धर्म में भक्ति-प्रधानता; ३७,३६७;—के पूर्वज भूमध्यसागर-तट पर, ३७,९३;—को आर्यों द्वारा संस्कृति-दीक्षा, पर अब आर्यों से द्रविड़ आगे, ३६;—कौन, ३८,४३,९६; --द्वारा कृषि का विकास, समुद्र यात्रारम्भ, नदियों से सिंचाई, मन्दिरों का निर्माण एवं नगर-सभ्यता की नींव, ३७;—दाक्षिणात्य, ६३;—देवता, ताम्रवर्ण के, मरुतस्वामी रुद्र से मिले, ९७;–देवता 'मुरुकन' :यौवन, युद्ध वीरता के : कालान्तर में स्कन्द बनकर सोत्साह पूजित, ९५;–धर्म, कर्म, सभ्यता में बहुत ऊँचे, ७८;—धर्म को आर्यों ने पचा लिया, ३६;–निवृत्तिमार्गी, ६९,७३;—प्रभाव मराठा रस्मों पर, ३७;—भाषार्थक, ४४;—भाषाओं की लिपियाँ ब्राह्मी, ६७; रावण—नहीं, ६५; --रोम (एजियन) सागर के पास, ९३;–वायव्य कोण से भारत में, ४२;–शब्द भौगोलिक अर्थ देनेवाला, ३५,४४;—शुद्ध नहीं, सब हिन्दू;११२;–शैव-भावना, शाक्त धर्म तथा भक्तिवाद के प्रवर्त्तक, ३७,८७,९३,९४;—सभ्यता आर्यों से पुरानी,७०; सुयोग्य—ब्राह्मण मान लिये गये, ७९;–स्वभाव अहिंसादि कोमलतत्त्वमय, ७०
द्रविड़ : आचार्य, ३७९
द्रौपदी : १००
'द्वन्द्वगीत' : ३४१पा.टि.
द्वापर : ९८
द्वारका : ६५,—पुरी का कृष्ण मन्दिर पहले सूर्य मन्दिर, ९७पा.टि.
द्वारावती : मोक्षदा नगरी : ८९
द्विवेदी, आचार्य पण्डित हजारीप्रसाद : ९९, १०१,२५६,२६०,२६३,४७८,पा.टि.;—कृत 'कबीर' :२६३;—कृत 'मध्यकालीन धर्म-साधना'; ९९,१०१पा.टि.भी;२६०, २६३;–कृत 'हमारी साहित्यिक समस्या': ४७८पा.टि.;—कृष्ण के विषय में, ९९-१०१;पा.टि.भी;–तान्त्रिकों और योगियों की धक्कामार भाषा, २५६;—बौद्धों की भर्त्सना में ब्राह्मणों का अतिवाद, २६०
धन्ना : (कबीर-परम्परा के सन्त) : ३३८
धर्मकीर्त्ति (सुमात्राई बौद्ध दार्शनिक) : २२१,२६५
धर्मशास्त्र : के अनुसार ब्राह्मण अत्युच्च:८४
'धर्मशास्त्रों का इतिहास' (म.म.बी.पी. काणे) : ७६,८१, ३७४पा.टि.
'धर्मसूत्र' : ३६,६४,६८ १२२;—बौधायन का, ६४
ध्रुव, उ. : २७, ४९
'ध्वन्यालोक' : १००पा.टि.
नगर-सभ्यता : ३०
नज़रुल-इस्लाम, क़ाज़ी, : ७२०
नज़ीर अकबराबादी : ४६०,–के अधिकांश विषय भारतीय, ४६०
नज़ीर अहमद, मौलाना, : ६८०,६८१
नदवी, मौलाना सैयद सुलेमान, : २७३
नदियाँ, एकतावाहिनी, : ८९
नयनभास्कर (मूर्त्तिकार) : १०१
'नया समाज' : ४५८पा.टि.
नर : ऋषि : ९८;—नारायण कथा,९८
नरपति नाल्ह : ४५१
नरहरि : ३४६,३९७पा.टि.
नर्मदा : ८९
'नल-चम्पू-काव्य' : ६९
'नलोदय' : ६९
नव-अफ़लातूनी मत : २१२,३०५,३५९;—और तसव्वुफ़, ३०३,३०७
'नवजीवन' : ६३०पा.टि.
नवरङ्गविहारी (औरङ्गज़ेब) : ७२४
नव-विधान-सभा : ५४४
नवोत्थान :—और निवृत्ति का त्याग,५३४-३५;—और भक्ति आन्दोलन, ५५२;—का स्वरूप,५३१-३३;—की रीढ़ वेदान्त,

५३३-३४;–के कवि, ६८५-८८;—महाराष्ट्र में, ५४७-५५२

नहपा : ३३३,३५०

नाग : ५९,८१,८२,९६;—देवता, ९६;–कन्याएँ अतिरूपवती, आर्यों द्वारा सानन्द-वरण, ८२

नागा जाति : ३२,५४;–में हिन्दू संस्कृति,५४

नागार्जुन : १९५,१९६,१९८,२२४,२५८, ३६९,३६२;—का शङ्कर पर प्रभाव, १९६;—का शून्यवाद, १९५-९६;३६१;—द्वारा उपनिषद् और बौद्धधर्म में समन्वय, १९६

नाथ, एक, : ५५१

नाथ, गोकुल, (पुष्टिमार्गी सन्त) : ४६५

नाथ, गोरख : २५०,२६३,३३७पा.टि., ३८९,३९०पा.टि. भी, ४६५;—के पद, ३८९,३९०पा.टि.;—पन्थी ग्रन्थ, ४६५

नाथ, नेमि : १४२पा.टि.भी.,१४६,१५८

नाथ, बिट्ठल : ३८६,४६५

नाथमुनि : ३७७,३७८,३७९,३८७;–द्वारा आलवार सन्तों के तमिल पदों का सम्पादन, ३८७

नानक : सिक्खधर्म के आदि गुरु : ११४, १९९,२५१-५२,३३८,३५०,३६३,३६७, ३७०,३७१,३८४,३८९, ४००, ४०२-३, ४०४,४४४,४५२पा.टि.,५३१,५५३,५७६, ५८५,६८९;–और सहजयान, २५१-५२;—का माधुर्यभाव, ४४४;—को हिन्दुओं से हमदर्दी, ४०२-३;—पर इक़बाल की कविता, ६८९

नापित : ब्राह्मण-क्षत्रिय पिता, शूद्रा माता की सन्तान, ८१

नाम्बि-आन्दार-नम्बी, शैवाचार्य, : द्वारा 'तिरुमरइ' नामक शैव पदों का सङ्कलन ग्यारह जिल्दों में, ३८७

नायक, जे.पी., : ५०७पा.टि.

'नायधम्मकला' : में चित्रकला : ४१२

नायनार सन्त : ३६६,३८७;—से शिव-भक्ति का विकास, ३८७

नायिका-भेद : ४३५

नारद : ९८

नारदीय-क्षेत्र : ९८

'नारद-पांचरात्र-संहिता' : से राधा-भक्ति के उद्भव की सम्भावना : १०१

नारायण ऋषि : —की नर ऋषि के साथ कथा : ९८

नारायण-धर्म : ९८

'नारायणी उपाख्यान' : ९८

नारायणी सम्प्रदाय : ४८०

नारियाँ :— आर्य गृह में पूर्ण आदर, ८१, ८३;–आर्येतर पितृकुल की 'पूजा' के प्रति उत्साही, यज्ञादि से उदासीन अतः शूद्र कोटि में, ८२;—कतिपय अविवाहित, ८३;—का उपनयन और वेदाध्ययन का अधिकार आर्येतर पत्नियों की संख्या बढ़ने से छिना, ८४;–कुल देवियाँ; ८३;—के कुल देवता शिव, ९२-९३;—के द्वारा आर्य-द्रविड़ संघर्ष मिटे, ८८;—के द्वारा ही सांस्कृतिक समन्वय सम्भव,८३;—के प्रति अन्याय निषिद्ध,८३;—केवल घरों तक सीमित नहीं, पण्डिताएँ, विचारिकाएँ, ८३;—क्षत्राणियाँ, युद्ध में सारथ्य, ८३;—पुत्र के अभाव में सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी, ८३;—पुराण-युग में डूबते नर की उद्धारिकाएँ, सपत्नीक ही विश्वसनीय, ८४;—वधूरूप में पतिकुल की साम्राज्ञी, ८३;—वैदिक ऋचाओं की रचयित्री, ८२,८३;–शिव-भावना बढ़ाने वाली, ९१;—शोक न करें, वरन कुलक्षय, ८३;—संस्कृति-पालिकाएँ, ८३

नारियल-पान : अनुष्ठानों में, आग्नेय प्रभाव; १०९

नार्डिक : ४१,४३

नाल : ३६

नावों से भारत-समुद्र की सैर : ३३

नासत्यौ : ४९

'नासिकेतोपाख्यान' : ४६५

निकोबर (द्वीप) : ३३

निकोलसन (इक़बाल के अनुवादक) : २९० पा.टि.

निकोलसन, आर.ए., ('सेलेक्टेड पोयम्स फ्रॉम द दीवान ऑव् शम्स-तबरेज़') : ३०७पा.टि.

निगम : ५९, देखिये "वेद"।

निज़ामुद्दीन औलिया : ३११,३३२,३३४
नित्यानन्द प्रभु : १०१
निम्बार्क, महाराज : राधावाद के प्रचारक : १०१,१६१,३५९,३५५,३६०,३६२, ३६३,३७३,३७८,३८८
निरञ्जनी, राम प्रसाद, : —और हिन्दी गद्य : ४६६-६९
निरञ्जनी, हरिदास, (सन्त): १९९
निर्वेदानन्द, स्वामी, ('रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ') : ५८१ पा.टि, ५८२
निवेदिता, सिस्टर, : ५९६
निवृत्ति : आर्येतर-तत्त्व : ६१
निषाद : ३४,३५,४५,५१;–शूद्र पिता, ब्राह्मणी माता की सन्तान : ८१
नीग्रिटो : ७२३
नीग्रो जाति : २८,३०,३२,३३,३७,३९, ७८,७९,८७,८८,९३ १११,११५,१८६; —का भारत आगमन और भारतीय संस्कृति को देन,३२-३३,८७;— काल : ३२;—की संस्कृति में सर्प, पिशाचादि पूजा और टोने-टोटके : ८७;—के अवशेष, ३३;—नया नाम,१११;—प्रस्तरकालीन, ३३;—भारत में समाप्तप्राय, ३२;—महासाहसी नाविक, ३३
नीत्शे (जर्मन-दार्शनिक) : १९७,५१२पा. टि. भी; ५१७,६५०,६९१,६९४,६९८ पा.टि.,६९९;–का 'दस स्पेक ज़रथुस्त्र' : ६९८ पा. टि.;—की दृष्टि में 'मनुस्मृति', ५१२ पा.टि. भी।
'नीहार' : ४४२ पा.टि.
'नुहे-सिपह्र' : ३३४
नूरुल्लाह, सैयद, ('हिस्ट्री ऑव् एजुकेशन इन इण्डिया') : ५०७पा.टि.,५०९पा.टि.
नूह, हज़रत, : ५०,६६
'नृसिहपूर्वतापनी उपनिषद्' : १२२
नेपाल : ३०,५३;—के नेवार, किरन्ती और गोरखा किरात : ५३
नेवाज़ (हिन्दी कवि) : ३५३
नेवार : नेपाल के, किरात : ५३
'नेशनल कल्चर ऑव् इण्डिया, द' : ३३० पा.टि., ३९२ पा.टि, ४७६ पा.टि.
नेहरू, जवाहर लाल : ११६,१९७,२१८, २२३,२२७,५८७, ५९५, ५९९, ७१७, ७२६,७३०,७३१,७३२,७३३;–अङ्गकोर के बारे में, २२३;—बौद्ध-धर्म का निवृत्ति-प्रचार, १९७;–हिन्दू संस्कृति की पाचन शक्ति, ११६
'नैनविलास' : (शहज़ादी ज़ैवुन्निसा वेगम) : ३५२ पा. टि.
'नौरस' : ४७७
नौशेरवाँ : ईरान का न्यायी राजा : ५६
न्यूगिनी : ३२
'न्यूयार्क हेराल्ड, द' : ५८७
'न्यू वर्ल्ड ऑव् इस्लाम, द' : ६६२पाटि., ६६४ पा. टि.
'पउम चरिअ' ('पद्मचरित्'): १८३,१८४
पकुध कात्यायन का अकृतवाद : १३६
पक्षी-पालन : आग्नेय : १०८
'पञ्चतन्त्र' : १०० पा टि., १०९,२१३, २१४,२८१,४१९;–की पशु-पक्षी कथाएँ आग्नेय-भाण्डार से, १०९
पञ्चद्रविडा : ४४
पञ्चवटी : ८९, १०३
पञ्जाब : ३०;– वा बाह्लीक में जातिपरिवर्त्तन : ७६
पञ्जाबी : ३१
पटेल, सरदार : ४९४
पतञ्जलि : ९९,१४५;—द्वारा वासुदेव कृष्ण का उल्लेख, ९९
पत्थर के देवता : आग्नेय : १०८
'पद्मचरित' ('पउम चरिअ') : १८३,१८४
'पद्म पुराण' : ९२,१०१ पा.टि., ३७२, ४६७
पद्माकर : ४३३,४५२,४५३ पा.टि.
'पद्मावत' : ३४२,३४३
पनिक्कर, के. एम., : ५००
पन्त, सन्त जनार्दन : ५५१
पम्पापुर :— के वानर : १०९
'पयामे-मशरिक़' (इक़बाल) : ७०५
परमहंस, रामकृष्ण, : १२९ पा.टि, ३४१, ३८५-८६, ४८०, ५१४, ५४६, ५६९,५७०,५७१-८१,५८३,५८४,५८६, ५९६,५९७,५९९,६०७-८,६१९, ६२२,

६२८,६४०,६५१,६८५,७३१; —और अरविन्द,६०७-८;— का बल पन्थ नहीं, अनुभूति पर, ५७३;—की कञ्चन से विरक्ति; ५७५,—की कामिनी से अनासक्ति, ५७५-७७;—की मनीषियों द्वारा वन्दना,५८०-८१;—की विनोदप्रियता, ५७९-८०;—द्वारा सन्त पद्धति से उपदेश, ५७८-७९;—धर्म की साकार प्रतिमा, ५७४-७५;--धर्म के जीते-जागते स्वरूप, ५६९-८१;—पण्डित नहीं, सन्त, ५७०-७२;—फ़िलॉसफ़र नहीं, दार्शनिक, ५७२-७३;—हिन्दुत्व के पूरे प्रतिनिधि,३८५-८६; ५४६

परमेनिडीज़ (यूनानी दार्शनिक) : २१०

परम्पराएँ : अनिर्धारित तिथि, परन्तु वास्तविक इतिहास, ६४

परशुराम, भगवान, : ६४,७५,७६,११३-१४,१४५;—की प्रतिज्ञा, ११३;—के समय चेर में आर्य-संस्कृति, ६४;—ने केरल और कोंकण को समुद्र से निकाला, ६४;—वाद, ११३

पराञ्जपे, एम.आर., : ४९५

परिया जाति : ३४

परीक्षित : के पिता,५२;—के राज्यकाल में कलि प्रवेश, ५२

परूलेकर : ७११ पा.टि.

'पर्शियन मिस्टिक्स, द' : ३०४ पा. टि., ३७० पा.टि.

पर्सिवल : ('लैण्ड ऑव् वेदाज़') : ५२६

पलटू साहब : ३४०,४८०

पलेमबङ्ग (प्राचीन श्रीविजय) : सुमात्रा की हिन्दू राजधानी : २२१

पांचरात्र :—पद्धति, ९९;—मार्ग, नारद का; ९८

पाणिनि : ३९,५८,६५, ९३, ९९, १२१, २१०,४७८;—और संस्कृत का जन्म, ६५;—का काल, ३९,५८,२१०;—के पूर्ववर्ती वैयाकरण, १२१;—के समय महादेव से महेश्वर, ९३;—द्वारा कृष्ण का धार्मिक नेता के रूप में उल्लेख, ९९;—द्वारा यवनानी लिपि की चर्चा, २१०

पाण्डेय, चन्द्रवली, : ३००,३०५ पा.टि. भी,— सूफ़ीमत पर : ३०५

पाण्डेय, राजबली, : २७१ पा.टि.

'पातञ्जल योग' : ३७८

पान-इस्लाम : ७०५-८

पारद : ७५

पारसी : प्राचीन : ३१,३५,५४,५५,५६, ५७,११६;—अग्निपूजक, ५६;—अग्नि मन्दिर बम्बई में, ५६;—उपनयन,५५; —का प्राचीनतम ग्रन्थ, ५४;—का स्वागत गुजरात नरेश द्वारा, ५६;—देव आर्यों का असुरवाचक, ५५;—प्रकृति के दिव्यतत्त्व-पूजक, ५४;—भारत आये, ५६;—भी आरम्भ में आकर हिन्दुत्व में विलीन, ११६;—भी चातुर्वर्ण्य, ५५;— नवजोत, ५५

'पारिजात हरण' : हिन्दू की परिभाषा : ११३

पार्श्वनाथ : ११९,१४३,१४६,१४७,१५८, १६२,५७८;—और वर्धमान महावीर द्वारा हिन्दुत्व में सुधार, ११९;—द्वारा अहिंसा पर बल, १४३

पार्वती : १०१ (देखिये 'उमा' ।)

पिथेगोरस : १३७,२१०,३०३,५२०;—पर भारतीय प्रभाव, २१०

पिनकाट :—द्वारा राजा शिव प्रसाद सितार-ए-हिन्द की आलोचना : ४६८

'पिरेनियल फ़िलॉसफ़ी' : ६५२

पीकिङ्ग नर-कङ्काल : २७

'पीपुल्स ऑव् इण्डिया' (हर्बर्ट रिज़ले) : ४२

पुराण :५०,५१,५८,५९,६१,६२,६३,८४, ८८,८९,९२,९४,९५,९७,१०८, १०९, २०३, २१८, २२३, ३४३,३४९,३५०, ४४६ पा.टि., ४९५,५५६,५५८,५६६, ५७०,५८०,५८४;—और जैन धर्म, १८२-८६;—और बौद्ध धर्म,८८,१०९, १८१-८६,२५८-६०;—का निर्माणकाल, ९५;—कार, महर्षि व्यास धीवर-कन्या के पुत्र, पौराणिक संस्कृति के मुख्य निर्माता, ६३;—की अद्भुत कथाएँ केवल आर्यों की रचना नहीं, द्रविड़,

औष्ट्रिक, नीग्रो, मङ्गोल आदि की कहानियाँ भी, ८८;—की अधिकतर कहानियाँ दक्षिण के प्राचीन साहित्य और जातक कथाओं में भी, ८८;—की परम्परा वेद-परम्परा से प्राचीन, ५९; —की रचना गुप्तकाल के लगभग, ९५; —ब्रह्मा से पूर्व, ५९;—में अनेक देवी देवताओं के माहात्म्य, कथा-किम्वदन्तियाँ आग्नेय : १०८;—में आर्येतर जनता के भाव, ५९;—में गणेश-चर्चा सर्वत्र, ९५;—में नगर-निर्माता मयवंशीय दानव, ६२;—में नारी का उच्च स्थान, ८४;—में प्राग्वैदिक, वैदिक, वेदोत्तर तीनों प्रकार के देवता, ५९;—में वहुत सी आर्येतर जातियों के मौखिक साहित्य का समावेश, ५९;—में भारत की भौगोलिक एकता, ८९;—में वैदिक, प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय, ६२; —में शिव जी पर आक्षेप, ९२;—में सभी दैत्य शैव, ९४;—लोक कथाएँ, जातक कथाएँ, १०९; वैष्णवमत का प्रमुख—श्रीमद्भागवत, ९७;—शब्द का अर्थ प्राग्वैदिक, ६३;—संस्कृति के निर्माण में व्यास सदृश मिश्रित रक्त-वाले ऋषि-मुनियों का सहयोग, ६३
पुरी : मोक्षदा नगरी : ८९
'पुरुष सूक्त' : ऋग्वेद संहिता में बाद को जुड़ा, ७४
पुरूरवा : ७५, १४६
पुरोहित, श्रीभगवान, (उपनिषद् के अनुवाद में येट्स के सहायक) : ५१६
'पुरोहित दर्पण' (सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य) : सिन्दूर आर्येतर : १०९
पुलकेशी (चालुक्य राजा) : ४१४
पुलत्स्य : ६५
पुष्यमित्र-शुङ्ग : १४५
पूरण कश्यप का अक्रियावाद :१३५-३६
'पूर्वमीमांसा' : १३९,१४८;—में सृष्टि-कर्त्ता,१३९
पूर्वी द्वीपसमूह : ३३
पूषन् : ६०
पूसिन : १७१,१७३,१७४;—बौद्ध धर्म पर,१७४
पेरिप्लस : २११
पेरिया जाति : ३४
पेरी : ४१
'पोज़ीशन ऑव् वीमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन,द' (डॉक्टर सदाशिव अल्तेकर) : ४७३पा.टि.
'पोठ्ठपाद सुत्त'('दीर्घ निकाय' का) :१६७
पोदिइल :—में अगस्त्य आश्रम,६५
पोलीनेशिया : ३२,३३
पौराणिक रूप लेने में घटनाओं को सहस्राब्दियाँ : ५१
पौण्ड्र : ७५
पौण्ड्रक, नक़ली वासुदेव : ९४
'प्रज्ञापारमिता' :१९५,२४१
'प्रतिमा नाटक' : रामकथा प्रसङ्ग :१०६
प्रतिलोम षिवाह : सदा से गर्हित, शूद्र-वर्ग बनने का कारण : ७७
'प्रबन्धम्' : देखिये 'तमिल प्रबन्धम्'।
'प्रबोध चन्द्रोदय' (नाटक) (कृष्ण मिश्र) : —में वौद्धों, जैनों, कापालिकों आदि की भर्त्सना : २६०;—का एक प्रकरण, २६०-६२
प्रभु, अल्लम : ३६७-६८
प्रशान्त महासागर : ३३
प्रस्तरकालीन मनुष्य : नीग्रो : ३३
प्रस्तर युग,—के चिह्न दस जगह : ३८
'प्रस्थानत्रयी' ('वेदान्त/ब्रह्म-सूत्र', 'उपनिषद्' और 'गीता') :३८०,३८२,६०२, ६४०
प्रवाहण जैवलि :१४५,१४६
प्रागैतिहासिक काल :—में दाक्षिणात्यों द्वारा पश्चिम से भारत का व्यापार,४०
प्रातिशाख्य (पाणिनि-पूर्व व्याकरण) :१२१
प्रार्थना-समाज : ५४७,५५१-५२,५५३;—का रूप,५५१-५२;—स्वामी दयानन्द की दृष्टि में, ५५३
'प्री हिस्टोरिक साउथ इण्डिया' (दीक्षितर) : ४३पा टि.,४४पा.टि.
प्रेमचन्द्र, मुंशी, : ३१५
'प्रेम विलास' :१०१
प्लॉटिनस :२११,२१२,३०३,३५९;—को

भारतीय ब्राह्मण से भेंट की लालसा, २१२
प्लेटो :७३,६९४, देखिये 'अफ़लातून' भी।
प्वायगइ, आलवार : ३७७
फ़क़ीरुद्दीन (हिन्दी कवि) :३५३
फ़ज़्ल-बिन-यहिया : २७२
फ़ज़ली (उर्दू के सबसे पुराने गद्यकार) : ४६४,४६५,४६६
'फ़तव-ए-जहाँदारी' : ३२९
फ़रकोहार : १०१,१७१,१७३;—का राधा विषयक मत,१०१
फ़रगुसन : ४२९
फ़रहाद :ईरानी मूर्त्तिकार एवं प्रेमी : ५६
फरिश्ता (मलक) : मुस्लिम विश्वास में देवयोनि :२९०
फ़रिश्ता (इतिहासकार) ३१६, ,३९३, ४५५पा.टि.,—द्वारा अकबर की आलोचना,३९३
फ़रीद, शेख़ : ४०२
फ़रुर्ख़ (चित्रकार) : ४१८
'फ़ाउस्ट' (गेटे) :—पर भारतीय प्रभाव, ५१४
फ़ॉकेट : ५८१
फ़ारसी : ४८
फ़ाहियान : २२०,२२४
फ़िक्टे, जोहान, (दार्शनिक) :५१२,५१६
'फ़िलॉसफ़ी ऑव् सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, द,' (पी.टी. राजू) : ६४५पा.टि.
फ़िलीपाइन : ३२
फ़िशर, लुई : ६२७ पा.टि.भी।
फ़ील्ड, डोरोथी, ('रिलीजन ऑव् द सिक्ख्स') :४०४
फ़ेबियन सोसाइटी :५६४
फ़ैज़ी : ३४४, ३९२
'फ्यूचर ऑव् इण्डिया, द,' (स्वामी विवेकानन्द) :३८पा.टि., २७५पा.टि.
'फ्यूचर ऑव् इस्लाम इन इण्डिया, द,' (परुलेकर) :७११पा.टि.
फ्रांस : ३१,४८८,४८९;—का राज्य, ४८८;—की राज्य क्रान्ति और भारत, ४८८
फ्रांसीसी :—अफ़सर, भारतीय राजाओं के सेनापति,४८८
फ्राथिङ्घम, ओ.बी., ५७२पा.टि.
फ्रॉयड : २४८,६५७
फ्रिडल, इगोन :४८७
'फ्रैग्मेण्ट्स ऑव् ए कनफ़ेशन' : ६४२ पा.टि.,६५०पा.टि ,६५६पा.टि.
बँगला : ३१
'बँगला काव्य की भूमिका' (प्रो. हुमायूँ कबीर) :४३१
बङ्गाल, उत्तरी :५३,५४
बदरीनाथ : ९८
बदायूनी, मुल्ला अब्दुल-क़ादिर, : ३४४, ३९३
बरनी, ज़ियाउद्दीन, : ३२८
'बरवा-नायिका' (रहीम) : ४३५
बर्गसाँ (दार्शनिक) :३०१.६५८
बर्नियर (ट्वर्नियर) :४८९
बर्मा : २७,३०,३३,३४,५३,५४
बलराम : ९९
'बलरामदास रामायण' (उड़िया) : १०६
बलूचिस्तान :३१,३५,३६,३७,४१
बसावन (अकबरी चित्रकार) :४१८
बह्ज़ाद, कमालुद्दीन :४१८
बहाउद्दीन नक्शबन्द :—का नक्शबन्दिया सूफ़ी-सम्प्रदाय : ३११
'बाँगे-दरा' (इक़बाल) :६८९,६९०
बाँस की कङ्घी : काडारों में प्रचलित :३३
बाइबिल : २७,४४७,४९१,५०५,५१२, ५१३,५१९,५२३, ५३०, ५४४, ६५१, ६५२;—का अकबर की आज्ञा से फ़ारसी अनुवाद,३९३;—पुरानी और नयी,५१८;—में मनुष्य की उत्पत्ति,२७
बाजपेयी पण्डित अम्बिकाप्रसाद, :२७२-७३,३५२पा.टि.,३५३,४४९,४५८पा.टि., —कृत 'हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव' : ४४९पा.टि.
बॉप, फ्रान्ज़, :५१२
बाबर : २८४,२८५,३१२, ३४५,३५० पा.टि.,३९१,३९९,४१७, ४१८, ४१९, ४५१,४५७;—और चित्रकला,४१८;—का वसीयतनामा, ३९१
'बाबरनामा' : ४१९

बार्थ : ३७४
'बालरामायण' : १०६
बाला जी : ८९
'बाले-जिबरील' (इक़बाल) : ३०९ पा.टि, ६९१, ६९३पा.टि; ६९६पा.टि.; ७०२ पा.टि. ७०३पा.टि., ७०४पा.टि. भी।
बावरी : ४०,६४
बिट्ठलस्वामी : ३८४
बिहार : ३५,—उत्तरी, ५३;—के ग्रामों में नदी-मात्र गङ्गा, १०८
बिहारी : ४२७,४३०,४३७पा.टि., ४३९, ४४६;—की 'सतसई' : ४२७;—की 'वाग्विभूति' : ४३७पा.टि.
'बीजक' (कबीर) : ३९०
बीबी, चाँद, : ४५५
बीरबल : ३९९
'बीसलदेव रासो' : ४५१
बीसेण्ट, एनी, : देखिये 'एनी बीसेण्ट'।
'बुक ऑव् डिसिप्लिन' : १७८
बुकेट, ए.सी. : २९४पा.टि. २९६पा.टि., ३०३पा.टि., ३०८पा.टि ,— कृत 'कम्पैरेटिव रिलीजन' : २९६पा.टि., ३०३ पा.टि , ३०८पा.टि.;—के मत से सूफ़ी विश्वास, ३०८
बुद्ध : ४०,७१,८२,८६,९५,१०२,१०३, १०७,१३५, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४७, १५५,१५७, १६३,१६४, १६५, १६६, १६७. १६८, १६९, १७०, १७१, १७२,१७३,१७४, १७५,१७६,१७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४,१८७,१८८, १८९,१९०,१९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९७, १९८, १९९, २०३,२०६, २१०,२२०,२२२, २२९, २३०, २३३, २४०, २४४,२४७, २५४, २५८,२६६, २६७,२६८,२७३, २९४, ३६०, ३६२, ४१२, ४१३, ४१४, ४७९,५१६,५२०, ५२१,५३१,५३२, ५३४, ५५४, ५७८, ५९७, ६३१, ६३२, ६३६,६५२,६५५, ७३०,७३१;—एक जन्म में राम, १०२; —और ईश्वर, १६९-७०;—और ईसा ५२०-२१,—और कृच्छ्र-साधना, १३५,१४७,१५५,२४०;—और गाँधी, १६९,—और महावीर सनातन भारतीय संस्कृति के उद्घोष, ७१;—का अर्थ, १९१;—का जन्म पूर्वी भारत में क्यों, १४३-४४;—का व्यक्तित्त्व, १७६-७८; —का सुयश उनके जीवन में ही दक्षिण तक, ४०;—की मूर्त्तियाँ जावा में, ४१४; —की पूजा अरब देशों में, २७३;—की प्रारम्भिक तपस्या जैन-पद्धति से, १४७; —के काल में चित्रकला, ४१२;—द्वारा दी गई जाति-प्रथा को चुनौती के बीज वैदिकों में, ८६; नास्तिक या आस्तिक, १६९-७०;—पर उपनिषदों का प्रभाव, १७२;—में आर्य-मङ्गोल रक्त मिश्रित, ८२;—विष्णु के अवतार, १४७,२५८;—सेण्ट बोसाफ़ेत के नाम से ईसाई सन्तों में गण्य, २०९;—से पहले हिन्दुत्व, ११९-३६
बुद्धघोष : १८५
'बुद्ध चरित' : १४८पा. टि., १७१पा.टि.
'बुद्धचर्य्या' (राहुल जी) : १८२,१९०-पा.टि., २४०पा.टि.,२४३पा.टि., २६५
बुद्धभद्र (बौद्ध धर्म-प्रचारक) : २२५
बुल्के, रेवरेण्ड, फ़ादर कामिल, ('रामकथा') १०२,१०४पा.टि., १०५,१८४, १८६पा. टि.—रामकथा के विकास पर मत, १०५
बुह्लर : के अनुसार भक्ति का उल्लेख: ३७४
'बृहत्कथा' : ६९
बृहद्रथ : १४५
'बृहदारण्यक' : १४५;– उपनिषद्, ३०५
'बृहस्पति आगम':भारत की सीमा : ११४
बेण्टिङ्क,लार्ड विलियम;:—की १८३५ वाली शिक्षा-विषयक घोषणा, ४९९
बेरलिन, हेनरी ('द दीवान ऑव् अबुल अरा' नामक अनुवाद) : ३०२पा. टि.
बेसनगर-शिलालेख : ९९
बैक्ट्रियन : ११६
बैबिलोन : ४३,२०९
बोथाम : ५०१

बोदो जाति : असम-वङ्गाल की, किरात : ५३

बोधा : ४२७,४३८; – हिन्दी रोमानी आन्दोलन के पिता . ४३८

बोधिसत्त्व :—राम : १०५

'बोधिचर्यावितार' : १९२,२५७

बोरोवुदुर : २२०,२२३,४१४-१५,४३०; —के मन्दिर, २२०

बोस, सुभाषचन्द्र, : ५८६

बौद्ध मत (धर्म) : ५८,६१,६४,७२,८०, ८९, ९३, ९५,१०३,१०५,१०६,११२, ११५,११९-३६,१३७,१३८,१४३,१४४, १४६,१५५,१५७-५८,१६३,१६४,१६५, १६६,१६७,१६८,१६९,१७१-७६,१७८-८१, १८२-८८,१८९-२०२,२०४,२०५, २०६,२०७, २०९, २१०, २१२, २१३, २१५,२२०,२२१,२२४-२७, २२९-५३, २५४-६८, २७३, २८३, २८६, २९६-९७, ३०१, ३०३, ३०६, ३०७, ३१०, ३१६, ३१७, ३२३-२४, ३२७, ३७४, ३७६, ४१३-१५, ५११, ५१७, ५१८, ५२०, ५२१, ५३१, ५४४,५६९,६००, ६०२,६२३,६५१,६९४,६९५, ७२३;—अरब में, २७३;—अशोक के समय तक अट्ठारह निकाय-विभक्त, १९०;—और अहिंसा, ६२३;—और आचार, १६४-६६;—और इस्लाम का प्रसार, २६२-६४, – और ईसाइयत, २०९,५२०-२१; —और उपनिषद्, १३७-३८,२६६-६७;—और एशिया की एकता, ४१४; —और कला, ४१३,४१४,४१५;—और गीता, २००-२, —और जैन-धर्म, १५५,१५७-५८—का मूल आगमों में, ६१;——के प्रभाव से जवानों का संन्यास और कर्मविमुखता, ७२;——तथा वेदान्त, ६१,१६४;—और ताओ धर्म, २२६;—और देवनागरी लिपि, २००,—और नवराजपूतों की उत्पत्ति, २८६;—और निर्गुनियाँ सन्तपरम्परा, १९८-९९;—और नियोप्लेटोनिज्म, ३०३;—और पुराण, १८२-८८;—और ब्राह्मसमाज, ५४४;—और ब्राह्मण : २५६,२५७,२५८,२८६;—और यूनान, ३०६ पा. टि.; —और लिङ्ग-पूजा की प्रेरणा, ९३;—और बृहत्तर भारत, १९९-२००;--और वेदविरोधी आन्दोलन, २५५-५६,—और वैदिक धर्म, १६८-६९,१८९-२०७;—और समाज, २५४-६८;—और सहजयान, २४६;—और सूफ़ी-मत, ३०६,३०७;—और हिन्दुत्व, १७४-७६; १८६-८८; १९६-२००; २०४;—का अव्याकृत, १७९;—का जावाई जनता पर प्रभाव, २२०;—का अस्पृश्यता में हाथ, ८०;—का ज्योतिष् के प्रचार में योगदान, २१५; —का दर्शन शङ्कर के दर्शन का निकटतम पूर्वज, ३६०,३६१,३६२;—का पतन और राज्याश्रय, २२९-३०; —का प्रभाव ऑगस्ट कॉम्टे पर, ५१७; —का प्रभाव पिथेगोरस के दर्शन पर २१०; —का प्रभाव अबुल अरा पर, ३०१;—का प्लॉटिनस के दर्शन पर प्रभाव, २१२;—का मौर्योत्तर हिन्दू जागरण पर प्रभाव, २०२-३; – का रूप हिन्दुत्व ने ही अपनी कुरीतियों से लड़ने को लिया, १६३;—का लोप, २६५-६८; —का वज्रयान, २५४-५५;—का शून्यवाद और अद्वैत, ३७६;—का स्वरूप परिवर्त्तन, २२९-५३;—-का हिन्दू धर्म से विद्रोह और उसी में समा जाना, ११५;—की कमज़ोरियाँ, १७९-८१; —की दार्शनिक विसङ्गतियाँ और उसका ह्रास, २६६-६८;—की पृष्ठभूमि, ११९-३६;१६३-६४;--की वर्त्तमान लोकप्रियता, १६९;—के अनुयायियों से ब्राह्मणों का सङ्घर्ष और देश की पराजय, ३१६-१७,३२३-२४; - के अव्याकृत विषय,१६६-६७; —के उदय के कारण, १३७-४६;—के चार आर्य-सत्य, १६४;— के बाहर जाने तथा देश में न टिकने का कारण, १५७;—के बीज पूर्वी भारत में, १४३-४४;—के चीन में शिथिल पड़ने का कारण,२२७;—के साथ रामकथा विदेशों में, १०५;—

को तमिलनाडु में प्रश्रय नहीं, ६४;—कोरिया में, २२८;—चीन में, २२५-२७,२३०;—जापान में, २२८;—तिब्बत में, २२८;—दक्षिण में, ६४, ८९;—पर पुराणों का आक्रमण, २५८-६०;--पर मार की चढ़ाई, २४७-५१;--पर शाक्त प्रभाव, २२९-५३;—पर शैव प्रहार, २६०-६२;—बनाम कनफ्युशियस, २२४-२७;—बिहार में कबीर-पन्थ से मिला, २६३;—भारतीयों की निवृत्ति के लिए दायी नहीं, ७२;—मध्य एशिया में, २२५;—मध्यमार्गी, १५७;—में आत्मा और निर्वाण, १७१-७४,१७९,१८१,२६७;—में कर्म की महत्ता, १७८-७९;—में गणेश, ९५;—में गुह्य-समाज द्वारा निवेशित तत्त्व, २४१;—में तन्त्रवाद के प्रवेश का कारण, २४०;—में तुर्कों का प्रवेश, २८३; — में परलोक और देवयोनि, १६८-६९;—में पहली दरार, १८९;—में पुनर्जन्म, २६७;—में रामकथा, १०३,१९९, ५६९;—सुमात्रा में, २२१;—युग में हिन्दुत्व का नेतृत्व दक्षिण, ८९
बौधायन, ('धर्मसूत्र') : ६४,३७९;—के 'धर्मसूत्र' में मामा की बेटी ब्याहने आदि पाँच दक्षिण के रिवाज : ६४;—द्वारा सर्वप्रथम वेदान्त की ईश्वरवादी व्याख्या, ३७९
ब्रण्टेनो (जर्मन कवि) : ५१६
ब्रहुई : ३१,३५,३६,४१,४२;—ईरानी : ४२;—जाति, ३१,३५;—द्रविड़ समूह की भाषा, ३५;—द्राविड़ सम्बन्ध, ३६;—भाषा, ४२;—मङ्गोल नस्ल के, होल्डीच के मत से, ४१
ब्रह्मदेश :—में रामकथा : १०६
'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' : १०१ पा.टि.
'ब्रह्मसूत्र' : ३७९,३८२,६०२,६४०;—का आनन्द भाष्य,३८२;—का शाङ्कर भाष्य, ६०२;—का श्रीभाष्य, ३७९;—की राधाकृष्णन द्वारा टीका, ६४०
ब्रह्मा : ५९,६०,९५;—से भी पूर्व पुराण, ५९ पा.टि.
ब्रह्माण्ड, आग्नेय कल्पना : १०९
'ब्रह्माण्ड पुराण' : २१९,२२२ पा.टि.
'ब्रह्मानिमन्तनिक सुत्तन्त' ('मज्झिम निकाय' का) : १८३
ब्रह्मावर्त्त : ३९,४५
ब्राउन, ई.जी,. ('लिटरेरी हिस्ट्री ऑव् पर्शिया') : ३०७ पा.टि.
ब्राउन, पर्सी : ४१२पा.टि.,४१४
'ब्राह्मण' : ३९,५२,७३,९७,१०४;—ग्रन्थों का रचनाकाल, ५२;—में अवतारवाद, १०४
ब्राह्मण (जाति) : ६३,७१,७६,७९,८४, ८५;—अशिल्पी त्रिवर्ण में, ६३;—का कोप राष्ट्रविनाशक, ८४;—का तपनाश, सम्मान से, ८५;—का सर्वस्व निर्धनता, ८४;—का सर्वोच्च स्थान, ८४-८५;—का हथियार, ८४;—की आमिषप्रियता और जीव-हिंसा के कारण ही कटुता की सीमा तक विद्रोह, ७१;—की मञ्जूरी के बिना जाति बदलना असम्भव, ७९;—कुमार्गी राजा को टोकें, ८४;—के लिए कीर्त्ति विष, ८४;—कोई भी, ७६;—जातिवाद के भी नेता, ७९;—समाज के नैतिक प्रहरी, ८४
ब्राह्मसमाज :४०३,४४१,५३६-५२,५५६, ५६५,५६९,५७१,५७९,५८०,५८३;—और ईसाइयत, ५३९,५४२-४५;—का जन्म, ५४१-४२;—की सीमाएँ, ५६९-७१;—की स्थापना की पृष्ठभूमि, ५४०-४१;—के द्वारा भारत का यूरोपीकरण, ५४५;—के ट्रस्ट का दस्तावेज़, ५४१;—के शरमाये शूरमा, ५४५-४६;—पर सूफ़ी प्रभाव, ४४१;—समाजी,५४७, ५५२,६२८
ब्राह्मी लिपि : सभी भारतीय लिपियों की जननी : ५३;—ऋषभदेव की पुत्री, ६७;—कोरिया में, २२८
ब्लेवास्की, (मदाम) हेलेना पेत्रोवना : ५५७,५६२-६३
ब्लैकी, जॉन स्टुअर्ट, (स्कॉट कवि) : ५१६
भण्डारकर :डॉक्टर, ४०,९३, ९८,१०४;

—बुद्ध के जीवन में उत्तर-दक्षिण सम्पर्क, ४०;—राम का अवतार रूप, १०४;--वैष्णव धर्म का विकास, ९८;—शिव पूजा, ९३
भक्ति : ५९,७२,१३४,१३५,३६६-६७, ३७२-७५,३७६;—आर्यपूर्व तत्त्व, ७२, १३४,३७५;—का उद्भव ५००ई.पू. में, १३४;—का विकास और गीता, ३७५-७६;—की भारत में प्राचीनता, ३६६-६७; ३७२-७५;—के तत्त्वत्रय, ५९;--में वर्ण-बन्धन नहीं, चाण्डाल द्वारा भी अपने इष्टदेव की पूजा शक्य, ५९
भक्ति आन्दोलन :३३२,३५७,३६६,३७२-९०,४३६,४४०;—और इस्लाम, ३७२-९०;—पर इस्लाम का तथाकथित प्रभाव, ३८६;—पर इस्लामी प्रभाव कबीर के माध्यम से, ४३६;—पर इस्लामी प्रभाव का अतिरञ्जन भ्रान्ति, ३७६
'भक्तिरत्नाकर' : १०१
भगदत्त, राजा : की सेना में किरात,: ५३
'भगवान बुद्ध' : ३५ पा.टि.
भट्ट, आर्य (देखिये 'आर्यभट्ट')
भट्ट, कुमारिल, : ४४,६९,२४८,२५७, २५८,२६५
भट्ट, कुल्लुक, : ३७१
भट्ट,जयन्त,(कश्मीरी दार्शनिक) :२०८पा.टि
भट्ट, त्रिविक्रम, : ६९
भट्ट, दामोदर, : ३४४
भट्ट, वाक्, : (देखिये 'वाग्भट्ट')
भट्टाचार्य, डॉक्टर विनयतोष, : २४०
भट्टाचार्य, सुरेन्द्रमोहन: ('पुरोहित दर्पण'): —सिन्दूर आर्येतर, १०९
'भट्टि काव्य' : रामकथा प्रसङ्ग में : १०६
भरत : आर्येतर माता से उत्पन्न : ८२
'भरद्वाज-श्रौत-सूत्र,' : ७४
भवभूति : ६८
'भविष्यपुराण' : ५७
भागचन्द्र महाराज : ९९
'भागवत' ('श्रीमद्भागवत महापुराणम्'): ६६,६७,९७,१००,१४७, ३४४, ३६७, ३७२,३७३,३७८,३८८,४४३-४४ ;—की रचना दक्षिण में, ६८, ९०;—के अनुसार महाप्लावन के नायक द्रविड़ राजा सत्यव्रत, ६६;—के अनुसार वैदिक संस्कृति में द्रविड़ों का बराबर का स्थान, ६६;—भक्ति आन्दोलन का मूल ग्रन्थ नहीं, ३७८;—में भक्तिं, ३७३, ४४३-४४;—में राधा नहीं, ९७,१००;—वैष्णव-मत का मुख्य पुराण, ९७
भागवत-सम्प्रदाय : १०१
'भामती' टीका : ६८,२६५
भारत : २७,४०,४७,५२,५६,५७,६९, ७०,७२,७८,७९,८३,९०,९१, १०५-६, १०७,१११,११२,११६ ;—असल में हिन्दुओं का देश, १११,—आकर कोई जाति बाहर नहीं गयी, ४७,—आर्यों से पूर्व ही अल्पतोषी और अहिंसक, ७०;--ईरान शक-युग में एक राज्य, ५७;—का अभिशाप जातिप्रथा, ७८;—का मन अन्तर्राष्ट्रीय, ९०;—का मूल प्राँग्वैदिक गहराई में, ७२;—का समस्त कथ्य पहले संस्कृत में, फिर उससे उद्धृत अन्य भाषाओं में, ७०;—की नयी भाषाएँ नये शब्द नहीं बना सकतीं, ६९;—की राष्ट्रीयता आध्यात्मिक, ९०;—की विश्वमानवता को सब से बड़ी देन, ११६;—की सबसे पुरानी धरती, २७;—की सभी प्रमुख भाषाओं में रामायण, १०५-६;—की सीमा से बाहर राज्य-विस्तार की बात सम्राटों को सूझी ही नहीं, ९०;—के आर्यीकरण में जाति प्रथा सहायक, ७९;—के पश्चिमोत्तर भाग ईरान के अधीन, ५६;—के भूगोल की सबसे बड़ी शिक्षा, सम्पूर्ण भारत, ९०;—के राजाओं को चक्रवर्त्ती-पद की उत्कण्ठा, ९०;—को भगवान श्रीराम ने स्वर्ग से श्रेष्ठ कहा, ९१ ;—धर्म के विषय में सदा से सहिष्णु, १०७;—ने आर्यों को पचाया, ७२;—पर उत्तर-दक्षिण सबको अभिमान, ९० ;—में ईरान का कुछ अंश मौर्यकाल में, ५६;--में जन्म महासौभाग्य, ९१;—में नौविद्या के अनुभव दक्षिण वालों को, ४०;—में

प्राग्वैदिक तत्त्व आज भी प्रबल, ७२;—में लेखन का प्रचार ई.पू. ३०००में, ५२;—में सांस्कृतिक समन्वय नारियों के कारण, ८३;—वर्ष का 'हिन्दुस्तान' नाम इतिहास-भूगोल सम्मत, ११२
'भारत आज और कल' (जवाहरलाल नेहरू) : ७३१ पा.टि.
'भारत का प्राचीन इतिहास' (सत्यकेतु विद्यालङ्कार) : ५१ पा. टि.
'भारत भारती' : ५२० पा.टि.
'भारतवर्ष में जातिभेद' (आचार्य क्षिति-मोहन सेन) : ८०
भारतीय इतिहास कांग्रेस : (ग्वालियर अधिवेशन '५२) : २७
भारतीय कला : पालयुगीन, —का तिब्बत आदि में नेवारों द्वारा प्रचार, ५४
भारतीय जनता : २८-२९,१०७,११५, ११६;—अनेक जातियों की बनी, वैसे ही इसके विश्वास, १०७,११५,११६;—विश्वमानवता का प्रतीक, २९
भारतीय सभ्यता : वेदपूर्व आधार, ४३
भारतीय संस्कृति : ७२,१०५,१०६,१०७, १११,११५,११६;—अपराजेय, ७२; —की एकरूपता में रामायणों से वृद्धि, १०६;—के धर्म, पोशाक, रहन-सहन आदि में विभिन्न जातियों की देन, १०७; —राममयी, १०५;—विश्वजनीन, ११६;—समस्त आगन्तुक संस्कृतियों का मिश्रण, ११५;—हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई-सब में, १११
'भारतीय संस्कृति और अहिंसा'(कोसम्बी): ९३ पा.टि., २५९ पा.टि., २६० पा.टि., २६२ पा.टि.
'भारतीय संस्कृति का विकास' (लक्ष्मण शास्त्री जोशी): ५८ पा.टि., ७२ पा.टि.
भारतेन्दु, बाबू हरिश्चन्द : ४६८
भारवि : ६८
'भावार्थ रामायण' (मराठी) : १०६
'भाषा योगवाशिष्ठ' और हिन्दी गद्य : ४६६-६७
'भाषा वचनिका' : ४६५
भाषा विज्ञान : २९,४२,४८;—तुलनात्मक, का आरम्भ ; ४८
भास्कराचार्य : २१६
भीम : ८१
भील : ३४,३५,४०
भूटान : ३०
भूमध्यसागरीय : ४१,४३
भूषण : ३४९,३५१,४०८,७२४
भूसुक (शान्तिदेव) : १९२
भृगु : ७६,९७;—गण ऋग्वेद में बढ़ई, ७६;—निष्ठावान वैदिक, ९७;—शिव को शाप, विष्णु के वक्ष पर पदाघात,९७
भैरव : श्वानवाहन, अनार्य देव, ९६
मंखलि गोसाल : का देववाद : १३६
मंगोल : २८,२९,३०,३२,३३,३५,८०, ८८,१११,११५
मंझन : ३४३,३४९,३५१,४३३,७२४
मंत्रयान : १९८,२३१
'मआसिरे-आलमगीरी' : ४६३
'मआसिरुल उमरा' : ३१९
मक्का : ८९
मख़दूमशाह, फ़क़ीर (बिहार में सूफ़ीमत के प्रचारक) : ३११
मग जाति : ५७
मजाज़ (उर्दू कवि) : ७२२ पा. टि.
'मजमउलबहरैन' : ३९८
मजूमदार, आर.सी. ('हिन्दू कॉलोनीज़ इन द फ़ार ईस्ट') : २२०,२२४ पा.टि.
'मज्झिमनिकाय' : १४२,१६६,१८३
मतिराम : ४२७,४४६
मत्स्यावतार :१०४,१०९;—आग्नेय,१०९
मत्स्यगन्धा : ८१
मथुरा : ८९,९९,१००;—मोक्षदा, ८९; —में कृष्णपूजा, ९९,१००
मदागास्कर : ३३
'मध्यकालीन धर्म साधना' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) : २५० पा.टि., २५५ पा.टि., २५७ पा.टि., २६३
'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा) :—में माया वाद, १०३ पा.टि., ४२९ पा.टि.

मध्य भारत : के ग्रामों में कोई भी नदी "गङ्गा" : १०८

मध्व (आचार्य) : १३१,१६१,२५९,३५५, ३६०,३६३,३७१,३७३,३८८,६०३; —द्वैतवाद के प्रवर्त्तक, १३१

मधु सरस्वती : ३४४

मनरो, टॉमस, : ४९५,५०४,५०८;—की मृत्यु पर जनता का विलाप, ५०८; —द्वारा शिक्षा-सम्बन्धी जाँच, ४९५; —देशी भाषाओं के समर्थक, ५०४

'मनसा मङ्गल' : ४३१,४३२,४३३

मनु : ५०,६६,७६;—के अनुसार जातियों के अटल धन्धे, ७६;—वर्त्तमान मन्वन्तर के, ६६

'मनुस्मृति' : ५९,७४,७५,८२-८३,८४, २५९,३२२,५१२,५१४;—जाति और धन्धों का बन्धन, ७५;—नीत्शे की दृष्टि में वाइबिल से श्रेष्ठ, ५१२ पा.टि. भी;—ब्राह्मणों के लिए कीर्त्तिलोभ विषवत्, ८४;—में नारी का स्थान, ८३-८४

मनुष्य : २७,३३,३८,४०,७८;—आदि २७;—केवल शूद्र नहीं, अन्त्यज और अस्पृश्य, ७८; —पुराण के अनुसार भारत ही में, ३८;—प्रस्तरकालीन, ३३,३८;—भारत में अत्यन्त प्राचीन, ३८;—भूगर्भशास्त्रीय युगों में दक्षिण भारत में, ४०;—सीरिया, प. एशिया, उ.ध्रुव, म.एशिया, वर्मा, अफ़्रीक़ा, चीन, गर्म देशों में, भारत, दक्षिण पूर्व, द.भारत, भारत समुद्र, शिवालिक, पञ्जाब, उत्तर नहीं, दक्षिण भारत में : २७

मनूची (यूरोपीय यात्री) : ४८६

मन्दपाल (ऋषि) : ८२

मन्नार :—की खाड़ी के ताम्रपर्णिक मोती, ६४

मन्सोर मन्दिर : १००

मराठी : ३१

'मराठी भावार्थ रामायण' : १०६

मलक (फ़रिश्ता) : मुस्लिम विश्वास की देवयोनि : २९०

मलयालम : ३१

'मलयालम रामचरितम्' : १०६

मलाया : ३२,३३,२१७

मलिक, शम्भु चरण : ५७४

मल्लिनाथ : ६९

मल्लिनाथ-सुत : ६९

मलेनेशिया : ३२,३३

महंजोदरो : ३६,३७,४०,४१;४२,४८, ६२,९१,९३,१४६,१४७,३७२,५१३;—की सभ्यता,४८;—की सभ्यता किसकी, अभिलेख अपठित होने से अनिश्चित,४२; —में जैनधर्म के निशान, १४६;—में भक्ति के कुछ प्रमाण,३७२;—में शैवधर्म, १४७;—में योग के प्रमाण, ६२;—में लोहा न मिलना अद्भुत,६२;—सभ्यता में शिव-पूजा, ४८,९१,९३,१४७

'महाऐत्तरेय उपनिषद्' : ७४ पा.टि. भी।

महाकाव्य : रचना कब, १०३

'महानारायणोपनिषद्' : ९९

महाबलीपुरम् : १००

महापुरुषीय सम्प्रदाय : शङ्करदेव का, ३८६

महाप्लावन : ५०,६६;—के नायक नूह या द्रविड़ राजा सत्यव्रत, ६६

'महाभारत' : ४९,५२,५३,५९,६१,७३, ७५ पा.टि. भी, ७६, ७७, ७८, ८१, ८५,८६,९८,१००,१०२, १०३, १५८, १८२, २०३, २०४, २०९,२१७,२१९, २२२,२२३,३४४, ३६६, ३७२, ३९२, ३९९, ४३१, ४४८, ४७३,५६४,६०६, ७३१;--का मत, रङ्गों से वर्ण भेद, ७३; —का यवद्वीप पर प्रभाव, २१९;—का युद्धकाल, ५२;—के मत से शूद्रों के लिए संन्यास के अतिरिक्त तीनों आश्रम, ७८;—के वन-पर्व में 'जाति-कर्मानुसार' सिद्धान्त, ८५-८६;—के शान्ति पर्व में नारायणीय उपाख्यान, ९८;—के समय विवाहों में अधिक उदारता, ८१;—में आर्यवृत्त-बाह्यजन (वृषलों-दस्युओं) से यज्ञ करवा के वैदिक दीक्षा, ७५;—में किरात सेना वाले राजा भगदत्त, ५३;—में कृष्ण 'गोपीजनप्रिय' भी,

१००;—में चातुर्वर्ण्य बाह्य राष्ट्र, गण, समूह क्षत्रिय, ७५;—में पर्दा-प्रथा, ४७३,—में बाह्लीक का जाति-परिवर्त्तन, ७६;—में भक्ति का प्रमाण, ३६६,३७२;—में रामायण, १०३;—में शूद्र के लिए सेवा अनिवार्य नहीं, ७७;—युद्ध, १५८;—हिन्दुत्व का रक्षक, २०४

महायान : ९५,१७४,१८०,१८८, १८९, १९०, १९१पा.टि., १९२, १९४, १९५, १९८, २०२, २०३,२२४,२३०, २३१,२४०,२४२, २४४, २५०, ४१६, ६३२, ६५५;—और 'गीता' का भक्ति मार्ग, २०२;—और चित्रकारी, १४६;—का प्रभाव वैष्णव धर्म पर, १९१ पा.टि.;—की उत्पत्ति, १८९-९५;—के देवता, १९५;—के पीछे वैदिक धर्म के कुछ रूपों की प्रेरणा, २३०;—के बाद वाले सन्तों द्वारा तन्त्र मार्ग का विकास, २४०;—के रूप में बौद्ध धर्म विदेशों में, १९४;—चीन में, २२४,—नाम की सार्थकता, १८९;—बौद्ध धर्म का गौरव-शिखर और गर्त्त, दोनों, १९१;—में गणेश विघ्नेश, ९५;—में मानवतावाद का उद्घोष, १९२;—वज्रयान की उत्पत्ति में सहायक, १९०-१

महावीर, वर्धमान, तीर्थङ्कर : ७१,९५, १०२,१०७,१३९, १४०, १४३, १४५, १४६, १४७, १४८,१५७,१५८, १६१, १७२, १९७, २५४,३६२, ५७८, ५९७, ६३१;—और बुद्ध सनातन भारतीय संस्कृति के उद्घोष, ७१;—का जन्म पूर्वी भारत में क्यों, १४३-४;—का जीवन-परिचय,१५८;—के क्षत्रिय कुल में जन्म की कथा, १४५

'महावीर चरित' : रामकथा प्रसङ्ग: १०६

'महासिहनाद सुत्त' ('मज्झिम निकाय' का) : १४२

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : १४२ पा. टि., १५३,१५७;—के 'जैनदर्शन' में स्याद्वाद की आलोचनाओं का उत्तर, १५३-४

'माण्डूक्योपनिषद्' : १२२,१९६,२६६, ३६०पा.टि. भी।

'माई सर्च फ़ॉर ट्रुथ' : ६४३पा.टि.

मागी जाति : ५७

माघ : ४३७

'मॉडर्न इण्डिया एण्ड द वेस्ट':४८६,४८८ पा.टि., ४९० पा.टि., ५११ पा.टि., ५१४ पा.टि., ५२३ पा. टि.

'मॉडर्न इजिप्ट' : ६६६पा. टि.

'मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया' : ६७०पा. टि., ६७६ पा.टि. ७०१,७१२ पा टि., ७१४पा.टि.

'मॉडर्न मूवमेंण्ट्स इन इस्लाम':६६५पा.टि.

मातृमूलक परम्परा : ३६पा.टि.

'माधव दिग्विजय' : हिन्दू-लक्षण : ११४

'माधो विलास :४६५

'माध्यमकावतार' : २५७

'माध्यमिक कारिका' : १९५

माध्व सम्प्रदाय : १०१

'मानव धर्मशास्त्र' : ५१२

'मानसोल्लास' में चित्रकला : ४१२

मानुषमिति : २९

मान्धाता : ७५

माया, मोक्षदा नगरी : ८९

मारवाड़--में भील-अङ्गुष्ठ-रक्त से राज्याभिषेक के समय तिलक, ३४

मार्क्स : १९३,६१३,६३३,६३४;—और गाँधी जी, १९३,६३३

मार्शल, सर जॉन, ४२

'मालती माधव' (नाटक):—में कापालिक का घृणित-चित्र, २४९

मालवीय, पण्डित मदनमोहन,:३२२पा.टि.

मालुंक्यपुत्त : १६६,१६७

मासूम, शेख़ मुहम्मद, (अकबरी-समन्वय-विरोधी) : ३९५

माहिष्मती : ४०

मिण्टो, लार्ड, : ५०४

मितन्नी :—हित्ती-सन्धि, ४९

मित्र, राजेन्द्रलाल : ८०

मिथिला : ६८

मिनेण्डर (स्यालकोट-नरेश) : २११

मियोयान एइसाई : २२८

मिल, जान स्टुअर्ट, : ५०१,५६५,५८३
'मिलिन्दप्रश्न' : १७२,२११
मिलटन : ११२,४८९;—की कविता में भारत तथा पूर्व, ४८९
मिश्मी : उ असम के किरात : ५३
मिश्र, कृष्ण, : २६०
मिश्र, भाव, : २१६
मिश्र, मनोहर, : ३४६
मिश्र, वाचस्पति, : ६८, २१६, २४८, २५७,३६२ ;—की 'भामती' टीका, ६८,२६५
मिश्र, विश्वनाथ, : ४३५,४३७
मिश्र, सदल, : ४६७,४६९
मिश्र, सूरत, : ४६५
'मिस्ट्रीज़ ऑव् सेल्फ़लेसनेस' (आरबेरी का अनुवाद,) : ४००पा.टि.
मिस्र : ४०,४१,४३,४९
मीनवर : ४०
मीनावतार : ६६
'मीमांसा' (पूर्व और उत्तर) : १४७
मीर : ३९,४३८,४४२,४६०;—का शेर, ३९
मीर सईद (ईरानी चित्रकार) : ४१८
मीरा : १०१,३६६,४३३, ४३७, ४३८, ४४३,५३१;—से बहुत पहले ओन्दाल, १०१
'मुकुन्दमाला' : ६९,१०६
मुखर्जी, डॉक्टर राधाकुमुद, : २७
मुग़ल : ४७;—कला : ४१७-२०; ४२३-२६;४२९-३०
मुग़ीसुद्दीन : ३२९
मुञ्जवन्त पर्वत : ४५
मुण्ड : ३०,३१,३२
'मुण्डकोपनिषद्' : १३० पा.टि., १४०
मुण्डा : ३३,३४,४२
मुनि : ज्ञानी, योगी, वैरागी, वैदिक संहिताओं में कम प्रयुक्त,—और ऋषि में भेद,—का महत्त्व बौद्ध-जैन परम्पराओं में, ६२;—पत्नियाँ,९२
मुबारक : ३४६,३५०,३५३,४३३,४३४-३५,४६३,७२४
मुरादाबादी, मौलाना मुहम्मद क़ाज़ी,३२१
मुरुकन, द्रविड़ देवता, कालक्रम में स्कन्द : ९५
मुल्ला, आनन्दनारायण, : —इक़बाल पर,६९२पा.टि.
मुसलमान : ७०, ८८, ८९, ११३,११५, ३२४;—आक्रमण जाति-भेद के कारण सफल,३२४;—आये तो यहाँ केवल हिन्दू, ११५;—औसत कवि,७०;—का दिया नाम हिन्दू नहीं,११५;—कोश में हिन्दू का दूषित अर्थ, ११३,—धर्म से अलग, संस्कृति से भारतीय ही, ११५
मुहम्मद, हज़रत : १०६, २७५,२७६, २७७, २७८, २७९, २८०,२८४,२८८, २८९,२९१,२९४, २९६, २९७, ३०२, ३०७, ३२७, ३६४, ३६५,३७०,४०३, ७०६
मुहम्मद अली, मौलाना, (स्वतन्त्रता सेनानी) : २९७ पा टि., ७१६
मुहम्मद अली ('रिलीजन ऑव् इस्लाम'): २८८ पा टि., २९५
मुहम्मद अली (अलबानिया-नरेश) : ६६७
मुहसिनुलमुल्क, सैयद मेहदी अली, : ६७९
मूर्त्ति-शिल्प : १००,४११-१६;—आरम्भ में शृङ्गार-लीलाएँ नहीं, १००
मूलराज, द्वितीय (गुजरात-नरेश) :८०
'मृगावती' : ३४२,३४४
मेकॉले, लार्ड : २७२,४९४,५०६,५०७, ५०९,५२३,५२६;— और शिक्षा, ४९९, —की जीत, ५१०;— के भारतीय सहधर्मी, ५०५
मेकियावेली : ६२३
मेगास्थनीज़ : ६४, ९९, २११;—द्वारा कृष्ण-पूजा का उल्लेख, ९९;—द्वारा पाण्ड्य राज्य का उल्लेख, ६४
'मेघदूत' : ४३७,५१५
'मेडियवल मिस्टिसिज्म ऑव् इण्डिया' (क्षितिमोहन सेन) : ३८८,४०२ पा.टि.
मेधातिथि : ३७१
मेनका : ८२
मेसोपोटामिया : ४०,४१,४९,२०९
मैक्समूलर : ३१, ४३, ५२, ७४,११६,

१२२ पा.टि., २१२,५१२,५१३-१४, ५६६,५८०,५८१;—के अनुसर ऋग्वेद का रचनाकाल, ५२;—द्वारा भारतीय संस्कृति की प्रशंसा, ११६;—संसार भर की आर्य-भाषाएँ संस्कृत से, ३१-३२

'मैन' (लन्दन, १९३६, भाग २९) : ४३

मोक्षदा नगरियाँ : ८९

मोतज़ली (मुस्लिम दार्शनिक) : २९९

मोतीचन्द्र, डॉक्टर, : ४१४

मौद्गल्य : ७६

मौन खमेर : ३३,३४,४२

मौर्य : ५३,५६,५७;—साम्राज्य : ११५

'यंग इण्डिया' : ६२३ पा.टि., ६३७ पा.टि., ६३९ पा.टि.

यगाना चंगेज़ी : ४३५

'यजुर्वेद' : ५३,५८,६१,६७,९१,९३,९५, १२३;—के शतरुद्रीय अध्याय में शिव और गिरीश, ९१;—में 'गणपति' गणेश नहीं, अश्वमेध का अश्व : ९५

'यजुर्वेद संहिता' : ६७

यमुना : ८९

यवन : ७५,११३;—आक्रान्त हिन्दू विन्ध्य की ओर, ११३

यहूदी :—भी आरम्भ में आकर हिन्दुत्व में लय, ११६

यक्ष : ५९

याकुब्दी (याक़ूबी) : २७३

याज्ञवल्क्य : १४४,१९४;—शिक्षा, १२७

'याज्ञवल्क्य-स्मृति' : ५९,३२२

यादव राणा (गुजरात-नरेश) : द्वारा पारसियों का स्वागत, ५६

यामुनाचार्य : (विशिष्टाद्वैत के प्रथम विवेचक) :३७८, ३७९,३८८

यास्क : १२१,१२४,१२५

'युधिष्ठिर-विजय' : ६९

'युधिष्ठिर-सर्प-संवाद' : ८५-८६

यूची (युची) : २८,३२,४७,८०,१११, ११५,११६

यूनान : ७३,११९,१३८,२०९,२१०-११, २१३,२१४,२१५,२४४,३०३-७,३५९, ३६०, ३६५, ४७८, ४८३,५११,५१३, ५२०,५६२,६७६,७०९;--और तसव्वुफ़, ३०३-७;—और भारत, ४८३;—के दर्शन पर भारतीय प्रभाव, २१०-११, ३०३-४;—के दर्शनिकों की पहचान, पोशाक : १३८;—को भारत की देन, २७४;—नाम की व्युत्पत्ति : २०९-१०; —में जाति, ७३;—से भारत का सम्पर्क सिकन्दर-पूर्व : २०९-१०

यूनानी : २८,३१,३२,४८,८०,८८,१११, ११२,११५,११६ (देखिये 'यवन' भी।)

यूनिटेरियन सोसाइटी : ५४०

यूरोप :—पूर्वी : ३१,— के विद्वान और भारतीय ज्ञान, ५१०-१४

येट्स : ५१६

योग : ६२,१४७-४८, २३२-३४, ३०६, ३७०,६०६,६१६;—का अर्थ, ६०६; —की व्युत्पत्ति : २३२,—दर्शन : १४७-४८,—शास्त्र, २३२-३४

'योग वाशिष्ठ' : ३४४,३९२,४१८,४६६, ४६७

'योगिनी तन्त्र' : ५४

योगीन्दु (सिद्ध) : ५९० पा.टि.

रघुनन्दन (शास्त्रकार) : ३७१

रघुनाथाचार्य : ३७८

'रघुवंश' : रामकथा-प्रसङ्ग : १०६,१८५

रज्जब : २५३,३३८,३३९,४४६पा.टि., —द्वारा प्रवृत्ति की सराहना, २५३

'रत्नसमुच्चय' : १९२

रत्नस्वामी ('इण्डिया फ्रॉम द डॉन') : ३३, ४८३पा.टि.

रमाई पण्डित : २६४,४७९;—का शून्य पुराण, २६४;—की दृष्टि में धर्म का त्राता इस्लाम, २६४

'रमूज़-बेख़ुदी' : ४००,६९१पा.टि ,७०० पा. टि.

'रम्ज़नामा' : ४१९

रविषेणाचार्य : ४६७

'रश्मिरथी' : ५६८पा.टि.

रसखान : ३४३,३४६,३५०,३५१,३५२, ३८६,४३३,४३४, ४३६, ४४७, ४५१, ४५६,४५९,४६३,७२४

रसनिधि : ४३३,४३९,४५६,७२४

रसनाविलास (आम) : ४६३,७२४

रसल, बर्ट्रेण्ड (मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक') ३०१पा.टि.

रसल, जार्ज, : ५१५

रसलीन, सैयद ग़ुलाम नबी, : ३४६,३५०, ३५३,४३३,४३६पा.टि. भी, ४५४, ७२४

'रहतनामा' : ४०२,४०७

रहीम: २७५, ३४३,३४६,३४७पा. टि.भी, ३५०,३५१,३५२, ३५३, ३५८, ४३३, ४३५, ४३६, ४४७, ४५१,४५६,४५९, ४६३, ७२४;—अपने धर्म पर दृढ़, पर भारतीय, ३५२-५३; - की 'बरवा नायिका' : नायिका-भेद पर हिन्दी में प्रथम, ४३५

राका : पूर्णिमा, आग्नेय : १०८

राजशेखर : ६८पा.टि —के मत से वेद तीन, १२०

राजू, पी.टी. : ६४५

राघवानन्द : ३८२

राधा : ६०,९७,९८,१००-१

राधावाद : १०१

राधाकृष्णन,डॉक्टर सर्वपल्ली : ८७पा. टि., १५३, १७३, १७८, १९७, २६६, ३४१,५१६,५९५,६४०पा.टि., ६४२, ६४३-४६,६४८,६४९-५६,६५२पा. टि., ६५७-५८,६५९,७०४,७३१;—अरविन्द के प्रसङ्ग में, ६४९-५१;—और रहस्यवाद, ६५७-५८,—का 'हिन्दू व्यू ऑव् लाइफ़', हिन्दुत्व ने आर्यवृत्तबाह्य देवता अपनाये, ८७पा. टि.;—के अनुसार धर्म जीवन से एकाकार हो, ६४८-४९;—के अनुसार व्यष्टि-समष्टि, ६५६-५७;—विज्ञान पर विचार, ६४६-४८;—को मिशनरियों की आलोचनाओं से ठेस, ६४२-४३;—द्वारा स्याद्वाद की आलोचना, १५३;—बुद्ध पर,१७८; —बौद्ध धर्म के निर्वाण पर, १७३

रानाडे, महादेव गोविन्द, : ५४७-४८, ५४९,५५०,५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५,५८५,६७७;—और आगरकर तथा तिलक, ५४८-५०

राबलिसन : २१४,५१४पा.टि.

राबिया :सूफ़ी-साधिका: ३०९,४४३पा.टि.

'राम अगस्त्य-संवाद' : दक्षिण भारत अगस्त्य का बसाया, ६४

'रामकथा' (गुणभद्र) :१८४

'रामकथा' (रेवरेण्ड फ़ादर कामिल बुल्के) १०२ पा.टि., १०४ पा टि., १०५,१०६ पा.टि., १८४ पा.टि., १८६पा.टि.

रामकथा : ८९,१०२,१०३,१०५,१०६; —अगणित काव्य, संस्कृति की गम्भीरतम सेवा, सारा देश एक आदर्शोन्मुख, १०६;—ऐतिहासिक, १०३; —की प्राचीनता,१०२;—के प्रसिद्ध स्थान, ८९; —द्वारा शैव-वैष्णव-विभेद दूर, १०६; —न केवल भारतीय बल्कि एशियाई संस्कृति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व, १०६; —पर आख्यान-काव्य इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के सूतों ने रचे, उन्हीं पर रामायण आधारित, १०५;—भारतीय सांस्कृतिक समन्वय का उज्ज्वलतम प्रतीक,१०५; —से भौगोलिक एकता,८९,१०५

राम (भगवान श्री) : ६४, ८२, ९१,९८, १०२-३,१०४,१०५;—अगस्त्य से दण्डकारण्य में साक्षात्कार, ६४;—आदर्श क्षत्रिय, बाद में विष्णु के अवतार, १०५; ऐतिहासिक—१०४;—का अवतार त्रेता में, १०३; दशरथि, १०३;—पर स्वतंत्र आख्यान, १०४;—बहुत बाद में अवतार रूप में गृहीत, १०४;—बौद्ध धर्म में बोधिसत्त्व, जैनों में आठवें बलदेव : शिव भक्ति से समाहित, १०६

'रामचरितम्' (मलयालम) : १०६

'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ' : ५८१पा.टि.

'रामचरितमानस' : १०६,३४२,३४८, ३४९,४६७;—में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग, ४४७-४८

'राम जातक' : १८४,१८६

रामतीर्थ (अकबर युग के पण्डित) : ३४४

रामानन्द : २०९,३५५,३५७.३६७,३७१, ३७२,३८२-८७;—के अनुयायी दो दलों में बँटे, ३८३;—भक्ति को दक्षिण से

उत्तर लाये, ३८३;—सामाजिक नेता भी, ३८३

रामानुजाचार्य : १२२,१३१,१५३, १६१, २०९,२५९, ३५५, ३५७, ३६०, ३६२, ३६३,३६६, ३६७, ३७३, ३७६, ३७७, ३७८,३७९, ३८०, ३८१, ३८३, ३८८, ४४२,४४४, ५३१, ५३३, ६०२, ६०३, ६३७,६४०;—और इस्लाम, ३७९;—की प्रपत्ति,३७७;—की भक्ति आन्दोलन को देन, ३७९-८२;—तक भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं, ३८३;—द्वारा स्याद्वाद की आलोचना, १५३;—विशिष्टाद्वैत के प्रवर्त्तक, १३१

रामाबाई, पण्डिता, ५४९

'रामायण' : ५९,६४,६८,८२,१०२,१०३, १०४,१०५,१०९, १६८, १८३, १८४, १८५,१८६, २०३, २०४, २०९, २१७, २१९,२२३,३४४, ३८३, ३९२, ४०५, ४३१,५६४,७३१;—का यवद्वीप की जनता पर प्रभाव, २१९;—की गूँज संस्कृत और अन्य देश भाषाओं में, १०६;—की रचना 'महाभारत' और बुद्ध दोनों से पूर्व, १०३;—के पात्र वेद में, १०२;—गुरु गोविन्दसिंह रचित, ४०५;—तीन कथाओं का मिश्रण,१०३;—तुलसीकृत 'रामचरितमानस',१६८;—में बुद्ध या 'महाभारत' का उल्लेख नहीं, १०३;—में विचित्र कथाएँ आग्नेय भाण्डार की,१०९;—में सीता का हिंसा-विरोध या राम का कोमल स्वभाव बौद्ध प्रभाव नहीं, १०३;—राम का पर्यटन मात्र नहीं, सम्पूर्ण रामचरित् में विकसित नर-काव्य, १०५;—वाल्मीकि रचित अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक ही, बाल और उत्तर काण्ड अन्य कवियों ने मिलाये, १०३;—वाल्मीकीय, प्राचीनतम १०५,१८४;—से उ.भारत को द.भारत का प्राचीनतम ज्ञान, ६४;—हिन्दुत्व का रक्षक, २०४

रामेश्वरम् : ८९,१०३,१०६;—में युद्ध-पूर्व शिव-प्रतिष्ठा, १०६

राय कृष्णदास जी (कला-मर्मज्ञ) : ४२७

राय, कृष्णदेव (विजयनगर का राजा): ४५५

राय, गोविन्द, (परमहंस रामकृष्ण के इस्लामी-साधना गुरु) : ५७४

राय, डी.एल, : ७०९

राय,नवीनचन्द्र, : ४६८

राय, मानवेन्द्रनाथ, (एम.एन.):('द हिस्टोरिकल रोल ऑव् इस्लाम'): २७१पा.टि. भी, २८०

राय, योगेशचन्द्र, रा.ब. : १०१पा.टि.

राय, राजा राममोहन, : १२२पा.टि., ३२२पा.टि., ३८६, ४४१, ४९७-९९, ५०५,५३४,५३६-४२,५४३,५४७,५४८, ५५०,५५२,५५४, ५५६, ५७१, ५८६, ५९७,६०१,६०८, ६१९, ६२०, ६४०, ६४३,६७०,६७३, ६७७, ६८०, ६८५, ७३१,७३४; – अँगरेज़ी के पक्षधर,५३७;—और अँगरेज़ी शिक्षा, ४९७-९९, ५३७;—और ईसाइयत, ५३७-३८;—और कबीर, ३८६;—और शिक्षा, ५०५;—का उद्देश्य भारत को यूरोप बनाना नहीं, ५४३; – का भोजन विषयक विचार, ५३९पा.टि ; – का योग सती-प्रथा उन्मूलन में, ५३७;—की उदार दृष्टि, ५४२;—की पसन्द, ५३९;—के सुधार कार्य, ५३७;—द्वारा ब्राह्मसमाज की स्थापना,५४१-४२;—द्वारा विज्ञान-वेदान्त मेल का प्रयास, ५३९-४०;—द्वारा हिन्दूधर्म विश्वधर्म-रूप में प्रतिष्ठित, ५३८-३९;—धार्मिक से अधिक सामाजिक राजनैतिक नेता, ५३६,५४२;—पर इस्लामी प्रभाव, ४९८;—भारतीय विद्रोह के पिता, ५५०;—स्वाधीन भारत की विदेश-नीति के जनक, ५४२;—विश्वमानवता के यूरोप से बढ़कर प्रेरक, ५३९,५४०

राय, लाला लाजपत, ('अनहैप्पी इण्डिया') : २१७

राय, हर, (सातवें सिक्ख गुरु) ४०४, ४०६;—और औरङ्गज़ेब, ४०६

राय, हरकृष्ण, (आठवें सिक्ख गुरु):४०४

रावण : ६५,९४,१०४,१०५,१०७,१८४;—आदि राक्षस अगस्त्य-आश्रम के पास नहीं, ६५;—के समय लङ्का-तमिलनाडु सम्बन्ध कटु, ६५;—पर जैन-बुद्ध पुराणों की श्रद्धा,१८४;—पर स्वतन्त्र आख्यान, १०४;—भी महात्मा, १०७;—शिव से वर-प्राप्त, ९४;—शैव, किन्तु द्रविड़ नहीं, ६५

'राष्ट्रवीणा' : ४५८पा.टि.

'रास-पञ्चाध्यायी' : १००पा.टि.

राक्षस : ५९, १०४, १०९;—प्राचीन विन्ध्य, द.भारत के आर्येतर आदिवासी, १०४

राक्षस (नन्द के महामात्य) : १४५

'रिकांस्ट्रक्शन ऑव् रिलीजियस थॉट इन इस्लाम' : ७०१पा.टि.

रिचर्ड्स, एफ.जे., : द्रविड़ों का मूल, ४१

रिज़्ले, हर्बर्ट, : ४१,४२

'रिनासाँ ऑव् हिन्दुइज्म' : ३७९पा.टि. ५५०पा.टि., ५५१पा.टि., ५५७पा.टि., ५६५पा.टि.

'रिपब्लिक' (प्लेटो) : पर भारतीय प्रभाव, २१०-११

'रिप्लाई टू क्रिटिक्स' : ६५७पा.टि.

'रिलीजन ऑव् इस्लाम' : २९३पा.टि.

'रिलीजन ऑव् द सिक्ख्स' : ४०४पा.टि.

'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' : ६४३पा.टि.

रीनकोर्ट ('सोल ऑव् इण्डिया') : ७२८

रुद्र : ८७,९१,९३;—के लिए शूलगाव यज्ञ, ९३;—चोरों डाकुओं, व्रात्यों के अधिपति,९३;—मरुतस्वामी, ९१;—यजुर्वेद और श्वेताश्वतरोपनिषद् में,९१

रूकर्ट : ५१४

रूसो : शिक्षा पर मत : ३००पा.टि. भी ।

रूस : २९,३१,४५,४९,६३३पा.टि. ।

रेमाण्ड (निज़ाम का फ़्रांसीसी सेनापति) : ४८८

'रेस अफ़ीनिटीज़ ऑव् द पीपुल्स ऑव् इंडिया' (बी. एस. गुहा) : ४३

'रेस इन यूरोप' (ऑक्सफ़ोर्ड पैम्फ़लेट नं० ५) : ४३

रैक्व : शूद्र : ने वेद पढ़ाया, ७४

रैदास : ३३८,३८६

रोमन : ११६

रोमसगार (मेडिटेरेनियन) : द्रविड़-उद्गम : ९३

रोम्याँ रोलाँ : ११६,५८०,६१९,—भारतीय समन्वय का प्रशंसक, ११६

लङ्का : ६५.६८,९१,१०५,१०९;—का रावण-काल में तमिलनाडु से सम्बन्ध कटु, बौद्ध होने पर कटुतर, ६५

'लङ्कावतार-सूत्र' : १८४,३६१

लक्ष्मण : ९१,१०२

लक्ष्मी : ९८,१००

लघुमानव : तीस इंच का : २८

लतीफ़, ख़ानबहादुर नवाब, ६७३

लद्दाख़ी : कश्मीर के, किरात : ५३

लल्लूलाल जी : ४६५,४६७-६८

'लाइट ऑव् एशिया' : ५१६

'लाइफ़ एण्ड टाइम्स ऑव् तिलक' : ५५० पा टि.

'लाइफ़ डिवाइन' : ६११ पा·टि.

लाओ-ज़े (त्से) : (चीनी दार्शनिक), : १३७

लातीनी : ३१,४८

'लॉयल मुहम्मडन्स ऑव् इण्डिया, द' : ६७४पा.टि.

लालदासी सम्प्रदाय : ४८०

लाला हीरालाल : ४६५

'लिङ्ग पुराण' : ९२

लिङ्ग-पूजा : ८७,९३,९४;—आर्यपूर्व : ९४;—प्रेरित जैन-बौद्ध श्रमणों से, ९३

लिच्छवी : किरात : ५३

लिथुएनिया : ४९,—की भाषा वैदिक संस्कृत का पूर्व रूप : ४९

लियोनार्दो द विंशी : चित्रकला पर, ४२३

'लीलावती' : ३४४

लेखन : —का प्रचार भारत में, ई.पू. ३००० में ही : ५२

लेनिन : ६६०,७०५

लेपचा : दारजिलिङ्ग के, किरात : ५३

लेवी, सिल्वन (फ़्रांसीसी विद्वान) : २२२

'लैण्डमार्क्स इन लोकमान्य्स लाइफ़': ५४८

लोकायत-परम्परा : १३९

लोपामुद्रा : ऋग्वेदोल्लिखित : ६५

‘वज़-ए-इस्तलाहात’ (वहीदुद्दीन ‘सलीम’) : ४६२

वज्रयान : १९०,१९१,१९८,२३०,२३१, २४१-४३, २४४, २४५, २४८,२५०, २५४-५५,२५७, ३०५, ६३१;—और सहजयान का साम्य, २४४;—और निर्गुनियाँ हिन्दी-कवि, २५५;—का दर्शन चिन्तन से नहीं, साधकों के आचार से निकला, २४४;— की वैपुल्य-निकाय और महायान से उत्पत्ति, १९०-९१;—की व्युत्पत्ति, २४१-४२;—जाति-प्रथा विरोधी, २५४-५५;—द्वारा बौद्धधर्म की बने रहने की चेष्टा, २५४-५५;—बनाम फ़ॉयड, २४८,—महायान का महाकलङ्क, १९१ ; --शास्त्र-विरोधी, २५४-५५

‘वन-पर्व’ (महाभारत) : कर्मानुसार वर्ण : ८५

वनवासियों की दन्त-कथाएँ : ८८

वराहमिहिर : २१५ पा.टि. भी ।

वराहावतार : १०४,१०९;—मूलत: आग्नेय, १०९

वरुण : ४९,६०

वर्जिल : ११२

वर्ड्स्वर्थ : ५१५, ५८३

वर्ण-व्यवस्था : ७३,८५;—जातिप्रथा से पूर्व, ७३;—जन्मना वा कर्मणा, ८५

‘वर्ण रत्नाकर’ : ४५४

वर्मा, डॉक्टर धीरेन्द्र, : ४५८ पा.टि.

वर्मा, गुण : २२०

वर्मा, महादेवी : ४४२

वर्मा, (डॉक्टर) सम्पूर्णानन्द, : ९५,९६, १५३,—आर्यमूल सप्तसिन्धु, ९६;—गणेश पर खोज, ९५;—स्याद्वाद की आलोचना,, १५३

वली : ४५७,४५८,४५९,४६०,४६१;—उर्दू के पहले शायर, ४५४

वल्लभाचार्य : १६१,२०९,२५९,३६०, ३६२, ३६३,३६७,३७३,३८४,३८८, ४४२,४५४,५३१, ५८५, ६०३;—की दयानन्द द्वारा आलोचना, ५५४

वल्लभाचार्यी वैष्णव : ४७९

वशिष्ठ, महर्षि : ७४, १४५;—द्वारा शूद्र सुदास राज्याभिषिक्त, ७४

वसु, अनाथनाथ (‘एजुकेशन इन मॉडर्न इण्डिया’) : ५०७ पा.टि.

वसुबन्धु : २५८, ३६१;—शङ्कराचार्य के बौद्धिक पूर्वज, ३६१

वसुदेव : ८१, ९८;—ऐतिहासिक, ९८

वहाब, मुहम्मद अब्दुल, :६६५,६६६,६६७

वहाबी आन्दोलन : ३९४,६६४-६८, ६८२, ७०७

‘वाक़याते-बाबरी’ : ३५२

वाक्पतिराज (‘जय सोमनाथ’ का पात्र) : ३१३

वाग्भट्ट : २१६

वाणासुर : ९४

वात्स्यायन : ४१२

वादनगर(बड़ौदा): लघुमानव-कङ्काल :२८

वानर : दक्षिण भारत और विन्ध्य की आदिम, आर्येतर जाति, १०४

‘वामन-पुराण’ : ९२पा.टि.भी ।

वामनावतार : १०४,१०५;—का त्रिविक्रमरूप, ऋग्वेद में, १०५;—सदा से विष्णु का; १०४, १०५

वाम-मार्ग (वामाचार) : ५४,९४,२३६-४०,२४९,२५५ ;—उलटी धारा की साधना, २३६-४०;—का व्यापक प्रचार पहले असम में, ५४;—में नीच जाति की स्त्रियाँ, २४३-४४,२४९

‘वायुपुराण’ : ५९पा.टि., ८९, ३७२;—में भक्ति के प्रमाण, ३७२;—में भारत की एकता, ८९

वार्डन (देशी भाषा-विरोधी) : ५०६,५०७

वार्ष्णेय, डॉक्टर लक्ष्मीसागर : ५२४पा.टि., ५२५पा.टि.

वाल्डन (अमेरिकी नदी) : ५१५

वाल्टेयर : ने ऋग्वेद का अनुवाद पढ़ा, ५११

वाल्मीकि, आदिकवि : १०३,१०६,१०७, १८४,२०४,२०८,४३०,५८८

‘वाल्मीकि रामायण’ : ९१,१०६,२१९ (देखिये ‘रामायण’ भी ।)

वासव, वीर-शैव मत-प्रवर्त्तक : ३६८

वासुकि : नागराज : ८१

वासुदेव (कवि) : ६९

वासुदेव कृष्ण : ९८,९९;—देवों के देव, ९९

वासुदेव :९८,९९; —धर्म,९९,—मत,९८

वास्को-डि-गामा : ४८३-८४,६६३,६६४; — की यात्रा, ४८३-८४

विकासवाद : २८

'विचित्र नाटक' : ४०४

विजयकृष्ण (ब्राह्मसमाजी):५८०

विज्जिका (कवयित्री) : ६८

विज्ञानेश्वर (शास्त्रकार) : ३७१

विण्टरनीज़ : ऋग्वेद का रचनाकाल,५२

विद्याधर : ५९

विद्यापति : १९९,३४४,३४७,३५०,३७१, ४३३,४६३

'विद्यासुन्दर', : ४३२पा टि.

विन्ध्याचल : ३०,६५,८९,११२-१३;—के उत्तर आर्य, दक्षिण,द्रविड़ देश,८९

विन्ध्य मेखला : ३३

विनोबा : ११४,७३१;—हिन्दू की अहिंसक परिभाषा, ११४

विलकिन्स,चार्ल्स : ५१२

विल्लवर : ४०

विलसन : ५२३

'विवेक-तिलक' : ६८

विवाह : ८०,८१,८२,८३;—अनुलोम-प्रतिलोम, ८१-८३;—असवर्ण, ८०,८१; —पूर्व प्रेमी'जार' (अनैतिक नहीं), ८३; —माता-पिता की मर्ज़ी से या वर-कन्या की पसन्द से, ८३

विवेकानन्द, स्वामी : ३८,१३५ पा.टि., २७५पा.टि. ३४१;३८६, ५२१पा.टि., ५२५,५३०,५३४, ५५२, ५७५, ५८०, ५८३,५८४,५८५-९७,५९८,५९९,६०१, ६०४,६०७,६०८, ६१२, ६१९, ६२०, ६२२, ६२८,६२९, ६४३,६५९,६७७, ६८०,६९८,६९९,७३१,७३४;—इस्लाम के प्रसार पर,२७५पा.टि.;—का इस्लाम पर मत, ५९६-९७;—का 'द मेसेज ऑव् इण्डिया', ५२१पा.टि.,—का धार्मिक एकता पर विचार, ५९७-९८; —का भारत पर अशेष ऋण, ६९८-९९;—का संन्यास के विरुद्ध एक तर्क, १३५पा टि;—की कल्पना में भावी भारत-धर्म;३४१;—द्वारा आर्यों और द्रविड़ों में भेद करने वालों पर व्यंग्य, ३८;—द्वारा . गीता की प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या, ५३४;—द्वारा भारत को प्रवृत्ति का उपदेश, ५८९-९२;—द्वारा यूरोप और अमेरिका को निवृत्ति की शिक्षा, ५८८-८९;—नयी रोशनी के दिग्भ्रमित युवकों के विषय में,५२५; —हिन्दुत्व के पूरे प्रतिनिधि, ३८६

विश्वामित्र, राजर्षि, : ७४, ७५, १४५; —वैदिक, ७४

विष्णु : ५१,५९,८७, ९२,९७,९८,१०१, १०४,१०५,४७४;—आर्यों के सूर्य,द्रविड़ों के आकाशदेव से मिश्रित,९८;—इन्द्र के बाद,९७;—का अर्थ ऋग्वेद में सूर्य,९७; —काले, आर्य गोरे :९७; | का सदा से वामन-अवतार, १०४-५;—के अवतार रूप में कृष्ण पहले गृहीत, राम बाद में; फिर सभी अवतार उन्हीं के :१०४,—के दशम अवतार अली,४७४;—देवताओं की ओर, ५१;—प्रधान देवता, ८७;—स्त्री वेश में, ९२

विष्णुकाञ्ची : ८९

'विष्णुधर्मोत्तर' : में चित्रकला, ४१२

'विष्णुपुराण' : ६८,९०,१००,१४७,२५९, ३१७,३७२;—उ. भारत में रचित,९०; —और कृष्ण, १००;—की विशिष्टाद्वैतवादी व्याख्या दक्षिण में, ६८;—में न श्रीकृष्ण का रसिक-रूप, न राधा ; १००;—में भक्ति के प्रमाण, ३७२;—में राष्ट्रीयता, ९०

'विष्णुस्मृति' : ५९

'वीर विनोद' (श्यामलदास) : ३१९ पा.टि. भी।

वीर शैव : ३५५, ३६७

वृत्रासुर : १०२,—ही रावण, १०३

'वृद्धस्मृति' : हिन्दू की परिभाषा : ११३

वृन्दावन : १०१,—में राधा की कल्पना, १०१
वृषल : आर्य-बाह्य : ७५;—होना द्विजों का, ७६
वृषवाहन-देव : ९३
वृष्णिवंश : ६५
वेद : ३१,३९,४३,४५,४७,५१,५२,५३, ५८,५९,६०,६१,६४,६५,६७,६८,७४, ८२,८४,८७,८८, ९५,९८,१०२, १०४, १०९, ११०, ११९, १२३,१२६,१२७, १२८, १३७, १३८, १४०,१४१,१४७, १६०,१६३,१६५, १६६, १७५, १७६, १८७, २०२, २०४, २०६,२०९,२२३, २५४, २५७,३३७, ३४३, ३४८, ३४९, ३६८,३७१, ३७२, ३७३, ३७७,३७९, ३८३, ४११, ५१३,५१४,५४२, ५४७, ५५६, ५५८,५५९, ५६३, ५६६, ६५१, ६५२,६८६;—अर्द्धसभ्य जाति की रचना नहीं,४७;—और उपनयन का अधिकार नारियों से छिनने का कारण, ८२,८४;—और उपनिषदों की विचारधारा, १२३;—और ब्राह्मणों में वैराग्य और संन्यास नहीं, १२७-२८;—और भक्ति, ३७२, ३७३;—का पठन-श्रवण केवल द्विज पुरुषों तक सीमित,५९;—का रचना-काल, ४७,५१-५३;—का वातावरण, ११९;—का संहिता-रूप में विभाजन, ५२;—की कई ऋचाएँ नारियों की रचना ८२;—की नयी व्याख्या, ३७१;—की निन्दा बुद्ध-महावीर से पहले, १४०;—की रचना मौखिक,५२;—के पुनरुज्जीवक, ६८;—के प्रधान देवताओं की पूजा रुकी, ६०;—के रुद्र-शिव : प्रकृति की उग्र कल्पना,८७;—के समय चित्र,४११, —मात्र से हिन्दू धर्म की समस्त समस्याओं का समाधान नहीं, ८७;—में अहिंसक यज्ञ, १६०;—में इस लोक और स्वर्ग का वर्णन, १२६;—में तो करोड़ों देवता, व्रत, अनुष्ठान नहीं, ८८;—में गणेश नहीं,९५; —में तमिलनाडु नहीं, ६५;—में तीन ही वर्ण, चतुर्थ नहीं, ७४;—में दक्षिण का उल्लेख नहीं, ६४; —में नर्क और मोक्ष नहीं; ६१, १२६; —में ही अहिंसा के बीज, १४१;—में यज्ञ का प्रतिपादन, १२७, १२८;—में रामकथा के पात्र,१०२,१०४;—में वृक्ष-नदी-पूजन नहीं, ११०;—में शिव-पूजा नहीं, ८७;—में सर्प, भूत, पिशाच-पूजा और टोटके नहीं; ८७;—में सिन्दूर का पर्याय नहीं, न सिन्दूर दान का कोई मन्त्र; शङ्ख-कम्बु भी वेद-बाह्य, १०९;—में सीता इन्द्रपत्नी, १०२;—में हिन्दू धर्म के प्रत्येक रूप का बीज,८७;—विरुद्ध देवताओं से सम्बद्ध पूज्य वृक्ष, ११०,—संहिताओं के सम्पादक, ५२
वेदान्त :५९,६१,१२९,१३१पा टि.,१४८, १४९,१६४,१७४,१७५,१९४,२९८,३००, ३०६-७,३३७,३३८,३४१,३७९, ३८०, ३८५,३९०,३९२, ४०२, ४०३, ५१२, ५३३, ५३४, ५३९,५८१, ५९२, ५९६, ६०१,६०२;—और कबीर, ५३३;—और बौद्ध तथा जैन धर्म, १६४;—और विज्ञान का राम मोहन द्वारा मेल,५३९;—और शङ्कर, ५३३,—और सूफ़ी मत, ३०६-७;—और हिन्दू-मुस्लिम एकता, ३४१; —का ईश्वर, २९८;—का तसव्वुफ़ पर असर,३३७;—का प्रभाव ग़ज़ाली पर, ३००,—का प्रभाव सिक्ख मत पर,४०३; —का ब्रह्म, ३७९;—की ईश्वरवादी व्याख्या प्रथमतः बौधायन द्वारा, ३७९; —दर्शन में वर्ण भेद नहीं,५९;—भारत का चिरन्तन सत्य,५३३-३४;—भारतीय नवोत्थान की रीढ़, ५३३-३४;—भी वेद अतः शूद्रों के लिए निषिद्ध, ५९;—हिन्दू-मुस्लिम एकता का एकमात्र मार्ग, ३३८
'वेदान्त(ब्रह्म)-सूत्र' : १३१पा.टि., ३७९, ३८०
'वेदार्थ संग्रह' : ३७९
वेबर : ३५९
'वेस्टर्न इनफ्लुएंसेज़ ऑन बेङ्गाली लिटरेचर, द' (प्रियरञ्जन सेन) : ४३२ पा.टि., ४४१ पा.टि.
वैखानस (वैदिक श्रमण) : ६८,१३८;—

सम्प्रदाय के गृह्य-सूत्र में द्राविड़ मुहावरे, ६८
'वैताल पचीसी' : ४६५
वैदिक देवता : ४९
वैदिक धर्म : ५९,६७,११९,१२०,१२२, १२४,१२५,१२६, १२७, १२८;—के अनेक ग्रन्थ दक्षिण में रचित,६७;—चातुर्वर्ण्य पोषक, ५९;—में शूद्र को वेद-पाठ या संन्यास का अधिकार नहीं, ५९
वैदिक प्रार्थनाएँ : मोक्ष नहीं, आयु, स्वास्थ्य, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए, प्रफुल्ल, प्रोत्साहनयुक्त मन्त्र; ७१
वैदिक मत : ६५.११०;—उत्तर में त्रस्त; दक्षिण में संरक्षित,६५;--का गढ़ तमिलनाडु, ६५;--देवी-पूजा और तन्त्र-मन्त्र शास्त्र तथा सदाचार विरुद्ध : ११०
वैदिक संस्कृति :—पूर्णतः आर्य नहीं,१११
'वैदिक संस्कृति का विकास' (लक्ष्मणशास्त्री जोशी) : ५८ पा.टि.,६३ पा.टि., ७३ पा.टि.,७६ पा.टि.,७७ पा टि., ८३ पा.टि., १३३ पा.टि.,—औद्योगिक शिल्पों का बहिष्कार घातक,७६पा.टि.,—रङ्गभेद पर आधारित जाति-प्रथा अप्रामाणिक, ७३
'वैदिक संहिता' : ४५,६२,७३;—में ग्राम, नगर नहीं, ६२;—में जाति नहीं, ७३
वैदिक सभ्यता : ग्राम प्रधान; ६२
वैष्णव : ३५, ५४, ८९, १०१,१०६;—मणिपुर का राजवंश, ५४;— रामाश्रयी, ८९, १०६
वैष्णव धर्म : ९७-९९, १०१,१०४,१०६;—आर्यों का अपना नहीं, प्राग्वैदिक धर्म के योग से विकसित, ९७, १०१, १०४; —की कृष्णाश्रयी-रामाश्रयी शाखाओं का भेद,१०४;—की रामाश्रयी शाखा में भी आर्येतर योग, १०४;—के तत्त्वत्रय, ९८;—नारायण ऋषि की आराधना से, ९८; – प्राचीनतर भृगु के पदाघात से लाञ्छित होकर देश में प्रतिष्ठित,९७;—में बाललीला (श्रीकृष्ण की) आभीरों से तथा राधा दक्षिण की आर्येतर देवी, १०१;—शैव विभेद राम कथा द्वारा समाप्त, १०६
व्यास, कृष्णद्वैपायन : ५२,६३,७५,७६, ८१, ८५,८६,२०४,५८८;—के मत से कर्मानुसार जाति, ८५ ;—के लिपिक गणेश, ५२पा.टि ;—बोलकर लिखाते थे, ५२; —महाभारतकाल में जीवित, ५२;—वैदिक संहिताओं के सम्पादक, ५२;—सबसे बड़े पुराणकार, पौराणिक संस्कृति के निर्माता,धीवर-कन्या के पुत्र, आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के उत्तराधिकारी और सर्वपूज्य; ६३,७६, ८६;—सांस्कृतिक समन्वय के समर्थक, ६३
व्रात्य : शूद्रपिता, ब्राह्मणी माता की सन्तान; ८१
शक: २८,३२,४७,७५,८०,८८, ९३, ९९, १११,११५,११६;— राजे शैव, ९३;—राज्य के ह्रास में लिङ्ग-पूजा, ९९
शक द्वीप : ५७
शङ्कर, भगवान, : ५८० (देखिये 'शिव' भी ।)
'शङ्कर दिग्विजय' : २६५
शङ्करदेव,—का महापुरुषीय सम्प्रदाय : ३८६,३८७
शङ्कराचार्य : ६८, ८९,१३१ पा.टि. भी, १५३,१९५-९६,१९८,२०८,२०९,२४८, २५७,२५८,२६५-६७,३५०,३५५,३५६, ३५७,३६१-६३,३६६,३७८,३७९,३८० ३८८,५३१,५५७,६०२;—और तिलक, ३६१;—का महत्त्व,३६१;--का मायावाद ३७९;—का शारीरक भाष्य,६८;—के अद्वैत का रामानुज द्वारा खण्डन, ३७९;—के अद्वैत की पृष्ठभूमि नागार्जुन द्वारा तैयार, १९५-९६ ;—के अद्वैत से निराशा और वैष्णवाचार्यों का उदय, ३७८ ;---के दर्शन का स्रोत वेदोपनिषद्, ३५९-६१;—के बौद्धिक पूर्वज, वसुबन्धु, ३६१;—दक्षिण में ही क्यों, ३६१-६३;—द्वारा स्याद्वाद की आलोचना, १५३;—पर इस्लामी प्रभाव का प्रश्न, ३५६-५७,३५९-६१, ३७६;—प्रच्छन्न बौद्ध, ३६६,—बौद्धधर्म के उच्छेदक,२६५-६७

शकुन्तला : ८२
'शकुन्तला' (नाटक) : ५१२, ५१४
शक्ति : ५९,९३
'शतपथ ब्राह्मण' : ५८, ७३ पा.टि., ७४, १०४, १२३, १२४, १२७, १४३;—के देवता, १२४;—में तीन ही वर्ण,७४;—में मत्स्यादि तीन अवतार प्रजापति के, १०४
'शतरञ्ज के खिलाड़ी' (प्रेमचन्द) :३१५
'शतरुद्रीय' (यजुर्वेद का अध्याय) : ९१
शत्रु, अजात, (मगध-नरेश) : १४५
शफ़ी, सर मुहम्मद,(राष्ट्रवादी) : ७१६
शबर : ३०,३१,३२
'शब्दकल्पद्रुम कोष' : हिन्दू की परिभाषा : ११३
शरीयतुल्लाह, हाजी : ६६८
शर्मा, देवेन्द्रनाथ,('साहित्य समीक्षा') : २५५
शर्मा, डी.एस., ('द रिनासाँ ऑव् हिन्दुइज़्म') : १३४पा.टि.भी; ३७९पा.टि., ५५०पा.टि.भी ।
शल्य : ७६
शाङ्कर भाष्य : ६०२,६४०
शाक्त : ३५
शाक्त धर्म : ५४, १८६,२२९-५३;—का दर्शन, २३५-३६;—का प्रभाव बौद्ध धर्म पर, २२९-५३,—के दर्शन का सहजयान से मेल, २४४-४५;—के विकास में किरातों की देन,५४;——(वाममार्गी) का मुख्य पीठ,५४;—शैव धर्म के निकट, २३१-३२
शाक्य : किरात-वंशी : ५३
शाद (उर्दू कवि : ४६०
शॉ, जार्ज बर्नार्ड : ५६४
शान्तरक्षित : १५३,२२२,२२८,२६५;—द्वारा स्याद्वाद की आलोचना, १५३
शान्ति देव : १९२,१९३,१९४,२५७;—के ग्रन्थों में महायान का उदात्त रूप, १९२-९३;—गाँधी जी के सच्चे पूर्वपुरुष, १९३,१९४
'शान्ति पर्व' (महाभारत) : ९८
शापूर : ईरानी राजा : ५६
शॉपेनहॉर : ५११-१२, ५१६, ५१७
'शारीरक भाष्य' (शङ्कराचार्य) : ६८, २६५,३६२;—की 'भामती' टीका, ६८
'शार्ङ्गधर-पद्धति' : ११३
शाश्वतिक विरोध (श्रमण-ब्राह्मण) : ५८
शास्त्रार्थ : नये विचारों का प्रचार : ९०
शास्त्री, डॉक्टर नीलकण्ठ, : ३३ पा.टि., ३६,६४पा.टि.,—कृत 'ए हिस्ट्री ऑव् साउथ इण्डिया' में द्रविड़ों की उत्पत्ति : ३३-३४ पा.टि.
शास्त्री, मङ्गलदेव, : ५८,५९ पा.टि., ६०, ६१,६२ पा.टि., ६३ पा.टि., ६७,७३, ७४ पा.टि., ७५ पा.टि.;—कृत 'भारतीय संस्कृति का विकास' के अनुसार वैदिक-संस्कृति आर्यों और आर्यपूर्व-जन की मिश्रित देन, ५८;—भारतीय संस्कृति के विलोम युग्म, ६०;—वर्ण-परिवर्त्तन, ७५;—वर्ण-व्यवस्था, ७३-७४;—वेदों में नर्क, मुक्ति, दुःख का प्रयोग नहीं, ६१
शास्त्री, शाम, : ८०
शास्त्री, शिवनाथ, : ('हिस्ट्री ऑव् ब्रह्मसमाज') ५४१ पा.टि.
शास्त्री, सुब्रह्मण्यम् : ५४०
शाह,अब्दुर्रहीम,(सूफ़ी-सन्त):३३२ पा.टि.
शाह, गुलशन : ४५७
शाह मीर (कश्मीरी नवाब) : ३२१
'शिक्षा-समुच्चय' (शान्तिदेव) : १९२
शिबली, मौलाना, नोमानी, : ६८२,६८३;—एकेडेमी, ६८२
शिरोल, सर व्लेण्टाइन, : ५५० पा.टि.
शिल्प-उद्योग से दूरी : बौद्धिक-आर्थिक अविकास : ७६
शिव : ४८,५१,५३,५९,६०,६२,६४,६५, ८७,९१, ९२,९३, ९४,९६, ९७, १०१, १०६, १३३, १९४, २०५,२२०, २२२, २३८-३९,२४०,३६१,३६६,३७५,३८७;—असुर-पक्ष में, ५१,९४;—का किरात-वेश में अर्जुन से युद्ध, ५३;—का तमिल नाम 'सिवन', आर्य 'नीललोहित' और गरल पान, ९६;—का प्रसाद क्यों वर्जित, ९१;—का विवाह तमिल परम्परानुसार, ६४;—का शक्ति से मिलन, २३८-३९;—की कल्पना आर्येतर, द्रविड़; ९४,९६;

—की पूजा का वर्त्तमान रूप और लिङ्ग-पूजा वेदों में नहीं, ८७;—की प्रतिष्ठा नारियों के कारण, ९२;—के आर्य-द्रविड़ नामों की तुलना, ९६-९७;—के पूजन का विकास नीग्रो, द्रविड़ और आग्नेय जातियों द्वारा; ८७,९१,९३;—के भूतेश आदि भयावह रूप अशिष्टजन में, ९७;—के साथ योग और वैराग्य समन्वित, ६२;—कैसे प्रधानदेव, ८७;—को ऋषियों का शाप, ९१;—को दक्ष-यज्ञ में स्थान नहीं, ९१;—को भृगु का शाप, ९७;—द्वारा तमिल एवं संस्कृत : शब्दों और व्याकरणों का जन्म, ६५;—पूजा आर्यों के यहाँ देर से, ऋषियों की इच्छा के विरुद्ध; ४८,९१;—पूजा के चिह्न महंजोदरो में, ५१;—पूजा द्रविड़ों में पुरानी, ९४;—ब्राह्मण युग में रुद्र से एकाकार, ९१,१३३;—भक्ति से वैष्णव-रामकथा एकाकार, १०६;—महादेव, महेश्वर और अहिंसक बने, ९३;—मुनि-पत्नियों के पितृकुलदेव, ९३;—वनजातियों के देवता, ९३;—सपुत्र वाणासुर की ओर से श्रीकृष्ण से लड़े, ९४;—सभ्यजन में भिन्न, ९७

'शिवपुराण' : ९१,९२,३७२;—में भक्ति, ३७२

शिवप्रसाद, राजा, सितार-ए-हिन्द; ४६८ पा.टि. भी।

शिवाजी : ३४५-४६, ३५१, ४००, ४०९, ५४९, ५५४;—की असाम्प्रदायिकता, ३४५-४६;—महोत्सव, ५४९

शिश्नेदेवा : ५१,९४

शीतला : गर्दभवाहिनी अनार्य देवी, ९६

शीरानी, अख़तर, : ७२१-२२

शीरीं : ईरानी रानी : ५६

शीलर : ५१६

'शुक-सप्तति' : २१४

'शुक्ल यजुर्वेद' : ६७,६८;—उत्तर में, ६७;—कृष्ण य.वे. के वाद, उसकी पौराणिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध, ६८

'शुक्ल-यजुर्वेद-वाजसनेयि-माध्यन्दिनसंहिता' : ६१

शुक्ल, रामचन्द्र, आचार्य पण्डित, : ३३३ पा.टि., ३४२,४५१ पा.टि.;—का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ४५१ पा.टि.;—की 'जायसी ग्रन्थावली', ३३३ पा.टि.

शुक्ल, वैकुण्ठमणि, : ४६५

शूद्र : ५५,५९,७४,७५, ७६,७७,७८,८०, ८१,८२,८४,८५,९२,११०, १४६,१६५, १९८,३४८,३८६;—अन्त्यज और अस्पृश्य, ७८;—उत्सव, होली, ११०;—का उल्लेख केवल एक जगह 'पुरुषसूक्त' में, ७४;—का स्थान अरस्तू-वर्णित दासों से भिन्न, ७७;—का स्थान ऋग्वेदकाल में, ७४, ८०,८४;—की संख्या गर्हित विवाहों से बढ़ी, ७७;—कुल की मुनि-पत्नियाँ, ९२;—को वेद, यज्ञ, उपनयन का अधिकार ; ७४,७६, ८२,८४;—क्षत्रियों वाली शाखा से, ७४;—जन्म से, संस्कारों से द्विज, ८५;—तुलसी की दृष्टि में, ३४८;—दास, दस्यु, निम्न संस्कृति, ७६;—भी द्विज, क्षत्रिय, ७५;—भूत-प्रेत और ग्रामदेवता के पुरोहित, ११०;—राजा सुदास वेदकालीन, ७४;—रैंक्व ने वेद पढ़ाया, ७४;—वेदादिवञ्चित, यथाकामप्रेष्य-वध्य; किन्तु, श्रम, सम्पत्ति एवं स्वतन्त्र-व्यवसाय के अधिकारी, ७७

शूनिक : शूद्र-पिता, ब्राह्मणी-माता की सन्तान, ८१

'शून्य-पुराण' : २६४,४७९

शूलगाव-यज्ञ : ९३

'शृङ्गार-रस-मण्डन' : ४६५

शेक्सपियर : २१४

शेख़ (हिन्दी कवि) : ३५३,४३३,४३४, ४५६,४६३

शेरवास्की : १९५

शेरशाह : ३१९,३२९,३४२,३४६,४१७

'शेरो-शायरी' : ६८९ पा.टि., ६९२ पा.टि.

'शेरो-सुख़न' : ४५४ पा.टि., ४५७ पा.टि., ४६१ पा.टि.

शेली : ५१४,५१५,५८३;—की कविता 'एडोनॉयज़' औपनिषदिक कल्पना पर आधारित, ५१५

शैव : ३४,३५, ६५,९१-९४, १०४,१०६;

—उत्सव, ३४;—धर्म प्राग्वैदिक, ९१-९४,१०४;—रावण, द्रविड़ नहीं, ६५;—वैष्णव-विभेद रामकथा द्वारा दूर, १०६
'शौनक प्रातिशाख्य' : १२१
श्रद्धाराम (नन्द) फुल्लौरी : ४६८
श्रमण : ५८,६८, ९३, ९४, १३८;—का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य में, ५८;—को वाममार्ग की ओर लिङ्ग-पूजा की प्रेरणा ले गयी, ९४;—बच्चे बनाये गये, ९३;—वेदपूर्व, ६८,१३८;—संस्था, ५८
श्रमण-ब्राह्मण-सङ्घर्ष : ५८
श्राद्धदेव : ६६
श्रीदीपङ्कर श्रीज्ञान : २२२
श्रीधर (कवि) : ३५०
'श्रीभाष्य' में रामानुजीय सिद्धान्त की प्रतिष्ठा : ३७९
'श्रीमद्भागवत पुराण' : ६६, ९०, ९७ (देखिये 'भागवत' भी।)
'श्रीरामकृष्ण लीलामृत' : ५६९ पा.टि., ५७० पा.टि.
श्रीविजय (वर्त्तमान पलेमबङ्ग) : सुमात्रा की हिन्दू राजधानी : २२१
श्रीहर्ष : २२९,४३७
श्रुतश्रवा : ८१
श्लीगल : ५१३,५१५;—बन्धुओं द्वारा यूरोप में भारतीय ज्ञान का प्रचार, ५१४
'श्वेताश्वतरोपनिषद्' : ९१,९३,३६५
षडानन : कार्त्तिकेय : ९५
षड्गुरुशिष्य : ६८
संकर्षण : ९८
'संक्षिप्त वेदान्त' (राममोहन राय) : ५३७
संगम-साहित्य (तमिल) : ४४
संजय बेलट्ठि : का अनिश्चिततावाद : १३६
संस्कृत : ३१,३२, ४२,४४, ४५,४६,४७, ४८,४९,५०, ६३,६६,६७, ६९,७०,७२, ७३,९०,१०६,११३,११४,५१२;—और ईरानी मूलतः एक, ४६;—उच्चारण तमिल प्रभाव से बदला, ६६;—उम्र में सबसे बड़ी, ६९;—का उत्कृष्ट साहित्य भारत में रचित, ५०;—के अति समीप लिथुएनियन, ४९;—के कारण सर्वत्र समझी जानेवाली हिन्दी, ६९;—के विद्वान समस्त भारत में घूमते थे, ९०;—धार्मिक-साहित्य में रामकथा कम व्यापक, १०६;—नाम मिस्री राजाओं के, ४९;—पर आधारित सभी भारतीय भाषाएँ एक, ६९; 'पूजा'—नहीं, ७२-७३;—फ़ारसी में बड़ी निकटता, ४८;—मानस-धारा ही देश-भाषाओं में, ९०;—में आर्येतर शब्द, ६६-६७ पा.टि.;—में भारत का समस्त कथ्य, वहीं से अन्य भाषाओं में उद्धृत, ७०;—में भारतीय आत्मा के सूक्ष्म संस्कार, ६९;—में 'हिन्दू' भिन्न अर्थ में, ११३;—में हिन्दुस्थान, ११४;—यूरोपीय से अधिक भारतीय भाषाओं के निकट, ४४;—शब्द यूरोपीय भाषाओं में कम, भारतीय भाषाओं में अधिक, ४५;—श्रेष्ठ-साहित्य-भाषा,९०;—समस्त भारत की साहित्य-भाषा,६९;—समस्त भारतीय भाषाओं का उपजीव्य, ६९;—सर्वत्र नयी भाषाओं में लीन, केवल भारत में मूलरूप में सुरक्षित, ४७;—साहित्य में आर्य विन्ध्योत्तर, दक्षिण वाले संस्कृतभाषी नहीं, ६३;—से तमिल भी प्रभावित, ६६
'संस्कृति-सङ्गम':८२ पा.टि.,९२,९६पा टि.
सक्सेना, डॉक्टर बाबूराम; ('दक्खिनी हिन्दी') : ४५४पा.टि.भी,४५९, ४६६;—उर्दू गद्य पर, ४६४
सत्यकाम : कुल अज्ञात, किन्तु ब्रह्मविद्याधिकारी, ७६
सत्यकेतु विद्यालङ्कार : ५१ पा.टि.
सत्यवती(ऋचीक-पत्नी, गाधिपुत्री) : ७५
सत्यवती (धीवर-कन्या, व्यास-माता) : ७६,८१
सत्यव्रत (द्राविड़ राजा, महाप्लावन के नायक) : ६६
'सत्यार्थ प्रकाश' :५५३,५५५,५५८पा.टि., ५५९ पा.टि.;—में ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना, ५५४
सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी : ६८
सदानन्द, स्वामी, ('हिन्दू कल्चर इन ग्रेटर इण्डिया') : २१८,२२१

सदासुखलाल, नियाज़:४६७,४६८,४६९
सद्गुरुशिष्य : श्रौतसूत्रों के दाक्षिणात्य-टीकाकार : ६८
'सद्धर्म पुण्डरीक' : १९४
सन्तभद्र : जैन मनीषी : २५७
सन्तराम : ३२१ पा.टि. भी, ४१०;—सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व से अलग करने के प्रश्न पर, ४१०
सन्तायना (दार्शनिक) : ६६०
सप्तसैन्धव : ३९,४५,९६;—आर्यमूल, ९६;—सात नदियों से सेवित भूभाग ४५ पा.टि.
'सप्तशतियाँ' ('आर्या' और 'गाथा') : ४३७
सभ्यता :— की प्रगति से विचारशीलता बढ़ती, कवित्व छूटता है, ७०;—संस्कृति का आधिभौतिक पक्ष, ७०
समर्थ स्वामी रामदास : ३८४,५५१
सरकार, उमेशचन्द्र, : ५४५
सरकार, सर यदुनाथ, : ३२७,३२८
सरस्वती (देवी): सर्वशुक्ला : ६८ पा.टि.
सरस्वती (नदी) : ४५,८९
सरहपा : ३३३,३५०,३६५,३८९पा.टि.;—के पद, ३८९ पा.टि.
सरहिन्दी,शेख़ अहमद, :३९४-९५,३९६, ४०१,६६७,६६८,७२५;—तौहीदे-इलाही का विरोधी, ३९४-९६
लाहुदीन ख़ुदाबख़्श : ६७९
लीम, वहीदुद्दीन, पानीपती : उर्दू हिन्दी सम्बन्ध : ४६२
विनय अवज्ञा : ६१८
जयान : २३१,२४३-४५,२४६-४७, ५१-५३,२५८,४४१-४२,६३१;—और क्ति में मादन-भाव, ४४१-४२;—और त्रयान में भेद नहीं,२४४;—का दर्शन, धकों के आचरण से, २४४;— प्रभाव परवर्त्ती सन्तों पर,२५१-५३; का शाक्तदर्शन से मेल, २४४;—के , २४४-४५;—द्वारा काम और योग मेल बिठाने का प्रयास, २५४; ष्णव धर्म में, २४६-४७
वाई : ४८०
सहस्रकवच : ९८
सांकृत्यायन, राहुल, : १५३,१७३,१८१ पा.टि., १८३ पा.टि.,१९०पा.टि.,२२४, २५५ पा.टि., २६५,३६५,४३४,४५४ पा.टि., ४५८ पा.टि,—कृत 'बुद्धचर्या' के अनुसार शङ्कर बौद्धमतोच्छेदक नहीं, २६५;—बौद्ध धर्म का निर्वाण और आत्मा, १७३;—स्याद्वाद की आलोचना, १५३
साग़र निज़ामी : ७१८,७२१ पा.टि. भी।
सागर, मुनिकान्त : १४६ पा.टि.
सात्विक-विधि : ऐकान्तिक पूजा की : ९८
सादी, शेख़ : ३०७
सामी : ४९
'सामवेद' : ५८
'साम-संहिता' : ६१
साम्ब : ५७
सायणाचार्य : ३५ पा.टि, ६८,१२२ पा.टि., १२४,३७१,—द्वारा 'अनास'का अर्थ, ३५ पा.टि.
सालोमन (राजा) : २०९
सावरकर : हिन्दू की परिभाषा : ११४
'साहित्य समीक्षा' (देवेन्द्रनाथ शर्मा) : २५५ पा.टि.
साहिर (उर्दूशायर) : ७२२ पा.टि.
सिंह, ख़ुशवन्त (सरदार) : ('द सिक्ख') : ४१०
सिंह, गुरुगोविन्द : ११४,४०४-५,४०६, ४०७,४०८,५५४;—का कवि रूप,४०८,—की मृत्यु सोते में पठान द्वारा, ४०७,— के नौ और सात वर्ष के पुत्रों की हत्या, ४०७;– द्वारा गुरु-परम्परा का अन्त,४०४,४०७;–परशुराम के अवतार, ११४,४०८;—में सिक्खधर्म के सैन्यीकरण की पूर्णता, ४०६-९
सिंह, ज़ोरावर, : (उपर्युक्त के नौ वर्षीय पुत्र) : ४०७
सिंह, टोडर : (तुलसीदास के संरक्षक): ३१८
सिंह. तेजा, ('सिक्खिज़्म, इट्स आइडियल्स एण्ड इन्स्टीट्युशन्स') : ४०४ पा.टि.

सिंह, फ़तेह, (सात वर्ष के शहीद) : ४०७
सिंह, राजालक्ष्मण, : ४६८
सिंह, लक्ष्मण, : ४६९
सिंहवाहिनी देवी : ९३
'सिंहली : रामायण' : १८६
सिंहल में रामकथा : १०६
'सिंहासन बत्तीसी' : ३४४
सिकन्दर की चढ़ाई : ५६,११५;–ईरान पर, ५६;—भारत पर, ११५
'सिक्ख,द' (सरदार ख़ुशवन्त सिंह) : ४१०
'सिक्खिज़्म, इट्स आॅइडियल्स एण्ड इन्स्टीट्युशन्स '(तेजासिंह):४०४ पा.टि.
'सिन्द हिन्द' : २१३
सिन्दूर : आग्नेय प्रभाववश—के नागगर्भ, नागसम्भव नाम,–मूलतः नाग-वस्तु : १०९
सिन्धु : २७,३४,३६,३७,४२,४३,६३, ८९,११२;—का सुमेर-सभ्यता से साम्य ३७,२०९;—की तराई, ३४;—की सभ्यता किसकी, ४२,४३;—के पठार में प्राचीनतम सभ्यता, २७;—के बाद नगर-सभ्यता अप्रधान,६३;–वेदपूर्व, ४३
'सीक्रेट्स आॅव् द सेल्फ़' : २९० पा.टि., ३०५ पा.टि.,६९१ पा.टि.,६९४ पा.टि., ६९६पा.टि.,६९७पा.टि.,६९९पा.टि.
सीतल : ४५२,४५३पा.टि.
सीता, ९८,१०२,१०३,१०५;—इन्द्रपत्नी, पर्जन्यपत्नी, हलरेखा (सिरोर), १०२ पा.टि.भी;—अयोनिजा बाद में, पहले कृषि की अधिष्ठात्री, १०२;—हरण, १०३
सीतारमैया, डॉक्टर पट्टाभि, ('कांग्रेस का इतिहास') : ५५०
सीथियन : ११६
सीमाब (उर्दू कवि) : ७२२पा.टि.
सीरिया , २७,४९
सुकर्णो, डॉक्टर, : २१८
'सुखसागर' : ४६७
'सुख़नदाने-फ़ारस' : २७४
'सुखावटी व्यूह' : १९४
'सुत्तनिपात' : ४०,६४,१८२ पा.टि., १८५;—की बुद्धघोष द्वारा टीका, १८५;—के अनुसार बुद्धदेव के जीवन में ही दक्षिण तक उनका सुयश;४०,६४
सुदास (वेदकालीन शूद्र-राजा) : द्वारा अश्वमेध, –वशिष्ठ द्वारा राज्याभिषिक्त,—विश्वामित्र के संरक्षक, ७४
सुमित्रा : ८२
सुमेर-सभ्यता : ३६,३७
सुमेरिया : ३६,४३;—में देवदासी-प्रथा, ३६;—में वृषवाहन देवता, ३६
सुश्रुत : २१३,२१६
सुहरावर्दिया-सूफ़ी-सम्प्रदाय : ३११
सुहरावर्दी, मौलाना उबैदुल्लाह-अलउबैदी, ६७९
सुहरावर्दी, सर हसन, : ७०१ पा.टि.
सूफ़ी : ३०० पा.टि., ३०३,३११,३३६, ३५९-६०,३६१,३६४-६५, ३६८-६९, ३८३,३८६,४७४,५६७;–इस्लामी सन्त: ४७४;—और भक्तों का बहुरियावाद, ४४२-४४;—का इस्लाम पर प्रभाव, ३५९-६०;—का प्रभाव वीर शैवों पर, ३६८-६९;—का शत्रु औरङ्गज़ेब, ३९९;—के भारत में सम्प्रदाय,३११;—में गुरु-पूजा सिद्धों से, ३६४-६५;—से इस्लाम को दर्शन मिला, ३६१
सूफ़ी मत : २९८-३११,३३१-३४,३४२-४३,३६४,३७०,३८४,३८८-९०, ३९१,४०३,४३९-४२,६६५, ६९३;—इस्लाम का निचोड़, ३०३-५;—और अकबर, ३९१;—और काव्य में मृत्यु-प्रेम,४३९ ४२;—और नानक, ४०३;—औ नियोप्लेटोनिज़्म, ३०२;—और हिन्दू मुस्लिम एकता, ३३१-३४;—का भारतीयकरण,३४२-४३;—का मध्यकाली सन्तों पर प्रभाव, ३६४;—का मू इस्लाम से भेद,३१०-११;—के विश्व ३०८-१०;—पर भारतीय प्रभाव,३ -में ईश्वर साकार-निराकार दोनों,३
सूरदास : १९१ पा.टि.,२०९,३४४,३४ ३५०,३८४,३८६,३९०, ४३३, ४ ५३१
सूरि, विमल, : १८३

सूरि, हरिभद्र : १४९
सेण्ट बोसाफ़ेत (बुद्ध) : २०९
सेन, केशवचन्द्र, :३८६,४४१,५२९,५३९, ५४३-४५,५४७,५४८,५५२,५५३,५५६, ५६९,५७१,५७४, ५७७, ५७९, ५८०, ५८६, ६१९, ६४१, ६४३,६७०,६७७, ६८०,६८५;—ईसा के पाश्चात्यरूप की आलोचना, ५२९;—द्वारा ब्राह्मसमाज ईसाइयत बनने लगा, ५३९
सेन, क्षितिमोहन, : ८०,८२,९२ पा.टि. भी; ९६, ९७,१०९,११०,१४५,३८८, ४०२पा.टि.;४७९;—का मत गणेश पर, ९६;—का मत वैष्णव धर्म पर, ९७; —का मत शिव-पूजा पर, ९२पा. टि.भी;—कृत 'भारतवर्ष में जाति-भेद': ८०;—कृत 'मेडीवल मिस्टिसिज्म ऑव् इण्डिया', ३८८;—कृत 'संस्कृति सङ्गम', ९२,९६;—के अनुसार देवी-पूजा और तन्त्र-मन्त्रादि बाहर से, ११०;—के अनुसार नारियों का वेदाधिकार छिनना, ८२;—के अनुसार भक्ति आर्यपूर्व, ३८८;—के अनुसार सिन्दूर आदि रीतियाँ और व्यवहार, १०९
गुप्त, शैलेन्द्रनाथ, (प.बङ्गाल में ाति-संख्या, १९५१ई. की जनगणना आधार पर) : ८१
ार्त : ३७४
ाङ् : ३३
क्शन्स फ़ॉम गाँधी' : ६३० पा.टि.
क्टेड पोएम्स फ़ॉम द दीवान ऑव् स तबरेज़' : ३०७ पा.टि.
श्चियन मानदिक (पुर्तगाली यात्री) : ९
ीन महमूद (ख़ुसरो के पिता) : ३३४
ीन, शेख़ (औरङ्गज़ेब का गुरु) : ,७२५
अहमद (वहाबी-नेता) : ६६९,६७२
ता : ४५
ा : ८१
(राजा) : २०९
ऑव् इण्डिया, द,' (अमौरी रीन- : ५१७ पा.टि.भी; ७२८
'सोसाइटी एण्ड कल्चर इन मुग़ल एज' (पी.एन. चोपरा) : ४७५पा.टि.
सौत्रान्तिक (दार्शनिक सम्प्रदाय) : १९०, ३६२;—वाद, ३६२
सौदा (उर्दू शायर) : ४७१
स्कन्द : ६७, ९५;—कार्तिकेय, ९५
'स्कन्दपुराण' : ९२
'स्केच ऑव् द हिस्ट्री ऑव् इण्डिया, ए,' ५०१ पा.टि.
'स्टडीज़ इन मुस्लिम एथिक्स' (डी.एम. डोनाल्डसन) : ४७५ पा.टि.
स्टानले : ५८१
स्टीवेंसन, आर.एल., : ५०१
स्टीफ़ेन्स, टॉमस, (भारत में बसा पहला अँगरेज़) ; ४८९,४९१,४९२;—का 'ईसापुराण', कोंकणी में, ४९१-९२;—मराठी का प्रशंसक, ४९१-९२
स्टुअर्ट : ५२२
स्टोडार्ड ('द न्यू वर्ल्ड ऑव् इस्लाम') : ७०८ पा.टि.
स्ट्रेंची, सर जॉन, ('इण्डिया इट्स ऐड-मिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस') : ७११
'स्पिरिट ऑव् इस्लाम,द' (अमीर अली): ६८३
स्पेंसर, हर्बर्ट : ५६५,५८३
स्पेन : ३१
स्फोटायन : १२१
स्मिथ (इतिहासकार) ('मॉडर्न इस्लाम इन इण्डिया') :११६,६७० पा.टि.;—भारतीय संस्कृति की पाचन-शक्ति, ११६
स्मिथ, इलियट : ४१
स्मृतियाँ : ८८
स्याम में रामकथा : १०६
स्लाव : ३१,४२
स्लेटर, डॉक्टर गिल्बर्ट, : ४१
स्वतन्त्रता का वृक्ष :टीपू द्वारा श्रीरङ्गापट्टम् में रोपित : ४८८
स्वामी, डॉक्टर आनन्दकुमार, : १७३, ४११,४१९,४२२,४२३-२४, —बौद्ध-धर्म के निर्वाण और आत्मतत्त्व पर, १७३;—हिन्दू-चित्रकला, ४२२
स्वामी, विष्णुचित्त, : ६८

स्वामी, विष्णु (सन्त) : ३६३,३८८
स्वीडिश : ३१
हकीम, मुहम्मद, : अकबरी-नीति का विद्रोही : ३९२
हक्सले : १७१,१७३,५६५
हक्सले, जूलियन : द्वारा प्रजातिवाद की भर्त्सना, ४३
हदीस : २८८,२९४,२९५,६६९,६७५, ६८६,७२५
'हनुमन्नाटक' : १०६
हनूमान : १०४,१०६;—'आणमन्दि' द्रविड़, 'वृषाकपि' ऋग्वैदिक, १०४;—एकादश रुद्रावतार, १०६;—पर स्वतंत्र आख्यान, १०४
हफ़ीज़ जालन्धरी : ४३५
हबीब, डॉक्टर सैयद (इतिहासकार) : २७१ पा.टि.
हमदानी, शेख़, : ३२८
'हमारी साहित्यिक समस्या' (हजारी प्रसाद द्विवेदी) : ४७८ पा.टि.
'हम्ज़ानामा' (अकबरी) : ४२०
हरगोविन्द (छठे सिक्ख गुरु) : ४०४, ४०५,४०६;—द्वारा सैनिक मोड़, ४०५-६
हरप्पा : ३६,४०,४२,९१
हरि : ९८,९९
'हरिजन' : ६२० पा.टि., ६२७ पा.टि., ६३६ पा.टि., ६३८ पा.टि.
'हरिवंश पुराण' : १००,१०२;—में श्रीकृष्ण का न रसिक रूप, न राधा, १००;—में सीता, १०२
हरीसन, एस.एस., : ७२८
हर्डर (इतिहासकार) : ५१६
हस्ति-पालन : आग्नेय : १०८
हाइने (जर्मन कवि) : ५१५
हाफ़िज़ (फ़ारसी कवि) : ३०७,४४१, ६९५ पा.टि.
हारूनरंशीद : २१४,२१७,२७२,२७३, २८१
हार्नर, मिस, ('बुक ऑव् डिसिप्लिन') : १७८
हाल, शातवाहन महीप, : ६८,४३२, ४३७;—की 'गाथा सप्तशती', ४३२
हाली, मौलाना,: ३९४,४६०,६८१,६८२, ६८३,६९९;—इस्लाम के मूलरूप के उपासक, ३९४
हिटलर : ४३
हिडिम्बा : ८१
हित्ती और मितन्नी सन्धि-पत्रों में वैदिक-देवता : ४९
'हितोपदेश':१०९,२१३,२१४;—की पशु-पक्षी, कथाएँ आग्नेय, १०९
हिन्द-ईरानी, आर्यों का नाम : ४८,५४।
हिन्दचीन : ३३,५४,१०६;—में राम-कथा, १०६
हिन्दजर्मन भाषा-समूह : ३१
हिन्दी : ३१,४६,६९,१६१,२५५,३३४, ३४२,३४६,३५१-५४,३८३,३८९,३९०, ४३३-३४,४४६, ४४७-५८,४६१-६९, ४८७,४९१-९२,५०५,५०८,५५७,७२८, ७२९,७३२;—उर्दू से नहीं, ४६१-६२;—और ईसाई मिशनरी, ४९१-९२;—और मुसलमान, ३४२;—का काव्य-साहित्य मुस्लिम काल में सर्वोत्तम, ४३३-३४;—का गद्य उर्दू से नहीं, ४६४-६९;—का आधुनिक फ़ारसी से वह साम्य नहीं जो ज़ेन्द-संस्कृत में है, ४६;—का राष्ट्रभाषा-रूप, ४६९;—की परम्परा, ४६२-६४;—की रक्षा, ४४६;—के कवियों की भाषा-नीति, ४४७-५८;—के गद्य का विकास, ४६४-६९;—के तीन प्रकार के कवि भक्ति आन्दोलन में ३९०;—के निर्गुनियाँ कवियों पर वज्रयानी प्रभाव, २५५;—के फ़ारसी मिश्रितरूप का प्रश्न कम्पनी-युग ४९२;—के मुसलमान कवि, ३५ ५४;—के शब्दों का उर्दू से बहिष्कार ४५१-६१;—के संस्कृतनिष्ठ-रूप परम्परा, ४६२-६४;—के सूफ़ी कवि, ३४२;—नाम भक्तिकाल में ४४६;—में अरबी-फ़ारसी के ४४८-५०;—में पुर्तगाली शब्द, ४ —में शिक्षा, ५०८

'हिन्दी ऋग्वेद' ५२

'हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव' (अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी) : ३५२ पा.टि.; ४४९, पा.टि.; ४५० पा.टि.; ४६२ पा.टि.

हिन्दु : ११३-१४ (देखिये 'हिन्दू' ।)

'हिन्दुइज़्म एण्ड बुद्धिज़्म,' : ५७,३५५

हिन्दुत्व : ८६,८७,८९,१०७,१०८, ११९, १६३,१७४-७६,१८६-८८,२०४, २६१-६२,२६४-६६,३०५,३१०,३१८, ३५५-५९,३६१-६३, ३८५, ३८६, ४०९-१०, ४७१-७४,५२१, ५२२-२५,५२८, ५३०, ५५९-६०,५६५-६६,५७२, ५८२,६०८, ६८६;—और ईसाइयत में टक्कर, ३८५;—और बौद्धधर्म, १७४-७६; —और सिक्खमत, ४०९-१०;—का गढ़ दक्षिण, ८९,३६१-६३—का मुसलमानों पर प्रभाव, ४७१-७४;—का समग्ररूप एनीब्रीसेण्ट-समर्थित, ५६५-६६;—का हर परिवर्त्तन इसे मूल के निकट ले गया, ११९, ३८६;—की उदारता, १०७,३१८; —की वीर-भुजा : आर्य-समाज, ५५९-६०;—की समन्वय-शक्ति और ौद्ध-धर्म, १८६-८८;—के आधे से धिक उपादान आर्येतर, ८६;—के ामायण-महाभारत रक्षक, २०४;—र इस्लामी प्रभाव अतिरञ्जन मात्र, ५५-५९; —बनाम ईसाइयत, ५२२-४;—मन्दिरों नहीं, जनमानस का र्म, २६४-६६;—में कट्टरता नहीं; मोपक उदारता, आर्यवृत्त-बाह्यदेव-ओं की स्वीकृति, ८६,८७ पा.टि., ७;—में कम्पन, ५२४-२५;—में देववाद अनिवार्य, १०७-८;—में द्धधर्म से उत्पन्न अव्यवस्था को ने के लिए रूढ़ियाँ, २६१-६२;— जिमेण्टेशन नहीं, ५२८;—विपद्-, १०७-८

स्तान (हिन्दुस्थान) : ११२,११४, ;—भारत का इतिहास-भूगोल-त नाम; ११२,११४;—यूरोप को मानवीय बनाने का उपाय,

हिन्दू (हिन्दु) : ७०,८८,१०७,१०८, १११,११२,११३, ११४, ११५;—अपढ़ भी थोड़ा दार्शनिक, १०७;—आर्य-द्रविड़ मिश्रण, ८८;—आर्य से अधिक व्यञ्जक, ११४;—इतिहास-भूगोल सम्मत, ११२;—औसत विचारक, ७०;—का अर्थ नये युग में स्पष्ट, ११४;—चीनी 'इन्तु' से, ११४; —जाति की बुनियादी जनता, १११;—देश के अर्थ में इस्लाम से हज़ार वर्ष पुराना, ११२;—नाम मुसलमानों का दिया, नापसन्द, फ़ारसी में बुरा अर्थ, छोड़ने की प्रवृत्ति; १११;—नाम मुसलमानों का रक्खा नहीं, ११५; —नाम व्यापक, ११२;—नाम से विदेशों में एकता, ८८;—पण्डितों द्वारा नयी अर्थ-प्रतिष्ठा, ११३;—प्राचीनतम प्रयोग अवेस्ता में, ११२;—प्राचीन संस्कृत-पालि-ग्रन्थों में नहीं, ११२;—भारतवासियों का विदेशों में नाम, ११२;—मुस्लिम कोश में दूषित अर्थ, ११३;—शब्द उच्चारणदोष से, ११४;—संस्कृत में भी सम्पूर्ण भारतवासी जनता के लिए स्वीकृत नाम; ११२,११४;—सिन्धु से, वा 'इन्तु', 'इन्दु', 'इन्दो' से; ११२;—हुएनसाङ् के समय भी प्रचलित, ११४

हिन्दू-ईरानी : ४८,५४

हिन्दूधर्म : ७८,८६,८८,१०७,११५, १७२, १९६-२०२, ३१८-१९, ३६८, ३९१-९२,५१८,५३८-३९, ५८२,५८४, ५९७-९८, ६५९, ७०६;—अनेक विश्वासों का समूह, १०७;—अशिक्षितों में रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से युक्त, १०७;—और विवेकानन्द, ५९७-९८;—का प्रभाव अकबर पर, ३९१-९२;—का बौद्धधर्म के निर्वाण पर प्रभाव, १७२;—किन्हीं एक महापुरुष की रचना नहीं, न कोई एक ग्रन्थ, न एक सम्प्रदाय, सब का योग; १०६-७;—के दार्शनिक पक्ष में शिक्षितों का विश्वास, १०७;—के विरुद्ध विद्रोह, ११५;—को राममोहन द्वारा

विश्वधर्म रूप, ५३८-३९;—ने अपने विद्रोहियों को भी पूज्य माना, १०७; —पर बौद्ध प्रभाव, १९६-२०२;—मुस्लिम-आक्रमण-काल में, ३१८-१९; —में अन्तर्जातीय विवाह महादुस्साहस, ७८;—में कैसे करोड़ों देवता, व्रत, अनुष्ठान, ८८;—में छूट चिन्तन की, कर्म की नहीं, ७८;—में प्राधान्य अब ऋग्वैदिक नहीं, आर्येतर प्रभाव का, ८६
हिन्दू महासभा : ११४
'हिन्दू व्यू ऑव् लाइफ़' (डॉक्टर राधाकृष्णन) : ८७ पा.टि.
हिन्दू संस्कृति : २८,३२,३६,७०,९१,१०७, १११,११५;—आर्यपूर्व, ३६;—कहना कठिन, कितनी आर्य, कितनी आर्येतर, न आर्य न द्रविड़, सब जातियों-क्रान्तियों-तक का मिश्रण, ९१,१०७; —का मूलाधार,१११;—की कोमल विशेषताएँ अहिंसा आदि द्रविड़, ७०; —की पाचनशक्ति, ११५;—कूपमण्डूक नहीं, जहाँ से जो ग्राह्य मिला सर्व अङ्गीकृत, विश्व की सभी संस्कृतियों का निचोड़, १०७,११५;—महानद; दो धाराएँ आर्य-द्रविड़, ७०
हिन्दू-सभ्यता : ३०,३२
हिन्दू समाज : ७८,८०,८८,१०८,१११; —अनेक जातियाँ, अनेक उपासनाएँ; १०८;—आर्य-द्रविड़ मिश्रण, ८८;—का सबसे बड़ा अभिशाप जाति-प्रथा, ७८,८०;—में देवता, तीर्थ, उत्सव आर्येतर भी, १११
'हिन्दू कॉलोनीज़ इन द फ़ार ईस्ट' : २२०
'हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड रिलीजन' : ५११
हिन्देशिया : में रामकथा, १०६
हिब्रू : ५१३
'हिस्ट्री ऑव् उर्दू लिटरेचर, ए' (डॉक्टर बाबूराम सक्सेना) : ४५४ पा.टि.,४५९ पा.टि,४६२पा.टि., ४६४पा.टि.
'हिस्ट्री ऑव् एजुकेशन इन इण्डिया' : ५०७ पा.टि.
'हिस्ट्री ऑव् तमिल्स' (श्री पी.टी. श्रीनिवास आयङ्गर) : ३९
'हिस्ट्री ऑव् द फ़ीडम मूवमेण्ट' : ३५६ पा.टि., ३९५पा.टि.
'हिस्ट्री ऑव् साउथ इण्डिया,ए' (नीलकण्ठ शास्त्री) : ३३पा.टि., ६४पा.टि.
'हिस्टॉरिकल रोल ऑव इस्लाम, द,' : २७१ पा.टि.
'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव् इण्डियन पीपुल, द' : १४३पा.टि.
हीगेल : ३०१,५१६,५८३
हुएन साङ् :—के समय भारतीय 'हिन्दू', चीनी 'इन्तु' से; ११४
हुसैन, डॉक्टर ताहा, (मिस्री, अरब के बृहस्पति) : —द्वारा तसव्वुफ़ पर भारतीय प्रभाव स्वीकृत, ३०६ पा.टि.
हुसैन, डॉक्टर यूसुफ़,:३३४ पा.टि.,३५२
हुसैन, डॉक्टर सैयद आबिद, :—का भाषा विषयक भ्रम, ४७७;—कृत 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' में हिन्दुत्व पर इस्लामी प्रभाव की आधारहीन चर्चा, ३५७
हुसैनी-ब्राह्मण : ४७९
हूण : २८,३२,४७,८०,१११,११५,११६
'हू वर द शूद्राज़' (डॉक्टर अम्बेदकर) : ७४ पा.टि.
हेमचन्द्र : १५९;—में खड़ी बोली क रूप, ४५२
हेलियोदोर : द्वारा वासुदेव-पूजार्थ गरुड़ ध्वज स्तम्भ : ९९
हेलेना पेत्रोवना ब्लेवास्की : ५६२
हेयर, डेविड, : ४९७
हैमन्दोर्फ़, फ़ुरर, : ३७ पा.टि.
हैमिल्टन, अलेक्ज़ेण्डर, : ५१३
हैवेल : २१७
होमरूल : तिलकजी का आन्दोलन ५६६,७१३
होली : शूद्रोत्सव : ११०,१११
होल्डीच, कर्नल : ४१
ह्यू-एन-साङ्ग : ११४,२२४,२८२,२८
ह्वीटियर, जे.जी., (अमेरिकी कवि) : सोम पर कविता : ५१५

□□□

उदयाचल मेरा दीप्त भाल ···

('रश्मिरथी' में श्रीकृष्

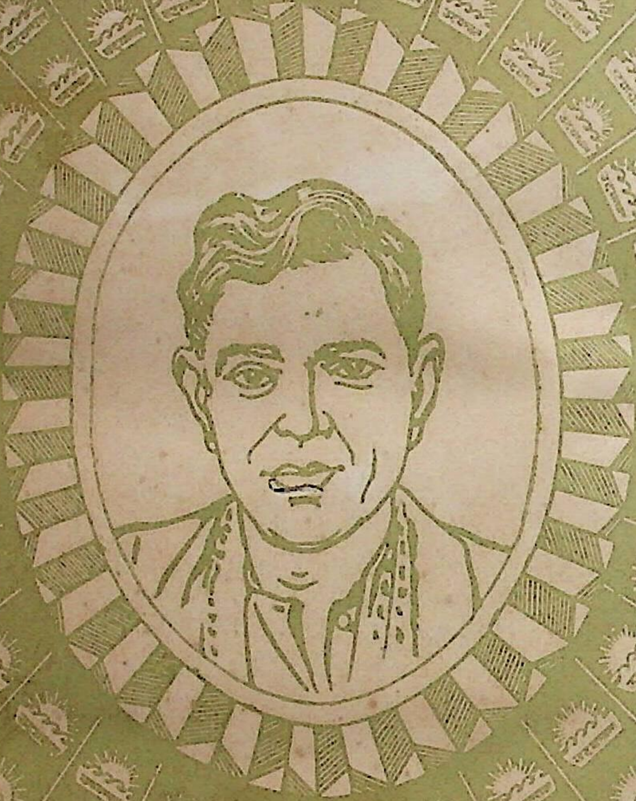

२३·९·१९०८ — २४·४·१९७४

याचल ◦ राष्ट्रकवि दिनकर पथ ◦ राजेन्द्र नगर ◦ पटना-८०००१६ ◦ उदय